श्रीश्रील सनातन गोस्वामीपाद विरचित

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

।। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ।।

श्रीश्रील सनातन गोस्वामीपाद विरचित

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

प्रथम–खण्ड

(श्रीभगवत् कृपा–सार निर्द्धारण)

तत्कृत दिग्दर्शिनी टीका सहित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा

अनुवादित एवं सम्पादित

(श्लोकानुवाद तथा दिग्दर्शिनी टीकाके भावानुवाद सहित)

प्रकाशकः
श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करणः ५००० प्रतियाँ
श्रीगुरुपूर्णिमा, श्रील सनातन गोस्वामीकी तिरोभाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५१९
२१ जुलाई, २००५

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰ प्र॰)
☎ २५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰ प्र॰)
☎ २४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड,
गोवर्धन (उ॰ प्र॰)
☎ २८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन,
नवद्वीप
नदीया (प॰ बं॰)

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
☎ २५५३३५६८

श्रीखण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
☎ २४४३९०९

समर्पण

परम करुणामय एवं अहैतुकी कृपालु
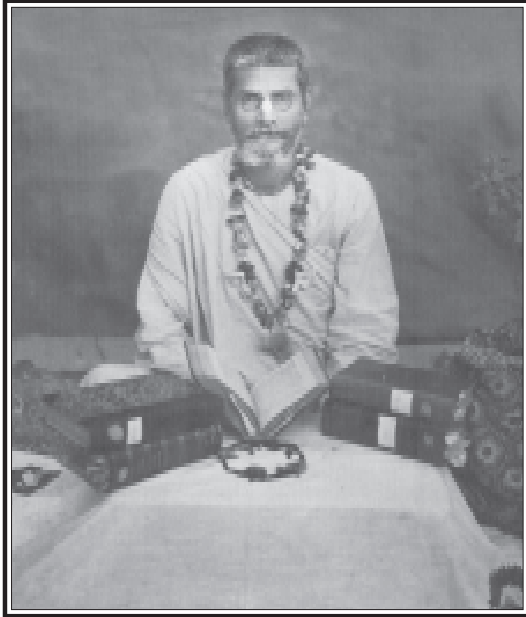
अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म
नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज की
प्रेरणासे
यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।
श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके
श्रीकरकमलोंमें

समर्पित है।

विषय–सूची

द्वितीय अध्याय (दिव्य) .... *पृ.स.* ६५—१२९

तृतीय अध्याय (प्रपञ्चातीत) ... *पृ.स.* १३१—१९६

चतुर्थ अध्याय (भक्त)......... *पृ.स.* १९७—२९८

पञ्चम अध्याय (प्रिय) .... *पृ.स.* २९९—४१६

षष्ठ अध्याय (प्रियतम)...... *पृ.स.* ४१७—४९८

सप्तम अध्याय (पूर्ण) .... *पृ.स.* **४९९—६२१**

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता आचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए श्रीशचीनन्दन गौरहरिके नित्यपरिकर, भक्तिसिद्धान्त-चक्रवर्त्ती, परहित-कातर श्रील सनातन गोस्वामीकृत श्रीबृहद्भागवतामृत नामक अभिनव ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दीमें टीका सहित प्रकाशित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

श्रील सनातन गोस्वामीके पूर्वज दक्षिण भारतके कर्णाटक देशमें वास करते थे। उन्होंने वहाँ बहुत समय तक राज्य किया था। किसी कारणसे उनके पूर्वजोंमें से कोई एक उस प्रदेशको छोड़कर बंगाल प्रदेशमें आकर बस गये। श्रील सनातन गोस्वामी उन्हींके वंशमें आविर्भूत हुए। इनका जन्म भारद्वाज-गोत्रीय यजुर्वेदीय ब्राह्मण कुलमें १४१० शकाब्द (१४८८ ईस्वी)के लगभग हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीकुमारदेव था। इनका बाल्यकाल पूर्व बंगालमें बाक्ला चन्द्रद्वीपके निकट फतेयाबाद नामक स्थानमें व्यतीत हुआ। ये तीन भाई थे—अमर, सन्तोष और अनुपम। बादमें इनका नाम क्रमशः श्रील सनातन, श्रील रूप और श्रीअनुपम या श्रीवल्लभ हुआ। श्रील जीव गोस्वामी इन्हींमें से छोटे भाई श्रीवल्लभके पुत्र थे।

श्रील सनातन गोस्वामीकी गणना चैतन्यशाखामें होती है। पूर्व लीलामें ये चतुःसनमें से सनातन थे तथा कृष्णलीलामें लवङ्ग मञ्जरी थे। इन्होंने अल्पावस्थामें ही अध्यापक-शिरोमणि विद्यावाचस्पतिसे समस्त शास्त्रोंका भलीभाँति अध्ययन किया था। श्रीमद्भागवतके प्रति इनका प्रबल अनुराग था।

युवावस्थामें अत्यन्त बुद्धिमान, तीक्ष्ण-मेधा तथा सर्वगुणसम्पन्न देखकर गौड़ेश्वर (गौड़देशके बादशाह) हुसैन शाहने इनको अपने प्रधानमंत्री और श्रील रूप गोस्वामीको उपमंत्री (वित्तमंत्री)के रूपमें नियुक्त किया था। भागवतके प्रति इन लोगोंका इतना प्रबल अनुराग

था कि ये प्रधानमंत्री और वित्तमंत्री रहते हुए भी अपने निवासगृहमें रहकर निरन्तर श्रीमद्भागवत इत्यादि भक्तिग्रन्थोंका अनुशीलन किया करते थे। श्रीमन्महाप्रभु प्रथम बार जब रामकेलि ग्राममें उपस्थित हुए, उस समय ये दोनों भाई राजकीय वस्त्रोंको छोड़कर दीनहीन वेशमें उनके श्रीचरणोंका दर्शन करनेके लिए उपस्थित हुए। महाप्रभुजीकी कृपासे इनका जीवन कृतकृतार्थ हो गया और तबसे इनका विषयोंके प्रति पूर्वसिद्ध वैराग्य और भी प्रबलतर हुआ और भगवान्के प्रति अनुरक्ति वर्द्धित होने लगी। उन्होंने श्रीगौरचन्द्रके चरणोंकी प्राप्तिके लिए कृष्णमंत्रसे दो बार पुरश्चरण करवाया और वे दिन-रात उन्हींके स्मरणमें डूबे रहते। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी वृन्दावन-यात्राके संवादसे अवगत होकर श्रील रूप गोस्वामी अनुपमके साथ वृन्दावनकी यात्राकर प्रयागमें उनसे मिले। श्रीचैतन्य महाप्रभुने दस दिन तक वहाँ रहकर श्रील रूप गोस्वामीको रसभक्ति, प्रेमतत्त्व आदिकी शिक्षा देकर तथा उनमें शक्ति संचारकर उन्हें वृन्दावन भेजा।

श्रील रूप गोस्वामीके द्वारा राजकार्य त्याग देनेके पश्चात् श्रील सनातन गोस्वामी भी बीमारीका बहाना बनाकर घर पर ही श्रीमद्भागवतका अनुशीलन कर दिन व्यतीत करने लगे तथा एक प्रकारसे राजकार्य छोड़ दिया। गौड़ेश्वर हुसैन शाह द्वारा बहुत चेष्टा करने पर भी जब उन्होंने राजकार्यमें नियुक्त होना स्वीकार नहीं किया, तब उन्हें बन्दी बनाकर कारागृहमें डाल दिया गया। बड़ी चतुराईसे वे कारागारसे मुक्त होकर अकेले पैदल चलकर काशीधाममें श्रीमन्महाप्रभुके पास उपनीत हुए। वहीं पर श्रीमन्महाप्रभुने दो महीने तक उनको अपने श्रीचरणोंके आश्रयमें रखकर सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्व आदिकी शिक्षा दी तथा शक्ति संचारकर उनको आचार्यके पद पर स्थापित किया। उन्होंने श्रील सनातन गोस्वामीको चार कार्योंके लिए विशेष दायित्व दिया—(१) जगतमें शुद्ध-भक्ति-सिद्धान्तकी स्थापना। (२) व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंका उद्धार। (३) कृष्णविग्रहसेवा प्रकाश और (४) वैष्णव-स्मृतिका प्रचार। अधिक क्या, श्रीचैतन्य महाप्रभुने स्वयं ही वैष्णव-स्मृतिके सम्बन्धमें सूत्रोंकी रचनाकर उनका दिग्दर्शन भी किया था।

तत्पश्चात् श्रील सनातन गोस्वामी वृन्दावनमें उपस्थित हुए। उस समय वृन्दावन केवल वन ही वन था, वहाँ कोई भी मन्दिर इत्यादि नहीं था। वे यमुनाके किनारे मदन-टेर नामक स्थान पर झोपड़ी बनाकर रहने लगे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल गोवर्धन जाते, उनकी परिक्रमा करते और वहाँसे मथुरामें मधुकरी ग्रहणकर वृन्दावन लौट आते। एक दिन उन्होंने श्रीमदनमोहनजीको बालक रूपमें एक चौबाइनके बालकके साथ खेलते हुए दर्शन किया। श्रीमदनमोहनजीके श्रीविग्रहने इनके साथ वृन्दावन जानेका आग्रह किया। श्रील सनातन गोस्वामीने दुःखित मनसे कहा कि मैं तो बिना नमककी रोटी खाता हूँ, अतः मैं आपको वैसी सूखी रोटी खिलाकर सन्तुष्ट नहीं कर पाऊँगा। किन्तु भगवान् तो केवल प्रेमके भूखे हैं। उन्होंने श्रील सनातन गोस्वामीकी बातको स्वीकार कर उसी रातको चौबाइनको स्वप्नादेश दिया। अगले दिन श्रील सनातन गोस्वामी चौबाइनको प्रार्थनाकर श्रीमदनमोहनजीको अपने साथ वृन्दावनमें ले आये और उन्हें अपनी झोंपड़ीमें स्थापन किया। इसके पश्चात् श्रीमदनमोहनके श्रीविग्रहने उनसे कहा—"बिना नमकवाली रोटी मुझसे खायी नहीं जाती, थोड़ासा नमक तो भिक्षामें लाया करो।" श्रील सनातन गोस्वामीने कहा—"मैंने पहले ही आपसे कह दिया था कि आपको ऐसी रोटी ही खानी पड़ेगी। यदि आपको और कोई चीज चाहिए, तो आप स्वयं ही व्यवस्था कर लें।" श्रील सनातन गोस्वामीके इतना कहते ही ठाकुरजीने उसकी व्यवस्था कर ली। अकस्मात् उसी समय मुलतान शहरसे कृष्णदास नामक एक वणिक बहुमूल्य जवाहरात नौकामें भरकर वृन्दावनके पास यमुनाजीसे जा रहा था। उसकी नाव यमुनाजीके तटके समीप बालूमें फँस गयी तथा अत्यधिक प्रयास करने पर भी न निकल सकी। तब श्रीमदनमोहनने बालकके रूपमें यमुनाके किनारे जाकर उससे कहा—"यहाँ सनातन गोस्वामी नामक एक महात्मा रहते हैं, उनकी कृपा हो जाये तो तुम्हारी नौका निकल सकती है।" यह सुनकर कृष्णदास श्रील सनातन गोस्वामीके निकट आकर प्रार्थना करने लगे। श्रील सनातन गोस्वामीने उससे कहा कि वह श्रीमदनमोहनजीसे प्रार्थना करे, उनकी कृपासे ही उसकी नौका

निकल सकती है। तत्पश्चात् कृष्णदासने श्रीमदनमोहनजीसे इसके लिए प्रार्थना की। नौका शीघ्र ही बालूसे बाहर निकल आयी और उसको अपने जवाहरातोंकी बिक्रीसे विपुल धनकी प्राप्ति हुई। वणिकने लौटकर सब कुछ श्रील सनातन गोस्वामीके चरणोंमें अर्पित कर दिया। किन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। अन्तमें श्रीमदन-मोहनजीकी इच्छा जानकर उनके लिए मन्दिर बनानेका आदेश दिया। कृष्णदासने समस्त अर्थ द्वारा श्रीमदनमोहनजीके लिए एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया और उनके भोगरागका सारा प्रबन्ध कर दिया। (वह मन्दिर आज तक श्रीमदनमोहनजीके पुराने मन्दिरके नामसे विख्यात है।)

श्रील सनातन गोस्वामी कुछ दिनके लिए जब गोवर्धनमें रहते थे, तब श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा देना उनका नित्यप्रतिका नियम था। बहुत वृद्ध होनेके कारण उनको परिक्रमा देनेमें कष्ट होता था। श्रीकृष्ण उनका कष्ट सहन नहीं कर सके। वे उनके पास एक गोप बालकके रूपमें उपस्थित हुए और उन्हें अपने पद-चिह्नोंसे चिह्नित शिला प्रदान की और उनसे अनुरोध किया कि इस शिलाकी चार परिक्रमा देनेसे ही उनकी गिरिराजकी सम्पूर्ण परिक्रमा हो जायेगी। तत्पश्चात् श्रील सनातन गोस्वामी उसी शिलाकी ही परिक्रमा करने लगे। आजकल वह शिला श्रीधाम वृन्दावनमें श्रीराधादामोदरजीके मन्दिरमें रखी गयी है।

एक समय किसी ब्राह्मणने अपनी कन्याके विवाह हेतु धनके लिए काशीमें श्रीमहादेवजीका अनुष्ठान किया। उसके अनुष्ठानसे महादेवजी प्रसन्न हुए और आदेश दिया कि वह वृन्दावनमें श्रील सनातन गोस्वामीके पास जाये, उसका मनोरथ वहीं पूर्ण होगा। वह ब्राह्मण पैदल चलकर वृन्दावनमें श्रील सनातन गोस्वामीके पास आया और उन्हें महादेवजीका आदेश सुनाया। श्रील सनातन गोस्वामीने सब वृत्तान्त सुनकर कहा—"हाँ, मेरे पास एक पारसमणि आयी थी और मैंने उसे वहाँ बालूमें गाड़कर रख दिया है, तुम उसी स्थान पर खोजो और यदि मिल जाय तो तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा।" ब्राह्मणने उस स्थान पर बालूको हटाकर देखा तो उसे पारसमणि मिल गयी।

उसे प्राप्तकर ब्राहमण अत्यन्त प्रसन्न हुआ किन्तु फिर उसने विचार किया कि सनातन गोस्वामीजीने ऐसा अमूल्य रत्न प्राप्त करने पर भी उसे अनादरपूर्वक फेंक दिया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इनके पास इससे भी कहीं अधिक मूल्यवान मणि है, अतः वह पुनः श्रील सनातन गोस्वामीके पास लौट आया। ब्राहमणकी अभिलाषा जानकर श्रील सनातन गोस्वामीने कहा कि यदि इस मणिसे अधिक मूल्यवान मणि चाहते हो तो इस मणिको यमुनामें फेंक दो। उसने श्रील सनातन गोस्वामीके कहनेसे उस पारस मणिको यमुनामें फेंक दिया। तब श्रील सनातन गोस्वामीने उसे यमुनामें स्नान करनेका आदेश दिया और फिर उसे हरिनामरूपी प्रेमधन प्रदान किया। उसका जीवन कृत-कृतार्थ हो गया।

श्रील सनातन गोस्वामीने कुछ दिन नन्दगाँवमें पावन सरोवर पर वास किया था। वे भजनमें इतने आसक्त रहते थे कि मधुकरीके लिए कभी बाहर भी नहीं निकलते थे। एक समय ऐसा ही हुआ जब स्वयं श्रीकृष्ण गोपबालकका वेश धारणकर दूध लेकर उनके पास आये और दूध लेनेके लिए अनुरोध किया। बालकके चले जाने पर जब उन्होंने दूध पान किया, तब वे प्रेममें विभोर हो गये। उससे उनको यह अनुभव हुआ कि गोपवेशधारी बालक स्वयं श्रीकृष्ण ही थे।

इस प्रकार उनके बहुतसे अद्भुत चरित्र हैं, प्रस्तावनाके विस्तारके भयसे उन सबका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। श्रीलसनातन गोस्वामी सन् १५५८ ईस्वीके लगभग अप्रकट लीलामें पधारे। उस समय उनकी आयु प्राय ७० वर्षकी थी।

श्रीलसनातन गोस्वामीने निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना की है—

(१) श्रीबृहद्भागवतामृत (दिग्दर्शिनी टीका सहित)

(२) श्रीहरिभक्तिविलास (दिग्दर्शिनी टीका सहित)

(३) श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धकी बृहद्-वैष्णवतोषिणी टीका

(४) श्रीकृष्णलीलास्तव

(५) श्रीलघु-हरिनामामृत व्याकरण

प्रस्तुत श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थ दो खण्डोंमें विभक्त है—पूर्व और उत्तर। पूर्व-खण्डका नाम—श्रीभगवत् कृपासार निर्धारण खण्ड तथा

उत्तर खण्डका नाम—श्रीगोलोक-माहात्म्य निरूपण खण्ड है। पूर्व खण्डमें (१) भौम, (२) दिव्य, (३) प्रपञ्चातीत, (४) भक्त, (५) प्रिय, (६) प्रियतम और (७) पूर्ण कृपापात्र—ये सात अध्याय हैं तथा उत्तर खण्डमें (१) वैराग्य, (२) ज्ञान, (३) भजन, (४) वैकुण्ठ, (५) प्रेम, (६) अभीष्ट-लाभ (७) जगदानन्द—ये सात अध्याय हैं।

समस्त वेद, वेदान्त, पुराण, इतिहास आदि शास्त्रोंका सारस्वरूप श्रीमद्भागवत है, उस श्रीमद्भागवतका भी मन्थनकर यह ग्रन्थ प्रकटित किया गया है। इसलिए इसका नाम श्रीभागवतामृत है। इस ग्रन्थमें भगवद्भक्ति सम्बन्धीय सभी विषय स्थान-स्थान पर प्रकाशित हुए हैं। इसका मूल श्रीजैमिनि-जनमेजय संवाद, श्रीपरीक्षित्-उत्तरा संवादके आधार पर लिखा गया है। अर्थात् श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे श्रीमद्भागवत सुननेके बाद और तक्षक आगमनसे पहले श्रीपरीक्षितकी माता श्रीउत्तरादेवीने उनसे यह प्रश्न किया था "हे वत्स! तुमने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जो कुछ सुना है, उसका सारस्वरूप सरल सहज बोधगम्य भाषामें कहो।" इसी प्रश्नसे यह ग्रन्थ प्रारम्भ होता है।

इस ग्रन्थके दो खण्ड हैं। प्रत्येक खण्डमें एक-एक इतिहास है। ग्रन्थकारने मात्र ये दो इतिहास ही नहीं लिखे हैं, बल्कि इनके द्वारा श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलस्वरूपकी उपासनाके लिए ही उनके स्वरूप-तत्त्वका पूर्णरूपसे विवेचन किया है। पहले खण्डमें श्रीराधिकाजीका स्वरूपतत्त्व वर्णन करते हुए इस प्रकार इतिहास आरम्भ किया गया है—श्रीनारद भगवान्‌के सर्वश्रेष्ठ कृपापात्र भक्तोंका निर्द्धारणकर उनकी महिमाको जगतमें प्रचारित करनेके उद्देश्यसे सर्वप्रथम प्रयागमें उपस्थित हुए। उस समय प्रयागमें माघ मास स्नानके उपलक्ष्यमें साधु, महात्मा और बहुतसी जनता एकत्रित हुई थी। उनमें उसी देशके एक श्रेष्ठ विप्र भी उपस्थित हुए थे। उन्होंने वहाँ सर्वप्रथम बड़े समारोहसे एक शालग्राम भगवान्‌की पूजा की और फिर प्रसादी अन्नको ब्राह्मण और साधु-महात्माओं तथा पशु-पक्षियों तकको श्रद्धापूर्वक भोजन कराया। यह देखकर श्रीनारद बड़े प्रसन्न हुए और उस विप्रको कहने लगे—"आप ही भगवान्‌के कृपापात्र हैं।" विप्र अपनी प्रशंसा सुनकर

लज्जा पूर्वक नम्रतासे कहने लगा—“मैं किस योग्य हूँ? प्रभुकी क्या सेवा कर सकता हूँ? यदि आप भगवान्‌के कृपापात्रको देखना चाहते हैं, तो दक्षिणदेशके भक्त राजाके दर्शन करें।” यह सुनकर श्रीनारद दक्षिणदेशमें गये तथा वहाँके राजाकी सेवा-परिपाटी तथा उनके उत्सव आदिके ठाटबाटको देखकर उसी प्रकार उनकी भी वे प्रशंसा करने लगे। परन्तु भक्त होने पर भी दीनतासे राजाने अपने आपमें कृपापात्र होनेका कोई लक्षण नहीं दिखाया। वे कहने लगे—“स्वर्गमें भगवान् उपेन्द्रके भक्त इन्द्र ही भगवान्‌के कृपापात्र हैं। आप उनका दर्शन करें।” यह सुनकर श्रीनारद स्वर्ग गये।

श्रीनारद पहलेकी भाँति इन्द्रकी प्रशंसा करने लगे। इन्द्रने दीनता-पूर्वक अपनेमें दोषोंका प्रदर्शन किया और अपनेको भगवान्‌का कृपा-पात्र होना स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् इन्द्रके कहनेसे श्रीनारद सत्यलोकमें श्रीब्रह्माके पास आये। वे बड़े समारोह पूर्वक अपने आराध्य भगवान् श्रीसहस्रशीर्षका अर्चन कर रहे थे। जब श्रीनारदने उनकी प्रशंसा आरम्भ की, तब ब्रह्माजीने अपनेको भगवान्‌का कृपापात्र होना स्वीकार नहीं किया, अपितु दीनहीन वाक्योंसे ब्रह्ममोहन लीला आदि द्वारा भगवान्‌के चरणोंमें किए गए अपने अपराधोंका वर्णनकर अपनेको भगवान्‌की कृपासे वञ्चित होना प्रदर्शित किया। उन्होंने श्रीशङ्करको ही भगवान्‌का एकमात्र कृपापात्र बतलाया।

श्रीब्रह्माकी बात सुनकर श्रीनारद शिवलोक गये। उस समय वहाँ शिवजी अपने इष्टदेव सङ्कर्षण भगवान्‌के समक्ष परिकरोंके साथ ताण्डव नृत्य करते हुए संकीर्त्तन कर रहे थे। श्रीनारद द्वारा श्रीशिवकी प्रशंसा करने पर उन्होंने भी अपनेको प्रभुका कृपापात्र होना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने श्रीनारदको सुतल लोकमें निवास कर रहे श्रीप्रह्लाद महाराजका दर्शन करनेके लिए भेजा। सुतलमें जाकर श्रीनारद जब श्रीप्रह्लाद महाराजकी प्रशंसा करने लगे और उनको ही भगवान्‌का कृपापात्र बतलाया, तब उन्होंने दीनतापूर्वक कहा—“प्रभो! आप ऐसा क्यों कहते हैं? कृपापात्र तो वही होता है जो प्रभुकी सेवा करे। प्रभुने मेरी आपत्तियोंसे रक्षा ही नहीं की, अपितु एक प्रकारसे मेरी सेवा ही की है, अतः मैं भक्त कैसे हो सकता हूँ?” उन्होंने अपनेसे

हनुमानजीको ही भगवान्‌का श्रेष्ठ कृपापात्र बतलाया। उनकी आज्ञासे श्रीनारद किम्पुरुषवर्षमें हनुमानजीके पास गये। किन्तु उन्होंने भी दीनतासे अपने आपको प्रभुका कृपापात्र होना स्वीकार नहीं किया और युधिष्ठिर इत्यादि पाण्डवोंको भगवान्‌का श्रेष्ठ कृपापात्र बतलाया। तब श्रीनारद पाण्डवोंके पास पहुँचे, किन्तु उन्होंने भी उसी प्रकार बड़ी नम्रतापूर्वक कहा—"हमने प्रभुसे दूत, सारथी आदिके कार्य करवाये हैं। क्या कृपापात्रोंका यही लक्षण है?" अन्तमें उन्होंने श्रीनारदसे कहा—"यदि आप कृपापात्रोंका दर्शन करना चाहते हैं, तो द्वारकापुरीमें यादवोंका दर्शन करें।" श्रीनारद द्वारकामें भी पहुँचे और सबसे पहले वे सभामें उपस्थित उग्रसेन इत्यादिसे मिले। फिर उनके कहने पर श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें उनकी श्रीउद्धवसे भेंट हुई। जब श्रीनारदने भगवान्‌के श्रेष्ठ कृपापात्रको निर्धारित करते हुए श्रीउद्धवको ही भगवान्‌का श्रेष्ठ कृपापात्र बतलाया, तब श्रीउद्धवने भी गद्‌गद कण्ठसे यही कहा कि उन पर भगवान्‌की कृपा कहाँ है? वास्तवमें प्रभुकी सबसे अधिक कृपापात्र व्रजगोपिकाएँ ही हैं। इसलिए मैंने उनकी चरणरेणुकी प्राप्तिके लिए बारम्बार प्रार्थना की है।

उसी दिन किसी कारणसे व्रजके परिकरोंके स्मरणसे श्रीकृष्ण बहुत विह्वल हो रहे थे। जब वे किसी प्रकारसे धैर्य नहीं रख सके तो ब्रह्माजीने विश्वकर्मा द्वारा द्वारकाके समीप कृत्रिम (नव) वृन्दावनका निर्माण करवाया और श्रीकृष्णको वहाँ लाया गया। वहाँ पर व्रजके सब परिकरोंकी प्रतिमूर्त्तियाँ विराजमान थीं। स्वयं श्रीकृष्ण व्रजके आवेशमें सदैवकी भाँति गोचारणके लिए पधारे और फिर समुद्रके दर्शनसे जब उनका आवेश कुछ कम हुआ, तब उन्होंने श्रीबलदेवजीसे पूछा—"हम कहाँ हैं?" श्रीबलदेवप्रभुने सब वृत्तान्त सुना दिया। इस लीलाको देखकर श्रीनारदको यह विश्वास हो गया कि आत्माराम और पूर्णकाम होते हुए भी प्रभु व्रजके परिकरोंके प्रेमसे अपने स्वरूपानन्दको भूलकर प्रेमानन्दमें डूब जाते हैं। इन परिकरोंमें भी व्रजगोपियोंका प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। इसीलिए कहा गया है कि गोपियाँ प्रेमकी ध्वजा हैं। व्रजगोपियोंमें भी महाभावस्वरूपा वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी मुख्या हैं, उनके प्रेमसे श्रीकृष्ण वशीभूत होकर

उनकी आराधना करते हैं। श्रीराधोपनिषदमें ऐसा वर्णन है—"तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्गभूता राधा कृष्णेन आराध्यते" इति।

ग्रन्थकारने श्रीशालग्राम भगवान्‌की सेवा करनेवाले भक्तसे लेकर क्रमशः अन्य भक्तोंके प्रेमका उत्कर्ष दिखलाते हुए ह्लादिनी-सार-स्वरूपा महाभाववती श्रीराधिकाजीके प्रेम तकका जो वर्णन किया है, यह केवल वर्णन ही नहीं है, अपितु उन्होंने इतिहासके द्वारा श्रीराधिकाजीके स्वरूपका ही निर्देश किया है। अर्थात् जिस भक्तमें जितनी प्रेमभक्ति होती है, उसकी वह भक्ति ह्लादिनी शक्तिका ही अंश है, इसलिए इस खण्डमें श्रीराधाजीका ही स्वरूप निरूपण किया गया है।

दूसरे खण्डमें ग्रन्थकारने श्रीशालग्राम भगवान्‌से लेकर श्रीनन्दनन्दन तक भगवान्‌के सभी स्वरूप और अवतारोंका विवेचन किया है। इस इतिहासको गोपकुमार द्वारा आरम्भ किया गया है, जिनको गुरुके द्वारा गोपालमन्त्र प्राप्त हुआ था और जिसके प्रभावसे उनको सब लोकोंमें आने-जानेकी बाधा रहित सुविधा हो गयी थी। गोपकुमारने पहले इस भूमण्डलमें भगवान्‌के समस्त स्वरूपों—श्रीशालग्राम भगवान्, राजाके महलमें स्थित श्रीअर्चास्वरूप तथा श्रीजगन्नाथ आदि मन्दिरोंके प्राचीन अर्चाविग्रहका दर्शन करके क्रमसे उत्तरोत्तर उनकी महिमा वर्णन की है। फिर इस मन्त्रके प्रभावसे वे स्वर्ग, महः, जन, तप, सत्य लोकोंमें गये और उन लोकोंके उपास्य भगवत् स्वरूपोंका दर्शनकर क्रमसे उनका भी उत्कर्ष अनुभव किया। परन्तु उनको उन-उन स्थानोंमें पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति नहीं हुई। फिर वे अष्ट आवरणोंके भगवत् स्वरूपोंका दर्शनकर मुक्तिलोक पहुँचे। वहाँ उन्होंने भूमा पुरुषका दर्शन किया, किन्तु वहाँ भी उनकी सन्तुष्टि नहीं हुई। फिर उन्होंने विधिपूर्वक नवधा भक्तिमें प्रधान नाम-संकीर्त्तनका अनुष्ठान किया, जिसके प्रभावसे वे क्रमसे वैकुण्ठ, अयोध्या तथा द्वारकापुरी गये। परन्तु इन सब लोकोंमें ऐश्वर्यकी प्रधानताके कारण उनको वहाँके उपास्य स्वरूपोंसे भी निःसङ्कोच व्यवहारकी उपलब्धि नहीं हुई। अन्तमें गोपकुमारने प्रकट वृन्दावनमें आकर व्रजके परिकरोंके अनुगत होकर रागानुगा भक्तिका अनुष्ठान किया,

जिसके प्रभावसे वे गोलोक वृन्दावन पहुँचे। वहाँ व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्ति होनेसे उनकी अभीष्ट सिद्धि हुई।

इन इतिहासोंके वर्णनसे यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान्के पृथक्-पृथक् स्वरूपोंके तत्त्वमें कुछ भेद है। श्रीशालग्राम भगवान्से लेकर श्रीनन्दनन्दन तक भगवान्के समस्त स्वरूप सब प्रकारसे पूर्ण हैं और तत्त्वतः एक हैं। परन्तु रसगत विचारसे श्रीनन्दनन्दनका उत्कर्ष है। विशेषकर समस्त भगवत् स्वरूपोंमें श्रीनन्दनन्दनके उत्कर्षके दो कारण हैं—परिकर वैशिष्ट्य और रस-उत्कर्षता वैशिष्ट्य—

(१) तारतम्यञ्च तच्छक्तिव्यक्त्यव्यक्तिकृतम् भवेत्।
(प्रमेय-रत्नावली १/२१)

(२) परिकरवैशिष्टेन आविर्भाव वैशिष्ट्यम्।
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

(३) सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व. २/५९)

अर्थात् यद्यपि भगवान्के समस्त स्वरूपोंमें तत्त्वकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है, तथापि जहाँ-जहाँ शास्त्रोंमें अंश-कला इत्यादिका वर्णन है, वहाँ भगवत् शक्तिके परिमाणके प्राकट्यकी दृष्टिसे ही विवेचन किया गया है। वह शक्ति परिकरोंके अनुसार ही प्रकट होती है। जिस प्रकार कोई षड्शास्त्रीय पण्डित गायन आदि कलाओंमें भी निपुण हो सकता है, किन्तु उसकी वे शक्तियाँ मण्डलीकी योग्यताके अनुसार ही प्रकट होती हैं। उसी प्रकार भगवान्के समस्त स्वरूप सब प्रकारसे सर्वगुणसम्पन्न और पूर्ण हैं, तो भी उनकी शक्तियाँ उनके परिकरोंकी योग्यताके अनुसार ही प्रकट होती हैं। श्रीनन्दनन्दनके परिकरोंके अतिरिक्त और कहीं भी ऐसे प्रेमी परिकर नहीं हैं, अतः उनके उसी स्वरूपमें ही उनकी सम्पूर्ण शक्तिका प्राकट्य हुआ है। भगवान्के अन्य स्वरूपोंमें सम्पूर्ण शक्ति प्रकट नहीं हुई। अतएव व्रजके परिकर ही सर्वोत्कृष्ट हैं। इसे पहले खण्डमें ही निरूपण कर दिया गया है। इनमें भी श्रीराधिकाजी ही मुख्य हैं। ये सदा श्रीनन्दनन्दनके वाम भागमें विराजमान रहती हैं।

द्वितीयत रसकी उत्कर्षता अथवा रसके आस्वादनरूप वैशिष्ट्यमें भी गोपकुमार जहाँ–जहाँ गये, प्रायः समस्त भगवत् स्वरूपोंमें ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेके कारण वे भगवत् स्वरूप अपनी मर्यादा छोड़कर गोपकुमारको आलिङ्गन आदि करके उसे पूर्ण रस आस्वादन नहीं करा सके। परन्तु श्रीनन्दनन्दनको मिलकर गोपकुमारकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो गईं। इसीलिए अन्य सभी भगवत् स्वरूपोंकी तुलनामें श्रीनन्द–नन्दनका उत्कर्ष अधिक है। इन दोनों इतिहासों द्वारा श्रीश्रीराधा–कृष्ण युगलस्वरूपका उत्कर्ष वर्णन करते हुए उन्हींकी उपासना करनेके लिए आज्ञा देना ही ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

श्रील सनातन गोस्वामीपादने स्वयं ही इस ग्रन्थ पर दिग्दर्शिनी नामक टीका लिखी है। उस टीकाका भावानुवाद प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की गई है। टीकाकी शैलीके अनुसार भावानुवादमें भी पूर्व पक्षका उत्थापनकर उसका समाधान या सङ्गति प्रदर्शित की गई है। इस शैली द्वारा पाठक प्रत्येक श्लोकका आगे और पीछेके श्लोकोंसे सम्बन्ध जानकर सम्पूर्ण ग्रन्थको एक कड़ीबद्ध श्रृंखलामें समझ पायेंगे। यद्यपि भाषाको यथासम्भव सरल सहज बोधगम्य रखनेकी चेष्टा की गई है, तथापि कुछ स्थानों पर भाव भंग होनेके भयसे कुछ कठिन शब्दोंका समावेश किया गया है। पाठकोंकी सुविधाके लिए ग्रन्थके अन्तमें शब्द–कोशके द्वारा उनके सरल अर्थ दिए गए हैं।

मूलग्रन्थ संस्कृत भाषामें तथा बंगला लिपिमें है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त तीर्थ महाराजने टीकाको देवनागरी लिपिमें प्रस्तुत किया है। श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुन्दरगोपाल ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुबलसखा ब्रह्मचारी, श्रीमान् उत्तमकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् मधुमङ्गल ब्रह्मचारी, श्रीमती वृन्दा दासी तथा भक्त संजीवने कम्पोजिंग की है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् ओमप्रकाश व्रजवासी तथा श्रीमान् विजयकृष्ण ब्रह्मचारीने प्रूफ संशोधन किया है। श्रीमती शान्ति दासीने अक्लान्त परिश्रम द्वारा लेआउट आदि सेवा कार्य किये हैं। श्रीमान् माधवप्रिय ब्रह्मचारी, श्रीमान् कृष्णकारुण्य ब्रह्मचारी और श्रीमान् अमलकृष्ण ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है। इन सबकी सेवाचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और उल्लेखयोग्य है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपा–आशीर्वाद वर्षण करें—यही मेरी उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें यदि कोई भूल दृष्टिगोचर हो तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा संशोधनपूर्वक ग्रन्थका सार ग्रहण कर बाधित करेंगे।

परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठ और कीर्त्तनकर परमार्थके पथ पर अग्रसर हों—यही प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

अक्षय–तृतीया,
श्रीजगन्नाथदेवकी चन्दन यात्रा,
बुधवार, ११ मई २००५ ई.
५१९ गौराब्द

श्रीगुरुवैष्णव–कृपालेश–प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

प्रथम–खण्डम्

प्रथमोऽध्यायः (भौमः)

नमः श्रीकृष्णाय भगवते श्रीराधिकारमणाय॥

जयति निजपदाब्ज–प्रेमदानावतीर्णो
विविधमधुरिमाब्धिः कोऽपि कैशोरगन्धिः।
गतपरमदशान्तं यस्य चैतन्यरूपा–
दनुभवपदमाप्तं प्रेम गोपीषु नित्यम्॥१॥

श्लोकानुवाद—जो अपने युगल चरणकमलोंमें प्रेम वितरण करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं, जो विविध प्रकारकी मधुरिमाके अगाध सागर हैं, जिनका प्रेम परमाद्भुत दशाकी चरम सीमाको प्राप्त होकर भी व्रजरमणियोंमें नित्य विराजमान है तथा जिनके श्रीचैतन्य नामक स्वरूपसे चरम सीमाको प्राप्त वही गोपीप्रेम सभीके अनुभवका विषय हुआ है, नित्य–किशोर विभूषित वे कोई अनिर्वचनीय पुरुष (श्रीकृष्ण) सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रहे हैं॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

भक्तिर्या निखिलार्थवर्गजननी या ब्रह्मसाक्षात्कृते-
रानन्दातिशयप्रदा विषयजात् सौख्याद्विमुक्तिर्यया।
श्रीराधारमणं पदाम्बुजयुगं यस्या महानाश्रयो
या कार्या व्रजलोकवत् गुरुतरप्रेम्नैव तस्यै नमः॥
नमश्चैतन्यचन्द्राय स्वनामामृतसेविने।
यद्रूपाश्रयणाद् यस्य भजे भक्तिमयं जनः॥
अभिप्रेतार्थवर्गानामेकदेशस्य दर्शनात्।
दिग्दर्शिनीति-नाम्नीयं स्वयं टीकापि लिख्यते॥

इह हि ग्रन्थे धर्मार्थकाममोक्षप्रदायिनी श्रीभगवतो भक्तिर्निरूप्यते; तस्यान्तु ब्रह्मानन्दानुभवादपि परममहान् सुखराशिः सम्पद्यते; सा च गोपीनाथचरणारविन्दद्वन्द्वम-धिकृत्यैव विधेया। तत्र च प्रेम्नैव, तत्रापि श्रीमन्नन्दव्रजजनप्रेमवत् सर्वनिरपेक्षतया परम-महत्तमेनैवेति निर्द्धार्यते। एतादृशीं भक्तिं कुर्वतां जनानां वैकुण्ठोपरि श्रीमद्गोलोके श्रीमन्नन्दकिशोरेण समं निरन्तर-स्वैरविहारः प्राप्यं फलमिति चाग्रे प्रदर्श्यते। एतदेवाखिलं यथास्थानमग्रे व्यक्ततया विस्तरेण निर्वचनीयम्। तदर्थमेव परमाभीष्टतरस्य श्रीमद्दैवतवरस्यासाधारण-परमोत्कर्षवर्णनेन तन्महाप्रसादं याचमान इव प्रथमं मङ्गलमाचरति —जयतीति, सर्वोत्कर्षतया वर्त्तत इत्यर्थः। उत्कर्षश्चात्रासंकोचवृत्त्या निजसीमान्तं प्राप्त एव गृह्यते; स च सर्वविलक्षण-निज-रूप-गुण-लीलादि-माधुरी-प्रकटनेन सर्वचित्ताकर्षकयोः श्रीमच्चरणारविन्दयोर्भक्तेः प्रदानमेव; तत्र च सप्रेमकायाः; तत्रापि दीनहीनजनेष्वपि तद्विस्तारणमिति। स को जयतीत्यपेक्षायां विशेष्यं दर्शयन् परमोत्कर्षमेवोद्दिशति—कोऽपीति, केनापि प्रकारेण निर्वक्तुमशक्य इत्यर्थः। तदेवाह—विविधेति, विविधानां रूपगुणादिसम्बन्धि-नानाप्रकाराणां मधुरिम्-नामब्धिरनवगाह्यस्थिरापारागाधाश्रयः। तत्र रूपमधुरिमाणमाह—कैशोरेति, कैशोरस्य गन्धः सततसम्पर्कविशेषो यस्मिन् सः; बाल्येऽपि तारुण्येऽपि परममहा-सुन्दरकैशोरशोभानपगमात् सर्वदैव कैशोरविभूषित इत्यर्थः। अतएव श्रीमद्भागवते (३/२८/१७) श्रीकपिलदेवेनापि स्वमातरं प्रत्युपदिष्टम्;—*'सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्'* इति। ननु ईदृशो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रो वैकुण्ठोपरि श्रीमद्गोलोके विहरति; तस्य च परमदुर्लभत्वात् तदीयभक्तिमहिमवर्णनादिमहाप्रसादोऽप्यतिदुष्प्राप एवेत्यत्रायासो व्यर्थ एवेत्याशङ्क्य तत्रोत्तरं वदन् गुणमधुरिमाणं दर्शयितुमादौ परमौदार्यमाह—निजेति, निजपदाब्जयोः प्रेम तस्य दानार्थं भूतले मथुरायां गोलोकादवतीर्ण इत्यर्थः; अतस्तत्प्रसादश्चासौ सुप्राप इवेति भावः। यद्यपि कंसवधाद्यर्थमवतीर्णोऽस्ति तथापि तत्प्रयोजनमीषत्करं प्रेमदानमेवासाधारणतया मुख्यम्। तथा च श्रीप्रथमस्कन्धे श्रीकुन्तीस्तुतौ (श्रीमद्भा॰ १/८/२०)—*'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।*

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥' इति; व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—'आत्मारामानपि स्वगुणैराकृष्य भक्तियोगं कारयितुमवतीर्णं त्वां कथं वयं स्त्रियः पश्येम'? इति। अतएवादाविदं विशेषणं निर्द्दिश्य पश्चात् प्रेमसम्प्रदानोपकरणत्वेन विविधमधुरिमाब्धिरित्यादि-विशेषणान्युक्तानि। पुनरसाधारणं तस्य लक्षणमेव निर्दिशन् लीलामाधुरीमाह—गतेत्यर्द्धेन। गोपीषु श्रीमन्नन्दव्रजवल्लवीषु यस्य नित्यं प्रेम; वल्लवीगणवल्लभ इत्यर्थः; बहुव्रीहिणा स एवार्थः ज्ञेयः। एवं दशाक्षरमहामन्त्रवरार्थः सूचितः—अग्रे गोलोकमाहात्म्योपाख्यानारम्भे तथैव माहात्म्यभरकथनात्। कथम्भूतम्? गतः प्राप्तः परमदशायाः चरमकाष्ठाया अन्तोऽवसानं येन तत्। एवं निजपदाब्ज-प्रेमदानावतीर्णत्वात्तत्कृपयान्येषां तस्मिन् प्रेमेत्युक्तम्। तस्यं तु गोपीषु प्रेमेति तासां परममहात्म्यमुद्दिष्टम्। यद्यपि येषां तस्मिन् प्रेमा तेऽपि तस्य प्रेमविषया एव, तथापि तेषां यावन्त एव प्रेमविशेषास्तस्मिन् तस्यापि तेषु तादृक् प्रेमविषयता। तास्तु तस्य नित्यसिद्ध निरुपाधिप्रेमविषया इति नित्यप्रियाणां तासां माहात्म्यविशेषः स्वत एव सिध्येत्। किञ्च, नित्यमित्यनेन कदाचित् कथञ्चिदपि तस्य तास् उपेक्षादिकं किञ्चिन्नास्तीत्यपि बोध्यते। एतच्च श्रीमद्गोलोकमाहात्म्ये श्रीनारदाद्युक्त्या व्यक्ती-भविष्यति। ननु ईदृशाश्चेत्ते कथं तर्हि तेषां माहात्म्यं ज्ञानगम्यं स्यान्मनसोऽप्यगोचरत्वाद्? सत्यं, तस्यैवावतारस्य प्रभावविशेषादित्याह—चैतन्येति। यस्येत्यत्राप्यर्थबलादन्वेत्येव;—यस्य चैतन्याख्यं रूपमवतारः तस्मादनुभवस्य साक्षात्कारस्यापि किमुत ज्ञानस्य पदं व्यवसितिर्विषयं वा प्राप्तम्। अयमर्थः—यद्यपि श्रीचैतन्यदेवो भगवदवतार एव; तथापि प्रेमभक्तिविशेष-प्रकाशनार्थं स्वयमवतीर्णत्वात्तेन तदर्थं स्वयं गोपीभावोऽपि व्यज्यते। तदनुरूपेण निरन्तरमुद्यता तस्य श्रीकृष्णविषयक-प्रेमविशेषेण तद्विषयक-श्रीकृष्णप्रेमादि तादृश एव बोध्यते। एवं तस्य दीननीचजनैकबन्धोर्माहात्म्य-विशेषाणाधुनिकैर्नीचैरपि सर्वैर्गोपीविषयकं भगवत्प्रेम साक्षादेव तदनुभूतमिति। एवं गोपीनां परममाहात्म्यभरसिध्या तत्प्रियस्य भगवतोऽपि परमोत्कर्षविशेषः सिद्धः। अनेन चैतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यार्थश्च सूचितः। भगवत्कृपाभरपात्र-निर्द्धारणादिना पर्यवसाने गोपीनामेव माहात्म्यभर-प्रतिपादन-द्वारा सपरिकरस्य तद्विषयक-भगवत्प्रेमविशेषस्यैव निरूपणादित्येषा दिक्। एवमनुभूतत्वाच्चात्रारब्धं तद्वर्णनं न दुःशकं, न च किञ्चित् सन्देहास्पदमपीति श्रद्धया सर्वैः श्रीवैष्णववरैः वक्ष्यमाणमिदमशेषं श्रोतव्यमिति भावः॥१॥

टीकाका भावानुवाद

मङ्गलाचरण

नमः ॐ विष्णुपादाय आचार्य-सिंहरूपिणे।
श्रीश्रीमद्भक्ति-प्रज्ञान केशव इति नामिने॥
अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च-पालिने।
जीव-दुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम दायिने॥

सर्वप्रथम मैं अपने परम आराध्यतम गुरुदेव नित्यलीला-प्रविष्ट ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जिनकी अहैतुकी कृपालेशसे सर्वथा अयोग्य होकर भी प्रपूज्यचरण श्रीलसनातन गोस्वामी द्वारा रचित श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थके मूल-श्लोकोंका अनुवाद तथा उन्हींके द्वारा रचित 'दिग्दर्शिनी' नामक टीकाका भावानुवाद करनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। तदनन्तर ग्रन्थ-रचयिता और स्वयं उसके टीकाकार श्रीलसनातन गोस्वामीके श्रीचरणकमलोंमें प्रणत होकर उनकी अहैतुकी कृपाके लिए कातर प्रार्थना करता हूँ।

जो भक्ति निखिल पुरुषार्थोंकी जननी है, जो भक्ति निर्विशेष ब्रह्मसाक्षात्कारकी तुलनामें अत्यधिक आनन्द प्रदान करती है, जिस भक्तिकी कृपासे अनित्य विषय-सुखोंसे सहज ही छुटकारा पाया जाता है, श्रीराधारमणके श्रीचरणयुगल ही जिसका प्रधान आश्रय है, व्रजवासियों जैसे गुरुतर (अत्यधिक) प्रेमसे जिसका अनुशीलन करना होता है, उन श्रीभक्तिदेवीको पुनः-पुनः नमस्कार है।

जिनके श्रीरूपका (अथवा श्रीचैतन्यचन्द्रके प्रिय परिकर श्रीरूप गोस्वामीका) आश्रय ग्रहण करने पर मेरे जैसा व्यक्ति भी उन श्रीचैतन्यचन्द्रकी भक्तिको प्राप्त करता है, अपने ही नामामृतका सेवन अर्थात् आस्वादन करनेवाले उन श्रीचैतन्यचन्द्रको पुनः-पुनः नमस्कार है।

इस टीकाका नाम 'दिग्दर्शिनी' है, क्योंकि इस टीका द्वारा आलोच्य ग्रन्थके अनेकानेक प्रकारके सुन्दर-सुन्दर अर्थोंमें से 'दिग्दर्शन-न्याय'के अनुसार केवल एकदेशीय अर्थ प्रदर्शित हुआ है अर्थात् इस ग्रन्थके श्लोकोंमें अनेक प्रकारके अर्थ विद्यमान हैं, किन्तु इस टीकामें उनका एक देशीय अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है और यह टीका भी मेरे (ग्रन्थकार) द्वारा ही लिखित है।

इस ग्रन्थमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करनेवाली श्रीभगवद्भक्तिका निरूपण किया गया है। इस भक्तिके अनुशीलनमें ब्रह्मानन्दके अनुभवसे भी अत्यधिक आनन्दकी प्राप्ति होती है। श्रीमान् नन्दमहाराजके व्रजमें निवास करनेवाले व्रजवासियोंके अनुरूप ही श्रीगोपीनाथके युगल-चरणकमलोंके आश्रयमें सर्वनिरपेक्ष परम उत्तम

प्रेम सहित इस भक्तिका अनुशीलन करना होता है। जो इस प्रकारकी भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उनको वैकुण्ठसे भी ऊपर श्रीगोलोकमें श्रीनन्दकिशोरके साथ निरन्तर स्वच्छन्द विहाररूप परम फलकी प्राप्ति होती है। इस ग्रन्थमें व्रज भक्तिके विषय अर्थात् अधिकारी, अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजनरूप चार क्रमोंका विवेचन हुआ है। इन सभी विषयोंकी यथास्थान पर व्याख्याकी जायेगी।

इस ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए ग्रन्थकार अपने परमाभीष्ट श्रीराधारमणदेवके असाधारण परमोत्कर्षके वर्णन द्वारा उनके महाप्रसाद अर्थात् उनकी महान कृपाकी प्राप्तिके लिए प्रार्थनारूपमें सर्वप्रथम 'जयति' इत्यादि पद द्वारा मङ्गलाचरण कर रहे हैं। इस स्थान पर 'जय' शब्दका अर्थ है कि जो सर्वतोभावेन सर्वोत्कर्षसे विराजमान हैं। 'उत्कर्ष' शब्दका अर्थ भी असङ्कोच वृत्तिसे अपनी सीमा तक ही ग्रहण किया गया है। अतएव जो अपने सर्वविलक्षण रूप, गुण, लीला आदिकी माधुरीको प्रकटकर उसके द्वारा सबके चित्तको आकर्षण करनेवाले अपने युगल चरणकमलोंमें दीन-हीनजनोंके लिए सुलभ प्रेमभक्ति प्रदान करके अपने सभी अवतारोंकी तुलनामें सर्वोत्कर्षकी चरमसीमाको प्राप्त हुए हैं, वे ही कोई एक अनिर्वचनीय पुरुष जययुक्त हो रहे हैं। 'वे ही कोई एक अनिर्वचनीय पुरुष' कहनेका तात्पर्य है कि उनकी कृपा और रूप-गुण आदिकी माधुरीका कोई, कभी भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। तदनन्तर 'विविध' इत्यादि अन्य अन्य विशेषण कहे गये हैं। जो रूप-गुण आदि सम्बन्धीय विविध प्रकारकी मधुरिमाओंके सागर स्वरूप हैं, अर्थात् सागर जिस प्रकार अथाह, स्थिर, अपार और अगाध जलका आश्रय है, उसी प्रकार श्रीनन्दकिशोर भी अथाह, स्थिर, अपार और अगाध माधुरियोंके आश्रय हैं। यहाँ पर रूप-माधुरीका वर्णन करनेके लिए 'किशोर' इत्यादि कह रहे हैं। उनके रूपमें सदैव कैशोर-अवस्था विद्यमान है। वे बाल्य, तारुण्य आदि सभी अवस्थाओंमें ही परम सुन्दर कैशोर कान्तिसे सम्पन्न रहते हैं। वे कभी भी कालके वशीभूत नहीं होते, सदैव नित्य-कैशोर रूपसे विभूषित रहते हैं। अतएव श्रीमद्भागवतमें भी श्रीकपिलदेव कहते हैं—"श्रीभगवान् सदैव कैशोर रूपमें अवस्थित रहते हैं और भक्तों पर

सदैव अनुग्रह करनेके लिए लालायित रहते हैं।" यदि आपत्ति हो कि ऐसे नित्य किशोर रूपवान तथा भक्तों पर कृपा करनेके लिए लालायित रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र वैकुण्ठके ऊपर स्थित श्रीगोलोकमें विहार करते हैं, अतएव उनकी परम दुर्लभताके कारण उनकी भक्तिकी महिमा-वर्णन रूप महाप्रसाद अर्थात् महान कृपा भी अत्यधिक दुष्प्राप्य है। अतएव क्या इस विषयमें प्रयास करना व्यर्थ नहीं है? इस प्रकारके प्रश्नकी आशा करके उसके उत्तरमें उनके गुणकी मधुरिमाका प्रदर्शन करते हुए प्रथमतः उनकी परम औदार्य-माधुरीका वर्णन—'निज' इत्यादि पद द्वारा कर रहे हैं। निज अर्थात् अपने श्रीचरणकमल-युगलमें प्रेमदान करनेके लिए वे श्रीगोलोकसे भूलोकस्थित श्रीमथुरा मण्डलमें अवतरित हुए हैं, अतएव उनकी कृपा सुगमतासे प्राप्त हुई है। यद्यपि कंस जैसे असुरोंके संहार द्वारा भूभारहरणरूप अवतारका प्रयोजन है, तथापि वह अकिञ्चित्कर या गौण है। प्रेम वितरणरूप प्रयोजन ही असाधारण और मुख्य कारण है। श्रीमद्भागवतके प्रथम-स्कन्धमें श्रीकुन्तीदेवीके स्तवमें इस प्रकार वर्णित हुआ है—"हे श्रीकृष्ण! आप परमहंस निर्मल-आत्मा मुनिगणोंके प्रति भक्तियोगका विधान करनेके लिए ही अवतीर्ण हुए हैं, अतएव हम स्त्रीजाति होकर किस प्रकार आपको जान पायेंगी?" श्रील श्रीधरस्वामीपादने भी इसी प्रकार व्याख्या की है—"हे कृष्ण! आप अपने गुणोंसे आत्माराम जनोंको आकर्षणकर उन्हें अपने भक्तियोगमें लगानेके लिए ही अवतीर्ण हुए हैं।" इसलिए सबसे पहले 'निजपादाब्ज-प्रेमदानावतीर्ण' विशेषणके बाद प्रेम वितरणके उपकरणरूप 'विविध मधुरिमाब्धि' इत्यादि विशेषण उल्लिखित हुए हैं। पुनः असाधारण लक्षण निर्देश करनेके लिए 'गत' इत्यादि पद द्वारा लीला माधुरीका वर्णन कर रहे हैं। गोपियोंसे अर्थात् श्रीव्रजवल्लभीगणोंसे जिनको नित्य प्रेम है, वे उन वल्लभीगणोंके वल्लभ हैं, सर्वोत्तम दशाक्षर महामन्त्रवरके अर्थसे यही सूचित होता है। इस विषयमें सर्वप्रथम श्रीगोलोक माहात्म्य उपाख्यानके प्रारम्भमें दशाक्षर महामन्त्रवरके अर्थ-विकास-प्रसङ्गमें गोपीप्रेमकी महान महिमाका वर्णन होगा। वह गोपी-प्रेम कैसा है? वह गोपीप्रेम परम अवस्थाकी सर्वोच्च सीमाको प्राप्त है। इस प्रकार

'निजपादाब्ज प्रेमदानावतीर्ण' विशेषण द्वारा वे गोपियोंके अतिरिक्त आपामर साधारण व्यक्तियोंको भी कृपा करके वही प्रेम प्रदान करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। परवर्त्ती 'प्रेम गोपीषु नित्यम्' इस वाक्यके द्वारा यहाँ पर गोपीप्रेमका ही परम माहात्म्य सूचित हुआ है। यद्यपि प्रेमिक भक्तमात्र ही भगवत्प्रेमका विषय होता है, तथापि श्रीभगवान्के प्रति जिसको जितने परिमाणमें प्रेम होता है, श्रीभगवान्का भी उसके प्रति उतने ही परिमाणमें प्रेम होता है। गोपियाँ श्रीभगवान्की नित्य प्रियाएँ हैं, अतएव नित्यसिद्ध निरुपाधिक भगवत्प्रेमका विषय होनेके कारण उन्हींका माहात्म्य स्वतःसिद्ध है। यहाँ 'नित्य' शब्दके व्यवहार द्वारा किसी प्रकारसे भी श्रीभगवान् द्वारा श्रीगोपियोंके प्रति कभी तनिक भी उपेक्षा नहीं देखी जाती है। यह विषय श्रीगोलोक माहात्म्यमें श्रीनारदकी उक्तिमें स्पष्टरूपसे व्यक्त होगा।

यदि कहो कि ऐसा गोपीप्रेम मन और बुद्धिके अगोचर है, अतः उस विषयका माहात्म्य किस प्रकार ज्ञात होगा? सत्य है कि ऐसा गोपीप्रेम मुनिजनोंके मनसे भी अतीत है, किन्तु श्रीराधारमणदेवके विशेष अवतारके प्रभावसे यह स्वयं ही अभिव्यक्त हुआ है, अर्थात् श्रीकृष्णके श्रीचैतन्यरूप द्वारा यह गोपीप्रेम सभीके अनुभवका विषय हुआ है। यद्यपि श्रीचैतन्यदेव स्वयं ही श्रीकृष्ण हैं, तथापि वे विशेषरूपसे प्रेमभक्तिको प्रकाशित करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं, अतएव उनके अवतरणके साथ ही वह गोपीभाव भी स्वतः ही प्रकाशित हुआ है। इसके द्वारा उनकी कृपासे दूसरोंको भी वह गोपीप्रेम प्राप्त होता है, ऐसा सूचित होता है। इसके अनुसार निरन्तर उद्यत श्रीकृष्ण-विषयक-प्रेमसे गोपीविषयक-श्रीकृष्णप्रेम भी बोधगम्य हुआ है। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने ही श्रीचैतन्यरूपसे गोपीभावमें विभावित होकर गोपीप्रेमको स्वयं आस्वादन करके उसका जगतमें प्रचार किया है। इस प्रकार दीन-हीन व्यक्तियोंके एकमात्र बन्धु श्रीचैतन्यदेवकी कृपाके माहात्म्यके प्रभावसे आधुनिक दीन-हीन सभी व्यक्ति उस गोपीविषयक भगवत्प्रेमको साक्षात्रूपसे अनुभव करनेमें समर्थ हुए हैं। इस प्रकार गोपियोंकी परम महिमा सिद्ध होने पर उनके प्रिय श्रीभगवान्का भी परमोत्कर्ष सिद्ध होता है। इसके द्वारा इस

ग्रन्थका प्रतिपाद्य-विषय निर्धारित हुआ है। अब भगवत्कृपाके पात्र निर्धारण विचारमें भी गोपियोंकी महिमाके प्रतिपादन द्वारा सपरिकर श्रीभगवान्का भी प्रेम निरूपित होगा। (प्रयाग तीर्थसे लेकर द्वारका तक भ्रमण करके श्रीनारदने जिन-जिन महात्माओंके साथ वार्त्तालाप किया था, उन सभीका श्रीभगवान्के अनुग्रहसे सर्वाभीष्ट परिपूर्ण हुआ है, अतएव उसके द्वारा भी गोपियोंका परम माहात्म्य स्वतः ही सिद्ध हुआ है।) इस विचारके अनुसार यही 'दिग्दर्शन' शब्दका तात्पर्य है। इस प्रकारसे श्रीकृष्णचैतन्यदेवकी कृपासे अनुभूत उक्त गोपीप्रेमके यहाँसे आरम्भ किये जा रहे वर्णनमें न तो किसी प्रकारकी दुःशंका है और न ही कोई संदेह है। अतएव यह ग्रन्थ सभी श्रेष्ठ वैष्णवोंके लिए श्रद्धापूर्वक सुनने योग्य है॥१॥

श्रीदिग्दर्शिनी प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें ग्रन्थकारने चार विषयोंका वर्णन किया है—(१) इस ग्रन्थको पाठ करनेका अधिकारी, (२) अभिधेय अर्थात् साधन, (३) सम्बन्ध और (४) प्रयोजन।

(१) **अधिकारी**—जो लोग श्रीराधारमणके श्रीचरणकमलोंका मकरन्द पान करनेके लिए अभिलाषी हैं, केवलमात्र वे ही इस ग्रन्थको पाठ करनेके अधिकारी हैं।

(२) **अभिधेय**—व्रजगोप-गोपियोंके दास्य प्राप्तिकी लालसासे भक्तिका अनुशीलन करना ही अभिधेय या साधन है। इसके लिए केवल रागानुगा भक्ति-साधन ही उपादेय है; वैधीभक्तिके साधन द्वारा उक्त प्रयोजनकी सिद्धि सम्भव नहीं है। ऐसी सुदुर्लभ वस्तुके प्रति प्रबल लालसाके बिना व्रजगोप-गोपियोंका दास्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस अलौकिक ग्रन्थका श्रद्धापूर्वक पाठ करनेसे वैसी लालसा जग सकती है तथा उस समय वैसे ही साधनमें रुचि भी उत्पन्न होगी।

(३) **सम्बन्ध**—इस ग्रन्थके साथ श्रीकृष्ण और उनके लीला परिकरोंके माधुर्यको प्रकाशित करनेवाले लीला-चरितका वाच्य-वाचक सम्बन्ध है।

(४) **प्रयोजन**—श्रीराधारमणके श्रीयुगलचरणकमलोंमें उक्त प्रकारकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति ही प्रयोजन है।

प्रस्तुत श्लोकमें एक अत्यन्त निगूढ़ भाव छिपा हुआ है। वह यह है कि यदि करुणावरुणालय श्रीकृष्ण, श्रीराधाभाव और श्रीराधा–कान्ति अङ्गीकार कर श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके रूपमें इस धराधाममें आविर्भूत होकर ब्रह्मा आदिके लिए भी सुदुर्लभ उन्नत–उज्ज्वल स्वभक्ति रसका दान नहीं करते, तो जीवोंके लिए वह प्रेम चिरकाल तक अलभ्य रहता। इसका कारण है कि श्रीराधाभाव–कान्ति सुवलित श्रीकृष्णके (अर्थात् श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके) अतिरिक्त और कोई भी उसे दान नहीं कर सकता। इसमें और भी एक गूढ़ रहस्य यह है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुके विशेष कृपापात्र, श्रीचैतन्य–मनोऽभीष्ट–स्थापक श्रीरूपगोस्वामीकी निरङ्कुशकृपासे भी यह सुदुर्लभ व्रजप्रेम सहज ही प्राप्त हो सकता है। अतएव उक्त गोपीप्रेमको प्राप्त करनेके लिए श्रीगौरसुन्दर और उनके कृपापात्र श्रीरूपगोस्वामी जैसे परिकरोंके शरणापन्न होनेके अलावा अन्य कोई गति नहीं है॥१॥

श्रीराधिकाप्रभृतयो नितरां जयन्ति
गोप्यो नितान्तभगवत्प्रियताप्रसिद्धाः।
यासां हरौ परमसौहृदमाधुरीणां
निर्वक्तुमीषदपि जातु न कोऽपि शक्तः॥२॥

श्लोकानुवाद—जो व्रजगोपियाँ श्रीभगवान्‌के अत्यन्त प्रियतमरूपमें प्रसिद्ध हैं, श्रीहरिके प्रति जिनकी परम–सौहृद–माधुरीका किञ्चित् मात्र भी कोई कभी भी निरूपण करनेमें समर्थ नहीं हुआ; वे श्रीराधिका आदि श्रीकृष्णकी नित्य प्रसिद्ध प्रेयसियाँ समस्त प्रकारके सर्वोत्कर्ष सहित विराजमान हैं॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीभगवन्महाप्रसादप्राप्तिस्तु तदीयप्रियतमजनानां प्रसादादेव भवतीति तेषामुक्तप्रकारकमेव परमोत्कर्षमाह—श्रीराधिकेति। गोपीषु सर्वास्वपि श्रीराधिका श्रेष्ठतमा; अतएव तदादित्वमुक्तम्। नितरामिति, भगवतः कदाचित् कञ्चित् प्रत्युपेक्षादिकं लोकदृष्ट्या प्रतीयेतापि, अतः सर्वत्र सर्वदा सर्वदृष्ट्या तस्य परमोत्कर्षो न सिध्येत। आसाञ्च तन्नास्ति, किन्तु सर्वदैव सर्वत्रैव सर्वैरेव परमोत्कर्षोऽनुभूयत इत्यर्थः। तदुक्तं श्रीभगवतैव ताः प्रति श्रीदशमे (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२२)—*'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या*

माभजन् दुर्ज्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥' इति; यतः नितान्ता अतिगाढ़ा परमकाष्ठां प्राप्ता या भगवतः प्रियता प्रेमास्पदत्वं तया प्रसिद्धाः। प्रसिद्धत्वाच्च नात्र प्रमाणमनुसन्धेयमित्यर्थः। तथापि भक्त्यानन्दभरेण तत्रैव हेतुं निर्दिशति—यासामिति, हरौ परममनोहरे श्रीकृष्णे यत् परमं सौहृदं प्रेम तस्य माधुरीणां मध्ये ईषन्मनागपि जातु कदाचित् स हरिरपि निर्वक्तुं निरूपयितुं न शक्तो भवति, अन्यस्य तत्र का कथा इत्यर्थः। एवं भगवतस्तासां चान्योन्यं नित्यप्रेमविशेषो दर्शितः॥२॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के महाप्रसाद अर्थात् कृपाकी प्राप्ति उनके प्रियतम भक्तोंके प्रसाद अर्थात् कृपासे ही प्राप्त होती है। अतएव उनके प्रियतम भक्तगण भी उन्हींके समान परमोत्कर्षसे विराजमान हैं। इसी विचारको 'श्रीराधिका' इत्यादि श्लोकके माध्यमसे निरूपण कर रहे हैं। श्रीकृष्णके सभी भक्तोंमें गोपियाँ ही श्रेष्ठ हैं तथा सभी गोपियोंमें श्रीराधिकाजी श्रेष्ठतमा हैं। इसलिए श्रीराधाजीके नामका सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। 'नितरां' शब्दके प्रयोगका उद्देश्य यह है कि भक्तमात्र ही भगवान्‌के प्रिय हैं, किन्तु लोकदृष्टिसे कदाचित् किसी भक्तके प्रति भगवान्‌की किञ्चित् उपेक्षा आदि प्रतीत होने पर सर्वत्र सर्वदा सभीकी दृष्टिमें उनकी (भक्तोंकी) परमोत्कर्षता सिद्ध नहीं होती, किन्तु गोपियोंके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। अर्थात् कभी भी किसी भी प्रकारसे श्रीभगवान्‌की उनके प्रति उपेक्षा नहीं देखी जाती, अपितु सर्वदा सर्वत्र सर्वमहानुभव-जनों द्वारा उनकी परमोत्कर्षता ही अनुभूत होती है। गोपियोंके अत्यधिक प्रेमका वर्णन भी श्रीभगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे किया है—"हे व्रजसुन्दरीगण! मेरे साथ तुम्हारा जो प्रेममय संयोग है, जिसके लिए तुमने दुश्छेद्य (अर्थात् जिसका छेदन करना अतिकठिन है उस) गृह-शृंखलाका भी छेदन करके मेरा भजन किया है, उसका किञ्चित् मात्र भी प्रतिदान मैं देवताओंके समान आयु प्राप्त करने पर भी नहीं कर पाऊँगा। अतएव तुम्हारे साधुकृत्य द्वारा ही उसका विनिमय हो। अर्थात् मैं तुम्हारे प्रेमका ऋणी हूँ।" इस प्रकार अनेक स्थानों पर गोपियोंके प्रेमकी महिमा गायी गयी है, क्योंकि गोपियाँ प्रगाढ़ परम सीमा प्राप्त भगवत् प्रेमके आधारके रूपमें प्रसिद्ध हैं। यद्यपि 'प्रसिद्ध' कहनेका तात्पर्य यह है कि जो प्रसिद्ध है अर्थात् जिसके विषयमें अन्यान्य प्रमाणोंको ढूढ़नेकी

आवश्यकता नहीं होती है, तथापि भक्तोंके आनन्दके लिए 'यासां' इत्यादि पद द्वारा उसका निर्देश कर रहे हैं। श्रीहरि अर्थात् परम मनोहर श्रीकृष्णके प्रति जिनकी परम-सौहृद-प्रेममाधुरी है, उनकी उस प्रेममाधुरीका लेशमात्र भी कोई, यहाँ तक कि स्वयं हरि भी कभी भी निरूपण करनेमें समर्थ नहीं हैं, वे श्रीराधिका आदि सभी गोपियाँ सर्वोत्कर्षसे विराजमान हैं। इस प्रकारसे श्रीभगवान् और श्रीगोपियोंका जो परस्पर नित्यप्रेम है, वही प्रदर्शित हुआ है॥२॥

श्रीदिग्दर्शिनी प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका भजन तो करते हैं, किन्तु उनकी अन्तरङ्गा—ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजीका भजन नहीं करते, उनका भजन निरर्थक होता है। अपितु, वैसा भजन श्रीकृष्णके सुकोमल अङ्गोंमें शूलके समान चुभता है—"कृष्णाश्रयः स न व्रजरमानुगः स्वहृदि सप्तशल्यानि मे।" जो लोग श्रीगोविन्दका अर्चन-पूजन तो करते हैं, किन्तु उनके भक्तोंका अर्चन-पूजन नहीं करते, वे दाम्भिकजन भगवान्‌की कृपासे सदैव वञ्चित रहते हैं। जैसे ताप और प्रकाशके बिना सूर्यकी सत्ता नहीं देखी जाती है, उसी प्रकार श्रीराधिकाके बिना केवल माधवकी सेवा व्यर्थ है। इसीलिए भागवतोत्तम श्रीउद्धवजीने भी श्रीव्रजरमणियोंके पदरेणुकी वन्दना की है—"वन्दे नन्दव्रज-स्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।" यहाँ 'स्त्रीणां' बहुवचन पद होने पर भी 'पादरेणुं' पदके एकवचन होनेका गूढ़ रहस्य है कि श्रीमती राधिकाजीका ही वह एक पदरेणु श्रीउद्धवजीको अभीष्ट है।

भगवत्कृपा अथवा भक्तकृपासे ही रागानुगा भक्ति प्राप्त होती है। इसमें भी एक गूढ़ रहस्य यह है कि भक्ति—भगवत्कृपा और भक्तकृपाकी अनुगामिनी है। अतएव नित्यपरिकरोंके भावोंके बिना भक्तिका रागानुगभाव सिद्ध नहीं होता। इसीलिए गोपियोंके आनुगत्यके बिना, कठोर तपस्याके द्वारा भी श्रीवृन्दावनकी रासलीलामें साधक प्रवेश नहीं कर सकते। इसके विपरीत श्रुतियाँ और दण्डकारण्यके ऋषियोंने गोपियोंके भावोंके आनुगत्यमें रागानुगा भजनके द्वारा सफल मनोरथ होकर गोपीस्वरूप और गोपीभावको प्राप्त किया है।

अतएव रागानुगा भक्तिसाधकोंके लिए नित्यपरिकर श्रीमती राधिका, श्रीललिता, श्रीविशाखा आदि व्रजरमणियों और उनके अनुगत

श्रीस्वरूप, श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथ दास आदि व्रजवासियोंके आनुगत्यमें ही साधन-भजन श्रेयस्कर है, स्वतन्त्ररूपमें भजन अनर्थकारी होता है॥२॥

स्वदयितनिजभावं यो विभाव्य स्वभावात्
सुमधुरमवतीर्णो भक्तरूपेन लोभात्।
जयति कनकधामा कृष्णचैतन्यनामा
हरिरिह यतिवेशः श्रीशचीसूनुरेषः॥३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने जब यह विचार किया कि भक्तोंके प्रति मेरा जो प्रेम है, उससे अधिक भक्तोंका मेरे प्रति प्रेम सुमधुर है, तब वे उस भक्त-प्रेमको आस्वादन करनेके लिए लोभवशतः गौड़देशके श्रीनवद्वीपधाममें अवतीर्ण हुए; ऐसे कनक-कान्तियुक्त यतिवेशधारी श्रीकृष्णचैतन्य नामक श्रीगौरहरि सर्वोत्कर्षसे विराजमान हैं॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि तद्वर्णयितुमुपक्रम्यत इत्युक्तरीत्यैव पुनराशङ्क्य, तत्र च पूर्वोक्तमेवोत्तरमभिप्रेत्य निखिलदीनहीनजनैकोद्धारकस्य निजनाम-सङ्कीर्त्तनप्राय-भक्तिरसविस्तारकस्य श्रीभगवत्प्रियतमावतारस्य परममहागुरोः श्रीचैतन्यदेवस्य प्रसादप्राप्तये तस्य परमोत्कर्षमाह—स्वदयितेति। स्वस्य हरेर्भावः निजभक्तजनेषु यः प्रेमा, तस्मात् सकाशात् स्वदयितानां निजभक्तानां भावं स्वस्मिन् असाधारणप्रेमाणं सुमधुरं परमोत्कृष्टं विभाव्यालोच्य तादृशभावे लोभाद्धेतोः यो भक्तरूपेण प्रियसेवकस्वरूपेणावतीर्णः, इह भूलोके, गौड़े नवद्वीपे; स शचीसूनुर्हरिर्जयति। कथम्भूतः? कनकवद्धाम कान्तिर्यस्य सः, गौराङ्गसुन्दर इत्यर्थः। एष इति साक्षादनुभूततां तदानीं तस्य वर्त्तमानतां च बोधयति। एवं पुरा यत् स्वयं हरिर्निर्वक्तुं न शशाक, अधुना भक्तरूपावतारेऽस्मिन् स्वानामनुभवपदमपि प्रापयामासेत्यस्यावतारस्य महानुत्कर्षः सिद्धः। किञ्च—*'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१६) इत्यादिवचनैः स्वस्मादपि स्वभक्तानामुत्कर्षं श्रीभगवान् स्वयं सर्वत्र यत् प्रतिपादयति, तच्च व्यक्तीभूतम्। तथा पूर्वश्लोकवर्त्तिनितरामित्यस्याप्युक्तोऽर्थः सुसङ्गतः। पक्षे च, भक्तः स्वप्रियभृत्यो यो रूपः कर्णाटदेशविख्यातविप्रकुलाचार्य-श्रीजगद्गुरुवंशजात-श्रीकुमारात्मजो गौड़देशीय-श्रीरूपनामा वैष्णववरस्तेन सहेत्यर्थः। ततश्च प्रसङ्गसामर्थ्याद् यतिवेश इत्यादि-विशेषणवशाद्भक्तरूप एवावत्तीर्ण इति बोद्धव्यम्। यतः संन्यासि-वरवेशधारिणः श्रीशचीनन्दनस्य स्वभक्तिरसविस्तारणार्थं भक्तवत् स्वयमेव क्रियमाणं नामसङ्कीर्त्तनवन्दनादिकं भक्ततां प्रथयत्येव परम-दुर्लभतरभगवतप्रेमभक्तेः कलौ सर्वत्र विस्तारणादिकञ्च भगवदवतारतामिति दिक्।

तदुक्तं श्रीसार्वभौमभट्टाचार्यपादैः—*'कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा। आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृङ्गः॥'* इति॥३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि उस गोपीप्रेमकी माधुरीके लेशमात्रको भी कोई कभी निरूपण करनेमें समर्थ नहीं है, यह जानते हुए भी तुम क्यों उसको वर्णन करनेमें प्रवृत्त हो रहे हो? इसका समाधान करते हुए कह रहे है कि यद्यपि इस विषयमें उत्तर पहले ही (प्रथम श्लोकको टीकामें) दिया जा चुका है, तथापि पूर्वोक्त उत्तरका अभिलषित अर्थ प्रदान कर रहे हैं—निखिल दीन-हीन व्यक्तियोंके उद्धारक, अपने नामसंकीर्त्तनकी प्रधानतासे युक्त भक्तिरसके विस्तारकारी श्रीभगवत्प्रियतमावतार महागुरु श्रीकृष्णचैतन्यदेवकी कृपाको लाभ करनेके लिए उनके परमोत्कर्षका वर्णन 'स्वदयित' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। 'निजभाव'—श्रीहरिका अपने भक्तोंके प्रति जो भाव है, वही भाव अर्थात् प्रेम, सुमधुर और परमोत्कृष्ट है। श्रीहरिका भक्तोंके प्रति जो प्रेम है, उस प्रेमसे भी श्रीहरिके प्रति भक्तोंका जो प्रेम है, वह असाधारण सुमधुर और परमोत्कृष्ट है। ऐसी विवेचना करके उनके जैसे भावकी प्राप्तिके लोभसे श्रीहरि भक्तरूपमें अथवा प्रियसेवक रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। किस स्थान पर अवतीर्ण हुए हैं? इस भूलोकमें गौड़मण्डलके अन्तर्गत श्रीनवद्वीपमें अवतीर्ण हुए हैं। वही श्रीशचीनन्दन हरि सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रहे हैं। वह श्रीहरि कैसे हैं? कनककान्ति—स्वर्णके समान जिनकी कान्ति है अर्थात् वे गौराङ्गसुन्दर हैं।

मूल श्लोकके 'श्रीशचीसूनुरेषः' पदमें 'एषः' शब्दके प्रयोगका उद्देश्य यह है कि वे श्रीशचीनन्दन ग्रन्थकारके द्वारा साक्षात् अनुभूत थे तथा ग्रन्थ रचनाकालके समय वर्त्तमान थे—ऐसा समझना चाहिए। पूर्वकालमें (द्वापरके अन्तमें) स्वयं श्रीहरि जिस गोपीप्रेमकी माधुरीका वर्णन नहीं कर पाये, किन्तु इस समय वे भक्तरूपमें अपने नामसंकीर्त्तनके माध्यमसे उस प्रेमको स्वयं अनुभव कर रहे हैं। अतएव इस श्रीकृष्णचैतन्य अवतारका ही महान उत्कर्ष सिद्ध होता है। श्रीभगवान्ने स्वयं अपने मुखसे भी कहा है—"मैं भक्तोंकी चरणधूलिके द्वारा ब्रह्माण्डको पवित्र करूँगा, क्योंकि भक्तोंकी चरणधूलिको ग्रहण किये

बिना भक्ति नहीं होती, और भक्तिके बिना मेरा माधुर्य भी अनुभव नहीं होता है। मैंने ही ऐसा नियम बनाया है। अतएव मैं भी अपने भक्तोंके समान (भक्तोंकी पदधूलि द्वारा प्राप्त) भक्ति द्वारा अपने परिपूर्ण माधुर्य रसमें निमग्न होऊँगा—ऐसा सोचकर मैं निष्किञ्चन तथा अपने रूप आदिका मनन करनेवाले शान्त अर्थात् वैरभाव रहित-समदर्शी भक्तोंके अनुवर्त्ती होकर रहता हूँ।" इस वाक्यके द्वारा श्रीभगवान् अपनेसे अधिक अपने भक्तोंके उत्कर्षको स्वयं ही सम्पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि "मेरे प्रति मेरे भक्तजन जो अहैतुकी भक्ति करते हैं, मैं उसका प्रतिदान नहीं कर सकता हूँ—इस दोषसे मैं उऋण व पवित्र होऊँगा, ऐसा विचारकर भक्तोंके पीछे गमन करके उनकी चरणधूलिसे विभूषित होऊँ।" श्रीकृष्णावतारमें ऐसी अभिलाषा मात्र हुई थी, किन्तु अब श्रीगौरसुन्दर रूपमें उसे स्वयं आचरण करके दिखाया कि भक्त जिस प्रकार भगवान्में भक्तिमान होते हैं, भगवान् भी वैसे ही भक्तमें भक्तिमान होते हैं। अतएव पिछले श्लोकमें 'नितरां' शब्दका प्रयोग सुसङ्गत ही है।

अब पक्षान्तरमें अर्थ करते हैं, अर्थात् मूल श्लोकके 'भक्तरूपेण' पदका अर्थ है—जो श्रीरूप नामक निजप्रिय भक्तके साथ अर्थात् जो कर्नाटक देशके विख्यात विप्रकुलाचार्य श्रीजगद्गुरुवंशजात श्रीकुमार नामक महात्माके पुत्र, गौड़देशीय वैष्णवप्रवर श्रीरूपके साथ अवतीर्ण हुए हैं। यहाँ प्रसंगवशतः 'यतिवेश' विशेषण प्रयोग हुआ है, किन्तु ये भक्तरूपमें ही अवतीर्ण हैं, यतिरूपमें नहीं तथा केवल वेशसे ही यति हैं—ऐसा समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि संन्यासीप्रवर-वेशधारी श्रीशचीनन्दन गौरहरिने ही अपनी भक्तिरसके विस्तारके लिए भक्तकी भाँति स्वयं नामसंकीर्त्तन-वन्दनादि किया है, इसलिए उनका भक्त होना प्रसिद्ध है। विशेषकर श्रीशचीनन्दनने कलियुगमें सर्वत्र परम दुर्लभ भगवद् प्रेमभक्तिका विस्तार किया है, इस कारण उनका भगवान्का अवतार होना निरूपित हुआ है। उनके विषयमें श्रीपाद सार्वभौम भट्टाचार्य कहते हैं—"कालके प्रभावसे स्वकीय (अपने) भक्तियोगके अन्तर्हित होने पर जो उसी भक्तियोगका पुनः प्रादुर्भाव

करानेके लिए श्रीकृष्णचैतन्य नाम ग्रहणकर आविर्भूत हुए हैं, उनके श्रीचरणकमलोंमें मेरा चित्तरूपी भ्रमर प्रगाढ़रूपसे लीन हो" ॥३॥

जयति मथुरादेवी श्रेष्ठा पुरीषु मनोरमा
परमदयिता कंसारातेर्जनिस्थितिरञ्जिता।
दूरितहरणान्मुक्तेर्भक्तेरपि प्रतिपादना–
ज्जगति महिता तत्तत्क्रीड़ाकथास्तु विदूरतः ॥४॥

श्लोकानुवाद—जो समस्त पुरियोंमें श्रेष्ठा हैं और सर्वाभीष्ट पूर्ण करके सबके मनको हरण करनेके कारण मनोरमा कहलाती हैं; कंसारि अर्थात् कंसका वध करनेवाले श्रीकृष्णकी अन्यान्य सभी मनोरम क्रीड़ाओंकी बात तो दूर रहे, केवल उनके जन्म और निवास द्वारा सुशोभित होनेके कारण, जो सभीके पापोंको हरण करनेवाली तथा मुक्ति और भक्ति प्रदान करनेके कारण जगतमें पूजिता हैं, वे श्रीकृष्णकी परमदयिता श्रीमथुरादेवी सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रही हैं॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वेष्टसिद्धिकारि–तादृग्भक्तिप्राप्तिस्तु–भगवतः श्रीकृष्णस्य परमप्रेमास्पदत्वान्निरन्तर–क्रीड़ाविशेषमण्डितत्वाच्च भगवत्यां श्रीमथुरायामेव संपद्यत इत्याशयेन तस्याः प्रसादलब्धये तन्माहात्म्यं स्तौति—जयतीति। देवी परमेश्वरी, सर्वदा द्योतमाना वा, नित्यभगवत्सान्निध्येन कालभयाद्यभावात्। अतएव पुरीषु काश्यादि सप्तसु किंवा उर्द्धाधोमध्यवर्त्तमानासु देवादीनां श्रीभगवतोऽपि पुरीषु सर्वास्वेव मध्ये श्रेष्ठा उत्कृष्टा; यतो मनोरमा विचित्रशोभाभरेण परमासुन्दरी। यद्वा, सर्वेषामेव सर्वाभीष्टपूरणेन मनोरमयतीति तथा सा। तदुक्तं पद्मपुराणे—*'त्रिवर्गदा कामिनां या मुमुक्षुणाञ्च मोक्षदा। भक्तीच्छोर्भक्तिदा कस्तां मथुरां नाश्रयेद्बुधः॥'* इति। अतएव कंसारातेः श्रीकृष्णस्य भगवतः परमवल्लभा। कंसारसतेरिति—कंसवधेन प्रायो मथुरावासिनामार्त्तिभयनाशनात् परमदयितत्तालक्षणं दर्शयति। अतएव कंसारातेरेव जनिराविर्भावः स्थितिश्च नित्यनिवासः;—*'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितोहरिः।'* (श्रीमद्भा॰ १०/१/२८) इत्याद्युक्तेः, ताभ्यां रञ्जिता शोभिता, अतएव दुरितानां हरणाद्विनाशनात् तथा मुक्तेर्भक्तेरपि प्रतिपादनात् प्रदानादपि जगति महिता पूजिता सर्वैः। कंसारातेरेव तासां तासामनिर्वाच्यानां सुप्रसिद्धानां वा रासादिक्रीड़ानां कथा तु विदूरतः अतिदूरेऽस्तु, ताभिर्यदस्या महितत्वं तद्वार्त्ता केन निरूपयितुं शक्यत इत्यर्थः। दुरितहरणादौ पुराणानां वचनानि; तत्र वाराहस्य—*'अन्यत्र यत् कृतं पापं तीर्थमासाद्य नश्यति। तीर्थे तु यत् कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥ मथुरायां कृतं पापं मथुरायां विनश्यति। एषा पुरी महापुण्या यत्र पापं न तिष्ठति॥'* इति, तथा—

'ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यत् पापं समुपार्जितम्। सुकृतं दुष्कृतं वापि मथुरायां प्रणश्यति॥' इति, स्कान्दस्य—*'काश्यादिपुर्यो यदि नाम सन्ति, तासान्तु मध्ये मथुरैव धन्या। या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्द्धा विदधाति मोक्षम्॥'* इति, पाद्मस्य च—*'अन्येषु पुण्यक्षेत्रेषु मुक्तिरेव महाफलम्। मुक्तैः प्रार्थ्या हरेर्भक्तिर्मथुरायां हि लभ्यते॥'* इत्यादीनि॥४॥

भावानुवाद—सर्वसिद्धियोंको प्रदान करनेवाली उस प्रेमभक्तिकी प्राप्ति भगवान् श्रीकृष्णकी निरन्तर क्रीड़ासे मण्डित, परमप्रेमकी आधार भगवती श्रीमथुरामण्डलमें ही सिद्ध होती है। इसलिए उन मथुरादेवीकी कृपा प्राप्त करनेके लिए ही 'जयति' इत्यादि पदों द्वारा उनका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। श्रीमथुरादेवी सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रही हैं। 'देवी' शब्दका अर्थ है जो सर्वदा द्योतमाना अर्थात् प्रकाशमाना हैं। अथवा भगवान्की क्रीड़ास्थली होनेके कारण उन्हें 'परमेश्वरी' भी कहते हैं, क्योंकि भगवान् मथुरामण्डलमें निरन्तर क्रीड़ाएँ करते हैं, अतः उनके नित्य सान्निध्यवशतः उस मथुरापुरीमें कालभय आदिका अभाव सूचित हो रहा है (इसलिए वे 'परमेश्वरी' हैं)। अतएव वे काशी आदि सप्तपुरियोंके मध्य अथवा ऊर्द्ध, अधः और मध्यवर्त्ती देवताओंकी सभी पुरियोंसे, यहाँ तक कि श्रीभगवान्की अन्यान्य सभी पुरियोंसे भी सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं। उन्हें मनोरमा भी कहा गया है अर्थात् सभीके सर्वाभीष्टोंको पूर्ण करनेके कारण श्रीमथुरा सर्वमनोरमा हैं। इस विषयमें पद्मपुराणकी उक्ति है—"श्रीमथुरा सकाम व्यक्तियोंको धर्म, अर्थ, काम—यह त्रिवर्ग प्रदान करती हैं, मुमुक्षुको मोक्ष और भक्तिकामीको भक्ति प्रदान करती हैं। अतएव कौन बुद्धिमान व्यक्ति इस श्रीमथुरापुरीका आश्रय ग्रहण नहीं करेगा?" श्रीमथुरापुरी कंसारि श्रीकृष्णकी परमप्रियतमा अर्थात् दयिता हैं। 'कंसारि' शब्द द्वारा मथुरावासियोंकी आर्त्ति और भय आदिको नाश करनेके कारण उनका परमदयिता लक्षण ही सूचित होता है। विशेषतः "मथुरामें श्रीहरिका आविर्भाव और नित्य निवास है। मथुरामें श्रीहरि स्वयं सर्वदा विराजमान रहते हैं" इत्यादि प्रमाणोंसे भी जाना जा रहा है कि श्रीमथुरा श्रीभगवान्के नित्यनिवास द्वारा सुशोभित हैं। इसलिए पापनाश, मुक्ति और भक्तिके प्रतिपादनके कारण ये मथुरा जगतमें पूजिता तथा कंसरिपु (कंस-शत्रु) श्रीकृष्णकी परमवल्लभा हैं।

कंसारि श्रीकृष्णकी अनिर्वचनीय सुप्रसिद्ध रासादि क्रीड़ाओंकी तो बात दूर रहे, क्योंकि वैसी लीला आदिके माधुर्यको कौन वर्णन कर सकता है; किन्तु श्रीमथुरा तो केवल पापनाश आदि महिमाके कारण ही जगतमें अत्यन्त प्रशंसनीय घोषित होती हैं। पापहरण आदि विषयमें वराहपुराणमें कहा गया है—"अन्यान्य स्थानोंमें पाप करने पर तीर्थस्थानमें जानेसे ही वह पाप विनष्ट हो जाता है, किन्तु तीर्थमें जाकर पापाचरण करने पर वह निश्चय ही वज्रलेपके समान अचल अटल हो जाता है। परन्तु मथुरा तीर्थमें पाप करने पर वह पाप मथुरामें ही विनष्ट हो जाता है। अर्थात् जिस किसी प्रकारकी सुकृति व दुष्कृति क्यों न हो, वह मथुरामें ही विनष्ट होती है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और अज्ञानसे जो पाप आदि उदित होते हैं, सन्धिनीशक्तिकी विलासस्थली होनेके कारण श्रीमथुरापुरीमें उन सब पापोंकी स्थिति नहीं होती।" स्कन्धपुराणमें कहा गया है—"यद्यपि इस पृथ्वीमें काशी जैसी असंख्य पुरियाँ हैं, तथापि उनमें श्रीमथुरा ही सर्वश्रेष्ठा है, क्योंकि इसमें जन्म, उपनयन-संस्कार, मृत्यु और दाह-संस्कार आदि चारोंमें से कोई एक संस्कार भी अनुष्ठित होने पर यह धाम मोक्ष प्रदान करता है।" पद्मपुराणमें कहा गया है—"अन्यान्य पुण्य-क्षेत्रोंमें वास करनेका महाफल केवल मात्र मुक्ति ही है, किन्तु इस मथुरासे सामान्यमात्र सम्बन्ध होने पर ही मुक्ति आदिकी भी प्रार्थनीय हरिभक्ति लाभ होती है"॥४॥

जयति जयति वृन्दारण्यमेतन्मुरारेः
प्रियतममतिसाधुस्वान्तवैकुण्ठवासात् ।
रमयति स सदा गाः पालयन् यत्र गोपीः
स्वरितमधुरवेणुर्वर्द्धयन् प्रेम रासे॥५॥

श्लोकानुवाद—जो साधुओंके हृदयकमल तथा श्रीवैकुण्ठसे भी श्रीमुरारिका अत्यधिक प्रियतम वासस्थान है, जिस स्थान पर वे स्वयं प्रत्येक गायका पालन करते हैं, मधुर-मधुर वेणुवादन करते हुए सर्वदा रासविलास द्वारा सभी गोपियोंका प्रेमवर्धन करते हैं, वे वृन्दावन सर्वोत्कर्षसे विराजमान है—सर्वोत्कर्षसे विराजमान है॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीमथुरायाञ्चास्यां श्रीव्रजभूमिरेव श्रीभगवतोऽसाधारणमधुरमधुर-विहारपरम्परास्पदं, तस्यामपि *'वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च। वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः राममाधवयोर्नृप॥'* इति श्रीदशमस्कन्धोक्तः (१०/११/३६), तत्स्थानत्रयमेव तस्य परमप्रियतममिति तत्प्रसादप्राप्तये तेषां परमोत्कर्षं वर्णयन्नादौ श्रीवृन्दावनस्याह—जयतीति। परमोत्कर्षभरापेक्षया, तत एव हर्षातिशयेन वीप्सा। एतदिति ग्रन्थकारस्य तदानीं तत्रैव वासं बोधयति। अतिप्रियतममित्यन्वयः। अथवा, अतिसाधवः अत्यन्तभगवद्भक्तिपरायणा जनास्तेषां स्वान्ते चित्ते वैकुण्ठे च यो वासस्तस्मादपि। यद्वा, तत्तद्रूपादावासादपि परमप्रियं, सदा प्राकट्येन विचित्रमधुरस्वैरविहारामृतलहरी-विस्तारणात्; तत्र तत्र च तदसम्भवात्। अतः कदाचित्तत्र तत्राच्छन्नोऽपि भवेत्, न त्वत्र। अतएवोक्तं—*'नित्यं सन्निहितो हरिः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१/२८) इत्यादि। तथा—*'पुण्या वत व्रजभूवो यदयं नृलिङ्ग-गूढ़ः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः। गाः पालयन् सहबलं क्वणयंश्च वेणुं विक्रीड़याञ्चति गिरित्ररमार्च्चिताङ्घ्रिः॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१३) इत्यादौ अञ्चतीति वर्त्तमान निर्द्देशादिवत्। तदेवाह—रमयतीति, स मुरारिर्यत्र वृन्दारण्ये सदा गाः पालयन् गोपीः श्रीराधिकाप्रभृती रमयति रसवरविस्तारणेन सुखयति। रासे रासक्रीड़ाविषये; यद्वा रासे निमित्ते स्वस्मिन् प्रेम वर्द्धयन्। स्वरितो वादितः; यद्वा, स्वरितः विचित्रस्वरं प्रापितो मधुरो जगच्चित्ताकर्षको वेणुर्येन तथाभूतः सन्। यदि च वर्द्धयन्निति हेतौ शतृङ्, ततश्च गोपालनस्य तद्द्वारक-वेणुवादनादिना गोपीरमणस्यापि विविधवैदग्ध्यादिना रासे प्रेमवर्द्धनमेव मुख्यं प्रयोजनम् इत्यूह्यम्। प्रेमरसविशेषविस्तारणार्थमेवावतीर्णत्वात्। गोपालनं गोपीरमणादिकञ्च तद्-उपकरणमिति दिक्॥५॥

भावानुवाद—श्रीमथुरामण्डलमें भी श्रीव्रजभूमि ही श्रीभगवान्‌की असाधारण मधुर-मधुर लीलाओंकी स्थली है तथा व्रजभूमिमें भी श्रीवृन्दावन, गोवर्धन, यमुनापुलिन आदि ही उस प्रकारकी लीलाओंके लिए प्रसिद्ध हैं। यथा "श्रीरामकृष्ण श्रीवृन्दावन, गोवर्द्धन और यमुनापुलिनको देखकर अत्यधिक आनन्दित हुए।" (श्रीमद्भा॰ १०/११/३६)। अतएव ये तीनों स्थान श्रीभगवान्‌के परम प्रिय हैं। इसलिए उनकी कृपा प्राप्तिके लिए प्रथमतः 'जयति जयति' इत्यादि पदों द्वारा श्रीवृन्दावनके परमोत्कर्षको कह रहे हैं। यह श्रीवृन्दावन परमोत्कर्षसे विराजमान है। अत्यधिक प्रसन्नताके कारण दो बार 'जयति' कह रहे हैं। 'एतत्' शब्दके प्रयोग द्वारा यह सूचित हो रहा है कि ग्रन्थरचनाके समय ग्रन्थकार श्रीवृन्दावनमें ही वास कर रहे थे। श्रीवृन्दावन भगवान्‌को उनकी भक्तिमें संलग्न साधुओंके भक्तिपूत निर्मल चित्तसे

तथा वैकुण्ठ निवाससे भी अत्यधिक प्रियतम वासस्थानके रूपमें प्रतिभात होता है। अथवा साधुओंके निर्मल चित्त तथा वैकुण्ठ निवासकी तुलनामें श्रीवृन्दावनवास ही श्रीकृष्णका अतिशय प्रियतम वासस्थान है। इसका कारण यह है कि श्रीभगवान् इसी श्रीवृन्दावनमें ही स्वेच्छापूर्वक और सदा-प्रकटित विविध प्रकारकी मधुर-मधुर लीलामृत-लहरीका विस्तार करते हैं, किन्तु उस प्रकारका स्वेच्छामय विहार श्रीवैकुण्ठ आदि धामोंमें असम्भव है। इसलिए श्रीवैकुण्ठ धाममें श्रीभगवान् कभी-कभी प्रच्छन्न रहते हैं, किन्तु श्रीवृन्दावनमें सदैव विराजमान रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—"श्रीवृन्दावनमें श्रीहरि सदैव विराजमान रहते हैं इसलिए व्रजभूमि अत्यधिक पुण्यवती है। इसका कारण है कि श्रीशिव और लक्ष्मी भी जिनके श्रीचरणोंका अर्चन करते हैं, वही पुराण पुरुष श्रीकृष्ण, मनुष्यों जैसे चिह्नों तथा मनोहर वैजयन्ती माला धारण करके वेणुवादन करते-करते श्रीबलरामजीके साथ गोचारणके उपलक्ष्यमें यहाँ भ्रमण करते हैं।" इस उद्धृत श्लोकमें वर्त्तमानकालका सूचक 'अञ्चति' क्रियापद जिस प्रकार श्रीकृष्ण लीलाकी नित्यताको प्रतिपादित कर रहा है, उसी प्रकार मूल श्लोकमें भी वर्त्तमानकालका सूचक 'रमयति' क्रियापद प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार श्रीमुरारि जिस स्थान पर अर्थात् श्रीवृन्दावनमें गोपालन करते-करते रासलीला-विषयमें प्रेमवर्द्धन करनेके लिए वेणुवादन पूर्वक श्रीराधिका इत्यादि गोपियोंको आनन्दित कर रहे हैं। अथवा रासलीला-विषयमें स्वयं ही गोपियोंका प्रेमवर्द्धन करनेके लिए मधुर वेणु-वादन परायण होकर सदा-सर्वदा सब प्रकारसे गोवंशका पालन करते हैं। श्रीकृष्णकी वेणु अधिकांशतः गोपालन कार्य और विविध वैदग्धीविलास—गोपीरमण-कार्यमें व्यवहृत होती है, तथापि रासमें प्रेमवर्द्धन ही इसका मुख्य प्रयोजन है—ऐसा समझना चाहिए। अतएव श्रीकृष्ण वृन्दावनमें जगत-चित्ताकर्षक वंशीवादन करते-करते गोपियोंके हृदयमें शृंगार रसका विस्तार करते हैं। श्रीकृष्ण प्रेमका विस्तार करनेके लिए ही अवतरित हुए हैं, इसलिए गोपालन और गोपीरमण कार्य उक्त प्रेमके उपकरण मात्र ही हैं—ऐसा समझना चाहिए॥५॥

जयति तरणिपुत्री धर्मराजस्वसा या
कलयति मथुरायाः सख्यमत्येति गङ्गाम्।
मुरहरदयिता तत्पादपद्मप्रसूतं
वहति च मकरन्दं नीरपूरच्छलेन॥६॥

श्लोकानुवाद—जो श्रीमथुराकी सखी होनेके कारण श्रीगंगाकी महिमाको भी अतिक्रम कर रही हैं, जो जल-प्रवाहके छलसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे निकलनेवाले मकरन्दको वहन कर रही हैं, वे मुरहरदयिता (श्रीकृष्ण-प्रिया) सूर्यपुत्री, धर्मराजकी बहन श्रीयमुना सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रही हैं॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथैव श्रीवृन्दावनालङ्कारभूतायाः श्रीयमुनाया आह—जयतीति। तरणेः सूर्यस्य पुत्रीति जगत्प्रकाशकत्वादिकं, धर्मराजस्य यमस्य स्वसेति धर्मपालकत्वादिकं चोक्तम्। परमतीर्थत्वं सर्वार्थप्रदत्वञ्चाह—येति। मथुरायाः सख्यं सखीत्वं कलयति भजते। मथुरामण्डले सुन्दरगतिलीलया बहुधा प्रवहणात् अतएव गङ्गामतिक्रामति, ततोऽपि अधिकमाहात्म्यवत्त्वात्। तदुक्तं श्रीवराहेण—*'गङ्गा शतगुणा प्रोक्ता माथुरे मम मण्डले। यमुना विश्रुता देवि नात्र कार्या विचारणा॥ तस्याः शतगुणा प्रोक्ता यत्र केशी निपातितः। केश्याः शतगुणा प्रोक्ता यत्र विश्रमितो हरिः॥'* इति। कुतः? मुरहरस्य श्रीकृष्णस्य दयिता, गोकुले मधुपुर्यां द्वारकायामपि विचित्रविहारास्पदत्वात्। किञ्च, तस्य मुरहरस्य पादपद्माभ्यां प्रसूतं जातं मकरन्दं तद्भक्तिरूपं मधुररसविशेषं नीरपूरस्य जलप्रवाहस्य छलेन या वहति। यथाकथञ्चिदाश्रयणेन सद्योऽशेषतापहरणात् परमाप्यायनाच्चेति दिक्॥६॥

भावानुवाद—अब 'जयति' इत्यादि पदों द्वारा श्रीवृन्दावनके अलङ्कार-स्वरूप श्रीयमुनाजीका उत्कर्ष कह रहे हैं। तरणिपुत्री श्रीयमुनाजी सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रही हैं। 'तरणिपुत्री' कहनेका उद्देश्य यह है कि तरणि (सूर्य) जैसे जगतका प्रकाशक है, वैसे ही श्रीयमुनाजी भी जगतके जीवोंको अज्ञान रूपी अन्धकारसे निकालकर भक्तिरूपी प्रकाशमें लानेके कारण सर्वधर्म प्रकाशिका है। 'धर्मराजस्वसा' (यमराजकी बहन) इस विशेषणका उद्देश्य यह है कि श्रीयमुनाजी सभी प्रकारके धर्मोंका पालन करनेवाली हैं। अर्थात् जगतके समस्त धार्मिक व्यक्तियोंका पालन करती हैं। ये श्रीयमुनाजी परमतीर्थके नामसे प्रसिद्ध हैं, क्योंकि ये सर्वार्थ (पंचम पुरुषार्थ तक) प्रदान करनेके कारण

मथुराकी सखी हैं और मथुरा-मण्डलमें सुन्दर गतिसे अर्थात् बहुत प्रकारकी लीलाभंगी द्वारा प्रवाहित होकर गंगाजीसे भी अधिक महिमाशालिनी हो गई हैं। इस प्रकार श्रीयमुनाजी श्रीगंगाके माहात्म्यको भी अतिक्रम करती हैं, इसलिए श्रीयमुनाका अधिक माहात्म्य स्वतः ही सिद्ध हो रहा है। इस विषयमें श्रीवराहपुराणमें कहा गया है (पृथ्वी देवीके प्रति श्रीवराहदेवकी उक्ति)—"हे देवि! मेरे मथुरामण्डलमें स्थित यमुनाजी, गंगाकी तुलनामें सौगुना अधिक विख्यात हैं, इसमें कोई भी तर्क मत करना तथा जिस स्थान पर केशी नामक दैत्य निहत हुआ था, वह स्थान गंगासे भी सौगुना फलप्रद है और इस केशीघाटसे भी विश्रामघाट सौगुना अधिक माहात्म्य-मण्डित है।" ऐसा क्यों? श्रीकृष्णकी प्रिया होनेके कारण गोकुल, मथुरा और द्वारकामें विचित्र विहार करनेवालीके रूपमें ये यमुनाजी जलप्रवाहके बहाने श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे उत्पन्न मकरन्दको वहन कर रही हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण-भक्तिरूप मधुर रसको वहन कर रही हैं। अतएव इन यमुनाजीका जल किसी प्रकार भी किंचित् मात्र स्पर्श करने पर तत्क्षणात् असीम पाप-तापको नष्ट कर देता है॥६॥

गोवर्द्धनो जयति शैलकुलाधिराजो
यो गोपिकाभिरुदितो हरिदासवर्यः।
कृष्णेन शक्रमखभंगकृतार्चितो यः
सप्ताहमस्य करपद्मतलेऽप्यवात्सीत्॥७॥

श्लोकानुवाद—गोपियाँ जिनको 'हरिदासवर्य' नामसे पुकारती हैं, इन्द्रके यज्ञविध्वंसकारी श्रीकृष्णने जिनका अर्चन पूजन किया था, जो सुमेरु आदि पर्वतोंके अधिराज हैं और जिनको निरन्तर एक सप्ताह तक श्रीकृष्णके हस्त-कमल पर निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वही श्रीगिरिराज-गोवर्धन सर्वोत्कर्षसे विराजमान हो रहे हैं॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथैव श्रीगोवर्द्धनस्याप्याह—गोवर्द्धनेति। शैलकुलस्य पर्वतवर्गस्याधिराज इति हिमालय-सुमेरु-प्रभृतिभ्योऽपि महिमोक्तः; तमेव दर्शयति—य इति। हरिदासेषु श्रीकृष्णसेवकेषु मध्ये वर्यः श्रेष्ठ इति य उदित उक्तः,

सप्रेमविविधसेवया श्रीकृष्णस्य प्रीत्युत्पादनात्। तथा च श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भ० १०/२१/१८),—*'हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो, यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः। मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्, पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥'* इति। अतः शक्रमखस्य भङ्गं लोपं करोतीति तथा, तेन श्रीकृष्णेन यो गोवर्द्धनोऽर्च्चितः। प्रत्यब्दक्रियमाण-इन्द्रमखत्याजनेन तद्द्रव्यैः श्रीनन्दादिद्वारा तत्पूजाप्रवर्त्तनात्, स्वयमपि प्रदक्षिणीकरणादिना सम्मानितत्त्वात्। तत्तद्विशेषश्च श्रीदशमस्कन्धादौ तत्तत्प्रसङ्गतोऽनुसन्धेयः। अनेन सुरेश्वरादपि माहात्म्यमुक्तम्। असाधारणंमाहात्म्यमाह,—सप्तेति। अस्य श्रीकृष्णस्य। अपिशब्दः पूर्वोक्तसमुच्चये। यद्वा किमन्यद्वक्तव्यं, करपद्मतलेऽवात्सीत् अवसदपीति॥७॥

भावानुवाद—अब प्रस्तुत 'गोवर्द्धन' इत्यादि श्लोकमें श्रीगोवर्धनका उत्कर्ष वर्णन कर रहे हैं। श्रीगोवर्धन शैलकुलाधिराज (पर्वतराज) हिमालय, सुमेरु आदि पर्वतोंसे भी अत्यधिक महिमासे युक्त हैं। इसका कारण है कि ये श्रीकृष्णके सेवकोंमें श्रेष्ठ हैं और प्रेम सहित नित्य अपने प्रभुकी नाना-प्रकारसे सेवा करके प्रीति उत्पादन करते हैं। दशम-स्कन्धमें कहा गया है (श्रीगोपियोंने कहा है)—"ये गोवर्धन पर्वत श्रीकृष्णके दासोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि श्रीरामकृष्णके दर्शनमात्रसे ही ये आनन्दसे परिपूर्ण होकर पानीय, कन्दमूल, विश्रामके लिए कन्दरा और गौवोंके लिए सुन्दर तृण इत्यादि द्वारा गोसमूहके सहित भलीभाँति श्रीरामकृष्णकी पूजा करते हैं।" अधिक क्या कहूँ, इन्द्रयज्ञ भंगकारी श्रीकृष्ण भी इनका अर्चन करते हैं। अर्थात् ये हरिदासवर्य हैं, ऐसा कहकर श्रीकृष्ण स्वयं इन्द्रयज्ञको भंग करके इनकी पूजा करनेकी विधिका प्रवर्त्तन करते हैं। स्वयं श्रीकृष्णने प्रदक्षिणा आदिके द्वारा इनको सम्मानित किया है और प्रत्येक वर्ष किये जानेवाली इन्द्रपूजाके स्थान पर श्रीकृष्णने श्रीनन्दादि व्रजवासियोंके द्वारा इनकी पूजा करवायी है। इसका विशेष वृत्तान्त श्रीमद्भागवत् दशम-स्कन्धमें द्रष्टव्य हैं। इसके द्वारा सुरेश्वर इन्द्रादिकी तुलनामें श्रीगोवर्धनका अधिक माहात्म्य सिद्ध हुआ है। अब 'सप्त' इत्यादि पदों द्वारा श्रीगोवर्धनका असाधारण माहात्म्य कह रहे हैं। जिन्होंने श्रीकृष्णके करकमलों पर एक सप्ताह तक अवस्थान किया है, इससे अधिक श्रेष्ठ माहात्म्य और क्या होगा, अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता॥७॥

जयति जयति कृष्णप्रेमभक्तिर्यदङ्घ्रि–
निखिल निगमतत्त्वं गूढ़माज्ञाय मुक्तिः।
भजति शरणकामा वैष्णवैस्त्यज्यमाना
जप–यजन–तपस्या–न्यासनिष्ठां विहाय॥८॥

श्लोकानुवाद—जो मुक्ति वैष्णवोंके द्वारा त्याज्य होकर भी निखिलनिगम–तत्त्वोंको भलीभाँति विवेचन कर जप, यजन (यज्ञ), तप और संन्यास, इन चारों आश्रमधर्मोंकी निष्ठाको परित्यागकर श्रीकृष्ण–प्रेमभक्तिके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करनेकी लालसासे (एकदेशमात्र) उन चरणकमलोंका आश्रय करती है, वे श्रीकृष्णप्रेमभक्ति सर्वोत्कर्षरूपसे विराजमान हो रही हैं—सर्वोत्कर्षरूपसे विराजमान हो रही हैं॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं सच्चिदानन्दरूपायाः श्रीकृष्णभक्तेरेव सत्प्रसादाय तदुत्कर्षं वर्णयति—जयतीति। श्रीकृष्णे प्रेम्णा प्रेमयुक्ता वा भक्तिः। यदङ्घ्रिं यदीयचरणारविन्दमेकं यदेकदेशं कञ्चिदित्यर्थः, मुक्तिर्भजति आश्रयते। श्रवणकीर्त्तनादि–भक्तिप्रकारमध्ये सकृद्यत्किञ्चिदाश्रयणेनैव मुक्तिः स्यान्नान्येन केनापीत्यर्थः। किं कृत्वा? गूढं रहस्यं निखिलानां निगमानां वेदशास्त्राणां तत्त्वं सारमाज्ञाय सम्यग्विचारेण निर्णीय जप–यजन–तपस्या–न्यासानां क्रमेण चुतराश्रमधर्मिणां निष्ठां पराकाष्ठां तेषु चोत्तमां स्थितिं विहाय विशेषेण हित्वा; परमनिष्ठया कृतेष्वपि तेषु मुक्तिर्नैव भवेदित्यर्थः। यद्यप्येवं श्रीकृष्णभक्ता एव मुक्ता भवन्तीत्यायातं, तथापि ते तामतितुच्छत्वान्नाद्रियन्त इत्याह—वैष्णवैरिति, श्रीविष्णुदेवताकैः यथाकथञ्चिद्–गृहीतविष्णुदीक्षाकैरपीत्यर्थः। त्यज्यमाना स्वयं दासीदुपस्थिताप्युपेक्ष्यमाणा; त्यज्यमानेति वर्त्तमाननिर्द्देशेन पूर्वमधुना पश्चादपीति कालत्रयं संगृह्यते। तर्हि किमर्थं भक्त्यङ्घ्रिं भजते, तदाह—शरणकामेति। अनन्यगतिकत्वे नाश्रयमात्रमिच्छन्ति; अन्यथा अशरणत्वान्नश्येदेवेत्यर्थः। अयं भावः—यथाकथञ्चित् श्रीकृष्णमाश्रयतामेव दासीव स्वाश्रितमूढ़कामिनां निमित्तं कटाक्षेण कदाचिदीक्ष्यमाणा दूरे तिष्ठति—विविध–सिद्धय इव। अन्यैश्च प्रार्थ्यमानापि न प्राप्यते, जपादिना दुल्लर्भत्वादिति। अतस्तैः शास्त्र–तत्त्वमपि न ज्ञायत इत्यायातमिति दिक्॥८॥

भावानुवाद—अब 'जयति जयति' इत्यादि पदों द्वारा सच्चिदानन्दरूपा श्रीकृष्णप्रेमभक्तिके सत्प्रसादकी प्राप्तिके लिए उसका उत्कर्ष वर्णन किया जा रहा है। श्रीकृष्णप्रेमभक्ति सर्वोत्कर्षरूपसे विराजित हो रही हैं—सर्वोत्कर्षरूपसे विराजमान हैं। श्रीकृष्णके प्रति जो प्रेम या भक्ति है, उसीको 'श्रीकृष्णप्रेमभक्ति' कहते हैं। मुक्ति जिनके श्रीचरणकमलोंका

एकदेशमात्र भजन करती है, अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादिरूपा नवधा भक्तिमें से किसी एक अंगका किञ्चित्मात्र एकबार आश्रय करनेसे ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि कहो कि मुक्तिने चारों आश्रमोंकी धर्मनिष्ठा अर्थात् जप, यजन, तपस्या और संन्यासको छोड़कर प्रेम-भक्तिके चरणकमलोंका भजन किस प्रकारसे किया? इसके उत्तरमें कहते हैं—निखिल-निगमके गूढ़ तत्त्वोंका भलीभाँति विचार करके अर्थात् सर्ववेदसार उपनिषद् आदिका तत्त्वविचार करके उक्त चारों आश्रमोंकी धर्मनिष्ठा ठीकसे अनुष्ठित होने पर भी उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसा जानकर उनकी निष्ठाको परित्याग कर दिया।

यद्यपि वैष्णवगण स्वभावतः मुक्त हैं तथापि वे मुक्तिको अतितुच्छ जानकर उसका आदर नहीं करते। यहाँ पर 'वैष्णव' कहनेसे कदाचित् विष्णुमन्त्र-दीक्षा प्राप्त व्यक्तिको ही समझना चाहिए। 'वैष्णवों द्वारा मुक्ति त्याज्य है' कहने पर यह समझना चाहिए कि मुक्ति स्वयं दासीके समान उपस्थित होने पर भी वैष्णवगण उसकी उपेक्षा करते हैं। वर्त्तमान कालकी सूचक 'त्यज्यमाना' क्रिया प्रयोगसे यह प्रतीत होता है कि मुक्ति स्वयं उपस्थित होने पर भी वैष्णवोंके लिए सदैव त्याज्य है। अतएव भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीनों कालके लिए ही यह कहा गया है। यदि कहो कि तब मुक्ति, भक्तिके श्रीचरणकमलोंका भजन क्यों करती है? शरणागत होनेकी कामनासे, अनन्य गतिस्वरूप आश्रय करनेके लिए। अन्यथा (अर्थात् अशरणागत होनेसे) नाशप्राप्त अर्थात् भक्तिका आश्रय ग्रहण न करने पर मुक्तिपद भी नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अलक्षित भावसे भी यदि कोई श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करें तो मुक्ति उस व्यक्तिके निकट दासी बनकर आती है; किन्तु मूढ़ कामी व्यक्ति द्वारा मुक्तिके लिए प्राण देने पर भी मुक्ति कभी उसके प्रति कटाक्षपात नहीं करती। भक्तिको छोड़कर जो मुक्तिकी कामनासे केवल जप, याजन (यज्ञ), तप और संन्यास आदि अवलम्बन करते हैं, वे मुक्तिको कभी प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए उनके लिए मुक्तिको दुर्लभ कहा गया है; किन्तु मूढ़ व्यक्ति शास्त्रके इस गूढ़ रहस्यको समझ नहीं पाते॥८॥

जयति जयति नामानन्दरूपं मुरारे–
र्विरमितनिजधर्मध्यानपूजादियत्नम् ।
कथमपि सकृदात्तं मुक्तिदं प्राणिनां यत्
परमममृतमेकं जीवनं भूषणं मे ॥९॥

श्लोकानुवाद—जो वर्णाश्रमधर्म, ध्यान और पूजादिसे छुटकारा देनेवाले हैं अर्थात् जो वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठान, ध्यान-परायण व्यक्तियोंका मनोनिग्रह तथा पूजा-निष्ठित व्यक्तियोंके पूजाके उपकरण संग्रह आदि दुःखोंका निवारण करते हैं; जो किसी प्रकार एकबार मात्र गृहीत होने पर प्राणीमात्रको मुक्ति प्रदान करते हैं, जो मेरे (ग्रन्थकारके) एकमात्र परम अमृतस्वरूप-जीवनस्वरूप-भूषणस्वरूप हैं, वे आनन्दमय श्रीहरिनाम सभी प्रकारसे जययुक्त हों, जययुक्त हों॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रापि परमोत्कृष्टं श्रीभगवन्नामसेवनमिति तत्प्रसादाय तदुत्कर्षं वर्णयति—जयतीति। आनन्दं रूपयति प्रकाशयतीति। यद्वा, आनन्दस्वरूपम्; अथवा आनन्दयतीत्यानन्दं च तद्रूपञ्चेति आनन्दरूपं मुरारेर्नाम जयति जयति। सर्वतः परमोत्कर्षविशेषालोचनेनात्यस्तादरे वीप्सा। उत्कर्षविशेषमेव दर्शयति—विरमितेति। निजधर्मा वर्णाश्रमाचारास्तेषु तद्वतां तत्तदनुष्ठानेन यद्दुःखं, तदनादरेण भक्तिमाश्रितानामपि ध्याने दुर्निग्रहमनोनियमनादिना यद्दुःखं, पूजायामपि पवित्रसद्द्रव्य-सम्पादनादिना यद्दुःखं, आदिशब्देन श्रवणादिष्वपि वक्तृपेक्षादिना यद्दुःखं स्यात्, विरमितं निराकृतं तत्तद्येन तत्, नाम-संकीर्त्तनमात्रेनैव तत्तत्फलसिद्धेः। तथा च तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/३३/७)—*'तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानुर्चुनाम गृणन्ति ये ते।'* इति। श्रीविष्णुपुराणे च,—*'ध्यायन्कृतेयजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥'* इति। ननु त्रिवर्गः सिध्यतु नाम, मुक्तिस्तवधिकारिणामेव स्यात्, तत्रापि खलु नामैव श्रद्धाभक्तिभ्यां सततं संकीर्त्तयतामेव इत्याशङ्क्याह—कथमपीति। ये केचित् प्राणिनस्तेषां सर्वेषामपि मुक्तिदं, तत्रापि कथमपि केनापि प्रकारेण नामाभासादिना, दम्भलोभादिना, क्षुत्पतनश्रमभ्रमणादिना, हास्यादिनापि वा आत्तमुच्चारितम्। तथा चोक्तं श्रीषष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ६/३/२४)—*'एतावताल-मघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्। विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि, नारायणेति म्रियमाण ईयाय मुक्तिम्॥'* इति, प्रभासपुराणे च—*'मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्। सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा, भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥'* इति; यद्वा गृहीतं केनापीन्द्रियेणेत्यर्थः, तत्र च सकृदपि। तथा च श्रीषष्ठस्कन्धे

चित्रकेतुकृत-श्रीशेषभगवत्स्तुतौ—*'सकृदाददीत यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम्।'* इति। तत्रान्तकरणैस्तस्य ग्रहणं नामाक्षरादिचिन्तनरूपं, बाह्येन्द्रियैश्च यथायथमूह्यम्। तत्र वाक्श्रोत्राभ्यां ग्रहणं स्पष्टमेव, चक्षुषा च कुत्रापि केनचिल्लिखितस्य नामाक्षरस्य दर्शनरूपम्, त्वचा ग्रहणं मुद्रादिनां वक्षःस्थलादौ नामाङ्कनेन तथा पत्राद्यङ्कितनामस्पर्शनेन च, हस्तेन ग्रहणं नामाङ्कितमुद्राधारणमिति दिक्। मम तु तत्तत् सर्वनिरपेक्षस्य तदेवैकमखिलं सत्फलमित्याह—यदिति। अमृतं निर्वाणसुखं, परमामृतं मुक्तिसुखाधिकाधिक-वैकुण्ठसुखम्, किंवा मधुरमधुरमित्यर्थः। परममित्यनुवर्त्तत एव, परमं जीवनं परमं भूषणञ्च; तदेवमेव मम परमापेक्ष्यं सर्वशोभासम्पादकञ्चेति दिक्॥९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण-प्रेमभक्तिके सभी अङ्गोंमें श्रीभगवान्का नाम सेवन ही परमोत्कृष्ट है तथा उन नामप्रभुकी कृपा प्राप्ति ही सभी प्रकारकी सिद्धियोंका मूल है, इसलिए पूज्यपाद ग्रन्थकार श्रीनामकी कृपा प्राप्तिके लिए 'जयति जयति' इत्यादि पदों द्वारा उसका उत्कर्ष वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्णका आनन्दस्वरूप श्रीनाम जययुक्त हों, जययुक्त हों। श्रीनाम आनन्दको प्रकाशित करते हैं, इसलिए आनन्दरूप हैं। अथवा श्रीनाम स्वयं ही आनन्दस्वरूप हैं अथवा सभीको आनन्द प्रदान करते हैं, इसलिए उनका नाम आनन्दस्वरूप है। अतएव श्रीकृष्णके नाम सदा ही जययुक्त हों। सर्वतोभावसे परमोत्कर्ष वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर अत्यन्त उल्लसित होकर दो बार 'जयति जयति' कह रहे हैं।

यहाँ पर 'विरमित' इत्यादि पद उसी श्रीनामके उत्कर्षको प्रदर्शन कर रहे हैं। वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेवालोंको उसके अनुष्ठानको करनेमें जो दुःख है, अथवा वर्णाश्रमका अनादर कर जो लोग भक्तियोगके आश्रित हैं, उनके ध्यानाङ्ग-साधनमें दुर्निग्रह मनको नियमित करनेमें जो दुःख है, पूजानिष्ठित व्यक्तियोंकी पूजाके लिए सद्द्रव्य आदि संग्रह करनेका जो दुःख है, श्रवण अंगके साधनमें वक्ताकी आवश्यकता हेतु जो दुःख है, वह आनन्दस्वरूप श्रीनामके आश्रय द्वारा ही दूर हो जाता है। किसी प्रकार एकबार मात्र श्रीनाम गृहीत होने पर ही अर्थात् श्रीनामसंकीर्त्तन मात्रसे ही उन सभी साधनोंका फल अनायास ही सिद्ध हो जाता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—"जिसकी जिह्वा पर श्रीकृष्णका नाम

वर्त्तमान है, वह चण्डाल होने पर भी गौरवका पात्र है। अतएव जो श्रीकृष्णनामको ग्रहण करता है, उसीने यथार्थरूपमें तपस्या की है; उसीने यथार्थमें यज्ञ (होम) किया है; उसीने सभी तीर्थोंमें स्नान किया है; वही वास्तवमें सदाचारी है; उसीने अपने वेदाध्ययनको सार्थक किया है।" श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा गया है—"सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें परिचर्यासे जो फल प्राप्त होता है, वह सब फल कलियुगमें केवलमात्र श्रीकृष्ण-नामसंकीर्त्तनसे ही प्राप्त हो जाता है।"

यदि एकबार नामाभाससे धर्म, अर्थ और काम, ये तीनों सिद्ध होते हैं तो हों, किन्तु मुक्ति लाभके लिए क्या श्रद्धा-भक्ति सहित सर्वदा श्रीनामकीर्त्तन करना होगा? इस प्रकारके प्रश्नकी आशंकासे कह रहे हैं—'कथमपि' एकबार मात्र अर्थात् मुक्तिके लिए श्रद्धासहित सदैव श्रीनामकीर्त्तन करनेकी आवश्कता नहीं होती। मनुष्योंकी बात तो दूर रहे, कोई भी प्राणी, जिस किसी भी प्रकारसे केवलमात्र एक नामाभास करनेके फलसे ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसका कारण है कि दम्भ, लोभादि और भूख, प्यास, पतन, श्रम, भ्रमण या हास्य आदिके कारण किये गये नामाभाससे भी मुक्ति प्राप्त होती है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—"पापनाशके लिए श्रीभगवान्‌का श्रीनामसंकीर्त्तन पर्याप्त है। केवलमात्र नामाभाससे ही अजामिल मृत्युपाशसे मुक्त हो गया था। अतएव श्रीभगवान्‌का श्रीनामकीर्त्तन प्राणियोंके पापोंको क्षयमात्रके लिए उपयोगी है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि महापापी अजामिलने अपवित्र और मृत्युके समय अस्वस्थ चित्त होने पर भी पुत्रको पुकारते समय श्रीनाम उच्चारण करके ही मुक्तिको प्राप्त किया था।" प्रभासखण्डमें लिखा है—"हे भृगुवर! श्रीकृष्णनाम मधुरसे भी सुमधुर, सभी मंगलोंका भी सुमंगल, सभी वेद-कल्पलताओंका उत्कृष्ट फल और चित्स्वरूप (ब्रह्म-स्वरूप) है; यह श्रद्धा अथवा हेलासे मात्र एकबार परिगीत होने पर भी मनुष्यमात्रका त्राण (रक्षा) करता है।" (इस स्थान पर 'परि' उपसर्ग निषेधार्थ रूपमें प्रयुक्त हुआ है। हेलापूर्वक अर्थात् असम्यक् प्रकारसे उच्चारित होने पर भी यह श्रीकृष्णनाम भलीभाँति उच्चारणके

समान ही फल प्रदान करता है, ऐसा समझना चाहिए) अथवा 'केनापि' कहनेसे पञ्च–इन्द्रियोंमें से किसी भी इन्द्रिय द्वारा, जिस किसी भी तरहसे मात्र एकबार श्रीकृष्णनाम गृहीत होने पर ही वे मुक्ति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—"हे भगवन्! आपका श्रीनाम मात्र एकबार श्रवण करने पर ही जीव संसार–बन्धनसे मुक्त हो जाता है।"

यदि कहो कि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा श्रीनामग्रहण किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तरमें कहते हैं—अन्तःकरणके द्वारा श्रीनामग्रहणका अर्थ है श्रीनामाक्षर आदिका चिन्तन करना और बाह्य इन्द्रिय अर्थात् वाक्य द्वारा कीर्त्तन, कर्ण द्वारा श्रवण, चक्षु द्वारा नामाक्षरादि दर्शन अर्थात् कहीं पर भी किसीके द्वारा लिखित श्रीनामाक्षर दर्शन, त्वचा द्वारा श्रीनामग्रहण अर्थात् वक्षःस्थल आदि पर श्रीनामांकन अथवा पत्रादि पर लिखित श्रीनामस्पर्श अथवा हाथ द्वारा श्रीनामांकित मुद्राधारण समझना होगा। मेरे लिए यह श्रीनाम ही एकमात्र परम अमृतस्वरूप हैं अर्थात् स्वधर्म, ध्यान और अर्चन आदि साधनोंमें निरपेक्ष मेरे लिए भी ये नाम ही एकमात्र सत्फलस्वरूप, जीवनस्वरूप और भूषणस्वरूप हैं। इस स्थान पर 'अमृत' कहनेका तात्पर्य है कि श्रीनाम निर्वाण सुख अथवा मुक्ति सुखसे भी अधिकतर परम अमृतस्वरूप हैं, अधिक क्या कहूँ? वैकुण्ठ–सुखसे भी अधिक परम अमृतस्वरूप तथा मधुरसे भी सुमधुर हैं। अतएव श्रीनाम ही मेरे परमजीवन, परमभूषण एवं मेरे परम सर्वशोभा सम्पादक अर्थात् मेरे समस्त अभीष्टको पूर्ण करनेवाले हैं। यही इस विचारका दिग्दर्शन है॥९॥

नमः श्रीकृष्णचन्द्राय निरुपाधि कृपाकृते।
यः श्रीचैतन्यरूपोऽभूत तन्वन् प्रेमरसं कलौ॥१०॥

श्लोकानुवाद—जो कलियुगमें प्रेमरसका विस्तार करनेके लिए श्रीचैतन्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं, उन निरुपाधिक करुणाकारी श्रीकृष्णरूप–गुरुवरको नमस्कार करता हूँ॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परमं मङ्गलमाचर्य निजाभीष्टसिद्धये श्रीवैष्णवसम्प्रदायरीत्या स्वस्येष्टदैवतरूपं श्रीगुरुवरं प्रणमति—नम इति। निरूपाधिमहैतुकीं कृपां करोति तथा, तस्मै। तदेवाह—य इति। तन्वन्निति हेतौशतृङ्। परमदुर्लभतरमपि निजचरणारविन्द-विषयकं प्रेमरूपं रसं मधुरद्रव्यविशेषम्; यद्वा, प्रेम्णि रसं रागं विस्तारयितुमित्यर्थः॥१०॥

भावानुवाद—इस प्रकार विशेष मंगलाचरण करके यहाँ पर अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिए श्रीवैष्णव-सम्प्रदायकी दीर्घकालीन रीतिके अनुसार अपने अभीष्टदेव श्रीगुरुवरको 'नमः' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रणाम कर रहे हैं। कलियुगमें प्रेमरसका विस्तार करनेके लिए जिन्होंने श्रीचैतन्यरूप ग्रहण किया है, उन्हीं अहैतुकी-करुणा करनेवाले श्रीकृष्णरूप गुरुवरको प्रणाम करता हूँ। वह प्रेमरस कैसा है? परम दुर्लभ भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके प्रति प्रेमरूप विशेष रस। अथवा 'रस' शब्दका अर्थ राग भी होता है, अतएव जो प्रेम, रागके सहित वर्त्तमान है, वही प्रेमरूप मधुर द्रव्यविशेष॥१०॥

भगवद्भक्तिशास्त्राणामयं सारस्य: संग्रहः।
अनुभूतस्य चैतन्यदेवे तत् प्रियरूपतः॥११॥

श्लोकानुवाद—यह ग्रन्थ भगवद्भक्तिसे सम्बन्धित शास्त्रोंका सारभूत है तथा श्रीचैतन्यदेवकी सेवासे अनुभव किया गया है; अथवा उनके प्रिय श्रीरूप (श्रीरूप गोस्वामी) द्वारा अनुभूत होनेके कारण उनके द्वारा ही संग्रहीत है॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुनात्र प्रतिपाद्यमाह—भगवद्भक्तीति। यानि यानि भगवतो भक्तिसम्बन्धीनि शास्त्राणि विद्यन्ते, तेषां सारस्य तत्त्वस्य हेयरहितांशस्य वाऽयं संग्रहः संग्रहरूपो ग्रन्थः—अनेन स्वयं निर्माणौद्धत्यं परिहृतम्, प्रामाण्याञ्चास्य दर्शितम्। तत्र क्वचित् तत्तत्पद्यानां, क्वचित् तत्तत्पदाक्षराणां, क्वचिच्च तत्तदर्थानां पद्यतया ग्रथनेन संग्रहणमित्यूह्यम्। ननु बहूनां भक्तिशास्त्राणामेकत्र दुर्लभत्वात्, तत्तत्सारस्य च दुर्ज्ञेयत्वात् कथं संग्रहः सम्भवति? तत्राह—अनुभूतस्येति, बहिरन्तःकरणद्वारात्मसात्कृतस्य। कुत्र? चैतन्यदेवे चित्ताधिष्ठातृश्रीवासुदेवे इत्यर्थः। कस्मात्? तस्य श्रीचैतन्यदेवस्य यत् प्रियतमं रूपं त्रिभङ्गिसुन्दरवेणुवादनपर-श्रीनन्दकिशोरस्वरूपं, तस्मात् ध्यानादिना तत्सेवनादित्यर्थः। अन्तर्यामिनो निरुपाधि-सहज कृपाकारिणो भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रसादाद्ध्यानादिना तस्मिन् स्वयं प्रस्फुरति सति

तत्तत् सर्वमपि परिस्फुरेदिति भावः। यद्वा, चैतन्यदेवेतिख्याते श्रीशचीनन्दने। ततश्च तस्य यत् प्रियं रूपं—यतिवेश-प्रकाण्डगौर-श्रीमूर्त्तिस्तस्मात्, तदनुभावविशेषेणेत्यर्थः। पक्षे, तस्य प्रियो रूपनामा महाशयस्तस्मादिति पूर्ववत्। अतो भगवत्कृपाविशेषेण साक्षादनुभवात् संग्रहोऽयं न दुर्घट इति भावः॥११॥

भावानुवाद—अब 'भगवद्भक्ति' इत्यादि श्लोक द्वारा ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको वर्णन कर रहे हैं। भक्ति सम्बन्धीय जो-जो शास्त्र वर्त्तमान हैं, यह ग्रन्थ उन सभी शास्त्रोंका सार है। यहाँ 'सार' कहनेसे हेयांश रहित केवल तत्त्वको ही समझना होगा और 'सारसंग्रह' पदका उल्लेख करनेसे स्वयं ग्रन्थकार द्वारा इस ग्रन्थका निर्माण करनेका अहंकार दूर हुआ है तथा ग्रन्थकी प्रामाणिकता भी सिद्ध हुई है। इस ग्रन्थका संग्रह किस प्रकारसे किया गया है, अब उसके विषयमें बता रहे हैं—किसी स्थान पर मूल ग्रन्थका पद्य, किसी स्थान पर पद्यांश (अक्षरमात्र), किसी स्थान पर उनके अर्थ आदिको संग्रहकर प्रस्तुत पद्यग्रन्थ ग्रथित हुआ है। यदि कहो कि अनेक भक्तिशास्त्रोंका एक ही स्थान पर समावेश नितान्त दुर्घट है; विशेषतः उन भक्तिग्रन्थोंकी दुर्लभताके कारण तथा तत्त्वके दुर्ज्ञेय होनेके कारण उनका सारसंग्रह किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'अनुभूत' (स्फुरित)। अर्थात् बहिरन्तःकरण द्वारा तत्त्व-वस्तु साक्षात्कार होने पर जैसे उसका सारसंग्रह कठिन नहीं होता, उसी प्रकार यह तत्त्ववस्तु भी संगृहीत हुई है।

यदि आपत्ति हो कि उस सारवस्तुकी अनुभूति किस प्रकार हुई? इसके उत्तरमें कहते है—श्रीचैतन्यदेवके चित्ताधिष्ठातृ श्रीवासुदेवके स्वरूपसे। अर्थात् श्रीचैतन्यदेवके प्रियतम रूप—त्रिभंग सुन्दर वेणुवादन-परायण श्रीनन्दकिशोरदेवके ध्यानादिरूप सेवनसे यह अनुभूत हुआ है। इसका कारण है कि सभीके अन्तर्यामी तथा निरुपाधिक सहज-कृपा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके प्रसाद अर्थात् कृपासे सभीके चित्तमें ऐसा भक्ति-तत्त्व स्वयं ही प्रस्फुटित होता है। अथवा श्रीचैतन्यदेवसे अर्थात् विख्यात श्रीशचीनन्दनके प्रियरूप यतिवेशधारी प्रकाण्ड गौरमूर्त्ति श्रीकृष्णचैतन्यदेवके विशेष अनुभवसे ही अनुभूत हुआ है। अथवा श्रीचैतन्यदेवके प्रिय श्रीरूपगोस्वामी नामक महाशयसे (अर्थात् उनकी कृपासे) अनुभूत है। अतएव श्रीभगवान्की विशेष कृपासे अनुभूत

है—साक्षात्कृत हुआ है। ऐसा होने पर भक्तिशास्त्रोंका सारसंग्रह दुर्घट नहीं होता॥११॥

श्रृण्वन्तु वैष्णवाः शास्त्रमिदं भागवतामृतम्।
सुगोप्यं प्राह यत् प्रेम्णा जैमिनिर्जनमेजयम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—हे वैष्णवगण! इस श्रीभागवतामृतम् नामक शास्त्रका श्रवण करो। यह ग्रन्थ अत्यन्त गोपनीय होने पर भी जैमिनीमुनिने प्रचुर अनुराग सहित राजा जनमेजयको सुनाया था॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत इदं संगृह्यमाणं परमसद्धर्मं शिक्षयति, परमसन्मार्गे प्रवर्त्तयतीति वा शास्त्रं भागवतामृतं नाम—भागवतानां भगवद्भक्तिपराणां शास्त्राणां परम-मधुरसाररूपत्वात्; एवं यथार्थसंज्ञमित्यर्थः। एतदग्रे विस्तरेण व्यक्तं भावि। ये वैष्णावास्त एव श्रृण्वन्तु, अन्येषामत्रानधिकारात् विशेषेणा वैष्णवानां शुष्कचित्तानां रसाभावादेतच्छ्रवणे श्रद्धानुत्पत्तेर्महापातकमेव स्यादिति तेषामत्र वर्जनं कृपयैवेति मन्तव्यम्। तत्र यद्यपि गृहीत-श्रीविष्णुदीक्षका एव वैष्णवा उच्यन्ते; यथोक्तं पद्मपुराणे—*'साङ्गं समुद्रं सन्यासं सऋषिच्छन्ददैवतम्। सदीक्षाविधि सध्यानं सयन्त्रं द्वादशाक्षरम्॥ अष्टाक्षरमथान्यं वा ये मन्त्रं समुपासते। ज्ञेयास्ते वैष्णवा लोका विष्णवर्च्चनरताः सदा॥'* इति, तथाप्यत्र भक्तिरसिकास्तत्रापि श्रीनन्दकिशोर-चरणारविन्दमकरन्दविषय-कलोभविशेषवन्त एव ग्राह्याः, प्रायस्तेषामेवैतच्छ्रवणे प्रीतिविशेषोत्पत्तेः। श्रृण्वन्त्विति सदा श्रीवैष्णवानां चरणपरिसरेऽनुवृत्त्या तेषां साक्षादपि परोक्षनिर्द्देशः परमगौरवेण। यद्वा 'हे वैष्णवाः' इति सम्बोधनम्; तत्रापि गौरवेणैव भवन्तु इत्यध्याहारः। सुगोप्यं परमरहस्यम्, तमेवार्थमितिहासद्वारा निरूपयितुं श्रीजैमिनिमुनीश्वरकथितमुपाख्यानमुपक्षिपति—प्राहेति, यच्छास्त्रं जैमिनिनामा महा-मुनिर्जनेमजयं राजानं प्रति प्रकर्षेणाकथयत्; तयोश्च परमभागवतत्वं प्रसिद्धमेव; यतः *'वेदानां सामवेदोऽस्मि'*—(श्रीगीता १०/२२) इति भगवन्महाविभूतितयोक्तस्य चतुर्वेदश्रेष्ठस्य सामवेदस्याध्यापकस्तत्सारवेत्ता भगवद्भक्तिः-प्रवृत्तितात्पर्येण कर्मप्राधान्यवादी-भक्तिमार्गोपदेष्टा श्रीजगन्नाथदेवस्य माहात्म्यभरवक्ता श्रीजैमिनिः, श्रीजनमेजयश्च परमभागवतः श्रीपरीक्षिन्नन्दन एव श्रीविष्णु-श्रीवैष्णवकथारसिकः, अतस्तस्य तं प्रत्येवैतत् कथनं युक्तमेव। तत्र च प्रेम्णैव भगवति भागवतोत्तमे वा स्वशिष्ये जनमेजये किंवा भक्तिमार्गे योऽनुरागस्तेनैव केवलं न त्वन्येन केनापि हेतुना, सुगोप्यत्वादिति दिक्॥१२॥

भावानुवाद—अतएव यह ग्रन्थ भगवद्भक्तिशास्त्रोंका सारसंग्रह-स्वरूप होनेसे परम सद्धर्मकी शिक्षा प्रदानकर सर्वश्रेष्ठ मार्गकी ओर प्रवर्त्तित

करता है। इस शास्त्रमें भगवद्भक्ति परायण शास्त्रोंका परम मधुर साररूप होनेके कारण इसका नाम हुआ है—'भागवतामृतम्'; अतएव ग्रन्थका नाम यथार्थतः प्रदत्त हुआ है, ऐसा मानना ही होगा। इस विषयका बादमें विशेषरूपसे वर्णन किया जायेगा। अतएव हे वैष्णवगण! आप सभी इस श्रीभागवतामृतम् नामक शास्त्रका श्रवण कीजिए। यहाँ पर वैष्णव कहनेका अर्थ यह है कि जो श्रीनन्दकिशोरके चरणकमलका मकरन्द पान करनेके अभिलाषी हैं, वे ही इस शास्त्रको श्रवण करनेके अधिकारी हैं, अतएव दूसरे सभी व्यक्ति इसके श्रवणके लिए अनधिकारी हैं, ऐसा सूचित हो रहा है। अवैष्णवका चित्त शुष्क होता है अर्थात् सरस नहीं होता है, इसलिए इस ग्रन्थको श्रवण करनेमें उनकी श्रद्धा नहीं होगी। अश्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे उनका विनाश (अमंगल) अवश्यम्भावी है। इसलिए अवैष्णवोंके लिए इस ग्रन्थके श्रवणका वर्जन करना ही उनके प्रति कृपाका लक्षण जानना होगा। यद्यपि 'वैष्णव' शब्दसे श्रीविष्णुमन्त्रमें दीक्षित व्यक्तिमात्रको ही स्वीकार किया जाता है और पद्मपुराणमें भी इस प्रकार उल्लिखित है—"न्यास, मुद्रा, ऋषि और छन्द आदि सहित श्रीकृष्णके अष्टादशाक्षर और दशाक्षर मन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करके जो सर्वदा श्रीविष्णु-अर्चनमें रत रहते हैं, उन्हें ही वैष्णव जानना चाहिए।" तथापि इस स्थान पर सभी भक्तिरसिक व्यक्तियोंको इस ग्रन्थके श्रवणका अधिकारी समझना चाहिए। उन भक्तिरसिक व्यक्तियोंमें भी जो श्रीनन्दकिशोरके चरणकमलोंके मकरन्दका पान करनेके अभिलाषी हैं, वे ही इस शास्त्र-श्रवणके विशेष अधिकारी हैं और उनकी इसमें विशेष प्रीति उत्पन्न होगी। यद्यपि ऐसे अधिकारी वैष्णवगण ग्रन्थकारके निकट साक्षात्‌रूपमें विराजमान हैं, तथापि 'शृण्वन्तु वैष्णवाः' वैष्णवगण श्रवण करें, इस प्रकारका परोक्ष निर्देश किसलिए किया है? ग्रन्थकार सर्वदा वैष्णवचरणोंमें अनुरक्त होकर गौरववशतः उनके साक्षात् रहने पर भी परोक्षवत् निर्देश कर रहे हैं। अथवा 'हे वैष्णवाः!' सम्बोधन पद द्वारा 'आपलोग श्रवण कीजिये' इस प्रकार 'गौरवसूचक' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं।

यह शास्त्र सुगोप्य अर्थात् परम रहस्यमय है, इसका अर्थ इतिहास द्वारा निरूपित किया जा रहा है। अर्थात् यह श्रीभागवतामृत नामक

शास्त्र श्रीजैमिनि नामक महामुनिने परमभागवत श्रीजनमेजय राजाके निकट भलीभाँति कीर्त्तन किया था। वे दोनों ही परमभागवतके रूपमें प्रसिद्ध हैं। कोई-कोई श्रीजैमिनिमुनिको कर्मवादी ऋषि कहते हैं, किन्तु श्रीगीताके विभूतियोगमें श्रीभगवान् कह रहे हैं—"वेद-समूहमें मैं सामवेद हूँ।" श्रीजैमिनिमुनि उसी चतुर्वेदश्रेष्ठ सामवेदके अध्यापक हैं, इसलिए ये सामवेदके सारतत्त्वसे अवगत हैं, ऐसा सूचित होता है। अतएव श्रीजैमिनिमुनि भक्तिहीन कर्मवादी नहीं हैं, भगवद्भक्ति-तात्पर्यमूलक कर्मप्राधान्यवादी-भक्तिमार्गके उपदेष्टा हैं। विशेषतः इन्होंने श्रीजगन्नाथदेवके माहात्म्यको लिपिबद्ध किया है। श्रीजनमेजय भी परमभागवत श्रीपरीक्षित महाराजके पुत्र, स्वयं भी परमभागवत तथा श्रीविष्णु और वैष्णवोंकी कथाके रसिक हैं। अतएव इस सुगोप्य भक्तिरसमय श्रीभागवतामृतम् शास्त्रके वक्ता और श्रोता दोनों ही सुयोग्य हैं। विशेषतः परमभागवत श्रीजैमिनि अनुरागवशतः अपने शिष्य भागवतोत्तम श्रीजनमेजयको इस सुगोप्य शास्त्रका उपदेश कर रहे हैं॥१२॥

मुनीन्द्राज्जैमिनेः श्रुत्वाः भारताख्यानमद्भुतम्।
परीक्षिन्नन्दनोऽपृच्छत्तत्खिलं श्रवणोत्सुकः॥१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित-नन्दन जनमेजय, श्रीजैमिनिमुनिसे अति अद्भुत भारताख्यान श्रवण करनेके पश्चात् उसके अन्तिमभागको श्रवण करनेके लिए उत्कण्ठित होकर जिज्ञासा करने लगे—॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—कदा कुतश्चेत्याद्यपेक्षायामाह—मुनीन्द्रादिति द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम्। भारतानां भरतवंश्यानां राज्ञामाख्यानं वृत्तम्; यद्वा, भारतेति विख्यातमाख्यानं कथाम्। अद्भुतं परमविस्मयजनकं—तथा पूर्वमश्रवणात्। तस्य भारताख्यानस्य यत् खिलं शेषस्तस्य श्रवणे उत्सुकः सन्॥१३॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि यह शास्त्र कब और कहाँ श्रवण कराया गया था? इसके उत्तरमें 'मुनीन्द्रात्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मुनीन्द्र जैमिनिसे श्रीजनमेजयने भारताख्यान अर्थात् भरतवंशीय राजाओंका आख्यान अथवा भारत नामक विख्यात आख्यानका श्रवण किया। श्रीजनमेजय परम विस्मयजनक भारताख्यान श्रवणकर उसका अन्तिमभाग श्रवण करनेके लिए उत्सुक होकर जिज्ञासा करने लगे॥१३॥

श्रीजनमेजय उवाच—

न वैशम्पायनात् प्राप्तो ब्रह्मन् यो भारते रसः।
त्वत्तो लब्धः स तच्छेषं मधुरेण समापय॥१४॥

श्लोकानुवाद—श्रीजनमेजयने कहा—हे ब्रह्मन्! महर्षि वैशम्पायनके मुखसे भारत आख्यानके श्रवणमें जो रस प्राप्त नहीं हुआ, वह आपसे श्रवण करके प्राप्त हुआ है। अतएव उस भारतके अन्तिमभागका मधुररस द्वारा समापन कीजिये॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे ब्रह्मन्! साक्षाद् वेदमूर्त्ते! श्रीजैमिने! भारते तच्छ्रवणे इत्यर्थः। यो रसः प्रीतिविशेषो न प्राप्तः, स रसस्त्वत्तः सकाशात् प्राप्तः—भगवद्-भक्तिरसेन कथनात्। तत्तस्मात्तस्य भारतस्य शेषमन्तभागं मधुरेण रसेनैव समापय सम्पूर्णं कुरु। यथा, लोके शिखरिण्यादिमधुरद्रव्यविशेषेणैव भोजनसमापनमिति ध्वनितम्॥१४॥

भावानुवाद—हे ब्रह्मन्! साक्षात् वेदमूर्त्ते! श्रीजैमिने! मुझे जो रस महर्षि वैशम्पायनके मुखसे भारताख्यान श्रवण करके प्राप्त नहीं हुआ, वह रस आपके श्रीमुखकमलसे प्राप्त हो रहा है, क्योंकि आप उसे भक्तिरसके साथ परोस रहे हैं। अतएव उसी भारतके अन्तिमभागका मधुररस द्वारा समापन कीजिये। जिस प्रकार कोई भोजनको परोसनेवाले व्यक्ति कड़वे, तीखे इत्यादि रस परोसकर अन्तमें खीर इत्यादि मधुर विशेष द्रव्य द्वारा भोजन समाप्त कराते हैं, उसी प्रकार आप भी 'मधुरेण समापयेत्'—न्यायके अनुसार मधुर रसमयी कथा द्वारा मुझे परितृप्त कीजिये, यही भाव सूचित होता है॥१४॥

श्रीजैमिनिरुवाच—

शुकदेवोपदेशेन निहताशेषसाध्वसम्।
सम्यक्प्राप्त–समस्तार्थं श्रीकृष्णप्रेमसंप्लुतम्॥१५॥
सन्निकृष्ट–निजाभीष्ट पदारोहणकालकम्।
श्रीमत् परीक्षितं माता तस्यार्त्ता कृष्णतत्परा॥१६॥
विराटतनयैकान्तेऽपृच्छदेतन्नृपोत्तमम्।
प्रबोध्यानन्दिता तेन पुत्रेण स्नेहसंप्लुता॥१७॥

श्लोकानुवाद—श्रीजैमिनिने कहा—हे नृपोत्तम! श्रीशुकदेवके उपदेशसे श्रीपरीक्षितके समस्त भय विनष्ट हो गये थे। सम्पूर्णरूपमें चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष)का फल प्राप्त करनेके पश्चात् अब वे श्रीकृष्णप्रेमरसमें निमग्न हो रहे थे; किन्तु उनका अपना अभीष्टप्रद (श्रीगोलोक) आरोहण करनेका काल निकट आ चुका था, इसलिए पुत्रवत्सला जननी, विराट-पुत्री उत्तरादेवी पुत्रशोकसे कातर हो उठीं। (फिर भी) पुत्र द्वारा आश्वासित तथा आनन्दित किये जाने पर श्रीकृष्णकथा श्रवणमें अत्यन्त उत्सुक होकर उक्त विषयमें जिज्ञासा करने लगीं॥१५-१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—सोऽपि तथैव विवक्षंस्तदनुकूलमुत्तरापरीक्षित्संवादं प्रस्तौति—शुकदेवेति। हे नृपोत्तम! श्रीजनमेजय! श्रीमन्तं परीक्षितं तस्य माता विराटतनया श्रीमदुत्तरा एतद्वक्ष्यमाणमपृच्छदिति त्रिभिरन्वयः। तत्रादौ वक्तुर्माहात्म्यविशेषं प्रतिपादयितुं सार्द्धश्लोकेन तमेव विशिनष्टि—शुकेति। शुकः श्रीबादरायणिः स एव देवः परमपूज्यत्वादिना तस्य उपदेशेन श्रीमद्भागवतमहापुराणकथनद्वारा तत्कृतशिक्षया नितरां हतं नाशितम् अशेषं साध्वसं तक्षकात् संसारादपि भयं यस्य। सम्यक् अनायासादिना साधुप्रकारेण प्राप्ताः समस्ता अर्था धर्मार्थकाममोक्षा येन। अतएव श्रीकृष्णचरणारविन्दप्रेमरसप्रवाहे निमग्नम्। ननु राज्यमध्ये श्रीशुकदेवोपदेशो नाभुत्तस्मिन् वृत्ते च सद्य एव तस्य वैकुण्ठप्राप्तिरिति कः प्रश्नावसर इत्यपेक्षायामाह—सन्निकृष्टः निकटायातः निजाभीष्टपदारोहणस्य कालो यस्य। श्रीशुकदेवगमनानन्तरं श्रीवैकुण्ठप्राप्तेः पूर्वं योऽल्पतरः कियान् कालो वृत्तः, तस्मिन्नेवापृच्छत्; स च तदानीमेवोत्तरं ददाविति ज्ञेयम्। अतः शोकेनार्त्ता। तथापि प्रश्ने हेतुः—कृष्णतत्परा तत्कथाश्रवणात्यन्तोत्सुकेत्यर्थः। एकान्ते विविक्ते परमरहस्यत्वात्। ननु परमभागवतोत्तमस्य स्वपुत्रस्य तस्य शोकेन कातरा सा प्रश्नोत्तरं कथं सम्यक् श्रोतुमवगन्तुं वा प्रभवेदित्याशङ्क्याह—प्रबोध्येति। तेनैव स्वपुत्रेण श्रीपरीक्षिता जन्ममरणादीनां मिथ्यात्वादिकं प्रकर्षेणानुभवपर्यन्तं बोधयित्वा आनन्दिता। अतः स्नेहे श्रीकृष्णविषयके परमभागवत-स्वपुत्र-विषयके वा स्नेहरसपूरे निमग्ना सती॥१५-१७॥

भावानुवाद—श्रीजैमिनीने श्रीजनमेजयको परितृप्त करनेके लिए उक्त विषयके (भारत आख्यानके अन्तिम भागके) अनुकूल यहाँ 'उत्तरा-परीक्षित संवाद' वर्णन करना प्रारम्भ किया। श्रीजैमिनिने कहा, हे नृपोत्तम महाराज जनमेजय! श्रीपरीक्षितका तक्षक द्वारा डसनेका भय अथवा संसार आदिका समस्त भय विनष्ट हो चुका था तथा वे भलीभाँति

अर्थात् अनायास ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षादि चतुर्वर्गका फल प्राप्त करके श्रीकृष्णचरणकमलोंके प्रेमरसके प्रवाहमें निमग्न थे, उनका अपना अभीष्ट पद—श्रीवैकुण्ठ आरोहणका समय निकट आ गया था, अतः उनकी जननी विराट-पुत्री श्रीउत्तरादेवीने पूछा—"हे पुत्र! परमपूज्यपाद वेदव्यासनन्दन श्रीशुकदेवके उपदेशसे अर्थात् श्रीमद्भागवत महापुराण-कथन और उनके द्वारा दी गयी शिक्षासे तुम्हारा जो सम्पूर्ण भय विनष्ट हो गया था, वह भय किस प्रकारका था?"

यदि प्रश्न हो कि श्रीशुकदेवके उपदेशके बाद ही उनको श्रीवैकुण्ठकी प्राप्ति हुई थी, अतएव उनको अपने राज्यमें लौटने अथवा उक्त प्रश्नका उत्तर देनेका अवसर ही कहाँ था? इसी प्रश्नकी आशङ्कासे 'सन्निकृष्ट' इत्यादि पद कह रहे हैं। श्रीशुकदेवके गमनके पश्चात् और श्रीपरीक्षितके निजाभीष्टपद आरोहणसे पूर्व जो थोड़ा समय बचा था, उसी समय श्रीउत्तरदेवीने प्रश्न किया था और श्रीपरीक्षितने भी उत्तर प्रदान किया था, ऐसा जानना होगा। यदि कहो कि श्रीउत्तरा तो पुत्र शोकमें कातर थीं अर्थात् पुत्रके भावी वियोगसे उत्पन्न शोकमें दुखी थीं, अतएव उन्होंने किस प्रकार प्रश्न किया? इसके उत्तरमें कहते है कि वे कृष्ण-तत्परा अर्थात् श्रीकृष्णकथाके श्रवणमें अत्यन्त उत्सुक थीं, इसलिए एकान्तमें उक्त परम रहस्यमय विषयमें उन्होंने जिज्ञासा की। तथापि यदि कहो कि उन्होंने अपने परमभागवत पुत्रके शोकमें उस प्रकारके प्रश्नके उत्तरको किस प्रकार श्रवण किया और अनुभव किया? इसी आशंकाके समाधानके लिए कह रहे हैं—'प्रबोध्यानन्दिता'। अर्थात् उनके अपने पुत्र श्रीपरीक्षित महाराजने सांसारिक जन्म-मरणादिकी मिथ्यताके तत्त्वका उपदेश प्रदान करके उनको प्रबोधित किया था और वे भी प्रफुल्ल चित्तसे इन तत्त्वोंका अनुभव प्राप्त करके आनन्दित हुई थीं। इस प्रकार वे श्रीकृष्णप्रेममें अथवा अपने परमभागवत सुपुत्रके स्नेहरसमें निमग्न हो गई थीं, इसलिए उनके लिए वैसा प्रश्न करना तथा उस प्रश्नके उत्तरको श्रवण करके अनुभव करना किसी भी प्रकारसे आश्चर्यका विषय नहीं था॥१५-१७॥

श्रीउत्तरोवाच—

यत् शुकेनोपदिष्टं ते वत्स निष्कृष्य तस्य मे।
सारं प्रकाशय क्षिप्रं क्षीराम्भोधेरिवामृतम्॥१८॥

श्लोकानुवाद—श्रीउत्तरादेवीने कहा—वत्स! तुमने श्रीशुकदेवके मुख-कमलसे जो उपदेश प्राप्त किया है, क्षीरसागरके मंथनसे अमृत-प्राप्तिकी भाँति अपनी बुद्धि द्वारा उसका सार-तत्त्व निकालकर मुझे सुनाओ॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—भो वत्स! ते त्वां प्रति यदुपदिष्टं तस्य सारं परमोपादेयांश मे मां प्रति प्रकाशय, परमगोप्यमभिव्यञ्ज। ननु तर्हि वृन्दावनरहःक्रीड़ाख्यानमेकं शृण्विति चेत्तत्राह—निष्कृष्येति। यथेक्षुखण्डराशेर्यन्त्रादिना निष्पीड्य सारांशः शर्करा गृह्यते, तथा तत्सरस-सकलोपदेशस्य तत्त्वं स्वबुद्धया अनुभवपर्यन्तं यत्नतो विचार्य कथयेत्यर्थः। तत्रानुरूपो दृष्टान्तः क्षीराम्भोधेरिति॥१८॥

भावानुवाद—हे वत्स! तुमने श्रीशुकदेवके श्रीमुखसे जो उपदेश प्राप्त किया है, उसका सार मुझे सुनाओ। इसके द्वारा उक्त विषयकी परम गोपनीयता प्रकाशित हो रही है। यदि प्रश्न हो कि क्या वे श्रीमद्भागवतके सार श्रीवृन्दावनकी रासलीला-आख्यानको ही श्रवण करना चाहती थी? इसके लिए 'निष्कृष्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। जिस प्रकार यन्त्र द्वारा गन्नेको निचोड़ने पर सबसे पहले सारांश स्वरूप रस निकलता है, अर्थात् हेय अशंको त्यागकर क्रमशः सार अंश ग्रहण करते-करते गुड़, खण्डसार आदिके क्रमसे परम उपादेय शर्करा प्राप्त होती है, उसी प्रकार अपने विशुद्ध बुद्धिबलसे श्रीमद्भागवतका सरस तत्त्व क्रमपूर्वक विचार करके अनुभवके अनुरूप अर्थात् परम गोपनीय वृन्दावनकी निभृत लीलाओंका वर्णन करो। इसके लिए अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है—जैसे क्षीरसागरका मंथनकर अमृत निकाला गया था उसी प्रकार श्रीमद्भागवतका मंथनकर उसका सार-तत्त्व सुनाओ॥१८॥

श्रीजैमिनीरुवाच—

उवाच सादरं राजा परीक्षिन्मातृवत्सलः।
श्रुतात्यद्भुतगोविन्दकथाख्यानरसोत्सुकः॥१९॥

श्लोकानुवाद—श्रीजैमिनिने कहा—मातृवत्सल राजा परीक्षित अपने गुरु श्रीशुकदेवके मुखकमलसे निकली अति अद्भुत श्रीगोविन्दकी कथाको प्रेमरसमें डूबकर आदर सहित अपनी माताको कहने लगे॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रुतायाः श्रीशुकदेवमुखपद्मादाकर्णिताया गोविन्दस्य श्रीगोपाल-देवस्य कथाया वार्त्ताया आख्याने कथने रसेन रागेन उत्सुकः प्रहृष्टः तदाख्यानोन्मुखो वा। अतः स्वयमेवैवंभूतः विशेषतश्च मात्रा पृष्टः, तत्रापि मातृवत्सलः। अतो निगूढ़मपि श्रीभागवततत्त्वं कात्स्र्न्येन कथयामासेति भावः॥१९॥

भावानुवाद—राजा श्रीपरीक्षित, श्रीशुकदेवके मुखकमलसे अति अद्भुत श्रीगोपालदेवकी कथा श्रवण करके उस आख्यानको अनुराग सहित वर्णन करनेके लिए अत्यधिक उत्सुक थे। इसलिए अपनी माता द्वारा जिज्ञासा किये जाने पर स्वयं ही आदर सहित कहने लगे। अर्थात् वे मातृवत्सल थे अतः अतिनिगूढ़ होने पर भी वे उस श्रीभागवत तत्त्वका वर्णन करने लगे॥१९॥

श्रीविष्णुरात उवाच—

मातर्यद्यपि कालेऽस्मिंश्चिकीर्षितमुनिव्रतः।
तथाप्यहं तव प्रश्नमाधुरीमुखरीकृतः॥२०॥
गुरोः प्रसादतस्तस्य श्रीमतो बादरायणेः।
प्रणम्य ते सपुत्रायाः प्राणदं प्रभुमच्युतम्॥२१॥
तत् कारुण्यप्रभावेण श्रीमद्भागवतामृतम्।
समुद्धृतं प्रयत्नेन श्रीमद्भागवतोत्तमैः॥२२॥
मुनीन्द्रमण्डलीमध्ये निश्चितं महतां मतम्।
महागुह्यमयं सम्यक् कथयाम्यवधारय॥२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! यद्यपि मेरे जानेका समय निकट आ गया है और मैं इस अति अल्प समयको मौनव्रत धारणकर व्यतीत करना चाहता हूँ, तथापि आपके प्रश्नकी माधुरीने मुझे वाचाल कर दिया है। अतएव मेरे साथ आपके भी प्राणदाता भगवान् श्रीअच्युतको प्रणाम करके उनकी करुणाके प्रभावसे तथा गुरुवर श्रीशुकदेवकी कृपासे आपके प्रश्नके उत्तरमें श्रीमद्भागवतामृतका

भलीभाँति वर्णन कर रहा हूँ, आप श्रवण कीजिये। यह श्रीभागवतामृत, भागवतोत्तम श्रीशुक–नारदादि द्वारा समुद्धृत है, मुनीन्द्रमण्डलीने अत्यन्त आदरके साथ इस उपाख्यानका श्रवण किया है और यह पाराशरादि महाजनों द्वारा सम्मत है। अतएव यह अति गोपनीय महारसमय है॥२०–२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—भो मातः! यद्यपि चिकीर्षितं सम्प्रति कर्त्तुमिष्टं मुनिव्रतं मौनं येन तादृशोऽस्मि, तथापि तव प्रश्नस्य माधुर्या मुखरीकृतः मुखरितः सन्नहं श्रीभागवतामृतं कथायामीति चतुर्भिरन्वयः। श्रीमन्ति निखिलसम्पद्युक्तानि भागवतानि भगवद्भक्तिपराणि यानि शास्त्राणि तेषाममृतं परममधुर–सारतरांशमित्यर्थः। अमृतशब्देन तेषां सर्वसद्गुणमयविचित्ररचन–महारत्नाद्यालयत्वात् क्षीराब्धितुल्यता ध्वनिता; एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। यद्यपि श्रीपरीक्षितं प्रति श्रीशुकदेवेन श्रीभागवतमेवोपदिष्टमस्ति, न तु सर्वाणि भक्तिशास्त्राणि, तथापि तस्य सर्ववेदशास्त्रफलसाररूपत्वात् तत्सारप्रकाशन–प्रार्थनेनैवाशेषभक्तिशास्त्राणामपि प्रश्नोद्धूतेस्तदुतरस्यापि तथैवोपपत्तेः। यद्वा, श्रीमदक्षरतो–अर्थतश्च सर्वथा परमसुन्दरं यद्भागवतं नाम महापुराणवर्यं तस्यामृतम्। तत्कथनेनैव सर्ववेदशास्त्रसारकथनस्यापि सिद्धेः। तत्र यद्यपि *'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखाद–मृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः॥'* (श्रीमद्भा॰ १/१/३) इत्यादि—वचनतः सतामनुभवाच्च श्रीभागवते हेयांशो नास्ति, तथापि श्रीगोपीनाथ–चरणारविन्दमकरन्दैकलम्पटताविशेषसम्पन्नेभ्यस्तदीयाद्यरसक्रीड़ा–सम्बन्धिकथा–विशेषं बिना नान्यत् किमपि रोचते। यथा भक्तिमार्ग–प्रविष्टेभ्योऽद्वैत–परधर्मज्ञानयोगमोक्षादिकथा, यथा च मुमुक्षुभ्योऽर्थकामादिवार्त्ता। इत्येवं तदपेक्षया तादृशरसमयमुपाख्यानादिकमेव सारः; तदितरच्चाशेषं तेषां मते हेयमेवेति न दोषप्रसङ्गः। यद्यपि च श्रीगोपीनाथपादपद्मयोस्तत्प्रियतमानाञ्च माहात्म्य एव सर्वेषां तदुपाख्यानादीनामपि तात्पर्यं, तथापि साक्षाद्वृत्त्या तेषु तत् स्फुटं नास्तीति तद्रसिकेषु हृदयापूर्त्तैस्तेषां हेयत्वमेव पर्यावस्यतीति दिक्। श्रीमद्भिर्भागवतोत्तमैः श्रीशुकनारदादिभिः सम्यग् उद्धृतम्; तत्रापि क्षीराम्भोधेरिवामृतमिति दृष्टान्तो द्रष्टव्यः; महतां श्रीनारदपराशरव्यासादीनां मतं सम्मतम्; सम्यग् यथार्थं, न तु परमगुह्यत्वेन मन्त्रशास्त्रादिवत् किञ्चिद्वञ्चनेन कालसंकोच वैयग्रयेणासमग्रतया वा। अवधारय कथ्यमानमिदं शृणु, श्रद्धया निश्चित्य हृदि रक्षेति वा॥२०–२३॥

भावानुवाद—हे माता! यद्यपि मेरे जानेका समय निकट है और मैं इस थोड़े समयके लिए मौनव्रत धारण करना चाहता हूँ, तथापि आपके प्रश्नकी माधुरीसे मैं वाचाल होकर श्रीभागवतामृतके कथनमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। यह श्रीभागवतामृत समस्त सम्पदाओंसे युक्त

भगवद्भक्तिसे सम्बन्धित शास्त्रोंका अमृतस्वरूप–परम मधुर सारांश है। यहाँ 'अमृत' शब्दसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि भगवद्भक्तिसे सम्बन्धित सभी शास्त्र क्षीरसागरके समान हैं और उन सभी शास्त्रोंके सद्‌गुणमय विचित्र सिद्धान्त रत्नतुल्य हैं तथा उन रत्नोंमें भी यह श्रीभागवतामृत बहुमूल्य रत्न है। अथवा अमृत जैसे क्षीरसागरका परम मधुर–सारांश है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भागवत शास्त्रका सारांश यह श्रीभागवतामृत है। दूसरे सभी स्थानों पर भी 'अमृत' शब्दका अर्थ ऐसा ही समझना होगा। यद्यपि श्रीपरीक्षित महाराजके प्रति कृपा करके श्रीशुकदेव गोस्वामीने केवलमात्र श्रीमद्भागवतका उपदेश किया था, सभी भक्ति–शास्त्रोंका नहीं, तथापि श्रीमद्भागवत सभी वेदोंका सारस्वरूप परिपक्व और रसमय फल है। उसी श्रीमद्भागवत शास्त्रके सारको प्रकाश करनेके लिए ही श्रीमती उत्तरादेवीने प्रार्थना की तथा उसी प्रार्थनाके उत्तरस्वरूप श्रीपरीक्षित महाराज द्वारा 'श्रीबृहद्भागवतामृत' नामक शास्त्रका आविर्भाव हुआ। अतएव यह सभी वेद–शास्त्रों और निखिल भक्ति शास्त्रोंका सार है। अथवा श्रीमद्भागवत शास्त्र अक्षरस्वरूपमें और अर्थस्वरूपमें सर्वथा परमसुन्दर अर्थात् श्रेष्ठ महापुराण है और उसका सारांशरूप यह श्रीबृहद्भागवतामृतका वर्णन करने पर सभी वेदशास्त्रोंका सार अपने आप ही वर्णित हो जाता है।

"सर्ववेदसाररूप कल्पवृक्षका परमानन्द रसपूर्ण फल श्रीमद्भागवत निश्रेयस काननसे (वैकुण्ठवनसे) लाकर मैंने श्रीशुकदेवके मुखमें अर्पण किया था, अब वही उन्हींके मुखसे (श्रीशुक–परीक्षित संवादरूपमें) पृथ्वी तल पर श्रीमद्भागवतके रूपमें अवतरित हुआ है। जब तक रसका साक्षात्कार न हो जाय, तब तक तुम इस अमृतमय फलका पुनः–पुनः सेवन करते रहो।" श्रीवेदव्यासजीके इन वचनों और महानुभवगणोंके अनुभवसे यही प्रतिपादित होता है कि श्रीमद्भागवतमें कुछ भी हेयांश नहीं है। तथापि श्रीगोपीनाथके चरणकमलोंके मकरन्दका पान करनेके अभिलाषी रसिक भक्तगण उनकी आद्य (शृङ्गार) रसलीला सम्बन्धीय कथामें ही रुचिमान तथा अन्य उपाख्यानोंमें रुचिहीन होते हैं। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीमद्भागवतके अन्यान्य उपाख्यान हेय और सार रहित हैं। श्रीमद्भागवतका

प्रत्येक उपाख्यान ही श्रीगोपीनाथके चरणकमलों और उनके प्रियतम भक्तोंके माहात्म्यका ही गान करता है। तथापि साक्षात्‌रूपमें सर्वत्र और सभी उपाख्यानोंसे रसिक भक्तोंके हृदयकी वासना पूर्ति नहीं होती है। इसलिए उनको अन्यान्य उपाख्यान हेयवत् प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः वे हेय नहीं हैं। जैसे भक्तिमार्गमें प्रविष्ट व्यक्तियोंको अद्वैतवादसे सम्बन्धित धर्म, ज्ञान, योग और मोक्ष आदिकी कथा रुचिप्रद नहीं होती और मुमुक्षुको अर्थशास्त्र और कामादिका प्रसंग रुचिप्रद नहीं होता, वैसे ही श्रीकृष्णके मधुररसवाले भक्तोंको (श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णकी शृङ्गार-रसकी लीला सम्बन्धीय उपाख्यानको छोड़कर) अन्य उपाख्यान रुचिप्रद नहीं होते, किन्तु वे हेय नहीं हैं। अतएव इससे किसी दोषकी सम्भावना उपस्थित नहीं होती। यद्यपि यह श्रीभागवतामृत भागवतोत्तम् श्रीशुक-नारदादि द्वारा सम्यक्‌रूपसे उद्धार किया गया है और मुनीन्द्रमण्डलीने अत्यन्त आदरके साथ इसका श्रवण किया है, तथापि क्षीरसागरके मंथनसे उत्पन्न अमृतके समान श्रीकृष्णकी मधुररसमयी-कथामृतसे भरपूर समझकर ही उक्त दृष्टान्त द्रष्टव्य है। अब श्रीनारद, पराशर, व्यास आदि महाजनों द्वारा सम्मत् होने पर भी परम गुह्य होनेके कारण इस विषयको मन्त्रादिके समान छिपाकर नहीं (परमगुह्य मन्त्र जैसे किञ्चित् छिपाकर बहिर्मुख व्यक्तिकी वञ्चना करके ही वर्णित होता है), बल्कि स्पष्टरूपसे कीर्त्तन करूँगा। अथवा मेरे जीवनका समय अल्प होनेके कारण व्याकुलता सहित संकोचपूर्वक असम्पूर्णरूपसे वर्णन नहीं करूँगा, अपितु स्पष्ट और सम्पूर्णरूपसे वर्णन करूँगा। आप श्रद्धापूर्वक श्रवण कीजिए अर्थात् निश्चयपूर्वक हृदयमें अवधारण कीजिए॥२०-२३॥

एकदा तीर्थमूर्द्धन्ये प्रयागे मुनिपुङ्गवाः।
माघे प्रातः कृतस्नानाः श्रीमाधवसमीपतः॥२४॥
उपविष्टा मुदाविष्टा मन्यमानाः कृतार्थताम्।
कृष्णस्य दयितोऽसीति श्लाघन्ते स्म परस्परम्॥२५॥

श्लोकानुवाद—एक बार तीर्थ शिरोमणि प्रयागमें माघमासमें कुछ श्रेष्ठ मुनिगण प्रातः स्नानादि समाप्त करके भगवान् श्रीमाधवके समीप बैठकर आनन्दपूर्वक अपनेको कृतार्थ मानते हुए एक दूसरेसे 'आप श्रीकृष्णके प्रिय पात्र हैं' कहने लगे, तथा इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेकी प्रशंसा करने लगे॥२४-२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव सप्रसङ्गं प्रस्तौति—एकदेत्यादिना। एकदा प्रयागे मुनिपुङ्गवा मुनिश्रेष्ठाः परस्परं श्लाघन्ते स्म अश्लाघन्तेति द्वाभ्यामन्वयः। कथम्? कृष्णस्य भगवतो दयितः परमानुग्रहपात्रं त्वमसीत्येवम्। तत्र च सतां ह्रीमतां तेषामात्मश्लाघा परमानुचितेति त्वमेव कृष्णस्य दयित इत्येकोऽन्यमश्लाघत, स च त्वमित्येवं सर्वेऽप्यन्योन्यमश्लाघन्तेत्यर्थः। तीर्थानां मूर्द्धन्ये श्रेष्ठे सर्वतीर्थराज इत्यर्थः—श्रीयमुना-गङ्गासङ्गमत्त्वात्। तथा श्लाघने हेतवः—माघ इत्यादयः। माघे प्रातःस्नानञ्च श्रीमाधव-भक्तावेव पर्यवस्यति, यथोक्तं श्रीदत्तात्रेयेण—*'व्रतदानतपोभिश्च न तथा प्रीयते हरिः। माघ मज्जनमात्रेण यथा प्रीणाति माधवः॥'* इति। अतः श्रीमाधवस्य प्रयागाधिष्ठातुर्भगवतः समीपे उपविष्टाः। अतएव मुदाविष्टाः हर्षेण व्याप्ताः, कृतार्थतामात्मनः परिपूर्णार्थतां मन्यमानाः॥२४-२५॥

भावानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराज अपनी माता उत्तरादेवीको दिये गये आश्वासन, अर्थात् श्रीमद्भागवतकी कथाका सार सम्पूर्णरूपमें प्रस्तुत करूँगा, पूर्ण करनेके लिए 'एकदा' इत्यादि श्लोक द्वारा दृष्टान्त प्रदर्शन कर रहे हैं। एकबार प्रयागमें मुनिगण परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे। किस प्रकार? एक-दूसरे को 'आप भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रह पात्र हैं' कहने लगे किन्तु साधुगण अपनेको दीन-हीन समझनेके कारण अपनी प्रशंसा नहीं करते, इसलिए एक दूसरेको भगवान्का अनुग्रह पात्र कहकर एक दूसरेकी प्रशंसा कर रहे थे।

प्रयाग समस्त तीर्थोंमें तीर्थराज क्यों कहलाते हैं? वहाँ श्रीगंगा और श्रीयमुनाजीका मिलन होता हैं। तीर्थराज प्रयागकी प्रशंसाका एक अन्य कारण यह है कि वहाँ माघमासमें प्रातः स्नान होता है। माघमासमें प्रातः स्नान करनेसे भगवान् श्रीमाधवकी भक्ति प्राप्त होती है। श्रीदत्रात्रेयने कहा है—"व्रत, दान, तपस्या आदि द्वारा श्रीहरि उस प्रकारसे प्रसन्न नहीं होते, जिस प्रकार माघमासमें प्रातः स्नान करनेसे प्रसन्न होते हैं।" अतएव श्रेष्ठ मुनिगण प्रातःकाल स्नान आदि कृत्य

समाप्त करके आनन्दसे प्रयाग तीर्थके अधिष्ठातृदेव श्रीमाधवके समीप पहुँचकर अपने आपको कृतार्थ मान रहे थे॥२४-२५॥

मातस्तदानीं तत्रैव विप्रवर्यः समागतः।
दशाश्वमेधिके तीर्थे भगवद्भक्तितत्परः॥२६॥
सेवितोऽशेष-सम्पद्भिस्तद्देशस्याधिकारवान् ।
वृतः परिजनैर्विप्रभोजनार्थं कृतोद्यमः॥२७॥
विचित्रोत्कृष्टवस्तूनि स निष्पाद्य महामनाः।
आवश्यकं समाप्यादौ संस्कृत्य महतीं स्थलीम्॥२८॥
सत्वरं चत्वरं तत्र मध्ये निर्माय सुन्दरम्।
उपलिप्य स्वहस्तेन वितानान्युदतानयत्॥२९॥

श्लोकानुवाद—हे माता! उस समय प्रयागके दशाश्वमेध घाट पर असीम सम्पत्तिशाली भगवद्भक्तिमें तत्पर एक श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो कि उसी प्रदेशका अधिकारी (राजा) भी था, ब्राह्मणोंको भोजन करानेकी इच्छासे अपने परिजनोंके साथ वहाँ उपस्थित हुआ। उस उदार चित्तवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणने नाना-प्रकारकी उत्कृष्ट (सुन्दर-सुन्दर) स्वादिष्ट खाद्य-सामग्रियोंकी तैयारी करायीं। फिर सर्वप्रथम प्रातः स्नान आदि नित्यक्रिया सम्पन्न की। तत्पश्चात् एक बड़े स्थानके बीचमें एक सुन्दर वेदी तैयार की और अपने हाथोंसे झाड़ू द्वारा उस स्थानकी सफाई की तथा गोमयादि द्वारा लेपन करके सूर्यके तापसे रक्षा करनेके लिए उसके ऊपर एक चँदोवा तान दिया॥२६-२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र प्रयाग एव यद्दशाश्वमेधिकं नाम तीर्थं, तस्मिन् विप्रवर्याः समागतः। तमेव विशिनष्टि—भगवदित्यादिसपादश्लोकेन। अशेषाभिः सम्पद्भिर्धनजनान्नपानादिभिः सेवितः परिवृतः। स च विप्रवरः विचित्राणि विविधानि उत्कृष्टानि वस्तूनि भोग्यादिद्रव्यानि निष्पाद्य साधयित्वा चत्वरं वेदीं निर्माय वितानानि चन्द्रातपान् उदतानयत् उच्चैर्विस्तारयामासेति द्वाभ्यामन्वयः। आवश्यकं नित्यकृत्यं स्नानादि; महतीं सुविस्तीर्णां स्थलीं स्थानमेकं, संस्कृत्य संमार्जन-उपलेपनादिनोपस्कृत्य; तत्र स्थल्याम्॥२६-२९॥

भावानुवाद—उसी समय प्रयागतीर्थके दशाश्वमेध घाट पर एक श्रेष्ठ ब्राह्मणका आगमन हुआ। वह धन, जन, अन्न आदि असीम

सम्पत्ति द्वारा समृद्ध था। उस सम्भ्रान्त विप्रने सुन्दर-सुन्दर खाद्य सामग्रियोंको प्रस्तुत किया और सर्वप्रथम अवश्य पालनीय नित्यकृत्य स्नान आदि सम्पन्न किया। तत्पश्चात् एक बड़े स्थानको झाड़ू द्वारा साफ-सुथरा करके उसके बीचमें एक अतिसुन्दर वेदीकी रचनाकी और अपने हाथोंसे गोमयादि द्वारा लेपन किया। सूर्यके तापसे रक्षा करनेके लिए उसके ऊपर एक चँदोवा तान दिया॥२६-२९॥

शालग्रामशिलारूपं कृष्णं स्वर्णासने शुभे।
निवेश्य भक्तया संपूज्य यथाविधि मुदा भृतः॥३०॥
भोगाम्बरादि सामग्रीमर्पयित्वाग्रतोः हरेः।
स्वयं नृत्यन् गीतवाद्यादिभिश्चक्रे महोत्सवम्॥३१॥

श्लोकानुवाद—उस वेदीके बीचमें उसने एक अत्यन्त सुन्दर स्वर्ण-सिंहासन पर शालग्राम-स्वरूप श्रीकृष्णको विराजमान कराया। उसने आनन्दित चित्तसे यथाविधि भक्तिसहित अन्न-वस्त्रादि विविध उपचार साम्रगी द्वारा प्रभुकी अर्चना की। तदुपरान्त श्रीहरिके सम्मुख स्वयं नृत्य करते-करते गीत-वाद्यादिके साथ उस विप्रने महोत्सव सम्पन्न किया॥३०-३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृष्णं यथाविधि पाद्यार्घ्याद्युपचारसमर्पणपूर्वकं भक्तया संपूज्य महोत्सवं चक्रे इति द्वाभ्यामन्वयः। मुद्रा हर्षेण, भृतः पूर्णः; यथाविधीति यदुक्तं, तदेव किञ्चिदभिव्यञ्जयति—भोगेति, भोगो भोग्यं अन्नपानादि, अम्बरं वस्त्रं तदादि सामग्रीं द्रव्यं। आदिशब्देन गन्धपुष्पधूपदीपादि; हरेस्तस्यैवाग्रतो नृत्यन्॥३०-३१॥

भावानुवाद—यथास्थान पर श्रीकृष्णको स्थापन करके उस विप्रने यथाविधि पाद्य, अर्घ्य और अन्न-वस्त्र आदि विविध उपहार सामग्री ('आदि' शब्दसे गन्ध, पुष्प, धूप, दीप भी समझना होगा) समर्पणपूर्वक भक्तिसहित उनकी पूजा सम्पन्न की तथा श्रीहरिके सम्मुख स्वयं नृत्य करते-करते गीत और वाद्य आदि द्वारा महोत्सव करने लगा॥३०-३१॥

ततो वेदपुराणादिव्याख्याभिर्वादकोविदान्।
विप्रान् प्रणम्य यतिनो गृहिणो ब्रह्मचारिणः॥३२॥
वैष्णवांश्च सदा कृष्णकीर्त्तनानन्दलम्पटान्।
सुबहून्मधुरैर्वाक्यैर्व्यवहारैश्च हर्षयन्॥३३॥

पादशौचजलं तेषां धारयन् शिरसि स्वयम्।
भगवत्यर्पितैस्तद्वदन्नादिभिरपूजयत् ॥३४॥

श्लोकानुवाद—फिर उस विप्रने वेद-पुराणादि शास्त्रोंके ज्ञाता और वाद-विवादमें कुशल अनेक संन्यासी, ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ ब्राह्मणोंको प्रणाम किया और सदा श्रीकृष्णकीर्त्तन आनन्दके लिए लालायित सभी वैष्णवोंको सुमधुर वाक्योंसे प्रसन्न किया तथा दण्डवत् प्रणाम आदि करके विविध व्यवहारोंके द्वारा उनका आदर-सत्कार किया। तदनन्तर इन सभी महात्माओंके चरणधौत जलको अपने मस्तक पर धारण किया और भगवान्को निवेदित अन्नके द्वारा उनकी श्रीभगवान्के समान ही पूजा की अर्थात् उनको भोजन करवाया॥३२-३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च विप्रान् वैष्णवांश्च सुबहून् अन्नादिभिः तद्वद्भगवन्तमिवा-पूजयदिति त्रिभिरन्वयः। वेदादीनां व्याख्याभिर्ये वादा उद्ग्राहास्तेषु कोविदान्, निजनिजपाण्डित्यबलेनान्योन्यं सदा विवदमानानित्यर्थः। एवं विप्राणां लक्षणमुक्त्वा वैष्णवानां लक्षणमाह—सदा कृष्णेति। यद्यपि वैष्णवेष्वपि मध्ये ब्राह्मणाः सन्त्येवेति, तेषामुभयेषां भिन्नतया निर्द्देशो न घटते। तथापि ब्राह्मणव्यतिरिक्ता गृहीतविष्णुदीक्षाकाः परेऽपि वर्त्तन्ते, तथा वैष्णवदीक्षारहिताश्च ब्राह्मणाः सन्तीति पृथङ्निर्द्देशो युक्त एव। मधुरैर्वाक्यैः स्तुत्यादिभिः; मधुरैर्व्यवहारैश्च दण्डवत्प्रणामपादप्रक्षालनादिभिः; तेषां विप्राणां वैष्णवानाञ्च; आदिशब्देन नीराजनादीनि॥३२-३४॥

भावानुवाद—उस विप्रने भगवान्को निवेदित अन्न आदि द्वारा सभी वैष्णवों और ब्राह्मणोंकी श्रीभगवान्के समान पूजा की। वेद-पुराणादि शास्त्रोंके व्याख्यान द्वारा वाद-विवादमें कुशल अर्थात् अपने-अपने पाण्डित्यके बल पर ब्राह्मण सदैव विवादमें ही लगे रहते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणोंके लक्षणोंको बतलाकर वैष्णवोंके लक्षणोंको 'सदा कृष्णेति' पद द्वारा कह रहे हैं, अर्थात् सभी वैष्णव सदैव श्रीकृष्ण-संकीर्त्तनके आनन्दमें लुब्धचित्त रहते हैं। यद्यपि वैष्णव कहनेसे विष्णुमन्त्रमें दीक्षित ब्राह्मण और अन्य वर्णके व्यक्तिमात्रको ही समझा जाता है, अर्थात् जो सब ब्राह्मण विष्णुमन्त्रमें दीक्षित हैं, वे भी 'वैष्णव' शब्दसे ही जाने जाते हैं। ब्राह्मणोंके अतिरिक्त दूसरे वर्ण-जातिके व्यक्ति भी विष्णुमन्त्रमें दीक्षित होने पर वैष्णव कहलाते हैं; उन दोनोंकी संज्ञा (पहचान) अलग-अलग नहीं होती। किन्तु इस

स्थान पर विष्णुमन्त्र-दीक्षित ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्यान्य ब्राह्मण भी विद्यमान थे, इसलिए उनको पृथक्‌रूपसे ब्राह्मण कहना ही युक्तिसंगत है। इसके पश्चात् उस ब्राह्मणने सभी वेदज्ञ ब्राह्मणों, वैष्णवों, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और संन्यासियोंकी नाना-प्रकारके मधुर वचनोंके द्वारा स्तव-स्तुति की और दण्डवत् प्रणाम, पाद प्रक्षालन आदि विविध उपचारोंके द्वारा उन्हें अभिनन्दित किया तथा इन सभी महात्माओंके पाद-प्रक्षालित् जलको अपने मस्तक पर धारण किया। 'आदि' शब्द द्वारा नीराजन (पँखा झलना) भी समझना होगा॥३२-३४॥

भोजयित्वा ततो दीनानन्त्यजानपि सादरम्।
अतोषयद् यथान्यायं श्वशृगालखगक्रिमीन्॥३५॥

श्लोकानुवाद—फिर उस ब्राह्मणने सभी दीन, दरिद्र और भूखसे पीड़ितोंको यथायोग्य भोजन कराकर प्रसन्न किया। तत्पश्चात् कुत्ता, गीदड़ और पक्षी आदि सभी प्राणियोंको यथायोग्य भोजन द्वारा तृप्त किया॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—दीनान् भक्त्यादिहीनान् शूद्रान्; यद्वा क्षुधादिनार्त्तान्; यथान्यायमित्यस्य सर्वत्रैवानुषङ्गः॥३५॥

भावानुवाद—यहाँ 'दीन' शब्दका अर्थ है भक्तिहीन शूद्र आदि और भूखसे पीड़ित सभी व्यक्ति॥३५॥

एवं सन्तर्पिताशेषः समादिष्टोऽथ साधुभिः।
परिवारैः समं शेषं सहर्षं बुभुजेऽमृतम्॥३६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार सभी प्राणियोंको तृप्त करके और साधुओं द्वारा आदेश प्राप्त करके उस ब्राह्मणने सपरिवार अत्यधिक आनन्दपूर्वक सभीके अवशेष (बचे हुए) प्रसादको अमृतके समान मानकर भोजन किया॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारेण संतर्पितमशेषं सर्वं प्राणिजातं येन सः; परिवारैर्निजभृत्य-कुटुम्बादिभिः समं बुभुजे। अमृतं, महायज्ञशेषत्वात् परममधुरत्वात् मृत्युनिवर्त्तकत्वात् परमसुखमयत्वाच्च॥३६॥

भावानुवाद—इस प्रकार सभी प्राणियोंको तृप्ति करनेके उपरान्त साधुओंके आदेशसे उस ब्राह्मणने सपरिवार आनन्दपूर्वक अमृततुल्य प्रसाद-सेवा की। महायज्ञका अवशिष्ट अर्थात् अन्तिम भाग होनेके कारण यह अन्नादि परम मधुर, मृत्युभय निवारक तथा परम सुखमय है, इसलिए इसे 'अमृत' कहा गया है॥३६॥

ततोऽभिमुखमागत्य कृष्णस्य रचिताञ्जलिः।
तस्मिन्नेवार्पयामास सर्वं तत्फलसञ्चयम्॥३७॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् उसने शालग्रामरूपी श्रीकृष्णके सम्मुख उपस्थित होकर हाथ-जोड़कर पहले किये हुए समस्त कर्मफलको प्रभुके श्रीचरणकमलोंमें समर्पित कर दिया॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृष्णस्य शालग्रामशिलामूर्त्तेः; तस्य पूर्वोक्ताखिलकर्मणः फलसञ्चयम्॥३७॥

भावानुवाद—फिर उस विप्रवरने शालग्राम-शिलारूपी श्रीकृष्णकी मूर्त्तिके सामने खड़े होकर अपने समस्त सञ्चित कर्मफलको उनके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया॥३७॥

सुखं संवेश्य देवं तं स्वगृहं गन्तुमुद्यतम्।
दूराच्छ्रीनारदो दृष्ट्वोत्थितो मुनिसमाजतः॥३८॥
अयमेव महाविष्णोः प्रेयानिति मुहुर्ब्रुवन्।
धावन् गत्वान्तिके तस्य विप्रेन्द्रस्येदमब्रवीत्॥३९॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् वह ब्राह्मण शालग्रामरूपी भगवान्‌को सिंहासन पर स्थापितकर अपने घर लौटनेके लिए तैयार हुआ। उसी समय श्रीनारद दूरसे उस ब्राह्मणको देखकर सहसा मुनि समाजसे उठकर दौड़ते हुए बार-बार यही कहने लगे, 'ये महाशय ही महाविष्णुके प्रिय हैं'—इस प्रकार कहते-कहते वे उस ब्राह्मणके निकट उपस्थित हुए॥३८-३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—देवं शालग्रामरूपिणं भगवन्तम्; तं विप्रवर्यम्; अयं विप्रवर्य एव परमप्रेयान् परमप्रिय इति मुहुर्व्यक्तं वदन्॥३८-३९॥

भावानुवाद—शालग्रामरूपी भगवान्‌को सिंहासन पर स्थापितकर, वे विप्रवर घर जानेके लिए तैयार हुआ। उसी समय नारदजी दूरसे उस ब्राह्मणको देखकर बार-बार यही कहने लगे, 'ये ब्राह्मण ही प्रभुके परम-प्रिय हैं'॥३८-३९॥

श्रीकृष्णपरमोत्कृष्टकृपया भाजनं जनम्।
लोके विख्यापयन् व्यक्तं भगवद्भक्तिलम्पटः॥४०॥

श्लोकानुवाद—भगवद्भक्ति-लम्पट श्रीनारद श्रीकृष्णके परमोत्कृष्ट कृपापात्रोंको लोक-विख्यात करनेके लिए ही उस श्रेष्ठ ब्राह्मणके पास जाकर यह कहने लगे॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमर्थं तदाह—श्रीकृष्णेति। जनमिति जातावेकत्वं; किंवा श्रीकृष्णकृपाविशेषचरमकाष्ठास्पदश्रीराधिकाभिप्रायेण; यद्यपि तं जनं स्वयं जानात्येव, तथापि व्यक्तं यथा स्यात्तथा लोके विख्यापयन् विख्यापयितुं, यतो भगवद्भक्तौ लम्पटः; विचित्रतन्मधुररसपानासक्तः॥४०॥

भावानुवाद—'ये महाशय ही महाविष्णुके प्रिय हैं', श्रीनारदने ऐसा किसलिए कहा? इसे 'श्रीकृष्णादि' श्लोकके द्वारा बतला रहे हैं। श्रीकृष्णके परमोत्कृष्ट कृपापात्रोंको लोकसमाजमें विख्यात करनेके लिए ऐसा कहा। श्रीकृष्णके सभी कृपापात्रोंको मूलश्लोकमें 'जनम्' शब्द द्वारा एक जातीय कहा गया है। अथवा श्रीराधिकाजी ही श्रीकृष्णकी सर्वोत्तमा कृपापात्री हैं—यह श्रीनारद भलीभाँति जानते हैं; किन्तु उनको लोकसमाजमें स्पष्टरूपसे विख्यात करनेके लिए उपरोक्त वचनोंको कहने लगे। विशेषतः श्रीनारद स्वयं भक्तिलम्पट अर्थात् मधुर भक्तिरसके पानमें आसक्त रहते हैं, इसलिए उनके हृदयमें वैसी वासना उदित हुई है॥४०॥

श्रीनारद उवाच—

भवान् विप्रेन्द्र कृष्णस्य महानुग्रहभाजनम्।
यस्येदृशं धनं द्रव्यमौदार्यं वैभवं तथा॥४१॥
सद्धर्मापादकं तच्च सर्वमेव महामते।
दृष्टं हि साक्षादस्माभिरस्मिंस्तीर्थवरेऽधुना॥४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारद बोले—हे विप्रेन्द्र! आप ही श्रीकृष्णके श्रेष्ठ कृपापात्र हैं, क्योंकि इस तीर्थराज प्रयागमें आपका इतना धन, सम्पत्ति, वैभव, द्रव्य और आपकी उदारता सब कुछ साक्षात्‌रूपसे दर्शन कर रहा हूँ। आपका यह सब वैभव भी सद्‌धर्ममें व्यय हो रहा है, इसे भी साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ॥४१-४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे विप्रेन्द्र! ब्राह्मणकुलश्रेष्ठ! कृष्णस्य परमकृपापात्रं भवानेव। तल्लक्षणं दर्शयति—यस्येति सार्द्धेन। वैभवं परिच्छदपरिवारादि; तथेति समुच्चये; सद्धर्मो भगवद्भक्तिलक्षणो धर्मः, तमापादयति सम्पादयतीति तथा तत्; तत्र च किञ्चिदन्यथा नास्ति। निह्नोतुं च न शक्यमित्याह—दृष्टमिति॥४१-४२॥

भावानुवाद—"हे विप्रेन्द्र! (ब्राह्मण कुलश्रेष्ठ!) आप श्रीकृष्णके परम कृपापात्र हैं।" कृपाका लक्षण बतलाते हुए कह रहे हैं कि आपका समस्त परिवार और वैभव सद्धर्मके कार्योंमें लगा हुआ है। सद्धर्म अर्थात् भगवद्भक्ति-लक्षण सद्धर्म। इस विषयमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं है और आप इस बातको छुपा नहीं सकते, क्योंकि मैंने इसका साक्षात् दर्शन किया है॥४१-४२॥

विद्वद्वरेण तेनोक्तो नन्विदं स महामुनिः।
स्वामिन् किं मयि कृष्णस्य कृपालक्षणमीक्षितम्॥४३॥
अहं वराकः को नु स्यां दातुं शक्नोमि वा कियत्।
वैभवं वर्त्तते किं मे भगवद्भजनं कुतः॥४४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदकी बातोंको सुनकर वे विप्रवर लज्जित होकर कहने लगे—हे प्रभो! आप क्या कह रहे हैं? आपने मुझमें श्रीकृष्णकी कृपाके कौनसे लक्षण देख लिए? आपने मेरे लिए जो भी कहा है, मैं उसका योग्य पात्र नहीं हूँ। जहाँ तक दानकी बात है, मैं क्या दान करनेमें समर्थ हूँ? मेरा वैभव ही क्या है? और मुझमें भगवद्भक्ति भी कहाँ है?॥४३-४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन विप्रवर्येण स नारद इदमुक्तः। किं? तदाह—स्वामिन्नित्यादिना मयेत्यन्तेन। हे श्रीनारद! किं कतमदीक्षितम्, अपि तु कृपालक्षणं नास्तीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—अहमिति। अहं कः, भगवत्कृपाप्राप्त्यादौ कतमो भवेयम्? अपि तु न कोऽपि; यतो वराकः परमतुच्छः; तदेवाह—दातुमित्यादिना॥४३-४४॥

भावानुवाद—देवर्षि श्रीनारदकी बातोंको सुनकर वे विज्ञ ब्राह्मणदेव श्रीनारदसे कहने लगे—प्रभो! आपने मेरे लिए जो कुछ भी कहा है, मैं उसका पात्र नहीं हूँ। हे श्रीनारद! आपने मुझमें श्रीकृष्णकी कृपाके कौनसे लक्षण देखे हैं? अपितु मुझमें तो उनकी कृपाका चिह्न भी नहीं है। उसका कारण बतलाते हुए कहते हैं—मैं अत्यन्त क्षुद्र व्यक्ति हूँ, भगवत्कृपाका पात्र नहीं हूँ और मैं दान ही क्या कर सकता हूँ? मेरा वैभव ही क्या है? और मुझमें भक्ति ही कहाँ है?॥४३-४४॥

किन्तु दक्षिणदेशे यो महाराजो विराजते।
स हि कृष्णकृपापात्रं यस्य देशे सुरालयाः॥४५॥
सर्वतो भिक्षवो यत्र तैर्थिकाभ्यागतादयः।
कृष्णर्पितान्नं भुञ्जाना भ्रमन्ति सुखिनः सदा॥४६॥

श्लोकानुवाद—किन्तु दक्षिणदेशमें जो महाराज विराजमान हैं, वे ही श्रीकृष्णके यथार्थ कृपापात्र हैं। उनके राज्यमें श्रीभगवान्‌के बहुतसे मन्दिर हैं। उनके राज्यमें सर्वत्र भिक्षुक, तीर्थयात्री आदि सभी व्यक्ति श्रीकृष्णको निवेदित अन्न-भोजन प्राप्त करके सर्वदा सुखसे भ्रमण करते हैं॥४५-४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाराज इति तद्देशनिकटवर्त्तिनां कतिपयनृपाणामधिराजत्वेन, न तु चक्रवर्त्तित्वेन—तदानीं श्रीयुधिष्ठिरस्य चक्रवर्त्तित्वात्। अतएवाग्रे 'सार्वभौमः' इति वक्ष्यति। देशे राष्ट्रे; सुरालया देवस्थानानि; तैर्थिकास्तीर्थस्नानाद्यर्थं पर्यटन्तोऽकिञ्चनाः; अभ्यागता अन्येऽतिथयस्तदादयः; आदिशब्देन ये केचित् क्षुधिताः। श्रीकृष्णार्पितत्वादन्नस्य पावित्र्यं माधुर्यादिकमूह्यम्॥४५-४६॥

भावानुवाद—'दक्षिण देशके महाराज' वाक्यमें 'महाराज' कहनेका तात्पर्य है, उस देशके निकटवर्त्ती कुछ राजाओंके अधिराज। किन्तु वे चक्रवर्त्ती महाराज नहीं हैं, क्योंकि उस समय महाराज युधिष्ठिर ही चक्रवर्त्ती राजा थे। इसीलिए महाराजने आगेके वाक्योंमें अपनेको सार्वभौम कहा है। उनके राज्यमें सैकड़ों देवालय हैं। उनके राज्यमें सर्वत्र ही तीर्थयात्री, अतिथि आदि श्रीकृष्णको अर्पित अन्न भोजन करके अति सुखपूर्वक भ्रमण करते हैं। इस वाक्यमें 'आदि' शब्द द्वारा भिक्षुक और भूखसे पीड़ित सभी व्यक्तियोंको समझना चाहिए।

'श्रीकृष्णको निवेदित अन्न' कहनेमें उस अन्नकी पवित्रता और माधुर्य आदिका महत्त्व गुप्तरूपसे वर्णन किया गया है, ऐसा समझना चाहिए॥४५-४६॥

राजधानीसमीपे च सच्चिदानन्दविग्रहः।
साक्षादिवास्ते भगवान् कारुण्यात् स्थिरतां गतः॥४७॥

श्लोकानुवाद—उन महाराजकी राजधानीमें सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीभगवान् कृपा करके अचल श्रीविग्रह-स्वरूपसे साक्षात् विराजमान हैं॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्थिरतां गत इति प्रायोऽचलरूपतां बोधयति॥४७॥

भावानुवाद—मूल श्लोकका 'स्थिरतां गत' पद बोध कराता है कि उन महाराजकी राजधानीमें सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीभगवान् प्रायः अचल श्रीविग्रह-स्वरूपसे साक्षात् विराजमान हैं॥४७॥

नित्यं नवनवस्तत्र जायते परमोत्सवः।
पूजाद्रव्याणि चेष्टानि नूतनानि प्रतिक्षणम्॥४८॥

श्लोकानुवाद—वहाँ नित्यप्रति नये-नये महोत्सव मनाये जाते हैं। पूजा-द्रव्यादिकी सामग्रियाँ भी क्षण-क्षणमें नवीन और सुन्दर प्रकारसे श्रीभगवान्‌को निवेदित की जाती हैं॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र पूजाया द्रव्याणि च प्रतिक्षणं नूतनान्येवेष्टानि; यद्वा, प्रतिक्षणं नूतनान्येव जायन्ते। तत्र च इष्टानि लोकप्रियाण्येव॥४८॥

भावानुवाद—वहाँ पूजनकी सामग्रियाँ भी क्षण-क्षणमें नवीन और सुन्दर प्रकारसे श्रीभगवान्‌को निवेदित की जाती हैं तथा वहाँके 'इष्ट' अर्थात् श्रीविग्रह भी लोकप्रिय हैं॥४८॥

विष्णोर्निवेदितैस्तैस्तु सर्वे तद्देशवासिनः।
वैदेशिकाश्च बहवो भोज्यन्ते तेन सादरम्॥४९॥

श्लोकानुवाद—वे महाराज अपने देशके निवासियों और बहुतसे अन्य देशोंसे आये हुए व्यक्तियोंको आदर सहित श्रीविष्णुका निवेदित महाप्रसाद सेवन कराते हैं॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैर्द्रव्यैः; तेन महाराजेन; पूर्वं तद्राष्ट्रे सर्वत्र ग्रामनगरादिष्वितस्ततो बहुषु देवालयेषु भिक्षुप्रभृतीनामन्नभोजनार्थं सुखभ्रमणमुक्तम्। इदानीं राजधानीनिकटे मुख्यश्रीभगवदालय इति शेषः ॥४९॥

भावानुवाद—वे महाराज उन द्रव्योंसे अपने देशके निवासियोंको, अन्य देशोंसे तथा विभिन्न ग्राम और नगरोंसे आये हुए अतिथियोंको तथा सभी मन्दिरों और धर्मशालाओंमें भिक्षुओंको आदरपूर्वक श्रीविष्णुका निवेदित महाप्रसाद सेवन कराकर तृप्त करते हैं। इस समय उनकी राजधानीके पासमें मुख्यरूपसे श्रीभगवान्‌का मन्दिर है॥४९॥

पुण्डरीकाक्षदेवस्य तस्य दर्शनलोभतः।
महाप्रसादरूपान्नाद्युपभोग सुखाप्तितः॥५०॥
साधुसङ्गतिलाभाच्च नानादेशात् समागताः।
निवसन्ति सदा तत्र सन्तो विष्णुपरायणाः॥५१॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीपुण्डरीकाक्षके दर्शनके लोभसे, महाप्रसाद पाकर सुख लाभ करने तथा अनायास ही साधुसंग प्राप्त करनेके लिए विभिन्न देशोंसे आये अनेक वैष्णव वहाँ पर अवस्थान करते हैं॥५०–५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाप्रसादरूपाणामन्नादिनामुपभोगानां भोग्यद्रव्याणां सुखाप्तितः अनायासेन लाभात्; यद्वा, अन्नादीनामुपभोगेन यत् सुखं तस्याप्तेरनुभवात्। सन्तः साधवस्तत्रापि विशेषतो विष्णुपरायणाः; यद्वा सतां लक्षणमिदमुक्तम्॥५०–५१॥

भावानुवाद—महाप्रसादरूप अन्न आदिका उपभोग सुख प्राप्त करनेके लिए और अनायास ही उसकी प्राप्तिके कारण अथवा महाप्रसाद–अन्नादि उपभोग करनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसको अनुभव करनेके लिए बहुतसे साधु, विशेषरूपसे वैष्णवगण उस स्थान पर वास करते हैं। अथवा यहाँ पर साधुओंके लक्षणको निर्देश करनेके लिए पहले 'सन्त' (साधु) शब्द प्रयोग करके बादमें विष्णु–परायण वैष्णवगणका निर्देश किया गया है॥५०–५१॥

देशश्च देवविप्रेभ्यो राज्ञा दत्तो विभज्य सः।
नोपद्रवोऽस्ति तद्देशे कोऽपि शोकोऽथवा भयम्॥५२॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि ब्राह्मणों और भगवान्‌के उद्देश्यसे राजाने अपने देशको विभाजित करके दान कर दिया है, तथापि उन महाराजके अधिष्ठित देशमें कोई भी उपद्रव, शोक और भय नहीं देखा जाता है॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—स तन्महाराजाधिष्ठितो देशः; राज्ञा तेनैव॥५२॥

भावानुवाद—यद्यपि राजाने अपने देशको दान कर रखा था, फिर भी उस देशके सभी लोग शान्ति पूर्वक रहते थे॥५२॥

अकृष्टपच्या सा भूमिर्वृष्टिस्तत्र यथासुखम्।
इष्टानि फलमूलानि सुलभान्यम्बराणि च॥५३॥
स्वस्वधर्मकृतः सर्वाः सुखिन्यः कृष्णतत्पराः।
प्रजास्तमनुवर्त्तन्ते महाराजं यथा सुताः॥५४॥

श्लोकानुवाद—उस राज्यकी भूमि अत्यधिक जल और सुन्दर फल-फूलोंसे परिपूर्ण है। बिना जोते ही बीज बोने पर प्रचुर मात्रामें फसल होती है। अतएव उस राज्यमें फल, मूल और वस्त्र इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ सुलभतासे प्राप्त होती हैं। वहाँकी प्रजा भी अपने-अपने धर्मके अनुष्ठानमें लगी रहती है और सभी लोग श्रीकृष्णभक्तिमें तत्पर होकर सुख-लाभ करते हैं। पुत्रके समान सभी लोग राजाकी आज्ञाका पालन करते हैं॥५३-५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अकृष्टपच्या कर्षणव्यतिरेकेण सर्वशस्याढ्या; इष्टानि प्रियाणि; अनुवर्तन्ते प्रीत्या तदाज्ञापालनशीला इत्यर्थः। यद्वा यादृशो राज्ञस्तस्य व्यवहारस्तासामपि तादृश एवेति॥५३-५४॥

भावानुवाद—'अकृष्टपच्या' अर्थात् वहाँकी भूमि बिना जोते ही प्रचुर मात्रामें सब प्रकारकी फसलको देनेवाली है; इष्ट अर्थात् प्रिय; अनुवृत्ति अर्थात् प्रीति सहित राजाकी आज्ञाका पालन। अथवा राजा जिस प्रकार श्रीकृष्णभक्त है, उनकी प्रजाका भी वैसे ही भक्तिके अनुकूल व्यवहार है॥५३-५४॥

स चागर्वः सदा नीचयोग्यसेवाभिरच्युतम्।
भजमानोऽखिलान् लोकान् रमयस्यच्युतप्रियः॥५५॥

श्लोकानुवाद—भगवद्भक्ति-परायण राजा निरहंकारी होकर भगवान्‌की छोटीसे छोटी सेवा स्वयं करते हैं और राजाके ऐसे व्यवहारसे सभी लोग आनन्दका अनुभव करते हैं॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अगर्वः एतादृशराज्यवैभवधर्मभगवत्सेवातिशये सत्यपि निरहङ्कारः सन्; नीचेति, नीचाभिः स्वयं संमार्ज्जनलेपन-दीपिका-ग्रहणादिभिः योग्यसेवाभिः; अच्युतप्रिय इति केवलं प्रेम्णैव भजनं बोधयति॥५५॥

भावानुवाद—अगर्वः अर्थात् ऐसे राज्य-वैभव-धर्म और अत्यधिक भगवत् सेवा करने पर भी राजा निरहंकारी हैं। नीचसेवा अर्थात् सम्मार्ज्जन, लेपन, दीप प्रदान इत्यादि छोटीसे छोटी सेवाएँ भी स्वयं करते हैं। अच्युतप्रिय अर्थात् वे राजा केवल प्रेमपूर्वक भगवान् श्रीअच्युतका भजन करते हैं॥५५॥

तस्याग्रे विविधैर्नामगाथा-संकीर्त्तनैः स्वयम्।
नृत्यन् दिव्यानि गीतानि गायन् वाद्यानि वादयन्॥५६॥
भ्रातृभार्यासुतैः पौत्रैर्भृत्यामात्यपुरोहितैः।
अन्यैश्च स्वजनैः साकं प्रभुं तं तोषयत् सदा॥५७॥

श्लोकानुवाद—वह राजा स्वयं और अपने भाई, पत्नी, पुत्र, पौत्र, सेवक, मंत्री, पुरोहित तथा अन्यान्य परिजनों सहित भगवान्‌के समक्ष नृत्य करते हैं। विविध प्रकारके सुन्दर गीत गाते हुए और नाना-प्रकारके वाद्य बजाते हुए अत्यधिक आनन्दपूर्वक अपने प्रभुका नामसंकीर्त्तन करते हैं तथा उनको प्रसन्न करते हैं॥५६-५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—तस्येति द्वाभ्याम्। भ्रातृभार्येत्यनेन तस्य भ्रातृप्रभृतीनामपि परमवैष्णवत्वमुक्तम्॥५६-५७॥

भावानुवाद—वह राजा किस प्रकार श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं, इसे 'तस्येति' दो श्लोकोंमें बता रहे हैं। वह राजा अपने भाई, पत्नी इत्यादि बन्धु-बान्धवोंके साथ आनन्दपूर्वक श्रीभगवान्‌का नामसंकीर्त्तन कर उन्हें प्रसन्न करते हैं। उस राजाके भाई इत्यादि भी परमवैष्णव हैं॥५६-५७॥

ते ते तस्य गुणव्राताः कृष्णभक्त्यनुवर्त्तिनः।
संख्यातुं कति कथ्यन्ते ज्ञायन्ते कति वा मया॥५८॥

श्लोकानुवाद—वास्तविक रूपमें उस राजाके समस्त गुण श्रीकृष्णभक्तिके अनुकूल हैं। उसके असंख्य गुणोंको मैं कहाँ तक गिनाऊँ और वर्णन करूँ? यह मेरे सामर्थ्यसे बाहर है॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते ते परमानिर्वचनीयाः सुप्रसिद्धा वा; तस्य महाराजस्य गुणानां व्राताः समूहाः कृष्णभक्तेरनुवर्त्तिनोऽनुकूलाः। अयं भावः—उक्तानि सर्वाण्येतान्येव भगवत्कृपालक्षणानि। अतः स एव भगवत्कृपापात्रं न त्वहं, तत्तदभावादिति दिक्; एवमग्रेऽपि सर्वत्रोह्यम्; एवं च जात्यनपेक्षया केवलं भगवत्कृपाविशेषादेव माहात्म्यं दर्शितम्, अन्यथा ब्राह्मणात् क्षत्रियस्य महिमानुपपत्तेः। एतद्ब्राह्मणादीनाञ्च सर्वेषामपि कृतार्थत्वमग्रे श्रीभगवतैव स्वयं वक्ष्यते, केवलं तारतम्यमात्रम्, एतच्चाग्रे व्यक्तं भावि॥५८॥

भावानुवाद—उन महाराजके समस्त अनिर्वचनीय और सुप्रसिद्ध गुण श्रीकृष्णभक्तिके अनुकूल है। अतएव उनके सभी गुण भगवान्‌की कृपाका ही लक्षण है, क्योंकि भगवत्कृपाके बिना वैसा श्रीकृष्ण-भजन तथा भजनके अनुकूल गुण अर्थात् दीनता, निस्वार्थता आदि गुण स्फुरित नहीं होते। अतएव वे भगवत्कृपाके पात्र हैं। इस ग्रन्थमें सर्वत्र ही ऐसा समझना होगा। अर्थात् भगवानके समस्त कृपा-पात्रोंके गुण भगवान्‌की कृपाका ही लक्षण है। इस प्रकार भगवान्‌का भजन करनेमें जातिके विचारका खण्डन हुआ है। साधारणतः जातिके विचारसे ब्राह्मणकी तुलनामें क्षत्रियकी महिमा अधिक नहीं है; किन्तु यहाँ (भक्तिराज्यमें) जातिका विचार न कर केवल भगवत्कृपाके प्रति दृष्टि रखकर ही उत्कर्ष बताया जा रहा है। विशेषतः भगवत्कृपा ही ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंकी कृतार्थताका लक्षण है। इस विषयका तारतम्य स्वयं भगवान् ही आगे चलकर व्यक्त करेंगे॥५८॥

श्रीपरीक्षित उवाच—

ततो नृपवरं द्रष्टुं तद्देशे नारदो व्रजन्।
देवपूजोत्सवासक्तास्तत्र तत्रैक्षत प्रजाः॥५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित बोले—यह वृत्तान्त सुनकर श्रीनारद उस श्रेष्ठ राजाके दर्शनके लिए दक्षिण देशमें पहुँचे तथा उस राज्यमें स्थान-स्थान पर उन्होंने प्रजाको भगवान्‌की सेवामें अनुरक्त देखा॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नृपवरं तमेव महाराजम्; तत्र तत्र स्थाने स्थाने॥५९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५९॥

हर्षेण वादयन् वीणां राजधानीं गतोऽधिकम्।
विप्रोक्तादपि संपश्यन् संगम्योवाच तं नृपम्॥६०॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीनारदने प्रसन्नचित्त होकर वीणा बजाते हुए राजधानीमें प्रवेश किया और प्रयागमें ब्राह्मणके मुखसे जो श्रवण किया था, उससे भी कहीं अधिक ऐश्वर्यका दर्शनकर राजाके निकट उपस्थित होकर कहने लगे॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—विप्रोक्तात् दशाश्वमेधतीर्थे संभाषितो योऽसौ ब्राह्मणस्तेन 'किन्तु दक्षिणदेशे यः' इत्यादिना यदुक्तं देवपूजादिकं, ततोऽप्यधिकं संपश्यन् अनुभवन्॥६०॥

भावानुवाद—श्रीनारद प्रसन्न चित्त होकर वीणा बजाते हुए राजधानीमें प्रवेश किये और दशाश्वमेधतीर्थमें ब्राह्मणके मुखसे उस राजाके द्वारा किये जानेवाली देव (इष्ट) पूजा आदिके सम्बन्धमें जो श्रवण किया था, उससे भी कहीं अधिक ऐश्वर्यका दर्शनकर राजाके निकट उपस्थित होकर कहने लगे॥६०॥

श्रीनारद उवाच—

त्वं श्रीकृष्णकृपापात्रं यस्येदृग्राज्यवैभवम्।
सल्लोकगुणधर्मार्थज्ञानभक्तिभिरन्वितम् ॥६१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे राजन्! आप ही श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं, क्योंकि आपका ऐसा विशाल राज्यवैभव है, आपकी प्रजा स्वधर्ममें रत है, आप लोकवात्सल्य आदि गुणों तथा धर्म, अर्थ, ज्ञान और भक्तिसे सुशोभित हैं॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्य तव; सद्भिरुत्कृष्टैर्लोकादिभिरन्वितम्—तत्र लोकाः प्रजाः, तेषां सत्वं पूर्वोक्तेन स्वधर्मादिपरत्वेन; गुणाः सर्वत्र भगवद्भक्ति-प्रवर्त्तनादिना लोकवात्सल्यादयः, तेषां गर्वराहित्यादिना; धर्मा भिक्षुकादिभ्योऽन्नदानादिकृताः, तेषाञ्च भगवदर्पणादिना; अर्था धनानि तेषां भगवत्पूजाद्रव्यसाधनतादिना; उत्कृष्टः कामश्च राज्यवैभवमित्यनेनोक्त एवास्ति; ज्ञानं सच्छास्त्राभ्यासजनितो मोक्षादिहेतुर्विवेकः, तस्य भगवत्पूजापरतादिना; भक्तिश्च भगवत्सेवा, तस्याश्च प्रेम्णैव क्रियमाणत्वादिति दिक्॥६१॥

भावानुवाद—देवर्षि श्रीनारदने कहा—राजन्! आपके सम्पूर्ण राज्यमें आपकी प्रजा स्वधर्म पालनमें रत है। 'गुण' अर्थात् सर्वत्र भगवद्भक्ति-प्रवर्त्तन आदि लोकवात्सल्य और निरहङ्कारता इत्यादि गुण समूह। 'धर्म' अर्थात् भिक्षुओंको अन्न आदि दान द्वारा अर्जित धर्म। 'अर्थ'—भगवान्‌की पूजा द्रव्यादि साधन द्वारा अर्थका सद्व्यय और भगवान्‌की सेवा भावनासे राज्य-वैभवका संरक्षण इत्यादि समझना चाहिए। 'ज्ञान' अर्थात् सत्‌शास्त्रोंके अनुशीलनसे उदित विवेक जो मोक्षका कारण है। वह विवेक भी भगवत् सेवाके लिए पर्यवसित हो रहा है। 'भक्ति' अर्थात् भगवत् सेवा और वह भगवत् सेवा भी प्रेमपूर्वक हो रही है॥६१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तत्तद्विस्तार्य कथयन्नाश्लिष्यन् भूपतिं मुहुः।
प्रशशंस गुणान् गायन् वीणया वैष्णवोत्तमः॥६२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—वैष्णवप्रवर श्रीनारद इन सभी गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करते-करते उस राजाको बारम्बार आलिङ्गन करने लगे तथा वीणा द्वारा गुणगान करते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तत् राज्यवैभवादिकं; गुणान् भगवद्भजनादिरूपान्ः प्रशशंस 'त्वमेव श्रीकृष्णस्य परमकृपापात्रम्', इत्येवमस्तौत्॥६२॥

भावानुवाद—'तत्तत्' अर्थात् राजाके राज्यवैभवादि और 'गुणान्' अर्थात् राजा द्वारा भगवान्‌के संकीर्त्तन-भजन रूपी गुणोंकी प्रशंसा करते हुए, 'आप ही श्रीकृष्णके परम कृपापात्र हो', इस प्रकार कहते हुए श्रीनारद उनकी स्तुति करने लगे॥६२॥

सार्वभौमो मुनीवरं सपूज्यं प्रश्रितोऽब्रवीत्।
निजश्लाघाभराज्जात-लज्जा-नमितमस्तकः॥६३॥

श्लोकानुवाद—वे सार्वभौम राजा अपनी अत्यधिक प्रशंसा सुनकर लज्जित हुए और मस्तक झुकाकर मुनिवर श्रीनारदका भलीभाँति पूजनकर विनयपूर्वक कहने लगे॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजश्लाघातिशयेन उच्चैर्जातया लज्जया नमितं मस्तकं येन यस्य वा सः॥६३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६३॥

देवर्षेऽल्पायुषं स्वल्पैश्वर्यमल्पप्रदं नरम्।
अस्वतन्त्रं भयाक्रान्तं तापत्रयनियन्त्रितम्॥६४॥
कृष्णानुग्रहवाक्यस्याप्ययोग्यमविचारतः।
तदीयकरुणापात्रं कथं मां मन्यते भवान्॥६५॥

श्लोकानुवाद—हे देवर्षि नारद! आप इस अधम मनुष्यको बिना विचार किये श्रीकृष्णका कृपापात्र क्यों मान रहे हैं? मैं मनुष्य हूँ, मेरी आयु भी कम है, ऐश्वर्य अल्प है और मैं कभी-कभी थोड़ासा ही दान करता हूँ। विशेषतः मैं कुछ भी करनेमें स्वतन्त्र नहीं हूँ, सब समय भय तथा तीन तापोंसे पीड़ित रहता हूँ, मैं 'श्रीकृष्णकृपाका पात्र हूँ', यह बात भी मुझ पर चरितार्थ नहीं होती है॥६४-६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—देवर्षे! हे श्रीनारद! नरः माम्; तदीयकरुणायाः श्रीकृष्णानुग्रहस्य पात्रं कथमविचारतः विचारमकृत्वैव भावन् मन्यत इति द्वाभ्यामन्वयः। अस्वतन्त्रं स्वधर्माचारादिपराधीनं, कृष्णस्य यदनुग्रहवाक्यं 'त्वामनुग्रहीष्यामि', इत्यादिरूपं तस्याप्य-योग्यम् अनर्हम्, अस्तु तावदनुग्रहस्य। यद्वा, 'अस्मिन् कृष्णस्यानुग्रहोऽस्ति', इति वचनस्याप्ययोग्यम-विषयं, कुतस्तत्सम्पत्तिलक्षणस्य? अतः केवलमविचारेणैवैतं कथयसीति भावः॥६४-६५॥

भावानुवाद—हे देवर्षि नारद! मैं मनुष्य हूँ, विशेषतः मेरे जैसे मानवको आप बिना विचार किये श्रीकृष्णका करुणापात्र क्यों कह रहे हैं? इसी विषयका इन दो श्लोकोंमें अन्वय हुआ है। मैं अस्वतन्त्र हूँ अर्थात् अपना स्वधर्म आचरण करनेके अधीन हूँ। इस कारणसे 'मैं श्रीकृष्णका अनुग्रह-पात्र हूँ'—इस वचनके सर्वथा अयोग्य हूँ। भगवान्‌का अनुग्रह तो दूर रहे, उनके द्वारा 'मैं तुम पर अनुग्रह करूँगा' ऐसे आश्वासन प्रदान करनेवाले वचनोंको भी श्रवण करनेके अयोग्य हूँ। अथवा 'मुझ पर श्रीकृष्णकी कृपा है' ऐसे वचनके भी अयोग्य हूँ। हाय! कहाँ है मुझमें वैसी सम्पत्तिके लक्षण और कहाँ है मुझ पर वैसी कृपा!! अतएव आप केवल बिना विचार किये ही ऐसा कह रहे हैं॥६४-६५॥

देवा एव दयापात्रं विष्णोर्भगवतः किल।
पूज्यमाना नरैर्नित्यं तेजोमयशरीरिणः॥६६॥
निष्पापाः सात्त्विका दुःखरहिताः सुखिनः सदा।
स्वच्छन्दाचारगतयो भक्तेच्छावरदायकाः॥६७॥
येषां हि भोग्यममृतं मृत्युरोगजरादिहृत्।
स्वेच्छयोपनतं क्षुत्तृड्बाधाभावेऽपि तुष्टिदम्॥६८॥
वसन्ति भगवन् स्वर्गे महाभाग्यबलेन ये।
यो नृभिर्भारते वर्षे सत् पुण्यैर्लभ्यते कृतैः॥६९॥

श्लोकानुवाद—वास्तवमें देवता ही भगवान् श्रीविष्णुके दयापात्र हैं, क्योंकि वे मनुष्यों द्वारा पूजित होते हैं। उनका शरीर तेजोमय होता है, वे निष्पाप, सत्त्वगुणयुक्त, दुःखसे रहित होते हैं और सदा सुखी रहते हैं। उनका आचरण और गति स्वच्छन्द है। विशेषतः वे अपने-अपने भक्तोंके अभिलषित वरको प्रदान करनेमें समर्थ हैं और नित्य अमृतपान करके अपनी मृत्यु, जरा-व्याधि आदिको भी जीते हुए हैं। उन्हें भूख-प्यासकी बाधा भी नहीं है तथा वे अपनी इच्छानुसार यज्ञ आदिका भाग ग्रहण करके सन्तुष्ट रहते हैं। हे भगवन्! वे महाभाग्यके बलसे दीर्घकाल तक उस स्वर्गमें निवास करते हैं जहाँ इस भारतवर्षके लोग प्रचुर पुण्य कर्म करनेसे ही जा सकते हैं॥६६-६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नरैरस्माभिः; स्वच्छन्देन निजेच्छयैवाचारो गतिश्च गमनं येषां ते, मनुष्यवद्विधिपारतन्त्राद्यभावात् आकाशमार्गगामित्वाच्च। भक्तानां निज-सेवकानामिच्छया वरस्य दायकाः, येषां देवानां मृत्युरोगजरादि हरतीति तथा तत्, आदिशब्देन क्लमस्वेददौर्गन्ध्यादि; ननु नहि देवानां क्षुधादिपीड़ा वर्त्तते, सदा सुखिन इत्याद्युक्तेः। तदभावे च भोगा न सुखदास्तत्राह—क्षुदिति। क्षुधाद्यभावेऽपि देवैः सुखेनैव तदुपभुज्यते इत्यर्थः। हे भगवन्! श्रीनारद! ये देवाः, यः स्वर्गः; भारते वर्षे; कृतैः सद्भिरुत्कृष्टैः पुण्यैः कृत्वा; एवं नरेभ्यो देवानां वैपरीत्योक्त्या भगवद्दयापात्रता साधिता; यतो नराणामल्पायुष्ट्वादिकमुक्तम्, देवानाञ्च मृत्युहरामृत-भोगेन वह्वायूष्ट्वम्, नरैर्नित्यपूज्यत्वादिना च महैश्वर्यम्, भक्तेच्छावरदानेन च बहुप्रदत्वम्, स्वच्छन्दाचारगतित्वेन परमस्वातन्त्र्यमिति दिक्, नराणामपि देववैपरीत्येनान्यदपि लक्षणमूह्यम्; एवम् अग्रेऽपि॥६६-६९॥

भावानुवाद—वह राजा अब और भी कुछ कह रहे हैं—मेरे जैसे व्यक्ति देवताओंकी पूजा करते हैं। वे देवतागण अपनी इच्छानुसार आचार–व्यवहार कर सकते हैं, क्योंकि उनकी स्वछन्दगति है अर्थात् वे मनुष्योंके समान विधिके अधीन या दास नहीं होते तथा वे आकाशमार्गमें अपनी इच्छानुसार गमन कर सकते हैं। वे अपने–अपने आराधकोंको उनकी इच्छाके अनुरूप फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं तथा मृत्यु, रोग और जरा आदिको हरण करनेवाले हैं। 'आदि' शब्दके द्वारा देहकी थकावट, पसीना और दुर्गन्धको दूर करते हैं, ऐसा समझना होगा। यदि कहो कि देवताओंको जब भूख–प्यास ही नहीं लगती है (सताती है), तब वे सुखी कैसे हैं? क्योंकि भोग करनेसे ही तो सुख उत्पन्न होता है और भूख न लगने पर वह भोग भी सुखदायक नहीं होता। इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि भूख–प्यास न लगने पर भी तृप्ति प्रदान करनेवाला अमृत ही उन देवताओंकी भोग्य वस्तु है। हे भगवन् श्रीनारद! भारतवर्षमें अत्यधिक पुण्य सञ्चय करने पर जिस स्वर्गकी प्राप्ति होती है, महाभाग्यके बलसे उसी स्वर्गलोकमें वे देवता निवास करते हैं। इस प्रकार मनुष्योंकी तुलानामें देवताओंके विपरीत धर्मके उल्लेख द्वारा उनकी (देवताओंकी) भगवत्कृपा–पात्रता वर्णित हुई है। जैसे मनुष्योंकी आयु कम है, किन्तु देवतागण मृत्युका हरण करनेवाले अमृतका पान करते हैं, इसलिए उनकी आयु अत्यधिक होती है तथा मनुष्यों द्वारा नित्यपूजित होनेसे वे महाऐश्वर्यसे युक्त हैं। अपने भक्तोंको मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेके कारण उनकी अत्यधिक महिमा प्रमाणित होती हैं। उनका शरीर तेजोमय है, स्वच्छन्द आचार और स्वच्छन्द गतिसे युक्त होनेके कारण वे परमस्वतन्त्र हैं—ऐसा सूचित होता है। इस प्रकार मनुष्योंसे देवताओंके जो विपरीत लक्षण हैं, उनमें से कुछका आगे वर्णन किया जायेगा॥६६–६९॥

मुने! विशिष्टस्तत्रापि तेषामिन्द्रः पुरन्दरः।
निग्रहेऽनुग्रहेऽपीशो वृष्टिभिर्लोकजीवनः॥७०॥
त्रिलोकीश्वरता यस्य युगानामेकसप्ततिम्।
याश्वमेधशतेनापि सार्वभौमस्य दुर्लभा॥७१॥

हय उच्चैःश्रवा यस्य गज ऐरावतो महान्।
कामधुक् गौरुपवनं नन्दनञ्च विराजते॥७२॥

श्लोकानुवाद—हे मुने! उस स्वर्गमें सब देवताओंमें भी पुरन्दर नामक इन्द्र ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे त्रिलोकके ईश्वर हैं और वे निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ हैं। भूमि पर वर्षा करनेके कारण वे सबके जीवन स्वरूप हैं। मुझ जैसे सार्वभौमको जो अधीश्वरता सौ अश्वमेध यज्ञ करनेसे भी दुर्लभ है, वही तीनों लोकोंकी अधीश्वरता उन्हें इकहत्तर चतुर्युगों तक भोग करनेके लिए मिली है। उनके पास उच्चैःश्रवा नामक अश्व, ऐरावत नामक महान हाथी, कामधेनु गाय और नन्दन-कानन नामक उद्यान है॥७०-७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तस्मिन् स्वर्गे तेषु देवेष्वपि विशिष्टः दयाविशेषपात्रमित्यर्थः; निग्रहे शापदानादौ, अनुग्रहे वरदानादौ च, ईशः समर्थः; देवानाञ्च भक्तेच्छया वरदायकत्वमात्रमुक्तम्। इन्द्रस्य च तदनपेक्षया ततोऽप्यधिकदानादिसामर्थ्यमिति तेभ्यो विशेषः; लोकान् जीवयति संवर्द्धयतीति तथा सः; चतुर्युगानामेकोत्तर-सप्ततिं व्याप्य यस्येन्द्रस्य त्रैलोक्यैश्वर्यम्; या त्रिलोकीश्वरता सार्वभौमस्यापि मादृशो दुर्लभा कर्मस्ववश्यं छिद्रसम्भवादश्वमेधशतस्य दुष्करत्वाच्च। हयो महान् गजश्च महान्, अमृतमथनोद्धुततया सर्वश्रेष्ठगुणवत्त्वात्॥७०-७२॥

भावानुवाद—हे मुने! उस स्वर्गमें सभी देवताओंमें भी उनके अधिपति इन्द्र ही भगवान्‌के विशेष कृपापात्र हैं। वे निग्रह अर्थात् शाप देनेमें और अनुग्रह अर्थात् वर देनेमें समर्थ हैं। सभी देवता तो केवल अपने भक्तोंकी वाञ्छाको पूर्ण करनेमें ही समर्थ हैं, परन्तु इन्द्र त्रिलोकके राजा होनेके कारण उन देवताओंके भी निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ हैं। इसके द्वारा अन्यान्य देवताओंसे भी इन्द्रका अधिक दान करना आदि सूचित होता है। विशेषतः वे जलवर्षण द्वारा सभी लोकोंके जीवनस्वरूप हैं। मेरे जैसे सार्वभौम राजा द्वारा जो वस्तु सौ अश्वमेध यज्ञ करने पर भी दुर्लभ है, उस त्रिलोककी अधीश्वरताको वे इकहत्तर चतुर्युग तक भोग करते हैं। यज्ञ आदि कर्म अधिकतर छिद्रयुक्त (दोषपूर्ण) होते हैं, क्योंकि कर्मोंका दोषसे रहित होना एक प्रकारसे असम्भव है, ऐसे कहनेमें भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसे सुदुष्कर अश्वमेध यज्ञको उन्होंने बिना किसी दोषके

पूर्ण किया है। उन्होंने अमृतमन्थनके समय प्रकट हुए सर्वश्रेष्ठ गुणसम्पन्न महान अश्व और ऐरावत हाथी प्राप्त किये हैं॥७०-७२॥

पारिजातादयो यत्र वर्त्तन्ते कामपूरकाः।
कामरूपधराः कल्पद्रुमाः कल्पलतान्विताः॥७३॥
येषामेकेन पुष्पेण यथाकामं सुसिध्यति।
विचित्रगीतवादित्र-नृत्यवेशाशनादिकम् ॥७४॥

श्लोकानुवाद—स्वर्ग स्थित नन्दनवन पारिजात आदि कल्पवृक्ष और कामरूपधर कल्पलताओंसे सुशोभित है जो कि मनोवाञ्छाको पूर्ण करती हैं और अपनी इच्छासे जो भी रूप चाहें धारण कर सकती हैं। और अधिक क्या कहूँ, नन्दन-काननके एक ही पुष्पसे विचित्र-विचित्र गीत, वाद्य, नृत्य और अनेक वसन (वस्त्र) भूषण तथा चर्व्य-चोष्य-लेह-पेय चारों प्रकारकी सुस्वादु भोजन सामग्री भी प्राप्त होती हैं तथा समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इस विचित्र सम्पदाके अधीश्वर वे इन्द्र ही हैं॥७३-७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—यत्र नन्दने। कामपूरकत्वमेवाह—येषामिति। विचित्रं गीतादि; सुष्ठु सिध्यति। तत्र वेशो भूषणम्; आदि शब्देन पानशयनाशनादि॥७३-७४॥

भावानुवाद—उस नन्दनकाननमें एक ही पुष्पके द्वारा समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। विचित्र गीतादि उत्तम प्रकारसे साधित होते हैं तथा वे पुष्प ही वेश-भूषण आदि प्रदान करते हैं। 'आदि' शब्दका अर्थ है—पान (ताम्बुल), शयन, आसन इत्यादि॥७३-७४॥

आः किं वाच्यं परं तस्य सौभाग्यं भगवान् गतः।
कनिष्ठभ्रातृतां यस्य विष्णुर्वामनरूपधृक्॥७५॥
आपद्भ्यो यमसौ रक्षन् हर्षयन् येन विस्तृताम्।
साक्षात् स्वीकुरुते पूजां तद्वेत्सि त्वमुतापरम्॥७६॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपासार निर्द्धारखण्डे
भौमो नाम प्रथमोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—अहो! उन इन्द्रके सौभाग्यका और अधिक क्या वर्णन करूँ? भगवान् श्रीविष्णु स्वयं वामनरूपमें उनके छोटे भाई बनकर उनकी आज्ञाका पालन करते हैं। उन्होंने इन्द्रको विपत्तियोंसे रक्षा करके उन्हें आनन्दित किया है तथा उनके द्वारा निवेदित पूजाको प्रभु साक्षातरूपसे प्रकट होकर ग्रहण करते हैं। हे श्रीनारद! आप तो यह सब कुछ और इससे भी अधिक स्वयं भली प्रकारसे जानते हैं। मैं और अधिक क्या कहूँ? ॥७५-७६॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके प्रथम अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य इन्द्रस्य। न च केवलं भ्रातृत्वमात्रं प्राप्तः, तदनुरूपं व्यवहरति चेत्याह—आपद्भ्य इति। यम् इन्द्रम्; असौ विष्णुः, येन इन्द्रेण विस्तृतां विस्तारेण कृतां पूजां साक्षात् स्वीकुरुते स्वयमेव पूजाद्रव्यग्रहणात्। तस्य सौभाग्यमिति पूर्वेणैवान्वयः; तत्तदीयं सौभाग्यम् उत अपि परमपि कनिष्ठभ्रातृत्वेन श्रीविष्णुलालनादिकम्। यद्वा, यदुक्तं—मदुक्तादन्यच्च त्वमेव जानासि; किमहं तद्वर्णयामीत्यर्थः ॥७५-७६॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे प्रथमोऽध्यायः।

भावानुवाद—भगवान् श्रीवामनदेवका इन्द्रके साथ केवल भाईका ही सम्बन्ध नहीं है, बल्कि वे तदनुरूप व्यवहार भी करते हैं। श्रीवामनरूपमें भगवान् श्रीविष्णु साक्षात्‌रूपसे इन्द्र द्वारा की गई पूजाको ग्रहण करते हैं। अतएव देवराज इन्द्रके सौभाग्यकी बात और क्या कहूँ? जिनके छोटे भाईके रूपमें श्रीविष्णु लालन आदि भी स्वीकार करते हैं। हे देवर्षे! आप केवल इतना ही नहीं, अपितु इससे भी बहुत अधिक जानते हैं। अतएव मैं और अधिक क्या कहूँ? ॥७५-७६॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके प्रथम अध्यायकी दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः (दिव्यः)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

प्रशस्य तं महाराजं स्वर्गतो मुनिरैक्षत।
राजमानं सभामध्ये विष्णुं देवगणैर्वृतम्॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! देवर्षि श्रीनारद उस राजाकी प्रशंसा करके स्वर्गमें पहुँचे तथा वहाँ पर सुशोभित देवसभामें देवताओंसे घिरे हुए श्रीविष्णुका दर्शन किया॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

आद्येऽध्यायेऽत्र कृष्णस्य परमप्रेष्ठनिर्णये।
मर्त्योत्कर्षापकर्षौ हि नीचोच्चापेक्षयोदितौ॥
आहाध्याये द्वितीये तु तथैवेन्द्र स्वयम्भुवोः।
उत्कर्षमपकर्षञ्च निकृष्टोत्कृष्ट वीक्षया॥

स्वः स्वर्गं गतः सन्, मुनिः श्रीनारदः सभामध्ये विष्णुमैक्षत॥१॥

भावानुवाद—प्रथम अध्यायमें श्रीकृष्णके परमप्रिय पात्रका निर्धारण करनेके प्रसंगमें मर्त्यलोकवासी भक्तोंके उच्च-नीच विषयक विचारोंको लेकर उनका अपकर्ष और उत्कर्ष निरूपण किया गया है। इस द्वितीय अध्यायमें भी उसी प्रकार देवराज इन्द्र और ब्रह्माके विषयमें निकृष्टता और उत्कृष्टताको लेकर उनका अपकर्ष और उत्कर्ष निरूपित होगा।

स्वर्गमें पहुँचकर श्रीनारदमुनिने देवसभाके बीचमें श्रीविष्णुका दर्शन किये॥१॥

विचित्र-कल्पद्रुम-पुष्पमालाविलेपभूषावसनामृताद्यैः।
समर्चितं दिव्यतरोपचारैः सुखोपविष्टं गरुड़स्य पृष्ठे॥२॥

बृहस्पतिप्रभृतिभिः स्तूयमानं महर्षिभिः।
लाल्यमानमदित्या तान् हर्षयन्तं प्रियोक्तिभिः॥३॥
सिद्धविद्याध्रगंधर्वाप्सरोभिर्विविधैः स्तवैः।
जयशब्दैर्वाद्यगीतनृत्यैश्च परितोषितम्॥४॥
शक्रायाभयमुच्चोक्त्या दैत्येभ्यो ददतं दृढ़म्।
कीर्त्त्यार्प्यमाणं ताम्बूलं चर्वन्तं लीलयाहृतम्॥५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान् पक्षीराज गरुड़की पीठ पर विराजमान थे। देवता लोग विचित्र कल्पवृक्षके फूलोंसे बनी पुष्पमाला, सुगन्धित चन्दन, वस्त्र, भूषण और अमृत आदि दिव्य उपचारोंके द्वारा उनकी पूजा कर रहे थे। बृहस्पति आदि महर्षिगण उनकी स्तुति कर रहे थे। उनकी माता अदिति देवी उनका (श्रीवामनदेवका) लालन-पालन कर रही थीं। भगवान् अपनी मधुर वाणी द्वारा उन सबको आनन्दित कर रहे थे। सिद्धगण, विद्याधर, गन्धर्व, अप्सरादि अनेक प्रकारके स्तव, जयघोष और वाद्य-गीत-नृत्यादि द्वारा उनको प्रसन्न कर रहे थे। श्रीभगवान् स्पष्टरूपसे इन्द्रको दैत्योंके समस्त प्रकारके भयोंसे दृढ़तापूर्वक निर्भयता प्रदान कर रहे थे और अपनी पत्नी श्रीकीर्तिदेवी द्वारा प्रस्तुत किये गये ताम्बूलको निवेदन किये जाने पर बड़ी भङ्गिपूर्वक स्वीकार करके चबा रहे थे॥२-५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि-विचित्रेति चर्तुभिः। उपचाराः पाद्यार्घ्यादयः षोड़श चतुःषष्ठिर्वा; तद्विशेषो विष्णुभक्तिचन्द्रोदयादि ग्रन्थेभ्यो ज्ञातव्यः। अदित्या मात्रा लाल्यमानं कोमलहस्ततलस्पर्शादिना नन्द्यमानम्; तान् देवगणान् महर्षींश्च हर्षयन्तम्; सिद्धादिभिः कर्त्तृभिर्विविधैः स्तवादिभिः कृत्वा परितोषितम्; तत्र सिद्धैः स्तवैर्जयशब्दैश्च, विद्याधरादिभिस्तु यथाक्रमं वाद्यादिभिरिति विवेकः, दैत्येभ्यः सकाशाद् भयमुच्चोक्तया, शक्राय ददतं दैत्येभ्यो मा भयं कार्षीस्तान् हत्वा ध्रुवं त्वां रक्षिष्यामि इत्येवं दक्षिण-श्रीहस्ताब्जाग्रमुत्थाप्य तन्मुद्राविशेषेण व्यक्तं ब्रुवन्तमित्यर्थः। कीर्त्तिर्नाम श्रीविष्णोः पत्नी, तया अर्प्यमाणम् उपस्कृत्य निवेद्यमानं लीलया आहृतम् अङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां गृहीतं सत्। यद्यपि पूर्वोक्तरीत्या श्रीनारदस्य शक्रेण सह सम्भाषणमेव मुख्यं प्रयोजनं, न तु श्रीविष्णोर्दर्शनं, तथापि भगवतस्तस्य सर्वदेवगण प्रधानतया भूमितो निजमाहात्म्य विशेषप्रकटनेन तत्प्राक् तस्मिन्नेव दृष्टिरुत्पततीति प्रथमं तद्दर्शनमुक्तम्; तदपि शक्रविषयक-तदीय दयाविशेष बोधनायैवेति दिक्। एवमग्रे ब्रह्मलोकेऽप्यूह्यम्॥२-५॥

भावानुवाद—देवर्षि श्रीनारदने भगवान् श्रीविष्णुका किस रूपमें दर्शन किया, इसे 'विचित्र' इत्यादि चार श्लोकोंमें कहा गया है। उपचार अर्थात् पाद्य, अर्घ्यादि सोलह प्रकारके उपचार अथवा चौंसठ प्रकारके उपचार। इसका विस्तृत विवरण श्रीविष्णुभक्तिचन्द्रोदय ग्रन्थमें दिया गया है। माता अदितिदेवी अपने सुकोमल करकमलोंके स्पर्शसे वामनरूपी श्रीविष्णुका लालन-पालन कर रही थीं। श्रीविष्णु भी अपनी मधुर वाणी द्वारा देवताओं और महर्षियोंको आनन्दित कर रहे थे। सिद्धगण विविध स्तव और जयघोष द्वारा और विद्याधर दिव्य वाद्य तथा गन्धर्वगण गीत और नृत्य द्वारा उनको प्रसन्न कर रहे थे। श्रीवामनदेव उच्च स्वरसे इन्द्रको दैत्योंसे अभय प्रदान कर रहे थे। किस प्रकार? अपने दक्षिण हस्त-कमलको ऊँचा उठाकर अभय-मुद्रा प्रकाश करके स्पष्टरूपसे कह रहे थे—"दैत्योंसे आप भय न करें, मैं दैत्योंका वध करके निश्चय ही आपकी रक्षा करूँगा।" अपनी पत्नी श्रीकीर्तिदेवी द्वारा प्रस्तुत किये गये ताम्बूलको बड़ी भङ्गिमापूर्वक ग्रहण करके अर्थात् अपने अंगुष्ठ और तर्जनीके अग्रभाग द्वारा ग्रहण करके चर्वण कर रहे थे।

यद्यपि पूर्वोक्त रीतिके अनुसार भगवान्‌के अत्यधिक कृपापात्र निर्धारणके प्रसंगमें, श्रीनारदका इन्द्रके साथ वार्त्तालाप ही मुख्य प्रयोजन है—श्रीविष्णुका दर्शन नहीं; तथापि भगवान् अपने माहात्म्यको प्रकट करके सभी देवताओंमें भी प्रधानरूपसे विराजमान हैं, इसलिए सर्वप्रथम उन्हीं पर दृष्टि पड़ी। इस कारणसे सर्वप्रथम उनके दर्शनका विषयको ही बतलाया गया है। यहाँ पर इन्द्रके प्रति श्रीविष्णुकी विशेष दयाका बोध करानेके लिए पहले उनका (श्रीविष्णुका) महात्म्य वर्णित हुआ है। इसी प्रकार ब्रह्मलोक तक समझना होगा अर्थात् जहाँ-जहाँ भी भगवान् श्रीविष्णुके माहात्म्यका वर्णन होगा, उससे उनकी कृपाका ही प्रदर्शन किया जायेगा॥२-५॥

शक्रञ्च तस्य माहात्म्यं कीर्तयन्तं मुहुर्मुहुः।
स्वस्मिन् कृतोपकारांश्च वर्णयन्तं महामुदा॥६॥
सहस्रनयनैरश्रुधारा वर्षन्तमासने।
स्वीये निषण्णं तत्पार्श्वे राजन्तं स्वविभूतिभिः॥७॥

श्लोकानुवाद—देवराज इन्द्र भगवान्के समीप स्थित आसन पर अपनी विभूतियाँ अर्थात् छत्र-चामरादि सहित विराजमान थे तथा बार-बार उनके (भगवान्के) माहात्म्यका कीर्त्तन कर रहे थे। उनके द्वारा किये गये सभी उपकारोंका वर्णन करते-करते अत्यन्त आनन्दपूर्वक हजारों नेत्रोंसे अश्रुधारा बहा रहे थे॥६-७॥

दिग्दर्शिनी टीका—शक्रञ्चैक्षत; तस्य विष्णोर्माहात्म्यं भक्तवात्सल्यादिकं स्वस्मिन् शक्रे विषये कृतानुपकारान् बलि गृहीतत्रैलोक्यैश्वर्यनिष्पादनादीन् वर्णयन्तम्। अतएवानन्दाश्रुधारा वर्षन्तम्; तस्य विष्णोः पार्श्वे स्वीये ऐन्द्रे आसने निषण्णमासीनम्; स्वविभूतिभिः छत्रचामरालङ्कार वाहनादिभिः शोभमानम्॥६-७॥

भावानुवाद—उसके उपरान्त श्रीनारदने इन्द्रके भी दर्शन किये। इन्द्र अपने प्रति श्रीविष्णुके भक्त-वात्सल्य आदि माहात्म्यका कीर्त्तन कर रहे थे। अर्थात् भगवान् द्वारा महाराज बलिसे त्रिलोकके राज्यको ग्रहण करके उसको (इन्द्रको) अर्पण करना इत्यादि सभी उपकारोंका वर्णन करते-करते हजारों नेत्रोंसे आनन्दपूर्वक अश्रुधारा बहा रहे थे। वे देवराज इन्द्र श्रीविष्णुके समीप अपने ऐन्द्र नामक आसन पर विराजमान थे तथा स्व-विभूति अर्थात् छत्र, चामर, अलंकार, वाहन आदि द्वारा शोभायमान थे॥६-७॥

अथ विष्णुं निजावासे गच्छन्तमनुगम्य तम्।
सभायामागतं शक्रमाशस्योवाच नारदः॥८॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद जब श्रीविष्णु अपने निवास स्थान पर जाने लगे, तब देवराज इन्द्रने उनका अनुगमन किया। जब इन्द्र अपनी सभामें लौट आये, तब देवर्षि श्रीनारद उनको आशीर्वाद देते हुए इस प्रकार कहने लगे॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं तादृश महाभाग्यवन्तं शक्रं सभायामागतं सन्तमुवाच, विष्णोः साक्षात् तत् प्रस्तावस्या योग्यत्वात्। आशस्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य॥८॥

भावानुवाद—भाग्यवान् देवराज इन्द्रको सभामें लौटे देखकर श्रीनारदने कहना आरम्भ किया। श्रीविष्णुके साक्षात् उपस्थित होनेके कारण श्रीनारदने उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी आलोचना करना

अनुचित जानकर पहले कुछ भी नहीं कहा। अब उनके चले जाने पर इन्द्रको आशीर्वाद देते हुए कहने लगे॥८॥

श्रीनारद उवाच—

कृतानुकम्पितस्त्वं यत् सूर्यचन्द्रयमादयः।
तवाज्ञाकारिणः सर्वे लोकपालाः परे किमु॥९॥
मुनयोऽस्मादृशो वश्याः श्रुतयस्त्वां स्तुवन्ति हि।
जगदीशतया यत्त्वं धर्माधर्मफलप्रदः॥१०॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे देवराज! आप भगवान् श्रीविष्णुके कृपापात्र हैं, क्योंकि जब सूर्य, चन्द्रमा तथा यम आदि लोकपाल आपके आज्ञाकारी हैं तब वसु आदि भी आपके आज्ञाकारी होंगे, इस सम्बन्धमें अधिक क्या कहूँ? अधिक क्या, मेरे जैसे सभी मुनि भी आपके वशीभूत हैं। श्रुतियाँ आपको जगदीश्वर कहकर आपकी स्तुति करती हैं, क्योंकि आप ही धर्म और अधर्मके फलको प्रदान करनेवाले हैं॥९-१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद् यस्मात्; परे वसुमरुद्रुद्रगणादयस्तवाज्ञाकारिणः इति किं वक्तव्यमित्यर्थः। श्रुतयश्च ऐन्द्रयस्त्वां जगदीशतया स्तुवन्ति; तच्चोचितमेवेत्याह-यदिति, यद् यस्मात् त्वं धर्मस्याधर्मस्य च फलं स्वर्ग-नरक भोगादिकं प्रददासीत्यर्थः॥९-१०॥

भावानुवाद—हे देवराज! आप श्रीविष्णुके कृपापात्र हैं, क्योंकि जब चन्द्र और सूर्य आदि सभी लोकपाल आपके आज्ञाकारी हैं, तब वसु-रुद्रादि भी आपके आज्ञाकारी होंगे, इस विषयमें तो कहना ही क्या? ऐन्द्री (इन्द्र सम्बन्धी) सभी श्रुतियाँ अर्थात् कर्मकाण्ड प्रतिपादक श्रुति-शाखाविशेष आपको जगदीश्वर कहकर स्तव करती हैं, क्योंकि आप ही धर्म-अधर्मके फलदाता हैं। अर्थात् धर्मका फल स्वर्ग भोग और अधर्मका फल नरक भोगादि आप ही प्रदान करते हैं। अतएव आपके उद्देश्यसे ही उन श्रुतियोंमें उस प्रकारके स्तव आदि वर्णित हैं॥९-१०॥

अहो नारायणो भ्राता कनीयान् यस्य सोदरः।
सद्धर्मं मानयन् यस्य विदधात्यादरं सदा॥११॥

श्लोकानुवाद—अहो! श्रीनारायण आपके छोटे भाई हैं और सद्धर्मका पालन करते हुए अपने ज्येष्ठ भ्राता आपका यथायोग्य सम्मान करते हैं॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो जगदीशता नाम सर्वलोकेश्वरत्वं तस्याः का कथा? प्रपञ्चातीतेऽपि तवैश्वर्यं सम्पन्नमिवेत्याशयेनाह—अहो इति आश्चर्ये। नारायणः सर्वजीवेश्वरेश्वरो यस्य भ्राता, तत्र च सहोदरः, तत्रापि कनीयान्; अतः सतां धर्मं कनिष्ठै जेष्ठानां सम्मानः कार्य इत्यादिरूपं सदाचारं मानयन् प्रवर्त्तयन्; यस्य आदरं वाक् प्रति-पालनादिना गौरवं करोति स त्वमिति पूर्वेणैवान्वयः॥११॥

भावानुवाद—अहो! आपकी जगदीश्वरता और सर्वलोकेश्वरताकी बात क्या कहूँ? आप प्रपञ्चातीत ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, इसे कहनेके लिए ही 'अहो' इत्यादि पद कह रहे हैं। कितने आश्चर्यकी बात है! सभी जीवोंके ईश्वर स्वयं श्रीनारायण आपके छोटे भाई हैं तथा कनिष्ठ होकर ज्येष्ठके प्रति सम्मान इत्यादि सदाचारके पालनमें अर्थात् ज्येष्ठ भ्राताके प्रति कनिष्ठ भ्राताका जिस प्रकारसे सम्मान प्रदर्शन और सदाचार पालन करना कर्त्तव्य है, श्रीनारायण स्वयं ही उस आचरणका पालन करके आपके प्रति ऐसे सद्व्यवहारका प्रवर्त्तन कर रहे हैं। किस प्रकार? आदर, सम्मान, आदेश-पालन आदि द्वारा आपके प्रति सदा गौरव प्रकाश कर रहे हैं॥११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इत्थमिन्द्रस्य सौभाग्यवैभवं कीर्त्तयन्मुहुः।
देवर्षिर्वादयन् वीणां श्लाघमानो ननर्त्त तम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—इस प्रकार श्रीनारद देवराज इन्द्रके सौभाग्य-वैभवका बार-बार कीर्त्तन करते-करते वीणा बजाने लगे और उनको भगवान्‌का कृपापात्र कहकर प्रशंसा करते-करते नृत्य करने लगे॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमिन्द्रं श्लाघमानः देवा एव दयापात्रमित्यादिकायाः सार्वभौमोक्तेः अर्थनिर्वचनेन प्रशंसन्॥१२॥

भावानुवाद—'श्लाघमानः' शब्दका अर्थ है प्रशंसाके योग्य अर्थात् इन्द्रको उपलक्ष्य करके 'देवता भी श्रीविष्णुके दया-पात्र हैं' इत्यादि

प्रकारसे प्रशंसा; सार्वभौम राजा द्वारा कथित वचनोंके अनुसार श्रीनारद इन्द्रके सौभाग्य-वैभवका वर्णन करने लगे॥१२॥

ततोऽभिवाद्य देवर्षिमुवाचेन्द्रः शनैर्ह्रिया।
भो गान्धर्वकलाभिज्ञ किं मामुपहसन्नसि॥१३॥

श्लोकानुवाद—तब देवराज इन्द्रने देवर्षि श्रीनारदको प्रणाम किया और लज्जित होकर धीमे स्वरसे कहने लगे—हे गान्धर्वकलामें निपुण! क्या आप मेरा उपहास कर रहे हैं?॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—गान्धर्वकलाया अभिज्ञेषु मिथ्यास्तुतिपरोपहासादिकं नासम्भावित-मित्यभिप्रायेण तथा सम्बोधनम्॥१३॥

भावानुवाद—गान्धर्वकलाभिज्ञ अर्थात् संगीतविद्यामें निपुण। परन्तु यहाँ श्लेषार्थमें गान्धर्वकलामें निपुण व्यक्तियों द्वारा दूसरोंकी मिथ्या स्तुति अथवा उपहास आदि करना असम्भव नहीं है, इसी अभिप्रायसे ही यह सम्बोधन किया गया है॥१३॥

अस्य न स्वर्गराज्यस्य वृत्तं वेत्सि त्वमेव किम्।
कति वारानितो दैत्यभीत्यास्माभिर्न निर्गतम्॥१४॥

श्लोकानुवाद—क्या आप इस स्वर्गलोकका वृत्तान्त नहीं जानते? क्या हमलोग दैत्योंके भयसे इस स्वर्गलोकको छोड़कर न जाने कितनी बार भाग नहीं गये थे?॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु नैषा स्तुतिर्नचायमुपहासोऽपीति चेत्तत्राह—अस्येति। त्वमपि न वेत्सि किम्। अपि तु जानास्येवेत्यर्थः; तदेवाह—कतीति। इतः स्वर्गात् कति वारान् न निर्गतं नापसृतम्, अपि तु बहुशः पलाय तपस्व्यादिवेशेनाच्छन्नैर्भूत्वा मर्त्त्यलोकादौ निभृतमुषितमस्तीत्यर्थः; अनेन स्वर्गे वसन्ति ये इत्युक्तो मर्त्त्यलोकात् स्वर्गस्योत्कर्षो निराकृतः, स्वर्गेऽपि मुहुरुपद्रवभरोत्पत्तेः; तथा 'स्वच्छन्दाचारगतयः' इत्युक्तः स्वर्गिणामप्युत्कर्षो निरस्तः॥१४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि यह मिथ्या स्तुति या उपहास नहीं है परन्तु सत्य है, तब श्रवण कीजिए—क्या आप इस स्वर्गराज्यकी बातको नहीं जानते हैं? अर्थात् सबकुछ जानते हैं। क्या हमलोग दैत्योंके भयसे न जाने कितनी बार इस स्वर्गराज्यसे विताड़ित नहीं

हुए हैं? अर्थात् मैंने बहुत बार यहाँसे भागके, गुप्तरूपसे तपस्वी वेश धारणकर मर्त्यलोकमें वास किया है। इस उक्तिके द्वारा मर्त्यलोकसे स्वर्गलोकका उत्कर्ष खण्डन किया गया है, क्योंकि स्वर्गमें भी बारम्बार दैत्योंका उपद्रव होता रहता है। इसलिए स्वर्गवासियोंका भी 'स्वच्छन्दविहार और स्वच्छन्दगति' इत्यादि उत्कर्ष निरस्त होता है॥१४॥

आचरन् बलिरिन्द्रत्वमसुरानेव सर्वतः।
सूर्येन्द्राद्यधिकारेषु न्ययुङ्क्त क्रतुभागभुक्॥१५॥

श्लोकानुवाद—दैत्यराज बलिने इन्द्र पदको प्राप्त करके, असुरोंको ही सब प्रकारसे सूर्य, चन्द्रादिके अधिकारमें नियुक्त किया और हम सबको वञ्चित करके उन्होंने स्वयं ही सभी यज्ञ-भागको ग्रहण किया॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—'सूर्यादयो लोकपालास्तवाज्ञाकारिणः' इति यदुक्तं, तत् परिहरति—आचरन्निति, मम सूर्यादीनां चाधिकारविघ्नेन कुतस्तेषां लोकपालकत्वमहिमा? कुतो वा तदाज्ञापालकत्वेन मम महामहिमास्तीत्यर्थः; क्रतुभागभूगित्यनेन बलिरेव यज्ञानां भागान् भुङ्क्ते, वयं क्षुत्तृड़ादि पीड़िता मृता इवेत्यर्थः; एतेन च 'येषां हि भोग्यममृतम्' इत्यादिकं निरस्तम्॥१५॥

भावानुवाद—अब इन्द्र श्रीनारदकी उक्ति 'सूर्यादि सभी लोकपाल आपके आज्ञाकारी हैं' का खण्डन कर रहे हैं। मेरे और सूर्य आदिके अधिकारोंके छीन लिये जाने पर मेरे अधीन रहनेवाले उन लोक-पालकोंकी महिमा ही कहाँ रही? और वे यदि मेरे आज्ञाकारी भी हैं, तथापि मेरी ही क्या महिमा है? जब दैत्यराज बलि यज्ञभाग ग्रहण करते थे, तब हम उस यज्ञभागसे वञ्चित होकर भूख-प्याससे पीड़ित होकर मृतप्राय हो जाते थे। इस वाक्यके द्वारा देवताओंको तृप्त करनेवाले अमृतकी महिमाका भी खण्डन हुआ हैं॥१५॥

ततो नस्तातमातृभ्यां तपोभिर्विततैर्दृढैः।
तोषितोऽप्यंशमात्रेण गतो भ्रातृत्वमच्युतः॥१६॥

श्लोकानुवाद—दुःखोंको भोगनेके बाद जब मेरे माता-पिताने दीर्घकाल तक कठोर तपस्या की, तब उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर

भगवान् श्रीअच्युतने अपने अंश-स्वरूपके द्वारा ही मेरा भाई होना स्वीकार किया॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तादृश दुःखानन्तरं विततैरतिदृढ़ैरिति कालविलम्बं तयोरपि परमदुःखं सूचयति। अंशमात्रेणेत्य-समग्रत्वान्नारायणो भ्रातेति निराकृतमिव॥१६॥

भावानुवाद—उसके बाद 'वैसे दुःखोंको भोगनेके बाद भी सुदीर्घकाल तक कठोर तपस्याके फलस्वरूप' इस वाक्यके द्वारा बहुत लम्बे समय तक देवताओंको परमःदुख प्राप्त हुआ, ऐसा सूचित हो रहा है। और 'विष्णु अंशमात्र द्वारा—समग्ररूपसे नहीं' इस वाक्यके द्वारा 'स्वयं नारायण तुम्हारे कनिष्ठ भाई हैं' श्रीनारदके इस वचनका भी खण्डन होता है॥१६॥

तथाप्यहत्वा तान् शत्रून् केवलं नस्त्रपाकृता।
मायायाचनयादाय बले राज्यं ददौ स मे॥१७॥

श्लोकानुवाद—मेरे भाई होकर भी उन्होंने मेरे शत्रुओंका विनाश नहीं किया, बल्कि छलपूर्वक बलिसे राज्य भिक्षाकर मुझे प्रदान किया है। हम देवताओंके लिए यह अत्यन्त लज्जाका विषय है॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—नोऽस्माकं देवजातीनां त्रपां करोतीति त्रपाकृत् तया कपटयाच्ञया; प्रथमं वामनरूपेण स्वपाद-परिमित-पदत्रयभूमिं भिक्षित्वा पश्चान्महारूपमार्विभाव्य त्रैलोक्याक्रमणात्। बलेः सकाशादादाय स्वर्गराज्यं मह्यं सोऽच्युतो ददौ; इथ्यं राज्यलाभेऽप्यधुना न सुखं, लज्जाकरत्वात्॥१७॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने कपटतापूर्वक राजा बलिसे स्वर्गराज्यको भिक्षा करके हमें अर्पित किया है। हम देवताओंके लिए यह लज्जाका विषय है। किस प्रकार? उन्होंने मुझे अपना भाई स्वीकार करके भी मेरे शत्रुओंका विनाश नहीं किया, बल्कि पहले वामनरूपमें अपने चरणोंके अनुरूप तीन पग भूमिकी याचना की और फिर अद्भुत महाविराट रूप धारणकर अपने बड़े-बड़े चरणोंसे तीनों लोकोंको माप लिया। इस प्रकार छलपूर्वक उन्होंने राजा बलिसे स्वर्गराज्यको प्राप्त करके मुझे अर्पित किया। परन्तु मेरे लिए यह सुखकर न होकर लज्जाका विषय है॥१७॥

स्पर्द्धासूयादिदोषेण ब्रह्महत्यादिपापतः।
नित्यपातभयेनापि किं सुखं स्वर्गवासिनाम्॥१८॥

श्लोकानुवाद—स्वर्गमें नित्य स्पर्धा, असूया आदि नाना-प्रकारके दोष भी हैं। विशेषतः ब्रह्म-हत्या आदि पाप और नित्य पतनका भय विद्यमान रहता है। अतएव स्वर्गवासियोंको क्या सुख अनुभव होता है?॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—'पूज्यमाना नरैर्नित्यम्' इत्यादि श्लोकार्द्धद्वयेनोक्तं स्वर्गिणामुत्कर्षं निराकरोति—स्पर्द्धेति। स्पर्द्धादि सत्तया सात्त्विकत्त्वम् अपास्तम्; विश्वरूपवृत्रवधादिना देवेन्द्रस्य ब्रह्महत्यादिपापोत्पत्तेर्निष्पापत्वमपि निरस्तम्; सदा स्वर्गादधःपातभयस्य विद्यमानतया शरीरस्य तेजोमयत्वमपि नातीवादृतं स्यात्, यथोक्तमेकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/१०/२०)—*'को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके। आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥'* इति। एवं प्रायो नरैः साम्यापत्तेर्नित्यपूज्यत्वमप्येषां न सिध्यतीति गूढ़ोऽभिप्रायः॥१८॥

भावानुवाद—'देवगण मनुष्यों द्वारा नित्य पूजित होते हैं' इत्यादि पूर्व श्लोकमें कथित स्वर्गवासियोंके उत्कर्षका निराकरण करनेके लिए 'स्पर्द्धा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। स्वर्गमें स्पर्द्धा और इर्ष्या-द्वेष जैसे सभी दोष विद्यमान हैं। इसके द्वारा स्वर्गके सात्विक होनेका खण्डन हुआ है। विश्वरूप और वृत्रासुर आदि वध द्वारा इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा था, इसलिए स्वर्गवासियोंके पाप रहित होनेका भी खण्डन हुआ है। स्वर्गसे सर्वदा अधःपतनके भयके कारण स्वर्गवासियोंका 'तेजोमय शरीर' इत्यादि उत्कर्ष भी अति आदरणीय नहीं है। श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्धमें कहा गया है—"जिसकी मृत्यु समीप है, क्या उस व्यक्तिको अर्थ अथवा उससे प्राप्त होनेवाली वस्तु सन्तुष्ट कर सकती है? कदापि नहीं। जिस व्यक्तिको वधके लिए ले जाया जा रहा है, ऐसे व्यक्तिको खीर-मिठाई आदि पदार्थ क्या कभी आनन्द प्रदान कर सकते हैं? कदापि नहीं।" इस प्रकार अधिकांशतः मनुष्यके साथ देवताओंकी समानता प्रमाणित होती है। इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि देवताओंकी नित्य-पूजा इत्यादि उचित नहीं है॥१८॥

किञ्च मां प्रत्युपेन्द्रस्य विद्ध्युपेक्षां विशेषतः।
सुधर्मां पारिजातं च स्वर्गान्मर्त्त्यं निनाय सः॥१९॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीउपेन्द्रकी भी मेरे प्रति विशेषरूपसे उपेक्षा रहती है, क्योंकि उन्होंने सुधर्मा सभा और पारिजात वृक्षको इस स्वर्गसे ले जाकर मर्त्यलोकमें स्थापित कर दिया है॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—मुनेर्विशिष्टस्तत्रापीत्यादिनोक्तं देवेभ्योऽधिकमिन्द्रे भगवदनुग्रहं निरस्यति—किं चेति। स्वर्गिणां विविध-भय-दोषादि-सद्भावाल्लाघवं पर्यवस्यत्येव, तच्च भगवदुपेक्षयैव; सा चाधुना मद्वचनात्त्वया ज्ञाता; तथापरां साक्षान्मद्विषयकामेव विशेषतो विष्णोरुपेक्षां विद्धि प्रतीहीत्यर्थः। तामेवाह—सुधर्मामिति सार्द्धत्रयेण। मर्त्त्यं भूतलं; स उपेन्द्रः मर्त्त्य शब्देन मरणधर्मशीलपदेन तन्नयनमयुक्तमित्युद्दिष्टम्। एवमुपेक्षा प्रतिपादनात् परिहृतमपि नारदोक्तमन्यद् भगवत् कृपालक्षणं निरस्तमित्यूह्यम्, तस्याप्युपेक्षा-कोट्यामेव पर्यवसानात्। अन्यविषयककृपाभर दृष्टया, तुच्छतामाननाद्वा; इत्थमग्रेऽपि सर्वत्र यथायथं परिहारः कल्पनीयः; तत्र पूर्ववत् क्रमेणोपेक्षणीय एव, भक्तिस्वाभाविका-तृप्तिदुःखेन वक्तृणां तेषामिन्द्रादीनामेव तत्र तात्पर्याभावात्। इत्थं च यस्य परिहारो न वर्त्तते, यश्च परिहार्यादप्यधिकोऽर्थो भवेत्, सोऽपि सोऽपि च सोढ़व्य एव; पूर्वोक्तादतृप्तिः दुःखात्तुछतामाननाच्च, तथा प्रणय-रोषाच्चेति दिक्। अतः इतःपरं ग्रन्थविस्तारभयात् प्रायशो विस्तार्य तत्तन्न लेख्यम्॥१९॥

भावानुवाद—'हे मुनि! इन देवताओंमें भी उनके अधिपति इन्द्र ही भगवान्के विशेष कृपापात्र हैं।' इस उक्तिको निरस्त करनेके लिए 'किञ्च' इत्यादि पद कह रहे हैं। स्वर्गवासियोंमें विविध प्रकारके भय और दोष आदिकी विद्यमानता मेरी ही लघुताको प्रदर्शित करती है। अतएव मेरे प्रति भगवान् श्रीउपेन्द्रकी विशेष उपेक्षा ही लक्षित होती है, अनुग्रह नहीं। अब मेरी बातोंसे मेरे प्रति भगवान्की उपेक्षाको आप अच्छी तरह समझ रहे हैं। सुधर्मा नामक स्वर्ग-सभागृह और पारिजात वृक्ष, स्वर्गकी इन दो उत्कृष्ट वस्तुओंको वे यहाँसे मर्त्यलोकमें ले गये हैं, किन्तु मर्त्यलोकमें स्वर्गकी इन समस्त श्रेष्ठ वस्तुओंको ले जाना कहाँ तक उचित है? अर्थात् सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार श्रीवामनदेवकी उपेक्षाका प्रतिपादन करके इन्द्र श्रीनारद द्वारा कही गई भगवत्कृपाका खण्डन करते हुए कहने लगे—इस प्रकार कोटि-कोटि विषयोंमें श्रीमान् उपेन्द्रकी मेरे प्रति उपेक्षा दिखाई देती है। यद्यपि

अन्य विषयोंमें उनकी कृपाके कुछ लक्षण दिखाई देते हैं, तथापि वे अतितुच्छ हैं। इस प्रकार आगे भी श्रीनारद जिन-जिन भक्तोंसे मिलेंगे, उनके प्रति भी भगवान्‌की कृपाका अभाव मानना होगा तथा पिछले प्रसंगोंकी भाँति क्रमशः उपेक्षा ही समझनी होगी।

यदि कहो कि भक्तिमें कभी किसीको तृप्ति नहीं होती, यही भक्तिका स्वभाव है; अतएव वक्ता इन्द्र भी अतृप्तिसे उदित दुःखवशतः ऐसा कह रहे हैं। 'भक्तिमें कभी किसीको तृप्ति नहीं होती', यह बात सत्य है, परन्तु इन्द्रको अनेक प्रकारके दुःख हैं, इसलिए वे ऐसा कह रहे हैं। अतएव यहाँ पर भक्तिके स्वभाववशतः अतृप्ति नहीं है। यद्यपि किसी-किसी कृपाके लक्षणोंके अत्यन्त स्पष्ट होनेके कारण उनको नकारा नहीं किया जा सकता, तथापि देवराज इन्द्र उस कृपासे भी अतृप्त हैं और उसको तुच्छ मान रहे हैं। अथवा प्रणयरोषके (प्रेमवशतः क्रोधके) कारण आक्षेप करके ऐसा कह रहे हैं। परन्तु ग्रन्थके विस्तारके भयसे इस विषयमें विशेष नहीं लिखा जा रहा है॥१९॥

गोपालैः क्रियमाणां मे न्यहन्पूजां चिरन्तनीम्।
अखण्डं खाण्डवाख्यं मे प्रिय दाहितवान् वनम्॥२०॥

श्लोकानुवाद—उन्होंने मेरी पूजाको, जिसे गोपलोग चिरकालसे करते थे, बन्द करवा दिया है और मेरे अत्यधिक प्रिय विशाल खाण्डव वनको भी जलाकर राख करवा दिया है॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपालैः श्रीनन्दाद्यैः न्यहन् नितरां नाशितवान्, तद्द्रव्यैश्च श्रीगोवर्द्धन पूजा प्रवर्त्तनात्। चिरन्तनीं चिरकालीनां दाहितवान् अर्जुनेन; तं च स्वपुत्रतया निर्दिशति॥२०॥

भावानुवाद—श्रीनन्द आदि सभी गोपगण चिरकालसे मेरी जो पूजा करते थे, उसे श्रीकृष्णने ही बन्द करवाकर उन्हीं पूजोपचारों द्वारा श्रीगोवर्धनकी पूजाका प्रवर्त्तन किया है और उन्होंने मेरे विशाल खाण्डव वनको भी दग्ध करवा दिया है। वास्तवमें अर्जुनने ही उस वनको दग्ध किया था परन्तु वे इन्द्रके पुत्र हैं, इसलिए खाण्डव

वनको जलानेके प्रसंगमें इन्द्रने स्पष्टरूपसे उनका (अर्जुनका) नाम उल्लेख नहीं किया॥२०॥

त्रैलोक्यग्रासकृद् वृत्रवधार्थं प्रार्थितः पुरा।
औदासीन्यं भजंस्तत्र प्रेरयामास मां परम्॥२१॥

श्लोकानुवाद—पूर्व कालमें जब मैंने त्रिलोक ग्रासकारी वृत्रासुरका वध करनेके लिए भगवान्‌से प्रार्थना की थी, उस समय भी भगवान्‌ने उस विषयमें उदासीन रहकर मुझको ही इस कार्यके लिए प्रेरित किया था॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुरेत्यनेन सुधर्मानयनादिकं संप्रतीति ध्वनितम्। परं केवलं मामेव प्रवर्त्तायामास; न तु स्वयं तत्र किञ्चित् साहाय्यमकरोदित्यर्थः॥२१॥

भावानुवाद—पूर्व कालमें वे सुधर्मा सभा आदिको पृथ्वी पर ले गये तथा वृत्रासुरके वधके लिए भी मुझे ही प्रेरित किया, स्वयं उन्होंने थोड़ीसी भी मदद नहीं की॥२१॥

उत्साद्य मामवज्ञाय मदीयाममरावतीम्।
सर्वोपरि स्वभवनं रचयामास नूतनम्॥२२॥

श्लोकानुवाद—उन्होंने मेरी अवज्ञा करके मेरी अमरावतीको श्रीहीन कर दिया तथा सब लोकोंसे ऊपर अपने एक नवीन भवनकी रचना की है॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अमरावतीमिन्द्रपुरीमुत्साद्य भुक्त्वा सर्वोपरीति ब्रह्मलोकोपरि रचितत्वात्। स्वभवनं रमाप्रियं नाम वैकुण्ठम्; तच्च ब्रह्माण्डान्तर एव बोद्धव्यम्। अतएव प्रपञ्चातीत-सच्चिदानन्दघनवैकुण्ठापेक्षया नूतनम्, एतच्च हरिवंशे पारिजात हरणप्रसङ्गे—'*इदं भङ्क्त्वा मदीयञ्च भगवान् विष्णुना कृतम्। उपर्युपरि लोकानामधिकं भुवनं मुने॥*' इति। सप्तमतलमन्वन्तरीणपुरन्दरनामेन्द्रेण यदुक्तं, तदनुसारेण यच्चाष्टमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ८/५/४-५) पञ्चममन्वन्तरकथने '*पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः। तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्॥ वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः। रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया॥*' इति, तच्च कल्पभेद व्यवस्थयेति मन्तव्यम्। यद्वा, पूर्वं पञ्चममन्वन्तरे कल्पनामात्रम्, इदानीं त्वधिकतया सम्यङ् निर्माणमित्यविरोधः॥२२॥

भावानुवाद—श्रीउपेन्द्रने मेरी अमरावती पुरीको उजाड़कर सब लोकोंसे ऊपर (ब्रह्मलोकसे भी ऊपर) रमाप्रिय नामक वैकुण्ठके रूपमें अपने लिए एक नवीन भवनका निर्माण किया है। यह वैकुण्ठ ब्रह्माण्डके अन्तर्गत है। इसलिए इसको प्रपञ्चातीत सच्चिदानन्दघन वैकुण्ठकी तुलनामें न्यून समझना होगा। इस विषयमें हरिवंश नामक ग्रन्थके पारिजातहरणके प्रसंगमें कहा गया है, यथा—"हे मुने! मेरी इस अमरावती पुरीको उजाड़कर भगवान् श्रीविष्णुने सब लोकोंसे ऊपर प्रपञ्च अन्तर्वर्ती वैकुण्ठमें अपने एक नये भवनकी रचना की।" श्रीमद्भागवतमें सप्तम मन्वन्तरके पुरन्दर नामक इन्द्र द्वारा इस प्रकार (पञ्चम् मन्वन्तरकी कथामें) कहा गया है—"शुभ्रनामक पिता तथा विकुंठा नामक मातासे वैकुण्ठ नामक देवताओंके साथ आविर्भूत होकर भगवान् स्वयं भी 'वैकुण्ठ' नामसे प्रसिद्ध हुए थे। भगवान् वैकुण्ठने रमादेवीकी प्रार्थनासे उनकी प्रीतिके लिए सब लोकोंसे श्रेष्ठ इस वैकुण्ठकी रचना की थी।" इत्यादि प्रमाण कल्पभेदसे प्रस्तुत किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। अथवा पूर्वकल्पीय पञ्चम मन्वन्तरमें कल्पना मात्र की गयी थी, अब उसकी तुलनामें अधिक ऐश्वर्य प्रकाश होनेके कारण सम्पूर्णरूपसे 'निर्माण हुआ', ऐसा कहनेसे भी दोनों वचनोंमें किसी प्रकारका विरोध उपस्थित नहीं होता॥२२॥

आराधनबलात् पित्रोराग्रहाच्च पुरोधसः।
पूजां स्वीकृत्य नः सद्यो यात्यदृश्यं निजं पदम्॥२३॥

श्लोकानुवाद—वे भगवान् मेरे माता-पिताकी तपस्याके प्रभावसे तथा गुरुदेव बृहस्पतिजीके अत्यधिक आग्रहसे बाध्य होकर मेरी पूजा स्वीकार तो करते हैं, परन्तु शीघ्र ही अपने अदृश्य भवनको चले जाते हैं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु समुद्रकोटिगम्भीराशयो दुर्वितर्क्यलीलोऽसौ परदुःख-कातरोऽनुकम्पयैव सर्वं करोतीति मन्यतामिति चेत् सत्यं, किन्तु यदि प्रसन्नो भूत्वा नित्यमसौ स्वयं साक्षात् सम्भूयास्मत्-पूजां स्वीकुर्यात्, तदा तत्तत् सर्वमपि वयं सोढुं शक्नुमः, तद्दूरेऽस्तु दर्शनमपि तस्य न नित्यं प्राप्नुम इत्याशयेनाह-आराधनेति सप्तभिः। पित्रोरिति अस्मदीय पितृभ्यां पूर्वजन्मन्यधुनापि यत् कृतं क्रियमाणञ्च

तस्याराधनं तस्यैव प्रभावेणेत्यर्थः। पुरोधसोः बृहस्पतेः; अतो नास्मद्–विषयक–कारुण्यादिति भावः। अनेन 'साक्षात् स्वीकुरुते पूजाम्' इति यदुक्तं, तत् परिहृतं; नोऽस्माकम् अस्मत् कृतामित्यर्थः। अदृश्यम् अस्माभिर्द्रष्टुमशक्यं पदं; यद्वा, अदृश्यम् यथास्यात्तथा याति॥२३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि करोड़ों–करोड़ों समुद्रोंसे भी गम्भीर और दुर्वितर्क्य लीलामय भगवान् दूसरोंके दुखसे कातर होकर समस्त कार्य करते हैं, तुम यही समझो और यह सत्य भी है। किन्तु, यदि वे प्रसन्न होकर स्वयं नित्यप्रति साक्षात्‌रूपसे मेरे द्वारा की गयी पूजा स्वीकार करते, तब मैं भी सब प्रकारके दुःखोंको सहन करनेमें सक्षम होता। परन्तु वैसा सौभाग्य तो दूर रहे, उनका दर्शन भी सदैव प्राप्त नहीं होता, इन सब कारणोंसे कहते हैं—'आराधनबलात्' इत्यादि। मेरे माता–पिताके पूर्वजन्म और वर्त्तमान जन्ममें की गयी आराधनाके प्रभावसे तथा पुरोहित श्रीबृहस्पतिके आग्रहवशतः वे मेरी पूजा तो स्वीकार करते हैं, परन्तु मेरे प्रति करुणा करके नहीं। इसके द्वारा 'साक्षात् इन्द्र द्वारा की गयी पूजा ग्रहण करते हैं'—यह उक्ति भी खण्डित हुई। मेरे द्वारा की गयी पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् शीघ्र ही वे अपने अदृश्य धामको गमन करते हैं। अतएव मुझमें उनके दर्शन करनेकी भी शक्ति नहीं है, अथवा अदृश्य भावसे ही वे अपने धामको गमन करते हैं॥२३॥

पुनः सत्वरमागत्य स्वार्घ्यस्वीकरणाद्वयम्।
अनुग्राह्यास्त्वयेत्युक्तोऽस्मानादिशति वञ्चयन्॥२४॥
यावन्नाहं समायामि तावद्ब्रह्मा शिवोऽथवा।
भवद्भिः पूजनीयोऽत्र मत्तो भिन्नौ न तौ यतः॥२५॥
एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा विष्णु–रुद्र–पितामहाः।
इत्यादि शास्त्रवचनं भवद्भिर्विस्मृतं किमु॥२६॥

श्लोकानुवाद—पुनः प्रभु शीघ्र ही आकर मेरे द्वारा प्रस्तुत अर्घ्य आदि पूजाको स्वीकार तो करते हैं, किन्तु जब हमलोग उनसे प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! हमलोग आपके कृपापात्र हैं, तब वे हमें वञ्चना करनेके अभिप्रायसे कहते हैं कि 'जब तक मैं यहाँ आगमन

नहीं करता हूँ, तब तक तुमलोग ब्रह्मा अथवा शिवकी पूजा करना, क्योंकि वे मुझसे भिन्न नहीं हैं। विष्णु, रुद्र और पितामह (ब्रह्मा), ये तीनों देवता एक ही मूर्त्ति हैं, क्या तुम इन शास्त्र वचनोंको भूल गये हो?'॥२४–२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—वञ्चयन्नित्यस्यायमभिप्रायः; अनन्यगतिकेभ्योऽस्मभ्यं श्रीविष्णु-पादपद्मद्वयं विना नान्यदुपास्यं रोचते इति स्वयमसौ जानात्येव; तथापि 'एकमूर्त्तिस्त्रयो देवाः' इति शास्त्रवचन निर्दशनेन यदन्यपूजायामस्मान् प्रवर्त्तयति, सा तस्य केवलं वञ्चनैवेति, अतएव भगवद्वचनादरेण कदाचित् स्वर्गे श्रीरुद्रपूजोत्सवोऽपि पारिजात हरणादि प्रसङ्गे श्रूयते॥२४–२६॥

भावानुवाद—भगवान् हमें वञ्चित करनेके लिए ही ऐसा आदेश देते हैं कि, "जब तक मैं पुनः आगमन नहीं करता, तब तक तुमलोग ब्रह्मा अथवा शिवकी पूजा करना, क्योंकि वे मुझसे भिन्न नहीं हैं।" किन्तु हम अनन्यगति हैं अर्थात् श्रीविष्णुके चरणकमलोंके अतिरिक्त हमारी अन्य किसी उपास्यमें रुचि नहीं है, तथापि "विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा ये तीनों देवता एक ही मूर्त्ति हैं" इत्यादि शास्त्रवचनोंका प्रमाण देकर हमें ब्रह्मा और शिवकी पूजामें प्रवर्तित करते हैं। यह केवल हमारी वञ्चना मात्र है। अतएव भगवान्के वचनोंके आदरके लिए कभी-कभी स्वर्गमें रुद्र पूजाका उत्सव भी होता है। पारिजात-हरणके प्रसंगमें स्वर्गमें जो रुद्र-पूजोत्सवकी बात सुनी जाती है, वह भी इसी प्रकार ही सम्पन्न हुई थी, ऐसा समझना चाहिए॥२४–२६॥

वासोऽस्यानियतोऽस्माभिरगम्यो मुनिदुर्लभः।
वैकुण्ठे ध्रुवलोके च क्षीराब्धौ च कदाचन॥२७॥

श्लोकानुवाद—अतएव उनका निवास स्थान भी अनिश्चित है। मुनियोंके लिए भी दुर्लभ उनका वासस्थान हमारे लिए सर्वथा अगम्य है। वे कभी तो वैकुण्ठमें, कभी ध्रुवलोकमें और कभी-कभी क्षीरसागरके बीच श्वेतद्वीपमें वास करते हैं॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं चेत्तस्य पार्श्व एव भवद्भिर्गम्यतां तत्राह—वास इति सार्द्धद्वयेन। यतो मुनिभिरात्मारामैरपि दुर्लभः। अनियतत्वमेवाह—वैकुण्ठे प्रपञ्चातीते ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ति रमाप्रियसंज्ञके वा ध्रुवलोके विष्णुपदेतिख्याते; क्षीराब्धौ श्वेतद्वीपे॥२७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि अनन्य गति होनेके कारण रुद्र इत्यादिकी पूजा न करके भगवान्‌के समीप जाना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। इसके उत्तरमें 'वासो' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें कह रहे हैं—उनका वासस्थान भी अनिश्चित है। हमारा तो कहना ही क्या, वह वासस्थान आत्माराम मुनियोंके लिए भी दुर्लभ है। कभी तो वे प्रपञ्चातीत वैकुण्ठमें, कभी प्रपञ्चान्तर्वर्ती रमाप्रिय नामक वैकुण्ठलोकमें, कभी ध्रुवलोकमें और कभी क्षीरसागरके बीच श्वेतद्वीपमें वास करते हैं। वे कब और कहाँ रहते हैं—हमलोग समझ ही नहीं पाते हैं॥२७॥

सम्प्रति द्वारकायाञ्च तत्रापि नियमोऽस्ति न।
कदाचित् पाण्डवागारे मथुरायां कदाचन॥२८॥
पुर्यां कदाचित्तत्रापि गोकुले च वनाद्वने।
इत्थं तस्यावलोकोऽपि दुर्ल्लभो नः कुतः कृपा॥२९॥

श्लोकानुवाद—इस समय श्रीभगवान् द्वारकामें वास कर रहे हैं, किन्तु वहाँ भी कोई नियम नहीं है। कभी तो वे पाण्डवोंके यहाँ और कभी मथुरामें वास करते हैं। मथुरामें निवास करते समय भी कभी तो मधुपुरी और कभी गोकुलमें वास करते हैं। गोकुलमें वास करते समय भी एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार उनका दर्शन ही दुर्लभ है। अतएव हमारे प्रति उनकी कृपा ही कहाँ है?॥२८-२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्विदानीं परम प्रकटतया पृथिव्यामवतीर्णत्वात् सुलभ एव इत्याशङ्क्याह—सम्प्रतीति। तत्र पृथिव्यामपि वासनियमो नास्ति; यतः कदाचिद् द्वारकायां, कदाचित् पाण्डवानां गृहे तेषां दर्शनाद्यर्थमिन्द्रप्रस्थादावित्यर्थः। ततः पूर्वं च मथुरायाम्; तत्र तस्यामपि मथुरायां पुर्यां तत्रत्यपुरे, तत्पूर्वमपि गोकुले, तत्र च बृहद्वनादेः सकाशाद् वृन्दावनादौ कदाचित् कस्मिंश्चिद् वन इत्यर्थः। यद्वा, तत्र द्वारकायां वासेऽपि नियमो नास्ति, यतः कदाचित् पाण्डवागारे कदाचिन्मथुरायाम्। तदुक्तं प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/११/९) आनर्त्तदेशीयैः—*'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरुन् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।'* इति। मथुरायामपि कदाचिन्मधुपुर्यां कदाचिद् गोकुले च तत्रापि च वनाद् वन इत्येवं दृश्ये सत्यपि अनियतत्वात् परमरहस्यत्वाच्चास्माभि-रगम्यमेवेति भावः। इत्थमुक्तप्रकारेण तद्दर्शनमप्यस्माभिर्यथासुखं न प्राप्यते, कुतोऽस्मान् प्रति तत्कृपा स्यादित्यर्थः॥२८-२९॥

भावानुवाद—यदि कहो कि इस समय तो वे प्रकट रूपमें पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं, इसलिए उनके दर्शन सुलभ हैं। इसी आशंकासे 'सम्प्रति' इत्यादि पद कह रहे हैं। पृथ्वी पर भी उनका निवास स्थान अनिश्चित है, क्योंकि कभी तो वे द्वारकामें वास करते हैं और कभी पाण्डवोंके यहाँ वास करते हैं। यदि कहो कि तब तो उनके दर्शनोंके लिए इन्द्रप्रस्थ जाना ही कर्त्तव्य है? इसके उत्तरमें कहते हैं—हे देवर्षि! वहाँ पर भी उनके निवासमें स्थिरता नहीं है। उससे पहले वे मथुरामें वास करते थे। मथुरामण्डलमें वास करते समय भी कभी तो मधुपुरीमें और कभी गोकुलमें वास करते। गोकुलमें भी उनके वासकी स्थिरता नहीं थी, एक वनसे दूसरे वनमें अर्थात् कभी बृहद्वनसे वृन्दावन और फिर वृन्दावनसे किसी अन्य वनमें भ्रमण करते रहते थे। इसलिए मैंने पहले ही कहा है कि द्वारकामें भी उनका वास स्थिर नहीं है। कभी तो पाण्डवोंके घरमें और कभी मधुपुरीमें, इस विषयमें प्रथम-स्कन्धमें कहा गया है—(द्वारकावासियोंकी उक्ति) "हे कमललोचन! आप सुहृदजनोंसे मिलनेके लिए हस्तिनापुर अथवा मथुरा गए।" वृन्दावनके वन-वनमें जो उनका भ्रमण है, वह परम रहस्यमय होनेके कारण हमारे लिए अगम्य है। इस प्रकार उनके दर्शन भी हमारे लिए परम दुर्लभ हैं। यह कोई सुखका विषय नहीं है। अतएव हमारे प्रति उनकी कृपा कहाँ है?॥२८-२९॥

परमेष्ठिसुतश्रेष्ठ! किन्तु स्वपितरं हरेः।
अनुग्रहपदं विद्धि लक्ष्मीकान्तसुतो हि सः॥३०॥

श्लोकानुवाद—हे श्रेष्ठ ब्रह्मापुत्र श्रीनारद! आप अपने पिता श्रीब्रह्माको ही श्रीहरिका कृपापात्र जानना, क्योंकि वे साक्षात् श्रीलक्ष्मीकान्त भगवान्के पुत्र हैं॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे परमेष्ठिनः सुतेषु श्रेष्ठः! श्रीनारद! यद्यपि जैष्ठ्येन सनकादीनामेव श्रैष्ठ्यमुचितं; तथापि भगवद्भक्तिविशेषेणास्य। तदुक्तम्। हि यस्मात्; स तत्पिता; लक्ष्मीकान्तस्य तस्यैव सुतः; यद्यपि भगवन्नाभिपद्मादेव ब्रह्मा जातः, न तु लक्ष्मीगर्भतः, तथापि तस्य पुत्रत्वेन तस्या अपि पुत्र एव; एतच्च ब्रह्मणो निःशेष-सम्पत्-सत्ता-बोधनार्थम्॥३०॥

भावानुवाद—हे परमेष्ठिपुत्रवर श्रीनारद! (यद्यपि श्रीब्रह्माके ज्येष्ठपुत्र होनेके कारण श्रीसनकादिकी ही श्रेष्ठता अभिप्रेत होती है, तथापि उनकी तुलनामें श्रीनारदमें भगवद्भक्ति विशेषरूपसे अभिव्यक्त हुई है, इसलिए श्रीनारदको श्रेष्ठ कहा गया है।) आपके पिता परमेष्ठी श्रीब्रह्मा श्रीलक्ष्मीकान्त भगवान्के पुत्र हैं। यद्यपि भगवान् श्रीनारायणके नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है, श्रीलक्ष्मीके गर्भसे नहीं, तथापि वे श्रीनारायणके पुत्र होनेके कारण श्रीलक्ष्मीके भी पुत्र ही हुए। अतएव हे देवर्षि! आप अपने पिता श्रीब्रह्माको ही श्रीहरिका कृपापात्र समझना और 'लक्ष्मीकान्तसुत' पद भी श्रीलक्ष्मीके सम्बन्धसे ब्रह्माजीकी समस्त सम्पत्ति सत्ताको बोधगम्य बनानेके लिए प्रयोग किया गया है॥३०॥

यस्यैकस्मिन् दिने शक्रा मादृशाः स्युश्चतुर्दश।
मन्वादियुक्ता यस्याश्च चतुर्युगसहस्रकम्॥३१॥
निशा च तावतीत्थं याहोरात्राणां शतत्रयी।
षष्ठ्युत्तरा भवेद्वर्षं यस्यायुस्तच्छतं श्रुतम्॥३२॥

श्लोकानुवाद—उनके एकदिनमें मुझ जैसे चौदह इन्द्र, चौदह मनु और उनके पुत्र आदि प्रादुर्भूत होते हैं। उनका एकदिन एक हजार चतुर्युगके समान होता है तथा इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि समझो। इस प्रकारके तीन सौ साठ दिन-रात बीतने पर उनका एक वर्ष होता है। इस प्रकारके एकसौ वर्षकी उनकी आयु है॥३१-३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदिशब्देन देवा ऋषयो मनुपुत्रा हरेरेकोऽवतारश्च। यथोक्तं द्वादशस्कन्धो (श्रीमद्भा॰ १२/७/१५)—*'मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः। ऋषयोऽंशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥'* इति। तावती चतुर्युग-सहस्र-प्रमाणा; इत्थं चतुर्युग सहस्रद्वयेन यस्याहोरात्रमेकं तादृशानामहोरात्राणां षष्ठ्युत्तरशतत्रयेण वर्षम्; तादृग् वर्षशतं यस्य ब्रह्मण आयुः स्थितिकालः श्रुतमस्माभिर्न तु निश्चयेन ज्ञायते; स्वल्पायुषां नः सम्यग् ज्ञानाभावादित्यर्थः॥३१-३२॥

भावानुवाद—'मन्वादि' शब्दके 'आदि' पदसे देवता, ऋषि और सभी मनुपुत्रोंको श्रीहरिके एक अवतारके रूपमें समझना होगा। इस विषयमें द्वादश-स्कन्धमें कहा गया है—"मनु, सभी देवता, मनुके पुत्र और ऋषि भी भगवान् श्रीहरिके अंशावतार हैं। जिसमें अपना-अपना

अधिकार वर्त्तमान होता है, वही मन्वन्तरके नामसे प्रसिद्ध है। अर्थात् इस प्रकार वे लोग श्रीहरिके षड़विध अर्थात् छः प्रकारके अवतारके रूपमें जाने जाते हैं।" श्रीब्रह्माके एक दिवसका परिमाण चार हजार देवयुग है, तथा उनकी रात्रि भी उसी प्रकार चार हजार देवयुगके समान होती है। इस प्रकार दिन-रातकी तीन सौ साठ संख्या पूर्ण होने पर उनका एक वर्ष पूर्ण होता है और उनकी आयु ऐसे एक सौ वर्षकी है अर्थात् यह उनका स्थितिकाल है। यह सब मैंने श्रीबृहस्पतिके मुखसे श्रवण किया है, किन्तु मैं निश्चितरूपमें नहीं जानता हूँ। मेरी आयु अतिअल्प है, अतः मैं उनकी आयुको कैसे जान सकता हूँ॥३१-३२॥

लोकानां लोकपालानामपि स्त्रष्टाधिकारदः।
पालकः कर्मफलदो रात्रौ संहारकश्च सः॥३३॥
सहस्त्रशीर्षा यल्लोके स महापुरुषः स्फुटम्।
भुञ्जानो यज्ञभागौघं वसत्यानन्ददः सदा॥३४॥

श्लोकानुवाद—वे चौदह लोकों और उनके लोकपालोंकी सृष्टि करते हैं, उनको अधिकार देते हैं, उनका पालन-पोषण करते हैं, कर्मोंके फलोंको प्रदान करते हैं और रात्रि आने पर उनका संहार करते हैं। उनके लोकमें सदैव साक्षात् सहस्त्रशीर्षा महापुरुष मूर्त्तिमान होकर सदा विराजमान रहते हैं और साक्षात्‌रूपमें यज्ञके भागको ग्रहण करके भोजन करते हैं। इस प्रकार वे वहाँके सभी निवासियोंको आनन्द प्रदान करते हैं॥३३-३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधिकाराः प्राजापत्यैन्द्रादयस्तान् ददातीति तथा सः; पालको यज्ञादि प्रवर्त्तनेन स्वस्वमर्यादास्थापनादिना च कर्मणां पुण्यपापानां फलं सुखदःखं ददातीति तथा सः, ब्रह्मणैव तथा तत्तद्विहितत्वात्। एवं पदत्रयेण स्थिति कर्त्तृत्वमुक्तं; स्वरात्रौ सत्याम्। यथोक्तं हिरण्यकशिपुना सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा० ७/३/२७)—*'आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवती लुम्पति। रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः॥'* इति। यस्य लोके भुवने; सोऽनिर्वचनीयमपि महत्त्वेन प्रसिद्धो महापुरुषाख्यो भगवान् सहस्त्रशीर्षाः स्फुटं व्यक्तं यथा स्यात्तथा सदा वसति। एष च श्रीमहापुरुषः श्रीभागवते (श्रीमद्भा० २/६/४२) *'आद्योऽवतारः'* इत्युक्तोऽस्ति। तथा

च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/३/१–५)—*'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया॥ यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः। नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥ यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितोलोकविस्तरः। तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥ पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा, सहस्र–पादोरुभूजाननाद्भुतम्। सहस्र–मूर्द्धश्रवणाक्षि नासिकं, सहस्रमौल्यम्बर कुण्डलोल्लसत्॥ एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥'* इति। एषामर्थः—महदादि–भिर्महत्तत्वाहङ्कार पञ्चतन्मात्रैः सम्भूतं मिलितम्; एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीति षोड़श कला अंशा यस्मिन्; एवं जगत्कारणानामपि महदादीनां तदेकाश्रयत्वमुक्तम्, पुरुषस्य महदादिजगद्योनि प्रकृत्याधिष्ठातृत्वात्। यस्य रूपस्याम्भसि एकार्णवे शयानस्य सतः; यस्य नाभिह्रदाम्बुजस्यावयवसंस्थानैः पत्रादिसन्निवेशैः, *'तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्। अनेन लोकान् प्रागलीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्॥ पद्मकोषं तदाविश्य भगवच्छक्तिचोदितः। एवं व्याभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा॥'* इति तृतीयः स्कन्धोक्तेः (श्रीमद्भा॰ ३/१०/७–८) विशुद्धं मायाश्रयत्वेऽपि तत्सङ्गदोषहीनं सत्त्वं सत्तया सर्वत्र स्थितं ब्रह्म तद्घनमित्यर्थः। अस्य चावतारत्वेऽपि नानावतारनिधानतोक्तिः, प्रकृत्यधिष्ठातृत्वादिना महिमातिशयेन वैकुण्ठेश्वरेण श्रीनारायणेन सहाभेदाभिप्रायात्। यद्वा, अस्य नाभिकमलाज्जातस्य ब्रह्मणः सृष्टावेव प्रायः सर्वेषामवताराणां प्रादुर्भावादिति दिक्। अतएव द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/६/४२)—*'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'* इत्यत्र श्रीधरस्वामिपादैः–व्याख्यातमिदम्—'पुरुषः प्रकृति प्रवर्त्तकः; यस्य सहस्र शीर्षेत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतारः।'; वक्ष्यति हि एकादशस्कन्धे (११/४/३–४) *'भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः, पुरं विराजं विरचय तस्मिन्। स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाय नारायण आदिदेवः॥ यत्काय एष भुवनत्रय सन्निवेशो, यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि। ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोजईहा, सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्त्ता॥'* इति। अनयोरर्थः—विराजं ब्रह्माण्डपुरं विरचय निर्माय तस्मिन् लीलया प्रविष्टः, न तु भोक्तृत्वेन, प्रभूतपुण्यस्य जीवस्य तत्र भोक्तृत्वात्। एवं तस्य पुरुषनाम निर्वचनं कृत्वा श्रीमूर्त्तिं वर्णयति; यस्य काये, सप्तमी आधारे; यश्च सत्त्वादिभिर्विश्वस्य स्थितौ लयोद्भवे आदिकर्त्तेति तस्य चरितञ्च सूचितमिति। अस्य च ब्रह्मलोकनिवासे तृतीय–स्कन्धाद्यनुसारेणाख्यायिकेयं श्रूयते। अयं सहस्रशीर्षाक्षिपादाद्यवयववान्, जगदाश्रय–परमस्थूलतर विग्रहो महापुरुषाख्यो भगवान् ब्रह्मणादौ धयानेन स्वहृदि दृष्टः। अथ स्तुतेन तेन सृष्टौ नियुक्तो ब्रह्मा वरं ययाचे—'भगवन् ईदृग्रूपो भवान् साक्षाद्भूय मम लोके वसतु' इत्यतस्तथैवायं स्थित इति। प्रकृतं व्याख्यामः। यज्ञभागानामोघं समूहम्, प्रवाहन्यायेन सततं तत्र यज्ञगणप्रवृत्तेः। अतएव सर्वेषां तत्रत्यानामानन्ददः सन्, यद्यपि कदाचिन्मथुरायां सम्पूर्णतया भगवतोऽवतरणात् तदानीमस्य ब्रह्मलोके

वासो न स्यात्, तथापि ब्रह्मकालस्य महत्तातिशयापेक्षया तदवतरण कालस्यात्यन्त स्वल्पतरत्वेन सदेत्युक्तिर्घटत एव; एवमग्रेऽपि नित्यमिति च। यदि वात्र सदेत्यस्य यथानिर्द्देशमानन्दमित्यनेनैव सम्बन्धः, तथापि स एवार्थः पर्यवस्यति; तदानीमानन्ददानस्याप्य भावादिति दिक्॥३३–३४॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्मा सभी देवताओंको प्रजापति और इन्द्रपदका अधिकार प्रदान करते हैं, वे सभी लोकोंके पालनकर्त्ता हैं, अर्थात् यज्ञादि प्रवर्त्तन और अपनी-अपनी मर्यादा स्थापन आदि द्वारा सबका पालन करते हैं। सभी लोकोंके कर्म फलदाता हैं, पुण्य कर्मोंके फल सुख और पाप कर्मोंके फल दुःखको प्रदान करनेवाले हैं और उन पदोंके संहारकर्त्ता भी वे ही हैं। इस प्रकार उक्त श्लोक (३३)के प्रथम चरण द्वारा उनकी स्थिति और कार्यकी सूचना मिलती है। ब्रह्माकी रातमें ही सृष्टिका संहार होता है। यथा, सप्तम-स्कन्धमें हिरण्यकशिपुकी उक्ति—"जिन्होंने अपने प्रभावसे इस जगतको प्रकाशित किया है, जो त्रिगुणात्मक सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं; रज, सत्त्व, और तमोगुणके आश्रय स्वरूप उन्हीं अपरिमेय परमेश्वरको प्रणाम करता हूँ।" उसी ब्रह्मलोकमें अनिर्वचनीय महिमामय सुप्रसिद्ध सहस्रशीर्षा महापुरुष भगवान् साक्षात्रूपसे निरन्तर निवास करते हैं। यथा (श्रीमद्भा॰ १/३/१-५)—"लोकसृष्टिकी इच्छा करने पर श्रीभगवान्ने प्रथमतः महत्तत्त्व, फिर अहंकार और पञ्चतन्मात्रके द्वारा निर्मित सोलह अंशविशिष्ट (पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रिय) इस विराट रूपको प्रकाशित किया। वे पुरुष पद्म नामक कल्पमें योगनिद्राका अवलम्बन करके शयन कर रहे थे। उनकी नाभिसे एक पद्म प्रकट हुआ तथा उसी पद्मगर्भसे ही विश्वसृष्टिके पति श्रीब्रह्माका आविर्भाव हुआ। उनके ही अवयव-संस्थान द्वारा इस भूलोक आदि प्रपञ्चमय जगतकी उत्पत्ति हुई है, किन्तु वे विशुद्धसत्त्व हैं अर्थात् रजो और तमोगुणके स्पर्शसे रहित जो सत्त्व है, वही उनका यथार्थ स्वरूप है। देवतालोग समाधिमें चिन्मय चक्षुओं द्वारा उस स्वरूपका दर्शन करके कहते हैं कि उन पुरुषरूप भगवान्के असंख्य हाथ, असंख्य पद, असंख्य मस्तक, असंख्य कर्ण और नासिका हैं और वे असंख्य अंग-प्रत्यंगवाले होने पर भी पट्टवास और कुण्डल आदि अलंकार

द्वारा विभूषित रहते हैं। यही महापुरुष सभी अवतारोंके अक्षय बीजस्वरूप होने पर भी अव्यय हैं, अर्थात् इनका कभी भी क्षय या ध्वंस नहीं होता। यह सभी अवतारोंके मूल कारण हैं और इन्हींके ही अंश द्वारा देवता, पक्षी और मनुष्य जैसे नाना प्राणियोंकी सृष्टि होती है।" तात्पर्य यह है कि ये महापुरुष ही जगतयोनि और प्रकृतिके अधिष्ठाताके रूपमें कहे जाते हैं और ये ही एकार्णवमें (जलप्लावनमें) शयन करते हैं। इनका स्वरूप विशुद्ध सत्वमय है अर्थात् ये मायाके आश्रय होने पर भी मायासंगहीन विभु और घनीभूतब्रह्म-स्वरूप हैं। वैकुण्ठके ईश्वर भगवान् श्रीनारायणसे अभिन्न होनेके कारण इनको अनेक अवतारोंका मूल कारण और प्रकृतिका अधिष्ठाता कहा जाता है।

तृतीय-स्कन्धमें भी इसी प्रकार कहा गया है—"लोकपितामह ब्रह्मा अपने आसन-स्वरूप पद्मको आकाशव्यापी देखकर यह चिन्ता करने लगे कि पूर्वकालीन त्रिलोककी इसी पद्म द्वारा ही फिरसे सृष्टि करूँगा।" इसके उपरान्त जब ब्रह्माने स्वयं उस पद्मकोषके भीतर प्रवेश किया तो वह एक ही पद्म तीन भागोंमें विभक्त हो गया। अथवा वही पद्म अत्यधिक विशाल होनेके कारण चौदह लोकोंके रूपमें दिखाई दिया। अथवा इन्हीं महापुरुषके नाभिकमलसे सृष्ट ब्रह्माण्डमें ही सभी अवतारोंका प्रादुर्भाव होता है। यथा, द्वितीय-स्कन्धमें कहा गया है—"वे आदिपुरुष ही प्रत्येक कल्पमें स्वयं ही अपने द्वारा अपनेको अपनेमें सृजन और पालन करते हैं।" इसकी टीकामें श्रील श्रीधरस्वामीपाद कहते हैं—पुरुषका अर्थ है प्रकृतिके प्रवर्त्तक अर्थात् जो सहस्रशीर्षा पुरुष लीलाविग्रह रूपमें वर्णित हुए हैं, वे ही प्रथम पुरुषावतार हैं। एकादश-स्कन्धमें भी कहा गया है—"आत्मसृष्ट पञ्चभूत द्वारा ब्रह्माण्डका निर्माण करके जब वे अपने अंश द्वारा उसमें प्रविष्ट होते हैं, तब आदिदेव श्रीनारायण 'पुरुष' कहलाते हैं।" अतएव त्रिभुवन-संस्थान ही उनका शरीर है तथा उनकी इन्द्रियोंसे देहधारीकी दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ, उनके स्वरूपभूत ज्ञानसे ज्ञान और उनके प्राणोंसे देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति और क्रियाशक्ति उत्पन्न हुई है। अतएव वे सत्त्व आदि द्वारा सृष्टि, स्थिति और संहार कार्यके

आदिकर्त्ता हैं। तात्पर्य यह है कि आदिपुरुष श्रीनारायण अपने द्वारा सृष्टि किये गये ब्रह्माण्डमें लीलावशतः प्रवेश करके 'पुरुष' नामसे जाने जाते हैं, परन्तु वे जीवोंके समान भोक्तारूपमें वास नहीं करते।

यद्यपि उनके शरीरमें त्रिभुवन सन्निविष्ट है अर्थात् वह विराटपुरुष रूपमें सहस्रशीर्षा आदि अवयव विशिष्ट तथा समस्त जगतके आश्रयस्वरूप परम स्थूलतर विग्रह हैं, तथापि जब महापुरुष कहे जानेवाले उन भगवान्को ब्रह्मा समाधि द्वारा अपने हृदयमें दर्शन करते हैं, तो वे देखते हैं कि वे महापुरुष सच्चिदानन्दघन-स्वरूप श्रीमूर्त्ति विशिष्ट हैं। श्रीब्रह्मा पुनः प्रार्थना करते हैं कि आप सदैव अनुभूत (साक्षात्रूपमें) मेरे लोकमें वास कीजिए। इस प्रकार ब्रह्माने उन महापुरुषकी स्तव-स्तुति की थी और उनके द्वारा नियुक्त किये जाने पर ही ब्रह्मा सृष्टि आदि कार्य करते हैं। ये महापुरुष ही सहस्रशीर्षा रूपमें ब्रह्मलोकमें वास करते हैं और साक्षात्रूपमें यज्ञ भागको ग्रहण करके भोजन करते हैं। इसलिए ब्रह्मलोकमें धारा-प्रवाहके समान निरन्तर यज्ञ आदि अनुष्ठित होते हैं तथा सहस्रशीर्षा महापुरुष भी सदैव सभीको आनन्द प्रदान करते हुए वहीं वास करते हैं।

जिस समय स्वयं भगवान् मथुरामें अवतरित होते हैं, उस समय सभी अवतार भी उनमें मिलित रहते हैं। अतएव ब्रह्मलोक अन्तर्वर्ती महापुरुष भी उस ब्रह्मलोकमें उस समय नहीं रह पाते, वे भी अवतारीके साथ मिलित हो जाते हैं। ब्रह्मलोकमें काल जिस प्रकार सुदीर्घ होता है, उस कालकी तुलनामें प्रपञ्चके अन्तर्गत उनके अवतारका स्थितिकाल अति अल्प होता है। इसीलिए ब्रह्मलोकमें 'सदा वास करते हैं' इस उक्तिकी भी सत्यता प्रदर्शित होती है। विशेषतः ये सहस्रशीर्षा महापुरुष ही ब्रह्मलोकमें व्यक्तभावसे सर्वदा विराजमान रहकर वहाँके निवासियोंको आनन्द प्रदान करते हैं॥३३-३४॥

इत्थं युक्तिसहस्रैः स श्रीकृष्णस्य कृपास्पदम्।
किं वक्तव्यं कृपापात्रमिति कृष्णः स एव हि॥३५॥
तत् श्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यः प्रसिद्धं ज्ञायते त्वया।
अन्यच्च तस्य माहात्म्यं तल्लोकानामपि प्रभो॥३६॥

श्लोकानुवाद—इसलिए हम हजारों युक्तियों द्वारा यह निश्चित करते हैं कि आपके पिता श्रीब्रह्मा ही भगवान् श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं। कृपापात्र ही क्यों! मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि वे स्वयं ही श्रीकृष्ण हैं। वे भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं, ऐसा सभी श्रुतियों और स्मृतियों आदिके वाक्यों द्वारा भी प्रसिद्ध है। हे प्रभो! आप उनके और उनके लोकवासियोंके इस प्रकारके माहात्म्यको भलीभाँति और मुझसे भी अधिक जानते हैं॥३५-३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं एवं प्रकारैरित्यर्थः। स परमेष्ठी; प्रभो हे श्रीनारद! तन्मदुक्तं कृपास्पदत्वं कृष्णत्वञ्च श्रुतिस्मृतिनां वाक्येभ्यः प्रसिद्धमेव; अतस्त्वयापि तज्ज्ञायत एव; अन्यन्मदनुक्तौ च तस्य परमेष्ठिनः तल्लोकवर्त्तिनामपि माहात्म्यं भगवद्भक्ति प्रवर्त्तनं तत्परत्वादिकं च त्वया ज्ञायत एव। तथा चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/७/५०-५१) दक्षं प्रति श्रीभगवद् वाक्यं—*'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृग्विशेषणः॥ आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज। सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥'* इति, तथा (श्रीमद्भा॰ ४/७/५४) *'त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥'* इत्यादि॥३५-३६॥

भावानुवाद—हे प्रभो! हे श्रीनारद! श्रीब्रह्मा ही श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं, इस विषयमें हजार-हजार शास्त्र युक्तियाँ हैं। मेरे द्वारा उनके प्रति कहे गये वचन कि 'वे श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं' और 'वे श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं' इत्यादि श्रुति-स्मृतिमें भी प्रसिद्ध है। अतएव उनके तथा उनके लोकवासियोंका इसके अलावा जो भी माहात्म्य और भगवद्भक्ति प्रवर्त्तन इत्यादि विषय है जिसको मैंने वर्णन नहीं किया, आप उसे भी जानते हैं। इस विषयमें चतुर्थ-स्कन्धमें कहा गया है (दक्षके प्रति भगवान्‌के वचन)—"मैं ही आत्ममायाके आश्रयमें इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके लिए कार्यानुसार विभिन्न नाम धारण करता हूँ। मेरे एकमात्र अद्वितीय परमब्रह्म स्वरूप होने पर भी अज्ञ व्यक्ति मुझमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीन प्रकारका भेद दर्शन करते हैं, किन्तु मेरे भक्त ऐसा नहीं करते। जिस प्रकार मनुष्यकी अपने मस्तक-हस्त आदि अङ्गोंमें परकीय बुद्धि नहीं होती, अर्थात् ये दूसरे व्यक्तिके मस्तक-हस्त हैं—वे ऐसा नहीं सोचते; वैसे ही मेरे

प्रति अनुरक्त विद्वान् व्यक्ति भी हम तीनोंमें कोई भेद नहीं करते। अर्थात् हम तीनों सभी प्राणियोंकी आत्मा हैं तथा एक ही स्वरूप हैं। इसे जाननेवाला व्यक्ति ही शान्तिको प्राप्त करनेमें सक्षम होता है"॥३५-३६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इन्द्रस्य वचनं श्रुत्वा साधु भोः! साध्विति ब्रुवन्।
त्वरावान् ब्रह्मणो लोकं भगवान्नारदो गतः॥३७॥
यज्ञानां महतां तत्र ब्रह्मर्षिभिरनारतम्।
भक्त्या वितायमानानां प्रघोषं दूरतोऽश्रृणोत्॥३८॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—इस प्रकार इन्द्रकी बात सुनकर भगवान् श्रीनारद कहने लगे—हे इन्द्र! 'साधु, साधु' तुम सत्य कह रहे हो, इस प्रकार कहकर देवर्षि श्रीनारद शीघ्र ही ब्रह्मलोकमें पहुँच गये। वहाँ पर महर्षिगण निरन्तर भक्तिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, श्रीनारदने दूरसे उनकी ध्वनि श्रवण की॥३७-३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र ब्रह्मलोके वितायमानानां विस्तरेणानुष्ठीयमानानाम्॥३७-३८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३७-३८॥

ददर्श च ततस्तेषु प्रसन्नः परमेश्वरः।
महापुरुष-रूपेण जटा-मडण्ल-मण्डितः॥३९॥
सहस्रमूर्द्धा भगवान् यज्ञमूर्त्तिः श्रिया सह।
अविर्भूयाददद्भागानानन्दयति याजकान्॥४०॥

श्लोकानुवाद—तब वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि परमेश्वर प्रसन्न होकर उन सभी यज्ञोंमें महापुरुष रूपमें अर्थात् जटाओंसे मण्डित सहस्रशीर्षा भगवान् यज्ञमूर्त्तिमें लक्ष्मी सहित आविर्भूत होकर यज्ञभागको ग्रहण करके याजकोंको (यज्ञ करनेवालोंको) आनन्दित कर रहे थे॥३९-४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः श्रवणानन्तरं; ददर्श च नारद एव किं? तदाह—तेष्वित्यादिना विधिरागत इत्यन्तेन। परमेश्वरः प्रसन्नः सन् तेषु यज्ञेषु महापुरुषरुपेणार्विभूय

यज्ञानामेव भागान् आददत् गृह्णन् याजकान्ब्रह्मर्षि प्रभृतीन् आनन्दयतीति द्वाभ्यामन्वयः। यज्ञमूर्त्तिस्तदधिष्ठाता अतएव तत्फलदानेन वेदपराणां याजकानामाश्वासनार्थं श्रौतपुरुषसूक्तोद्दिष्ट महापुरुषरूपाविर्भावनमित्यपि ज्ञेयम्, न च केवलं यज्ञभागस्वीकार एव॥३९–४०॥

भावानुवाद—महायज्ञोंकी महान ध्वनिको श्रवण करनेके उपरान्त उस स्थान पर उपस्थित होकर श्रीनारदने देखा। क्या देखा? इसे 'तेषु' इत्यादिसे 'विधिरागतः' (श्लोक ४३) तककी पाँच श्लोकों द्वारा कहा जा रहा है। उन्होंने देखा कि परमेश्वर प्रसन्न होकर अर्थात् उन सभी यज्ञोंमें महापुरुषके रूपमें आविर्भूत होकर यज्ञभागको ग्रहण कर रहे थे और ब्रह्मर्षि जैसे याजकोंको आनन्दित कर रहे थे। वे यज्ञमूर्त्ति अर्थात् यज्ञाधिष्ठाता हैं, अतएव वे यज्ञफलदान द्वारा वेद-परायण याजकोंको आश्वासन प्रदान करते हैं तथा श्रुतिमें उक्त पुरुषसूक्तके उद्दिष्ट महापुरुषके रूपमें आविर्भूत होते हैं। केवल यज्ञभागको स्वीकार करना ही उनका कार्य नहीं है—ऐसा जानना होगा॥३९–४०॥

पद्मयोनेः प्रहर्षार्थं द्रव्यजातं निवेदितम्।
सहस्रपाणिभिर्वक्त्रसहस्रेष्वर्पयन्नदन्॥४१॥
दत्त्वेष्टान् यजमानेभ्यो वरान् निद्रागृहं गतः।
लक्ष्मीसंवाह्यमानांघ्रिर्निद्रामादत्त लीलया॥४२॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद श्रीनारदने देखा कि भगवान् ब्रह्माजीको सन्तोष प्रदान करनेके लिए उनके द्वारा निवेदित की गयी भोजन सामग्रियोंको अपने हजारों हाथों द्वारा हजारों मुखोंमें अर्पण कर रहे थे। तत्पश्चात् यज्ञ करनेवालोंको अभीष्ट फल प्रदान करके वे अपने भवनमें चले गये। श्रीलक्ष्मीदेवी उनके चरणकमलोंकी सेवा करने लगीं और वे भी लीलापूर्वक शयन करने लगे॥४१–४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तु साक्षात्तद्द्रव्यभक्षणं यजमानाभीष्ट-वरदानादिकमपीत्याह, पद्मेति द्वाभ्याम्। अर्पयन् निक्षिपन् न तु केवलमर्पणमात्रमित्याह—अदन् भुञ्जानः; यद्वा, हेतौ शतृङ् अत्तुमित्यर्थः। अथवा अनेन भोजनातृप्तिर्बोध्यते; तेन च भोजन बाहुल्यमिति दिक्। इष्टान् वरान् सदा तादृश यज्ञ सिद्धयादीन्; लक्ष्म्या संवाह्यमानावङ्घ्री पादपद्मे यस्य तथाभूतः सन्; आदत्त स्वीचक्रे; निद्रागृहं गत

इत्यनेन तदानीमन्यैस्तद्दर्शनं न प्राप्यत इति सूचितम्। ब्रह्मलोके च भगवतो यज्ञस्वीकारः सुखशयनं चेति प्राधान्येन लीलाद्वयं श्रीवैशम्पायनेनापि कालनेमिवधानन्तर-मुक्तमस्ति;—*'स ददर्श मखेष्वाज्यैरिज्यमानं महर्षिभिः। भागं यज्ञीयमश्नानं स्वं देहमपरं स्थितम्॥'* इत्यादिना। तथा—*'स तत्र प्रविशन्नेव जटाभारं समुद्वहन्। सहस्रशिरसो भूत्वा शयनायोपचक्रमे॥'* इत्यादिना च। अत्र सहस्रशिरा इति वक्तव्ये सहस्रशिरस इत्यार्षम्। एवं श्रीभगवतोऽस्य ब्रह्मलोके सदा प्राकटयेन निवासे वर्त्तमानेऽपि दशमस्कन्धारम्भे श्रीशुकेनोक्तम्। धरणीवाक्याद्देवगणसहितस्य श्रीब्रह्मणः क्षीरोदधितीर गमनेन तत्रत्येश्वर श्रीकेशवोपस्थानं कल्पभेदेन कदाचित्कमिति मन्तव्यं हरिवंशे ब्रह्मलोक एव तदुक्तेः। तच्च प्रायो भगवतोऽस्य निद्रागृह प्रवेशेनादृश्यत्वात् शयनसमये प्रबोधनायोग्यत्वाद्वा; किंवा मन्निवेदने महापुरुषेऽस्मिन् पृथिव्यामवतीर्णे मल्लोकोऽयं शून्यः स्यादतः क्षीरोदशायी भगवानेव तत्र गत्वावतरत्वित्येतद्धेतोः। तथाप्यसावतीर्ण एव सर्वावताररूपैः सह सम्पूर्णतया भगवतः श्रीकृष्णस्य मथुरायामवतरणादिति दिक्॥४१–४२॥

भावानुवाद—किन्तु भगवान् उनके द्वारा निवेदित किये गये सभी द्रव्योंको साक्षात्‌रूपमें अर्थात् हजारों-हजारों हाथों द्वारा अपने मुखोंमें अर्पण या भोजन करके यजमानोंको अभीष्ट वर प्रदान करते हैं। यही 'पद्मयोनेः' इत्यादि दो श्लोकोंका अन्वय है। हजारों मुखोंमें केवल अर्पण ही नहीं अपितु उन्होंने भोजन भी किया। इससे भोजन द्वारा तृप्ति सूचित हुई है। अभीष्ट वर अर्थात् याजकोंके मनोऽभीष्ट यज्ञसिद्धिका वर प्रदनकर उन्होंने शयनकक्षकी ओर गमन किया। लक्ष्मीदेवी उनके श्रीचरणकमलोंका सम्वाहन करने लगीं और भगवान् भी लीलापूर्वक शयन करने लगे। इससे उस समयमें और कोई भी उनका दर्शन नहीं कर सका, यह सूचित हुआ है। ब्रह्मलोकमें श्रीभगवान्‌का यज्ञ स्वीकार तथा सुखपूर्वक शयन, इन दो लीलाओंका वैशम्पायन मुनिने मुख्यरूपसे वर्णन किया है और वह कालनेमि वधके उपरान्त लिपिबद्ध हुआ है—"उस स्थान पर पहुँचकर उन्होंने दर्शन किया कि स्वदेह और परदेहस्थित श्रीभगवान् ही ब्रह्मर्षियोंके द्वारा घी आदिकी आहूति द्वारा पूजित हो रहे हैं और यज्ञभाग भोजन कर रहे हैं। उसके बाद जटामण्डल-मण्डित सहस्रशीर्षा महापुरुष अपने शयन-कक्षमें चले गये।" इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान्‌का ब्रह्मलोकमें सदा प्रकट रूपमें निवास है। किन्तु दशम-स्कन्धके

प्रारम्भमें श्रीशुकदेव गोस्वामीपाद कहते हैं—"पृथ्वीदेवीके अनुरोधसे ब्रह्माजीने देवताओंके साथ क्षीरसागरके तट पर जाकर भगवान् श्रीकेशवका स्तव किया।" इस वाक्यका समाधान यह है कि कल्पभेदसे यह घटना हुई थी। अथवा उस समय श्रीभगवान् ब्रह्मलोकमें साक्षात्‌रूपसे प्रकट नहीं थे। अन्य एक प्रकारसे सामञ्जस्य हो सकता है कि भगवान्‌के अपने कक्षमें प्रवेश कर निद्रित होने पर (ब्रह्माण्डके प्रति दृष्टि मूँदने पर) उनको जगाना अनुचित है, ऐसा विचार करके श्रीब्रह्मा क्षीरसमुद्रके तट पर श्रीविष्णुके समीप गये थे। अथवा श्रीब्रह्माकी धारणा यह भी हो सकती है कि मेरे लोकमें स्थित इन श्रीमहापुरुषको पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए प्रार्थना करने पर यदि ये भूलोकमें अवतीर्ण हो गये, तब तो मेरा ब्रह्मलोक शून्यप्राय हो जायेगा। अतएव क्षीरोदकशायी विष्णु ही पृथ्वी पर अवतरित होकर भूभार हरणका कार्य करें, इस प्रकार संकल्प करके वे क्षीरसागरके तट पर गये और स्तव किया। उसी समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मथुरामण्डलमें अवतीर्ण होने पर श्रीविष्णु भी उनमें मिल गये। इससे उनका अवतरण भी सिद्ध होता है। इस प्रकार उक्त विचारोंका सब प्रकारसे सामञ्जस्य हुआ॥४१-४२॥

तदाज्ञया च यज्ञेषु नियुज्यर्षीन्निजात्मजान्।
ब्रह्माण्डकार्यचर्च्चार्थं स्वं धिष्ण्यं विधिरागतः॥४३॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीब्रह्मा भी भगवान्‌की आज्ञासे अपने पुत्रोंको यज्ञमें लगाकर स्वयं सृष्टि आदि कार्य करनेके लिए अपने स्थान पर चले गए॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवत आज्ञया निद्रायाः पूर्वमेव श्रीमुखेन साक्षात् कृतया हृद्यन्तर्यामितया वा; किंवा नित्यप्रतिपाल्यमानया श्रुतिरूपया स्वं स्वकीयं धिष्ण्यमालयम्॥४३॥

भावानुवाद—इसी बीच श्रीब्रह्मा उनकी (श्रीभगवान्‌की निद्रासे पूर्व दी गयी) अनुमतिके (भगवान्‌के श्रीमुखसे प्राप्त साक्षात् आज्ञाके) अनुसार अथवा अन्तर्यामी रूपसे हृदयमें अवस्थित श्रीभगवान्‌की

आज्ञाके अनुसार, या फिर नित्य प्रति पालनीय श्रुतिरूपा भगवान्‌की अनुमतिके अनुसार अपने भवन अर्थात् पद्मलोकको चले गये॥४३॥

पारमेष्ठ्यासने तत्र सुखासीनं निजप्रभोः।
महिमश्रवणाख्यानपरं सास्राष्टनेत्रकम्॥४४॥
विचित्रपरमैश्वर्यसामग्रीपरिसेवितम्।
स्वतातं नारदोऽभ्येत्य प्रणम्योवाच दण्डवत्॥४५॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर श्रीब्रह्मा अपने आसन पर सुखपूर्वक बैठकर अपने प्रभु श्रीकृष्णकी महिमाका श्रवण और कीर्त्तन करने लगे तथा उनके आठों नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। इस प्रकार अनेक विचित्र परम ऐश्वर्यशाली सामग्रियों द्वारा परिसेवित अपने पिता श्रीब्रह्माके सम्मुख जाकर श्रीनारद उन्हें दण्डवत् प्रणाम करके कहने लगे॥४४–४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्वाभिप्रेतस्यार्थस्य पूर्ववद्भगवदग्रे प्रस्तावमनुचितं मन्वानोऽसौ दूरत एव स्थित्वा तत् सर्वमालोक्य; किंवा श्रीभगवत् पार्श्व एवोपगम्य दृष्टाऽनवसरे तत् प्रसङ्गमकृत्वा यथास्थानं यथावसरमेवाकरोदित्याह—'पार' इति द्वाभ्याम्। तत्र स्वधिष्ण्ये यत् पारमेष्ठ्यासनं, तस्मिन् सुखासीनं सन्तं स्वतातं ब्रह्माणमभ्येत्य पुरतोऽभिगम्य प्रणम्य च भगवत् अग्रे अन्य प्रणामो निषिद्ध इति तदानीप्रमणत्वात्। यद्वा, परमगुरुत्वेन दोषाभावात् पूर्वमपि ननामैव, अधुनापि निजेष्टप्रस्तावाय पुर्नदण्डवत् प्रणामं कृत्वा नारद उवाच इत्यन्वयः। कथम्भूतम्? निजप्रभोर्भगवतः श्रीकृष्णस्य ये महिमानो भक्तवात्सल्यादयोस्तेषां श्रवणे आख्याने च कथने तत्परम्। अतएव सास्राणि आनन्दाश्रुयुक्तानि अष्टौ नेत्राणि यस्य तम्। विचित्रस्य परमैश्वर्यस्य सामग्री समग्रता तया परितः सेवितम्॥४४–४५॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीनारद दूरसे ही अपने अभिलषित विषयका दर्शन कर रहे थे। इसका अभिप्राय यह है कि वे श्रीभगवान्‌के सम्मुख पूर्ववत् अपने प्रस्ताव अर्थात् श्रीब्रह्मा भगवान्‌के कृपापात्र हैं, ऐसा कहना नहीं चाहते थे। अथवा उन्होंने श्रीब्रह्माको भगवान्‌के निकट व्यस्त देखकर अपनी अभिलाषाको प्रकाशित नहीं किया। तदनन्तर अवसर देखकर अपना प्रस्ताव रखा। यही 'पारमेष्ठ्य' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहे हैं। जब श्रीब्रह्मा अपने आसन पर

सुखपूर्वक बैठ गये, तब श्रीनारद उनके सम्मुख जाकर दण्डवत् प्रणाम कर कहने लगे। श्रीभगवान्‌के सामने किसी दूसरेको प्रणाम करना निषेध है, इसलिए उन्होंने वहाँ पर श्रीब्रह्माको प्रणाम नहीं किया। अथवा श्रीभगवान्‌से पहले श्रीगुरु और परमगुरु इत्यादिको प्रणाम करना दोषयुक्त नहीं है, इसलिए उन्होंने पहले उन्हें प्रणाम किया था। परन्तु अब अपने अभिलषित प्रस्तावको रखनेसे पूर्व पुनः दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं। वे श्रीब्रह्मा कैसी अवस्थामें थे? वे अपने प्रभु श्रीकृष्णकी महिमाके (भक्त वात्सल्य आदि महिमाके) श्रवण और कीर्त्तनमें रत थे। अतएव उसी आनन्दसे उनके आठों नेत्रोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु धारा प्रवाहित हो रही थी और वे विचित्र प्रकारकी परम ऐश्वर्य-सामग्री द्वारा परिसेवित हो रहे थे॥४४-४५॥

श्रीनारद उवाच—

भवानेव कृपापात्रं ध्रुवं भगवतो हरेः।
प्रजापतिपतिर्यो वै सर्वलोकपितामहः॥४६॥
एकः सृजति पात्यत्ति भुवनानि चतुर्दश।
ब्रह्माण्डस्येश्वरो नित्यं स्वयम्भूर्यश्च कथ्यते॥४७॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—आप निश्चित ही भगवान् श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं, क्योंकि आप प्रजापतियोंके भी पति और सभी लोकोंके पितामह हैं। आप अकेले ही इन चौदह भुवनोंका सृजन, पालन और संहार करते हैं। आप ही इस ब्रह्माण्डके नित्य ईश्वर और स्वयंभू रूपमें जाने जाते हैं॥४६-४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपापात्रता लक्षणान्याह—प्रजेति सार्द्धषट्‌केन। यो भवान्, वै प्रसिद्धौ, यच्छब्दानां पूर्वेणैवान्वयः; अत्ति संहरति; नित्यमिति न हीन्द्रादिवत् प्रलयेष्वपि कदाचिदैश्वर्यभ्रंश इति भावः॥४६-४७॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्माकी कृपा-पात्रताका लक्षण 'प्रजेति' साढ़े छः श्लोकों द्वारा बता रहे हैं। आप प्रजापतियोंके भी पति हैं तथा आप सभी ब्रह्माण्डोंके नित्य ईश्वर हैं। यहाँ 'नित्य' शब्दका अर्थ यह है कि प्रलय होने पर भी इन्द्र आदि देवताओंके समान आपका ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता॥४६-४७॥

सभायां यस्य विद्यन्ते मूर्त्तिमन्तोऽर्थबोधकाः।
यच्चतुर्वक्त्रतो जाताः पुराणनिगमादयः॥४८॥

श्लोकानुवाद—आपके चतुर्मुखसे प्रकट हुए वेद और सभी पुराण आपकी सभामें मूर्त्तिमान होकर विराजमान रहते हैं और वही शास्त्रसमूह ही धर्म आदि चतुर्वर्ग और सभी तत्त्वोंके ज्ञाता हैं॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अर्थानां धर्मादीनां तत् साधनादीनां च ज्ञापकाः यस्य भवतश्चतुर्भ्यो वक्त्रेभ्य एवाविर्भूताः। एवमखिल ज्ञानसम्पत्त्यतिशयो दर्शितः॥४८॥

भावानुवाद—यहाँ अर्थ कहनेसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और उनके साधनसमूहके ज्ञापक वेद-पुराणादिको समझना चाहिए। वे शास्त्रसमूह आपके चतुर्मुखसे ही आविर्भूत हुए हैं। इसके द्वारा श्रीब्रह्माकी अखिल ज्ञान-सम्पत्ति प्रदर्शित हुई है॥४८॥

यस्य लोकश्च निश्छिद्रः स्वधर्माचारनिष्ठया।
मदादिरहितैः सद्भिर्लभ्यते शतजन्मभिः॥४९॥

श्लोकानुवाद—एक सौ जन्मों तक मद-मात्सर्यसे रहित होकर सम्पूर्ण निश्छिद्र (दोषरहित) और विशुद्धरूपसे सद्धर्मका पालन करनेवाले मनुष्य ही आपके इस लोकमें आगमन कर सकते हैं॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो अस्तु तावद्दूरे तव महात्म्यं, तल्लोकस्यापि महिमाद्भुत इत्याशयेनाह—यस्येति चतुर्भिः। निश्छिद्रः सम्पूर्णो विशुद्धो वा यः स्वधर्मस्याचारः आचरणं तस्मिन् निष्ठया परिपाकेन। आदिशब्देन दम्भलोभादि; सद्भिः साधुभिः; शतैर्जन्मभिः; एतच्च *'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चतामेति'* इति श्रीरुद्रेण चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/२४/२९) यदुक्तं तदनुसारेणोह्यम्॥४९॥

भावानुवाद—अहो! आपके माहात्म्यकी बात तो दूर रहे, आपके लोकवासियोंका माहात्म्य ही अति अद्भुत है। इसी अभिप्रायसे 'यस्य' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। दोषरहित और सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे धर्मका आचरण परिपूर्ण होने पर सौ जन्मके बाद कोई आपका यह लोक प्राप्तकर सकता है। 'आदि' शब्दका अर्थ है कि दम्भ-लोभ आदि रहित साधुगण ही इसे प्राप्त करते हैं, दूसरा नहीं। श्रीरुद्र भी यही कहते हैं—स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति सौ जन्ममें विरिञ्चि (श्रीब्रह्माके) पदको प्राप्त करता है॥४९॥

यस्योपरि न वर्त्तेत ब्रह्माण्डे भुवनं परम्।
लोको नारायणस्यापि वैकुण्ठाख्यो यदन्तरे॥५०॥

श्लोकानुवाद—आपके इस ब्रह्मलोकसे ऊपर और कोई दूसरा श्रेष्ठ लोक नहीं है और श्रीनारायणका वैकुण्ठलोक भी इसी ब्रह्माण्डके अन्तर्गत विराजमान है॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्य लोकस्योपरि सर्वलोकोपरितनत्वात्। ननु मल्लोकोपरि श्रीभगवतो वैकुण्ठलोको वर्त्तते, तत्राह—लोक इति। यस्य भवदीय लोकस्य अन्तरे मध्य एव, न तु स पृथगित्यर्थः॥५०॥

भावानुवाद—आपके इस ब्रह्मलोकसे ऊपर और कोई दूसरा लोक नहीं है अर्थात् यह सभी लोकोंसे ऊपर है। यदि कहो कि मेरे लोकसे ऊपर श्रीभगवान्‌का वैकुण्ठलोक विराजमान है, इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि आपके ब्रह्माण्डके अन्तर्गत ही वह वैकुण्ठलोक विराजमान है। अतएव वह ब्रह्मलोकसे पृथक् नहीं है॥५०॥

यस्मिन्नित्यं वसेत्साक्षात्महापुरुषविग्रहः।
स पद्मनाभो यज्ञानां भागानश्नन् ददत् फलम्॥५१॥

श्लोकानुवाद—इस वैकुण्ठमें भगवान् महापुरुषके श्रीविग्रहमें निरन्तर साक्षात् दर्शन देते हुए निवास करते हैं और वे श्रीपद्मनाभ यज्ञोंके भागोंको ग्रहण करके यथोचित् फल प्रदान करते हैं॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्मिन् वैकुण्ठाख्यलोके साक्षाद् दृश्यतां प्राप्तः सन् वसति। यज्ञानामेव फलं ददत् साक्षात्तद्भागभोगेन वरदानादिना च॥५१॥

भावानुवाद—इस वैकुण्ठ नामक लोकमें श्रीभगवान् साक्षात् अर्थात् दृश्यमान रूपमें पूजा स्वीकार करते हुए वास करते हैं। वे साक्षात् यज्ञोंके भागको ग्रहण कर उसके अनुरूप फल देते है और वर आदि प्रदान करते हैं॥५१॥

परमान्वेषणायासैर्यस्योद्देशोऽपि न त्वया।
पुरा प्राप्तः परं दृष्टस्तपोभिर्हृदि यः क्षणम्॥५२॥

श्लोकानुवाद—कल्पके प्रारम्भमें आपके द्वारा कमलकी नालमें प्रभुको चिरकाल तक खोजने पर भी जब आपको उनके दर्शन नहीं

हुए, तब आपने बहुत तपस्या करके अपने हृदयमें क्षणभरके लिए उनका दर्शनमात्र किया था॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अलभ्यलाभेन भगवत् कृपाविशेषं वर्णयितुं श्रीपद्मनाभस्य परम दुर्लभतामाह—परमेति। परमेण महता; यद्वा, परमाः अन्वेषणेन नाभिकमल नाड़ीद्वारा एकार्णवे बहुकालमार्गणेन ये आयासास्तैरपि, यस्य पद्मनाभस्य उद्देशः प्रदेशो निवासस्थानमपीत्यर्थः, यद्वा, अस्तित्वज्ञानमपि। पुरा कल्पादौ त्वया न प्राप्तः, परं केवलं कालान्तरे तपोभिर्हृद्येव यः क्षणमात्रं दृष्टः। अत्रापेक्षितस्तत्तद्विशेषश्च द्वितीयस्कन्धादौ द्रष्टव्यः। स साक्षान्नित्यं यस्मिन् वसेदिति पूर्वेणैवान्वयः॥५२॥

भावानुवाद—दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिके लिए भगवत्कृपाका वर्णन करके अब 'परम' इत्यादि पदों द्वारा भगवान् श्रीपद्मनाभकी परम दुर्लभताके विषयमें कह रहे हैं। आप परम अर्थात् महन हैं अथवा प्रभुके दर्शनके लिए बहुत कष्ट स्वीकार करके भी अर्थात् कल्पके प्रारम्भमें नाभिकमलका अवलम्बन करके एकार्णव (प्रलयजलमें) जाकर भी आपको प्रभुकी प्राप्ति नहीं हुई। यहाँ तक कि आप उनके निवास स्थानका भी तत्त्व-निर्द्धारण नहीं कर पाये तो फिर उनके अस्तित्व ज्ञानकी बातके विषयमें क्या कहें? इस प्रकार कल्पके आरम्भमें उनको न पाकर बहुत समयके बाद प्रचुर तपस्या द्वारा आपने अपने हृदयमें क्षणभरके लिए उनका दर्शन किया था। इस विषयका विशेष वर्णन द्वितीय-स्कन्धमें द्रष्टव्य है। वे ही अलभ्य श्रीपद्मनाभ अब आपकी पुरीमें साक्षात्‌रूपसे निवास कर रहे हैं॥५२॥

तत्सत्यमसि कृष्णस्य त्वमेव नितरां प्रियः।
अहो नूनं स एव त्वं लीलानानावपुर्धरः॥५३॥

श्लोकानुवाद—अतएव आप सचमुच भगवान् श्रीकृष्णके अतिप्रिय हैं। अहो! प्रिय ही नहीं, आप निश्चय ही महापुरुष हैं और आप ही लीलाके लिए नाना-प्रकारके शरीर धारण करते हैं॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मान्नितरां प्रियोऽसीति यत्तत् सत्यमेव; किञ्च स हरिरेव त्वम्; अहो आश्चर्ये; नूनं वितर्के निश्चये वा। 'ननु सहस्रशीर्षाः स शेते अन्यानि च बहूनि तस्य रूपाणि वर्त्तन्ते, अहं च चतुर्मुखस्तद्भिन्नः' इति चेत्तत्राह—लीलेति; तत्तद्रूपाणि त्वमेव लीलया धत्से इत्यर्थः॥५३॥

भावानुवाद—अतएव आप सचमुच भगवान् श्रीकृष्णके अति प्रियपात्र हैं। अधिक क्या कहूँ, आप ही वे महापुरुष हैं। अहो (आश्चर्यसे)! 'नूनं' वितर्क अथवा निश्चयके अर्थमें है। यदि कहो कि वे सहस्रशीर्षा महापुरुष तो शयन कर रहे हैं और उनके अनेक रूप भी वर्त्तमान हैं, किन्तु मैं चतुर्मुख ब्रह्मा उनसे भिन्न हूँ। इसलिए कह रहे हैं, आप ही लीलाके लिए विविध शरीर धारण करते हैं॥५३॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इत्थं माहात्म्यमुद्‌गायन् विस्तार्य ब्रह्मणोऽसकृत्।
शक्रप्रोक्तं स्वदृष्टञ्च भक्त्यासीत्तं नमन्मुनिः॥५४॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—इस प्रकार श्रीनारदने स्वयं जो कुछ देखा तथा इन्द्र द्वारा श्रीब्रह्माका जो माहात्म्य श्रवण किया, उसका विस्तारपूर्वक बारम्बार उच्च स्वरसे भक्तियुक्त होकर गान करने लगे। फिर उन्होंने श्रीब्रह्माको श्रद्धापूर्वक दण्डवत् प्रणाम किया॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—शक्रेण प्रोक्तं 'लक्ष्मीकान्तसुतो हि सः' इत्यादिकं स्वेन आत्मना श्रीनारदेन दृष्टं शास्त्रतो ज्ञातं साक्षात्तदानीमनुभूतं वा, ब्रह्मणो माहात्म्य-मसकृत् उच्चैर्गायन्, तं ब्रह्माणं नमन्नासीत्; परमभक्त्या नमस्कारान्न विररामेत्यर्थः॥५४॥

भावानुवाद—इन्द्र द्वारा कथित वचन—'श्रीब्रह्मा लक्ष्मीकान्त भगवान् श्रीनारायणके पुत्र हैं' इसका स्वयं दर्शन करके तथा शास्त्रोंसे जानकर और साक्षात्‌रूपसे अनुभव करके श्रीनारद ब्रह्माजीके माहात्म्यको विस्तारपूर्वक बारम्बार उच्च स्वरसे कीर्त्तन करने लगे। फिर उन्होंने श्रद्धापूर्वक श्रीब्रह्माको प्रणाम किया॥५४॥

शृण्वन्नेव स तद्वाक्यं दासोऽस्मीति मुहुर्वदन्।
चतुर्वक्त्रोऽष्टकर्णानां पिधाने व्यग्रतां गतः॥५५॥
अश्रव्यश्रवणाज्जातं कोपं यत्नेन धारयन्।
स्वपुत्रं नारदं प्राह साक्षेपं चतुराननः॥५६॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने श्रीनारदके इन वचनोंको सुनकर बारम्बार 'मैं उनका दास हूँ', 'मैं उनका दास हूँ' कहते-कहते अपने आठों कानोंको अपने हाथोंसे बन्द करने लगे। वे ऐसे अनुचित वचनोंको

सुनकर एकबार तो क्रोधित हुए, फिर यत्नपूर्वक अपने क्रोधको रोककर अपने पुत्र श्रीनारदकी भर्त्सना करते हुए कहने लगे॥५५–५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य मुनेर्वाक्यं स एव त्वमित्युक्तिं शृण्वन्नेव यः स ब्रह्मा यतश्चतुवक्तृः अतोऽष्टानां कर्णानां स्वकीयानां पिधाने आच्छादने व्यग्रतां प्राप्तः द्वाभ्यां कराभ्यां चतुर्भिर्वा तैरष्टानां कर्णानां पिधानस्य दुर्घटत्वात्, अश्रव्यस्य श्रोतुमयोग्यस्य श्रवणात्। धारयन् नियमन्नपि॥५५–५६॥

भावानुवाद—'आप ही श्रीकृष्ण हैं' इस बातको सुनकर चतुरानन ब्रह्मा बारम्बार कहने लगे 'मैं उनका दास हूँ'। फिर उन्होंने अपने आठों कानोंको अपने हाथोंसे बन्द करनेका प्रयास किया, किन्तु दो हाथों या चार हाथोंके द्वारा आठों कानोंको बन्द करना असम्भव था। तथापि यह बात सुननेके योग्य नहीं है—ऐसा विचारकर वे अपने कानोंको बन्द करनेके लिए बड़े व्याकुल हो गये॥५५–५६॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अहं न भगवान् कृष्ण इति त्वं किं प्रमाणतः।
युक्तितश्च मयाऽभीक्ष्णं बोधितोऽसि न बाल्यतः॥५७॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने कहा—हे नारद! क्या मैंने बचपनसे ही तुम्हें 'मैं भगवान् कृष्ण नहीं हूँ' यह बात प्रमाण और युक्ति द्वारा बार-बार समझायी नहीं है?॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रमाणतः श्रुति-स्मृतिवचनेभ्यः; बाल्यतः बाल्यमारभ्य त्वमभीक्ष्णं किं न बोधितोऽसि? अपितु बोधितोऽसि; अत्र च द्वितीयस्कन्धोक्त-श्रीब्रह्मनारद संवादोऽनुसर्त्तव्यः॥५७॥

भावानुवाद—क्या मैंने तुम्हें बचपनसे ही प्रमाणित-श्रुति-स्मृतिके वाक्यों द्वारा, 'मैं भगवान् कृष्ण नहीं हूँ' यह बात अच्छी तरहसे समझायी नहीं है। अपितु प्रमाण और युक्ति द्वारा बारम्बार समझायी है। इस विषयमें द्वितीय-स्कन्धका श्रीब्रह्मा-नारद संवाद द्रष्टव्य है॥५७॥

तस्य शक्तिर्महामाया दासीवेक्षापथे स्थिता।
सृजतीदं जगत्पाति स्वगुणैः संहरत्यपि॥५८॥

श्लोकानुवाद—उन्हीं श्रीकृष्णकी महामाया नामक शक्ति दासीकी भाँति प्रभुके सम्मुख उनकी आज्ञाके लिए हर समय खड़ी रहती है और वही शक्ति अपने गुणों द्वारा इस जगतका सृजन, पालन और संहार करती है॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—तस्येति सार्द्धेन। स्वगुणैः रजःसत्त्व-तमोभिर्यथाक्रमं सृजति पाति संहरति च॥५८॥

भावानुवाद—'तस्येति' श्लोक द्वारा उक्त विचार अर्थात् 'वे (श्रीब्रह्मा) श्रीकृष्ण नहीं है' को स्पष्ट कर रहे हैं। उन श्रीकृष्णकी महामाया नामक शक्ति अपने रजः, सत्त्व और तमो गुणों द्वारा इस जगतकी सृष्टि, पालन और संहार करती है॥५८॥

तस्या एव वयं सर्वेऽप्यधीना मोहितास्तया।
तन्न कृष्णकृपालेशस्यापि पात्रमवेहि माम्॥५९॥

श्लोकानुवाद—हम सभी उसी माया द्वारा मोहित और उसी मायाके ही अधीन हैं। अतएव मुझे श्रीकृष्णकी कृपालेशका पात्र भी मत समझ लेना॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—वयमिति पुत्रपौत्राद्यपेक्षया; एवं त्वमपि तन्मायामोहित एवेदृशं वदसीति भावः। तत्तस्मात्तन्माया-मोहितत्वादित्यर्थः॥५९॥

भावानुवाद—हम सभी (पुत्र-पौत्रादि सहित) और तुम भी उसी माया द्वारा मोहित हैं, अन्यथा तुम ऐसी मायामोहित बात नहीं करते॥५९॥

तन्माययैव सततं जगतोऽहं गुरुः प्रभुः।
पितामहश्च कृष्णस्य नाभिपद्मसमुद्भवः॥६०॥
तपस्व्याराधकस्तस्येत्याद्यैर्गुरुमदैर्हतः।
ब्रह्माण्डावश्यकापारव्यापारामर्शविह्वलः॥६१॥
भूतप्रायात्मलोकीयनाशचिंतानियन्त्रितः।
सर्वग्रासि-महाकालाद्भीतो मुक्तिं परं वृणे॥६२॥

श्लोकानुवाद—मैं उनकी मायासे मोहित होकर, 'मैं जगतका गुरु हूँ, पालक हूँ, पितामह हूँ' इत्यादि नाना-प्रकारके अभिमानसे भरपूर रहता हूँ। मैं श्रीकृष्णके नाभिकमलसे उत्पन्न हुआ हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं कृष्णकी आराधना करता हूँ, इत्यादि बड़े-बड़े अभिमान ही मेरे सर्वनाशके कारण हैं। मेरे ऊपर इस ब्रह्माण्डके आवश्यक कार्योंका भार है, उससे भी मैं सदैव व्याकुल रहता हूँ तथा अपने सम्पूर्ण लोकके नाशकी चिन्तासे सर्वदा पीड़ित रहता हूँ और सभीके संहारक महाकालके भयसे केवल मुक्तिकी कामना करता हूँ॥६०-६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयन् तत्कारुण्याभावलक्षणमाह—तन्मायेत्यादिभिः। गुरुर्नियामकः प्रभुः पालकः पितामहः स्रष्टा एवं जगत् संहार स्थिति सृष्टि कर्त्तेत्यर्थः। यद्वा, वेदादि शास्त्र प्रवर्त्तनेन गुरुरुपदेष्टा प्रभुश्चाधिकार दानादिना ततश्च संहारस्यनुक्तिः स्वत एव तस्यामङ्गल कर्मत्वेन भगवत् कृपा लक्षणागमकत्वात्। गुरुमदैर्महाभिमानैर्हतः। अतएव ब्रह्माण्ड सम्बन्धिनो ये आवश्यका अपाराश्चानन्ता व्यापारास्तेषामामर्शेन विचरेण विह्वलः। किञ्च भूतप्रायस्य संनिकृष्टस्य आत्मलोकीय नाशस्य ब्रह्मलोकान्तस्य चिन्तया नियन्त्रितः वशीकृतः सर्वग्रासिनो महाप्रलयकालाद्भीतश्च, अतएव परं केवलं तत्तदापि संसार दुःखान्मुक्तिमेवेच्छामीत्यर्थः। एवं प्रजापतित्वादिकं महाभिमान दोष कारणं न कृष्णकृपागमकमित्युक्तम्। नाभिपद्मसमुद्भवत्वात् स्वयम्भूत्वं निराकृतं, श्रुति महातन्त्र्याविद्यमानत्वादेव तद्वद्धत्वात् निजावश्यकानन्तकृत्य विचार विह्वलतोत्पत्तेर्वेदादीनां स्वसभायां वृत्तिरपि न कृपालक्षण मित्युद्दिष्टम्। निज-लोकोत्कर्षश्च भूतप्रायेत्यादिना निरस्तः। महाकालाद्भीत इत्यनेनेन्द्रोक्तौ दीर्घायुष्ट्व-महिमाप्याक्षिप्तः॥६०-६२॥

भावानुवाद—'मैं माया द्वारा मोहित हूँ' इस वाक्य द्वारा श्रीब्रह्मा अपने आपको मायाके वशीभूत बताते हुए अपने प्रति श्रीभगवान्‌की कृपाके अभावका लक्षण 'तन्माययैव' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। मैं उन्हींकी मायासे मोहित होकर सदैव अपने आपको जगतका नियामक, पालक, लोकपितामह, स्रष्टा, जगत-संहारक और स्थिति-सृष्टि करनेवाला मानकर गर्व करता हूँ। अथवा वेदादि शास्त्र प्रवर्त्तन द्वारा जगतका गुरु और उपदेष्टा, अधिकार आदि प्रदान करनेके कारण अपनेको प्रभुका अभिमान करता हूँ। संहार-कार्यके स्वतः ही अमंगलकर कर्म होनेसे इसमें भगवान्‌की कृपाका अभाव सूचित हो रहा है। ये बड़े-बड़े अहङ्कार ही मेरा सर्वनाश कर रहे हैं। इसके

अतिरिक्त ब्रह्माण्ड सम्बन्धीय जो आवश्यक कार्य हैं, वे अनन्त और अपार हैं; इसलिए उन सब कार्योंका विचार करके मैं बड़ा ही व्याकुल रहता हूँ तथा सर्वसंहारक महाकालके भयसे केवल मुक्तिकी कामना करता हूँ। अर्थात् आगतप्राय (अभी आ रहा है, अभी आ रहा है—इस प्रकार सन्निकट ही है) अपने लोकके विनाशकी चिन्तासे अभिभूत और वशीभूत होकर सदैव महाप्रलयकालके भयसे भीत हूँ, अतएव अब केवल ऐसे संसार दुःखसे मुक्तिकी इच्छा करता हूँ।

वस्तुतः इस प्रकार प्रजापति आदि होनेका महान अभिमान ही दोषका कारण है—श्रीकृष्णकी कृपाका लक्षण नहीं। 'श्रीविष्णुके नाभिकमलसे जन्म हुआ है' इस वचन द्वारा (उनके) स्वयंभू अर्थात् स्वयं जन्म ग्रहण करनेका खण्डन हो रहा है। 'श्रुतियाँ (महातन्त्र) और सभी पुराण मूर्त्तिमान होकर मेरी सभामें विराजमान हैं' यह भी भगवत्कृपाका लक्षण नहीं है, क्योंकि मैं सदैव महातन्त्री श्रुतियोंके बन्धनमें आबद्ध होकर सदा-सर्वदा अवश्य करणीय अनन्त कार्योंकी चिन्तासे विह्वल रहता हूँ और उनका ही पालन करता हूँ। 'आगतप्राय अर्थात् निकटकालमें ही अपने लोकके विनाशकी चिन्तासे मैं अभिभूत रहता हूँ'—इस वचनके द्वारा ब्रह्मलोकके उत्कर्षका खण्डन हुआ है। महाप्रलयके समय उनके अपने ब्रह्मत्वका ध्वंस हो जाता है, इसलिए इन्द्रादि देवताओंकी तुलनामें श्रीब्रह्माको महाकालका अत्यधिक भय बना रहता है। इसके द्वारा श्रीब्रह्माकी दीर्घ आयुकी महिमाका भी खण्डन होता है॥६०-६२॥

तदर्थं भगवत्पूजां कारयामि करोमि च।
आवसो जगदीशस्य तस्य वा न क्व विद्यते?॥६३॥

श्लोकानुवाद—मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए मैं स्वयं भगवान्‌की पूजा करता हूँ तथा दूसरोंसे भी करवाता हूँ। उन जगदीश्वरका स्थान कहाँ पर नहीं हैं?॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं भगवत् पूजादिनोक्तमुत्कर्षमाक्षिपति—तदर्थमिति। मुक्त्यर्थमेव, न तु भक्तिसुखाय; एवं नानुग्रहलक्षणमिति भावः। यच्चोक्तं—'भवल्लोकमध्य एव वैकुण्ठलोकः' इति तत् परिहरति—आवास इति। वसति स्थानं कुत्र न विद्यते, अपितु बहिरन्तश्च सर्वत्रापि वर्त्तत इत्यर्थः, जगदीशत्वात्॥६३॥

भावानुवाद—हे वत्स! तुम जो मेरे द्वारा की गई भगवत्पूजा आदिका उत्कर्ष वर्णन करके मुझ पर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा है, ऐसा कह रहे हो, परन्तु यह सत्य नहीं है। मैं तो मुक्ति प्राप्त करनेके लिए भगवान्‌की पूजा करता हूँ—भक्ति सुखके लिए नहीं, अतः यह भगवत्कृपाका लक्षण नहीं है। 'मेरे लोकमें जो वैकुण्ठलोक है' वह कोई असाधारण नहीं है, क्योंकि उन भगवान्‌का वासस्थान कहाँ नहीं है? अपितु वह तो भीतर बाहर सर्वत्र ही विराजमान हैं। इसके द्वारा श्रीनारदकी उक्ति 'आपके लोकके अन्तर्गत जो वैकुण्ठ हैं, उसीमें श्रीनारायण वास करते है' का भी खण्डन हुआ॥६३॥

वेदप्रवर्त्तनायासौ भागं गृह्णाति केवलम्।
स्वयं सम्पादितप्रेष्ठयज्ञस्यानुग्रहाय च॥६४॥

श्लोकानुवाद—प्रभु जो यज्ञभाग ग्रहण करते हैं, वह भी केवल अपने आज्ञारूप वेदोंके प्रवर्त्तन और स्वयं सम्पादित यज्ञमूर्त्ति अथवा यज्ञविधिके प्रति अनुग्रह करके ही करते हैं (मेरे प्रति अनुग्रह करके नहीं)॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—यच्चोक्तं—'भगवान् साक्षाद्‌यज्ञभागान् स्वीकरोति' इति तदपि परिहरति—वेदेति। वेदस्य स्वकीयाज्ञारूपस्य लोकेषु प्रवर्त्तनाय; स्वयं भगवतैव संपादितस्य वेदरक्षार्थमेवाखिलोपकरण-निष्पादनेन प्रवर्त्तितस्य प्रेष्ठस्य स्वप्रियतमस्य निजप्रिय मूर्त्तित्वात् यज्ञस्य जातावेकत्वं यागविधेर्वानुग्रहाय केवलमिति; न तु कथञ्चिदपि मद् वात्सल्येन यजमानवर्ग भक्त्यादिना वेत्यर्थः॥६४॥

भावानुवाद—तुमने कहा है, 'भगवान् यज्ञभाग स्वीकार करते हैं', उसका भी खण्डन कर रहा हूँ, श्रवण करो। वेद भगवान्‌के मुखकी वाणी हैं, श्रीभगवान् केवल अपनी आज्ञारूप वेदवाणीके प्रचार अथवा वेदवाक्यकी रक्षाके लिए और अपने द्वारा सम्पादित प्रियतम यज्ञमूर्त्ति अथवा यज्ञविधिकी रक्षाके लिए समस्त उपकरणोंके द्वारा सम्पन्न यज्ञभाग ग्रहण करते हैं। वे ऐसा केवल अपनी प्रिय यज्ञमूर्त्तिके प्रति अनुग्रह प्रकाश करनेके लिए ही करते हैं, मेरे प्रति अनुग्रह करके नहीं। अर्थात् मेरे प्रति वात्सल्य प्रकाश करनेके लिए या यजमानोंकी भक्तिके वश होकर वे यज्ञभाग ग्रहण नहीं करते हैं॥६४॥

विचाराचार्य बुध्यस्व स हि भक्त्यैकवल्लभः।
कृपां तनोति भक्तेषु नाभक्तेषु कदाचन्॥६५॥

श्लोकानुवाद—अहो विचाराचार्य! भगवान् श्रीकृष्ण केवल भक्तिप्रिय हैं। वे केवल अपने भक्तोंके प्रति कृपा करते हैं, अभक्तों पर नहीं॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे विचाराचार्येत्युपहासः; भक्तिरेवैका वल्लभा यस्य सः; *'भक्तयाऽमेकया ग्राह्यः'* इत्यादि भगवदुक्तेः (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२१)। अतएव स्वभक्तेषु कृपां विस्तारयति॥६५॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्माने कहा, अहो विचाराचार्य! (वस्तुतः यह वाक्य उपहास पूर्वक कहा गया है। अर्थात् तुम तो बहुत बड़े विचारक हो! श्लेष अर्थ—तुम कुछ भी नहीं समझते हो, इसलिए प्रशंसा कर रहे हो।) श्रीभगवान्‌को एकमात्र भक्तिप्रिय समझना। "केवला भक्तिसे ही मैं साधुओंके द्वारा जाना जाता हूँ।" यही उनके श्रीमुखकी वाणी है। अतएव श्रीभगवान् अपने भक्तोंके प्रति ही कृपाका विस्तार करते हैं॥६५॥

भक्तिर्दूरेऽस्तु तस्मिन् मे नापराधा भवन्ति चेत्।
बहुमन्ये तदात्मानं नाहमागःसु रुद्रवत्॥६६॥

श्लोकानुवाद—उनके श्रीचरणोंमें मेरी भक्तिकी बात तो दूर रहे, उनके चरणकमलोंमें मेरा किसी प्रकारका अपराध न हो जाय, यही मेरे लिए बहुत है, क्योंकि जिस प्रकार वे श्रीशिवके अपराधोंको क्षमा करते हैं, उस प्रकार मेरे अपराधोंको क्षमा नहीं करते हैं॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहु मन्ये—साधुरस्मीति मन्ये, ननु भगवता तवापराधा न गृह्यन्त इति चेत्, तत्राह—नाहमिति। यथा रुद्रस्यागांसि नेक्ष्यन्ते तेन क्षम्यन्ते तथा न ममेत्यर्थः॥६६॥

भावानुवाद—भक्तिकी बात तो दूर रहे, मैं तो इसीको बहुत समझता हूँ कि मेरा उनके श्रीचरणोंमें कोई अपराध न हो जाय। यदि कहो कि भगवान् आपके अपराधको ग्रहण नहीं करते—इसके लिए कह रहे हैं कि तुम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वे जिस प्रकार

श्रीशिवके अपराधोंको क्षमा करते हैं, उस प्रकारसे मेरे अपराधोंको क्षमा नहीं करते हैं॥६६॥

मदाप्तवरजातोऽसौ सर्वलोकोपतापकः।
हिरण्यकशिपुर्दुष्टो वैष्णवद्रोहतत्परः॥६७॥
श्रीमन्नृसिंहरूपेण प्रभुणा संहृतो यदा।
तदाहं सपरिवारो विचित्रस्तवपाटवैः॥६८॥
स्तुवन् स्थित्वा भयाद् दूरेऽपाङ्गदृष्ट्यापि नादृतः।
प्रह्लादस्याभिषेके तु वृत्ते तस्मिन् प्रसादतः॥६९॥
शनैरुपसृतोऽभ्यर्णमादिष्टोऽहमिदं रुषा।
मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव!॥७०॥
तथापि रावणादिभ्यो दुष्टेभ्योऽहं वरानदाम्।
रावणस्य तु यत्कर्म जिह्वा कस्य गृणाति तत्॥७१॥

श्लोकानुवाद—दुष्ट हिरण्यकशिपु मुझसे वर प्राप्त करके सभी लोगोंको दुःख देने लगा और वैष्णवोंसे द्रोह करने लगा। भगवान् श्रीनारायणने जब श्रीनृसिंहरूपमें प्रकट होकर उसका संहार किया, तब मैं उनके भीषणरूपके दर्शन करके भयभीत हो गया। मैंने सपरिवार दूर खड़े होकर ही भगवान्‌की विविध प्रकारसे स्तव-स्तुति की, परन्तु भगवान्‌ने कटाक्ष द्वारा भी मेरा आदर नहीं किया, अपितु श्रीप्रह्लादके स्तवसे वे शीघ्र ही प्रसन्न हो गये। तदुपरान्त जब उनकी कृपासे श्रीप्रह्लादका राज्याभिषेक समाप्त हुआ, तब मैं धीरे-धीरे प्रभुके निकट उपस्थित हुआ। उन्होंने क्रोधसे भरकर मुझे यह आदेश दिया, "ब्रह्मन्! तुम फिर कभी भी असुरोंको इस प्रकारका वर मत देना।" तो भी मैंने रावण आदि असुरोंको वर प्रदान किया। हाय! रावणने जो घृणित कार्य किये, उनका अपनी जिह्वा द्वारा कौन वर्णन कर सकता है?॥६७-७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—मदाप्तेत्यादिना बालकलीलयेत्यन्तेन। तत्र हिरण्यकशिपु वध प्रसङ्गे भगवद्व्यवहार-वचनाभ्यामेवापराधाक्षमामादौ चतुःश्लोक्या दर्शयति। तत्र प्रथमश्लोकेन हिरण्यकशिपु संहार हेतु निर्द्देश द्वारा स्वापराध एवोद्दिष्टः। ततःपरं स्वपादपद्मेन कृपावलोक प्राप्तियोग्यता स्वस्य दर्शिता। नेत्रान्तावलोकनेनाप्यहं

नादृत इत्यपराधाक्षमालक्षणं व्यवहारतः, वचनादपि दर्शयति—प्रह्लादस्येति सार्द्धेन। तस्मिन् प्रह्लादे विषये निमित्ते वा; तदभ्यर्थनया यः प्रसादस्तस्माद्धेतोरित्यर्थः। यद्वा, ल्यब्लोपे पञ्चमी—प्रह्लादे प्रसादमालोच्य; अधुना प्रसन्नहृदयो जातो मदनुग्रहं करिष्यतीति विचार्येत्यर्थः; अभ्यर्णं प्रभोरेव समीपं शनैर्लघु लघु उपसृतः सन्; इदं निरन्तरं वक्ष्यमाण पद्यार्द्धम्; रुषा निजभक्त श्रीप्रहलाद-विषयक-हिरण्यकशिपुकृत-महाद्रोहेण या रुट् क्रोधस्तया सह कृत्वा वाहमादिष्टः। प्रभुणैव प्रामाण्याय सप्तम स्कन्धश्लोकार्द्धमेव (श्रीमद्भा॰ ७/१०/३०) निदर्शयति—'मैवम्' इति। एवमन्यदग्रेऽप्यूह्यम्। हे पद्मसम्भवेति। मन्नाभिपद्मजातत्वादेव शास्तिं न करोमीति भावः। तथापि एवं निषेधे भगवता कृतेऽपि; यत् कर्म—सीताहरणादिकम्; एवं मदाप्तवरत्वाद्धिरण्यकशिपु-रावणाभ्यां कृतापि दुश्चेष्टा मदपराध एव पर्यवस्यन्तीति भावः॥६७–७१॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्माके अपराधोंके सम्बन्धमें 'मदाप्त' इत्यादिसे लेकर 'गोपबालकलीलया' तक ग्यारह श्लोकोंमें वर्णित हुआ है। उनमें हिरण्यकशिपु-वधके प्रसंगमें ब्रह्माके प्रति भगवान्‌का व्यवहार और उनके द्वारा किये हुए अपराधकी क्षमा माँगनेकी बात पहले चार श्लोकोंमें कही गयी है। इनमें से पहले श्लोकमें हिरण्यकशिपुके संहारका कारण बतला कर अपने अपराधकी बात कहकर तत्पश्चात् भगवान्‌के चरणकमलोंकी कृपा प्राप्तिके लिए अपनी अयोग्यता प्रदर्शित कर रहे हैं। 'उन्होंने कटाक्ष द्वारा भी मेरा आदर नहीं किया', इसके द्वारा श्रीब्रह्मा यह प्रदर्शन करना चाहते हैं कि भगवान्‌का ऐसा व्यवहार और ऐसे वचन उन्हें क्षमा न करनेका ही लक्षण है। तदनन्तर उनकी कृपासे श्रीप्रह्लाद महाराजका अभिषेक सम्पन्न हुआ और वे प्रह्लादके प्रति शीघ्र ही प्रसन्न हुए अर्थात् यह देखकर मैंने विचार किया कि अब भगवान् प्रसन्न हो गये हैं और मेरे प्रति भी अनुग्रह करेंगे। यह विचार करके जब मैं धीरे-धीरे चलकर उनके समीप उपस्थित हुआ, तब वे अपने भक्त श्रीप्रह्लादके प्रति हिरण्यकशिपुके द्रोहाचरणको स्मरण करके और मेरे द्वारा प्रदान किया गया वर ही उसका कारण है, ऐसा जानकर क्रोधपूर्वक मुझे आदेश देने लगे। "अहो ब्रह्मन्! तुम फिर कभी भी किसी असुरको ऐसा वर मत देना।" इस प्रकार अन्य प्रसंगमें भी कहा गया है, हे ब्रह्मन्! तुम मेरे नाभिकमलसे आविर्भूत हुए हो, इसलिए मैं तुम्हें कोई दण्ड नहीं दे रहा हूँ—यही 'पद्मयोनि' शब्दका गूढ़ार्थ है। तथापि मैंने रावण जैसे

दुष्टोंको वर प्रदान किया। रावणने श्रीसीतादेवीका हरण इत्यादि जो सब घृणित कार्य किया, उसको अपने मुखसे कौन वर्णन कर सकता है। इस प्रकार अतिदुष्ट हिरण्यकशिपु और रावण जैसे असुरगण मुझसे वर प्राप्त करके सभी लोगोंको पीड़ा देते हैं और वैष्णवोंसे द्रोह करते हैं। उनके द्वारा की गयी दुष्टता मेरे अपराधका कारण बन जाती है॥६७–७१॥

मया दत्ताधिकाराणां शक्रादीनां महामदैः।
सदा हत विवेकानां तस्मिन्नागांसि संस्मर॥७२॥
वृष्टि युद्धादिनेन्द्रस्य गोवर्द्धन–मखादिषु।
नन्दाहरणवाणीयधेन्वदानादिनाऽप्पतेः ॥७३॥
यमस्य च तदाचार्यात्मजदुर्मारणादिना।
कुबेरस्यापि दुश्चेष्टशंखचूड़कृतादिना॥७४॥
अधोलोके तु दैतेया, वैष्णवद्रोहकारिणः।
सर्पाश्च सहजक्रोधदुष्टाः कालियबान्धवाः॥७५॥

श्लोकानुवाद—मेरे द्वारा दिये गये अधिकारसे इन्द्र आदि सभी देवतागण मदसे अन्धे होकर विवेकरहित हो गये हैं, इसलिए उन्होंने स्वयं भगवान्‌के प्रति जो-जो अपराध किये हैं, उनको तुम स्मरण करो। इन्द्रने गोवर्धन-यज्ञके समय कितनी मूसलाधार वर्षा की और प्रभुके साथ युद्ध किया, वरुणने श्रीकृष्णके पिता गोपराज श्रीनन्द महाराजका अपहरण किया, बाणासुरने गायोंको नहीं लौटाया, यमराजने श्रीकृष्णके गुरु-पुत्रको अनुचितरूपसे संहार किया, कुबेरने अपने अनुचर शंखचूड़के द्वारा भगवान्‌के प्रति अपराध किया है; पातालके दानवगण भी स्वभावतः वैष्णव-द्रोही हैं और उनके लोकके कालियके बन्धु-बान्धव सर्प भी महाक्रोधी और दुष्ट हैं॥७२–७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च लोकपालानामधिकारद इत्यनेनोक्तमुत्कर्षं निराकर्त्तुं शक्रेण स्वाभिमानतयानुक्तमपि तदपराधं प्रकाशयन् तदादीनां लोकपालानमप्यपराधा मय्येव पर्यवस्यन्तीत्यभिप्रायेणाह—मयेति चतुर्भिः। तस्मिन् प्रभौ; त्वं जानास्येव, किन्त्वधुना संस्मर विचारय अनुसन्धेहीति वा। आगांस्येवाह—वृष्टीति द्वाभ्याम्। श्रीगोवर्द्धनाद्रि पूजायां महावृष्टया; सप्तम्यन्तादादिशब्दात् पारिजात्-हरणादि, तत्र च

युद्धेन; तृतीयान्तादादिशब्दाद् गर्ग वाक्यादि; तेनेन्द्रस्यागांसीति पूर्वेणैवान्वयः। अप्पतेर्वरुणस्य च द्वादश्यां रात्रिशेषे जले मग्नस्य नन्दस्याहरणं बद्ध्वा स्वपूर्यामानयनं बाणसम्बन्धि धेनुनामदानं चासमर्पणं, तदादिना; आदि शब्देन वञ्चन वचनादिकम्। तदाचार्य–सान्दीपनिस्तस्य य आत्मजो मधुमङ्गलनामातस्य पञ्चजन दैत्यद्वारेण दुर्मारणम्, तदादिना आदि शब्देन श्रीविष्णुपुराणाद्युक्त युद्धादिकम्। दुश्चेष्टस्य दुष्टस्य शंखचूड़स्य यत्कृतं कर्म गोपीगण–हरणम्, तदादिना; आदि शब्देन पुराणान्तरोक्तं यथा यमलार्ज्जुनताप्राप्त–तत्पुत्रद्वयस्य कंसानुवर्त्तित्वादि। एवं मुख्य चतुर्द्दिकपालानामपराधं निर्द्दिश्य पातालवासिनमप्याह—अध इति। भगवतः कालियकृतां दुश्चेष्टां स्मारयन् तत्सम्बन्धेन सर्पाणां महापराधित्वं दर्शयति—कालियबान्धवा इति॥७२–७५॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्मा कुछ और भी कह रहे हैं—तुम मुझे लोकपाल आदिका अधिकार–प्रदाता बतलाकर मेरा उत्कर्ष दिखाकर जो प्रशंसा कर रहे हो, उसका भी खण्डन कर रहा हूँ, श्रवण करो। उन सभी लोकपालोंके अपराध भी मुझमें ही पर्यवसित हो रहे हैं, क्योंकि मैंने ही उनको उनके पदों पर नियुक्त किया है और मेरे द्वारा प्रदान किये गये अधिकारके बल पर ही वे मदमें अन्ध और विवेकरहित हो गये हैं। इन्द्र आदि लोकपालोंने भगवान्‌के प्रति जो–जो अपराध किये हैं, उनका स्मरण करो। यद्यपि तुम उनके द्वारा किये गये अपराधोंसे पूर्ण अवगत हो, तथापि अब पुनः उनका स्मरण करो और विचार करके अनुसन्धान करो। इन्द्रने क्रोधित होकर श्रीगोवर्धन पूजाके प्रारम्भमें ही एक सप्ताह तक अपने पूर्ण सामर्थ्यके अनुरूप प्रलयरूपी मूसलाधार वर्षा करके तथा पारिजात हरणके समय भगवान्‌से युद्ध कर तथा गर्वसूचक वचनोंका प्रयोग करके अपनी उदण्डताका ही प्रकाश किया था। वरुणने द्वादशीकी रात्रिके अन्तिम प्रहरमें जलमग्न गोपराज श्रीनन्दका अपहरण किया और उनको बन्दी बनाकर अपनी पुरीमें ले आये थे। राजा बाणने श्रीकृष्णके विरुद्ध युद्ध करके पराजित होने पर भी गायोंको नहीं लौटाया तथा नाना–प्रकारके वञ्चनापूर्ण वाक्योंका प्रयोग किया था। यमने श्रीकृष्णके गुरुपुत्र अर्थात् सान्दीपनि मुनिके पुत्र मधुमंगल आदिका पाञ्चजन्य नामक दैत्य द्वारा अनुचितरूपसे संहार करवाया था।

'आदि' शब्द द्वारा श्रीविष्णुपुराणमें उक्त युद्ध आदिको स्वीकार करना होगा। कुबेरका अपराध भी कोई कम नहीं है, उसने दुराचारी

शंखचूड द्वारा गोपियोंका हरण करवाकर भगवान्‌के प्रति अपराध किया था। उसी कुबेरके दो पुत्रों यमलार्जुनने वृक्ष-जन्म लेकर भी कंसके आदेशसे महान अपराध किया है (यह घटना पुराणोंमें कही गयी है)। इस प्रकार मुख्य चार दिग्पालोंके अपराधोंको निर्देश कर अब पातालवासी दानवोंकी बात कह रहे हैं—दानवगण वैष्णवद्रोही हैं, उनके लोकमें कालिय-बन्धु सभी सर्प भी स्वभावतः क्रोधी और महादुष्ट हैं। इस प्रकार कालियकी दुश्चेष्टाको स्मरण कराकर उससे सम्बन्धित सभी सर्पोंका भी महापराध दिखा रहे हैं॥७२-७५॥

सम्प्रत्यपि मया तस्य स्वयं वत्सास्तथार्भकाः।
वृन्दावने पाल्यमाना भोजने मायया हृताः॥७६॥

श्लोकानुवाद—अभी कुछ ही दिन पहले मैंने स्वयं श्रीवृन्दावनमें जाकर श्रीकृष्णके वनभोजनके समयमें उनके द्वारा पालित बछड़े और सभी गोपबालकोंको अपनी माया द्वारा हरण कर लिया था॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमन्यकृताप्यपराधास्तत्तत् सम्बन्धेन मय्येव पर्यवसितः इत्युक्त्वा इदानीं स्वयमेव साक्षात्कृतं महापराधं निर्द्दिशति—सम्प्रतीति। तथेत्युक्त समुच्चये, तादृशा इति वा; भोजने भोजनसमये; यद्वा, भोजने स्थिता भुञ्जाना इत्यर्थः। अनेनापराधस्य महत्त्वं दर्शितम्; एवं 'वृन्दावन' इति, 'पाल्यमाना' इति 'मायया' इत्येतैश्च॥७६॥

भावानुवाद—इस प्रकार दूसरोंके द्वारा भी भगवान्‌के प्रति किये गये अपराधोंका परिणाम मुझमें ही पर्यवसित हो रहा है। अभी कुछ ही समय पूर्व मैंने स्वयं ही साक्षात्‌रूपसे जो महापराध किया है, उसीको ही बतला रहा हूँ। श्रीवृन्दावनमें प्रभुके भोजनके समय अथवा भोजन कार्यमें रत रहने पर उनके अत्यधिक प्रिय बछड़ों और सभी ग्वालबालोंका मैंने हरण कर लिया था। वे 'स्वयं प्रभु द्वारा पालित हैं', 'वृन्दावनसे' तथा 'माया द्वारा' हरण किया है, इन शब्दोंके द्वारा अपराधका गुरुत्व प्रदर्शित हुआ है॥७६॥

ततो वीक्ष्य महाश्चर्यं भीतः स्तुत्वा नमन्नपि।
धृष्टोऽहं वञ्चितस्तेन गोपबालकलीलया॥७७॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् मैं भगवान्‌की एक बड़ी आश्चर्यजनक लीलाको देखकर अत्यन्त भयभीत हो गया। मेरे द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति और प्रणाम करने पर भी उन्होंने गोपबालककी लीला द्वारा मुझे वञ्चित किया, क्योंकि मैं अत्यन्त धृष्ट हूँ॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाश्चर्यं तादृशैर्वत्सैर्बालैश्च सहाब्दं यावत्तथैव क्रीड़न्तम्; तथा सर्वेषामेव तेषां प्रत्येकं जगदाश्रयसच्चिदानन्दघनमय-भगवद्रूपतादिकञ्च वीक्ष्य; भीतो महापराधात्तस्मात्; धृष्टः पुनः पुनरपराधाचरणात्, यद्वा, एतादृशि महापराधे कृतेऽपि भगवतः साक्षाद्गमन-स्तुति-प्रणामेषु प्रवृत्तेः; तेन प्रभुणा, गोपबालकस्यैव या लीला स्वपाणिकवलतया वत्सबालकान्वेषणाह्वानादिरूपा, तयावञ्चितः प्रतारितो मोहितो वा, न तु सम्भाषणादिनानुगृहीत इत्यर्थः॥७७॥

भावानुवाद—किन्तु उन सभी बछड़ों और गोपबालकोंको हरण करनेके पश्चात् भगवान्‌की महा आश्चर्यमयी लीलाको देखकर मैं भयभीत हो गया। वह लीला किस प्रकारकी थी? मैंने जिन बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण किया था, भगवान्‌ने स्वयं उन बछड़ों और ग्वालबालोंका रूपधारण करके एक वर्ष तक गोचारण आदि लीलाएँ कीं तथा उन बछड़ों और ग्वालबालों प्रत्यकको जगतके आश्रय सच्चिदानन्दघनमय भगवद्विग्रह रूपमें देखकर मैं भयभीत हुआ और स्तव करने लगा। मैं अत्यन्त धृष्ट हूँ, इसलिए पुनः-पुनः भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपराध करता हूँ। अथवा ऐसे महान अपराधको करके भी धृष्टतापूर्वक भगवान्‌के समीप गया और प्रणाम करके स्तव करने लगा। किन्तु भगवान्‌ने किसी प्रकारके भी सम्भाषण द्वारा न तो मुझे आश्वासन ही दिया और न ही मेरे प्रति कटाक्षपात भी किया। वे मेरी उपेक्षाकर साधारण गोपबालकके समान अपने हाथों और मुख-भंगिमा द्वारा बछड़ों और बालकोंको ढूढ़ने लगे। अतएव भगवान्‌ने गोपबालक लीला द्वारा मुझे वञ्चित किया है—इसमें उनकी कोई कृपा नहीं है॥७७॥

तस्य स्वाभाविकास्याब्ज प्रसादेक्षणमात्रतः।
हृष्टः स्वं बहु मन्ये स्म तत्प्रियव्रजभूगतेः॥७८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैं ऐसा अपराधी हूँ, तथापि उनकी प्रिय व्रजभूमिमें जानेका सौभाग्य तो प्राप्त हुआ। श्रीकृष्णके मुखकमल पर जो स्वाभाविक मुस्कुराहट तथा प्रसन्नता रहती है, उसके दर्शनमात्रसे ही प्रसन्न होकर मैं अपनेको कृतार्थ मानता हूँ॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि भवान् सहर्षं निजलोके वसति? तत्राह—तस्येति। प्रभोः स्वाभाविकोः सहजो य आस्याब्जस्य प्रसादस्तस्य दर्शनमात्रेणैव हृष्टः सन् स्वमात्मानमहं कृतार्थममंसि। तत्र कारणान्तरं चाह—तस्य प्रियायां व्रजभुवि श्रीवृन्दावनादौ गतेः स्वगमनात्। यद्वा, सा अनिर्वचनीय माहात्म्या, अतः प्रिया भगवद्वल्लभा या व्रजभूस्तस्यागतेः शरणस्येति तत्रत्य वत्सबालक हरणान्निजा-अपराधातिरेको द्योतितः। तथा वक्ष्यमानस्य ततोऽपसरणस्य हेतुरप्यभिव्यञ्जित इति दिक्॥७८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि इतने अधिक अपराध करने पर भी आप कैसे प्रसन्नतापूर्वक अपने लोकमें वास कर रहे हैं? बतला रहा हूँ, श्रवण करो। ऐसा अपराधी होने पर भी मैं उनकी प्रियतम श्रीव्रजभूमिके शरणागत हुआ था। इसलिए अनन्यगति उन भगवान्के श्रीमुखकमलकी स्वाभाविक प्रसन्नताके दर्शनमात्रसे ही मैं प्रसन्न और कृतकृतार्थ हो गया। दूसरा कारण है—उनकी प्रियतम व्रजभूमि श्रीवृन्दावन आदि अनन्यगति होने पर भी दीर्घकाल वहाँ रहने पर कोई अपराध न हो जाय, इसी भयसे वहाँसे चला आया हूँ। अथवा उस अनिर्वचनीय-माहात्म्य विशिष्ट भगवान्की प्रियतम श्रीव्रजभूमिकी शरण लेनेके कारण अपने अपराधसे मुक्त हुआ, ऐसा विचार करके अपनेको धन्य मानने लगा। इसके द्वारा पूछे गये प्रश्न तथा श्रीब्रह्माके श्रीवृन्दावनसे जानेका कारण प्रदर्शित हुआ॥७८॥

तत्रात्मनश्चिरस्थित्याऽपराधाः स्युरिति त्रसन्।
अपासरं किमन्यै स्तन्निजासौभाग्यवर्णनैः॥७९॥

श्लोकानुवाद—उस व्रजभूमिमें दीर्घकालवास करनेसे यदि फिर किसी प्रकारका अपराध हो जाय, इसी भयसे मैं व्रजभूमिसे लौट आया। हे नारद! अपने दुर्भाग्यकी बात कहाँ तक सुनाऊँ? यही यथेष्ट है॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि तत्रैव न स्थितं तत्राह—तत्रेति। ईश्वरस्यानवसरे रहस्यदेशे च चिरमवस्थानेनापराधा एव भवेयूरित्येवं त्रसन् भयं प्राप्नुवन्; तस्य सुप्रसिद्धस्य; यद्वा स्वयमेव साक्षान्मया स्मर्यमाणस्य निजस्य स्वीयस्य असौभाग्यस्य दौर्भाग्यस्य वर्णनै निरूपणैरन्यैः किम्? एतावतैव त्वदुक्तं सर्वमाक्षिप्तमभूदित्यर्थः ॥७९॥

भावानुवाद—यदि कहो कि व्रजमें जाकर भी आपने उनकी प्रियतम व्रजभूमिमें वास क्यों नहीं किया? उसीके लिए 'तत्र' इत्यादि पद कह रहे हैं। मेरा सदैव वहीं पर वास करना ही उचित है; किन्तु अधिक समय वहाँ वास करने पर यदि किसी प्रकारका अपराध हो जाय, इसी भयसे उस स्थानसे चला आया हूँ। वह व्रजभूमि भगवान्‌की रहस्यपूर्ण लीलास्थली है, उस समय वहाँ पर भगवान् अपनी लीलाओंमें निमग्न (व्यस्त) थे। अधिक क्या कहूँ? अपने दुर्भाग्यका स्मरणकर अधिक वर्णन करनेका आवश्यकता नहीं समझता हूँ। विशेषतः तुमने मेरी प्रशंसाके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा है, उन सबका खण्डन हो गया है॥७९॥

अथ ब्रह्माण्डमध्येऽस्मिंस्तादृग् नेक्षे कृपास्पदम्।
विष्णोः किन्तु महादेव एव ख्यातः सखेति यः ॥८०॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीमहादेव ही भगवान् श्रीविष्णुके कृपापात्र हैं, क्योंकि वे भगवान्‌के सखाके रूपमें विख्यात हैं। अतएव इस ब्रह्माण्डमें उनके समान भगवान्‌का कृपापात्र और कोई भी नहीं देखा जाता है॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मान्मध्योर्द्धाधोवासि-दोषसद्भावात्। यद्यपि श्रीमहादेवाद्यपेक्षया भगवद् परमानुग्रह पात्रत्वेनाग्रे वक्ष्यमाणाः श्रीप्रहलादादयो ब्रह्माण्डाभ्यन्तर एव वर्त्तन्ते, तथापि तेषां प्रपञ्चातीत स्वभावकत्वाद्वासस्थानमपि तादृशमेव, न तु प्रपञ्चान्तर्गणनीयमित्यतो ब्रह्माण्ड मध्य इति युक्तमेवोक्तं; यद्वा आत्मानं प्रति भगवतो यादृशोऽनुग्रहः, अन्यस्मिन्नपि तत् सजातीय एवानुग्रहः स्वे मनसि ग्रहीतुं शक्येत, तत्तत्त्वानुभवसम्भवात्। न त्वन्यादृशः कश्चित् परम महत्तया सर्वत्र प्रकाशमानोऽपि स्वसादृश्या भावेन तत्र स्वमनः प्रवेशायोगात्। यद्वा, सादृश्य एवोत्कृष्टापकृष्टता विचारादिकं सम्भवेत्, न त्वत्यन्तासादृश्ये तृण पर्वतादेर्लघुगुरुतादि विचारवत्। अतो हरिवंशे धन्योपाख्याने भगवती गङ्गा आत्मनः सकाशात्

समुद्रमेव धन्यमाह; न तु ततोऽधिकतर धन्यमपि ब्रह्माणमेवं निजवैभवतः श्रीमहादेवस्य वैभवातिरेकमपेक्ष्य तस्मिन् स्वस्मादधिको भगवतोऽनुग्रहो ब्रह्मणोक्तः, न तु प्रह्लादादिषु कुतस्तरां गोपबालकादिष्विति दिक्। एवमुत्तरत्र पूर्वत्रापि सर्वत्र, किन्तु महादेव एव कृपास्पदम्। तल्लक्षणान्याहख्यात इत्यादिना स्फुटमित्यन्तेन। यः सखेति ख्यातः प्रसिद्धः॥८०॥

भावानुवाद—अतएव भगवान्के परम कृपापात्र यदि मर्त्यलोकमें (पृथ्वीलोकमें) या उच्चलोकमें या फिर निम्नलोकमें जहाँ कहीं भी वास करते हैं, उनमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता। यद्यपि श्रीमहादेवकी तुलनामें श्रीप्रह्लाद आदि भगवान्के अधिक कृपापात्र हैं और वे ब्रह्माण्डके भीतर ही वास करते हैं (इसे प्रसंगके अन्तमें वर्णन किया जायेगा), तथापि वे प्रपञ्चातीत स्वभावसे युक्त हैं, इसलिए उनका वासस्थान भी उनके समान प्रपञ्चातीत है। अर्थात् उनके वासस्थानको जड़ जगतके भीतर नहीं माना जाता। परन्तु श्रीब्रह्माने अपनेसे श्रीमहादेवको ही श्रीभगवान्का अधिक कृपापात्र बताया, श्रीप्रह्लादको नहीं। इसका कारण है कि अपने प्रति भगवान्की जैसी कृपा है, वैसी ही कृपा जिस भक्तमें दिखाई देती है, उसी भक्तको वे हृदयसे ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे और वैसे ही तत्त्वका अनुभव सम्भव होगा। किन्तु दूसरे किसी पर यदि भगवान्की अत्यधिक कृपा हो और वह कृपा सर्वत्र प्रकाशित भी हो, तथापि वह उसको अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होगा, क्योंकि अपनी समजातीय कृपाके अभावमें अर्थात् अपनी जैसी कृपाके समान दिखाई न देने पर उस श्रेष्ठ कृपाका लक्षण हृदयमें प्रवेश नहीं करेगी। अथवा दिखाई देनेवाली वस्तुमें ही उच्च-निम्न इत्यादिका विचार सम्भव है, न दिखाई देनेवाली वस्तुओंमें नहीं। अर्थात् जिस वस्तुमें समानताका भाव नहीं दीखता, उस असामान्य वस्तुके साथ समानतावाली वस्तुकी तुलना करना असम्भव है। उदाहरण स्वरूप वस्तुएँ तृण और पर्वत अत्यन्त असमान, इन दोनोंमें छोटे-बड़े आदिका विचार करनेसे नहीं चलेगा। अर्थात् तिनका जैसे छोटा है, उसके साथ उसी प्रकारकी ही किसी छोटी वस्तुकी तुलना की जा सकती है, पर्वतकी नहीं और पर्वत जिस प्रकार बहुत बड़ी वस्तु है, उसके साथ उसके समान किसी बड़ी

वस्तुकी ही तुलना की जा सकती है, तिनकेकी नहीं। अतः तिनकेके साथ पर्वतकी तुलना करना युक्तिपूर्ण नहीं है।

इस सम्बन्धमें हरिवंशके धन्योपाख्यानमें कहा गया है भगवती गंगा अपनेसे समुद्रको अधिक धन्य मानती हैं, किन्तु ब्रह्माजीको समुद्रसे अधिक धन्य नहीं कहती हैं। उसी प्रकार इस स्थान पर ब्रह्मा अपने वैभवसे महादेवके वैभवको अधिक देखकर उनको अपनी तुलनामें श्रीकृष्णका अधिक कृपापात्र कह रहे हैं, किन्तु प्रह्लादको नहीं। अतएव ब्रह्माजी सर्वोत्कृष्टतम कृपापात्र ग्वालबालोंके माहात्म्यका निरूपण किस प्रकार कर सकते हैं? यही इस विचारका दिग्दर्शन है और इसी प्रकारकी विचार प्रणाली ग्रन्थके प्रारम्भसे अन्त तक प्रदर्शित हुई है। किन्तु इस स्थान पर महादेव ही श्रीभगवान्के कृपापात्र कहे गये हैं और उस कृपाका लक्षण यह है कि वे ही एकमात्र भगवान् श्रीविष्णुके सखाके रूपमें विख्यात हैं। अतएव ब्रह्माजीको उनके समान कृपापात्र और कोई भी दिखाई नहीं देता॥८०॥

यश्च श्रीकृष्णपादाब्जरसेनोन्मादितः सदा।
अवधीरितसर्वार्थ–परमैश्वर्यभोगकः ॥८१॥
अस्मादृशो विषयिणो भोगसक्तान् हसन्निव।
धुस्तूरार्कास्थिमालाधृग्नग्नो भस्मानुलेपनः॥८२॥
विप्रकीर्णजटाभार उन्मत्त इव घूर्णते।
तथा स्वगोपनासक्तः कृष्णपादाब्जशौचजाम्।
गङ्गां मूर्द्ध्नि वहन् हर्षान्नृत्यंश्च लयते जगत्॥८३॥

श्लोकानुवाद—वे श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मकरन्द पानमें सदा उन्मत्त रहते हैं, उन्होंने धर्म आदि पुरुषार्थ और परम ऐश्वर्य आदिको तुच्छ समझकर परित्याग कर दिया है। मेरे जैसे भोगोंमें आसक्त विषयीका उपहास करनेके लिए वे स्वयं धतूराके फूल, अकवनके पत्ते, और अस्थिकी माला आदि धारण करते हैं, समस्त शरीरमें भस्मका लेपन करके दिगम्बर (नग्न) वेश धारण करते हैं। तथापि वे अपनेको छिपानेमें असमर्थ हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे

निकली हुई गंगाको अपने मस्तक पर धारण करके अत्यधिक प्रसन्न चित्तसे नृत्य करते–करते जगतको कम्पायमान करते हैं॥८१–८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अवधीरिता अवज्ञया त्यक्ताः सर्वे अर्था धर्मकाममोक्षाः पारमैश्वर्यञ्च परमेश्वर भावः, अतएव भोगश्च विलासादिर्येन सः; बहुव्रीहौ कः। यद्वा, पारमैश्वर्यस्य चर्तुवर्गाधिकस्य भोगस्य; अतएव कं तदात्मकं तत्तत् सुखञ्च येन सः, इवेत्युत् प्रेक्षायाम। अहोवतेन्द्र–ब्रह्मादय एते किमिति दिव्यस्रग–अनुलेपनादिष्वनित्येषु भोगेष्वासक्ता भवन्ति, विनाशित्वेन दुःख हेतुत्वात् धूस्तूरादिकं तुच्छमपीदं तेभ्यः परमोत्कृष्टं विनाशेनापि दुःखानापादकत्वात्। यद्वा, श्रीकृष्ण–अनुग्रह एव परमभूषण भोगादि; तदभावे धूस्तूरमालाधारणादिकमेव युक्तं; किंवा बहिर्मण्डनमेतेनापि स्यात्; अथवा अवस्तुत्वेन तैः सममस्याविशेषादित्यादि प्रकारेणोपहसन्निव; अन्यथा परमेश्वरस्य तत्तद्धारणाद्यसम्भवात्। जगद्ब्रह्माण्डं चलयते कम्पयति॥८१–८३॥

भावानुवाद—महादेव श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे निकले हुए मकरन्दको पान करके उन्मत्त हो जाते हैं। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चतुर्वर्ग तथा परम ऐश्वर्य भोगोंको तुच्छ जानकर त्याग दिया है, अर्थात् अपने परमेश्वर–भावको भी त्याग दिया है। अथवा वे चतुर्वर्गसे भी अधिक परम ऐश्वर्य सुख भोग कर रहे हैं। अतएव उनके समान श्रीकृष्णका कृपापात्र और कौन हो सकता है? श्रीमहादेव ऐसा सोचते हैं, अहो! इन्द्र–ब्रह्मादि देवता नश्वर दुःखरूप दिव्यमाला–अनुलेपन आदि ग्रहण करके भोगोंमें आसक्त क्यों रहते हैं? (यथार्थतः यह कहा जा सकता है कि इन्द्र–ब्रह्मादि श्रीकृष्णके रसानन्दमें डूबे हुए सेवकोंके उपहासके पात्र हैं।) इसीलिए मेरे जैसे भोगोंमें आसक्त विषयी लोगोंका उपहास करनेके लिए ही मानो महादेव स्वयं धतूरा फूल, अकवनके पत्ते तथा अस्थिमाला आदि धारण करते हैं। अथवा श्रीकृष्णकी कृपा ही परमभूषण और परम भोगसुख है, उसीके अभावमें धतूरा फूल और अस्थिमाला आदि धारण करना युक्तिपूर्ण है। अथवा हृदयमें भक्तिनिष्ठा होने पर बाह्य मण्डन ऐसा ही हुआ करता है। अथवा ब्रह्मा और इन्द्र आदिकी सम्पद सार–रहित है, इसलिए उनका उपहास करनेके लिए तुच्छ वस्तुओंको धारण करते हैं। अन्यथा परमेश्वरके लिए ऐसी तुच्छ वस्तुओंको धारण करना असम्भव है। ऐसा करने पर भी वे आत्मगोपन करनेमें अर्थात्

अपनेको छिपानेमें असमर्थ होकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे निकली हुई गंगाको अपने मस्तक पर धारण करते हैं और प्रसन्नतासे नृत्य करते-करते ब्रह्माण्डको भी कम्पायमान कर देते हैं॥८१-८३॥

कृष्णप्रसादात्तेनैव मादृशामधिकारिणाम्।
अभीष्टार्पयितुं मुक्तिस्तस्य पत्न्यापि शक्यते॥८४॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी कृपासे वे मुझ जैसे अधिकारी देवताओंको भी अभीष्ट मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ हैं। अधिक क्या, उनकी अर्धाङ्गिनी श्रीपार्वती भी ऐसा कर सकती हैं॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधिकारिणाम् ऐन्द्र-ब्राह्म-पदाधिकारवतामभीष्टा स्वस्वावश्यक कृत्य-समुच्चय-सम्पादनात्, परमनिर्विण्णतया सदान्तःप्रार्थ्यमानेनेत्यर्थः। अर्पयितुं तेभ्यो दातुम्; यद्यपि श्रीब्रह्मा रजोगुणाधिष्ठातृरूपो भगवतोऽवतारः, तथाप्यन्याधिकारिवत् स्वस्याप्यधिकार दृष्ट्या किंवा भक्तिप्रवर्त्तकस्य ब्रह्मावतारस्य स्वाभाविक-विनयोक्तिरियं ज्ञेया; एवमन्यत्रापि॥८४॥

भावानुवाद—श्रीमहादेव मुझ जैसे अधिकारी देवताओंको अर्थात् इन्द्र और ब्रह्मा आदि पदाधिकारी देवताओंको भी उनका अभीष्ट प्रदान कर सकते हैं। अथवा अपने-अपने आवश्यक कार्योंको सम्पूर्ण करके परम आसक्तिरहित होने पर और आन्तरिक हृदयसे प्रार्थना करने पर वे हमारे अभिलषित मोक्षको भी प्रदान कर सकते हैं। यद्यपि ब्रह्मा स्वयं रजोगुणके अधिष्ठातृदेवके रूपमें भगवान्‌के अवतार हैं, तथापि इन्द्र आदि अन्यान्य अधिकारी देवताओंके समान अपने अधिकारको समझनेके कारण अथवा भक्तिप्रवर्त्तक अवतार होनेके कारण उनकी ऐसी उक्तिको स्वाभाविक विनयोक्ति समझना चाहिए॥८४॥

अहो सर्वेऽपि ते मुक्ताः शिवलोकनिवासिनः।
मुक्तास्तत्कृपया कृष्णभक्ताश्च कति नाभवन्॥८५॥

श्लोकानुवाद—जो शिवलोकमें वास करते हैं, वे सभी मुक्त हैं। श्रीशिवकी कृपासे न जाने कितने ही जीव मुक्ति तथा श्रीकृष्ण-भक्तिको प्राप्त करते हैं॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो श्रीमहादेवस्य नित्यमुक्तत्वं किं वक्तव्यम्? तद्भक्ता अपि सर्वे नित्यमुक्ता इत्याशयेनाह—अहो इति। अहो किं वक्तव्यम्? तल्लोकवासिनो मुक्ता इति। तत्प्रसादादन्येऽपि बहवो मुक्तिं भक्तिञ्च प्रापुरित्याह—मुक्ता इति॥८५॥

भावानुवाद—अहो! श्रीमहादेवके नित्यमुक्त होनेके सम्बन्धमें और अधिक क्या कहूँ, उनके सभी भक्त भी नित्यमुक्त हैं; इसी अभिप्रायसे 'अहो' इत्यादि कह रहे हैं। अहो! उनके लोकमें वास करनेवाले भी मुक्त हैं तथा उनकी कृपासे बहुत जीव मुक्ति और भक्तिको प्राप्त किये हैं॥८५॥

कृष्णाच्छिवस्य भेदेक्षा महादोषकरी मता।
आगो भगवता स्वस्मिन् क्षम्यते न शिवे कृतम्॥८६॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णसे श्रीशिवको पृथक् देखना भी महादोष है। श्रीकृष्णके प्रति यदि कोई अपराध करता है उसको तो वे क्षमा भी कर देते हैं, परन्तु जो श्रीशिवके प्रति अपराध करता है, उसको वे कभी भी क्षमा नहीं करते हैं॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीविष्णुकृपास्पदत्वोक्तया प्राप्तं भेदं वारयति—कृष्णादिति। तथा च पद्मपुराणे नामापराधभञ्जन स्तोत्रे—*'शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं, धिया भिन्नं पश्येत स खलु हरिनामाहितकरः।'* इति। अतएव स्वस्मिन् भगवति विषये लोकैः कृतमागः अपराधो भगवता कृष्णेन क्षम्यते, न तु शिवे कृतं तत् क्षम्यते, स्वस्य भक्तिरसातिशयग्राहक-महावतारत्वेन परमप्रेष्ठत्वात्॥८६॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीशिवको श्रीकृष्णका कृपापात्र कहकर यहाँ पर श्रीकृष्ण और श्रीशिवमें भेदबुद्धि रखनेके लिए निषेध कर रहे हैं। पद्मपुराणके नामापराध-भञ्जन स्तोत्रमें कथित है—"इस लोकमें जो व्यक्ति शिव और विष्णुके नाम-गुण आदिको अन्तःकरणमें भिन्न भावसे देखता है, वह निश्चय ही श्रीहरिनामके प्रति अपराधी होता है।" अतएव श्रीभगवान् अपने प्रति अपराध करनेवाले व्यक्तिको तो क्षमा कर देते हैं, परन्तु श्रीशिवके चरणोंमें अपराध करनेवालेको कदापि क्षमा नहीं करते हैं। श्रीशिव भी श्रीकृष्णकी भक्तिरसके बहुत बड़े ग्राहक (पात्र) हैं और महावतार होनेके कारण उनके परम प्रिय हैं॥८६॥

शिवदत्तवरोन्मत्तात् त्रिपुरेश्वरतो मयात्।
तथा वृकासुरादेश्च सङ्कटं परमं गतः॥८७॥
शिवः समुद्धृतोऽनेन हर्षितश्च वचोऽमृतैः।
तदन्तरङ्गसद्भक्त्या कृष्णेन वशवर्त्तिना।
स्वयमाराध्यते वाऽस्य माहात्म्यभरसिद्धये॥८८॥

श्लोकानुवाद—जिस समय श्रीशिवने त्रिपुराधीश्वर मय दानव, वृकासुर आदि दैत्योंको वर प्रदान करके अपने आपको संकटमें डाल लिया था, उस समय श्रीकृष्णने ही उनकी भय और संकटसे रक्षा की थी। अमृत जैसे मधुर-मधुर वचनोंसे उनको आनन्दित किया था। श्रीशिवकी श्रेष्ठ-भक्तिके वशीभूत होकर स्वयं श्रीकृष्ण उनकी महिमाको बढ़ानेके लिए उनके अन्तरंग भक्तोंके समान भक्ति भावसे उनकी पूजा इत्यादि भी करते हैं॥८७-८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—शिवेति चतुर्भिः। शिवेन दत्ता ये वराः मयं प्रति त्रिपुरामृत-रसकूपसिद्ध्याद्याः, तथा च वृकासुरं प्रति हस्ततलस्पर्शेन मस्तकस्फोटनं, आदि शब्देन रावणादीन् प्रति बलपराक्रमादयः, तैरुन्मत्तात्। परमं सङ्कटं त्रिपुरभेदाशक्तया वृकानुधावनेन कैलास चालनादिना च प्राप्तः सन् अनेन भगवता कृष्णेन मय-रसकूप-पान-वृक-मोहन-रावणवधादिना शिवः सम्यगुद्धृतः, तत्तत् संकटाद्रक्षितः, तत्तदाख्यानं च श्रीभागवतादिषु व्यक्तमेवेति किमत्र लेख्यम्? किञ्च स्वापराधेन लज्जितः सन् नाहमिव रुक्ष वचनेन तिरस्कृतः; किन्तु '*अहो देव महादेव, पापोऽयं स्वेन पाप्मना। हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृत किल्बिषः। क्षेमी स्यात् किं नु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ॥*' (श्रीमद्भा॰ १०/८८/३९) इत्येवमादिभिर्वचोऽमृतैः कृत्वा हर्षितश्च। किञ्च स्वयं भगवता परशुरामादिरूपेण आराध्यते पूज्यते च शिवः किमर्थम्? अस्य शिवस्य माहात्म्यभरः स्वस्मादपि महिमातिशयस्तस्य सिद्धये, अनेन स्नेहविशेषो दर्शितः॥८७-८८॥

भावानुवाद—महादेव श्रीकृष्णके परम प्रिय हैं, इस विषयको 'श्रीशिव' इत्यादि चार श्लोकोंमें बतला रहे हैं। श्रीशिवके वरसे उन्मत्त त्रिपुराधीश्वर मय दानवके द्वारा निर्मित अमृतके कूपके (जिसके द्वारा मृत व्यक्तिको भी जीवित किया जा सकता है) अत्यधिक भयसे तथा वृकासुरके भयसे भगवान्ने श्रीशिवकी रक्षा की थी। वृकासुरने घोर तपस्याकर श्रीशिवको प्रसन्नकर उनसे यह वर माँगा था कि वह अपनी

हाथसे जिसका मस्तक स्पर्श कर लेगा, उसका मस्तक उसी क्षण ही फट जायेगा। इस वरको पाकर वह शङ्करजीके ही मस्तक पर हाथ रखनेके लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उस असुरको उसीकी हथेलीसे मरवा कर शङ्करजीकी रक्षा की थी। इसी प्रकार श्रीशिवने मय अर्थात् त्रिपुरासुरको भी वरदान दिया था कि जब तक वह अपने रसकूपके अमृतसे रसका पान करता रहेगा, उसे कोई भी नहीं मार सकता। उस वरदानसे बलवान होकर मयने शिवजीको युद्धमें ललकारा और उन्हें असुविधामें डाल दिया। तब भगवान् विष्णुने रसकूपके अमृतको पान कर श्रीशिवकी रक्षा की थी।

रावण भी शङ्करजीके वरदानसे महाबली होकर कैलाश पर्वतको बारबार हाथोंसे उठाकर उन्हें असुविधामें डालता था। भगवान् रामने उसे मारकर श्रीशिवकी उस संकटसे रक्षा की थी। यह सब वृत्तान्त श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थोंमें देखे जा सकते हैं। पुत्र नारद! क्या कहूँ, अपने अपराधोंके द्वारा श्रीशिव लज्जित तो हुए परन्तु मेरे समान तिरस्कृत नहीं हुए; बल्कि भगवान्‌के अमृत तुल्य मधुर वचनों द्वारा परमानन्दको प्राप्त किये। श्रीकृष्णने उनके माहात्म्यको बढ़ानेके लिये कहा—"अहो! यह पापी असुर अपने पापों द्वारा स्वयं ही मारा गया है। हे ईश्वर! महान व्यक्तिके प्रति अपराध करके किस व्यक्तिका मंगल हो सकता है? आप जगत गुरु हैं, जो दुर्बुद्धि व्यक्ति आपके प्रति अपराध करता है, उनके विषयमें और क्या कहूँ?"

और भी श्रवण करो—वही भगवान्, श्रीशिवके वशवर्ती होकर, स्वयं परशुराम आदि रूपसे उनके (शिवके) अन्तरंग भक्तोंके समान भक्तिभावसे उनकी (शिवकी) आराधना करते हैं। यदि कहो कि स्वयं भगवान् परशुराम आदि रूपमें श्रीशिवकी आराधना क्यों करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—अपने माहात्म्यसे भी श्रीशिवके माहात्म्यको बढ़ानेके लिए। इसके द्वारा श्रीशिवके प्रति भगवान्‌के विशेष स्नेहको दिखाया गया है॥८७-८८॥

तिष्ठतापि स्वयं साक्षात् कृष्णेनामृतमन्थने।
प्रजापतिभिराराध्य स गौरीप्राणवल्लभः॥८९॥

समानाय विषं घोरं पाययित्वा विभूषितः।
महामहिमधाराभिरभिषिक्तश्च तत्स्फुटम्॥९०॥

श्लोकानुवाद—समुद्र मन्थनके समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें जब समुद्रसे घोर विष प्रकट हुआ था, तब श्रीकृष्णने उन गौरी-प्राणनाथको वहाँ बुलाकर प्रजापतियों द्वारा उनकी आराधना करवाकर उनको उस विषका पान करवाया था, जिससे वे नीलकण्ठ नामसे विभूषित हुए। इससे क्या यह स्पष्ट नहीं जाना जाता कि श्रीकृष्णने ही ऐसी महान महिमा द्वारा श्रीशिवका अभिषेक किया था॥८९-९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वयं साक्षात्तिष्ठतेत्ययं भावः। भगवति साक्षात्तत्रैव विराजमाने किं नाम विषतो भयं स्यात्? तथापि तद्भयोत्पादनेन तत् प्रतीकाराकरणादिना च तदर्थं श्रीशिवस्यानयनादिकं केवलं तदीय-महामहिम-विख्यापनायेति। प्रजापतिभिः कृत्वा आराध्य स्तोत्रादिभिरभ्यर्थ्य सम्मान्येति वा। गौरीप्राणवल्लभ इति तस्याः परमानभीष्टमपि तद्विषपानं कारयित्वेत्यर्थः। यद्वा, तेन तस्याः अपि महिमभरः सम्पादित इति भावः। विभूषितो नीलकण्ठत्वेन; महतां महिम्नां साक्षात् सत्य भगवतापि यन्न कृतं, तन्महादेवेन कृतमित्येवमादिरूपाणां माहात्म्यानां धाराभिः परम्पराभिः स्फुटं तत्सर्वं सर्वतो व्यक्तमेव॥८९-९०॥

भावानुवाद—समुद्र मन्थनके समय साक्षात् श्रीकृष्ण वहाँ पर उपस्थित थे। यहाँ 'साक्षात्' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान्के साक्षात् विराजमान होने पर भय कैसे हो सकता है? तथापि विष इत्यादिका भय उत्पन्न कराकर और उस भयके निवारणके लिए सभी प्रजापतियों द्वारा श्रीशिवकी आराधना करवाकर उनको वहाँ पर बुलवाया। इसमें श्रीशिवकी महिमाको विख्यात करना ही भगवान्का उद्देश्य था। तत्पश्चात् सभी प्रजापतियों द्वारा श्रीशिवकी आराधना अर्थात् स्तोत्र आदि द्वारा स्वागत और सम्मान प्रदर्शित करवाया था। 'गौरीप्राणवल्लभ' कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीशिवका विषपान करना गौरीके लिए असहनीय था, तथापि भगवान्ने उन्हें विषपान करवाया था। अथवा उन्होंने श्रीशिवको विषपान करवाकर उनकी महिमाको बढ़ाया था और श्रीशिवके साथ ही उनकी अपनी भी महिमा बढ़ गई। इस प्रकार भगवान्ने श्रीशिवको नीलकण्ठ नाम

द्वारा विभूषित करवाया था। इससे क्या यह स्पष्टरूपसे बोध नहीं होता है कि भगवान्‌ने उनकी महिमाको बढ़ाकर उनको अभिषिक्त किया था? इस प्रकार श्रीभगवान्‌ने स्वयं उपस्थित होकर भी जिस कामको नहीं किया, अपने प्रियभक्त श्रीमहादेव द्वारा उसको करवाकर उनकी महिमाको वर्द्धित किया है॥८९-९०॥

पुराणान्येव गायन्ति दयालुत्वं हरेर्हरे।
ज्ञायते हि त्वयाप्येतत् परं च स्मर्यतां मुने॥९१॥

श्लोकानुवाद—हे मुने! श्रीशिवके प्रति श्रीहरिकी दयालुताका सभी पुराण गान करते हैं और तुम भी उसको जानते हो, स्मरण करके तो देखो॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—पुराणानीति। हरे श्रीरुद्रे विषये हरेर्दयालुत्वं परमवात्सल्यम्; अतएव तन्मदुक्तं सर्वं त्वयाऽपि ज्ञायत एव, न तु केवलं मयैव। परं मदुक्तादन्यच्च श्रीरुद्रादुत्तमपुत्रोत्पत्ति-वरग्रहणादिकं ज्ञायत एव। केवलं स्मर्यतां सम्प्रति हृदयेऽनुसंधीयताम्; मुने हे मननशील॥९१॥

भावानुवाद—श्रीशिवके प्रति श्रीभगवान्‌की कृपाको 'पुराणानि' आदि श्लोकके द्वारा बतला रहे हैं। श्रीशिवके प्रति श्रीहरिकी दयालुताका गुणगान पुराण भी करते हैं। अतएव मेरे द्वारा बताई गई श्रीहरिकी भक्त-वात्सल्यतासे केवल मैं ही नहीं, तुम भी परिचित हो। उनके अन्यान्य माहात्म्य अर्थात् श्रीरुद्रसे श्रीभगवान्‌ने उत्तम पुत्र प्राप्तिका वर माँगा था इत्यादि विषयोंसे तुम भी परिचित हो। हे मुने! अब उसे अपने हृदयमें स्मरण करके तो देखो॥९१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

गुरुं प्रणम्य तं गन्तुं कैलासं गिरिमुत्सुकः।
आलक्ष्योक्तः पुनस्तेन स्वपुत्रः पुत्रवत्सले॥९२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे पुत्रवत्सले! (हे माता!) यह सुनकर श्रीनारद अपने गुरुको प्रणाम करके श्रीशिवके लोकमें जानेके लिए उत्सुक हुए। ऐसा देखकर श्रीब्रह्माने अपने पुत्र श्रीनारदको फिरसे कहा॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—जनकत्वेनोपदेष्टृत्वेन च गुरुं तं ब्रह्माणं; कैलासं तत्संज्ञकं गिरिं गन्तुमुत्सुक उद्यत आलक्ष्य सर्वज्ञत्वात्तदीय-हृदयवृत्तिज्ञानेन; किंवा ब्रह्मलोकतो भूर्लोकागमनायाधोदृष्टया कैलासाद्रिदिग् भागवीक्षणेन लक्षणेन ज्ञात्वा तेन ब्रह्मणा स्वपुत्रो नारद उक्तः; हे पुत्र वत्सले! इति, यथा भवती स्नेहभरेण मामनुगृह्णाति तथा सोऽपि तं प्रति तादृगुक्तवानिति भावः॥९२॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्मा श्रीनारदके पिता और उपदेष्टा हैं, अतः वे उनके गुरु हैं। इसलिए देवर्षि श्रीनारद अपने गुरुको प्रणामकर कैलाश पर्वत पर जानेके लिए उत्सुक हुए। किन्तु श्रीब्रह्मा सर्वज्ञ हैं, इसलिए उनके हृदयकी बातको समझ गये। अथवा फिर ब्रह्मलोकसे भूलोककी ओर तथा कैलाश पर्वतकी दिशाकी ओर देखने लगे। इसके द्वारा सूचित होता है कि उन्होंने श्रीनारदके हृदयकी बातको जान लिया अर्थात् उनको कैलाश पर्वत जानेके लिए उत्सुक देखकर उनसे कहने लगे। यहाँ श्रीपरीक्षित द्वारा अपनी माताके प्रति 'हे पुत्रवत्सले!' सम्बोधनका तात्पर्य है—आप जिस प्रकार स्नेहपूर्वक मेरे ऊपर कृपा करती हैं, उसी प्रकार श्रीब्रह्मा भी श्रीनारदके प्रति वात्सल्य पूर्वक कहने लगे॥९२॥

श्रीब्रह्मोवाच—

कुबेरेण पुराराध्य भक्त्या रुद्रो वशीकृतः।
ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे तस्य कैलासेऽधिकृते गिरौ॥९३॥
तद्विदिक्पालरूपेण तद्योग्यपरिवारकः।
वसत्याविष्कृतस्वल्पवैभवः सन्नुमापतिः॥९४॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने कहा—पूर्वकालमें कुबेरने रुद्रकी भक्तिपूर्वक आराधना करके उन्हें वशीभूत कर लिया था, जिसके फलस्वरूप उमापति महादेव इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत ही स्वयं ईशानकोणके दिक्पाल रूपमें अपने उपयुक्त थोड़ेसे ही वैभवको लेकर कैलाश पर्वत पर, जो कि कुबेरके अधिकारमें है, अपने परिवार सहित निवास करने लगे॥९३–९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वशीकृतः सन् ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे वसतीति द्वाभ्यामन्वयः। तस्य कुबेरस्याधिकृते धनेशताधिकार-व्याप्ये सैव कैलास-सम्बन्धिनी विदिक्

ऐशानकोणस्तस्याः पालकरूपेण, न तु निज परमैश्वर्यानुरुपेण। अतस्तस्य विदिक्पाल-रूपस्य योग्या उचिताः परिवारा भृत्यमित्रादयो यस्य तथाभूतः सन्; अतएवाविस्कृतं स्वल्पं प्रपञ्चातीत-निज-परमैश्वर्यापेक्षयाऽल्पं वैभवं येन तादृशश्च सन्; उमापतिरित्यनेन तया सह वसतीत्यर्थः॥९३-९४॥

भावानुवाद—कुबेरकी भक्तिसे वशीभूत होकर इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित कैलाश पर्वत पर श्रीशिव वास कर रहे हैं, यही 'कुबेरेण' इत्यादि दो श्लोकोंमें अन्वय हुआ है। कुबेरके अधिकृत उस कैलाश (पर्वत) सम्बन्धित दिशा अर्थात् ईशानकोणके दिक्पाल रूपमें यथोचित सेवक और मित्र आदि पूरे परिवारके साथ श्रीमहादेव वहाँ निवास करते हैं। किन्तु, वहाँ पर वे अपने परमैश्वर्यके अनुरूप पूर्ण वैभवको प्रकाश करके नहीं, बल्कि थोड़ेसे वैभवके साथ ही निवास करते हैं। 'उमापति' पदके द्वारा यह भी सूचित हो रहा है कि वे वहाँ पर उमादेवीके साथ ही निवास करते हैं॥९३-९४॥

यथाहि कृष्णो भगवान् मादृशां भक्तियन्त्रितः।
मम लोके स्वरादौ च वसत्युचितलीलया॥९५॥

श्लोकानुवाद—जैसे भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिके वशीभूत होकर मेरे इस सत्यलोक और स्वर्ग आदिमें अपनी लीलासे उन-उन लोकोंके उपयुक्त थोड़ासा ही वैभव लेकर निवास करते हैं, महादेव भी उसी प्रकार कैलाश पर्वत पर अपनी लीलाके उपयोगी थोड़ासा ही वैभव प्रकाश करके वास करते हैं॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। मादृशामिति बहुत्वेन कश्यपादीन गृह्णाति। स्वर्गादावित्यादि-शब्देन स्वर्गादधस्तन भूलोकादेरुपरितन-महर्लोकादीनां च ग्रहणम्। उचिता तत्तल्लोकवसतेर्योग्या या लीला-परिच्छद-परिवार-वैभवाविष्करणादिरूपा तया; यादृग्भिर्यावद्भिश्च परिच्छदादिभिः सहितो यादृशीं क्रीड़ां कुर्वन्, येन रुपेण वस्तुमर्हति तथा तत्र वसतीत्यर्थः। अतः कौवेरदिग्वर्त्ति कैलासगिरि गमनेन श्रीमहादेवस्य स्वल्पैश्वर्य-दर्शनेन मत्तः सकाशात्तदीयो महामहिमातिशयो विज्ञातो न स्यादिति भावः॥९५॥

भावानुवाद—कैसे निवास करते हैं? उसका दृष्टान्त प्रदर्शन कर रहे हैं—श्रीकृष्ण मेरे जैसे अधिकारी देवताकी भक्तिके द्वारा वशीभूत होकर मेरे लोक और स्वर्ग आदिमें उपयुक्त लीलाएँ करके वास करते हैं। यहाँ

पर 'मादृशां' बहुवचन प्रयोग द्वारा कश्यप आदिको भी ग्रहण करना होगा और स्वर्ग आदि कहनेसे स्वर्गसे नीचे भूलोक आदि और ऊपर महर्लोक आदिको भी ग्रहण करना होगा। 'यथोचित' कहनेका तात्पर्य है कि उस लोकमें वास करने योग्य उपयोगी लीला-परिच्छद-परिवार आदि वैभव प्रकाश करते हैं, ऐसा समझना होगा। उसी प्रकार श्रीशिव भी कैलाश पर्वत पर समुचित लीला-वैभव आदि सहित वास करते हैं अर्थात् लीलाके अनुरूप परिवार द्वारा परिवृत होकर और अपना वैभव जिस प्रकार प्रकाश करना उचित है, उसी प्रकार प्रभाव और लीला-वैभव आदि प्रकटकर क्रीड़ा करते हैं। अतएव ईशान दिशाकी ओर कैलाश पर्वत पर गमन कर श्रीमहादेवके वैभवका दर्शन करो। वहाँ उनके दर्शन करने पर भी तुम मेरे द्वारा कही गयी उनकी महिमाको भलीभाँति जान पाओगे, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे वहाँ पर अति अल्प वैभवको प्रकट करके ही वास करते हैं॥९५॥

अथ वायुपुराणस्य मतमेतद्ब्रवीम्यहम्।
श्रीमहादेवलोकस्तु सप्तावरणतो बहिः॥९६॥
नित्यः सुखमयः सत्यो लभ्यस्तत्सेवकोत्तमैः॥९७॥

श्लोकानुवाद—अब मैं वायुपुराणका मत कह रहा हूँ, श्रवण करो। इस ब्रह्माण्डके पृथ्वी आदि सप्त आवरणोंके बाहिरी भागमें जो शिवलोक विराजमान है, वह नित्य, सुखमय और सत्यस्वरूप है। श्रीशिवके उत्तम भक्त उसी लोकको प्राप्त करते हैं॥९६-९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कुत्रान्यस्तल्लोको वर्त्तत इत्यपेक्षायामाह—श्रीमहादेवेति। ब्रह्माण्ड कटाहस्यैव पृथिव्यावरणत्वात्तदितराणि सप्तावरणानि, तेभ्यो बहिः, अतो नित्यः, न तु ब्रह्माण्डवद् विनश्वरः; तत्र च न मायिकः किन्तु सत्यः; अतः केनापि दुःखेन न संभिन्न इत्याह—'सुखमयः आनन्दपरिपाकरूपः' इत्यर्थः। अतएव तस्य महादेवस्य सेवकेषु उत्तमैः श्रेष्ठैः तद् भक्त्येकनिष्ठैः। यद्वा श्रीशिवकृष्णाभेददर्शिभिरेव लभ्यः लब्धुं शक्यः, न तु कर्म परैर्ज्ञाननिष्ठैर्वा, श्रीकृष्णापृथकत्वेन श्रीशिवोपासकैर्वा॥९६-९७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि कैलाश पर्वत पर तो उनका बहुत ही कम वैभव प्रकाशित होता है, अतः महाऐश्वर्यसे पूर्ण उनका

अन्यलोक कहाँ वर्त्तमान है? इसकी आशंकासे 'श्रीमहादेवेति' श्लोक कह रहे हैं। ब्रह्माण्डके पृथ्वी आदि सप्त आवरणोंके बाहिरी भागमें जो शिवलोक विराजमान है, वह नित्य है अर्थात् ब्रह्माण्डके समान नश्वर अथवा मायिक नहीं है। नित्य-सत्यस्वरूप है, अतएव उसका किसी प्रकारके दुःखसे सम्पर्क नहीं है, वह सुखमय अर्थात् आनन्दका परिपक्व रूप है। अतएव श्रीमहादेवके सभी श्रेष्ठ भक्त इसी लोकको प्राप्त करते हैं। यदि कहो कि श्रेष्ठ भक्त कौन हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जो श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेदबुद्धि रखते हैं, वे ही उत्तम भक्त हैं। अर्थात् श्रीकृष्णको सर्वेश्वर मानकर तथा श्रीकृष्णसे श्रीशिवको अभेद जानकर जो श्रीशिवकी उपासना करते हैं, वे कभी भी श्रीशिवमें पृथक् ईश्वर बुद्धि नहीं रखते हैं, क्योंकि सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही अपनी भक्तिके विस्तारके लिए भक्तावतार श्रीशिवके रूपमें आविर्भूत हुए हैं। इस प्रकार श्रीशिव और श्रीकृष्णमें अभेद दृष्टि रखनेवाले श्रेष्ठ भक्त ही उस चिन्मय शिवलोकको प्राप्त करते हैं। पक्षान्तरमें, जो श्रीशिवको श्रीकृष्णसे पृथक् जानकर उनकी उपासना करते हैं तथा कर्मी और ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति कभी भी उस चिन्मय शिवलोकको प्राप्त नहीं कर सकते हैं॥९६-९७॥

समानमहिम श्रीमत्परिवारगणावृतः।
महाविभूतिमान् भाति सत् परिच्छदमण्डितः॥
श्रीमत्सङ्कर्षणं स्वस्मादभिन्नं तत्र सोऽर्च्चयन्।
निजेष्टदेवतात्वेन किंवा नातनुतेऽद्भुतम्॥९८॥

श्लोकानुवाद—उस लोकमें श्रीमहादेव अपने समान महिमाशाली और शोभायुक्त परिवारसे परिवेष्टित (घिरे) रहते हैं तथा महाविभूतियुक्त छत्र, चामर और वेशभूषा आदि द्वारा सुशोभित होकर भी अपनेसे अभिन्न श्रीसंकर्षणदेवका पूजन करते हुए उस लोकमें विराजमान हैं। हे नारद! वे वहाँ श्रीसंकर्षणदेवकी अपने इष्टदेवकेरूपमें पूजा करके कैसी अद्भुत महिमा प्रकाश कर रहे हैं, उसका वर्णन करना असम्भव है॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—समानो महादेवेन तुल्यो यो महिमा महैश्वर्यादिः; श्रीश्चाङ्गादि शोभा तद्युक्तैः परिवारगणैः; यद्वा, समानमहिमानश्च श्रीमन्तश्च ये परिवारगणास्तैरावृतो

व्याप्तः। महाविभूतयः नित्य सत्य विचित्र गृह विमानादयः, धर्मार्थकाममोक्ष भक्त्यादयो वा पारमैश्वर्य सम्पदस्ताभियुक्ताः सन्तः ब्रह्मापेक्षयात्युत्कृष्टा ये परिच्छदाः छत्रचामरालङ्कारादयस्तैर्मण्डितः। किञ्च, तत्र लोके निजेष्टदेवतात्वेन श्रीमन्तं सङ्कर्षणं तत्संज्ञकं सहस्रफणमालिनं भगवन्तं स श्रीमहादेवोऽर्च्चयन् पूजयन्। किंवा अद्भुतं विस्मयं न आतनुते? अपितु सर्वेषां परम विस्मयं विस्तारयतीत्यर्थः। कुतः? स्वस्मान्महादेवादभिन्नं द्वयोरेव तयोर्भगवदवतारत्वात् विशेषतः संहारे श्रीसङ्कर्षणस्य श्रीरुद्राभिव्यक्ति पदत्वात् तमोगुणाधिष्ठातृत्वेनैकरूपत्वाच्च। एवमभिन्नस्यापि निजेष्ट देवतात्वेन पूजनात् सर्वेषां विस्मयमतीव कुर्यादितिभावः। अथवा किंवा अद्भुतं नृत्यस्तुत्यादि कौतुकं नातनुते। अभिन्नस्यापीष्ट देवत्वेन-उपासनयानन्दविशेषाविर्भावादिति दिक्। अतएवेलावृतवर्षे श्रीशिवस्येष्टदेवत्वेन श्रीसङ्कर्षणार्चनं पञ्चमस्कन्धे श्रीशुकेनाप्युक्तम्॥९८॥

भावानुवाद—श्रीमहादेवके सभी भक्त उन्हींके समान अतुलनीय महाऐश्वर्यसे युक्त और शोभासम्पन्न हैं। अथवा वे श्रीशिवकी भाँति महिमायुक्त और शोभासम्पन्न परिवारके सहित तथा महाविभूतियुक्त छत्र-चामर आदि परिच्छद द्वारा परिमण्डित हैं। और भी श्रवण करो, स्वयं महादेव जिस प्रकार महाविभूतिसे युक्त हैं अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति आदि सब प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त तथा नित्य सत्य विचित्र गृह-विमान आदिसे परिसेवित हैं, उनके भक्त भी उसी प्रकार परम ऐश्वर्यसे युक्त हैं और उनका वह सम्पद ब्रह्मा आदि देवताओंकी तुलनामें बहुत श्रेष्ठ है।

महादेव श्रीसंकर्षणदेवकी आराधनामें रत होकर इस लोकमें निवास करते हैं। वे संकर्षणदेव किस रूपमें हैं? वे श्रीसंकर्षण हजारों फणोंवाले भगवान् हैं। श्रीमहादेव उन्हींकी अपने इष्टदेवके समान पूजा कर रहे हैं और उसी पूजाके बहाने अपनी परम अद्भुत महिमाको भी बढ़ा रहे हैं। अथवा इस पूजा द्वारा क्या वे अद्भुत विस्मयभाव प्रकाश नहीं कर रहे हैं? अपितु सभीको परम विस्मित कर रहे हैं। श्रीशिव अपने इष्टदेवका किस प्रकार अर्चन-पूजन करते हैं? इष्ट-देवको अपनेसे अभिन्न जानकर। यद्यपि श्रीसंकर्षण और महादेव दोनों ही भगवान्के अवतारके रूपमें प्रसिद्ध हैं, तथापि संहार कार्यके मूल श्रीसंकर्षण ही हैं और उनकी अभिव्यक्ति-पद होनेके कारण दोनों ही तमोगुणके अधिष्ठाता रूपसे एक ही स्वरूप हैं। किन्तु इस प्रकारसे

अभिन्न होकर भी श्रीसंकर्षणका अपने इष्टदेवके समान पूजनकर श्रीशिव सभीको आश्चर्यचकित कर देते हैं। अथवा वे अपने अभीष्टदेवकी पूजाके समय नृत्य स्तुति आदि अद्भुत कौतुक भी करते हैं। उनके इस प्रकारके आनन्दका कारण यह है कि वे अपने अभिन्नस्वरूप श्रीसंकर्षणकी ही अपनी अभीष्टदेवताके रूपमें पूजा कर रहे हैं। अतएव इलावृत वर्षमें श्रीशिवके इष्टदेवके रूपमें श्रीसंकर्षणकी पूजा आदिका विषय श्रीभागवतके पञ्चम-स्कन्धमें श्रीशुकदेव द्वारा वर्णन किया गया है॥९८॥

तत्र गन्तुं भवान् शक्तः श्रीशिवे शुद्धभक्तिमान्।
अभिगम्य तमाश्रित्य कृपां कृष्णस्य पश्यतु॥९९॥

श्लोकानुवाद—हे नारद! तुम्हारी श्रीशिवमें शुद्धभक्ति है, इसलिए तुम वहाँ जा सकते हो। अतएव तुम उस शिवलोकमें गमन करो और वहाँ जाकर उनके आश्रित होकर उनके प्रति श्रीकृष्णकी कृपाको देखो॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि मया स लोको गन्तुं शक्यस्तत्राह—तत्रेति। कृष्णेन सहाभेदेन प्रेम्णा या भक्तिः सा शुद्धा तद्युक्तः। मतुर्भूम्नि प्रशंसायां वा; तं श्रीशिवम् आश्रित्य च प्रणामस्तोत्रादिभिराराध्य कृपालक्षणदर्शनेन कृपामेव साक्षात् पश्यत्विति कार्यकारणयोरभेदविवक्षयोक्तम्। यद्वा अनुभवत्वित्यर्थः॥९९॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि तब मैं कैसे उस शिवलोकमें जा सकता हूँ? इसलिए 'तत्र' इत्यादि कह रहे हैं। तुम्हारी श्रीमहादेवमें शुद्धभक्ति है, अतएव तुम वहाँ जा सकते हो। यहाँ पर 'शुद्धभक्ति है' का अर्थ है—श्रीकृष्ण और श्रीशिवमें अभेद दृष्टि रखना ही श्रीशिवके प्रति शुद्धभक्ति है, ऐसा समझना होगा। अतएव तुम उस शिवलोकमें जाकर उनका आश्रय ग्रहण करो अर्थात् प्रणाम और स्तोत्र आदि द्वारा उनकी आराधना करके उनके प्रति श्रीकृष्णकी कृपाका लक्षण देखो। अर्थात् कृपाका लक्षण जो 'भक्तिका आचरण' है और उसके कारण स्वरूप जो 'भगवत्कृपा' है—इन दोनोंका साक्षात्रूपसे अनुभव करो। यहाँ पर भक्ति और कृपाका परस्पर कार्य-कारण रूपसे अभेद कथित हुआ है॥९९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इत्येवं शिक्षितो मातः शिवकृष्णेति कीर्त्तयन्।
नारदः शिवलोकं तं प्रयात कौतुकादिव॥१००॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपासार निर्द्धारखण्डे
दिव्यो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! इस प्रकार श्रीनारद अपने पिता श्रीब्रह्मासे शिक्षा प्राप्त करके 'शिव', 'कृष्ण' इत्यादि नामोंका कीर्त्तन करते-करते आनन्दपूर्वक उस शिवलोकको गये॥१००॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके द्वितीय अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—इत्येवं श्रीकृष्णाभेदबुद्ध्या शिवाश्रयणं शिक्षितः सन् परमाद्भुतश्रवणेन यत् कौतुकं चित्तचमत्कारस्तस्मात् प्रकर्षेण यातः प्राप्तः स एवेति लोकोक्तौ। यद्वा, उत्प्रेक्षायां सर्वं तत् स्वयं जानन्नपि लोके श्रीकृष्ण कृपाभारास्पदजन विख्यापनायेतस्ततो भ्रमन् शिवलोकमयं यत्प्रयातस्तन्मन्ये परमाश्चर्यदिदृक्षाकौतुका-देवेति॥१००॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे द्वितीयोऽध्यायः।

भावानुवाद—इस प्रकार उपदेश प्राप्त करके अर्थात् श्रीब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्ण और श्रीशिवमें अभेद जानकर श्रीनारद श्रीशिवके आश्रित हुए और परम अद्भुत शिवलोकके माहात्म्यको श्रवण करके कौतुकपूर्वक शिवलोकको गये। अथवा श्रीनारद समस्त तत्त्वोंसे अवगत हैं, तथापि श्रीकृष्णकृपा पात्रोंके निर्धारण और उनके तत्त्वको जगतमें विख्यात करनेके लिए ही अनजान व्यक्तिके समान श्रीब्रह्माकी बातें सुनकर वे उत्सुकतावशतः परम आश्चर्यजनक श्रीकृष्णकृपाके लक्षणको देखनेके लिए शिवलोकमें गये॥१००॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके द्वितीय अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः (प्रपञ्चातीतः)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

भगवन्तं हरं तत्र भावाविष्टतया हरेः।
नृत्यन्तं कीर्त्तयन्तञ्च कृतसंकर्षणार्चनम्॥१॥
भृशं नन्दीश्वरादींश्च श्लाघमानं निजानुगान्।
प्रीत्या सजयशब्दानि गीतवाद्यानि तन्वतः॥२॥
देवीं चोमां प्रशंसन्तं करतालीषु कोविदाम्।
दूराद्दृष्ट्वा मुनिर्हृष्टोऽनमद्वीणां निनादयन्॥३॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! तदनन्तर देवर्षि श्रीनारदने शिवलोकमें आकर दूरसे ही देखा कि भगवान् श्रीहर (शिवजी) हरिके भावमें आविष्ट होकर श्रीसंकर्षणदेवकी पूजा कर रहे थे। कभी वे नृत्य-कीर्त्तन कर रहे थे, कभी प्रीतिपूर्वक जय-जय शब्द उच्चारणपूर्वक गीत-वाद्य आदिमें विभोर नन्दीश्वर जैसे अपने अनुचरोंको साधुवाद प्रदान कर रहे थे तथा करताली बजानेमें समर्थ श्रीउमादेवीकी भी प्रशंसा कर रहे थे। इस प्रकारकी लीलाका दर्शन कर श्रीनारद अत्यधिक आनन्दित हुए और उन्हें प्रणाम करके वीणा वादन करने लगे॥१-३॥

दिग्दर्शिनी टीका

तृतीये तु शिवेनोक्तं, स्वस्माद्वैकुण्ठवासिषु।
यथा कृष्णकृपाधिक्यं तेभ्यः प्रह्लादके तथा॥

तत्र शिवलोके हरेर्भावेन प्रेम्णा आविष्टतयाभिभूतत्वेन नृत्यन्तं कीर्त्तयन्तञ्च उच्चैः सुस्वरेण नामोच्चारणं स्तुतिञ्च *'भजे भजेन्यारण पादपङ्कजम्'* (श्रीमद्भा० ५/१७/१८) इत्यादि पञ्चमस्कन्धोक्त-सप्त श्लोकार्थानुसारिणां कुर्वन्तं हरं दुराद्दृष्टा मुनिरनमदिति त्रिभिरन्वयः। भावावेशहेतुः, कृतं संकर्षणस्य निजेष्टदेवस्य हरेरेवार्च्चनं येन तम्; अत्र च श्रीसंकर्षणस्य पूजादिकं पूर्ववद्विशेषतो विस्तार्य नोक्तम्। श्रीभगवदवतारत्वेन श्रीशिवस्य केवलं लोकेषु भगवद्भक्तिरस प्रवर्त्तनार्थमेव तत्

पूजनात्। यद्यपि श्रीब्रह्मापि श्रीभगवदवतार एव, तथापि *'शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं, धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः'* इत्यादि वचनेभ्यो ब्रह्मणोऽपि सकाशात् श्रीशिवस्य भगवता सहाभेदविशेषः श्रूयते, यतः वशिष्ठादेरपि भावि-ब्रह्मत्व-श्रवणात्; कदाचिज्जीवस्यापि ब्रह्मत्वं श्रूयते, यथोक्तं शिवेनैव—*'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति'* (श्रीमद्भा॰ ४/२४/२९) इति। न तु कुत्रापि—श्रीशिवस्य जीवत्वं श्रूयते; तथाच तत्रैव—'ततः परं हि माम्' इति, न च शिवो भवतीत्युक्तम्, अतः केवलं भक्तावतारत्वेनैवात्र श्रीभगवदनुग्रहभरपात्र भक्तगणमध्ये तन्निर्देश इति दिक्। श्लाघमानं साधुसाधिवति प्रशंसन्तम्। तत्र हेतुः—जयशब्द सहितानि गीत-वाद्यानि प्रीत्या वितन्वतः विस्तारेण कुर्वतः; 'करतलीषु कोविदाम्' इति विचित्र मधुर-करतालिक-प्रयोग-चातुरी समर्थामित्यर्थः। प्रीत्येत्येतस्याप्यत्राप्यनुषङ्गः; एवं सर्वेषामेव तत्परिकराणामपि निज स्वाम्यनुवर्त्तित्वेन भगवद्भक्तिपरत्वमुक्तम्; नमनञ्च शिरसैवेतुह्यम्, नृत्यकाले वीणावादनस्य परमौचित्येन तदासक्तया, दण्डवत् प्रणाम-असम्भवात्॥१-३॥

भावानुवाद—इस तीसरे अध्यायमें (श्रीमहादेवकी उक्तिके अनुसार) श्रीशिवकी तुलनामें वैकुण्ठवासियों पर और उनकी तुलनामें श्रीप्रह्लादके प्रति श्रीकृष्णकी अधिक कृपाका वर्णन हुआ है।

देवर्षि श्रीनारद शिवलोकमें श्रीमहादेवका दूरसे दर्शन करके अत्यन्त आनन्दित हुए। श्रीशिव अपने इष्टदेव श्रीसंकर्षणदेवकी पूजा करते हुए उन्हींके भावमें आविष्ट होकर उच्च स्वरसे नामकीर्त्तन सहित नृत्य कर रहे थे। बीच-बीचमें प्रीतिपूर्वक स्तव कर रहे थे—"हे भजनीय! आप परमेश्वर हैं, अतएव हमलोग आपका ही भजन करते हैं। हे प्रभो! आपके चरणकमल सभी प्राणियोंके रक्षक हैं, आप छः ऐश्वर्योंके भी परम आश्रय हैं। केवल भक्तोंके कल्याणके लिए ही आप अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं।" इस प्रकार श्रीशिव (पञ्चम-स्कन्धके श्लोकानुसार) श्रीहरिका स्तव कर रहे थे। भावावेशके कारण श्रीशिवके द्वारा अपने इष्टदेव श्रीसंकर्षणकी जो पूजा है, उसका इससे पहले विशेष भावसे वर्णन हुआ है। भगवान्‌के अवतार होनेके कारण श्रीशिवकी उनके प्रति जो पूजा है, वह भी केवल जगतमें भगवद्भक्तिरसके प्रवर्त्तनके लिए ही है।

यद्यपि श्रीब्रह्मा भी भगवान्‌के अवतार हैं, तथापि 'इस लोकमें जो व्यक्ति श्रीशिव और श्रीविष्णुके नाम-गुण आदिको अन्तःकरणमें भिन्न

रूपसे देखता है, वह निश्चय ही हरिनामके प्रति अपराधी होता है' इत्यादि वचनोंमें श्रीब्रह्मासे भी अधिक श्रीशिवका श्रीहरिके साथ अभेद सुना जाता है। विशेषतः सभी धीर व्यक्तियों द्वारा भविष्यमें ब्रह्मत्व (श्रीब्रह्माका पद) प्राप्त करनेकी बात भी सुनी जाती है, किन्तु शिवत्व (श्रीशिवका पद) लाभ करने की नहीं। अर्थात् जीव कभी ब्रह्मा तो बन सकता है, किन्तु शिव नहीं। श्रीशिव स्वयं कहते हैं—"स्वधर्ममें निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति अपने सौवें जन्ममें ब्रह्मत्व पदको प्राप्त करता है।" इसके द्वारा श्रीब्रह्माके जीव-तत्त्व होनेके विषयमें जाना जाता है; किन्तु कहीं पर भी श्रीशिवके जीव-तत्त्व होनेके विषयमें नहीं सुना जाता। इसलिए उक्त वचनके उपरान्त ही कहते हैं—"उसके पश्चात् मुझे प्राप्त कर सकते हैं" किन्तु शिवत्व प्राप्त करते हैं, यह नहीं कहा। अतएव श्रीशिव जीव-तत्त्व नहीं हैं केवल भगवान्‌के अवतार होनेके कारण भगवान्‌के अनुग्रह पात्र हैं। इसलिए भक्तोंमें उनकी गिनती की गई है।

यहाँ 'श्लाघमान' कहनेका तात्पर्य है—प्रशंसामें रत अर्थात् श्रीशिव नन्दीश्वर आदि अपने अनुचरोंको 'साधु साधु' कहकर उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि नन्दीश्वर आदि उनके पार्षद श्रीशिवके नृत्य-कीर्त्तन आदिके समय प्रीतिपूर्वक जय-जय करते हुए गीत-वाद्यादि कर रहे हैं। वे श्रीउमादेवीकी भी प्रशंसा कर रहे हैं, क्योंकि वे 'करताली-कोविदा' अर्थात् अत्यन्त मधुर ताली बजानेमें निपुण हैं। इस प्रकार श्रीशिवके सभी परिकर भी उनके समान ही भगवद्भक्ति परायण हैं। श्रीनारदने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया, दण्डवत् प्रणाम नहीं, क्योंकि नृत्य करते समय वे वीणावादन कर रहे थे और ऐसा करना ही कर्त्तव्य था। विशेषतः वीणावादनमें आसक्त होनेके कारण उनके लिए दण्डवत् प्रणाम करना असम्भव था॥१-३॥

परमानुगृहीतोऽसि कृष्णस्येति मुहुर्मुहुः।
जगौ सर्वञ्च पित्रोक्तं सुस्वरं समकीर्त्तयत्॥४॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीनारद वीणाके सहयोगसे बारम्बार यही गान करने लगे, 'आप श्रीकृष्णके परम कृपापात्र हैं।' फिर वे अपने पिता

श्रीब्रह्मासे सुनी हुई श्रीशिवकी महिमाका भी मधुर स्वरसे कीर्त्तन करने लगे॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च तदानीं गानं कीर्त्तनञ्चोचितमिति निजाभिधेयञ्च तथैव प्रत्यपादयदित्याह—परमेति। पित्रा ब्रह्मणा यश्च श्रीकृष्णपादाब्जेत्यादि यदुक्तं तत् सर्वञ्च॥४॥

भावानुवाद—उस समय गान करना ही उचित है, ऐसा सोचकर श्रीनारद अपने अभिधेय 'आप श्रीकृष्णके परमकृपापात्र हैं' ऐसा कहकर बारम्बार गान करने लगे। वे अपने पिता श्रीब्रह्मा द्वारा कहे गये वचन—'श्रीशिव श्रीकृष्णके चरणकमलोंके रसपानमें आसक्त हैं' इत्यादिका ही मधुर स्वरसे कीर्त्तन करने लगे॥४॥

अथ श्रीरुद्रपादाब्जरेणु-स्पर्शनकाम्यया।
समीपेऽभ्यागतं देवो वैष्णवैकप्रियो मुनिम्॥५॥
आकृष्याश्लिष्य संमत्तः श्रीकृष्णरसधारया।
भृशं पप्रच्छ किं ब्रूषे ब्रह्मपुत्रेति सादरम्॥६॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद श्रीनारद श्रीशिवके चरणकमलोंकी रेणुको स्पर्श करनेकी कामनासे उनके निकट उपस्थित हुए। वैष्णवप्रिय श्रीमान् महादेवने भी अतिथि स्वरूप मुनिवरको आकर्षण करके (खींचकर) उनका आलिङ्गन किया और श्रीकृष्णप्रेमरसमें मत्त होकर बार-बार आदर सहित यह पूछने लगे 'हे ब्रह्माके पुत्र! आप यह क्या कर रहे हैं?'॥५-६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ नृत्याद्यनन्तरं देवः श्रीरुद्रो मुनिं नारदम् आकृष्य बलाद्गृहीत्वा आश्लिष्य हे ब्रह्मपुत्र! नारद! 'किं ब्रूषे' इत्येवं सादरं भृशं पप्रच्छेति द्वाभ्यामन्वयः। श्रीकृष्णप्रेमरसधारा-पानेन परम-मत्तत्वान्नारदोक्ताक्षरा-नवकलनेन तदर्थानु-सन्धानाभावेन वा मुहुः प्रश्न इत्युह्यम्॥५-६॥

भावानुवाद—नृत्य-गीत समाप्त होने पर श्रीशिवने श्रीनारदमुनिको खींचकर उनका आलिङ्गन किया और श्रीकृष्णप्रेमकी रसधारामें मत्त होकर आदरपूर्वक बार-बार यह पूछने लगे, 'हे ब्रह्माके पुत्र! हे नारद! आप यह क्या कर रहे हैं?' श्रीरुद्र श्रीकृष्णप्रेमरस पानमें अत्यधिक उन्मत्त थे, इसलिए उन्होंने श्रीनारद द्वारा कहे गये वचनों

पर ध्यान नहीं दिया अर्थात् उनके वचनोंके अर्थका अनुसन्धान नहीं किया, इसलिए पुनः–पुनः जिज्ञासा करने लगे॥५–६॥

ततः श्रीवैष्णवश्रेष्ठसम्भाषणरसाप्लुतम्।
संत्यक्तनृत्यकुतुकं मितप्रियजनावृतम्॥७॥
पार्वतीप्राणनाथं तं वृष्यां वीरासनेन सः।
आसीनं प्रणमन् भक्त्या पठन् रुद्रषड़ङ्गकम्॥८॥
जगदीशत्वमाहात्म्य प्रकाशनपरैः स्तवैः।
अस्तौद्विवृत्य तस्मिंश्च जगौ कृष्णकृपाभरम्॥९॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर, श्रीशिव वैष्णव-श्रेष्ठ श्रीनारदसे वार्त्तालाप करनेके लिए उत्कण्ठित हुए और उन्होंने अपने नृत्य आदिको बन्द कर दिया तथा अपने कुछ प्रियजनोंको साथ लेकर तपस्वियोंके समान वीर–आसनमें बैठ गये। श्रीनारद भी पार्वतीके प्राणनाथ श्रीमहादेवको भक्तिपूर्वक प्रणाम करके रुद्रषड़ङ्गक नामक वेदमन्त्रका पाठ करने लगे, जिन स्तवोंमें उनको जगदीशके रूपमें प्रतिपादित किया गया है, उनका तथा उनके प्रति श्रीकृष्णकी अत्यधिक कृपाका भी विस्तारपूर्वक गान करने लगे॥७–९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तदनन्तरं श्रीरुद्रं स मुनिर्नारदः प्रणमन्नस्तोदिति त्रिभिरन्वयः। श्रीवैष्णवेषु श्रेष्ठो श्रीनारदस्तत्सम्भाषणे यो रसो रागस्तस्मिन् आप्लुतं निमग्नम्; अतः संत्यक्तं नृत्यकुतुकं येन; अतएव मितैरल्पैः प्रियजनैरेवावृतम्। व्रतिनामासनं वृषी, तस्यां वीरासनेन आसीनं सन्तं, तदुक्तं योगशास्त्रे—*'एकं पादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम्। इतरस्मिंस्तथा बाहुं वीरासनमिदं स्मृतम्॥'* इति रुद्र षड़ङ्गाख्यं नमस्त इत्यादि—वेदभागं पठन् संकीर्त्तयन्, जगदीशत्वेन तद्रूपं वा यत् शिवस्य माहात्म्यं तत् प्रकाशनपरैः स्तोत्रैः; तस्मिन् शिवे कृष्णस्य कृपाभरं विवृत्य ब्रह्मोक्तानुसारेण विस्तार्य जगौ च तस्मिन्नेव॥७–९॥

भावानुवाद—उसके उपरान्त श्रीनारद श्रीरुद्रको प्रणामकर उनका स्तव करने लगे, यही तीन श्लोकोंमें अन्वय हुआ है। वैष्णव श्रेष्ठ श्रीनारदके साथ सम्भाषण रसमें डूबे हुए महादेवजी, नृत्य आदिको बन्द करके और कुछ प्रियजनोंको साथ लेकर, तपस्वियोंके समान वीरासनमें बैठ गये। योगशास्त्रके अनुसार—एक पैर अन्य पैरके जंघाके

ऊपर रखकर तथा दूसरे पैरको पहले पैर पर रखना पड़ेगा, इसी प्रकार दोनों हाथोंको भी यथायथ संस्थापित करने पर वीरासन होता है। फिर श्रीनारदने श्रीशिवको भक्तिभावसे प्रणाम किया और रुद्रषड़ङ्गक नामक वेदमन्त्रका पाठ करने लगे तथा उनके जगदीशवरता-प्रतिपादक और उसी प्रकार श्रीशिवके माहात्म्य-प्रतिपादक स्तुतियों द्वारा उनका स्तव करने लगे तथा उनके प्रति श्रीकृष्णकी कृपाका भी विस्तारपूर्वक गान करने लगे॥७-९॥

कर्णौपिधाय रुद्रोऽसौ संक्रोधमवदद् भृशम्।
सर्ववैष्णवमूर्द्धन्यो विष्णुभक्तिप्रवर्त्तकः॥१०॥

श्लोकानुवाद—(अपनी प्रशंसा सुनकर) सर्व वैष्णव चूड़ामणि और विष्णुभक्ति-प्रवर्त्तक श्रीरुद्र अपने दोनों कानोंको बन्द करके अत्यन्त क्रोधपूर्वक जोरसे इस प्रकार कहने लगे॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वेषु वैष्णवेषु मूर्द्धन्यः श्रेष्ठः, *'वैष्णवानां महेश्वरः'* इत्युक्तेः; यतो विष्णु भक्ति प्रवर्त्तकः। यद्यपि भगवदवतारत्वेन साक्षाद् भगवान् विष्णुरेवायम्, तथापि तद्भक्तिप्रवर्त्तकावतारत्त्वात् तथोक्तिर्युक्तैवेति मन्तव्यम्॥१०॥

भावानुवाद—श्रीरुद्र सभी वैष्णवोंके चूड़ामणि हैं, यथा—'वैष्णवोंमें महेश्वर सर्वश्रेष्ठ हैं', क्योंकि वे विष्णुभक्तिके प्रवर्त्तक हैं। यद्यपि श्रीभगवान्‌के अवतार होनेसे वे स्वयं विष्णु-तत्त्व हैं, तथापि वे भगवद्भक्ति-प्रवर्त्तक-अवतार होनेके कारण जगतमें भक्तिका प्रचार करते हैं, इसलिए उनको श्रेष्ठ वैष्णव कहा जाता है और इस प्रकार उल्लेख करना ही युक्तिपूर्ण हुआ है॥१०॥

श्रीरुद्र उवाच—

न जातु जगदीशोऽहं नापि कृष्णकृपास्पदम्।
परं तद्दासदासानां सदानुग्रहकामुकः॥११॥

श्लोकानुवाद—श्रीरुद्रने कहा—हे नारद! न तो मैं जगदीश्वर हूँ और न ही श्रीकृष्णका कृपापात्र हूँ, मैं तो सदैव उनके दासानुदासोंकी कृपाका अभिलाषी हूँ और केवल उन्हींकी कृपाकी कामना करता हूँ।

परन्तु उनकी कृपाके लिए प्रार्थना करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—परं केवलं सदानुग्रह कामुक इति तेषामप्यनुग्रहो न मयि सम्पन्नोऽस्तीति भावः॥११॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

संभ्रान्तोऽथ मुनिर्हित्वा कृष्णनैक्येन तत्स्तुतिम्।
सापराधमिवात्मानं मन्यमानोऽब्रवीच्छनैः॥१२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीमान् महादेवकी ऐसी बातोंको सुनकर श्रीनारदने अपने आपको अपराधी मानते हुए श्रीकृष्ण और श्रीशिव एक ही स्वरूप हैं, इस प्रकारकी स्तुति करना बन्द कर दिया और फिर वे धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगे॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृष्णेन भगवता सह ऐक्येनाभेदेन या तस्य शिवस्य स्तुतिस्तां हित्वा॥१२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२॥

श्रीनारद उवाच—

सत्यमेव भवान् विष्णोर्वैष्णवानाञ्च दुर्गमाम्।
निगूढ़ां महिमश्रेणीं वेत्ति विज्ञापयत्यपि॥१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—यह बात सत्य है कि आप श्रीविष्णु और वैष्णवोंकी सुदुर्गम निगूढ़ महिमाको भलीभाँति जानते हैं और दूसरोंको भी उस निगूढ़ परम रहस्यका ज्ञान प्रदान करते हैं॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—दुर्गमामन्यैर्दुर्ज्ञेयां, यतो निगूढ़ां परमरहस्यां; विज्ञापयति लोकेषु प्रकाशयति॥१३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१३॥

अतो हि वैष्णवश्रेष्ठैरिष्यते त्वदनुग्रहः।
कृष्णश्च महिमानं ते प्रीतो वितनुतेऽधिकम्॥१४॥

श्लोकानुवाद—इसीलिए श्रेष्ठ वैष्णवजन भी आपकी कृपाकी प्रार्थना करते हैं। श्रीकृष्ण भी प्रसन्न होकर आपकी महिमाकी अत्यधिक वृद्धि करते हैं॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधिकं वैष्णववर्गतः आत्मनो वा सकाशात्॥१४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१४॥

कति बारांश्च कृष्णेन वरा विविधमूर्त्तिभिः।
भक्त्या भवन्तमाराध्य गृहीताः कति सन्ति न॥१५॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने अनेक रूप धारणकर न जाने कितनी बार भक्ति-सहित आपकी आराधना कर आपसे बहुतसे वर प्राप्त किये हैं?॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—कतीति। कति वारान् कति वरा न गृहीताः सन्तिः? अपितु बहुवारान् बहवो वरा गृहीताः सन्त्येव। एतद् विशेषश्च वामनपुराणे दान धर्मादिषु वर्त्तमानात् सुदर्शनचक्र-शाम्ब-पुत्रादि प्राप्त्य-उपाख्यानादनुसन्धेयः॥१५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण महादेवकी महिमाकी वृद्धि किस प्रकार करते हैं, इसे 'कति' इत्यादि श्लोकमें दिखाया जा रहा है। क्या श्रीकृष्णने कितनी ही बार श्रीशिवसे वर प्राप्त नहीं किये हैं? अपितु अनेक बार अनेक वर प्राप्त किये हैं। इसका विशेष वृत्तान्त वामनपुराणके दानधर्म-प्रसंगमें तथा सुदर्शनचक्र-शाम्ब-पुत्रादि प्राप्ति उपाख्यान आदिमें भी द्रष्टव्य है॥१५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इति श्रुत्वा तु सहसा धैर्यं कर्तुमशक्नुवन्।
लज्जितो द्रुतमुत्थाय नारदस्य मुखं हरः।
कराभ्यां पिदधे धाष्ट्‌र्यं मम तन्न वदेरिति॥१६॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीनारदके इन वचनोंको सुनकर श्रीशिव धैर्य धारण नहीं कर सके। अपने द्वारा श्रीकृष्णको दिये गये वरदानके प्रसंगको श्रवणकर लज्जित हो गये। वे शीघ्र उठकर अपने

दोनों हाथोंसे श्रीनारदके मुखको बन्द करके इस प्रकार कहने लगे—'हे नारद! आप मेरी धृष्टताका और अधिक वर्णन न करें'॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—लज्जितः सन् कृष्णं प्रति वरदान-स्मरणात्, मम तद्धाष्ट्र्यं त्वं न वदेः, मा कथयेत्येवमुक्त्वा मुखं पिदधे आच्छादितवानित्यर्थः॥१६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१६॥

अनन्तरमुवाचोच्चैः सविस्मयमहो मुने।
दुर्वितर्क्यतरं लीलावैभवं दृश्यतां प्रभोः॥१७॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीशिव विस्मित होकर उच्च स्वरसे कहने लगे, 'हे मुनि! मेरे प्रभुका तर्कके अगोचर लीला-वैभव तो देखो, उन्होंने तपस्या आदि द्वारा मुझसे वर-प्राप्त किया है'॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—लीलाया वैभवं महिमा विचित्र तपस्यादिना मत्तोऽपि वर-ग्रहणात्॥१७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१७॥

अहो विचित्रगम्भीरमहिमाब्धिर्मदीश्वरः।
विविधेष्वपराधेषु नोपेक्षत कृतेष्वपि॥१८॥

श्लोकानुवाद—अहो! मेरे ईश्वर श्रीकृष्णकी महिमा गम्भीर महासमुद्रके समान विचित्र है। उनके श्रीचरणकमलोंमें मेरे अनेक प्रकारके अपराध होने पर भी वे मेरी उपेक्षा नहीं करते हैं॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च विचित्राणां परमाश्चर्यरूपाणां विविधानां वा गम्भीराणां दुर्विग्राह्याणां महिम्नामब्धिः स्थिरापाराश्रयः मदीश्वरः श्रीकृष्णः, यतो बहुविधेषु अपराधेषु, वरदानादि निजैश्वर्यमहागर्वप्रकाशनादि रूपेषु कृतेष्वपि नोपेक्षेत, अद्यापि पूर्ववदेव निजभक्तौ प्रवर्त्तनात्॥१८॥

भावानुवाद—श्रीशिव कुछ और भी कह रहे हैं, मेरे ईश्वर श्रीकृष्णकी महिमा भी कैसी विचित्र है! अर्थात् वह महिमा अत्यधिक आश्चर्यमय और गम्भीर सागरके समान है। सागर जैसे अगम्य, स्थिर और अपार होता है, मेरे प्रभुकी महिमा भी उसी प्रकार है। इसलिए मेरे द्वारा उनके श्रीचरणोंमें अनेकानेक अपराध होने पर भी अर्थात्

उनको वरदान आदि देकर अपने ऐश्वर्य और गर्वके प्रकाश करने पर भी वे मेरी उपेक्षा नहीं करते, बल्कि अभी भी पहले जैसे ही अपनी भक्तिके प्रवर्त्तन आदि द्वारा अपनी महिमाका ही विस्तार करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके प्रति अपराध करने पर भक्तिका लोप हो जाता है, किन्तु उनके श्रीचरणोंमें मेरे अनेक अपराध होने पर भी उन्होंने मेरी भक्तिका लोप नहीं किया है॥१८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

परमानन्दितो धृत्वा पादयोरुपवेश्य तम्।
नारदः परितुष्टाव कृष्णभक्तिरसप्लुतम्॥१९॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—यह सुनकर श्रीनारदने परमानन्दित होकर कृष्णभक्ति-रसमें निमग्न श्रीशिवके चरणकमलोंको पकड़कर उन्हें आसन पर विराजमान कराया और उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं हरं पादयोधृत्वा गृहीत्वोपवेश्य॥१९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१९॥

श्रीनारदुवाच—

नापराधवकाशस्ते प्रेयसः कश्चिदच्युते।
कदाचिल्लोकदृष्ट्यापि जातो नास्मिन् प्रकाशते॥२०॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—आप श्रीकृष्णके परमप्रिय हैं, इसलिए आपके द्वारा उनके प्रति अपराध होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। लोकदृष्टिसे यदि ऐसा कभी हो भी जाये, तो भी वस्तुतः अर्थात् श्रीकृष्णकी दृष्टिमें ऐसा कभी नहीं होता है॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्त्वतो न जायत एव लोकदृष्ट्या कदाचिज्जातोऽपि अस्मिन् अच्युते न प्रकाशते न भाति; तत्र हेतुः—प्रेयसः परम प्रियस्येति॥२०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२०॥

स्वबाहुबलदृप्तस्य साधुपद्रवकारिणः।
मायाबद्धानिरुद्धस्य युध्यमानस्य चक्रिणा॥२१॥

हतप्रायस्य बाणस्य निजभक्तस्य पुत्रवत्।
पालितस्य त्वया प्राणरक्षार्थं श्रीहरिः स्तुतः॥२२॥
सद्यो हित्वा रुषं प्रीतो दत्त्वा निजस्वरूपताम्।
भवत्पार्षदतां निन्ये तं दुरापां सुरैरपि॥२३॥

श्लोकानुवाद—जब बाणासुरने अपनी भुजाओंके बलसे गर्वित होकर साधुओंके प्रति उपद्रव किया और अनिरुद्धको अपने मायापाशके बन्धनमें डाल दिया, तब भगवान् श्रीकृष्णने उससे युद्ध किया और उस युद्धमें बाणासुर मृतप्राय हो गया। आपने उसको अपने पुत्रकी तरह पाला था तथा वह आपका भक्त था, इसलिए उस समय उसके प्राणोंकी रक्षाके लिए आपने श्रीकृष्णकी स्तुति की थी। आपके स्तवसे सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्णने सहसा अपने क्रोधका परित्याग कर उस असुरको अपना सारूप्य अर्थात् आपका पार्षद बना दिया था। उसको ऐसी गति दी जो गति देवताओंके लिए भी दुर्लभ है॥२१–२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—स्वेति त्रिभिः। बाणस्य प्राणमात्ररक्षार्थमपि त्वया स्तुतः सन् श्रीहरिस्तं बाणं भवत्पार्षदतां निन्ये प्रापयामासेत्यन्वयः। चक्रिणा उद्यत–सुदर्शनचक्रेणापि सह युध्यमानस्येत्यर्थः; एवं तस्य वधहेतवो महापराधाः प्रथमश्लोकेनोक्ताः। स्तवने हेतुः—निजभक्तस्येति। पुत्रवत् पालितस्येति च निज स्वरूपतां चर्तुभुजत्वलक्षणाम्। तथा च श्रीभगवद्वचनं श्रीरुद्रं प्रति श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/६३/४९)—*'चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यत्यजरामरः। पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद् भयोऽसुरः।'* इति॥२१–२३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण आपके किसी अपराधको ग्रहण नहीं करते, इसके कारणको 'स्वबाहु' इत्यादि तीन श्लोकोंमें कह रहे हैं। आपने केवल बाणासुरके प्राणोंकी रक्षाके लिए श्रीहरिका स्तव किया था, किन्तु श्रीहरिने आपके स्तवसे प्रसन्न होकर उस साधुद्रोही बाणासुरको आपका पार्षद बना दिया था। 'चक्रिना' अर्थात् सुदर्शन चक्रको हाथमें लिये युद्धके लिए तैयार श्रीहरि। अर्थात् वह बाणासुर साधुओंके प्रति द्रोहाचरण करता था तथा उसने अनिरुद्धको मायापाशसे बाँध दिया था, इसीलिए श्रीहरिके साथ उसका युद्ध हुआ और उस युद्धमें वह मृतप्राय हो गया था। वह आपका भक्त था और आपके द्वारा पुत्रवत् पालित होनेके कारण आपने उसके प्राणोंकी रक्षाके लिए श्रीहरिकी

स्तुति की थी। आपकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर श्रीहरिने अपना क्रोध त्याग दिया और उसको अपना सारूप्य अर्थात् चतुर्भुजरूप प्रदानकर आपका पार्षद बना दिया। यथा, दशम-स्कन्धमें श्रीरुद्रके प्रति भगवान्‌के वचन हैं—"इसकी केवलमात्र चार भुजाएँ ही बाकी हैं। यह असुर तुम्हारा अजर, अमर (नित्य) पार्षद होगा, किसी भी व्यक्तिसे इसको भय नहीं रहेगा"॥२१-२३॥

भवांश्च वैष्णवद्रोहि-गार्ग्यादिभ्यः सुदुश्चरैः।
तपोभिर्भजमानेभ्यो नाव्यलीकं वरं ददे॥२४॥

श्लोकानुवाद—वैष्णवद्रोही गर्गके पुत्रादिने कठोर तपस्या द्वारा आपकी आराधना की थी, तथापि आपने उनको निश्छिद्र (दोष रहित) वरदान नहीं दिया॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमपराधो न प्रकाशत इत्येतल्लक्षणं दर्शितम्, इदानीं तस्मिंस्तवापराधावकाशो नास्तीति दर्शयति—भवांश्चेति द्वाभ्याम्। वैष्णवा यादवाः पाण्डवादयश्च, तद्द्रोहवन्तो ये गार्ग्यादय आदिशब्दाज्जयद्रथ-सुदक्षिणादयस्तेभ्य-स्तपोभिर्बहुलतपस्यया त्वां सेवमानेभ्योऽपि अव्यलीकं निश्छिद्रं वरं न ददौ, किन्तु सव्यलीकमेव गार्ग्याय यदुकुल-भयोत्पादन-तन्निग्रह-सामर्थ्यवतो न तु तद्घातिनः पुत्रस्योत्पत्ति वरदानात्, तथा जयद्रथायार्जुनरहितानां पाण्डवानां सकृज्जयमात्रवरदानात्, सुदक्षिणाय च अब्रह्मण्ये प्रयोजितेनाभिचाराग्निना तदिष्टसाधन-वरदानात्। तत्तद्विशेषश्च श्रीहरिवंश विष्णुपुराण-भागवताद्युक्तात् तत्तदुपाख्यानतोऽनुसन्धेयः॥२४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी दृष्टिमें अपराध नहीं होता अर्थात् श्रीशिवके किसी भी अपराधको श्रीकृष्ण नहीं देखते, इस प्रकार श्रीकृष्णकी कृपाका लक्षण प्रदर्शित करके अब 'भवांश्च' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा दिखा रहे हैं कि उनके द्वारा श्रीकृष्णके प्रति अपराध होनेका अवकाश ही नहीं है। यादव और पाण्डवोंके प्रति द्रोहाचरण करनेवाले गर्गपुत्रने तथा 'आदि' अर्थात् जयद्रथ, सुदक्षिणा जैसे वैष्णव-द्रोहीगणोंने अत्यधिक कठोर तपस्या द्वारा आपकी आराधना की थी, तथापि आपने उनको निश्छिद्र वरदान नहीं दिया, किन्तु सछिद्र वरदान दिया। आपने गर्गपुत्रको यदुकुलका भय उत्पादक और निग्रहकारी पुत्र वर ही प्रदान किया था, किन्तु यदुकुलका विनाश करनेवाला पुत्र वर नहीं

दिया। जयद्रथको भी यह वर प्रदान किया था कि वह अर्जुन रहित पाण्डवों पर एकबार मात्र विजयी होगा और सुदक्षिणाको अब्रह्मण्य अर्थात् ब्राह्मण होनेके अयोग्य व्यक्ति द्वारा किए जानेवाले यज्ञकी अग्निसे उसके इष्ट साधनका वर ही प्रदान किया था। इस सम्बन्धमें विशेष विवरण प्राप्त करनेके लिए श्रीहरिवंश, श्रीविष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित इन उपाख्यानोंको देखना चाहिए॥२४॥

चित्रकेतुप्रभृतयोऽधियोप्यंशाश्रिता हरेः।
निन्दका यद्यपि स्वस्य तेभ्योऽकुप्यस्तथापि न॥२५॥

श्लोकानुवाद—चित्रकेतु आदि द्वारा आपकी निन्दा किये जाने पर भी आपने उन पर कभी भी क्रोध नहीं किया, क्योंकि वे भगवान् श्रीहरिके अंशावतार श्रीसंकर्षण आदिके आश्रित हैं, किन्तु आपकी महिमाके विषयमें वे अनजान हैं॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्वभक्तेभ्योऽप्य वैष्णवत्वेन शुद्धं वरं न ददौ इत्युक्तम्, इदानीं स्वद्वेषिणोऽपि विष्णुसम्बन्ध मात्रापेक्षया नावमन्यसे इत्याह—चित्रकेत्विति। हरेवंशः शेषादिस्तमाश्रिताः प्रपन्नाः, यद्यपि श्रीबलरामस्यैवावतारः शेषस्तथापि तेन सह भगवतोऽभेदाभिप्रायेण हरेरंशेत्युक्तिः। अधियो विचारहीना अपि श्रीशिवस्य तत्वाज्ञानात्, अतएव स्वस्य शिवस्य यद्यपि निन्दका निन्दां कुर्वन्ति नाकुप्यः न कोपं कृतवानसि॥२५॥

भावानुवाद—इस प्रकार अपना भक्त होने पर भी गर्गपुत्र आदिको अवैष्णव जानकर उनको शुद्ध-निश्छिद्र वर नहीं दिया, पूर्व श्लोकमें यह बतलाया गया है। अपना द्वेषी होने पर भी यदि कोई श्रीविष्णुसे थोड़ासा भी सम्बन्ध रखता है, तो वे उसका अपमान नहीं करते, यही 'चित्रकेतु' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। चित्रकेतु महाराज श्रीहरिके अंशावतार श्रीशेष देवके आश्रित हैं। यद्यपि श्रीशेष श्रीबलरामके अवतार हैं, तथापि श्रीबलरामके साथ श्रीकृष्णका अभेद होनेसे ही चित्रकेतुको श्रीहरिके अंशावतारका आश्रित कहा गया है। यथार्थतः चित्रकेतु अज्ञ हैं अर्थात् श्रीशिवके तत्त्वको नहीं जानते। अतएव अज्ञ चित्रकेतु द्वारा आपकी निन्दा किये जाने पर भी आपने उसके प्रति क्रोध नहीं किया॥२५॥

कृष्णस्य प्रीतये तस्माच्छ्रैष्ठमप्यभिवाञ्छता।
तद्भक्ततैव चातुर्यविशेषेणार्थिता त्वया॥२६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही आपने उनसे ऐसा वर माँगा था कि जगतमें उनकी तुलनामें आपकी अधिक मान्यता हो। इस प्रकार आपने चतुरतापूर्वक उनके भक्त होनेके लिए ही प्रार्थना की थी॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु निजपूजाविशेषार्थं ततोऽपि श्रैष्ठ्य प्रार्थनया मम महानेवापराधो विख्यात एव। तथा च बृहत् सहस्रनामस्तोत्रे—*'अलब्धा चात्मनः पूजां सम्यगाराधितो हरि। मया तस्मादपि श्रेष्ठ्यं वाञ्छताहंकृतात्मना॥'* इति। तत्राह—कृष्णस्येति। प्रीतय इति साक्षाद्दास्य-प्रार्थनया परम विनय-लज्जादि गुणशीलस्य सन्तोषो न स्यादिति तत्प्रीत्यर्थमेवेत्यर्थः। तस्मात् कृष्णात्; तस्मिन् कृष्णे भक्तता दास्यमेव प्रार्थिता। चातुर्य विशेषेणेति तस्माच्छ्रैष्ठ्यस्य तद्भक्ततायामेव विचारेण पर्यवसानात् *'मद्भक्तपूजाभ्यधिका'* (श्रीमद्भा॰ ११/१९/२१) इत्यादि श्रीभगवद्वचनस्तथा श्रीरुक्मिणीदेवी सहित द्यूतक्रीड़ादावक्षान् प्रति तादृश-शपथ प्रदान श्रवणाच्चेति दिक्॥२६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि 'श्रीकृष्णकी पूजासे भी अधिक मेरी पूजा हो', ऐसी कामना करके मैंने श्रीहरिकी आराधना की थी और उस आराधनामें श्रीकृष्णकी तुलनामें श्रेष्ठ होनेकी प्रार्थना करनेके कारण मेरा अपराध विख्यात है। यथा, बृहत् सहस्रनामस्तोत्रमें कहा गया है—"अपनी पूजा प्राप्त नहीं होनेसे श्रीहरिकी तुलनामें अपने श्रेष्ठताकी कामना करके मेरे जैसे अहंकारी द्वारा श्रीहरिकी सम्यक्रूपसे आराधना कैसे हुई?"

ऐसी आशंकासे ही मानो श्रीनारद कह रहे हैं कि आपने श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए उनसे अपनी श्रेष्ठताके लिए प्रार्थना करके भी अत्यधिक चतुराईसे उनकी भक्तिकी ही प्रार्थना की थी। पक्षान्तरमें यदि आप साक्षात्रूपसे श्रीकृष्ण-दास्यकी प्रार्थना करते तो परम विनयी श्रीकृष्णको सन्तोष नहीं होता। इसलिए उनकी पूजाकी तुलनामें अपनी पूजाकी श्रेष्ठताकी अभिलाषा करके आपने श्रीकृष्णकी प्रीतिका ही सम्पादन किया है। श्रीकृष्णने तो स्वयं ही अपनी पूजासे अपने भक्तोंकी पूजाको श्रेष्ठ कहा है और वे अपनेसे भी अपने

भक्तोंको श्रेष्ठ मानते हैं तथा वैसा व्यवहार भी करते हैं। अतएव आपने उनकी पूजासे भी अपनी पूजाकी श्रेष्ठताकी प्रार्थना करके पक्षान्तरमें उनको प्रसन्न किया है। यथार्थमें आपने उनके श्रीमुखकी उक्तिको सार्थक बनाया है। अतएव ऐसी प्रार्थना भी उन्हींके दास्य और सेवामें परिणत हो गई है। श्रीभगवान् कहते हैं—"मुझे अधिक सन्तुष्ट करनेके लिए मेरी पूजासे अधिक मेरे भक्तोंकी पूजा करो।" श्रीरुक्मिणीदेवीके साथ द्यूतक्रीड़ाके प्रसंगमें अक्षवाणके प्रति भी ऐसी शपथ-प्रदान आदिकी बात सुनी जाती है॥२६॥

अतो ब्रह्मादिसंप्रार्थ्य-मुक्तिदानाधिकारिताम्।
भवते भगवत्यै च दुर्गायै भगवानदात्॥२७॥

श्लोकानुवाद—अतएव भगवान्ने आपको और भगवती श्रीदुर्गाको ब्रह्मा आदिकी भी प्रार्थनीय मुक्तिदानका अधिकार प्रदान किया है॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः स्वभक्तोपेक्षा वैष्णवापेक्षाहेतोः। ब्रह्मादिभिः संप्रार्थ्याया मुक्तेर्दानाधिकारितामधिकारम्॥२७॥

भावानुवाद—अतएव आप अपने भक्तकी उपेक्षा करते हैं और श्रीकृष्ण-भक्तका पक्ष लेते हैं, इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने आपको और भगवती श्रीपार्वतीको ऐसी मुक्तिको प्रदान करनेका अधिकार दिया है, जिसके लिए श्रीब्रह्मा आदि देवता भी प्रार्थना करते हैं॥२७॥

अहो ब्रह्मादिदुष्प्राप्ये ऐश्वर्ये सत्यपीदृशे।
तत्सर्वं सुखमप्यात्म्यमनादृत्यावधूतवत्॥२८॥
भावाविष्टः सदा विष्णोर्महोन्मादगृहीतवत्।
कोऽन्यं पत्न्या समं नृत्येद्गणैरपि दिगम्बरः॥२९॥
दृष्टोऽद्य भगवद्भक्तिलाम्पट्यमहिमाद्भुतः।
तद्भवानेव कृष्णस्य नित्यं परमवल्लभः॥३०॥
आः किं वाच्यानवच्छिन्ना कृष्णस्य प्रियता त्वयि।
त्वत्प्रसादेन बहवोऽन्येऽपि तत्प्रियतां गताः॥३१॥

श्लोकानुवाद—अहो! ब्रह्मादि देवताओंके लिए भी दुष्प्राप्य ऐश्वर्यसे सदा परिपूर्ण होने पर भी आप उस ऐश्वर्य-सुखका अनादर करके अवधूतकी तरह दिगम्बर होकर रहते हैं। आप उन्मत्त होकर श्रीकृष्णप्रेममें सदा निमग्न रहते हैं। ऐसा कौन है जो अपनी पत्नीके साथ अपने गणोंके बीचमें ऐसे भावावेशमें नृत्य करेगा? आज मैंने आपकी अद्भुत भगवद्भक्तिकी महिमाका दर्शन किया है, अतएव आप ही श्रीकृष्णके परमप्रिय कृपापात्र हैं। अहो! आपमें जो श्रीकृष्णप्रेम निरन्तर विद्यमान है, उसके विषयमें मैं और अधिक क्या कहूँ? आप श्रीकृष्णके परम प्रिय भक्त हैं, इसलिए आपकी कृपासे अनेक व्यक्तियोंने भी श्रीकृष्णप्रेमको प्राप्त किया है॥२८–३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं भगवत्परमानुग्रहलक्षणं निर्दिशन्नुपसंहरति—अहो इति चतुर्भिः। तत् ऐश्वर्यम् आत्म्यमात्मीयं सुखञ्च सर्वमनादृत्यानपेक्ष्य। यतः सदा विष्णोर्भावेनाविष्टः। सदेति यथायोग्यं सर्वत्रसम्बन्धनीयम्। महोन्मादेन गृहीत इवेति लोकधर्म-नृत्यगति-वैदग्ध्याद्यनपेक्षणात्। अतो भवगद्भक्तौ लाम्पट्यस्य रसिकताया महिमा अद्यैव दृष्टः साक्षादनुभूतः। अद्भुतः चित्तचमत्कारभरोत्पादकः महा-योगीश्वरस्यात्माराम शिरोमणेः पार्वती रमणस्यापीदृशत्वापादनात्। तत्तस्मात् अन्येऽपि दशप्रचेतः प्रभृतयः तस्य कृष्णस्य प्रियतां प्रेमास्पदत्वं प्राप्ताः॥२८–३१॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीशिवके प्रति श्रीभगवान्‌के परम कृपापात्र होनेके लक्षणोंका निर्देश करके श्रीनारद अपने प्रस्तावित विषयका उपसंहार कर रहे हैं। अहो! ब्रह्मादिके लिए भी दुर्लभ ऐश्वर्यको प्राप्त होने पर भी आप उस सुख-ऐश्वर्य आदिका आदर नहीं करते, बल्कि सदैव अवधूतके समान श्रीविष्णुभक्तिमें ही आविष्ट रहते हैं। आपने महा-उन्मादग्रस्त व्यक्तिके समान दिगम्बर होकर लोकधर्म आदिका भी त्याग कर दिया है और नृत्यगतिमें दक्षता आदिकी अकांक्षा न कर अपनी पत्नी और परिकरोंके सहित नृत्य करते हैं। अतएव आज मैंने आपकी भगवान्‌के प्रति अद्भुत भगवद्भक्तिकी महिमाका साक्षात्‌रूपसे अनुभव किया है। अद्भुत कहनेका तात्पर्य यह है कि आपकी भक्ति चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाली है। महायोगीश्वर आत्माराम-शिरोमणि होने पर तथा श्रीपार्वतीरमण या इस प्रकार ऐश्वर्यशाली होने पर भी आप सबके समक्ष श्रीपार्वतीके साथ नृत्य, कीर्त्तन करते हैं इससे

बढ़कर अद्भुत भक्तिरसिकता और क्या हो सकती है? अतएव आपमें जो निरुपाधिक श्रीकृष्णप्रेम वर्त्तमान है, उसका तो कहना ही क्या है? आप श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं, इसलिए आपकी कृपासे दस प्रचेता आदि अनेक व्यक्तियोंने श्रीकृष्णकी प्रेमसम्पत्तिको प्राप्त किया है॥२८–३१॥

पार्वत्याश्च प्रसादेन बहवस्तत्प्रियाः कृताः।
तत्त्वाभिज्ञा विशेषेण भवतोरियमेव हि॥३२॥

श्लोकानुवाद—आपकी पत्नी श्रीपार्वतीकी कृपासे भी अनेक व्यक्तियोंको श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति हुई है। श्रीपार्वती भी आपके और श्रीकृष्णके तत्त्वको भलीभाँति जानती हैं॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य कृष्णस्य प्रियाः कृताः जनशर्मादयः। भवतोः शिवकृष्णयोः॥३२॥

भावानुवाद—श्रीपार्वती श्रीकृष्णकी प्रिया हैं तथा उनकी कृपासे जनशर्मा आदि अनेक व्यक्तियोंको कृष्णप्रेम प्राप्त हुआ है। वे श्रीकृष्ण और श्रीशिवके तत्त्वको जानती है॥३२॥

कृष्णस्य भगिनी वैषा स्नेहपात्रं सदाम्बिका।
अतएव भवानात्मारामोऽप्येतामपेक्षते॥३३॥

श्लोकानुवाद—ये श्रीअम्बिकादेवी श्रीकृष्णकी बहनकी भाँति उनकी सदा स्नेहपात्री हैं। इसीलिए आप आत्माराम होते हुए भी इनका पक्ष लेते हैं॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगिनीति—यशोदा-गर्भजातया मायया सहास्या अभेदात्। इवेत्युक्त प्रकारेण साक्षात् भगिनीत्वाभावात्; यद्वा, सुभद्रावत् स्नेहपात्रम् आत्मनि भगवदवतारत्वान्निजस्वरूपे भगवत्येव वा रमति इति तथा सोऽपि सन् एतामम्बिकाम्॥३३॥

भावानुवाद—श्रीयशोदाके गर्भसे उत्पन्न योगमायाका श्रीअम्बिकादेवीके साथ अभेद होनेके कारण ही उनको श्रीकृष्णकी बहनके समान कहा गया है, किन्तु 'इव'-कारके द्वारा साक्षात् बहन होनेका अभाव ही सूचित हो रहा है। अथवा ये सुभद्राके समान श्रीकृष्णकी स्नेहपात्री हैं, इसलिए आप आत्माराम होने पर भी इनका पक्ष लेते हैं। यहाँ

पर आत्माराम कहनेका तात्पर्य यह है कि आप भगवान्‌का अवतार होनेके कारण स्व-स्वरूपमें (अपने स्वरूपमें) रमण करनेवाले हैं अथवा भगवद् स्वरूपमें रमण करनेवाले हैं, ऐसा समझना होगा॥३३॥

विचित्रभगवन्नामसंकीर्त्तन-कथोत्सवैः ।
सदेमां रमयन् विष्णुजनसंगसुखं भजेत्॥३४॥

श्लोकानुवाद—आप सदैव भगवान्‌के विचित्र-विचित्र नामसंकीर्त्तन, कथाके उत्सवादि द्वारा श्रीपार्वतीको सदासर्वदा सुख प्रदान करते रहते हैं, तथा स्वयं भी उनके संगसे विष्णुभक्त संगके सुखको अनुभव करते रहते हैं॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदपेक्षणफलमाह—विचित्रेति। विचित्रं यद् भगवतो नाम संकीर्त्तनं कथा च लीलाद्याख्यानं ताभ्यां ये उत्सवास्तैस्तत्तद्रूपैरुत्सवैरिति वा। बहुत्वं गौरवेण तत्तद्वैचित्र्येनोत्सवस्यापि वैचित्र्यापेक्षया वा। इमामम्बिकां विष्णुजनानां सङ्गाद्यत् सुखं विचित्र भगवन्नाम संकीर्त्तनादि तत् सदा भजेत् प्राप्नुयाद् भवान्॥३४॥

भावानुवाद—'विचित्र' इत्यादि श्लोकके द्वारा श्रीशिवका श्रीपार्वतीके प्रति पक्ष लेनेका फल बता रहे हैं। सदैव भगवान्‌के विचित्र-विचित्र नामसंकीर्त्तन और लीला आदिके वर्णनके द्वारा जो आनन्द रूप उत्सव होता है, उस उत्सवरूप संग द्वारा आप श्रीपार्वतीको भी आनन्दित करते हैं और स्वयं भी उनके संगसे आनन्दित होते हैं। यहाँ गौरव अथवा उत्सवके वैचित्र्यकी आशासे बहुवचनका प्रयोग किया गया है। ये अम्बिकादेवी भी श्रीविष्णुकी भक्त हैं, इसलिए आप भी विष्णुभक्तके संगसे उत्पन्न सुखको प्राप्त करते हैं, क्योंकि विष्णुभक्तके संगमें ही भगवान्‌के विचित्र नामसंकीर्त्तन आदिका सुख अनुभव हो सकता है॥३४॥

परीक्षिदुवाच—

ततो महेश्वरो मातस्त्रपाऽवनमिताननः।
नारदं भगवद्भक्तमवदद्वैष्णवाग्रणीः॥३५॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! तब वैष्णवश्रेष्ठ श्रीमहेश्वर अपनी प्रशंसा श्रवणकर लज्जासे मस्तक झुकाकर भगवद्भक्त श्रीनारदसे कहने लगे॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—त्रपया निजस्तुतिश्रवणात् स्वकीय तादृशत्वासम्भावनयोपहास मननाद्वा लज्जया अवनमितं मुखं येन यस्य वा स यतो वैष्णवेषु अग्रणीर्मुख्यतरः॥३५॥

भावानुवाद—श्रीमहादेवने लज्जासे अपना मस्तक क्यों झुका लिया? अपनी स्तुति सुनकर अथवा अपने ऐसे महत्त्वकी असम्भावनाके कारण। अर्थात् मैं यथार्थमें ऐसा योग्य नहीं हूँ, अतः मेरी ऐसी प्रशंसा उपहासमें ही परिणत हो रही है। इसलिए लज्जावश उनका मुख नीचे हो गया, क्योंकि वे वैष्णवोंमें श्रेष्ठ हैं॥३५॥

श्रीमहेश उवाच—

अहो वत महत्कष्टं त्यक्तसर्वाभिमान हे।
क्वाहं सर्वाभिमानानां मूलं क्व तादृशेश्वरः॥३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीमहादेवने कहा—हे सभी प्रकारके अभिमानोंको त्यागनेवाले श्रीनारद! कैसे आश्चर्यकी बात है! मेरे लिए तो बड़े दुःखका विषय है! कहाँ तो तुम्हारे समान सभी प्रकारके अभिमानोंको त्यागनेवालोंके ईश्वर श्रीकृष्ण और कहाँ सभी प्रकारके अभिमानोंसे युक्त मैं?॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वेषां लोकेशत्वादि रूपाणामभिमानानामहंकाराणां मूलं मुख्याधिष्ठानं; यद्वा, रुद्रस्याहंकाराधिष्ठातृत्वात् सर्वेषां जीवानां येऽभिमाना धनाभिजनैश्वर्यमदास्तेषां मूलमहं क्व, तादृशानां त्यक्त सर्वाभिमानानामीश्वरः श्रीकृष्णः क्व? एवं तेन सम्बन्धोऽपि न घटेतेत्यर्थः॥३६॥

भावानुवाद—मैं लोकेश्वरता आदि समस्त अहंकारोंका मूलभूत अथवा मुख्य अधिष्ठान हूँ। अथवा रुद्रके ही अहंकारके अधिष्ठातृ देवता होनेसे सभी जीवोंके सारे अभिमान अर्थात् धन, जन और ऐश्वर्य-मद आदिका मूल मैं कहाँ? और कहाँ वैसे समस्त प्रकारके अभिमानोंको त्याग करनेवाले तुम लोगोंके प्रभु श्रीकृष्ण। अतएव श्रीकृष्णके साथ मेरा वैसा सम्बन्ध लेशमात्र भी घटित नहीं होता है॥३६॥

लोकेशो ज्ञानदो ज्ञानी मुक्तो मुक्तिप्रदोऽप्यहम्।
भक्तो भक्तिप्रदो विष्णोरित्याद्यहं क्रियावृतः॥३७॥
सर्वग्रासकरे घोरे महाकाले समागते।
विलज्जेऽशेषसंहारतामसन्वप्रयोजनात् ॥३८॥

श्लोकानुवाद—मैं लोकोंका ईश्वर, ज्ञानदाता, ज्ञानी, मुक्त, मुक्तिदाता, भक्त, विष्णुभक्ति प्रदाता इत्यादि सब प्रकारके अहंकारोंसे ढका हुआ हूँ। परन्तु प्रलयकालमें जब सबको ग्रास करनेवाला घोर महाकाल उपस्थित होता है, उस समय समस्त जगतके संहार करनेका तामस कार्य मुझे ही करना होता है। अब उन सब बातोंका स्मरणकर मुझे लज्जा आ रही है॥३७–३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च वक्तव्यमहंकाराधिष्ठातृत्वेन तद्व्याप्तोऽहमिति। यतोऽहमेव सर्वेभ्यः परममहाभिमानवानित्याह—लोकेश इति। 'विष्णोर्भक्तो विष्णोर्भक्ति प्रदश्च' इत्येतदाद्याभिरहं क्रियाभिरहंकारैर्वृतो व्याप्तः आदि शब्दाद्विष्णोः परम कृपापात्रं प्रिय इत्यादि ग्राह्यम् अन्येषामपि योऽभिमानं कारयति स परममहाभिमानी स्वत एव सम्भवेदित्यभिप्रायः। अतएव कृपालक्षणमपि किञ्चिन्नास्तीति तात्पर्यम्। किञ्च सर्वेति, अशेषस्य जगतः संहाररूपं यत्तामसं स्वस्य मम प्रयोजनमावश्यकं कर्म तस्माद्विलज्जे। तदानीन्तननिजतद्दुष्कृत व्यानुसन्धानेन लज्जयाधुनापि दूय इति भावः॥३७–३८॥

भावानुवाद—मैं अंहकारका अधिष्ठातृ देवता हूँ, केवल यही नहीं, बल्कि मैं स्वयं ही अंहकारसे परिपूर्ण हूँ। मैं सबसे अधिक महाभिमानी हूँ, यही 'लोकेश' इत्यादि श्लोकोंमें कह रहे हैं। 'मैं विष्णुभक्त हूँ, मैं विष्णुभक्ति प्रदाता हूँ' इत्यादि मैं इन अहंकारोंसे आवृत (ढका हुआ) हूँ। 'आदि' शब्दसे विष्णुका परम कृपापात्र, परमप्रिय, जगतका ईश्वर, ज्ञान-प्रदाता, ज्ञानी, मुक्त और मुक्तिदाता इत्यादि अहंकारको प्रकाश करनेवाले वचनोंको भी ग्रहण करना होगा। यथार्थ रूपमें जो दूसरोंमें अहंकार उत्पन्न कर दे, वह तो स्वयं ही परम अहंकारी है, ऐसा कहना ही बहुत है। अतएव मुझमें श्रीकृष्णकी कृपाका लेशमात्र भी लक्षण नहीं है। और भी देखो, सम्पूर्ण जगतका संहाररूप जो तामसकार्य है, उसीके लिए मेरी आवश्यकता है। इन सब बातोंका स्मरण करनेसे ही मुझे लज्जा आती है। संहारके समयमें

अपने कर्त्तव्यका स्मरण करने पर भी लज्जासे मेरा मस्तक झुक जाता है॥३७-३८॥

मयि नारद वर्तेत कृपालेशोऽपि चेद्धरेः।
तदा किं पारिजातोषाहरणादौ मया रणः॥३९॥
मां किमाराधयेद्दासं किमेतच्चादिशेत् प्रभुः।
स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु॥४०॥

श्लोकानुवाद—हे नारद! मेरे प्रति यदि श्रीकृष्णकी लेशमात्र भी कृपा होती, तो मैं उनसे पारिजात हरण और ऊषा-हरणके समय युद्ध क्यों करता? अथवा फिर वे अपने दास स्वरूप मेरी आराधना क्यों करते? अथवा वे मुझको यह आदेश क्यों करते कि तुम संसारमें जाकर कल्पित भाष्य और तन्त्रसमूह द्वारा लोगोंको मुझसे (भगवान्से) विमुख करो॥३९-४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं निजाधिकार कृत्यानुसन्धानेन मयि तस्य कृपा लक्षणं नानुमीयत एव; प्रत्युत साक्षात् परमोपेक्षैव दृश्यत इत्याह—मयीति द्वाभ्याम्। पारिजातस्य स्वयं कृष्णेन हरणं ऊषायाश्चानिरूद्धेन चौर्येण भवनाद्धरणम्। तदादावर्थे मया सह हरेः रणः किं स्यादपि तु न भवेदेव। किञ्च मामिति दासमिति दासस्य प्रभुणा क्रियमाणमाराधनं लोके परमोपहास कारणमेव स्यादिति भावः। यद्वा, निगूढ़ क्रोधभराविर्भाव विशेष गमकमेवेति। किम्वा महासंकोचप्रदानेन परमदुःख विशेषापादनमेवेति दिक्। एतच्च पुत्रोत्तम प्राप्त्यादि-निमित्तक-भगवत् कृत-आराधनाद्यभिप्रायेणोक्तम्। अनेन बहुवारान् मत्तो बहुल वरग्रहणं न मद्विषयक-कृपा-लक्षणं किन्तु परमोपेक्षागमकमेवेति भावः। तथा तेन ममापराधा न क्षम्यन्त एवेति गूढ़ोऽभिप्रायः। किञ्च किमेतदिति किं तदाह—स्वागमैरिति। भवगवद्भक्ति प्रवर्त्तनमेव तत् कृपा लक्षणम् अन्यथा परमोपेक्षैव इति भावः। यद्यपि चातुर्यविशेषेण भगवति प्रार्थितस्य भक्तत्वस्य संसिद्धानुरूपमेव परमादेय निजभक्तिसङ्गोपनाय भगवतापि तादृशमुक्तं, तथापि भक्तिविशेषेण तदसहिष्णुतया श्रीशिवेन तथानुतप्तमित्येषा दिक्॥३९-४०॥

भावानुवाद—इस प्रकार अपने आधिकारिक-कार्यका विचार करनेसे अपने प्रति श्रीकृष्णकी कृपाका लेशमात्र दिखायी नहीं देता, अतः ऐसा केवलमात्र अनुमान ही नहीं है, अपितु साक्षात्रूपमें भी उनकी अत्यधिक उपेक्षा ही दिखाई देती है। यही 'मयि' इत्यादि दो श्लोकोंमें व्यक्त कर रहे हैं। हे नारद! यदि मुझ पर भगवान्की थोड़ीसी भी

कृपा होती, तब क्या मैं पारिजात–हरण और अनिरुद्ध द्वारा ऊषा–हरणके समय उनसे युद्ध करता? और भी देखो, मैं श्रीकृष्णका दास हूँ, किन्तु वे प्रभु अपने दास मेरी आराधना क्यों करते हैं? यथार्थ रूपमें प्रभु द्वारा की गयी मेरी आराधना जगतमें उपहासका विषय बनी है। अथवा श्रीकृष्णके हृदयमें मेरे प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ था, इसलिए उन्होंने मेरी आराधना की या फिर उन्होंने मेरी आराधना करके मुझे अत्यधिक लज्जित कर दुःख–सागरमें निमज्जित कर दिया था। और उत्तम पुत्रकी प्राप्तिके लिए श्रीभगवान्‌ने मेरी आराधना करके वर प्राप्त किया था, इस प्रकार भगवान् द्वारा की गई दासकी आराधना और वरग्रहण आदि कार्य कृपाका लक्षण नहीं, बल्कि परम उपेक्षाका ही लक्षण है। श्रीमहादेवके कथनका गूढ़ अभिप्राय यह है कि इन सभी कार्यों द्वारा स्पष्टरूपमें ही दिखाई दे रहा है कि भगवान्‌ने उनके अपराधको क्षमा नहीं किया है।

और भी सुनो, यदि मेरे प्रति भगवान्‌की थोड़ीसी भी कृपा होती, तो क्या वे मुझे आदेश देते, 'तुम स्वकल्पित आगमसमूह द्वारा लोगोंको मुझसे विमुख करो।' यथार्थतः भगवद्भक्ति–प्रवर्त्तनके लिए आदेश करना ही कृपाका लक्षण है, अन्यथा उक्त आदेशमें परम उपेक्षा ही दिखाई देती है। यद्यपि भगवान्‌ने अपनी चतुराई द्वारा श्रीशिवको अपने उस प्रिय सेवाकार्य अर्थात् भक्ति–प्रवर्त्तन अथवा भक्तिकी सिद्धिके अनुरूप जो परम दुर्लभ उनकी भक्ति है, उसको छिपानेका ही आदेश दिया था, तथापि भक्तिरसिक श्रीमहादेवने भगवान्‌के ऐसे आदेशका पालन कर उनकी सेवा की थी, किन्तु भक्तिके स्वभाववशतः ऐसा कार्य जो कि भक्तिको ही गोपन कर दे, उसको सहन न करके ही वे अनुतप्त हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि भक्ति–प्रवर्त्तनका आदेश प्रदान करना ही प्रभुकी कृपाका लक्षण है, दासके प्रति भक्तिको गोपन करनेका आदेश प्रदान करना उनकी कृपा नहीं है। यद्यपि यह भगवान्‌का आदेश है और आदेश प्राप्त करना ही कृपाका लक्षण है, तथापि भक्तिकी अतृप्तिके कारण स्वभावतः ही वे अनुतप्त हो रहे हैं॥३९–४०॥

आवयोर्मुक्तिदातृत्वं यद्भवान् स्तौति हृष्टवत्।
तच्चातिदारुणं तस्य भक्तानां श्रुतिदुःखदम्॥४१॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीनारद! तुम जो हम दोनोंको मुक्तिदाता कहकर प्रसन्नतापूर्वक हमारी प्रशंसा कर रहे हो, यह मुक्ति भी अति कष्टप्रद और भक्ति विरोधी है, इसलिए इस मुक्तिका नाम ही भक्तोंके कानोंको दुःख प्रदान करनेवाला है॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अति दारूणं परमक्रुरं भक्ति विरोधित्वात्, अतएव तस्य विष्णोर्भक्तानां श्रुत्योः कर्णयोः श्रुत्या वा तन्नामश्रवण मात्रेणापि दुःखदम्॥४१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४१॥

तत्कृष्णपार्षदश्रेष्ठ मा मां तस्य दयास्पदम्।
विद्धि किन्तु कृपासारभाजो वैकुण्ठवासिनः॥४२॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे श्रीकृष्णके पार्षदोंमें श्रेष्ठ श्रीनारद! मुझे श्रीकृष्णका कृपापात्र मत समझो। वैकुण्ठमें वास करनेवाले भक्त ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कृपाके पात्र हैं॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात् तस्य कृष्णस्य दयास्पदं मां मा विद्धि जानीहि। हे कृष्णपार्षदश्रेष्ठेति त्वमपि तादृश एव अतो मत्तः श्रेष्ठतरः सर्वं स्वयं जानास्येवेति भावः॥४२॥

भावानुवाद—अतएव हे श्रीकृष्णपार्षदोंमें प्रधान देवर्षि श्रीनारद! मुझमें और श्रीपार्वती दोनोंमें मुक्ति देनेकी शक्ति है, इससे हमें श्रीकृष्णका कृपापात्र मत समझो, बल्कि तुम्हीं भगवान्‌के कृपापात्र हो। अतएव हमसे भी श्रेष्ठ हो, यह तुम स्वयं भी जानते हो और दूसरे भी ऐसा जानते हैं॥४२॥

यैः सर्वं तृणवत्त्यक्त्वा भक्त्याराध्य प्रियं हरिम्।
सर्वार्थसिद्धयो लब्ध्वापाङ्गदृष्ट्यापि नादृताः॥४३॥

श्लोकानुवाद—वे सभी अर्थोंको तृणकी भाँति त्यागकर केवल भक्तिभावसे अपने प्रिय श्रीहरिकी आराधना करते हैं और उसी

आराधनाके प्रभावसे आनुसङ्गिक रूपमें सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त होने पर भी उसका दृष्टि द्वारा भी आदर नहीं करते हैं॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां कृष्णकृपासारभाक्त्वलक्षणं वक्तुं यैरित्यादि षट् श्लोक्या परम माहात्म्यं दर्शयन्नादौ वैकुण्ठ प्रापकसाधनोत्कर्षेणैव माहात्म्यमाह— सपादश्लोकेन; भक्तया प्रेम्णा; तथाराधने हेतुः—प्रियमिति। अतएव सर्वे अर्था धर्मादयः सिद्धयश्चाणिमादयः। यद्वा, सर्वेषामर्थानां सिद्धयः सम्पत्तयः लब्धवापि तदाराधन प्रभावेणैवानुषङ्गिःकत्वेन स्वयमेवोपस्थितत्वान्नेत्रान्तावलोकेनापि नादृताः वस्तुबुद्धया न स्वीकृताः॥४३॥

भावानुवाद—वैकुण्ठवासी भक्त जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठ कृपाके पात्र बने हैं, उसी भक्तिके लक्षणको बतानेके लिए 'यैः' इत्यादिसे आरम्भ करके 'कमला' तक छह श्लोकोंकी अवतारणा हुई है। उनमें से पहले श्लोकमें सभी वैकुण्ठवासियोंके माहात्म्यको दिखाकर बादमें वैकुण्ठकी प्राप्तिके लिए साधनके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। जो भक्तिभावसे अपने प्रिय श्रीहरिकी आराधना कर रहे हैं और उस आराधनाके लिए अपने सभी प्रकारके स्वार्थोंका परित्यागकर अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अणिमा आदि सिद्धि अथवा सभी प्रयोजनोंके सिद्धि-स्वरूप वैकुण्ठके सम्पूर्ण ऐश्वर्यको भी तृणके समान त्याग कर देते हैं, वे भगवत् आराधनाके प्रभावसे आनुसङ्गिक रूपमें स्वयं उपस्थित अष्टसिद्धियोंको अपने नेत्रोंके कटाक्ष द्वारा भी आदर नहीं करते तथा उसे यथार्थ वस्तुके रूपमें स्वीकार नहीं करते॥४३॥

त्यक्तसर्वाभिमाना ये समस्तभयवर्जिताः।
वैकुण्ठं सच्चिदानन्दं गुणातीतं पदं गताः॥४४॥

श्लोकानुवाद—वे सब प्रकारके अभिमानोंका सर्वथा परित्याग कर उस वैकुण्ठपदको प्राप्त करते हैं, जहाँ किसी प्रकारका भय नहीं है तथा जो स्थान गुणातीत होनेके कारण सच्चिदानन्दस्वरूप है॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तेषां विषयि-मुमुक्षु-मुक्तेभ्यो महिमोक्तः, इदानीमात्मनोऽपि सकाशान्माहात्म्यमाह—त्यक्तेति। ये वैकुण्ठाख्यं पदं लोकं प्राप्ताः, पदत्वेऽपि नानित्यत्वं मायिकत्वं चेत्याह—सच्चिदानन्दम्। यतो गुणातीतं—तदुक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रे

श्रीब्रह्मनारदसंवादे जितन्ते स्तोत्रे—*'लोकं वैकुण्ठनामानां दिव्यषड़्गुणसंयुतम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रय-विवर्ज्जितम्॥ नित्यसिद्धैः समाकीर्णः तन्मयैः पञ्चकालिकैः। सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभम्॥ वापीकूप तड़ागैश्च वृक्षषण्डैः सुमण्डितम्। अप्राकृत सुरैर्वन्दयमयुतार्कसमप्रभम्॥'* इति। ब्रह्माण्डपुराणे—*'तमनन्तगुणावासं महत्तेजो दुरासदम्। अप्रत्यक्षं निरुपमं परानन्दमतीन्द्रियम्॥'* इति। द्वितीयस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ २/९/९-१०)—*'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम्। व्यपेतसंङ्क्लेशविमोहसाध्वसं, स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम्॥ प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः, सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः। न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्च्चिताः॥'* इति। दशमस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ १०/२८/१४-१५)—*'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्। यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥'* इति। अस्यार्थः—तमसः प्रकृतेः परं लोकमेव विशिनष्टि—सत्यमिति। ब्रह्म-व्यापकं; यद्वा, सत्यादिरूपं यद्ब्रह्म तत्स्वरूपमित्यर्थः। अतएव यद्ब्रह्मेति पाठेऽपि यदिति ब्रह्मविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम्; अव्ययत्वाद् यमिति वा। मुनयः आत्मारामाः पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा केवलं न तु लभन्त इत्यर्थः॥४४॥

भावानुवाद—इस प्रकार सभी वैकुण्ठवासियोंकी विषयी, मुमुक्षु, मुक्तोंसे भी अधिक महिमाकी बात बतलाकर, अब अपनेसे भी अधिक उनके माहात्म्यका वर्णन करनेके लिए 'त्यक्त' इत्यादि कह रहे हैं। 'जिन्होंने वैकुण्ठपदको प्राप्त कर लिया है', इस वाक्यमें 'पद' शब्दका प्रयोग होने पर भी वह मायिक नहीं है, सच्चिदानन्द है। इस गुणातीत वैकुण्ठपदके सम्बन्धमें श्रीनारदपञ्चरात्रमें (श्रीब्रह्मा-नारद-संवादके जितन्ते स्तोत्रमें) कहा गया है—"अप्राकृत षड्गुणोंसे युक्त वैकुण्ठ नामक लोक त्रिगुणातीत होनेके कारण अवैष्णवोंके लिए अप्राप्य है। नित्यसिद्ध परिकरोंसे परिपूर्ण पञ्चकालिक नित्य तन्मय—सच्चिदानन्दमय है। उस अप्राकृत वैकुण्ठमें सभा, प्रासाद (भवन), उपवन, वापी, कुँआ, तालाब और वृक्ष आदि सुमण्डित और सुरगण-वन्दित कोटि-कोटि सूर्यके समान प्रभाविशिष्ट हैं।" जैसा कि ब्रह्माण्डपुराणमें कहा गया है—"वह वैकुण्ठ अनन्त गुणोंका आलय होने पर भी महातेजोमय, अवैष्णवोंके लिए अगोचर, निरुपम, इन्द्रियातीत तथा परमानन्दमय है।" श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—"श्रीनारायणने ब्रह्माकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उनको अपने सर्वोत्कृष्ट धाम वैकुण्ठके दर्शन कराये। उस वैकुण्ठमें क्लेश नहीं है, भय नहीं है तथा आत्मस्वरूप

दृष्टि प्राप्त अर्थात् स्वरूप-प्राप्त मुक्तगण इस वैकुण्ठलोकको सर्वदा प्रशंसा करते हैं।" दशम-स्कन्धमें भी कहा गया है—"महाकरुणामय भगवान् श्रीकृष्णने गोपोंको प्रकृतिसे परे स्थित अपने वैकुण्ठलोकके दर्शन कराये। वह लोक व्यापक अर्थात् अपरिछिन्न और स्वप्रकाशित है। नित्य समाहित बाह्य विषयोंसे मनको हटानेवाले मुनिगण जिसे समाधिमें दर्शन करते हैं, भगवान्‌की कृपा होने पर उस सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म-स्वरूप धामका दर्शन होता है।" अथवा सत्यस्वरूप जो 'ब्रह्म' हैं, वही उक्त धामका स्वरूप होनेके कारण उद्धृत श्लोकमें 'यद्ब्रह्म' शब्द पाठ किया गया है। परन्तु आत्माराम मुनिगण गुणातीत होने पर भी केवल ज्ञानरूपी चक्षुओं द्वारा इस वैकुण्ठलोकका दर्शन करते हैं, किन्तु उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं॥४४॥

तत्र ये सच्चिदानन्ददेहाः परमवैभवम्।
संप्राप्तं सच्चिदानन्दं हरेर्सार्ष्टिञ्च नाभजन्॥४५॥

श्लोकानुवाद—उस वैकुण्ठलोकमें जो वास करते हैं, उन सभीकी सच्चिदानन्द देह है। वे उस स्थानमें रहने पर भी सच्चिदानन्दमय परम वैभव स्वरूप श्रीहरिके समान ऐश्वर्यको प्राप्त कर उस वैभवका तनिक भी आदर नहीं करते हैं॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—मूर्त्तिमत्त्वेऽपि नित्यत्वामायिकत्वाद्यभिप्रैति—सच्चिदानन्ददेहा इति। तथा च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१/३४) श्रीयुधिष्ठिर-प्रश्ने—*'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्'* इति। एवं प्राकृतैर्देहादिभिर्हीनानामिति सच्चिदानन्दविग्रहत्वमिति सिद्धम्। एवं स्वरूपमाहात्म्य मुक्त्वा बाह्य महाविभूति-माहात्म्यमाह—परमं सर्वोत्कृष्टं वैभवं प्रत्येकं सावरणानन्तकोटि-ब्रह्माण्डसम्पत्तिं सम्यगनायासेन सम्पूर्णतया च प्राप्तमपि नाभजन् आदरेण नाङ्गीचक्रुः। सच्चिदानन्दमपि एवं वैभवस्यापि नित्यत्व-सत्यत्वादिकमुक्तं ब्रह्मैव भगवच्छक्ति-विशेषेण मधुर-मधुरां परम वैचित्रीं नीतं सत् वैकुण्ठं-तद्वासि तत्रत्य वैभवरूपेण विलसतीत्यग्रे सन्यायं अप्रमाणकञ्च त्यक्तीभविता किञ्च हरेः सार्ष्टिं समानैश्वर्यतां च नाभजन्॥४५॥

भावानुवाद—उस वैकुण्ठलोकमें जो वास करते हैं, उन सभीके मूर्त्तिमान अर्थात् देह होने पर भी उनका देह नित्य और मायासे परे है। इसी अभिप्रायसे 'सच्चिदानन्दमय देहाः' इत्यादि कह रहे हैं। इस

विषयमें श्रीमद्भागवतके सप्तम-स्कन्धमें श्रीयुधिष्ठिर महाराजके प्रश्नके उत्तरमें श्रीनारद कह रहे हैं—"वैकुण्ठवासियोंकी देह और इन्द्रियाँ नहीं हैं।" अतएव वे प्राकृत देह आदिसे रहित हैं, इससे भी उनका सच्चिदानन्द-विग्रहत्व सिद्ध होता है। (परन्तु 'वैकुण्ठवासी' कहने पर शरीर और मूर्त्ति है—ऐसा समझा जाता है, किन्तु उनकी देह और इन्द्रियाँ नहीं हैं—इस वाक्यसे विरोध प्रतीत हो रहा है। अतएव परस्पर विरोधी वाक्योंका समाधान यह है कि उनकी देह और इन्द्रियाँ तो हैं, किन्तु प्राकृत नहीं—सच्चिदानन्दमय हैं।) इस प्रकार उनके स्वरूप-माहात्म्यका उल्लेख कर अब उनकी विभूतिका माहात्म्य बतला रहे हैं। वे उस वैकुण्ठमें रहकर सच्चिदानन्दमय परम उत्कृष्ट वैभवको प्राप्त करके भी उसका आदर नहीं करते हैं। वह परम वैभव कैसा है? सच्चिदानन्दमय अर्थात् उनका भगवान् श्रीहरिके समान सच्चिदानन्दमय विग्रह हैं, इसलिए वहाँका प्रत्येक व्यक्ति आवरण सहित अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी सम्पत्तिको अनायास ही सम्पूर्णरूपसे प्राप्त करके भी उसका आदर नहीं करता है। अतः वह सच्चिदानन्दमय श्रीहरिके सारूप्यके प्रति भी दृष्टिपात नहीं करता। इससे अधिक और क्या कहूँ? इस प्रकार वैकुण्ठके वैभवको नित्य और सत्य जानकर ब्रह्मरूपमें कहा गया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब ब्रह्ममें वैचित्री ही नहीं है, तो वैभव आदि किस प्रकारसे ब्रह्मस्वरूप होगा? वह वैभव ब्रह्मस्वरूप निर्विकार होने पर भी भगवान्‌की शक्ति द्वारा मधुर-मधुर परम वैचित्रीको प्राप्त हुआ है। इस विषयका बादमें विस्तृत रूपसे वर्णन किया जाएगा। इसलिए वैकुण्ठ ब्रह्मस्वरूप है और वैकुण्ठवासी भक्तजन तथा वहाँकी सभी वस्तुएँ विचित्र वैभव रूपसे विलास करती हैं। और भी कह रहे हैं कि वैकुण्ठवासी भक्तजन श्रीहरिकी सार्ष्टि अर्थात् श्रीहरिके समान ऐश्वर्यको भी स्वीकार नहीं करते हैं॥४५॥

हरेर्भक्त्या परं प्रीता भक्तान् भक्तिञ्च सर्वतः।
रक्षन्तो वर्द्धयन्तश्च सञ्चरन्ति यदृच्छया॥४६॥

श्लोकानुवाद—वे वैकुण्ठवासी केवल भगवान्‌की भक्तिसे ही परम सन्तुष्ट रहते हैं तथा हरिभक्तों और हरिभक्तिकी रक्षा करते हुए भगवद्भक्तिका विस्तार करनेके लिए स्वेच्छापूर्वक सर्वत्र विचरण करते रहते हैं॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—हरेरिति। सर्वत इति यथापेक्षं सर्वत्र योजनीयम्, परं केवलं भक्त्यैव सर्वत्र प्रीताः सन्तुष्टाः। यथोक्तं श्रीभगवता (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१३) *'मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः'* इति। अतएव हरेर्भक्तानां भजने प्रवृत्तमात्राणां भक्तिनिष्ठानां स्वत एव सर्वसिद्धेः। सर्वतः प्रमादादिना पातित्यादौ जातेऽपि लोकेभ्यो यमादिभ्योऽपि रक्षयन्तो वर्द्धयन्तश्च सद्वंशसन्ततेर्महावैभव-विस्तारणाच्च बाहुल्यापादनाच्च, तथा हरेर्भक्तिञ्च रक्षन्तः कर्मज्ञानासक्त्यादिविघ्नतः वर्द्धयन्तश्च तत्तदुद्दीपनाद सम्पादनात् सर्वत्र प्रवर्त्तनाच्च; एवं सर्वत्रैव सञ्चरन्ति। यदृच्छयेति कर्म पारतन्त्र्याद्यभावात्, सर्वत्राप्रतिहत गतित्वाच्च॥४६॥

भावानुवाद—वैकुण्ठमें वास करनेवाले भक्त श्रीहरिके सारूप्य और उनके समान ऐश्वर्यका आदर क्यों नहीं करते हैं? इस श्लोकमें इसका कारण बतला रहे हैं। वे केवल हरिभक्ति द्वारा ही परम सन्तुष्ट रहते हैं। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—"मेरे भक्तोंको सम्पूर्ण जगत सुखमय दिखाई देता है।" अतएव हरिभक्त अथवा जिन्होंने अभी भजन करना प्रारम्भ ही किया है वैसे भक्त भी अपनी भक्तिनिष्ठा द्वारा ही स्वतः सर्वसिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं। वैकुण्ठवासी भी हरिभक्तों और हरिभक्तिकी रक्षा तथा हरिभक्तिका विस्तार करनेके लिए स्वेच्छापूर्वक सर्वदा और सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। यहाँ पर हरिभक्तोंकी रक्षाका तात्पर्य यह है कि कभी प्रमादवशतः उनका पतन होने पर, सांसारिक लोगों द्वारा आक्रमण होने पर अथवा यमराजके शासनके भयसे वे उनकी रक्षा करते हैं। हरिभक्ति-वर्द्धित कहनेका तात्पर्य यह है कि वे साधुओंकी गोत्रवृद्धि द्वारा भक्तिका महावैभव विस्तार करते हैं। हरिभक्तिकी रक्षाका अर्थ है—इस जगतमें भक्तोंकी भक्तिको कर्म, ज्ञान आदिसे उत्पन्न विघ्नोंसे रक्षा करना। इस प्रकार वैकुण्ठके पार्षद हरिभक्तिके वर्द्धन और उसके उद्दीपनके लिए स्वेच्छापूर्वक सदैव सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं। यहाँ पर स्वेच्छापूर्वक कहनेका उद्देश्य यह है

कि वे कर्मके परतन्त्र नहीं हैं, इसलिए सर्वत्र बिना किसी बाधाके आ जा सकते हैं। अर्थात् जीव जैसे कर्मके अधीन होनेके कारण सर्वत्र विचरण करनेमें अक्षम हैं, वे उस प्रकार कर्मके अधीन नहीं होते, इसलिए बिना किसी विघ्न-बाधाके सर्वत्र विचरण करते हैं॥४६॥

मुक्तानुपहसन्तीव वैकुण्ठे सततं प्रभुम्।
भजन्तः पक्षिवृक्षादिरूपैर्विविधसेवया॥४७॥
कमलालाल्यमानाङ्घ्रिकमलं मोदवर्द्धनम्।
संपश्यन्तो हरिं साक्षाद्रमन्ते सह तेन ये॥४८॥

श्लोकानुवाद—उस वैकुण्ठलोकके पशु, पक्षी और वृक्ष आदि भी अनेक प्रकारकी सेवाओंके द्वारा निरन्तर अपने प्रभु श्रीहरिका भजन करते हैं। ऐसा लगता है मानो वे उन-उन योनियोंको धारणकर मुक्तपुरुषोंका उपहास कर रहे हैं, क्योंकि जिनके चरणकमलोंको श्रीलक्ष्मी सदैव प्रेमसे सम्वाहन करती रहती हैं, वे ऐसे श्रीभगवान्का साक्षात् दर्शन करते हुए उनके साथ विहार करते हैं॥४७-४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु यद्येवम्भूतोऽसौ वैकुण्ठलोकः, कथं तर्हि तामसयोनिगता इव तिर्यक्स्थावरादयस्तत्र श्रूयन्ते? तथा च तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/१५/१८-१९) वैकुण्ठवर्णने—*'पारावतान्यभृत-सारस चक्रवाक्-दात्यूह-हंसशुकतित्तिरिवर्हिणां यः। कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चैर्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥ मन्दार कुन्द कुरवोत्पल चम्पकार्णपुन्नाग-नागबकुलाम्बुज पारिजाताः। गन्धैर्युतै तुलसिका भरणेन तस्या यस्मिंस्तप सुमनसो बहु मानयन्ति॥'* इति। तत्राह—मुक्तानिति। एतादृश विचित्र भजन महासुखं परित्यज्य तद्विरुद्धां तुच्छां मुक्तिं ते जगृहुरित्युपसंहरति; भक्तितत्वाद्यनभिज्ञेषु तेषु निजनीचयोनिता प्राप्त्यादिदर्शनेनोपहासं कुर्वन्ति इवेति वस्तुतः कथञ्चित् कञ्चिदपि प्रति तेषामुपहासासम्भवात्, दीनवात्सल्याद् भक्तिरसैक-निमग्नत्वाच्च। यद्वा, उत्प्रेक्षायां तैर्विचित्र-भजनानन्दायानु-क्रियमाणानां पक्ष्यादिरूपाणां मुक्तैर्निजोपहासार्थमेव मननादिति दिक्। साक्षात् संपश्यन्त इति वर्त्तमाननिर्द्देशेन दर्शनाविरतिरुक्ता; तथा तेन हरिणा सह साक्षाद् रमन्त इति च। एवं वयं कदाचिदेव पश्यामः क्रीड़ामश्च, तच्च प्रायो ध्यानेनैवेत्यतस्तेऽस्मत्तोऽधिक-कृष्णानुग्रहविषया, अपितु अतः परमश्रेष्ठा इति भावः॥४७-४८॥

भावानुवाद—यदि कहा जाय कि वैकुण्ठलोक और वहाँके निवासी सच्चिदानन्दमय हैं, तो फिर उस वैकुण्ठमें तामस योनि अर्थात्

पशु-पक्षी और वृक्ष आदि होनेकी बात क्यों सुनी जाती है? जैसाकी तृतीय-स्कन्धमें वैकुण्ठ वर्णनके प्रसंगमें उक्त है—"पारावत, कोकिल, सारस, चक्रवाक, डाहुक, हंस, शुक, तितिर, मयूर जैसे पक्षियोंका कोलाहल थोड़े समयके लिए बन्द हो जाता है, क्योंकि पक्षियोंको हरिकथा श्रवण करनेमें इतना अधिक आनन्दका अनुभव होता है कि जब भ्रमर गुञ्जन करना प्रारम्भ करते हैं, तो उनको लगता है कि मानो हरिकथाका गान हो रहा है। तुलसीके पत्रादिसे निर्मित आभूषणोंको धारण करनेवाले भगवान् तुलसीकी गन्धका आदर करते हैं, ऐसा देखकर मन्दार, पारिजात, कुन्द, कुरूबक, चम्पक, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, उत्पल, कमल जैसे समस्त पुष्प अपनी-अपनी सुगन्धसे परिपूर्ण होने पर भी तुलसीकी तपस्याको ही अति श्रेष्ठ मानते हैं।" इसी आशंकाके समाधानके लिए 'मुक्ता' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। ऐसे अद्भुत भजन सुखका परित्याग करके जो इसके विपरीत तुच्छ मुक्तिको ग्रहण करते हैं, उन्हीं मुक्त पुरुषोंका उपहास करनेके लिए ही वैकुण्ठके पशु-पक्षी-वृक्ष आदि उन-उन निकृष्ट योनियोंको धारण करके अपनी सुन्दर सेवा द्वारा निरन्तर श्रीहरिको प्रसन्न करते हैं। यथार्थरूपमें भगवद्भक्त दीनवत्सल होते हैं और सदा भक्तिरसमें निमग्न रहते हैं, इसलिए भक्तितत्त्वको न जाननेवाले अन्य किसीका किसी भी प्रकारसे उपहास करना उनके लिए सम्भव नहीं होता। तब उनका तमोगुणी योनिके समान रूप धारण और उसी रूपसे विभिन्न अद्भुत भगवत्सेवा द्वारा आनन्दकी प्राप्ति—इन दोनोंके द्वारा ही मानो वे मुक्त पुरुषोंका उपहास कर रहे हैं, ऐसा समझा जाता है। किन्तु यह केवल उत्प्रेक्षामात्र (अनुमान) है। विशेषतः भाग्यका उदय होने पर हम जिनका कभी-कभी ही दर्शन करते हैं, वे उन श्रीहरिके साक्षात् दर्शन और उनके साथ लीला करते हैं। यहाँ पर 'संपश्यन्त' क्रियापद वर्त्तमान कालका बोधक है, इससे यह सूचित होता है कि वे साक्षात् दर्शनके अतिरिक्त साक्षात् विलासका भी आनन्द लाभ करते हैं। तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठलोकमें जो पशु-पक्षी-वृक्षादि स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे निरन्तर साक्षात् रूपमें श्रीहरिके दर्शन करते हैं और उनके साथ विलास करते हैं। दूसरी

ओर मुक्तपुरुष श्रीहरीकी इन सभी लीलाओंका कदाचित् अपने ध्यान-नेत्रोंके द्वारा दर्शन करते हैं। अर्थात् ध्यानके अतिरिक्त साक्षात् दर्शनका सौभाग्य उनको प्राप्त नहीं होता। अतएव वैकुण्ठके पशु-पक्षी इत्यादि लोकदृष्टिमें तामस योनिको प्राप्त होने पर भी मुक्तपुरुषोंकी तुलनामें परमश्रेष्ठ हैं और श्रीकृष्णके अधिक कृपापात्र हैं॥४७-४८॥

अहो कारुण्यमहिमा श्रीकृष्णस्य कुतोऽन्यतः।
वैकुण्ठलोके योऽजस्रं तदीयेषु च राजते॥४९॥

श्लोकानुवाद—अहो! श्रीकृष्णकी जैसी करुणा वैकुण्ठ-लोकवासियों पर निरन्तर बरसती रहती है, वैसी करुणा क्या अन्य किसी स्थान पर दृष्टिगोचर होती है? अर्थात् कहीं भी दिखाई नहीं देती है॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यः कारुण्यमहिमा तदीयेषु वैकुण्ठीयेषु, स कुतोऽन्यतोऽस्ति? न कुत्रापीत्यर्थः॥४९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४९॥

यस्मिन्महामुदाश्रान्तं प्रभोः संकीर्त्तनादिभिः।
विचित्रामन्तरा भक्तिं नास्त्यन्यत्प्रेमवाहिनीम्॥५०॥

श्लोकानुवाद—उस वैकुण्ठलोकमें परमानन्दमें डूबकर निरन्तर प्रभुके नामसंकीर्त्तन आदिरूप प्रेमामृत-वाहिनी भक्तिके अलावा अन्य कोई चेष्टा ही नहीं है॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—यस्मिन्निति। महामुदा परमानन्देन अश्रान्तं प्रभोर्निजेश्वरस्य यानि संकीर्त्तनादीनि, आदिशब्देन गीत-नृत्य-परिचर्यादीनि, तैर्या प्रभोरेव विचित्रा भक्तिर्बहुप्रकार भजनं तामन्तरा विना अन्यत् किमपि चेष्टादिकं नास्ति, किन्तु सैवैका प्रवर्त्तते। यद्वा, तत्रत्यं सर्वमेव व्यवहारादिकमपि तद्भक्तिरसप्लुतमेवेत्यर्थः। यतो हरेः प्रेमाणमेव वोढुमविच्छेदेन प्रापयितुं शीलमस्याः इति तथा ताम्॥५०॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें श्रीकृष्णकी कृपाका लक्षण और उसकी क्रिया प्रदर्शित हो रही है। उस वैकुण्ठलोकमें निरन्तर परमानन्दसे प्रभुका नामसंकीर्त्तन आदि आनन्दोत्सव होता रहता है। यहाँ 'आदि' शब्दसे गीत, नृत्य और परिचर्याकी परिपाटीको समझना होगा। वहाँ

पर भगवान्‌के नामसंकीर्त्तनसे उदित होनेवाले अनेक प्रकारके भजनके अतिरिक्त और कोई दूसरी चेष्टा नहीं देखी जाती। सभी चेष्टाएँ एकमात्र संकीर्त्तनमें ही प्रवर्तित हो जाती है। अथवा वहाँकी सभी प्रकारकी चेष्टाएँ भक्तिरससे परिपूर्ण होती हैं। अर्थात् जिस प्रकारके व्यवहारसे भगवान् श्रीहरिके प्रति प्रेम तैलधारावत अविच्छिन्न गतिसे निरन्तर प्रवाहित होता रहे, वैसे प्रेमामृतको वहन करनेवाला नामसंकीर्त्तन ही वहाँ पर होता रहता है॥५०॥

अहो तत्परमानन्दरसाब्धेर्महिमाद्भुतः।
ब्रह्मानन्दस्तुलां नार्हेद् यत्कणार्द्धांशकेन च॥५१॥

श्लोकानुवाद—अहो! उस वैकुण्ठमें परमानन्द रससमुद्रकी महिमा अद्भुत है। उस आनन्दकी एक बूँदके आधे अंशके साथ भी ब्रह्मानन्द सुखकी तुलना नहीं की जा सकती है॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो विस्मये; अतएवाद्भुतः परमानिर्वचनीयः। तत्र हेतुमाह—यस्यानन्द रसाब्धेः कणः कणिका, तस्यार्द्धं तस्याल्पतरैकांशेनापि सह ब्रह्मानन्दः स्वस्वरूपानुभवसुखं तुलां साम्यं नार्हति न योग्यो भवति॥५१॥

भावानुवाद—अहो (विस्मयसे)! इसीलिए वहाँ पर भजनानन्दकी महिमा अनिर्वचनीय है। उसका कारण क्या है? उस परमानन्द रस समुद्रकी एक कणिकाका कण भी अर्थात् एक कणिकाके आधे अंश अथवा उससे भी कम अंशके साथ भी ब्रह्मानन्द और स्वस्वरूपानुभव सुखकी तुलना नहीं की जा सकती है॥५१॥

स वैकुण्ठस्तदीयाश्च तत्रत्यमखिलं च यत्।
तदेव कृष्णपादाब्जपरप्रेमानुकम्पितम्॥५२॥

श्लोकानुवाद—वह वैकुण्ठ, वैकुण्ठवासी भक्त, यहाँ तक कि वहाँके समस्त पदार्थ, सभी श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रेमसे अनुगृहीत हैं॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव स उक्तलक्षणो वैकुण्ठलोकः; तत् सर्वमेव न त्वन्यन्मादृशम्। कृष्णपादाब्जाभ्यां परमप्रेम्णा कृत्वा; यद्वा तयोः परम् प्रेम्णैव कर्त्तृणानुगृहीतं तदित्येकशेषत्वेन नपुंसकत्वम्॥५२॥

भावानुवाद—अतएव उस परमानन्दस्वरूप वैकुण्ठलोक, वैकुण्ठवासी और वहाँके सभी पदार्थोंकी महिमाके विषयमें और अधिक क्या कहूँ? अथवा वे सभी श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रेमसे अनुगृहीत हैं॥५२॥

तादृक्कारुण्यपात्राणां श्रीमद्वैकुण्ठवासिनाम्।
मत्तोऽधिकतरस्तत्तन्महिमा किं नु वर्ण्यताम्॥५३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी ऐसी कृपाके पात्र वैकुण्ठवासियोंकी मुझसे भी अधिक जो महिमा है, उसके विषयमें और क्या कहूँ?॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—वैकुण्ठवासिनां श्रीमताञ्च प्रत्येकमनन्तकोटिं ब्रह्माण्डवैभवेषु नित्यसत्यमहासुखमयेषु सत्स्वपि विचित्र प्रेमभक्तिसम्पत्तिरेव ज्ञेया, तयैव सर्वविलक्षण-परमोत्कर्षभरसिद्धेः॥५३॥

भावानुवाद—वैकुण्ठमें वास करनेवाले सभी भक्त अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके वैभवसे युक्त हैं तथा वह वैभव भी परमसुखमय, नित्य, सत्य और प्रेमभक्ति सम्पन्न है। अतएव उनकी सर्वविलक्षण महा उत्कर्षता स्वतःसिद्ध है॥५३॥

पाञ्चभौतिकदेहा ये मर्त्यलोकनिवासिनः।
भगवद्भक्तिरसिका नमस्या मादृशां सदा॥५४॥

श्लोकानुवाद—और अधिक क्या कहूँ? मर्त्यलोकमें रहनेवाले पाञ्चभौतिक देहधारी भगवद्भक्तिरसिक मनुष्य भी मेरे जैसे देवताओंके लिए सदा वन्दनीय हैं॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—'मादृशां नमस्या' इति तेऽपि मत्तोऽधिकतरा इत्यर्थः। तथा च श्रीनारायणव्यूहस्तोत्रे—*'ये त्यक्तलोक धर्मार्था विष्णुभक्तिवशं गताः। भजन्ति परमात्मानं तेभ्यो नित्यं नमो नमः॥'* इति॥५४॥

भावानुवाद—'मेरे जैसे देवताओंके लिए सदा वन्दनीय हैं' इत्यादि वाक्य मर्त्यलोकमें रहनेवाले सभी भक्तोंके लिए है, क्योंकि वे भी श्रीकृष्णके चरणकमलोंके परम प्रेमके कृपापात्र हैं, इसलिए वे मुझसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं। तथा श्रीनारायणव्यूहस्तोत्रमें भी उक्त है—"जिन्होंने सब प्रकारके लोकधर्मका सर्वथा परित्यागकर केवल श्रीविष्णुभक्तिका

ही सम्पूर्णरूपसे आश्रय ग्रहण किया है अर्थात् जो परमात्मारूपी भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं, उनको हम पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं" ॥५४॥

श्रीकृष्णचरणाम्भोजार्पितात्मानो हि ये किल।
तदेकप्रेमलाभाशा त्यक्तार्थजनजीवनाः ॥५५॥
ऐहिकामुष्मिकाशेष–साध्य–साधन–निस्पृहाः ।
जाति–वर्णाश्रमाचारधर्माधीनत्वपारगाः ॥५६॥
ऋणत्रयादनिर्मुक्ता वेदमार्गातिगा अपि।
हरिभक्तिबलावेगादकुतश्चिद्भयाः सदा॥५७॥
नान्यत्किमपि वाञ्छन्ति तद्भक्तिरसलम्पटाः।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥५८॥

श्लोकानुवाद—जिन्होंने श्रीकृष्णचरणोंमें प्रेम-प्राप्तिकी अभिलाषासे उन्हींके श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण किया है, अर्थात् समस्त अर्थ, स्वजन तथा जीवनके प्रति ममता त्याग दी है और जो इहलोक तथा परलोकके सभी साध्यों और साधनोंकी कामनासे रहित होकर वर्णाश्रम-धर्मके पाशसे मुक्त हो गये हैं, अर्थात् तीन प्रकारके ऋणोंसे मुक्त होकर, वेदविहित मार्गका अतिक्रमण करके, हरिभक्तिके प्रभावसे सर्वदा निर्भय हो गये हैं, ऐसे भगवद्भक्तिरसिक भक्त स्वर्ग, मोक्ष और नरकको एक समान देखते हैं तथा किसी वस्तुकी भी वाञ्छा नहीं करते हैं॥५५-५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—भक्तिरसिकतां दर्शयंस्तान् विशिनष्टि—श्रीकृष्ण इति चतुर्भिः। प्रभोश्चरणाम्भोजयोर्यदेकं प्रेम, तल्लाभे आशया वाञ्छामात्रेण त्यक्ता अर्था धनानि जनाः पुत्र-कलत्रादयः जीवनञ्च प्राणाद्यपेक्षणं यैस्ते। अतएव ऐहिकानी एतल्लोक-सम्बन्धीनि आमुष्मिकानि च परलोकसम्बन्धिनी यान्यशेषाणि साध्यानि विषयभोगादि-सुखानि तत् साधनानि न धनोपार्जन धर्माचरणादीनि तेषु निस्पृहाः कामहीनाः; अतएव जातौ मनुष्यत्वादौ, वर्णे विप्रत्वादौ, आश्रमे ब्रह्मचर्यादौ, आचारधर्मास्तेषु यदधीनत्वं नित्यनैमित्तिकत्वेनावश्यकर्त्तव्यत्वात्तत्तत्पारतन्त्र्यं तस्मात् पारगास्तदतिक्रान्ता इत्यर्थः। श्रीकृष्णचरणाम्भोजे कृतात्मनिवेदनत्वात् ऋणत्रयं जन्ममात्रेण देवर्षिपितृणां यानि त्रीणि ऋणानि जातानि तस्माद् यज्ञाध्ययनपुत्रोत्पादनाभावेनानिर्मुक्ता अपि एवं स्वधर्माद्यनुष्ठाना भावाद्वेदमार्गमतिक्रान्तापि न विद्यते कुतश्चिदपि *'ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो*

जातो देवर्षि पितृणां प्रभो। यज्ञाध्ययन पुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्।' (श्रीमद्भा॰ १०/८४/३९) इति दशमस्कन्धोक्त मुनिगणवचनादि प्रामाण्येन विधिनिषेध–अतिक्रमाद्यमादिभ्योऽपि भयं येषां ते, तत्र हेतुः—हरिभक्तेर्बलं प्रभावस्तस्यावेगः सम्यग् जवः प्रागल्भ्यमित्यर्थः; तस्मादयं हेतुश्च पूर्वत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यः। एवं भक्तस्य कर्मष्वनधिकारात् पापाद्यभावेन सदा स्वत एवाकुतश्चिद्भयत्वं युक्तमेव। यथोक्ता श्रीभगवता एकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/२०/९) *'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥'* इति। श्रीगीतायाञ्च (श्रीगीता १८/६६)—*'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'* इति। श्रीनारदेनापि प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/५/१७)—*'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि। तत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥'* इति। इत्थं भयराहित्यमुक्तवा सर्व नैरपेक्ष्यमाह—नेति। अन्यद्भगवत्–सारुप्यादिकमपि अतएव ब्रह्मलोकादि विषयभोगं निर्वाणसुखञ्च ते परमहेयत्वेन भक्तिरस विघातकत्वेन वा नरकयातनावत् पश्यन्तीत्याह—स्वर्गेति। तुल्यं समानमेव स्वस्यार्थं प्रयोजनं फलं वा द्रष्टुं शीलं येषामिति तथा ते। तथा च श्रीशिवस्यैव वाक्यं षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ६/१७/२८)—*'नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥'* इति॥५५–५८॥

भावानुवाद—भक्तिरसिकोंकी रसिकता प्रदर्शन करनेके लिए 'श्रीकृष्ण' इत्यादि चार श्लोकोंका अन्वय हुआ है। जो श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्रेमरूपी सम्पत्तिको प्राप्त करनेके लिए अभिलाषी है और उसके लिए जिन्होंने अपना सर्वस्व अर्थ अर्थात् धन, जन, पुत्र, पत्नी आदि तथा अपने जीवनके प्रति ममताका भी सर्वथा त्याग कर दिया है; अतएव ऐहिक और पारत्रिक समस्त प्रकारके साध्य और साधनोंकी कामनासे रहित हो गये हैं, (यहाँ पर ऐहिक कहनेसे इस जगतसे सम्बन्धित सभी भोग सुखोंको और पारत्रिक कहनेसे परलोकसे सम्बन्धित विषय भोगादि सुख और धन उपार्जन और धर्म आचरण आदिको समझना होगा) वे वर्णाश्रम–धर्मके पालनरूप धर्मकी अधीनतासे अतीत हो गये हैं। यहाँ पर 'वर्ण' कहनेसे ब्राह्मण–क्षत्रिय आदि चार वर्ण और 'आश्रम' कहनेसे गृहस्थ–वानप्रस्थ आदि चार आश्रम समझना चाहिए। अतएव उक्त चारों वर्णों और चारों आश्रमोंमें पालन किये जानेवाले धर्मकी जो अधीनता है अर्थात् नित्य–नैमित्तिक अवश्य पालनीय

कर्मोंकी अधीनतासे मुक्त होकर जिन्होंने श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आत्मसमर्पण किया है, वे तीनों प्रकारके ऋणसे मुक्त हो गये हैं।

आशंका हो सकती है कि मनुष्य अपने जन्मसे ही देव, ऋषि और पितृोंके ऋणसे आबद्ध होता है तथा वेदविहित यज्ञ आदिके अनुष्ठान, अध्ययन और पुत्र आदिको जन्म देकर ही वह उन ऋणोंसे मुक्त होता है। अतएव भक्त अपने स्वधर्मका अनुष्ठान न करनेसे उक्त तीन प्रकारके ऋणोंसे किस प्रकार मुक्त हो सकता है? सम्भवतः इसीलिए उक्त स्वधर्म आदिके अनुष्ठान और वेदमार्ग आदिका उल्लंघन कहीं भी नहीं देखा जाता है, क्योंकि शास्त्रोंमें उल्लेख है—"देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋणसे आबद्ध होकर द्विज जन्म ग्रहण करना होता है, किन्तु यज्ञ, वेदाध्ययन और पुत्र उत्पत्ति द्वारा उस ऋणसे उऋण न होने पर पतित होना पड़ता है।" इत्यादि श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें कहे गये मुनियोंके वचनोंसे भी प्रमाणित होता है कि विधि-निषेधका उल्लंघन करनेसे यम आदिसे भी भय रहता है। अतएव इस प्रकारके भयसे निवृत्तिका क्या उपाय है? इसके लिए कह रहे हैं—भक्तजन वेदविहित मार्गका उल्लंघन करने पर भी हरिभक्तिके प्रभावसे सदैव निर्भय रहते हैं। अर्थात् तीव्र हरिभक्तिके प्रभावसे वे सर्वदा निर्भय रहते हैं (इस विषयका पहले भी वर्णन किया गया है और बादमें भी विस्तृतरूपसे विवेचन प्रस्तुत होगा)। वास्तवमें ऐसे भक्तोंका कर्ममें अनधिकार होनेके कारण पाप आदिके अभावमें उनको स्वतः ही 'भय रहित' कहना युक्ति-संगत ही है। अर्थात् भक्ति स्वभावतः प्रबल शक्तिसम्पन्ना है, इसलिए उसका आश्रय ग्रहण करनेसे ज्ञान-कर्मादिमें अधिकार नहीं रहता। अतएव स्वधर्मका अनुष्ठान न करने पर भी उनका पतन नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं कहते हैं—"जब तक विषयोंसे अनासक्ति न हो अथवा मेरी कथामें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय, तब तक नित्य नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना होता है। अर्थात् श्रद्धासे पहले ही कर्माधिकार है, किन्तु श्रद्धा उत्पन्न होने पर केवला भक्तिमें अधिकार होता है, कर्ममें नहीं।" श्रीगीतामें भी भगवान् कहते हैं—"सभी धर्मोंका त्याग करके केवलमात्र मेरा आश्रय ग्रहण करो, मैं तुम्हें समस्त पापोंसे

अर्थात् कर्म बन्धन आदिसे मुक्त कर दूँगा। उन धर्मोंके त्यागके लिए दुःख मत करना—भय मत करना।" प्रथम-स्कन्धमें श्रीनारद कहते हैं—"मनुष्य स्वधर्मका त्याग करके श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवा करते-करते यदि मृत्युग्रस्त होता है अथवा अन्य किसी कारणसे अर्थात् अपरिपक्व अवस्थामें पथभ्रष्ट होने पर स्वधर्म त्याग करनेसे भी उसका किसी प्रकारका अमंगल नहीं होता। दूसरी ओर श्रीहरिकी भक्ति न करके केवल स्वधर्म पालन द्वारा कौनसा व्यक्ति अपने उद्देश्यको प्राप्त करनेमें सफल हुआ है? अर्थात् कोई भी नहीं हुआ है।"

इस प्रकार भक्तके निर्भय होनेकी बात बतलाकर अब सर्वत्र उनके निरपेक्ष रहनेकी बात 'नान्यत्' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। अन्य विषय भोगोंकी बात और अधिक क्या कहूँ? भगवद्भक्त भगवान्के सारूप्य प्राप्त करनेकी इच्छा भी नहीं रखते। वे ब्रह्मलोक आदिके विषयभोग और निर्वाण आदि मुक्तिको भी भक्तिरसमें बाधास्वरूप जानकर अत्यन्त तुच्छ वस्तुके समान उसका परित्याग करते हैं और उसको नरकमें भोगी जानेवाली यन्त्रणाके समान दुःखदायी समझते हैं। अर्थात् स्वर्गसुख, मोक्षसुख और नरकयन्त्रणाको भक्तिसुखसे रहित जानकर भक्तगण उनमें तनिक भी रुचि नहीं लेते हैं तथा इन सबको एक ही समान समझते हैं। श्रीशिवने भी यही कहा है—"नारायण-परायण व्यक्ति कभी भी किसीसे भयभीत नहीं होते तथा स्वर्ग, मुक्ति और नरकको एक समान देखते हैं" ॥५५-५८॥

भगवानिव सत्यं मे त एव परमप्रियाः।
परमप्रार्थनीयश्च मम तैः सह संगमः ॥५९॥

श्लोकानुवाद—हे नारद! मैं सत्य कहता हूँ कि भगवान्के समान उनके भक्त भी मुझे परम प्रिय हैं। मैं उन भक्तोंके सङ्ग प्राप्तिकी प्रार्थना करता हूँ॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते भगवद्भक्ता एव न तु नन्दीश्वरादयः। तदुक्तं श्रीशिवेनैव चतुर्थस्कन्धेऽपि (श्रीमद्भा॰ ४/२४/३०) दशप्रचेतसः प्रति—'*अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा। न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्॥*' इति॥५९॥

भावानुवाद—हे नारद! मैं सत्य कहता हूँ, वे सब भगवद्भक्त मुझे जिस प्रकार प्रिय हैं, मेरे ये अनुचर नन्दीश्वर आदि मुझे उस प्रकार प्रिय नहीं हैं। यह बात मैंने दस प्रचेताओंको भी कही है—"हे राजपुत्रों! तुम परमभागवत हो, इसलिए भगवान्‌की भाँति मेरे भी प्रिय हो। और फिर भगवद्भक्तोंके लिए भी मेरे अतिरिक्त और कोई प्रियतम नहीं है" ॥५९॥

नारदाहमिदं मन्ये तादृशानां यतः स्थिति।
भवेत् स एव वैकुण्ठो लोको नात्र विचारणा ॥६०॥

श्लोकानुवाद—हे नारद! मैं तो यह मानता हूँ कि जहाँ इस प्रकारके भक्त रहते हैं, वहीं वैकुण्ठ है। इस विषयमें किसी भी प्रकारसे सोचने या विचारनेकी जरूरत नहीं है ॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च मर्त्यलोक निवासित्वेन तेषां वैकुण्ठवासिभ्यो न्यूनत्वमित्याह—नारदेति। यतो यत्र स्थाने; अत्रास्मिन् सिद्धान्ते विचारणा मर्त्यलोकत्वादि-भेदेन कोऽपि विमर्शो नास्ति वैकुण्ठवद् भक्तिसम्पत्तेः भगवदवस्थानाच्च; यथोक्तं भगवता—*'नाहं वसामि वैकुण्ठे न योगिहृदये रवौ। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'* इति ॥६०॥

भावानुवाद—मृत्युलोकमें निवास करनेवाले भगवद्भक्तोंकी महिमा क्या मायातीत वैकुण्ठलोकवासी भक्तोंसे कम हैं? इस प्रश्नकी आशंका करके ही कह रहे हैं—हे नारद! ऐसे भक्त जिस किसी भी स्थानमें वास करते हैं, वहीं वैकुण्ठलोक है। इस सिद्धान्तके अनुसार मृत्युलोकमें वास करनेवाले और वैकुण्ठलोकमें वास करनेवाले भक्तोंमें किसी भी प्रकारसे छोटे-बड़ेका विचार नहीं है। मैं तो यही मानता हूँ, क्योंकि मृत्युलोकमें निवास करनेवाले भक्त भी यदि वैकुण्ठमें वास करनेवाले भक्तोंके समान ही भक्तिको प्राप्त करते हैं, तब तो उनमें भक्ति होनेके कारण भगवान् भी वहाँ पर निवास करते हैं, अतः इस विषयमें किसी प्रकारके सोच विचारकी आवश्यकता नहीं है। इसी विचारको भगवान्‌ने भी कहा है—"मैं न तो वैकुण्ठमें निवास करता हूँ और न ही योगीके हृदयमें, मैं तो वहीं निवास करता हूँ, जहाँ पर मेरे भक्त मेरा नाम-गान करते हैं" ॥६०॥

कृष्णभक्तिसुधापानाद्देहदैहिकविस्मृतेः ।
तेषां भौतिक देहेऽपि सच्चिदानन्दरूपता ॥६१ ॥

श्लोकानुवाद—यदि मर्त्यलोकवासी मनुष्य श्रीकृष्ण-भक्तिरूपी अमृतका पान कर अपनी देह तथा देह-सम्बन्धीय विषय-भोगादिको भूल जाते हैं, तब उनके उस पाञ्चभौतिक देहमें भी सच्चिदानन्दरूपता सिद्ध होती है ॥६१ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेते पाञ्चभौतिक विनश्वरशरीरस्ते च सच्चिदानन्दविग्रहा-स्तत्राह—कृष्णेति। देहयोः स्थूल-सूक्ष्मशरीरयोरहंतास्पदयोः दैहिकानाञ्च तत्तत्सम्बन्धिनां ममत्वास्पदानां पुत्र कलत्रादीनां विषय भोगादीनाञ्च विस्मृतेरनुसन्धानाभावात् पाञ्चभौतिकदेहेऽपि तेषां मर्त्त्यलोकनिवासिभक्तानां सच्चिदानन्दविग्रहतैव स्यात्; अयमर्थः—तत्तद्धेतुक विघ्नबाधा-राहित्येन निरन्तर भक्तिसुधापान-सम्पत्त्या वैकुण्ठवासि-साम्यापत्तेः पाञ्चभौतिक शरीरिणामपि तेषां सच्चिदानन्दरूपतैव पर्यवस्यतीत। यद्वा मर्त्त्यशरीरमपि सच्चिदानन्दरूपेण परिणमेदित्यर्थः। यथोक्तं, श्रीमैत्रेयेण चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/१२/२९) श्रीध्रुवस्य परमपदारोहण-प्रसङ्गे—*'परीत्याभ्यर्च्य धिष्णाग्रं पार्षदावभिवन्द्य च। इयेष तदधिष्ठातुं विभ्रद्रूपं हिरण्मयं॥'* इति। व्याख्यातञ्चात्र श्रीधरस्वामिपादैः—'तदेव रूपं हिरण्मयं प्रकाश बहुलं विभ्रत् सन्' इति हिरण्मयत्वं च प्रकाशमयत्वं चिद्घनत्वादिभि ज्ञेयम्। लोके च रसविशेष पानेन शरीरस्य रम्यरूपान्तर प्राप्तिरिति ज्ञेयम् ॥६१ ॥

भावानुवाद—यदि कहो कि मर्त्यलोकवासी भक्तोंका पाञ्चभौतिक देह नश्वर है और वैकुण्ठवासी भक्तोंका विग्रह (देह) सच्चिदानन्द है, अतः वैकुण्ठवासी भक्त श्रेष्ठ हैं। इसी आशंकाके समाधानके लिए 'कृष्णभक्ति' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मृत्युलोकवासी साधक यदि श्रीकृष्णभक्तिरूप सुधापान करनेसे अहंकारकी आधार स्थूल और सूक्ष्म देह और उससे सम्बन्धित ममताके आधार पुत्र-पत्नी आदि और विषय भोगोंको भूल जाता है, तब उन सभी साधकोंके पाञ्च-भौतिक शरीरमें भी सच्चिदानन्दरूपता सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि देह और देह सम्बन्धी स्त्री-पुत्र आदि तथा विषय भोगादिके लिए विषयोंमें अभिनिवेश ही भक्तिका बाधक है। किन्तु मृत्युलोकवासी भक्तोंमें ऐसे विघ्न-बाधाके न होनेके कारण निरन्तर भक्तिरूप-अमृतका पान करनेसे उनकी देह वैकुण्ठवासी भक्तोंकी भाँति सच्चिदानन्दमय

रूपमें पर्यवसित होती है। अतएव वैकुण्ठवासी भक्त जिस प्रकार बिना किसी विघ्न-बाधाके निरन्तर भक्तिरूपी अमृतका पान करते हैं, उसी प्रकार मर्त्यलोकवासी साधक भी बाधा रहित होकर भक्तिका आचरण और भक्तिरूपी अमृतका पान करते हैं। अतएव मर्त्यलोकवासी भक्त और वैकुण्ठलोकवासी दोनों ही एक समान हैं। अथवा उनका मर्त्य-शरीर भी सच्चिदानन्दमय रूपमें परिणत हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

इस विषयमें ध्रुव महाराजके वैकुण्ठ गमनके प्रसंगमें मैत्रेय मुनि कह रहे हैं—"तदुपरान्त ध्रुवने विमानकी प्रदक्षिणा और वन्दना करके दोनों पार्षदोंका अभिवादन किया तथा तेजोमय रूपको धारण करके उस विमानमें चढ़ गए।" इस श्लोककी व्याख्यामें श्रील श्रीधरस्वामीपादने 'हिरण्मयं' शब्दका अर्थ प्रकाशमय अर्थात् प्रकाशकी अधिकतासे युक्त चिद्घन (रूप) किया है। लौकिक जगतमें भी देखा जाता है कि किसी विशेष रसपान द्वारा ही शरीरमें रम्यता अथवा रूपान्तर आ जाता है॥६१॥

परं भगवता साकं साक्षात्क्रीड़ा–परम्पराः।
सदा नु भवितुं तर्हि वैकुण्ठोऽपेक्ष्यते क्वचित्॥६२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मर्त्यलोकमें सब कुछ सिद्ध होने पर भी भक्तगण केवल भगवान्‌के साथ सदैव साक्षात् मिलने तथा उनके साथ विविध क्रीड़ा करनेके लिए कभी-कभी वैकुण्ठलोक प्राप्तिकी इच्छा करते हैं॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि वैकुण्ठलोकस्तद्वासिनश्च किमिति पूर्वं तथा श्लाघिताः तत्राह—परमिति द्वाभ्याम्। सर्वमन्यदिहैव सिद्धं केवलं विचित्रविलासश्रेणीः लक्ष्मीकान्तेन समं निरन्तरं साक्षादनुभवितुमेव वैकुण्ठलोकोऽपेक्षते। तत्रैव तथा तत्तत् सहजसिद्धेर्नत्वन्यत्र क्वापि एवमेवाविरततत्तद्रस परम्पराकुण्ठता राहित्येन तस्य लोकस्य वैकुण्ठत्वं सिध्यतीति भावः। क्वचित् कदाचिदिति हृदये परिस्फुरता भगवतोऽन्तर्द्धानादौ सति तथा प्रेमविशेषाविर्भावेन भगवत् साक्षाद्-दर्शनादि लोभ-उत्कण्ठाभरे जाते च सतीति दिक्॥६२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब फिर आपने पहले वैकुण्ठलोक और वैकुण्ठमें वास करनेवाले सभी भक्तोंकी प्रशंसा क्यों की? इसी

प्रश्नके उत्तरमें कह रहे हैं कि यद्यपि इस मृत्युलोकमें ही सब कुछ सिद्ध होता है, तथापि केवल श्रीलक्ष्मीकान्तके साथ सदैव साक्षात् रूपमें क्रीड़ा–परम्परा अर्थात् विचित्र लीलाका साक्षात् अनुभव करनेके लिए मर्त्यलोकवासी भक्त कभी–कभी वैकुण्ठलोक वासकी इच्छा करते हैं, क्योंकि वैसी लीलाका अनुभव वैकुण्ठलोकमें सहज ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु अन्य स्थानों पर नहीं। 'वैकुण्ठ' शब्दका संकेतिक अर्थ यह है कि वहाँ कुण्ठा या संकोच नहीं है, इसलिए वहाँ बिना किसी बाधाके निरन्तर विचित्र विलास स्वतः ही प्राप्त होता है। इस मर्त्यलोकमें भक्तोंके द्वारा भक्ति अनुशीलन कालमें कभी किसी समय उनके हृदयमें लीला करते हुए भगवान् स्फूर्ति प्राप्त करते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं। किन्तु उस अन्तर्धानके समय भक्तके हृदयमें जिस प्रेमका आविर्भाव होता है, वह अत्यधिक (तीव्र) उत्कण्ठामय प्रेम भगवान्के साक्षात् दर्शनकी लालसाको और भी अत्यधिक तीव्र बना देता है, इसलिए वे वैकुण्ठ–प्राप्तिकी इच्छा करते हैं॥६२॥

अतो हि सर्वे तत्रत्या मयोक्ताः सर्वतोऽधिकाः।
दयाविशेष विषयाः कृष्णस्य परमप्रियाः॥६३॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैंने उन वैकुण्ठवासियोंकी सर्वाधिक महिमाका वर्णन किया है, क्योंकि वास्तवमें वे श्रीकृष्णके परम प्रिय तथा उनकी कृपाके विशेष पात्र हैं॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रत्या वैकुण्ठवासिनः सर्वतः सर्वेभ्यो मुक्तेभ्योऽस्मत्तोऽप्राप्त–वैकुण्ठेभ्योऽपि भगवद्भक्तेभ्योऽधिकाः श्रेष्ठाः। तत्रोक्तमेव मुख्यं हेतुं दर्शयति—दयेति। यतः परमप्रियाः; यद्वा, त एव कृष्णस्य दयाविशेष–विषयाः। अतः परमप्रियाश्चेति निगमनम्॥६३॥

भावानुवाद—अतएव मैंने जिन वैकुण्ठवासी भक्तोंकी महिमाका गान किया है, वे हमारे समान मुक्त हैं तथा ऐसे भक्त जिन्होंने अभी तक वैकुण्ठको प्राप्त नहीं किया है, उनसे भी श्रेष्ठ हैं। इसका मुख्य कारण 'दयाविशेष' इत्यादि पदों द्वारा बता रहे हैं। वे श्रीकृष्णके परम प्रिय हैं अथवा वे श्रीकृष्णके विशेष कृपापात्र होनेसे मेरे भी परमप्रिय हैं॥६३॥

श्रीपार्वती उवाच—

तत्रापि श्रीविशेषेण प्रसिद्धा श्रीहरिप्रिया।
तादृग्वैकुण्ठ–वैकुण्ठवासिनामीश्वरी हि या॥६४॥

श्लोकानुवाद—श्रीपार्वतीने कहा—हे नारद! ऐसा प्रसिद्ध है कि उस वैकुण्ठलोकमें भी श्रीमहालक्ष्मी भगवान् श्रीहरिकी अत्यन्त प्रिया हैं, क्योंकि वे उस वैकुण्ठ तथा वैकुण्ठवासियोंकी ईश्वरी हैं॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं वैकुण्ठवर्णनान्तर्महालक्ष्मी-माहात्म्यविशेषशून्यं भर्त्तृ-गदितमाकर्ण्य तदसहमाना क्रुध्यन्तीव लक्ष्मीं प्रियसखीं पार्वत्याह—तत्रापीति। वैकुण्ठेऽपि श्रीमहालक्ष्मीः श्रीहरिप्रियेति। विशेषेण अधिक्येन कृष्णस्य परमप्रियेति पूर्वेणैवान्वयः। या श्रीः हरिप्रियेत्येव प्रसिद्धा हरिप्रियेति तत्संज्ञत्वात्; यद्वा, तत्रापि विशेषेण श्रीः श्रीहरिप्रियेति प्रसिद्धेति वाक्यसमाप्तिः। तत्रहेतुः—या तादृक् तथाभूतो यो वैकुण्ठः, तादृशाश्च ये वैकुण्ठवासिनस्तेषां सर्वेषामपीश्वरी परमपूजनीया। हि निश्चितं, युक्त युक्त्या प्रामाण्यात्॥६४॥

भावानुवाद—इस प्रकार वैकुण्ठके माहात्म्यका वर्णन करते हुए जब श्रीशिवने श्रीमहालक्ष्मीके माहात्म्यका वर्णन नहीं किया, तब श्रीमहालक्ष्मीकी प्रिय सखी श्रीपार्वतीने उसे सहन न कर पानेके कारण क्रोधावेशमें आकर कहा—हे नारद! उस वैकुण्ठलोकमें भी श्रीमहालक्ष्मी श्रीहरिकी अत्यन्त प्रिया रूपमें प्रसिद्ध है, तथा वे ही श्रीहरिप्रियाके रूपमें जानी जाती हैं, क्योंकि वे उस वैकुण्ठ और सभी वैकुण्ठवासियोंकी ईश्वरी हैं, परम पूजनीया हैं—यही युक्तिपूर्ण प्रमाण है॥६४॥

यस्याः कटाक्षपातेन लोकपालविभूतयः।
ज्ञानं विरक्तिर्भक्तिश्च सिध्यन्ति यदनुग्रहात्॥६५॥

श्लोकानुवाद—श्रीलक्ष्मीकी कृपादृष्टिसे ही लोकपालगण विभूतियाँ प्राप्त करते हैं तथा उनकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य और भक्ति सिद्ध होती है॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ज्ञानं जीवेश्वरतत्त्व विषयकम्; विरक्तिर्भोग मोक्षादि वैतृष्ण्यम्; भक्तिर्भगवद्विषया यस्याः श्रियोऽनुग्रहात् सिध्यन्ति। यथोक्तं वैष्णवे—*'यतः सत्त्वं ततो लक्ष्मीः सत्त्वं भूत्यनुसारि च। निःश्रीकानां कुतः सत्त्वं विना तेन गुणाः कुतः॥'* इति। गुणा ज्ञान वैराग्यादयः; तथा तत्रैव इन्द्रकृत लक्ष्मीस्तुतौ—*'यज्ञविद्या*

महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने। आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्ति फलदायिनी॥' इति। यद्वा, विभूति-विरक्ति-भगवद्भक्ति ज्ञान ब्रह्मज्ञान दातृत्वं क्रमेणोक्तम्। चतुर्विद्यारूपत्वाच्चतुवर्गदातृत्वं; तथा विमुक्तेः फलं भक्तिस्तद्दायिनी चेति॥६५॥

भावानुवाद—श्रीमहालक्ष्मीकी कृपासे जीव और ईश्वर-तत्त्व विषयक ज्ञान तथा भोग-मोक्ष आदिमें उदासीनता होनेसे वैराग्य सिद्ध होता है और भगवद्विषयनी भक्तिकी भी प्राप्ति होती है। इसीलिए वैष्णवलोग कहते हैं कि जहाँ पर सत्त्वगुण है, वहीं श्रीलक्ष्मी हैं, क्योंकि सत्त्वगुण श्रीलक्ष्मीका अनुसरण करता है। अतएव जहाँ श्री (लक्ष्मी) नहीं हैं, वहाँ सत्त्वगुण कैसे हो सकता है और फिर सत्त्वगुणके बिना सद्गुण भी कहाँ हो सकते हैं? यहाँ पर सद्गुणसे ज्ञान और वैराग्य आदिको समझना चाहिए, क्योंकि उक्त पुराणमें इन्द्र द्वारा किये गये श्रीलक्ष्मीके स्तवमें कहा गया है—"हे शोभने महालक्ष्मी! तुम ही यज्ञविद्या हो, तुम ही महाविद्या हो, तुम ही गुह्यविद्या हो, तुम ही आत्मविद्या हो। हे देवि! तुम ही मुक्ति देनेवाली हो।" अथवा वे महालक्ष्मी ही विभूति, विरक्ति, भगवद्भक्ति और ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेकी शक्ति रखनेवालीके रूपमें क्रमशः वर्णित हुई हैं। अथवा उक्त चतुर्विद्यारूपा श्रीलक्ष्मी ही चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्रदान करती हैं। इसके अलावा इन चतुर्वर्गोंसे अतीत जो भगवद्भक्ति है, उसको भी प्रदान करती हैं॥६५॥

या विहायादरेणापि भजमानान् भवादृशान्।
वव्रे तपोभिराराध्य निरपेक्षं च तं प्रियम्॥६६॥

श्लोकानुवाद—श्रीलक्ष्मीने आप (श्रीनारद) जैसे उनका भजन करनेवाले सभी व्यक्तियोंको परित्याग करके तपस्या द्वारा, निरपेक्ष भगवान्‌की आराधना करके उन्हें अपने प्रियतम रूपमें वरण किया है॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तस्याः सर्वनैरपेक्ष्येण केवलं परमप्रेम्णा भगवद्भजनान्माहात्म्यविशेषमाह—येति। निरपेक्षं तदपेक्षारहितमपि आत्मारामत्वात् पूर्णकामत्वाच्च। तथापि वरणे हेतुः—प्रियमिति, तदेकप्रियत्वादित्यर्थः। एतादृशस्य कथं प्राप्तिः स्यात्तत्राह—तपोभिर्वा विचित्रसेवया भगवद्विषयक चित्तैकाग्रताभिराराध्य; बहुत्वं गौरवेण। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६) नागपत्नीस्तुतौ—*'यद्वाञ्छया*

श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता' इति। यद्यपि महालक्ष्मीरियं श्रीवैकुण्ठेश्वरस्य भगवतो नित्यवल्लभैव, न त्वन्यवदुपासनया तं प्राप्तास्ति; तथापि तदवताराणां श्रीभृगुतनयादीनां तपश्चर्यादि श्रवणात्ताभ्योऽस्या अभेदाभिप्रायेणैवमुक्तमिति दिक्॥६६॥

भावानुवाद—श्रीलक्ष्मीने किस प्रकार निरपेक्ष होकर केवल परम प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का भजन किया था, उस भजनके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मीदेवी परम प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की सेवा तो करती हैं, किन्तु भगवान् निरपेक्ष हैं अर्थात् आत्माराम और आप्तकाम हैं, इसलिए किसीकी अकांक्षा नहीं करते हैं। तथापि श्रीलक्ष्मीदेवीने उन्हीं निरपेक्ष भगवान्‌की आराधना करके उन्हें अपने प्रियतमके रूपमें वरण किया है। श्रीलक्ष्मी द्वारा भगवान्‌को ऐकान्तिक रूपमें प्रिय मानना ही उनको वरण करनेका कारण है। तथापि यदि प्रश्न हो कि ऐसे निरपेक्ष प्रभुको उन्होंने कैसे प्राप्त किया? इसीके उत्तरमें श्रीपार्वती कह रहीं हैं कि तपस्या करके अथवा विचित्र प्रकारकी सेवा करके। यहाँ पर तपस्याका अर्थ है भगवद् विषयमें चित्तको एकाग्र करके आराधना करना। यथा, दशम-स्कन्धमें नागपत्नियोंकी स्तुति है—"हे भगवन्! आपके श्रीचरणोंकी रजको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रीलक्ष्मीदेवीने आपकी प्रिया होने पर भी सभी प्रकारकी कामनाओंको परित्यागकर व्रतधारण करके अनेक समय तक तपस्या की थी।" यद्यपि श्रीमहालक्ष्मी श्रीवैकुण्ठके ईश्वर श्रीनारायणकी नित्यप्रेयसी हैं तथा अन्य आराधिकाओंकी भाँति आराधना करके वे श्रीनारायणकी प्रेयसी नहीं हुई है, तथापि श्रीलक्ष्मीकी अवतार भृगुकन्या आदिने श्रीनारायणके श्रीचरणोंकी सेवा प्राप्तिकी अभिलाषासे तपस्या की थी, इसलिए भृगुकन्याके साथ अभेदके अभिप्रायसे श्रीलक्ष्मीकी तपस्या आदिका प्रसंग कथित हुआ है॥६६॥

करोति वसतिं नित्यं या रम्ये तस्य वक्षसि।
पतिव्रतोत्तमाशेषावतारेष्वनुयात्यमुम् ॥६७॥

श्लोकानुवाद—वे श्रीमहालक्ष्मी श्रीभगवान्‌के सुन्दर वक्षःस्थलके ऊपर सदा निवास करती हैं। वे सभी पतिव्रताओंमें उत्तमा हैं, इसलिए

वे भगवान्‌के असंख्य अवतारोंके अनुरूप कान्तारूपमें उनका अनुगमन करती हैं॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवमेतदवतारभूताया विभूत्यधिष्ठातृलक्ष्म्याश्चाञ्चल्य दोषस्य विद्यमानत्वादस्या अपि स कदाचित् घटेतैवेत्याशंक्य तन्निराकरणपूर्वक परममाहात्म्य-विशेषमाह—करोतीति। रम्य इति विस्तीर्णत्वादि-परमसौन्दर्योक्तया वाससुखमुद्दिष्टम्; अशेषेषु अवतारेष्वपि अमुं श्रीहरिमनुयाति तत्तदनुरूपमवतीर्य तत्तत्संगत्या गच्छति। यतः पतिव्रतासु उत्तमा श्रेष्ठा। तथा च श्रीविष्णुपुराणे—*'एवं यथा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्द्दनः। अवतारं करोत्येषा तथा श्रीस्तत्सहायिनी॥ देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णोर्द्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनूम्॥'* इति॥६७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीमहालक्ष्मीकी अशंस्वरूपा विभूतिकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी जब चञ्चला हैं, तब क्या अंशी महालक्ष्मीमें भी उस प्रकारका चाञ्चल्य दोष कभी दिख सकता है? इस प्रकारकी आशंकाका निवारण करके उनके परम माहात्म्यके विषयमें 'करोतीति' श्लोक कह रहे हैं। श्रीमहालक्ष्मी श्रीनारायणके रमणीय वक्षःस्थल पर नित्य निवास करती हैं। यहाँ पर रमणीय शब्दसे श्रीभगवान्‌के सुविस्तृत तथा अन्य गुणोंसे मण्डित परम सौन्दर्ययुक्त सुन्दर वक्षःस्थलके ऊपर वास करनेके सुखको ही इंगित किया गया है। श्रीलक्ष्मी श्रीहरिके वक्षःस्थल पर स्थित होकर भी उनके असीम अवतारोंका भी अनुगमन करती हैं, अर्थात् श्रीहरि जब जो लीला करते हैं, तब वे भी अपने प्रभुकी इच्छाके अनुरूप लीलाके विस्तारके लिए उनका अनुगमन करती हैं, क्योंकि वे पतिव्रता स्त्रियोंमें उत्तमा हैं। इस विषयमें श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा गया है—"देवदेव जगत स्वामी श्रीजनार्द्दन जिस-जिस प्रकारसे अवतार ग्रहण करते हैं, श्रीलक्ष्मी भी उन्हीं अवतारोंके अनुरूप उनकी सहायता करनेके लिए अवतरित होती हैं। देव रूपमें लीला करनेवाले श्रीविष्णुके साथ देवी रूपमें तथा मनुष्य रूपमें लीला करनेवाले भगवान्‌के साथ वे मानुषी रूपमें अवतरित होती हैं। इस प्रकार श्रीविष्णु जहाँ पर जिस रूपमें लीला करते हैं, उनकी प्रेयसी श्रीलक्ष्मी भी उनके अनुरूप श्रीविग्रह धारण करके उनकी लीलामें सहायता करती हैं"॥६७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ततः परमहर्षेण क्षोभितात्मालपन्मुनिः।
जय श्रीकमलाकान्त हे वैकुण्ठपते हरे॥६८॥
जय वैकुण्ठलोकेति तत्रत्या जयतेति च।
जय कृष्णप्रिये पद्मे वैकुण्ठाधीश्वरीत्वपि॥६९॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! श्रीशिवकी बातोंको सुनकर देवर्षि श्रीनारद परमानन्दित होकर क्षोभित चित्तसे उच्च स्वरमें कहने लगे—'श्रीकमलाकान्तकी जय हो! हे वैकुण्ठपते! हे हरे! आपकी जय हो! हे वैकुण्ठलोक! हे वैकुण्ठवासियों! हे कृष्णप्रिया पद्मे! हे वैकुण्ठाधीश्वरि! आप सभीकी जय हो, जय हो!'॥६८–६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अलपदुच्चैरवोचत्; किं? तदाह—जयेति सार्धेण। हे वैकुण्ठलोक! जयेति, हे तत्रत्या वैकुण्ठवर्त्तिनः! हे वैकुण्ठाधीश्वरि! श्रीवैकुण्ठवासिनां महालक्ष्म्याश्च माहात्म्यविशेषश्रवणात् परमानन्दभराविर्भाववैवश्येन पृथिव्यामवतीर्णस्य भगवतो द्वारकानिवासमपि विस्मृत्य श्रीवैकुण्ठलोकजिगमिषया तदाविष्टचित्तत्वेन तत्र द्रष्टव्यं तत्रत्येश्वरं लक्ष्मीकान्तं भगवन्तं तल्लोकं च तत्रत्यांश्च महालक्ष्मीमपि तुष्टावेति ज्ञेयम्। तत्र तादृश्या महालक्ष्म्याः स्वामित्वेनासौ भगवत् स्तुतिरर्धेन, ततस्तत्कृपाभरास्पदत्वेन वैकुण्ठस्य तद्वासिनाञ्च; ततः सर्वतः परमोत्कर्षनिष्ठा दृष्टा महालक्ष्म्या इति विवेचनीयम्॥६८–६९॥

भावानुवाद—श्रीनारद उच्च स्वरमें कहने लगे। क्या कहा? इसे 'जय' इत्यादि डेढ़ श्लोकमें कह रहे हैं—हे वैकुण्ठलोक! हे वैकुण्ठवासीगण! हे वैकुण्ठाधीश्वरि! आप सभी जय युक्त हों! इस प्रकार श्रीनारद वैकुण्ठवासियों तथा श्रीलक्ष्मीके माहात्म्यको श्रवण करके परमानन्दके उदित होनेसे आत्मविभोर होकर उस समयमें पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए श्रीभगवान् और द्वारिकावासियोंको भूल गये। इसीलिए श्रीवैकुण्ठलोकको जानेकी इच्छासे अर्थात् वैकुण्ठमें आविष्ट हुए चित्तसे उन्होंने सोचा कि वैकुण्ठ ही मेरे लिए दर्शनीय है। मैं वैकुण्ठेश्वर श्रीलक्ष्मीकान्त, वहाँके भक्तों और श्रीमहालक्ष्मीकी स्तुति करूँगा। अतः श्रीनारद वैकुण्ठलोकमें श्रीमहालक्ष्मीके स्वामी श्रीभगवान्को 'हे कमलाकान्त' कहकर उनकी स्तुति कर रहे हैं, तदनन्तर श्रीवैकुण्ठलोक और वैकुण्ठेश्वर भगवान्के विशेष कृपापात्र वैकुण्ठवासी

भक्तोंका स्तव करके अन्तमें सर्वत्र श्रीलक्ष्मीकी सर्वोत्तम निष्ठाके दर्शन करके उनका स्तव कर रहे हैं—ऐसा सूचित होता है॥६८–६९॥

अथाभिनन्दनायास्या वैकुण्ठे गन्तुमुत्थितः।
अभिप्रेत्य हरेणोक्तः करे धृत्वा निवार्य सः॥७०॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारद यह सब कहते–कहते श्रीलक्ष्मीका अभिनन्दन करनेके लिए वैकुण्ठ जानेको प्रस्तुत हुए, किन्तु उनके इस अभिप्रायको समझकर श्रीमहादेवने उनके दोनों हाथोंको पकड़कर रोक लिया और कहने लगे॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ लपनानन्तरं अस्या महालक्ष्म्या अभिनन्दनाय त्वमेव कृष्णस्य परम कृपानिष्ठापात्रं परमप्रियेत्यादि सुनृतैः प्रशंसनार्थमभिप्रेत्य वैकुण्ठादि–स्तुत्योर्ध्वदृष्ट्यादिना च लक्षणेन तस्य वैकुण्ठ गमनोन्मुखतां ज्ञात्वेत्यर्थः। निवार्य करग्रहणेनैव तत्र गमने निषिध्य स नारद उक्तः॥७०॥

भावानुवाद—इसके बाद श्रीनारद श्रीलक्ष्मीका अभिनन्दन करनेके लिए वैकुण्ठ जानेको प्रस्तुत हुए तथा उन श्रीमहालक्ष्मीका किस प्रकारसे अभिनन्दन करेंगे, वही मन–ही–मनमें कल्पना करने लगे। किस प्रकारसे? अर्थात् 'आप श्रीकृष्णकी परम कृपानिष्ठापात्री और परमप्रिया हैं', इत्यादि सुन्दर वाक्यों द्वारा प्रशंसा करनेकी सोचने लगे। किन्तु स्वयं श्रीमहादेव श्रीनारदके हृद्गत (आन्तिरिक) भावको जान गए। किस प्रकारसे? वैकुण्ठ आदिकी स्तुति और श्रीनारद द्वारा पुनः–पुनः ऊपर दृष्टिपात करनेके द्वारा, इसलिए उन्होंने श्रीनारदके दोनों हाथोंको पकड़कर उन्हें वैकुण्ठ गमनके लिए निषेध करते हुए कहा—॥७०॥

श्रीमहेश उवाच—

कृष्णप्रियजनालोकोत्सुकताविहतस्मृते ।
न किं स्मरसि यद्भूमौ द्वाराकायां वसत्यसौ॥७१॥

श्लोकानुवाद—श्रीमहादेवने कहा—हे नारद! श्रीकृष्णके प्रियजनोंके दर्शनके आवेशकी उत्कण्ठासे क्या तुम्हारी स्मृति विलुप्त हो गयी है? क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वी पर श्रीद्वारकापुरीमें निवास कर रहे हैं?॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृष्णप्रियजनस्यालोके अवलोकने उत्सुकता उत्कण्ठा तया विहता विनाशिता स्मृतिरनुसन्धानं यस्य तस्य सम्बोधनम्। एवमत्र तव कोऽपि न दोषस्तस्यैवेदृशः परममोहनत्वादिति भावः। असौ श्रीहरिः महालक्ष्मीर्वा भूमौ पृथिव्यां तत्रापि द्वारकायां पुर्यां वसतीति यत् तत् किं नानुस्मरसि, नानुसन्धत्से?॥७१॥

भावानुवाद—अहो नारद! श्रीकृष्णके प्रियजनोंके दर्शनकी उत्सुकतावशतः क्या तुम्हारी स्मृति विलुप्त हो गयी है? इस सम्बोधनका उद्देश्य यह है कि क्या तुम्हारी स्मृतिकी अनुसन्धान-शक्ति भी विनष्ट हो गयी है? सचमुच, इस विषयमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्णका ही ऐसा परम मोहन करनेवाला स्वभाव है। वे श्रीहरि और श्रीमहालक्ष्मी इस समय पृथ्वी पर श्रीद्वारकापुरीमें वास कर रहे हैं, क्या तुम इसे भूल गये हो?॥७१॥

रुक्मिणी सा महालक्ष्मीः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
तस्या अंशावतारा हि वामनादि समीपतः॥७२॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठाधीश्वरी श्रीमहालक्ष्मी ही श्रीरुक्मिणी हैं। श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं तथा उनके अंशावतार श्रीवामन आदिके समीप जो श्रीलक्ष्मीदेवी विराजमान हैं, वे इन्हीं श्रीरुक्मिणीकी ही अंशावतार हैं॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्र कुतो महालक्ष्मीः? किन्तु भीष्मसुता रुक्मिणीति चेत्; सत्यम्; सैवेयमित्याह—रुक्मिणीति। सा रुक्मिण्येव महालक्ष्मीः ननु महालक्ष्मीः कदाचिदपि भगवत्पार्श्वं न जहाति? तत्राह—कृष्णस्त्विति। ननु कथं तर्हि श्रीवामनसहस्त्रशीर्षकपिलादि निकटे लक्ष्मीर्दृश्यते? महालक्ष्म्या रुक्मिणीत्वेनावतीर्णत्वात्। तत्राह—तस्या इति एवं वैकुण्ठेश्वर्या महालक्ष्म्या महिमापि साधितः॥७२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि पृथ्वी पर श्रीद्वारकामें श्रीमहालक्ष्मी कहाँ हैं? वहाँ तो भीष्मककी पुत्री श्रीरुक्मिणीदेवी हैं। हाँ, यह बात सत्य है, तथापि वैकुण्ठके ऐश्वर्य आदि इस द्वारकामें जिस प्रकारसे विराजित हैं, उसका वर्णन कर रहा हूँ, श्रवण करो। भीष्मक पुत्री श्रीरुक्मिणीदेवीको ही वैकुण्ठाधीश्वरी महालक्ष्मी जानना। यदि कहो कि वे श्रीलक्ष्मी तो भगवान्‌के समीप स्थित हैं, वे कभी भी भगवान्‌का संग छोड़कर कहीं भी नहीं जातीं हैं, तो वे किस प्रकार

द्वारकामें विराजित होंगी? इसीलिए कह रहे हैं कि द्वारकानाथ श्रीकृष्ण ही वही भगवान् हैं। यदि कहो कि फिर श्रीवामन, सहस्रशीर्षा महापुरुष और कपिल आदि देवोंके समीप जो लक्ष्मियाँ दिखाई देती हैं, वे कौन हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि श्रीकृष्णके अंशावतार श्रीवामन आदिके समीप जो लक्ष्मियाँ विराजित हैं, वे इन्हीं महालक्ष्मीकी ही अंश हैं और महालक्ष्मी स्वयं श्रीरुक्मिणीके रूपमें अवतीर्ण हुई हैं। इस प्रकार वैकुण्ठेश्वरी महालक्ष्मीकी महिमाका भी वर्णन हुआ है॥७२॥

सम्पूर्णा परिपूर्णस्य लक्ष्मीर्भगवतः सदा।
निषेवते पदाम्भोजे श्रीकृष्णस्यैव रुक्मिणी॥७३॥

श्लोकानुवाद—उसी द्वारकामें परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाके लिए सम्पूर्णा महालक्ष्मीस्वरूपा श्रीरुक्मिणीदेवी स्वयं सदा सर्वदा विराजमान हैं॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि कृष्णपार्श्वेऽपि तादृश्येव लक्ष्मीरस्तु? तत्राह—सम्पूर्णेति। एव शब्दो यथा सम्भवं सर्वत्र योजनीयाः। सम्पूर्णा लक्ष्मी रुक्मिण्येव परिपूर्णस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यैव पादपद्मद्वन्द्वं सदैव नितरां सेवते॥७३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि तब क्या द्वारकामें श्रीकृष्णके साथ भी श्रीमहालक्ष्मीका अंश अवतार विराजमान है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'सम्पूर्णा' इत्यादि। नहीं, नहीं, उस द्वारकामें तो पूर्ण महालक्ष्मी श्रीरुक्मिणीदेवी ही हैं। अर्थात् वे महालक्ष्मीकी अंश नहीं, निश्चित रूपमें सम्पूर्ण महालक्ष्मी हैं तथा वे श्रीमहालक्ष्मी ही स्वयं रूपमें सदा परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा कर रही हैं॥७३॥

तस्मादुपविश ब्रह्मन् रहस्यं परमं शनैः।
कर्णे ते कथयाम्येकं परमश्रद्धया शृणु॥७४॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे ब्रह्मन्! आप यहीं पर बैठिये! मैं धीरे-धीरे गुप्तरूपसे आपके कानमें एक रहस्यमय बात कहता हूँ, आप परम श्रद्धापूर्वक उसको श्रवण कीजिए॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्माद् वैकुण्ठतो भूमौ भगवतासह लक्ष्म्या अवतीर्णत्वात्। उपविश वैकुण्ठे जिगमिषां विहायात्रैव क्षणं निषीद। ननु तर्हि सत्वरं द्वारकायामेव गच्छामि किमत्रोपवेशेन? तत्राह—रहस्यमिति। शनैस्ते तव कर्णे कथयामीति परम–रहस्यत्वेन बहूनामग्रेऽप्रकाश्यत्वात्: महालक्ष्मी प्रियसखी–पार्वती–मात्सर्यभयाद्वा। एवं तवाभिप्रेतार्थो द्वारकागमनेन न सिध्येत्। महालक्ष्म्यापि तयात्मनः सकाशात् श्रीप्रह्लादस्यैव श्रेष्ठताया वक्ष्यमाणत्वात् इति भावः॥७४॥

भावानुवाद—उसी वैकुण्ठसे श्रीभगवान् श्रीलक्ष्मी सहित द्वारकामें अवतरित हुए हैं। अतएव हे ब्रह्मन्! वैकुण्ठ गमनकी अभिलाषाका परित्याग करके क्षणकालके लिए इस स्थान पर बैठो। तब यदि श्रीनारदकी यह उत्कण्ठा हो कि मैं तो शीघ्र ही उस द्वारकापुरीको गमन करूँगा, यहाँ बैठकर क्या करूँगा? इसके लिए ही 'रहस्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। मैं धीरे–धीरे गुप्तरूपसे तुम्हारे कानमें एक रहस्यकी बात कह रहा हूँ। धीरे–धीरे कहनेका उद्देश्य यह है कि जो बात परम रहस्यमय हो, उसे अनेक व्यक्तियोंके समक्ष प्रकाश करना उचित नहीं है, विशेषतः यहाँ पर महालक्ष्मीकी प्रियसखी पार्वती हैं, उस परम रहस्यमय बातको श्रवणकर कहीं उनमें मात्सर्य उदित न हो जाय, इसलिए थोड़ा भय भी है। अतएव तुम्हारा अभिप्राय द्वारका जानेसे पूर्ण नहीं होगा। यहाँ पर परम रहस्यकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अब श्रीमहादेव अपनेसे और यहाँ तक कि श्रीलक्ष्मीसे भी श्रीप्रह्लाद महाराजके श्रेष्ठ होनेका विचार प्रस्तुत करेंगे, उससे श्रीपार्वतीको मात्सर्य हो सकता है। इसी आशंकासे कहे जानेवाले प्रसङ्गको अब धीरे–धीरे गोपनीयरूपमें कहने लगे॥७४॥

त्वत्तातततो मद्‌गरुड़ादितश्च श्रियोऽपि कारुण्यविशेषपात्रम्।
प्रह्लाद एव प्रथितो जगत्या कृष्णस्य भक्तो नितरां प्रियश्च॥७५॥

श्लोकानुवाद—हे नारद! आपके पिता श्रीब्रह्मा, गरुड़ आदि पार्षद, श्रीमहालक्ष्मी तथा मुझसे भी अधिक प्रह्लाद श्रीकृष्णके अधिक कृपापात्र हैं। यह बात सम्पूर्ण जगतमें प्रसिद्ध है, अतएव श्रीप्रह्लाद ही श्रीकृष्णके श्रेष्ठ भक्त हैं॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः श्रीप्रह्लादमेवानुसरेत्याशयेनाह—त्वदिति। त्वत्तातततो ब्रह्मणः सकाशात्, मत् मत्तः। आदिशब्दाच्छेष-विष्वक्सेनादयो वैकुण्ठपार्षदाः। श्रियः महालक्ष्म्या अपि सकाशात्। कारुण्यविशेष पात्रत्वे हेतुः—नितरां भक्तोऽतएव नितरां प्रियश्चेति॥७५॥

भावानुवाद—अतएव तुम श्रीप्रह्लादका ही अनुसरण करो। इसी अभिप्रायसे 'तत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मैं, तुम्हारे पिता श्रीब्रह्मा, गरुड़, शेष और विश्वक्सेन आदि वैकुण्ठके पार्षदगण, यहाँ तक कि श्रीलक्ष्मीसे भी अधिक श्रीकृष्णके कृपापात्रके रूपमें श्रीप्रह्लादकी ही जगतमें ख्याति है। अतएव वे ही श्रीकृष्णके एकान्तिक भक्त और अत्यधिक प्रिय हैं॥७५॥

भगवद्वचनानि त्वं किन्नु विस्मृतवानसि।
अधीतानि पुराणेषु श्लोकमेतं न किं स्मरेः॥७६॥

श्लोकानुवाद—क्या तुम भगवान्‌के श्रीमुखनिःसृत वचनोंको भूल गये हो? पुराण आदिके पढ़ने पर भी क्या तुम्हें यह प्रसिद्ध श्लोक स्मरण नहीं है?॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ सामान्यतो भक्तत्वेनैव माहात्म्यं वक्तुं तस्य जगत् प्रसिद्धतामेव दर्शयंस्तमपि तत् स्मारयति,—भगवदिति। तत्र किमेतं सुप्रसिद्धमपि श्लोकं न त्वं स्मरेः, अपि तु स्मरस्येवेत्यर्थः॥७६॥

भावानुवाद—पहले सामान्यरूपसे श्रीप्रह्लादके भक्त होनेके माहात्म्यका वर्णन करके अब उनके जगत-प्रसिद्ध विशेष माहात्म्यका स्मरण 'भगवद्वचनानि' इत्यादि श्लोक द्वारा करवा रहे हैं। हे नारद! क्या तुम पुराण आदिमें प्रसिद्ध भगवान्‌के श्रीमुखनिःसृत वचनोंको भूल गये हो? क्या तुमको वह प्रसिद्ध श्लोक स्मरण नहीं है? अर्थात् उसे स्मरण करो॥७६॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियमात्यन्तिकीं वापि येषां गतिरहं परा॥७७॥

श्लोकानुवाद—मैं ही जिनकी परमगति हूँ, उन सब साधु-भक्तोंके अलावा मैं अपनी आत्मा तथा अपनी अत्यन्त प्रिय श्रीलक्ष्मीकी भी कामना नहीं करता हूँ॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेवाह—नाहमिति। आत्मानं श्रीमूर्त्तिमपि; नाशासे न स्पृहयामि नाभिनन्दामि वा। अयञ्च श्लोको नवमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ९/४/६४) दुर्वाससं प्रति श्रीभगवतोक्तः। तथा तत्रैव (श्रीमद्भा॰ ९/४/६३, ६६)—'*अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः। साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्त जनप्रियः॥ मयि निर्बद्ध-हृदयाः साधवः समदर्शिनः। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥*' इति। उद्धवं प्रत्यप्येकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१५)—'*न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥*' इति। अस्यार्थः—आत्मा श्रीमूर्तिरपि; भक्त इति वक्तव्ये स्वभक्त-माहात्म्य विशेषाख्यानाविर्भूत हर्षभरवैवश्येन भवानित्युक्तम्॥७७॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के वचन हैं—"मैं ही जिनकी परमगति हूँ, उन सब साधुभक्तोंके अलावा मैं अपनी आत्मा तथा अत्यन्त प्रिय श्रीलक्ष्मीकी भी कामना नहीं करता जो कि मेरी प्राणस्वरूप हैं।" यह श्लोक नवम-स्कन्धमें श्रीभगवान्ने दुर्वासाके प्रति कहा है। वहाँ पर और भी कहा गया है कि मैं अपने भक्तोंके अधीन हूँ, मैं अपने भक्तोंके निकट स्वतन्त्र नहीं हूँ, भक्तोंने मुझे अपने हृदयमें बाँध लिया है। सर्वत्र समदर्शी साधुओंने अपने-अपने हृदयको मुझसे जोड़ रखा है। जिस प्रकार साध्वी-स्त्री अपने पतिको वशीभूत रखती है, उसी प्रकार मेरे भक्त भी मुझे वशीभूत कर लेते हैं। एकादश-स्कन्धमें भगवान् श्रीउद्धवको भी कहते हैं—"तुम मेरे भक्त होनेसे मुझे जितने प्रिय हो, ब्रह्मा पुत्र होने पर, शंकर स्वरूपभूत होने पर, संकर्षण भाई होने पर, श्रीलक्ष्मी पत्नी होने पर भी उतने प्रिय नहीं हैं, और अधिक क्या कहूँ, मुझे अपना श्रीविग्रह भी उतना प्रिय नहीं है।" वे भक्त आपको कितने प्रिय हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने उक्त श्लोक कहा है। यदि कहो कि वे भक्त कैसे हैं? इसके उत्तरमें अत्यन्त आनन्दित होकर कह रहे हैं—'तुम जैसे'। इसके द्वारा अपने भक्तके विशेष माहात्म्यकी स्थापना करना ही उनका उद्देश्य है, ऐसा समझना चाहिए॥७७॥

मदादिदेवतायोनिर्निजभक्तविनोदकृत्।
श्रीमूर्तिरपि सा येभ्यो नापेक्ष्या को हि नौतु तान्॥७८॥

श्लोकानुवाद—जिनके लिए प्रभु अपनी श्रीमूर्त्तिका भी आदर नहीं करते हैं उन भक्तोंकी प्रशंसा करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? किन्तु प्रभुकी वही मूर्त्ति हम सभी देवताओंकी उत्पत्तिका कारणस्वरूप है और गरुड़ आदि अपने भक्तोंको भी आनन्द प्रदान करनेवाली है॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—फलितमाह—मदिति द्वाभ्याम्। अहं रुद्र आदिर्यासां ब्रह्मा-इन्द्रादिदेवतानां तासां योनिः कारणं ब्रह्मादिजगन्निदान महापुरुषरूपस्यापि तत एवाविर्भावात्। यद्वा, योनिराश्रयः सर्वसेव्यत्वात्। एवं रुद्र ब्रह्मादि सर्वदेवेभ्यो भगवच्छ्रीमूर्त्तेम्माहात्म्यं साधितम्। तथा निजभक्तानां श्रीशेषगरुड़ादीनां विनोदः परमानन्दक्रीड़ाविशेषः तं करोति तथा सा। सा सौन्दर्य-माधुर्यादि-महिम्ना परमानिर्वचनीया। येभ्यो भक्तेभ्यः सकाशात् न अपेक्षा योग्या आदरविशेष विषयो न भवति। तान् को नौतु स्तौतु? अपि तु न कोऽपि स्तोतुं शक्नुयादित्यर्थः॥७८॥

भावानुवाद—सारार्थ यह है कि रुद्र (मेरे), ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंकी भी उत्पत्तिके कारण-स्वरूप जो महापुरुष हैं, अर्थात् ब्रह्मादि देवता तथा जगतकी सृष्टि करनेवाले जो महापुरुष हैं, वे भी श्रीभगवान्के ही अंश हैं। यदि 'योनि' शब्दका अर्थ 'आश्रय' हो, तो भी रुद्र आदि सभी देवताओंके आश्रय और सेव्य स्वरूप जो भगवान्की श्रीमूर्त्ति हैं, अपनी वह मूर्त्ति भी प्रभुको उन भक्तोंकी तुलनामें अधिक आदरणीय नहीं है। यद्यपि इस प्रकार रुद्र और ब्रह्मा जैसे देवताओंसे भी भगवान्की श्रीमूर्त्तिका अधिक माहात्म्य सिद्ध हुआ है, तथापि शेष और गरुड़ आदि अपने भक्तोंको आनन्दित करनेवाली परमानन्दमय लीलाका आश्रय स्थल अर्थात् सौन्दर्य-माधुर्य आदि परम अनिर्वचनीय महिमा युक्त भगवान्की श्रीमूर्त्ति भी जिनकी तुलनामें आदरणीय नहीं है, उन भक्तोंकी स्तुति करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं॥७८॥

तत्राप्यशेषभक्तानामुपमानतयोदितः ।
साक्षाद्भगवतैवासौ प्रह्लादोऽतर्क्य भाग्यवान्॥७९॥

श्लोकानुवाद—उन सभी भक्तोंमें भी श्रीप्रह्लादका भाग्य तो तर्कके अगोचर है। स्वयं भगवान् ही कहते हैं कि श्रीप्रह्लाद मेरे समस्त भक्तोंमें आदर्श स्वरूप हैं॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन भक्ततयैव ब्रह्मादिभ्यः स्वस्मादपि सकाशान्माहात्म्य-मुक्तम्। इदानीं विशेषेण-श्रीशेषगरुड़ादिभ्योऽपि माहात्म्यविशेषमाह—तत्रापीति। तेष्वपि भक्तगणेषु मध्ये अतर्क्यं तर्कयितुमप्यशक्यं यद्भाग्यं सौभाग्यं भगवत्-कृपाविशेष-पात्रतालक्षणं तद्वान्। परममहासौभाग्यवत्त्वेन श्रेष्ठतर इत्यर्थः। तच्च भगवदुक्त्यैव प्रमाणयति—अशेषेति। साक्षादेव उदितः उक्तः। तथा च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा० ७/१०/२१)—*'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्तामनुव्रताः। भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥'* इति। अस्यार्थः—त्वामनुगता ये केचित् पुरुषास्तेऽप्येवंलक्षणा भवन्ति, मद्भक्ता भवन्ति। अतो भवान् खलु मे भक्तानां सर्वेषामुपमास्पदं श्रेष्ठ इत्यर्थः। यद्वा, ये मद्भक्तस्ते त्वामेव अनुव्रता अनुसृता भवन्ति भविष्यन्ति अनुसरिष्यन्तीत्यर्थः। तत्र हेतुर्भाग्यवानिति॥७९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीशिवने सामान्य भक्ततत्त्वके विचारसे अपने और श्रीब्रह्मासे भी श्रीप्रह्लादके माहात्म्यको श्रेष्ठ बताया। अब वे 'तत्रापि' इत्यादि श्लोककी अवतारणा करके यह स्थापित करना चाहते हैं कि श्रीप्रह्लाद महाराजका माहात्म्य भगवान्के भक्त गरुड़ और शेषसे भी अधिक है। भगवान्के अनन्त भक्तोंमें भी श्रीप्रह्लादका भाग्य तर्कके द्वारा नहीं समझा जा सकता है। वह भाग्य किस प्रकारका है? वे भगवान्के विशेष कृपापात्र होनेके सौभाग्यके लक्षणसे युक्त हैं अर्थात् परम-सौभाग्यवानोंसे भी अधिक श्रेष्ठतर हैं। ऐसा भगवान्की उक्तिसे ही प्रमाणित हो रहा है—"प्रह्लाद मेरे भक्तोंके लिए उपमा स्वरूप है अर्थात् आदर्श स्वरूप है, जो प्रह्लादके अनुगत हैं, वे भी मेरे भक्त हैं।" भगवान्की इस उक्तिका तात्पर्य यह है, प्रह्लादके अनुगत जो भी व्यक्ति हैं, वे निश्चय ही मेरे (प्रभुके) भक्त हैं; अतएव मेरे जितने भी भक्त हैं, प्रह्लाद उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं अथवा जो मेरे भक्त हैं, वे भी तुम्हारा (प्रह्लादका) ही अनुसरण करेंगे और भविष्यमें भी जो भक्त होंगे, वे भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे, क्योंकि तुम भाग्यवान हो॥७९॥

तस्य सौभाग्यमस्माभिः सर्वैर्लक्ष्म्याप्यनुत्तमम्।
साक्षाद्धिरण्यकशिपोरनुभूतं विदारणे॥८०॥

श्लोकानुवाद—उन श्रीप्रह्लादके सौभाग्यको हिरण्यकशिपुके संहारके समय श्रीलक्ष्मी सहित हम सभी देवताओंने साक्षात्रूपमें अनुभव किया है॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि तस्य दैत्यजातित्वादिना अर्वाचीनत्वादिना च श्रीगरुड़ादिभ्यो महालक्ष्मीतश्च श्रैष्ठं कथं घटताम्? तत्राह—तस्येति। सर्वैरस्माभिरित्यनेन ब्रह्मादयो गरुड़ादयश्च गृहीताः। हिरण्यकशिपोः श्रीनृसिंहरूपेण विदारणसमये साक्षादनुभूतं साक्षादनुभूतत्वादत्र वचनयुक्त्याद्यपेक्षा नास्तीति भावः। तत्तद्विशेषश्च सप्तमस्कन्धे प्रह्लादोपाख्याने देवस्तुत्यध्यायतो विज्ञेयः॥८०॥

भावानुवाद—फिर भी यदि कहो कि श्रीप्रह्लाद तो दैत्यकुलमें आविर्भूत हुए हैं और अर्वाचीन (नवीन) हैं, अतः नित्यवैकुण्ठ पार्षद गरुड़ और श्रीलक्ष्मीसे उनका सौभाग्य कैसे अधिक हो सकता है? इसके लिए 'तस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीप्रह्लादका सौभाग्य अति उत्तम है। हम सभीने साक्षात्‌रूपसे इसका अनुभव किया है। यहाँ पर 'हम सभीने' कहनेसे ब्रह्मादि देवता तथा गरुड़ आदि भगवान्‌के सभी पार्षद भक्तोंको समझना चाहिए। श्रीनृसिंहके रूपमें भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपुके संहारके समय हमने प्रह्लादके सौभाग्यको साक्षात्‌रूपसे अनुभव किया है। इस विषयमें अन्य किसी युक्ति अथवा प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्धमें विशेष विवरण श्रीमद्भागवत सप्तम-स्कन्धके श्रीप्रह्लाद-उपख्यानमें देवस्तुति अध्यायमें द्रष्टव्य है॥८०॥

पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम्॥८१॥

श्लोकानुवाद—उस समय भगवान् श्रीनृसिंहदेवने प्रह्लादको मुक्ति लेनेके लिए बार-बार कहा, परन्तु उस भक्तराजने मुक्ति न लेकर भक्तिके लिए ही प्रार्थना की थी। ऐसे श्रीप्रह्लादको मैं नमस्कार करता हूँ॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—परम श्रेष्ठ्य लक्षणमेव दर्शयितुमादौ मुक्त्यपेक्षया परमभक्ति निष्ठा-माहात्म्यमाह—पुनरिति। एव च श्लोकः श्रीनारायण व्यूहस्तववर्त्ती। पुनः पुनरिति श्रीप्रह्लादस्य माहात्म्यविशेषाभिव्यञ्जनाय मुक्तिदाने विष्णोराग्रहं सूचयति। तथापि तां न याचितः। यद्वा, पुनः पुनर्भक्तिरेव वृतेति सम्बन्धः। दाढर्याकाङ्क्षया भावविशेषणं वा; यद्वा, पुनः पुनरिति। जन्मान्तरेष्वित्यर्थः। यथोक्तं श्रीपराशरेण, तस्यैव वाक्यम्—*'नाथ! योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वच्युता*

भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥' इति। अत्र च योनि सहस्रेष्वित्युक्त्या दूरे मुक्तिरुपेक्षितेति ज्ञाप्यते॥८१॥

भावानुवाद—अब श्रीप्रह्लादके परम श्रेष्ठ लक्षणोंका प्रदर्शन करनेके लिए सबसे पहले मुक्तिकी तुलनामें परम भक्तिकी निष्ठाके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। यह श्लोक श्रीनारायणव्यूह-स्तवके अन्तर्गत है। 'बार-बार' कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीविष्णु द्वारा बार-बार वरदान देनेके लिए चेष्टा करने पर भी श्रीप्रह्लादने मुक्तिकी प्रार्थना न कर केवल भगवद्भक्तिके लिए ही प्रार्थना की थी। इस प्रकार श्रीप्रह्लादके माहात्म्यको अभिव्यक्त करनेके लिए ही श्रीविष्णुने बार-बार मुक्तिदान करनेका आग्रह प्रकाश किया था। तथापि श्रीप्रह्लाद द्वारा पुनः-पुनः मुक्तिका निरादर तथा भक्तिकी प्रार्थना करना उनकी भक्तिके प्रति सुदृढ़ निष्ठा और आकांक्षाको ही सूचित करता है। अथवा बार-बार कहनेसे यह भी समझा जा सकता है कि उन्होंने जन्म-जन्मान्तरके लिए भक्तिकी प्रार्थना की थी, क्योंकि श्रीपाराशरने भी श्रीप्रह्लादके उक्त वाक्योंका अनुवाद करके कहा है—"हे नाथ! मैं जन्म-जन्ममें किसी भी योनिमें ही जन्म ग्रहण क्यों न करूँ, परन्तु आपमें मेरी भक्ति अविचलित रूपमें रहे।" इस (उद्धृत) श्लोकके 'सहस्रयोनि भ्रमण' वाक्य द्वारा मुक्तिको दूरसे ही त्याग करना अर्थात् उसकी उपेक्षा ही सूचित होती है॥८१॥

मर्यादालङ्घकस्यापि गुर्वादेशकृतो मुने।
असम्पन्नस्ववाग्जालसत्यतान्तस्य यद्बलेः॥८२॥
द्वारे तादृगवस्थानं तुच्छदानफलं किमु।
रक्षणं दुष्टबाणस्य किं नु मत्स्तवकारितम्॥८३॥

श्लोकानुवाद—हे मुनि! जिन्होंने श्रीब्रह्मा द्वारा स्थापित मर्यादाका उल्लंघन किया था, गुरुके आदेशकी अवहेलना की थी तथा जो अपनी प्रतिज्ञाकी सत्यताकी रक्षा नहीं कर सके थे, उन्हीं महाराज बलिके द्वार पर श्रीभगवान् द्वारपालके रूपमें विराजते हैं। यह क्या उसके उस तुच्छ दानका फल है? अथवा दुष्ट बाणासुरकी रक्षा क्या मेरे स्तवपाठका फल है?॥८२-८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च मन्तव्यं द्वारपालकत्वेन भगवतो बलौ प्रह्लादतोऽपि कृपाविशेष इति, तच्च तत् सम्बन्धादेवेत्याह—मर्यादेति सार्धद्वयेन। मर्यादा ब्रह्मणा विहितः सेतुः, देवानां स्वर्गाधिपत्यं दैत्यानाञ्च पातालाधिपत्यमित्यादि-लक्षणः, तदति-क्रमकर्त्तुरपि ऐन्द्रपद-यज्ञभाग सूर्यचन्द्राद्यधिकारग्रहणात्। अपिशब्दोऽग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयः; गुरोः शुक्रस्य आदेशः—'वामनाय प्रतिश्रुतं सर्वं सत्यं न कुरु किञ्चिद्देहि।' इत्यादिलक्षणः तं न करोतीति तथा तस्यापि। एवं गुरुणा शप्तस्यापीति चात्र द्रष्टव्यम्। यथोक्तमष्टमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ८/२०/१४) श्रीशुकेन—*'एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः। शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम्॥'* इत्यादि। असम्पन्नः स सम्यक् सिद्धः, स्ववाग्जालस्य स्वकीयवचन समूहस्य सत्यताया अन्तो निष्ठा यस्य तस्य स्वयमङ्गीकृत-भगवत्-पदत्रय परिमित-भूमिदानासम्पत्तेः। तथा च तत्रैव (श्रीमद्भा॰ ८/१८/३२) बलिवचनानि—*'यद्यद्वटो वाञ्छसि तत् प्रतीच्छ मे, त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये।'* इत्यादीनि, तथा भगवत्कृतत्रिपाद-परिमित-भूमिप्रार्थणानन्तरम् (श्रीमद्भा॰ ८/१९/१८)—*'अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः। त्वं वालो वालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा॥'* इत्यादीनि च। तथा भगवत्प्रत्युत्तरानन्तरमपि (श्रीभा॰८/१९/२८)—*'इत्युक्तः स हसन् प्राह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम्।'* इत्यादीनि॥८२॥

तादृक्द्वारपालतयेत्यर्थः। यद्बलेर्द्वारेऽवस्थानं तत्तुच्छस्य सत्यस्य त्रैलोक्यस्य स्वशरीरस्य च यद्दानं समपर्णम्। *'पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्।'* (श्रीमद्भा॰ ८/२२/२) इति तेनैव भगवन्तं प्रत्युक्तत्वात्। अस्य फलं किमु अपि तु नैव। किन्तु केवलं महाप्रेष्ठे प्रह्लादे या प्रीतिः प्रियता तदपेक्षयैव, तदिति परेण वाक्य समापनम्। तदिति तस्मिन् परमानिर्वचनीय-माहात्म्य इति प्रह्लाद विशेषणं वा। एवं मर्यादादि विशेषणत्रयेण बलेस्तत्तद्दोष निरुपणेन भगवतस्तद्द्वारपालकत्वासम्भव उक्तः। तथा तुच्छेति पदेन त्रैलोक्यादिदानफलं तदस्तीत्याशंका च निरस्ता। अयमभिप्रायः—मिथ्यावस्तुना सत्यवस्तुनः कस्यचित् कथञ्चिदपि प्राप्तिर्लोकेऽपि न दृश्यते; तत् कथं सच्चिदानन्दघनस्य भगवतः प्राप्तिस्तत्रापि द्वारपालकतया परमतुच्छ त्रैलोक्यदानादिना घटताम्? अतो भगवत् प्रीतिहेतु-प्रह्लादविषयक्-सच्चिदानन्दमय-प्रेमभक्त्यैव तथाप्राप्तिः सम्भवतीति। आस्तां वा कुत्रापि श्रूयमाणया प्रह्लादस्यैव वरेण प्राप्तया भगवद्भक्तया बलेस्तथा तत्प्राप्तिः। परमदुष्टश्रेष्ठं बाणं प्रति श्रीभगवतोऽनुग्रहभरे श्रीप्रह्लादविषयकं प्रीतिं विना नान्यत् किमपि कारणं दृश्यत इत्याह—रक्षणमिति। शरीररक्षणे न मृत्योः सकाशात् चतुर्भुजत्वापादनेन च बाहुगणच्छेदनप्राप्त-परमवैरूप्यात् श्रीशिवपार्षदता-प्रापणेन च संसारादपीति दिक्। बाणस्य दुष्टत्वञ्च—*'त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लेभे त्वदृते समम्।'* इति दशमस्कन्धोक्त (श्रीमद्भा॰ १०/६२/६) निजप्रभुशिव-विषयक गर्ववचनादिना, तथा कौलिक-परमेष्ट-

श्रीविष्णुभक्ति-परित्यागेन, तथा दैत्य स्वाभाविक विष्णुभक्त-देवब्राह्मण्यादि-द्वेषादिना, तथाऽनिरुद्धबन्धन-युद्धकरणादिना, च पुराणान्तरतोऽवगन्तव्यम्। मदीयस्तवेन मया बाणरक्षार्थं कृतं यच्छ्रीकृष्णस्तोत्रं तेन कारितं सम्पादितं किं नु? अपि तु नैव, किन्तु तदपि महाप्रेष्ठप्रह्लाद-प्रीत्यपेक्षयैव। परमदुस्तर वैष्णव विषयकापराधो वैष्णव-कृपयैव निस्तीर्यत इति न्यायाद् बलिबाणयोः, प्रह्लादपुत्रपौत्रतया तदीयस्नेहविषयता सम्भावनया तदपेक्षयैव सर्वानपराधान् क्षान्त्वा भगवान् परमानुग्रहं चकारेति तात्पर्यम्॥८३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि बलि महाराजके द्वारपालके रूपमें श्रीभगवान्‌का जो अवस्थान है, क्या वह श्रीप्रह्लादकी तुलनामें अधिक कृपाका परिचय नहीं है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा मन्तव्य कदापि नहीं करना। प्रह्लादके साथ सम्बन्ध होनेके कारण ही बलिके प्रति श्रीभगवान्‌की ऐसी कृपा है, यही 'मर्यादा' इत्यादि श्लोकोंमें कह रहे हैं। उस बलिने श्रीब्रह्मा द्वारा बनायी गयी मर्यादाका उल्लंघन करके स्वर्गके राज्यको प्राप्त किया था। अर्थात् श्रीब्रह्मा द्वारा निर्दिष्ट देवताओंका स्वर्ग पर आधिपत्य और दैत्योंका पाताल पर आधिपत्य इत्यादि लक्षण-व्यवस्थाका उल्लंघन कर बलिने इन्द्रके पद पर अपना अधिकार कर लिया था। उन्होंने देवताओंको यज्ञ भाग ग्रहण करनेसे वञ्चित किया था तथा सूर्य-चन्द्र आदि देवताओंको उनके अधिकारोंसे वञ्चित करके उनके पदों पर दैत्योंको नियुक्त किया था। उन बलिने अपने गुरु शुक्राचार्यके आदेशका उल्लंघन किया था। उनके गुरुका आदेश था—'तुमने इन श्रीवामनको तीन पग भूमि दूँगा कहकर जो प्रतिज्ञा की है, उसमें से कुछ अंश दो, सम्पूर्ण नहीं।' बलिने अपने गुरुके इस आदेशका पालन नहीं किया था, इसलिए उनके गुरुने उनको अभिशाप दिया था। इस विषयमें अष्टम-स्कन्धमें कहा गया है कि शिष्यके द्वारा इस प्रकार अश्रद्धापूर्वक शुक्राचार्यका आदेश पालन न करनेसे, भगवान् द्वारा प्रेरित होकर शुक्राचार्यने उस असुरश्रेष्ठ राजा बलिको अभिशाप दिया था। विशेषतः वह बलि अपने वचनकी सत्यताकी रक्षा नहीं कर पाया अर्थात् स्वयं प्रतिज्ञा करके भी श्रीभगवान्‌को तीन पगके समान भूमिदान करनेमें समर्थ नहीं हुआ। इस विषयमें बलि स्वयं कहते हैं—"हे वटुक (ब्रह्मचारी)! आपकी जो अभिलाषा हो वही माँगो, मैं वही प्रदान करूँगा। हे

विप्रबालक! मेरा ऐसा अनुमान है कि आप अर्थार्थी होकर ही आये हो।" इसके उपरान्त श्रीभगवान्‌ने तीन पगके समान भूमिकी प्रार्थना की, किन्तु बलिने कहा "अहो! विप्रनन्दन! आपके वचन तो वृद्ध–पुरुषों जैसे हैं, किन्तु व्यवहारमें आप बालक ही हैं, क्योंकि आपकी बुद्धि अनजान व्यक्तिकी भाँति है, विशेषतः स्वार्थके विषयमें आपको तनिक भी ज्ञान नहीं है।" श्रीभगवान्‌ने इसका उत्तर दिया था। तदनन्तर बलि महाराजने भगवान् श्रीवामनदेवकी बात सुनकर हँसते हुए कहा कि आप अपनी वाञ्छित भूमि ग्रहण करें।

बलिके द्वार पर द्वारपालके रूपमें श्रीभगवान्‌का विराजमान रहना क्या उसके उस तुच्छ त्रिलोकके दानका फल है? अथवा उसके अपने शरीरके दानका फल है? अथवा 'आप अपना तीसरा पग मेरे सिर पर स्थापित कीजिये' इत्यादि रूप श्रीभगवान्‌के प्रति बलिके प्रत्युत्तरमूलक तुच्छ दानका फल है? कदापि नहीं। यह केवल श्रीभगवान्‌की प्रह्लादके प्रति प्रीतिके कारण ही है—ऐसा समझना चाहिए। श्रीप्रह्लादका माहात्म्य अनिर्वचनीय है, इसलिए 'तत्' शब्द विशेषणके रूपमें प्रयोग किया गया है। इस प्रकार मर्यादा आदि तीन विशेषणों द्वारा बलिके दोषोंको निरूपण करके दिखला रहे हैं कि बलिके द्वार पर श्रीभगवान्‌का द्वारपाल होना असम्भव है। तथा 'तुच्छ' पदके द्वारा भी दिखा रहे हैं कि त्रिलोकके दान अथवा अपने शरीर दानके फलस्वरूप भगवान्‌की कृपाप्राप्ति असम्भव है, अतएव उक्त आशंकाका भी निराकरण हुआ। तात्पर्य यह है कि जब इस लोकमें ही नश्वर वस्तुओंके द्वारा किसी भी सत्य वस्तुकी प्राप्ति नहीं देखी जाती, तब उस तुच्छ त्रैलोक्यरूप नश्वर वस्तुके दान द्वारा सच्चिदानन्द घनस्वरूप उन श्रीभगवान्‌की प्राप्ति विशेषतः द्वारपालके रूपमें कैसे सम्भव है? अतएव बलिके प्रति श्रीभगवान्‌की प्रीतिका कारण केवल श्रीप्रह्लाद महाराज ही हैं। उनकी सच्चिदानन्दमय प्रेमभक्तिके द्वारा ही अर्थात् उनके सम्बन्धसे ही बलिको ऐसी कृपाकी प्राप्ति सम्भव हुई है। अथवा 'मैं प्रह्लादका ही हूँ' बलि द्वारा ऐसा स्वीकार करनेसे उनको भगवद्भक्तिकी प्राप्ति हुई थी और उसी भक्तिके बलसे ही उन्होंने श्रीभगवान्‌को प्राप्त किया था।

अत्यन्त दुष्ट बाणासुरके प्रति भी भगवान्की महान कृपा प्रह्लादके कारण ही हुई थी। अर्थात् प्रह्लादसे सम्बन्धित प्रीतिके अलावा भगवान्की कृपाका और कोई कारण नहीं दिखाई देता। श्रीभगवान्ने बाणासुरकी रक्षा की अर्थात् मृत्युके बदले उसे चतुर्भुजरूप प्रदान कर श्रीशिवका पार्षद बना दिया था—इन सबका मूल कारण श्रीप्रह्लाद ही हैं। पुनः बाणासुरके संसार नाशकी बात और क्या सुनाऊँ? उसकी दुष्टताके विषयमें श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—"आपके अतिरिक्त त्रिलोकमें मैं अपने योग्य कोई प्रतियोद्धा नहीं देखता हूँ।" जिस बाणासुरने अपने प्रभु श्रीशिवके लिए ऐसे गर्वपूर्ण वचनोंका प्रयोग किया था, अपनी कुल-परम्पराके परम इष्टदेव श्रीविष्णुकी भक्तिको भी त्याग दिया था तथा अनिरुद्धको बन्दी बनाकर उसने श्रीकृष्णसे युद्ध किया था, (यह सब वृत्तान्त पुराणोंमें द्रष्टव्य है) ऐसे महादुष्ट बाणासुरकी रक्षा क्या मेरे द्वारा की गयी श्रीकृष्णकी स्तुति द्वारा सम्पादित हुई थी? कदापि नहीं। परन्तु श्रीकृष्णके अत्यधिक प्रिय श्रीप्रह्लादकी बाणासुरके प्रति प्रीतिके कारण ही ऐसा समझना चाहिए। 'अत्यधिक भयानक वैष्णव-अपराध केवल वैष्णवोंकी कृपा द्वारा ही क्षय होता है' इस न्यायके अनुसार बलि और बाणासुरके द्वारा किया गया वैष्णव अपराध केवल उनके क्रमशः प्रह्लादके पुत्र और पौत्रके सम्बन्धके कारण क्षय हुआ था। अर्थात् भगवान्ने श्रीप्रह्लादके प्रति विशेष स्नेहके कारण उन दोनोंके सभी अपराधोंको क्षमा करके उन पर कृपा की थी॥८२-८३॥

केवलं तन्महाप्रेष्ठप्रह्लादप्रीत्यपेक्षया।
किं ब्रूयां परमत्रास्ते गौरी लक्ष्म्याः प्रिया सखी॥८४॥

श्लोकानुवाद—ऐसा केवल उनके अत्यधिक प्रिय प्रह्लादकी प्रीतिके कारण हुआ—ऐसा जानना चाहिए। और अधिक क्या कहूँ, श्रीमहालक्ष्मीकी प्रिय सखी गौरी भी इस स्थान पर उपस्थित हैं॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत् परमपि तस्य माहात्म्यं विशेषेण विस्तार्य कथ्यतां; तत्राह—किमिति। तदीयमाहात्म्यविशेषकथनेन ममापि परमानन्दाविर्भावेन धैर्यहान्यापत्त्योच्चैरुक्तेरत्रैव वर्त्तमाना पार्वति सर्वं तच्छ्रोष्यति, सा च महालक्ष्म्याः प्रियसखी। अतो महालक्ष्मीतोऽपि प्रह्लादस्य माहात्म्यमधिकं श्रुत्वा तदसहमाना क्रुद्धा

सती त्वां मामप्यवज्ञास्यति तच्चातीवायुक्तमिति भावः। यद्यपि भगवन्नित्य प्रियतमाया वैकुण्ठेश्वर्याः सदाकृततद्वक्षोनिवासाया महालक्ष्म्याः सकाशादर्वाचीन भक्तस्य प्रह्लादस्य माहात्म्याधिक्यं कथञ्चिदपि न सङ्गच्छते। तथापि ब्रह्मवरेण महादैत्यप्रवरहिरण्यकशिपु-नाक्रान्तायां त्रैलोक्यां भगवद्भक्तिविघ्नभरे जाते निजभक्तानां सर्वेषामपि परमोद्वेगमाकलय निजभक्ति-माहात्म्य-प्रदर्शनाय हिरण्यकशिपु-विदारण समये स्वयं भगवता प्राचीनार्वाचीन-भक्तवर्गेभ्यो वैकुण्ठवासिभ्यश्च नित्यपार्षदेभ्यो महालक्ष्म्या अपि सक्यशान्माहात्म्यविशेषः श्रीप्रह्लादाय नितरां दत्तः। एतद्वृत्तञ्च सप्तमस्कन्धे तदुपाख्याने व्यक्तमेव। तदनुसारेणैवात्र श्रीशिवेनोक्तम—'त्वत्ताततो मद्गरुड़ादितश्च, श्रियोऽपि कारुण्य-विशेषपात्रम्। प्रह्लाद एव प्रथितो जगत्याम्' इति। तथा 'तस्य सौभाग्यमस्माभिः सर्वैलक्ष्म्याप्यनुत्तमम्। साक्षाद्धिरण्यकशिपोरनुभूतं विदारणे॥' इति च। एवं कदाचिच्छ्रीभगवदिच्छयैव कथञ्चित्तत्सिद्धिर्नान्यथेति ज्ञेयम्। यश्च (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१५)—*'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्।'* इत्यत्र। *'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियमात्यन्तिकीं वापि'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६४) इत्यादौ चान्येषामर्वाचीनानां भक्तानां संकर्षणादि वैकुण्ठनित्यपार्षदेभ्यो महालक्ष्म्याश्चापि सकाशादधिको महिमा श्रूयते। स च नित्यपार्षदानां श्रीसंकर्षणादीनां परमविशुद्धप्रेमभक्तेर्नित्यस्वभावसिद्धत्वेन तदपेक्षया किञ्चित् परित्यागाद्य-भावादर्वाचीन भक्तानां च तदपेक्षया सकल परित्यागाद्यालोचनात्। किम्वान्य नैरपेक्ष्येण निजभक्तावेव सर्वेषां सम्यक् प्रवृत्तये श्रीभगवता भृशं ते तथा स्तुयन्त इति सर्वत्र प्रसिद्धिं प्राप्तः। यद्यप्येवमपि निखिलसाधनवर्ग साध्यतम्-परमफलरूप-साक्षाच्छ्रीभगवद्दर्शनानन्द भाग्यः श्रीब्रह्मेन्द्रादिभ्योऽपि सकाशात् भगवत्-स्मरणप्रायभक्तिपरस्य श्रीप्रह्लादस्य न किलोत्कर्षो घटते। यथा च स्वयं तेनैव वक्ष्यते। 'हनुमदादिवत्तस्य कापि सेवा कृतास्ति न। परं विघ्नाकुले चित्ते स्मरणं क्रियते मया॥' इति। तथापि तस्य हरिवर्षे नृसिंहमूर्तेर्भगवतः सदा सन्दर्शन-स्तवनादिकं पञ्चमस्कन्धादौ (श्रीमद्भा॰ ५/१८/७) प्रसिद्धमेव। बलिद्वारेऽपि द्वारपालतया वर्त्तमानस्य साक्षाद्दर्शनं सम्भवेदेवेति सर्वोत्कृष्टः तदीय माहात्म्यं सिध्यत्येव, प्रह्लादस्य च तद्वक्तव्यं परम साधुत्वेन विनयभराद् भक्तिस्वभावजाऽतृप्ति विशेषाद्वा। इत्थं पूर्वोक्ति युक्तया च श्रीभगवत्कृपा विशेषपात्रत्वात् तस्य तेभ्यो महानुत्कर्षः स्वतो घटत एवेति दिक्। अलमति विस्तरेण; प्रस्तुतं व्याख्यामः॥८४॥

भावानुवाद—प्रह्लाद यदि इतने श्रेष्ठ भक्त हैं, तो उनके माहात्म्यका विस्तृत रूपमें वर्णन करें। इसीलिए 'केवलं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यह सत्य है कि उनके माहात्म्यको विस्तृतरूपमें वर्णन करनेसे मुझे भी परमानन्दकी प्राप्ति होगी, किन्तु उसमें आनन्दविभोर होने पर मेरा धैर्य टूट जायेगा। उस समय धीरे-धीरे गुप्तरूपमें ये रहस्यपूर्ण

बातें नहीं कह पाऊँगा और उच्च स्वरसे बोलने पर यहाँ उपस्थित पार्वती भी सुन लेंगी। वे श्रीमहालक्ष्मीकी प्रियसखी हैं। अतएव श्रीमहालक्ष्मीकी तुलनामें श्रीप्रह्लादका माहात्म्य अधिक है, इस बातको सुनकर सहन न कर पानेके कारण वे तुम्हारी और मेरी अवज्ञा करेंगी, ऐसा होना अच्छा नहीं होगा। यद्यपि भगवान्‌की नित्य प्रियतमा वैकुण्ठेश्वरी श्रीमहालक्ष्मी सदैव श्रीभगवान्‌के वक्षःस्थल पर निवास करती हैं, अतएव उन श्रीमहालक्ष्मीकी तुलनामें आधुनिक भक्त प्रह्लादका माहात्म्य किसी भी तरहसे अधिक होना ठीक नहीं है, तथापि भगवान्‌की इच्छासे ही वैसा हुआ है। ब्रह्माजीके वरदानसे दैत्यराज हिरण्यकशिपु द्वारा त्रिलोक पीड़ित होने पर, भगवद्भक्तिमें विघ्न होनेके कारण अपने भक्तोंके दुःखको देखकर तथा अपनी भक्तिके माहात्म्यका प्रदर्शन करनेके लिए हिरण्यकशिपुके संहारके समय भगवान्‌ने स्वयं ही प्राचीन और अर्वाचीन भक्तों अर्थात् अपने वैकुण्ठके पार्षदों, यहाँ तक कि महालक्ष्मीसे भी प्रह्लादका अत्यधिक माहात्म्य स्थापित किया है। (विशेष वृत्तान्त सप्तम-स्कन्धमें द्रष्ट्व्य है) यथा, श्रीशिवने कहा है—"हे नारद! मैं, तुम्हारे पिता ब्रह्मा तथा गरुड़ जैसे वैकुण्ठके पार्षद, यहाँ तक कि श्रीमहालक्ष्मीसे भी, श्रीकृष्णकी विशेष करुणाके पात्रके रूपमें श्रीप्रह्लाद ही इस जगतमें प्रसिद्ध हैं। उन प्रह्लादका सौभाग्य हिरण्यकशिपुके वधके समय श्रीलक्ष्मीदेवी सहित हम सभीने साक्षात्‌रूपमें अनुभव किया है।" इस प्रकार भगवान्‌की इच्छासे उनका कुछ माहात्म्य दिखाई देता है। किन्तु और किसी भी उपाय द्वारा उनके माहात्म्यको नहीं जाना जा सकता। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—"तुम भक्त होनेसे मेरे जिस प्रकार प्रिय हो, ब्रह्मा मेरा पुत्र होने पर भी, शंकर मेरा स्वरूपभूत होने पर भी, संकर्षण भाई होने पर भी, लक्ष्मी पत्नी होने पर भी, यहाँ तक कि मुझे मेरी श्रीमूर्त्ति भी उस प्रकारसे प्रिय नहीं है।" और भी कहते हैं—"मैं ही जिनका एकमात्र आश्रय हूँ, उन साधुओंके अतिरिक्त मैं अपने स्वरूपगत आनन्द और नित्य षडैश्वर्य युक्त सम्पत्तिकी भी इच्छा नहीं करता हूँ।" इत्यादि वचनोंके माध्यमसे नित्य वैकुण्ठ पार्षद श्रीसंकर्षण आदिकी तुलनामें, यहाँ तक कि

श्रीमहालक्ष्मीसे भी अन्यान्य अर्वाचीन (आधुनिक) भक्तोंका अधिक महत्व जाना जाता है।

यदि आपत्ति हो कि नित्यसिद्ध पार्षदोंकी तुलनामें आधुनिक भक्तोंकी महिमा किस प्रकार श्रेष्ठ है? इसके उत्तरमें कहते हैं—नित्य पार्षद श्रीसंकर्षण आदिकी परम विशुद्ध प्रेमभक्ति स्वभाव सिद्ध है, अतएव उस प्रेमभक्तिको प्राप्त करनेके लिए उनको कुछ भी परित्याग नहीं करना पड़ता और उसके लिए क्लेश आदिको भी स्वीकार नहीं करना पड़ता। किन्तु आधुनिक भक्तोंने प्रेमभक्तिकी प्राप्तिके लिए सर्वस्व परित्याग कर दिया है तथा उससे उत्पन्न क्लेश आदिको भी स्वीकार किया है। इन सब विषयों पर विवेचना करनेसे यह समझा जाता है कि भगवान् वैकुण्ठके नित्य पार्षदोंकी तुलनामें अर्वाचीन (नवीन) भक्तोंके ही अधिक माहात्म्यको विज्ञापित कर रहे हैं। अथवा जो निरपेक्ष हैं अर्थात् जिन्होंने एकमात्र उनकी प्रेमभक्तिको प्राप्त करनेके लिए ही अपना सर्वस्व—अर्थ, स्वजन और जीवनकी ममता तकको परित्याग कर दिया है तथा जीवोंको केवल भगवद्भक्तिमें प्रवर्त्तित करनेके लिए ऐहिक और पारत्रिक समस्त साध्य और साधनके विषयमें कामना रहित हैं, वैसे भक्ति-प्रवर्त्तक भक्तोंकी भगवान् नित्य सिद्ध पार्षदोंसे भी अधिक प्रशंसा करते हैं, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

यद्यपि समस्त साधनोंके परम फलस्वरूप श्रीभगवान्का साक्षात् दर्शन तथा उसके द्वारा उत्पन्न आनन्दका सौभाग्य श्रीब्रह्मा-इन्द्र आदिकी तुलनामें प्रह्लादके भाग्यमें घटित नहीं हुआ। विशेषकर प्रह्लादकी स्मरणांग भक्तिसे साक्षात् भगवान्का दर्शन असम्भव ही लगता है, अतएव उनका महान उत्कर्ष संघटित नहीं हो रहा है। श्रीप्रह्लाद स्वयं कहते हैं—"श्रीहनुमान आदि भक्तोंने जिस प्रकार भगवान्की सेवा की है, मैंने वैसी कोई भी सेवा नहीं की है। मैं केवल विघ्नों द्वारा व्याकुल चित्तसे उनका स्मरण मात्र ही करता हूँ।" तथापि श्रीप्रह्लाद द्वारा हरिवर्षमें[1] श्रीनृसिंहमूर्त्तिरूप भगवान्के सदा दर्शन

---

[1] जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंमें से एक वर्षका नाम हरिवर्ष है।

और स्तव आदिके विषयमें श्रीभागवतके पञ्चम–स्कन्धमें वर्णन प्रसिद्ध है। यद्यपि श्रीप्रह्लादको बलिके द्वार पर द्वारपाल रूपमें वर्त्तमान श्रीभगवान्‌के भी साक्षात् दर्शन होते हैं, अतएव उनका सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य सिद्ध होता है, तथापि 'मुझे श्रीभगवान्‌के दर्शन प्राप्त नहीं हुए', उनका ऐसा कथन उनका स्वभाव सुलभ परम मधुर साधुत्व, दैन्य और विनययुक्त भक्तिकी स्वाभाविक अतृप्ति मात्र है। इस प्रकारकी युक्तिके अनुसार पूर्वोक्त श्रीभगवत्कृपाके सभी पात्रोंमें से श्रीप्रह्लादका महान उत्कर्ष स्वतः ही सिद्ध होता है। यही यथेष्ट है। ग्रन्थ विस्तारके भयसे यहाँ पर अधिक उल्लेख नहीं किया जा रहा है। अब प्रस्तावित विषयकी व्याख्याकी जायेगी॥८४॥

तद्‌गत्वा सुतले शीघ्रं वर्धयित्वाशिषां गणैः।
प्रह्लादं स्वयमाश्लिष्य मदाश्लेषावलिं वदेः॥८५॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे नारद! तुम शीघ्र ही सुतलको गमन करो तथा आशीर्वादके साथ स्नेह पूर्वक स्वयं प्रह्लादको आलिङ्गन करना तथा मेरा भी गाढ़ालिङ्गन जताना॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात् सुतले तृतीय–रसातले शीघ्रं गत्वेति *'वत्सः प्रह्लाद! भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम्। मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह॥ नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।'* (श्रीमद्भा॰ ८/२३/९–१०) इत्येव भगवदाज्ञया सतत सन्दर्शनलाभाय तदानीं तत्रैव श्रीप्रह्लादस्यावस्थानात्। आदौ स्वयमाश्लिष्य तदालिङ्गनमहासुखमनुभूय पश्चान्मदालिङ्गन–परम्परां वदेस्त्वम्; विधौ सप्तमी॥८५॥

भावानुवाद—अतएव तुम शीघ्र ही सुतलमें अर्थात् तृतीय रसातलमें जाकर (यहाँ पर 'अतएव' कहनेका उद्देश्य यह है कि जब स्थिर हो ही गया है कि मेरे और वैकुण्ठवासी नित्य पार्षद गरुड़ आदिकी तुलनामें प्रह्लाद श्रेष्ठ हैं अर्थात् श्रीकृष्णके कृपापात्र हैं, तो वैकुण्ठ जानेकी आवश्यकता नहीं है) प्रह्लादका अभिनन्दन करो, क्योंकि भगवान्‌ने श्रीप्रह्लादसे कहा है—"हे पुत्र! प्रह्लाद! तुम्हारा मंगल हो, तुम सुतलमें गमन करो और अपने पुत्र, पौत्र सहित आनन्दपूर्वक रहकर अपने स्वजनोंको सुखी करो। उस सुतलमें तुम देखोगे कि मैं अपने

हाथोंमें गदा लेकर विराजमान हूँ।" इस प्रकार भगवान्‌की आज्ञा पालन तथा भगवान्‌के दर्शन प्राप्त करनेके लिए श्रीप्रह्लाद वहीं पर निवास कर रहे हैं। सर्वप्रथम तुम उनको आशीर्वाद देकर स्वयं आलिङ्गन करके अत्यधिक सुख अनुभव करना तथा तत्पश्चात् उनको मेरा आलिङ्गन जताना॥८५॥

अहो न सहतेऽस्माकं प्रणामं सज्जनाग्रणीः।
स्तुतिञ्च मा प्रमादी स्यास्तत्र चेत् सुखमिच्छसि॥८६॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपासार निर्द्धारखण्डे प्रपञ्चातीतो नाम तृतीयोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—अहो! सज्जनोंमें श्रेष्ठ वे प्रह्लाद हमारे द्वारा की गयी स्तुति और प्रणाम आदि कुछ भी सहन नहीं करते हैं। अतएव तुम यदि आनन्द प्राप्त करना चाहते हो तो उस स्थान पर जाकर प्रमाद-वशतः भी उनको प्रणाम और स्तुति आदि मत करना॥८६॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके तृतीय अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—ननु एतादृशे परमभागवतोत्तमे प्रणतिरेव युक्ता? तत्राह—अहो इति खेदे; स्तुतिमपि न सहते। तत्र त्वं प्रमादी अनवहितो मा भव; अनवधानेन प्रणामादिकं न कुर्या इत्यर्थः। ननु तादृशस्य प्रणाम-स्तवनादि-विधानेनैव मम सन्तोषः स्यात्तत्राह—चेदिति। तव तद्व्यवहारेण तस्य महात्मनो मनोदुःखे सति पश्चात्तदीय सन्दर्शन-सम्भाषणादि सुखं न प्राप्स्यसीत्यर्थः॥८६॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे तृतीयोऽध्यायः।

भावानुवाद—यदि कहो कि ऐसे महाभागवतको तो प्रणाम करना ही युक्तियुक्त है? इसलिए 'अहो' इत्यादि कह रहे हैं। अहो (खेद पूर्वक)! प्रह्लाद हमारे द्वारा की गयी स्तुतिको भी सहन नहीं कर पाते। अतएव 'उस स्थान पर जाकर प्रमादवशतः उन्हें प्रणाम आदि मत करना' अर्थात् असावधानीवश प्रणाम और स्तव आदि द्वारा ऐसे महाभागवतको सन्तुष्ट नहीं किया जा

सकता है। अतएव यदि तुम सुख प्राप्तिके अभिलाषी हो, तो उसको कभी भी प्रणाम मत करना, क्योंकि तुम्हारे ऐसे व्यवहारसे उस महात्माके मनमें दुःख होगा और फिर उनके दर्शन और सन्तोष आदिका सुख प्राप्त नहीं होगा॥८६॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके तृतीय अध्यायकी दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः (भक्त)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

श्रुत्वा महाश्चर्यमिवेशभाषितं प्रह्लाद—सन्दर्शनजातकौतुकः।
हृद्यानतः श्रीसुतले गतोऽचिराद्धावन् प्रविष्टः पुरमासुरं मुनिः॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—श्रीनारद मुनि महादेवकी इस बातको सुनकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए और श्रीप्रह्लादके दर्शनके लिए अति उत्सुकतापूर्वक मनरूपी वाहन पर चढ़कर असुरोंकी पुरी सुतलमें प्रवेश किये॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

चतुर्थे स्वस्य माहात्म्यमाक्षिप्योक्तं हनुमतः।
प्रह्लादेन यथा तद्वत् पाण्डवानां हनुमता॥

हृदयानतो मनोयानेनाचिराद्गतः; सुतले यामीति यदा मनस्य-करोत्तदानीमेव तत् प्राप्तः सन्नित्यर्थः॥१॥

टीकाका भावानुवाद—इस चतुर्थ अध्यायमें जिस प्रकार श्रीप्रह्लाद द्वारा आक्षेपपूर्वक (संकेतपूर्वक) श्रीहनुमानके माहात्म्यका वर्णन किया गया है, उसी प्रकार श्रीहनुमान द्वारा भी पाण्डवोंके माहात्म्यका गुणगान हुआ है।

हृद्यान अर्थात् मनरूपी वाहन, अर्थात् 'मैं सुतलमें जाऊँगा' मनमें इस प्रकारकी चिन्ता करते ही श्रीनारद सुतलमें पहुँच गये॥१॥

तावद्विविक्ते भगवत्—पदाम्बुज—प्रेमोल्लसद्ध्यानविषक्तचेतसा।
श्रीवैष्णवाग्र्येण समीक्ष्य दूरतः प्रोत्थाय विप्रः प्रणतोऽन्तिकं गतः॥२॥

श्लोकानुवाद—वैष्णव अग्रगण्य श्रीप्रह्लाद महाराज उस समय एक निर्जन स्थान पर बैठकर उल्लसित हृदयसे भगवान्के श्रीचरणकमलोंके

ध्यानमें निमग्न थे। उन्होंने उसी ध्यान अवस्थामें दूरसे ही मुनिवर श्रीनारदके साक्षात् दर्शनोंके समान ही दर्शन किये और उनके स्वागतके लिए प्रस्तुत होते-होते ही मुनिवर तेजीसे उनके निकट पहुँच गये। तब श्रीप्रह्लाद महाराजने अपने आसनसे उठकर उन्हें प्रणाम किया॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीवैष्णवानामग्र्येण श्रीप्रह्लादेन ध्यान एव दूरतः समीक्ष्य साक्षादिव विज्ञाय; यावद्ध्यानाद् व्युत्थायाग्रेऽभिगम्य गृह्यते, तावदेव वेगभरेण प्रह्लादस्यान्तिकमेव गतः सन् विप्रः श्रीनारदः प्रह्लादेनासनात् प्रोत्थाय प्रणतो नमस्कृत इत्यर्थः। कथं स्थितेन? विविक्ते रहसि यद् भगवतः पदाम्बुजयोः प्रेम्णा उल्लसच्छोभमानं ध्यानं तस्मिन् विषक्तं संलग्नं चेतो यस्य; एतच्च दूरतः समीक्षणे सद्यो व्युत्थनाशक्तौ च कारणमुह्यम॥२॥

भावानुवाद—यद्यपि वैष्णव अग्रगण्य श्रीप्रह्लाद महाराज उस समय ध्यानमें निमग्न थे, तथापि उन्होंने दूरसे ही मुनिवर श्रीनारदके साक्षात् दर्शनोंके समान ही (ध्यान नेत्रों द्वारा) दर्शन किये और जब वे आसनसे उठकर उनके स्वागतके लिए प्रस्तुत होने लगे, तब मुनिवर वेगपूर्वक उनके समीप आ पहुँचे। श्रीप्रह्लाद महाराजने आसनसे उठकर उनको प्रणाम किया। वे कहाँ पर और किस अवस्थामें थे? वे उस समय एक निर्जन स्थान पर थे तथा उनका चित्त भगवान्‌के श्रीचरणकमल-सम्बन्धी प्रेमयुक्त ध्यानमें संलग्न था। इसलिए दूरसे श्रीनारदके दर्शन करके भी वे सहसा उठनेमें समर्थ नहीं हो सके थे॥२॥

पीठे प्रयत्नादुपवेशितोऽयं पूजां पुरावद्विधिनार्प्यमाणाम्।
संभ्रान्तचेताः परिहृत्य वर्षन् हर्षाश्रुमाश्लेषपरोऽवदत्तम्॥३॥

श्लोकानुवाद—श्रीप्रह्लाद महाराजने आदरपूर्वक मुनिवरको आसन पर बैठाया तथा पहलेकी भाँति वे जिस विधानसे गौरवपूर्वक उनकी पूजा करते थे, उसी विधानसे विविध प्रकारके उपचारोंके द्वारा उनकी पूजा करनेके लिए प्रस्तुत हुए, किन्तु मुनिवर श्रीनारदने उसे अस्वीकार कर अत्यन्त सम्भ्रान्त चित्तसे केवल श्रीप्रह्लादका आलिङ्गन किया और प्रेमाश्रु वर्षण करते हुए कहने लगे॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अयं विप्रः पीठे दत्तेऽपि स्वयं नोपविष्टः, किन्तु यत्नात् परमाग्रहेण प्रह्लादेनैवोपवेशित इत्यर्थः। विधिना यथाविधि पूर्ववत्; अर्प्यमाणां क्रियमाणामित्यर्थः। यद्वा, पूजामिति पाद्यार्घ्यादिपूजासामग्रीमित्यर्थः। परिहृत्य अस्वीकृत्य; सम्भ्रान्तचेतस्त्वेन केवलं श्रीप्रह्लादालिङ्गन तत्परः सन्, अतोहर्षाश्रुवर्षन्। तं श्रीवैष्णवाग्र्यमवदत्॥३॥

भावानुवाद—मुनिवर श्रीनारद प्रह्लाद द्वारा प्रदत्त आसन पर स्वयं नहीं बैठे, बल्कि श्रीप्रह्लादने परम आग्रह पूर्वक उनको उस आसन पर बैठाया। यथाविधि अर्थात् पूर्ववत् श्रीप्रह्लाद द्वारा प्रस्तुत की गयी पाद्य-अर्घ्यादि पूजा-सामग्रीको श्रीनारदने ग्रहण नहीं किया, केवल अत्यधिक प्रेमविह्वल चित्तसे श्रीप्रह्लादको आलिङ्गनकर आनन्दाश्रु वर्षण करते-करते वे उन वैष्णव चूड़ामणि (श्रीप्रह्लाद) से कहने लगे॥३॥

श्रीनारद उवाच—

दृष्टाश्चिरात् कृष्णकृपाभरस्य पात्रं भवान्मे सफलः श्रमोऽभूत्।
आबाल्यतो यस्य हि कृष्णभक्तिर्जाता विशुद्धा न कुतोऽपि यासीत्॥४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे पुत्र! केवल तुम्हीं श्रीकृष्णकी कृपाके पात्र हो। मैंने बहुत समयके बाद तुम्हारा दर्शन किया है। आज मेरा परिश्रम सफल हुआ। बाल्यकालसे ही तुममें विशुद्ध कृष्णभक्तिका उदय हुआ है। ऐसी भक्ति पहले किसीमें भी नहीं देखी गयी है॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो मे श्रमः अध्ययनादिप्रयासः; यद्वा प्रयागाद्दक्षिणदेशादावार-ब्धभ्रमणायासः सफलोऽभूत। कृष्णाकृपाभर पात्रता लक्षणानि विवृणोति—आबाल्यादिति सप्तभिः। बालमारभ्य; यस्य भवतः या भक्तिः पूर्वं कुत्रापि नासीत्॥४॥

भावानुवाद—आज मेरा परिश्रम सफल हुआ अर्थात् वेद आदिके अध्ययनका प्रयास सफल हुआ। अथवा प्रयागसे लेकर दक्षिण देश तक मैंने जो भ्रमण किया है, वह भी आज सफल हो गया। अब यहाँ श्रीकृष्णकृपाकी पात्रताके लक्षणका निरूपण किया जा रहा है। इसे 'आबाल्यतो' इत्यादि सात श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। पुत्र प्रह्लाद! बचपनसे ही तुममें विशुद्ध श्रीकृष्णभक्तिका आविर्भाव हुआ है, ऐसी श्रीकृष्णभक्ति पहले कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई है॥४॥

यया स्वपित्रा विहिताः सहस्रमुपद्रवा दारुणविघ्नरूपाः।
जितास्त्वया यस्य तवानुभावात् सर्वेऽभवन् भागवता हि दैत्याः ॥५॥

श्लोकानुवाद—हे प्रह्लाद! तुम्हारे पिताने जिस भक्तिके लिए तुम्हारे प्रति भयंकर विघ्नरूप हजारों उपद्रव किये थे, तुमने उसी भक्तिके प्रभावसे उन उपद्रवों पर विजय प्राप्त की है अर्थात् उनके द्वारा तुम्हारी किसी प्रकारकी कोई क्षति नहीं हुई है; बल्कि तुम्हारे प्रभावसे वे सब उपद्रवकारी दैत्य भी परम भागवत हो गये हैं॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—यया भक्त्या, स्वस्य भवतः पित्रा हिरण्यकशिपुना, सहस्रमपरिमिता उपद्रवाः; ते चोक्ताः सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा०७/५/४२-४४)—'*प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः। चकार तद्वधोपायान् निर्बन्धेन युधिष्ठिर॥ दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः। मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः॥ हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।*' इति। कथम्भूता? दारूणाः महाभीषणत्वाद्दुस्तरत्वाच्चान्येषु कठिना ये भक्तिविघ्नास्तत्स्वरूपाः; जिताः किञ्चिदपि ते कर्त्तुं नाशक्नुवन्नित्यर्थः। अनुभावात् प्रभावात्; भागवताः भगवद्भक्ताः; हि निश्चये। तत्र बालका उपदेश प्राप्त्या परे च दर्शन-स्पर्शनादिना; तथा च नारदीये हरिभक्तिसुधोदये धरणीवाक्ये—'*अहो कृतार्थः सुतरां नृलोके, यस्मिन् स्थितो भागवतोत्तमोऽसि। स्पृश्यन्ति पश्यन्ति च ये भवन्तं, भावांश्च यांस्ते हरिलोकभाजः॥*' इति॥५॥

भावानुवाद—तुम्हारे द्वारा की जानेवाली भक्तिके कारण तुम्हारे पिता हिरण्यकशिपुने तुम्हारे प्रति असीम उपद्रव किये थे। यथा, श्रीमद्भागवत सप्तम-स्कन्धमें कहा गया है—"दैत्योंके अनेक प्रकारके प्रयास विफल होने पर हिरण्यकशिपुके मनमें शंका हई, इसलिए वह बड़े हठके साथ प्रह्लादके वधका उपाय सोचने लगा। उन उपायोंमें बड़े-बड़े मदमत्त हाथी द्वारा कुचलना, विषधर सर्प द्वारा डसना, तंत्र-मंत्रसे उत्पन्न राक्षसी द्वारा कष्ट देना, मायिक गड्ढेमें बन्द रखना, विष देना, भोजन न देना, हिम, जल, वायु, अग्निमें और पर्वतसे फेंकना इत्यादि अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।" वे विघ्न किस प्रकारके थे? उन विघ्नोंके महाभयंकर, दूसरोंके लिए असह्य और भीषण होने पर भी तुमने उन सभी भक्ति विरोधी विघ्नों पर विजय प्राप्त की, अर्थात् हरिभक्तिके प्रभावसे वे विघ्न तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं पाये। अधिक क्या कहूँ, तुम्हारा उपदेश प्राप्त करके, फिर दर्शन और स्पर्शनादिके द्वारा प्रायः सभी दैत्य ही परमभागवत हो गये। इसका

वर्णन नारदीयपुराण और हरिभक्तिसुधोदय ग्रन्थमें आता है। यथा, धरणीदेवीने कहा है—"हे वत्स! आज यह मनुष्य लोक कृतार्थ हो गया, क्योंकि तुम्हारे जैसा भागवत-श्रेष्ठ इस मनुष्य लोकमें निवास कर रहा है और तुम्हारे दर्शन-स्पर्शन आदिके द्वारा सभी लोग हरिके लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी हुए हैं" ॥५॥

कृष्णाविष्टो योऽस्मृतात्मेव मत्तो नृत्यन् गायन् कम्पमानो रुदंश्च।
लोकान् सर्वानुद्धरन् संस्मृतिभ्यो विष्णोर्भक्तिं हर्षयामास तन्वन् ॥६॥

श्लोकानुवाद—तुमने श्रीकृष्णमें आविष्ट होकर आत्म-विस्मृति वशतः उन्मत्तकी भाँति कभी नृत्य, कभी गान, कभी क्रन्दन और कभी कम्पायमान होकर संसारदुःखसे सभीका उद्धार किया है तथा विष्णुभक्ति देकर परमानन्दित किया है ॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—मद्यादिना मत्त इव उन्मत्तवदिति वा; संसृतिभ्यः न्यायशास्त्रोक्त जन्ममरणाद्येकविंशति प्रकार संसारदुःखेभ्यः लोकानुद्धरन्, तथा च तत्रैव—*'श्रुत्वेत्यद्भुत वैराग्याज्जनास्तस्योज्ज्वला गिरः। अश्रुणि मुमुचुः केचिद् वीक्ष्य केऽप्यनमंश्च तम्। लीलयान्ये परे हास्याद्भक्त्या केचन विस्मयात्॥ जनास्तं संघशोऽपश्यन् सर्वथापि हतैनसः॥'* इति। अत्र हतानि एनांसि संसारदुःखानि येषामित्यर्थः। न च केवलं संसृत्युद्धरणेन लोकानां दुःखमेव नाशितं, किञ्च तर्हि भक्तिविस्तारेण परमसुखञ्च कृतमित्याह—विष्णोर्भक्तिं तन्वन् सर्वत्र विस्तारयन् लोकान् हर्षयामासेति ॥६॥

भावानुवाद—तुमने श्रीकृष्णभक्तिमें आविष्ट होकर मद्यपानसे उन्मत्तकी भाँति कभी नृत्यकर, कभी गानकर, कभी कम्पायमान होकर, कभी क्रन्दन करके सभीका संसृतिसे उद्धार किया है। यहाँ पर 'संसृति' कहनेसे न्याय-शास्त्रोक्त जन्म, मरण, शोक आदि इक्कीस प्रकारके दुःखोंको समझना चाहिए। श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें कहा गया है—"श्रीप्रह्लादके वैराग्यपूर्ण वचनोंको सुनकर, कोई उनके अश्रुवर्षणका दर्शन करके, कोई उनकी अद्भुत लीलाचेष्टाओंको देखकर उनको प्रणाम कर, कोई उनके हास्यका दर्शन कर आश्चर्यचकित हुए। इस प्रकार जीवोंके सभी प्रकारके संसार दुःखोंका नाश हुआ था।" श्रीप्रह्लादने उनके केवल सांसारिक दुःखोंका ही नाश किया हो, ऐसा नहीं, अपितु सर्वत्र भक्तिका प्रचार-प्रसार कर जीवोंको परम सुखी भी किया है ॥६॥

कृष्णेनाविर्भूय तीरे महाब्धेः स्वाङ्के कृत्वा लालितो मातृवद् यः।
ब्रह्मेशादीन कुर्वतोऽपि स्तवौघं पद्माञ्चानादृत्य सम्मानितो यः॥७॥

श्लोकानुवाद—(जब तुम्हारे पिताने तुम्हें समुद्रमें फैंका था तब) श्रीकृष्णने स्वयं महासागरके तट पर आविर्भूत होकर तुम्हें अपनी गोदमें बैठाकर माताके समान तुम्हारा लालन-पालन किया था। श्रीब्रह्मा और श्रीमहेश जैसे देवताओं द्वारा की गयी स्तव-स्तुति आदिका अनादर करके श्रीकृष्णने स्पर्श आदि द्वारा तुम्हें ही सम्मानित किया था॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—लालितः चुम्बनालिङ्गनादिना; तदुक्तं तत्रैव—*'ततः क्षितावेव निविश्य नाथः, कृत्वा तमङ्के स्वजनैक बन्धुः। शनैर्विधुन्वन् करपल्लवेन, स्पृशन्मुहुर्मातृवदालिलिङ्ग॥'* इति। अनादृत्य कृपाकटाक्षादिनापि नापेक्ष्य; सम्यक् ब्रह्मादिभ्यो गरुड़ादिभ्यो लक्ष्मीतश्चाधिक्येन मानितः, कृपावलोकनोत्थापनस्पर्शनादिना सत्कृतः॥७॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीनरहरिने चुम्बन और आलिङ्गन आदि द्वारा तुम्हारा लालन किया था। यथा, श्रीहरिभक्तिसुधोदय ग्रन्थमें कथित है—"उसके उपरान्त अपने भक्तोंके प्रिय बन्धु श्रीनरहरिने तुम्हें अपनी गोदमें बैठाकर माताके समान तुम्हारा चुम्बन और आलिङ्गन आदि किया था अर्थात् अपने श्रीकरकमलोंके द्वारा तुम्हारे अंगोंको बारम्बार स्पर्श किया था और चाटा था।" किन्तु भगवान्ने श्रीब्रह्मा, श्रीमहेश आदि देवताओं और गरुड़ आदि भक्तोंको, यहाँ तक कि प्राणोंसे भी प्रिय श्रीलक्ष्मीका भी आदर नहीं किया। परन्तु तुम्हारे प्रति कृपादृष्टि द्वारा, तुम्हें अपनी गोदमें बैठाकर तथा स्पर्श आदि द्वारा केवल तुम्हारा ही सत्कार किया था॥७॥

वित्रस्तेन ब्रह्मणा प्रार्थितो यः श्रीमत्पादाम्भोजमूले निपत्य।
तिष्ठन्नुत्थाप्योत्तमाङ्गे कराब्जं धृत्वाङ्गेषु श्रीनृसिंहेन लीढ़॥८॥

श्लोकानुवाद—अत्यधिक भयभीत श्रीब्रह्मा द्वारा प्रार्थना किये जाने पर तुम अपने प्रभुके श्रीचरणकमलोंमें पतित हुए, तब श्रीनृसिंहदेवने स्वयं तुम्हें उठाकर तुम्हारे मस्तक पर अपने करकमल रख दिये और तुम्हारे सभी अङ्गोंको चाटने लगे॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव सप्रसङ्गं विवृणोति—वित्रस्तेनेति। स्वभक्तद्रोहजनित महाक्रोधेन समग्र ब्रह्माण्डस्यैव संहारतः परमभीतेन ब्रह्मणो प्रार्थितो भगवत्-कोपोपसंहरणादि प्रसादं याचितः सन्। तथा च प्रह्लादं प्रति ब्रह्मणो वाक्यं सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/९/३)—*'तात! प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्।'* इति। श्रीमतोः पादाम्भोजयोर्मूले आश्रये नितरां दण्डवत् पतित्वा तिष्ठन् वर्त्तमानः धृत्वा विन्यस्य, सर्वावयवेषु लीढः। तथा च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/९/५)—*'स्वपादमूले पतितं तमर्भकं विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः। उत्थाप्य तच्छ्रीष्ण्र्यदधात् कराम्बुजं कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्॥'* इति। बृहन्नरसिंहपुराणे च—*'लिलिहे तस्य गात्राणि स्वपोतस्येव केशरी'* इत्यादि॥८॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् द्वारा श्रीप्रह्लादके प्रति किये गये सम्मानको यहाँ प्रसंगवशतः 'वित्रस्तेन' इत्यादि श्लोकमें कहा जा रहा है। अपने भक्तके प्रति द्रोहाचरण करनेके कारण महाक्रोधसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका संहार करनेके लिए प्रस्तुत श्रीनृसिंहदेवका दर्शन कर श्रीब्रह्मा अत्यधिक भयभीत हो गये तथा श्रीनृसिंहके क्रोधको शान्त करनेके लिए श्रीप्रह्लादसे प्रार्थना करने लगे। यथा, सप्तम-स्कन्धमें श्रीब्रह्माके श्रीप्रह्लादके प्रति वचन हैं—"हे तात! प्रभु श्रीनृसिंहदेव तुम्हारे पिता पर क्रोधित हैं, अतएव तुम प्रभुके निकट जाकर उनके क्रोधको शान्त करो।" तब तुम धीरे-धीरे अपने प्रभुके निकट गये थे। तुम्हारे दण्डवत् प्रणाम करने पर श्रीनृसिंहदेवने स्वयं तुम्हें उठाकर तुम्हारे मस्तक पर अपने श्रीकरकमल रख दिये और तुम्हारे सभी अंगोंको चाटने लगे। और भी कहा गया है—"बालक श्रीप्रह्लादको अपने चरणकमलोंमें गिरा हुआ देखते ही भगवान् श्रीनृसिंहदेव कृपा-परवश हुए और जो करकमल कालरूप सर्पके भयसे भीत सभी व्यक्तियोंको अभय प्रदान करते हैं, वही करकमल उन्होंने प्रह्लादके मस्तक पर स्थापित कर दिये।" श्रीबृहन्नरसिंहपुराणमें भी कहा गया है—"सिंह जिस प्रकार अपने शावक (शिशु)के अंगोंको चाटता है, उसी प्रकार श्रीनृसिंहदेव भी प्रह्लादके अंगोंको चाटने लगे"॥८॥

यश्चित्रचित्राग्रहचातुरीचयैरुत्-सृज्यमानं हरिणा परं पदम्।
ब्रह्मादिसंप्रार्थ्यमुपेक्ष्य केवलं वव्रेऽस्य भक्तिं निज-जन्मजन्मसु॥९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनृसिंहदेव भगवान् द्वारा अनेक प्रकारकी चातुरी सहित तुम्हें श्रीब्रह्मा आदि देवताओंके भी प्रार्थनीय परम पदको दान करनेका अभिप्राय प्रकाश करने पर भी तुमने उसको अस्वीकार कर दिया और अपने जन्म-जन्मान्तरोंमें केवल श्रीहरिके चरणकमलोंमें अहैतुकी-भक्तिके वरकी ही प्रार्थना की थी॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—चित्रचित्राणां परमाद्भुतानां अत्यन्तबहुल प्रकाराणां वा वरदानाग्रहे चातुरीणां चयैरुत्सृज्यमानं दीयमानं परं पदं मोक्षं वैकुण्ठलोकं वा। तथा च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/९/५२)—*'प्रह्लाद! भद्र! भद्रंते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम। वरं वृणीष्वाभिमतं कामपुरोऽस्म्यहं नृणाम्॥'* इत्यादि। नृणाम जीवानाम्; श्रीविष्णुपुराणे च—*'कुर्वतस्ते प्रसन्नोऽहं भक्तिमव्यभिचारिणीम्। यथाभिलषितो मत्तः प्रह्लाद! व्रियतां वरः।'* इत्यादि। तथा तत्रैव प्रह्लादस्य भक्तिप्रीतिवरदानानन्तरम्—*'मयि भक्तिस्तवास्त्येव भुयोऽप्येवं भविष्यति। वरश्च मत्तः प्रह्लाद! व्रियतां यस्तवेप्सितः॥'* इति। श्रीहरिभक्तिसुधोदयेपि—*'सभयं सम्भ्रमं वत्स! मदगौरवकृतं त्यज। नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव।'* एष सम्भ्रमः। *'अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्। निःशंकः प्रणयाद्भक्तो यन्मां पश्यति भाषते॥ सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेन स्नेहरज्जुभिः। अजितोऽपि जितोऽहं तैरवश्योऽपि वशीकृतः॥ त्यक्तबन्धुधनस्नेह मयि यः कुरुते रतिम्। एकस्तस्यास्मि स च मे न ह्यन्योऽस्तावयोः सुहृत्॥ नित्यञ्च पूर्णकामस्य जन्मानि विविधानि मे। भक्तसर्वेष्टदानाय तस्मात् किं ते प्रियं वद॥'* इति। तथा तत्रैव प्रह्लादोत्तरानन्तरम्—*'सत्यं मद्दर्शनादन्यद् वत्सः! नैवास्ति ते प्रियम्। अतएव हि सम्प्रीतिस्त्वयि मेऽतीव वर्द्धते। अपि ते कृतकृत्यस्य मत्प्रियं कृत्यमस्ति हि। किञ्चिच्च दातुमिष्टं मे मत्प्रियार्थं वृणुष्व तत्॥'* इति। अस्य हरेर्भक्तिम्, निज-जन्मजन्मस्विति बहुलजन्मस्वीकारेण मुक्त्यपेक्षातीव दर्शिता॥९॥

भावानुवाद—पुनः जब श्रीहरि द्वारा अत्यधिक चतुरतापूर्वक तुम्हें बहुत प्रकारके वरदान ग्रहण करनेके लिए आग्रह प्रकाश करने पर भी अथवा वरदान देनेके आग्रहमें चतुराई द्वारा तुम्हें मोक्ष या परमपद वैकुण्ठलोक प्रदान करनेके लिए उद्यत होने पर भी तुमने उसको अस्वीकार कर दिया। यथा श्रीमद्भागवतमें कथित है—"हे सौम्य! हे प्रह्लाद! हे असुरोंमें उत्तम! तुम्हारा मंगल हो। मैं तुम पर अति प्रसन्न हूँ। मैं ही जीवमात्रकी कामना पूर्ण करता हूँ।" श्रीविष्णुपुराणमें भी इसी प्रकार कहा गया है—"हे प्रह्लाद! तुमने मेरे प्रति एकान्तिक भक्तिका अनुष्ठान किया है। अतएव मैं तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रसन्न

हूँ। तुम मुझसे अपने अभिलषित वरकी प्रार्थना करो।" इस प्रकार श्रीप्रह्लादको प्रेमभक्तिका दान करनेके उपरान्त श्रीभगवान् कहने लगे—"तुम्हारी मुझमें विशुद्ध भक्ति है तथा भविष्यमें भी रहेगी। अब तुम मुझसे अपना वाञ्छित वर ग्रहण करो।" श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें भी कहा गया है—"हे वत्स! मेरे प्रति गौरव प्रकाश करनेसे तुममें जो भय और सम्भ्रम उपस्थित हुआ है, उसका त्याग करो। भक्तोंका ऐसा गौरवपूर्ण व्यवहार मुझे प्रिय नहीं है। तुम स्वच्छन्दतापूर्वक मेरे प्रति प्रणय (प्रीति) प्रकाश करो। भय रहित प्रीति द्वारा भक्त मेरा दर्शन करते हैं और मुझसे वार्त्तालाप करते हैं। आप्तकाम होने पर भी अपने भक्तोंकी वैसी प्रीति मुझे नित्य नवीन लगती है। नित्यमुक्त होने पर भी मैं अपने भक्तोंकी स्नेहरूपी रज्जु (रस्सी) द्वारा आबद्ध हूँ। अजित होने पर भी मैं भक्तोंसे पराजित हो जाता हूँ। मैं दूसरोंके द्वारा वशीभूत नहीं होने पर भी भक्तोंके द्वारा वशीभूत हो जाता हूँ। जो व्यक्ति अपने आत्मीय स्वजन, बन्धु, बान्धव इत्यादिका स्नेह परित्याग करके केवल मुझसे प्रीति करता है, एकमात्र मैं ही उसका हूँ और वह ही मेरा है, हम दोनोंका और कोई भी बन्धु नहीं है। मैं नित्य और पूर्णकाम होने पर भी अपनी अनेक प्रकारकी लीलाओं अर्थात् जन्म-कर्म आदि सब कुछ भक्तोंके सुखके लिए और उनके वाञ्छित फल-दानके लिए ही करता हूँ, ऐसा समझना चाहिए। अतएव हे वत्स! तुम्हें जो कुछ भी प्रिय है, वही माँगो।" इत्यादि वचनोंको सुनकर श्रीप्रह्लाद द्वारा उत्तर दिये जाने पर पुनः भगवान् श्रीनृसिंहदेव बोले—"हे पुत्र! तुमने सत्य कहा है, मेरे दर्शनके अलावा तुम्हें और कुछ भी प्रिय नहीं है। इसलिए मैं तुम्हारे प्रति अत्यधिक प्रसन्न हुआ हूँ और मेरे प्रति तुम्हारी यह प्रीति उत्तरोत्तर वर्धित होगी। हे पुत्र! यद्यपि इस समय तुम कृत-कृतार्थ हो, तथापि मेरा और भी कुछ प्रिय कृत्य है अर्थात् मैं तुम्हें वरदान प्रदान करनेका इच्छुक हूँ, मेरी प्रीतिके लिए तुम उस वरको ग्रहण करो।" इस प्रकार तुमने श्रीनृसिंहदेव द्वारा दिये गये परमपदको भी अस्वीकार किया है तथा जन्म-जन्मान्तरमें केवल श्रीहरिके प्रति भक्तिरूप वरकी ही प्रार्थना की है; किन्तु भक्तिकी बाधक-स्वरूप जन्म-मृत्यके चक्रको समाप्त

करनेवाली मुक्तिकी उपेक्षा की है। अर्थात् तुमने अनेक जन्मोंको स्वीकार करके भी मुक्तिकी तुलनामें भक्तिको ही स्वीकार किया है॥९॥

यः स्वप्रभुप्रीतिमपेक्ष्य पैतृकं राज्यं स्वयं श्रीनरसिंहसंस्तुतौ।
सम्प्रार्थिताशेषजनोद्धृतीच्छया स्वीकृत्य तद्ध्यानपरोऽत्र वर्त्तते॥१०॥

श्लोकानुवाद—हे परमभागवत! तुमने मुक्तिका त्याग किया है, किन्तु राज्यको स्वीकार किया है। वह भी केवल अपने प्रभुकी प्रसन्नताके लिए, क्योंकि श्रीनृसिंहदेवका स्तव करते समय तुमने समस्त लोकोंके उद्धारकी कामना की थी, इसलिए पितासे प्राप्त राज्यको स्वीकार करके भी तुम प्रभुके ध्यान-परायण होकर ही वास कर रहे हो॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि महाराज्यैश्वर्यादिकमघटत तत्राह—य इति। स्वीयप्रभोः श्रीनृसिंहदेवस्य प्रीतिमपेक्ष्य पर्यालोच्यैव यो भवान् पैतृकं राज्यं स्वीकृत्यात्र वर्त्तते। ननु राज्य स्वीकारेण भगवतः प्रीतिर्नाम कथं स्यात्? तत्राह—स्वयमिति श्रीप्रह्लादेनैव या श्रीनृसिंहस्य भगवतः संस्तुतिस्तस्यां विषये या सम्प्रार्थिता अशेषजनानामुद्धृतिरुद्धारस्तस्यामिच्छया प्रह्लादस्य राज्याधिकारे सति परमैश्वर्यैण सर्वत्र भक्तिप्रवर्त्तनादेव सुखं सर्वजीवानामुद्धारः स्यात्, तदर्थञ्च तेनैव स्वयं प्रार्थनं कृतम्। अतस्तच्चिकीर्षया तत्र भगवतः प्रीतिरुत्पन्नेत्यर्थः। यद्वा, ननु पूर्वं महाप्रभोस्तादृशाग्रहेणापि तत्प्रीतये परं पदमपि न स्वीकृतं, अधुना राज्यं तत् कथं स्वीचक्रे? तत्राह—स्वयमेव तेन संप्रार्थितायामशेषजनानामुद्धृताविच्छया तस्यैव तत्सम्पादनेच्छयेति लोकदुखःकार्येणेत्यर्थः। न च राज्यप्रसङ्गेनः कापि स्वार्थहानिरित्याह—तस्य स्वप्रभोर्ध्यानपरः सन्नेवेति। तथा च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/९/४१) तस्य प्रार्थनं—*'एवं स्वकर्म पतितं भव-वैतरिण्यामन्योन्य-जन्ममरणाशन-भीतभीतम्। पश्यन् जनं स्वपर विग्रहवैरमैत्रं, हन्तेति पारचर पीपृहि मूढ़मद्य॥'* इति। अस्यार्थः—'भवः संसार एव वैतरणी यमद्वारनदी, परम यातनामयत्वात् तस्यां। अन्योन्यतो यानि जन्मादीनि तेभ्योऽतिभीतम्। स्वेषां परेषाञ्च विग्रहे यथायथं वैरं मैत्रञ्च यस्य एवं भूतं मूढ़ं जनं पश्यन्; हे पारचर! तस्याः पारे स्थित, नित्यमुक्त! हन्तेत्यहो कष्टमित्येवमनुकम्प्य अद्य पीपृहि वैतरिणीमुत्तार्य पालयेति।' तथा तत्रैव (श्रीमद्भा॰ ७/९/४२)—*'कोऽन्वत्र तेऽखिलगुरो! भगवन्! प्रयास उत्तारणेऽस्य भवसम्भव लोपहेतोः। मूढ़ेषु वै महदनुग्रह आर्त्तबन्धो, किं तेन ते प्रिय जनाननुसेवतां नः॥'* इति। अस्यार्थः—हे अखिलगुरो! एवं सम्बोधनेन सर्वेष्वपि तव कृपा युक्तेति भावः। अत्र सर्वजनोत्तारणे को नु ते प्रयासः? अपि तु न कोऽपि। कुतः? अस्य विश्वस्य भव सम्भव लोपानामुत्पत्ति-स्थिति-संहाराणां

हेतोः ततोऽपि किमेतत् दुष्करमिति भावः। उचितञ्चेदमित्याह—मूढ़ेष्विति। त्वां तदीयांश्च तारयिष्यामि, इमं दुराग्रहं मा कृथा इति चेत्तत्राह—तव ये प्रियजना भक्तास्ताननुसेवमानानां नोऽस्माकं तेन उत्तारणेन किं? स्वतएव तत्सिद्धेरिति॥१०॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि श्रीप्रह्लादने तो केवल भगवान्के प्रति भक्तिरूप वरकी ही प्रार्थना की थी, तो फिर उनको महा-राजैश्वर्य क्यों प्राप्त हुआ? इसके उत्तरमें 'यः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीप्रह्लाद महाराजने अपने प्रभु श्रीनृसिंहदेवकी प्रसन्नताके लिए ही पैतृक (पितासे प्राप्त) राज्यको ग्रहण किया। यदि कहो कि राज्य स्वीकार करनेसे भगवत् प्रीति कैसे होगी? स्वयं श्रीप्रह्लादने ही भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी स्तुति की थी तथा स्तुति करते हुए उन्होंने सभी लोगोंके उद्धारकी प्रार्थना की थी। अर्थात् ऐसी वासनाके लिए ही श्रीप्रह्लादको राज्याधिकार स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि राज्याधिकार होने पर परमैश्वर्य सहित सर्वत्र भक्तिका प्रचार-प्रसार होगा तथा भक्तिके प्रचार-प्रसारसे अनायास ही जीवोंका उद्धार होगा। अतएव लोकोद्धारकी वासनाके लिए ही श्रीप्रह्लादने राज्य स्वीकार किया, ऐसा समझना चाहिए। विशेषतः समस्त लोगोंका उद्धार होने पर स्वतः ही श्रीभगवान् भी प्रसन्न होंगे।

यदि कहो कि पहले भगवान् द्वारा आग्रहपूर्वक वैसे परमपदको देने पर भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया, किन्तु अब फिर राज्य स्वीकार क्यों किया? स्वयं श्रीप्रह्लाद महाराजने समस्त प्राणियोंके दुःखोंसे कातर होकर उनके उद्धारके लिए प्रार्थना की थी तथा उसी उद्धार कार्यको सम्पूर्ण करनेके लिए ही उन्होंने राज्यको स्वीकार किया। इसलिए राज्य आदिको स्वीकार करनेसे कभी भी उनके परमार्थमें हानि नहीं हो सकती। विशेषतः वे तो सब समय भगवान्के ध्यानमें आविष्ट रहते हैं। इस विषयमें सप्तम-स्कन्धमें कहा गया है—"इस प्रकार भवसागर रूपी वैतरणी नदी (परम यातनामय यमद्वाररूप नदी)में पतित जीव अपने-अपने कर्मके द्वारा पीड़ित हैं, परस्पर कलह-परायण और जन्म-मरणके भयसे सदैव सन्तप्त हैं। अतएव हे भगवान्! हे भवसागरको पार करानेवाले! आप तत्क्षणात् कृपाकर इनका भवसागरसे उद्धार करें।" श्रीप्रह्लादने और भी कहा था—"भगवन्! हे अखिलगुरो!

आप ही इस जगतकी सृष्टि, स्थिति और संहारके कारण हैं, अतएव समस्त प्राणियोंको भवसागरसे पार करानेमें आपको प्रयास करना नहीं पड़ेगा अर्थात् अनायास ही आप पार करा सकते हैं। हे आर्त्तबन्धो! आप महान हैं, इसलिए मूढ़ व्यक्तियों पर भी आपकी कृपा है और हम आपके भक्तोंकी सेवा करते हैं, अतः संसारसे पार होनेके लिए हम विशेष चिन्तित नहीं हैं।" उद्धृत श्लोकमें 'अखिल-गुरो' सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि सभीके प्रति आपको दया करना उचित है। विशेषतः सभीका उद्धार करनेमें आपको कोई प्रयास भी नहीं करना पड़ेगा। क्यों? क्योंकि आप ही इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारण हैं। अतएव आपके लिए कुछ भी करना कठिन नहीं है। परन्तु सभीका उद्धार होना ही उचित है, ऐसा मेरा मानना है, क्योंकि मूढ़ व्यक्तियोंके प्रति महत् पुरुषोंकी कृपा स्वाभाविक ही है। यदि कहो कि तुम्हें और तुमसे सम्बन्धित सभी लोगोंका उद्धार करूँगा, किन्तु तुम जगतके सभी लोगोंके उद्धारका दुराग्रह (हठ) त्याग करो। इसके लिए कह रहे हैं कि हमें हमारे उद्धारकी चिन्ता नहीं है, हमारा उद्धार तो स्वतः ही हो जायेगा, क्योंकि हमलोग तो आपके प्रिय भक्तोंके दासानुदास हैं॥१०॥

यः पीतवासोऽङ्घ्रिसरोजदृष्टैर्गच्छन् वनं नैमिषकं कदाचित्।
नारायणेनाऽवतोषितेन प्रोक्तस्त्वया हन्त सदा जितोऽस्मि॥११॥

श्लोकानुवाद—एकबार जब तुम पीतवास श्रीनारायणके चरणकमलोंके दर्शनके लिए नैमिषारण्य जा रहे थे, तब मार्गमें ही छद्म (कपट) वेषधारण किये हुए श्रीनारायणके साथ तुमने युद्ध किया था। उस युद्धसे प्रसन्न होकर उन्होंने तुमको कहा था, 'मैं तुमसे सदैव पराजित रहूँगा'॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—यः पीतवास इत्यत्रेय-माख्यायिका वामनपुराणादौ प्रसिद्धा—एकदा प्रह्लादो नैमिषारण्ये विराजमानस्य परममनोहरतराकारस्य श्रीपीतवाससो दर्शनाय तत्र गच्छन् पथि तपस्विवरवेशधरमथ च धनुष्पाणिमेकं ददर्श। तञ्च विरुद्धवेशाचरणेन दाम्भिकं मत्वा तेन सह महायुद्धं चकार। 'अवश्यं त्वां जेष्यामि।' इति प्रतिजज्ञे च। अथ तं जेतुमशक्तः सन् प्रातरेकस्मिन् दिने निजेष्टदेवतां भक्तिभरेणार्चयत्। तत्र समर्पितां मालां तस्योरसि वीक्ष्य तं निजेष्टदेवं श्रीनारायणं प्रत्यभिज्ञाय

विविधस्तुति-पाटवादिना समतोषयत्। ततो भगवता श्रीहस्ताब्जस्पर्शादिनास्य युद्धश्रमादिकमपास्याश्वासने कृते प्रह्लादेन स्वप्रतिज्ञा हानिदोषे निवेदिते परमप्रीतः सन् पूर्वमपि युद्ध कौतुकेन तोषितो भगवान् सस्मितमाह—'त्वयाहं सदा जित एवास्मि' इति—एतदेवात्रोक्तम्॥११॥

भावानुवाद—'यः पीतवासः' इत्यादि श्लोकमें कथित उपाख्यान वामनपुराण आदिमें प्रसिद्ध है। एकबार श्रीप्रह्लाद महाराज नैमिषारण्यमें विराजमान परममनोहर पीतवसनधारी भगवान् श्रीहरिके श्रीविग्रहके दर्शनके लिए जा रहे थे। मार्गमें उन्होंने एक तपस्वी वेषधारी पुरुषको हाथोंमें धनुष-बाण धारण किये हुए देखा। उसके ऐसे विरुद्ध वेष धारणसे उसकी दाम्भिकता ही परिलक्षित हो रही थी, अर्थात् अहिंसाका प्रतीक तपस्वी वेष और हिंसाके लिए धनुष-बाण। उसके ऐसे वेषको देखकर श्रीप्रह्लाद महाराज उसके साथ युद्ध करने लगे और युद्ध करते-करते उन्होंने प्रतिज्ञा की—'मैं अवश्य ही प्रतियोद्धा पर विजय प्राप्त करूँगा।' किन्तु युद्धमें उसको जय करनेमें असमर्थ हुए। जब अगले दिन प्रातःकाल भक्तिभावसे अपने इष्टदेवकी अर्चना करके युद्धके लिए निकले, तो उन्होंने देखा कि प्रातःकाल अपने इष्टदेवके गलेमें जो माला उन्होंने समर्पित की थी, वही माला प्रतिद्वन्द्वी योद्धाके वक्षःस्थल पर झूल रही थी। तब वे रहस्यको समझ गये कि यही मेरे इष्टदेव भगवान् श्रीनारायण हैं। अतएव श्रीप्रह्लादने अनेक प्रकारकी स्तुति-पाठ आदि द्वारा उनको सन्तुष्ट किया। भगवान्ने भी अत्यधिक प्रीतिपूर्वक अपने श्रीकरकमलोंके स्पर्श आदि द्वारा उनके युद्धमें हुए श्रमको दूर किया तथा उनको आश्वासन दिया। तदनन्तर जब श्रीप्रह्लाद महाराजने अपनी प्रतिज्ञा-भङ्ग होनेके विषयमें बताया तो भगवान्ने परम प्रेमपूर्वक उनसे कहा कि मैं पहले भी तुम्हारे युद्धकौतुकसे अत्यधिक प्रसन्न हुआ हूँ तथा यह एक आनन्दका विषय है कि तुम सदैव मुझ पर विजय प्राप्त करते हो॥११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एवं वदन् नारदोऽसौ हरिभक्तिरसार्णवः।
तन्नर्मसेवको नृत्यन् जितमस्माभिरित्यरौत्॥१२॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीहरिभक्तिरसके सागरस्वरूप भगवान्‌के विनम्र और प्रिय सेवक श्रीनारद नृत्य करते-करते उच्च स्वरसे कहने लगे—'हमारे जैसे भक्तों द्वारा प्रभु जीत लिये गये हैं, जीत लिये गये हैं'॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्माभिरिति बहुत्वमखिल भक्तजनाभिप्रायेण; अरौत् उच्चैः शब्दमकरोत्॥१२॥

भावानुवाद—समस्त भक्तोंके अभिप्रायसे 'अस्माभि' पदमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है। अर्थात् 'हमारे जैसे भक्तों द्वारा प्रभु जीत लिये गये हैं'। 'अरौत्'—उच्च स्वरसे ऐसा बारबार कहने लगे॥१२॥

श्रीनारद उवाच—

भो वैष्णवश्रेष्ठ जितस्त्वयेति किं वाच्यं मुकुन्दो बलिनापि निर्जितः।
पौत्रेण दैतेयगणेश्वरेण ते संरक्षितो द्वारि तव प्रसादतः॥१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे वैष्णवश्रेष्ठ! आपने भगवान् श्रीमुकुन्दको जीत लिया है, इस विषयमें मैं और अधिक क्या कहूँ? दैत्योंके अधीश्वर तुम्हारे पौत्र बलिने भी तुम्हारी कृपासे भगवान्‌को वशीभूत करके उनको अपने द्वारपालके रूपमें रख लिया है॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—निर्जितोऽत्यन्तं वशीकृतः; दैतेयगणेश्वरेणेति तन्निर्जये त्वत् प्रसादं विना नान्यत् किमपि तस्य साधनमस्तीति बोधयति। निर्जितत्वलक्षणमाह—द्वारि सम्यक् द्वारपालतया रक्षितः। यथोक्तमष्टमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ८/२३/६) श्रीप्रह्लादेन—*'नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं, न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ये। यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो, विश्वाभिवन्द्यैरभिवन्दिताङ्घ्रिः॥'* इति। तथा प्रह्लादसंहितायां द्वारका-माहात्म्ये द्वारकावासिनां कुशदैत्यकृत-परिभवेन परमार्त्त-श्रीबलिनिवासे द्वारकातो भगवन्नयनार्थमागतं दुर्वाससं प्रति श्रीभगवता चोक्तम्—*'पराधीनोऽस्मि विप्रेन्द्र भक्तिक्रीतोऽस्मि नान्यथा। बलेरादेशकारी च दैत्येन्द्रवशगो ह्यहम्॥ तस्मात् प्रार्थय विप्रेन्द्र दैत्यं वैरोचनिं बलिम्। अस्यादेशात् करिष्यामि यदभीष्टं तवाधुना॥'* इति। ततश्च दुर्वासः-प्रार्थिते बलिनानङ्गीकृतेऽनशनेन मरणोद्यतमपि दुर्वाससं प्रति श्रीबलिनाप्युक्तम्—*'यद्भाव्यं तद्भवतु ते यज्जानासि तथा कुरू। ब्रह्मरुद्रादि नमितं नाहं त्यक्ष्ये पदद्वयम्॥'* इति॥१३॥

भावानुवाद—तुमने भगवान्‌को जीत लिया है, इस विषयमें और अधिक क्या कहूँ? दैत्योंके राजा तुम्हारे पौत्र महाराज बलिने भी

तुम्हारी कृपासे भगवान् पर विजय प्राप्त की है। तुम्हारी कृपाके अलावा और किसी भी साधनके द्वारा यह संभव नहीं है, यह स्पष्ट ही समझा जा सकता है। बलि महाराजकी जीतका लक्षण बतला रहे हैं—श्रीभगवान्‌को सम्पूर्णरूपसे जय करके अर्थात् उनको अपने द्वारपालके रूपमें रखा है, इस विषयमें अष्टम-स्कन्धमें तुमने स्वयं ही कहा है—"हे मधुसूदन! इस विश्वमें चराचर प्राणी जिन श्रीब्रह्मा, श्रीमहेश आदि देवताओंकी वन्दना करते हैं, वे देवता भी आपके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। आप जगतके वन्दनीय होकर भी असुरोंके द्वारपाल बने हैं; दूसरोंकी तो बात ही क्या श्रीब्रह्मा, श्रीलक्ष्मी, श्रीमहेश आदि भी क्या आपकी ऐसी कृपा प्राप्त कर सकते हैं? अर्थात् कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता है।" प्रह्लादसंहिताके द्वारका-माहात्म्यमें भी कहा गया है कि जब द्वारकावासी कुशदैत्यके द्वारा पराजित होने पर अत्यधिक दुःखी हो रहे थे, तब भगवान्‌को द्वारकामें लानेके लिए दुर्वासा-ऋषि महाराज बलिके निवास स्थान पर गये थे। उस समय दुर्वासाको भगवान्‌ने कहा था—"विप्रवर मैं पराधीन हूँ, भक्ति द्वारा क्रीत (खरीदा जा चुका) मैं बलि महाराजकी पराधीनताके बिना स्वतंत्र कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। आप दैत्यराज बलिको प्रार्थना कीजिए। मैं उनका आज्ञापालक हूँ, उनका आदेश प्राप्त होने पर ही आपके अभीष्टको पूर्ण कर सकता हूँ।" ऐसा सुनकर दुर्वासा-ऋषिने दैत्यराज बलिके निकट अपनी प्रार्थना ज्ञापन की। महाराज बलिने उनकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया। इसलिए दुर्वासा-ऋषिने अनशन-व्रत धारण किया। उनको मरनेके लिए उद्यत देखकर महाराज बलिने कहा—"हे विप्रवर! मेरे भाग्यमें जैसा है, वैसा ही होगा और आपको भी जैसा अच्छा लगे, वैसा ही कीजिए; किन्तु मैं कभी भी श्रीब्रह्मा-रुद्र आदिके द्वारा भी पूजित भगवान्‌के श्रीचरण-कमलोंको त्याग नहीं कर पाऊँगा"॥१३॥

इतःप्रभृति कर्त्तव्यो निवासो नियतोऽत्र हि।
मयाभिभूय दक्षादि-शापं युष्मत्प्रभावतः॥१४॥

श्लोकानुवाद—(श्रीनारदने कहा) अबसे मैं तुम्हारे प्रभावसे दक्ष आदिके शापकी उपेक्षा (अवहेलना) करके निश्चय ही इसी स्थान पर निरन्तर वास करूँगा॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—हि अवधारणे; अत्रैव दक्षादीनां शापम् एकत्र नियतवासा-भावलक्षणम्, तथा च षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ६/५/४३) दक्षवाक्यम्—*'तस्माल्लोकेषु ते मूढ़! न भवेद् भ्रमतः पदम्।'* इति। आदि शब्देन जरादि, तथा च चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/२७/२२) जरावाक्यम्—*'स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याञ्चाविमुखो मुने।'* इति॥१४॥

भावानुवाद—मूल श्लोकमें 'हि' अव्यय निश्चयके अर्थमें है। मैं निश्चय ही इसी स्थान पर वास करूँगा। मुझे दक्ष प्रजापति इत्यादिने यह अभिशाप दिया था—"रे मूढ़! तुम त्रिभुवनमें केवल भ्रमण ही करते रहोगे, एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रह पाओगे। अर्थात् तुम्हें कहीं पर भी स्थान नहीं मिलेगा।" 'आदि' शब्दसे जरा आदिका शाप भी ग्रहणीय है। अर्थात् जराने भी यह शाप देते हुए कहा था—"तुम कभी भी एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रह पाओगे, क्योंकि तुमने मेरी प्रार्थनाको पूर्ण नहीं किया।" इस अभिशापके कारण मेरा एक स्थानमें वास असम्भव होने पर भी तुम्हारे अनुग्रहसे इस अभिशापका निराकरण कर मैं निश्चय ही सुतलमें निरन्तर वास करूँगा॥१४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

स्वश्लाघासहनाशक्ते लज्जावनमिताननः।
प्रह्लादो नारदं नत्वा गौरवादवदच्छनैः॥१५॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—अपनी प्रशंसाको सहनेमें असमर्थ होकर लज्जासे झुके हुए मुख द्वारा श्रीप्रह्लादने श्रीनारदको प्रणाम किया और उनके प्रति गौरवके कारण धीरे-धीरे कहने लगे॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—लज्जा च निजस्तुतिश्रवणात्, स्वस्मिन् तदुक्तासम्भावनयो-पहासमननाद्वा। तयावनमितमाननं यस्य सः। गौरवान्माननीयत्वाच्छनैरवदत्; अन्यथा स्वश्लाघासहनाशक्त्या कोपादुच्चैरवदिष्यदित्यर्थः॥१५॥

भावानुवाद—अपनी प्रशंसा सुनकर श्रीप्रह्लाद बड़े लज्जित हुए और श्रीनारद द्वारा अपनी प्रशंसाको असम्भव अथवा उपहास समझकर लज्जासे मुख झुकाकर उन्होंने श्रीनारदको प्रणाम किया तथा उनके प्रति गौरवके कारण धीरे-धीरे कहने लगे। अन्यथा आत्म-प्रशंसा सुननेमें असमर्थ होने पर वे क्रोधित होकर जोर-जोरसे कहते॥१५॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

भगवन् श्रीगुरो सर्वं स्वयमेव विचार्यताम्।
बाल्ये न संभवेत् कृष्णभक्तेर्ज्ञानमपि स्फुटम्॥१६॥

श्लोकानुवाद—श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—भगवन्! श्रीगुरो! आप स्वयं ही विचार करके देखिये। बाल्यकालमें तो श्रीकृष्णभक्तिका ज्ञान भी परिपक्व नहीं होता है॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—विचारणीयमेवाह—बाल्ये इति सार्धैश्चतुर्भिः। स्फुटमेतत् सर्वत्र व्यक्तमेवेत्यर्थः। यद्वा, ज्ञानस्यैव विशेषणं, ज्ञानस्याप्यभावात्। बाल्ये कुतो भक्तिः सिध्यत्विति भावः॥१६॥

भावानुवाद—अब 'बाल्ये' इत्यादि साढ़े चार श्लोकोंमें विचारणीय विषयका विवेचन किया जा रहा है। यह सर्वत्र कहा गया है कि बाल्यकालमें ज्ञानका विकास नहीं होता है और उस ज्ञानके अभावमें श्रीकृष्णकी भक्ति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है?॥१६॥

महतामुपदेशस्य बलाद्बोधोत्तमे सति।
हरेर्भक्तौ प्रवृत्तानां महिमापादकानि न॥१७॥
विघ्नानभिभवो बालेषूपदेशः सदीहितम्।
आर्त्तप्राणिदया मोक्षस्यानङ्गीकरणादि च॥१८॥

श्लोकानुवाद—आप जैसे भक्तिके महाजनोंके उपदेशके प्रभावसे उत्तम ज्ञानका उदय तथा हरिभक्तिमें प्रवृत्ति (रुचि) होती है, यह सत्य है। किन्तु मेरे द्वारा असुर-बालकोंके प्रति किये गये उपदेश, विघ्नों द्वारा प्रभावित न होकर साधुओं जैसा आचरण तथा आर्त्त (दुःखी) जीवोंके प्रति दयावृत्ति इत्यादि लक्षणों द्वारा मुझमें श्रीकृष्णभक्ति

सम्पूर्णरूपसे परिस्फुट नहीं होती है। इसके अलावा श्रीहरिभक्तिमें प्रवृत्त सभी भक्तोंमें मोक्ष इत्यादिको अस्वीकार करनेकी महिमासे युक्त लक्षण तो स्वभावतः ही प्रकाशित होते हैं॥१७-१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—महतामिति स्वगुरुवर श्रीनारदाभिप्रायेणः बोधस्योत्तमत्वञ्च चतुर्वर्गस्य तुच्छताविज्ञानेन; तदनादरतः केवलं भगवद्भक्तेस्तद् भक्तानाञ्च महिमविशेष-ज्ञातृत्व लक्षणम्॥ विघ्नैरनभिभवः, बालेषु दैत्यशिशुगणेषु उपदेशः; सतां साधुनामिव ईहितमाचारो नृत्यगानादि; आर्त्तेषु प्राणिषु दया; मोक्षस्यानङ्गीकरणमग्रहणम्; आदि शब्दाल्लोकतोषणादि, तानि भक्तौ प्रवृत्तानामपि किमुत भक्तिनिष्ठावतां महिम्न आपादकानि प्रापकानि बोधकानि वा न भवन्ति इति द्वाभ्यामन्वयः। एतच्च श्रीनारदोक्तस्य आबाल्यात इत्यादि सार्धश्लोकद्वयस्य क्रमेणोत्तरमुह्यम्। तत्र कुत्रापि तदुक्तस्यास्वीकारेण कुत्रचिच्च किञ्चित् स्वीकारेऽप्यन्यथा परिहारः कल्पनीयः। तदयथा, बाल्ये ज्ञानक्रियाशक्ति-विशेषाभावाद् विशुद्ध-भक्तेरस्वीकार एव। हिरण्यकशिपु-कृत भक्ति-विघ्नोपद्रव-जयस्वीकारेऽपि भक्तिमाहात्म्य स्वभावोक्तया तत्परिहारः। दैत्यानां भागवतत्वस्वीकारेऽपि 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्' इति-न्यायेन तत्र च बालेषु महोत्कृतोपदेश प्रकाशनानौचित्यादिना च। कृष्णाविष्टतादेरस्वीकार एव परमगोप्यताल्लज्जास्पदत्वाच्च। नर्त्तनगानादि स्वीकारेऽपि सिद्धानां लक्षणं हि साधकानां साधनमितिन्यायेन साधनतयावश्यकर्त्तव्यत्वेनेति दिक्। अथवा भक्तिप्रवृत्ति-स्वाभाविकप्रभावेणैव हि तत्तत् सर्वम्; भक्ति प्रवृत्तिश्च बोधोत्तमादेव। स च महतामुपदेशबलादेव महान्तश्च निरुपाधि कृपाशीला इत्यतस्तत्र तत्र मम को नाम गुणः स्यात् येन मन्माहात्म्यं सिध्येदिति दिक्॥१७-१८॥

भावानुवाद—महत् पुरुषके उपदेशके प्रभावसे (यहाँ पर 'महत्' शब्दसे श्रीप्रह्लादने अपने गुरुदेव श्रीनारदको लक्ष्य किया है) उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उस उत्तम ज्ञानका लक्षण क्या है? जिस ज्ञानके द्वारा चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) तुच्छ प्रतीत होता है अर्थात् चतुर्वर्गका अनादर करके केवल भगवद्भक्ति और भगवद्भक्तोंकी महिमाकी ही उपलब्धि होती है, वही उत्तम ज्ञान है। इसके अलावा विघ्न द्वारा अभिभूत न होना, दैत्य-बालकोंके प्रति उपदेश दान, साधुओंकी भाँति नृत्य-कीर्त्तनादि सदाचार पालन, दीन-दुःखियोंके प्रति दया तथा मोक्षको अस्वीकार करना आदि भी उक्त ज्ञानके लक्षण हैं। 'आदि' शब्दसे जीवोंको सन्तुष्ट करना इत्यादिको भी ग्रहण करना होगा। श्रीहरिभक्तिमें प्रवृत्त सभी लोगोंमें ही उक्त महिमा-प्रतिपादक

लक्षण प्रकाशित होते हैं। इसलिए भक्तिनिष्ठ महानुभावोंमें ये सब गुण स्वाभाविक ही होंगे, इस सम्बन्धमें अधिक क्या कहा जाए। अतएव इन लक्षणों द्वारा आपने मुझमें क्या गुण देखा है? इस प्रकार श्रीप्रह्लाद श्रीनारद द्वारा कहे गये 'आबाल्यत' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें वर्णित प्रशंसामूलक वचनोंका क्रमशः उत्तर प्रदान कर रहे हैं।

उन गुणोंमें से किसीको सम्पूर्णरूपसे अस्वीकार करके, किसीको किञ्चित् स्वीकार करके भी उनका खण्डन कर रहे हैं। जैसे, बाल्यकालमें ज्ञान-क्रियाशक्ति इत्यादिके अभाववशतः शुद्धभक्तिको अस्वीकार करना। हिरण्यकशिपु द्वारा अपनी भक्तिमें उत्पन्न किये गये उपद्रवों पर विजय प्राप्त करने पर भी, भक्तिके माहात्म्य और भक्तिके स्वाभाविक प्रभावके कारण स्वयं द्वारा उन उपद्रवों पर जयको अस्वीकार करना। दैत्य-बालकोंके प्रति उपदेश-दान-प्रसंगमें स्वयं भक्त भागवत होने पर भी 'दूसरोंको उपदेश देनेमें पाण्डित्य प्रकाशित करना तो सभीके लिए सहज है'—इस न्यायके अनुसार बालकोंको महत्पुरुषोंका उपदेश प्रदान करना इत्यादि भी मेरे लिए नितान्त अनुचित हुआ है। श्रीकृष्णमें आविष्टता आदिके परम गोपनीय और लज्जास्पद होनेके कारण श्रीप्रह्लादने उसको भी अस्वीकार किया। पुनः अपने नृत्य-गीतादि साधुओंके जैसे आचरणको स्वीकार करके भी कहने लगे—'सिद्धपुरुषोंके जो लक्षण हैं, वे ही साधकोंके साधन हैं।' इस न्यायके अनुसार वैसा करना मेरा अवश्य कर्त्तव्य है, इसलिए मैं अपने साधनके रूपमें उसका अनुष्ठान करता हूँ, अतएव इसके द्वारा मुझमें सिद्ध होनेके लक्षण प्रकाशित नहीं होते हैं। अथवा ये गुण तो भक्ति प्रवृत्तिके स्वाभाविक लक्षण हैं। बाल्यकालमें तो भक्तिका बोध होना भी सम्भव नहीं है। विशेषतः भक्तिमें प्रवृत्ति तो उत्तम ज्ञान होने पर ही सम्भव होती है और वह उत्तम ज्ञान भी महाजनोंके उपदेशके प्रभावसे ही प्राप्त होता है, क्योंकि वे महाजन महान्त अर्थात् निरुपाधिक कृपाशील होते हैं। भगवन् श्रीगुरो! आप स्वयं ही विचार करके देखिए कि इसमें मेरी क्या महानता सिद्ध होती है? बल्कि यथार्थमें महत्पुरुषोंकी कृपाका माहात्म्य ही सिद्ध होता है॥१७-१८॥

कृष्णस्यानुग्रहोऽप्येभ्यो नानुमीयेत सत्तमैः।
स चाविर्भवति श्रीमन्नधिकृत्यैव सेवकम् ॥१९॥

श्लोकानुवाद—परन्तु उत्तम पुरुष जिसको श्रीकृष्णकी कृपा कहते हैं, उस कृपाका अनुमान ऐसी विघ्न–बाधाओंके निराकरण आदिके द्वारा नहीं लगाया जा सकता है। श्रीकृष्णकी कृपा तो केवल उनके सेवकोंके प्रति ही प्रकाशित होती है॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो भगवदनुग्रहविशेष लक्षणानि चेमानि खलु भवन्तीत्याह—कृष्णस्येति। एभ्यः विघ्नानभिभवादिभ्यो हेतुभ्यः; सत्तमैः कृष्णचरणारविन्द भक्ति प्रभावाभिज्ञैः; यश्च भगवदनुग्रह उच्यते, तस्याहं योग्योऽपि न स्यामित्यभिप्रायेणाह—स चेति। श्रीमन्! भो भगवत्सेवा–सम्पत्तिभर–युक्त! सः अनुग्रहः सेवकमेवाधिकृत्य, न त्वसेवकम्, आविर्भवतीति भगवदनुग्रहस्यापि तद्वत् सच्चिदानन्दरूपतया सर्वदा सर्वत्रैव विद्यमानत्वात् कदाचित् कुत्राप्याविर्भावतिरोभावमात्रतापेक्षया॥१९॥

भावानुवाद—अतएव विघ्नोंसे अभिभूत (पीड़ित) न होना इत्यादि लक्षण देखकर श्रीभगवान्‌की कृपाका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है, क्योंकि श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी भक्तिके प्रभावको जाननेवाले साधुगण भी इस प्रकारके विघ्नों द्वारा बाधा रहित रहना अर्थात् अनर्थ–निवृत्ति इत्यादि लक्षणोंको देखकर श्रीकृष्णकी विशेष कृपाका अनुमान नहीं लगाते हैं। परन्तु वे जिसको श्रीकृष्णकी कृपा कहते हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। अतएव हे भगवत्सेवा–सम्पत्तिसे युक्त महानुभाव! वह कृपा तो केवल उनके सेवकोंमें ही आविर्भूत होती है, असेवकोंमें नहीं। भगवान्‌की कृपा भी श्रीभगवान्‌की भाँति सच्चिदानन्द है, अतएव श्रीभगवान्‌की भाँति ही सदा सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी वह कृपा कदाचित् कहीं पर प्रकाशित होती है॥१९॥

हनूमदादिवत्तस्य कापि सेवा कृतास्ति न।
परं विघ्नाकुले चित्ते स्मरणं क्रियते मया॥२०॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमान इत्यादिने जिस प्रकार भगवान्‌की सेवा की है, मैंने वैसी किसी भी प्रकारकी सेवा नहीं की है। केवल विघ्नोंसे व्याकुल चित्त द्वारा प्रभुका स्मरण मात्र ही करता हूँ॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि स त्वयपि पर्यवस्यत्येव भक्तत्वात्तत्राह—हनुमदिति। तस्य कृष्णस्य मया न कृतास्ति; परं केवलं स्मरणं ध्यानमेव क्रियते। वर्त्तमान-निर्द्देशेनाधुनैव तत्र प्रवृत्तोऽस्मि, न तु तत्रापि निष्ठां प्राप्तोऽस्मीति बोधयति। ननु सेवाशब्दाभिधेय-नवविधभक्तिमध्ये सर्वेन्द्रियमुख्यमनोऽर्पणम्। स्मरणमेव मुख्यं तत् कर्त्तृत्वाच्च त्वमेव भक्तमुख्योऽनुग्रहभरपात्रं तत्राह—विघ्नैर्लय-विक्षेपादिरूपैराकुले व्याप्ते। अतः सदा चित्तस्य विघ्नाकुलत्वात्तत्र सम्यक् स्मरणमेव न जायत इति भावः। यद्वा, स्मरणस्य चित्तधर्मत्वाच्चित्तस्य च विघ्नाकुल-स्वभावकत्वात् स्मरणं न मुख्यमिति भावः। एतच्चाग्रे श्रीगोलोक-माहात्म्ये सन्यायं व्यक्तं भावि॥२०॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीकृष्णकी कृपा उनके सेवकों पर ही होती है, अतः भक्त होनेके कारण भगवान्‌की सेवाके अर्थात् कृपाके लक्षण तो तुममें ही पर्यवसित हो रहे हैं। इसके लिए 'हनुमदादि' श्लोक कह रहे हैं। श्रीहनुमान जैसे भक्तोंने जिस प्रकार भगवान्‌की सेवा की है, मैंने वैसी कोई भी सेवा नहीं की है। मैं तो केवल उनका स्मरण मात्र करता हूँ। यहाँ पर 'स्मरण क्रियते' पदमें वर्त्तमान कालकी क्रियाका प्रयोग करनेका कारण यह है कि यद्यपि मैं अभी भी स्मरणमें प्रवृत्त हूँ, तथापि निष्ठाकी प्राप्ति नहीं हुई है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'सेवा' शब्दसे अभिधेयरूप नवविधा भक्तिका बोध होता है और उस नवविधा भक्तिमें स्मरण ही मुख्य है। सभी इन्द्रियोंमें मन ही श्रेष्ठ है तथा उस मनको श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें समर्पित करना स्मरण है, इसलिए स्मरण श्रेष्ठ है तथा इस स्मरणके श्रेष्ठ होनेके कारण तुम भी श्रीकृष्णके विशेष भक्त और विशेष कृपापात्र हो। इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि मैं तो केवल लय-विक्षेपादि द्वारा अभिभूत (वशीभूत) होकर श्रीकृष्णका स्मरणमात्र करता हूँ। अतएव मेरे चित्तके सदैव विघ्नोंसे व्याकुल होनेसे मेरा स्मरण भी सम्पूर्णरूपमें सिद्ध नहीं होता है। अथवा स्मरण चित्तका धर्म है और उस चित्तके सदैव लय-विक्षेप आदि विघ्नोंसे आकुल होनेके कारण वैसा स्मरण भी मुख्य (श्रेष्ठ) नहीं है। इस विषयमें श्रीगोलोक-माहात्म्यमें न्यायसंगत युक्ति और विचारादि प्रदर्शित होगा॥२०॥

यन्मद्विषयकं तस्य लालनादि प्रशस्यते।
मन्यते मायिकं तत्तू कश्चिल्लीलायितं परः॥२१॥

श्लोकानुवाद—आपने मेरे विषयमें श्रीकृष्ण द्वारा किये गये लालन आदिकी जो प्रशंसा की है, उसको मायावादी लोग मायाका कार्य कहते हैं। कोई-कोई ही इसको भगवान्‌की लीलाका स्वभाव समझते हैं॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तादृशलालनादिकं परमानुकम्पागमकमेव। तत्राह—यदिति तस्य कृष्णस्य तत् कृतमित्यर्थः। तत्तु लालनादि कश्चिदद्वैतमार्गनिष्ठो मायावादी वेदान्ती मायिकं मायाकृतं मन्यते परब्रह्मणो भगवतः स्वतस्तत्तदसम्भवात्। परः भक्ति-मार्गरतस्तु लीलायितं लीलायाचरितं तत् न तु मायिकम्, सच्चिदानन्दघनस्य परमेश्वरस्य सच्चिदानन्दशक्तया सच्चिदानन्द-विचित्रलीला-सम्भवात्। तथापि परमफलत्वेऽपर्यवसानान्नानुग्रहभरलक्षणमिति भावः॥२१॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीनृसिंहदेव द्वारा लालन आदि ही तुम्हारे प्रति उनकी परमकृपाका लक्षण है। इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि आप मेरे प्रति स्नेहसे वशीभूत होकर श्रीकृष्णके द्वारा किये गये मेरे लालन इत्यादिके कारण जो मेरी प्रशंसा कर रहे हैं, उस लालन आदिको तो अद्वैतमार्गमें निष्ठा रखनेवाले मायावादी लोग मायाका कार्य कहते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार परब्रह्म द्वारा स्वयं ऐसा कोई भी कार्य करना असम्भव है। परन्तु कोई-कोई अर्थात् भक्त ही उसको भगवान्‌की लीलाका कार्य अथवा भगवान्‌की लीला कहते हैं, मायाका कार्य नहीं। अर्थात् भगवान् अपने लीलायुक्त स्वभाव द्वारा भक्तोंके साथ इस प्रकारकी विभिन्न अद्भुत लीलाएँ करते हैं। यद्यपि सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी शक्ति द्वारा वैसी सच्चिदानन्दमयी विचित्र लीलाएँ सम्भव होती हैं, तथापि ऐसी लालन आदि क्रियाओंको भगवत्कृपाका लक्षण नहीं कहा जा सकता है॥२१॥

स्वाभाविकं भवादृक् च मन्ये स्वप्नादिवत्त्वहम्।
सत्यं भवतु वाथापि न तत् कारुण्यलक्षणम्॥२२॥

श्लोकानुवाद—आपके जैसे महाजन उस लालन आदिको भगवान्‌का स्वाभाविक वात्सल्य मान रहे हैं, किन्तु मुझे वह स्वप्न जैसा लग रहा है तथा यह सत्य होने पर भी श्रीभगवान्‌की करुणाका लक्षण नहीं हो सकता है॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—भवादृक् भगवन्माहात्म्य तत्त्वाभिज्ञजनस्तु स्वाभाविकं सहज वात्सल्यभरकोमलतर स्वभावेन कृतं मन्यते। तथाप्यग्नेर्जाड्यादि-नाशनवत् सर्वत्रापि साम्यादनुग्रहविशेषेणैव पर्यवस्यतीति भावः। तथाप्यनुग्रहो जात एवेति चेत्? तत्राह—अहन्तु स्वप्नादिवन्मन्ये; आदि शब्देन भ्रम मनोरथादि अत्यल्पक्षणवृत्तेस्तन्न जातमिवेति। मन्मतेऽप्यसत्यमेव पर्यवस्यतीति भावः। मायावादीमते मायिकत्वेन तत्त्वतोऽसत्यत्वं स्वमते चाचिरस्थायित्वेन स्वप्नादितुल्य तया स्वस्मिन्नाविर्भावेऽसत्यत्वमिति भेदः। ननु सर्वत्र सुप्रसिद्धं सुरमुनिगणादि दृष्टमेव तत् स्वयं बहुशोऽनुभूतं कथं स्वप्नायितं मन्यसे? कथं वा बाल्ये एव बोधोत्तमोत्पत्त्या सदीहितादिना प्रकटमपि भगवत् कृपाभर सम्पत्ति लक्षणं निह्नूयते? तत्राह—सत्यमिति। तत् लालनादिकं कारूण्यस्य लक्षणं न भवति॥२२॥

भावानुवाद—आप जैसे भगवान्‌के माहात्म्यको जाननेवाले महाजन, उक्त लालन आदि क्रियाओंको भगवान्‌का स्वाभाविक वात्सल्य और उनके कोमल स्वभाव द्वारा किया हुआ मान रहे हैं। जैसे अग्निके स्वभाववशतः शीत और जड़ता नष्ट होती है, उसी प्रकार सर्वत्र समदर्शी भगवान्‌के स्वाभाविक वात्सल्य और कोमल स्वभाव द्वारा किये गए कार्य भी अनुग्रहमें पर्यवसित होते हैं। (किन्तु क्या वह यथार्थ अनुग्रह है? नहीं।) यद्यपि आप उसे भगवान्‌का अनुग्रह कहते हैं, तथापि मैं उसको स्वप्नवत् अर्थात् स्वप्न, भ्रम या मनोरथ आदिके समान मानता हूँ, क्योंकि वह अति अल्प समयके लिए था। इसलिए मेरे विचारसे या तो वैसा हुआ ही नहीं, अथवा वह असत्यके रूपमें पर्यवसित हो रहा है। मायावादियोंके मतानुसार भगवान्‌का स्वाभाविक वात्सल्य मायिक होनेसे तत्त्वतः असत्य है और मेरे मतानुसार थोड़ी देर तक स्थायी होनेके कारण स्वप्न आदिके समान प्रतीत होने पर वह असत्य जैसा है, यही भेद है।

यदि आपत्ति हो कि सर्वत्र प्रसिद्ध तथा देवताओं और मुनियोंके द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट तथा तुम्हारे द्वारा अनेक प्रकारसे अनुभूत उस महान सत्यको तुम कैसे स्वप्नवत् मान रहे हो? और भी देखो, भगवान्‌के कृपापात्र हुए बिना बाल्यकालमें ही तुममें निर्मल भगवत् ज्ञानकी उत्पत्ति और सदाचार जैसे गुण कैसे प्रकट हो सकते हैं? क्या यह अप्राकृत गुणरूप सम्पत्तिके लक्षण, भगवान्‌की कृपाके चिह्न

नहीं हैं? इसके उत्तरमें श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा कि यदि यह सत्य है तो हो, किन्तु उस लालन आदिको भगवान्‌की करुणाका यथार्थ लक्षण नहीं कहा जा सकता है॥२२॥

विचित्रसेवादानं हि हनूमत्प्रभृतिष्विव।
प्रभोः प्रसादो भक्तेषु मतः सद्‌भिर्न चेतरत्॥२३॥

श्लोकानुवाद—भक्ति परायण साधुगण सदैव कहते हैं कि श्रीहनुमान जैसे भक्तोंको जिस प्रकारकी विचित्र सेवाएँ प्राप्त हैं, वैसी सेवाओंकी प्राप्ति ही यथार्थमें भगवान्‌की कृपा है, लालन आदि नहीं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—विचित्रेति। हि यतः विचित्राया सेवाया दानमेव भक्तेषु प्रभोः प्रसादः सद्भिर्भक्तिपरैर्मतः न तु इतरत् लालनादिकम्। ननु कीदृशं तद्विचित्रसेवादानम्? यद्वा, तादृशः प्रसादः केष्वपि किं वर्त्तते इत्यपेक्षायां दृष्टान्तयति—हनूमदिति। प्रभृतिशब्देन पाण्डवयादवादयः सुग्रीवाङ्गादादयोः वा। यादृशो हनूमदादिष्वनुग्रहस्तादृशोऽयं न भवति। तत् कथं भगवत्कृपाभरपात्रतोक्त्या मन्माहात्म्यं स्तुयत इति भावः। अनेन कृष्णेनाविर्भूयेति श्लोकार्धार्थो निरस्तः॥२३॥

भावानुवाद—अब 'विचित्र' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीप्रह्लाद महाराज अपने प्रति भगवान्‌के वात्सल्य आदिको भगवान्‌की यथार्थ कृपा न माननेका कारण बता रहे हैं। भक्तिपरायण साधुगण सदैव कहते हैं कि अनेक प्रकारकी सेवाओंका सुयोग प्रदान करना ही भक्तोंके प्रति भगवान्‌की यथार्थ कृपा है। लालन आदि प्रभुकी कृपा नहीं है। यदि प्रश्न हो कि वैसी सेवाओंको प्रदान करनेका तात्पर्य क्या है? अथवा वैसी कृपा किस भक्त पर हुई है? इस प्रश्नकी आशंकासे ही श्रीहनुमान जैसे भक्तोंके दृष्टान्तको प्रदर्शित कर रहे हैं। यहाँ पर 'श्रीहनुमान जैसे भक्तोंके' कहनेसे पाण्डव और यादव आदिको अथवा सुग्रीव और अंगद आदिको समझना चाहिए। श्रीहनुमान जैसे भक्तोंको जैसी सेवा प्रदान की गयी है, वैसी सेवा मुझे प्रदान नहीं की गयी है। अतएव श्रीहनुमान आदिके प्रति भगवान्‌का जैसा अनुग्रह है, मेरे प्रति वैसा अनुग्रह नहीं है। अतएव आप किस प्रकार 'भगवान्‌की कृपाके श्रेष्ठ पात्र' इत्यादि वचनोंके द्वारा मेरे माहात्म्यको बतलाकर स्तुति कर रहे हैं? इसके द्वारा 'श्रीकृष्णने स्वयं आविर्भूत होकर

लालन आदि किया था', इस आधे श्लोक (संख्या ७)के अर्थ अर्थात् 'श्रीप्रह्लाद ही भगवान्‌के श्रेष्ठ कृपापात्र हैं' का खण्डन हुआ है॥२३॥

श्रीमन्नृसिंहलीला च मदनुग्रहतो न सा।
स्वभक्तदेवतारक्षां पार्षदद्वयमोचनम्॥२४॥
ब्रह्मतत्तनयादीनां कर्त्तुं वाक्सत्यतामपि।
निजभक्तिमहत्त्वञ्च सम्यग् दर्शयितुं परम्॥२५॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीनृसिंहदेवने जो लीला की है, वह मुझ पर अनुग्रह करनेके लिए नहीं की है। वह लीला उन्होंने अपने भक्त देवताओंकी रक्षा, दोनों पार्षदों (जय-विजय)के मोचन, ब्रह्मा और उनके पुत्रोंके वचनोंकी सत्यताकी रक्षा तथा सम्पूर्णरूपसे अपनी भक्तिके महत्वको प्रदर्शन करनेके लिये ही की है॥२४-२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भक्तिविघ्नायमानस्य हिरण्यकशिपोस्तवकृत एव वधार्थं तादृशाद्भुतरूपाविर्भावनादिना त्वयि परमानुग्रहः पर्यवसित एव? तत्राह—श्रीमन्नृसिंहेति। सा परमाद्भुतरूपधारण-हिरण्यकशिपु विदारणादिरूपा श्रीमतो नृसिंहस्य लीला; स्वभक्तानां देवतानामिन्द्रादीनां रक्षां कर्त्तुम्; तथा पार्षदद्वयस्य वैकुण्ठद्वारपालयोर्जयविजययोः सनकादिशापतो विमोचनं कर्त्तुं तथा ब्रह्मणस्तत्तनयानाञ्च सनकादीनाम् आदि शब्देन निजभृत्यजयावतार हिरण्यकशिपु-नारदादीनाञ्च वाचः सत्यतामपि कर्त्तुम; तत्र च श्रीमन्नृसिंहरूपाविर्भावनादिना ब्रह्मणो हिरण्यकशिपुवधादिना च सनकादीनां वाक्सत्यता पादनमित्यादिकमुह्यम्। एतच्च सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/८/१७)—*'सत्यं विधातुं निजभृत्य-भाषितम्'* इत्यस्मिन् श्लोके श्रीधरस्वामिपादैर्विस्तार्य व्याख्यातमस्तीति न विवृत्यात्र लिख्यते। एवं तत्तत्र किल मत्कृपयेत्युक्तम्। इदानीं ब्रह्मरुद्राद्यनादरेण तेषां साक्षात्कृतं मत्सन्माननादिकमपि न मत्कृपयेत्याह—निजेति। परं केवलं परमं वा; अन्यथा श्रीगरुड़ादि वैकुण्ठनित्यपार्षदवराणां महालक्ष्म्याश्चानादरानुपपत्तेः। तच्च प्राग्लिखितमेव। एवं ब्रह्मेशादीत्यादि सार्द्ध श्लोकार्थोत्तरमुह्यम्॥२४-२५॥

भावानुवाद—यदि कहो कि भक्ति-विरोधी हिरण्यकशिपुके वधके लिए ऐसे अद्भुत रूपमें भगवान्‌का आविर्भाव आदि भी तुम्हारे प्रति परम अनुग्रहके रूपमें दिखाई देता है। इसके लिए कह रहे हैं कि श्रीनृसिंहदेवने जो सब लीलाएँ की हैं, वह सब मुझ पर अनुग्रहवशतः नहीं की हैं। उनका ऐसा परम अद्भुत रूप-धारण और हिरण्यकशिपु-संहार

आदि लीला अपने भक्त इन्द्र आदि देवताओंकी रक्षाके लिये, वैकुण्ठके दोनों पार्षद अर्थात् वैकुण्ठके द्वारपाल जय और विजयको सनक आदिके शापसे मुक्त करानेके लिये तथा ब्रह्मा और उसके पुत्रों सनक आदि मुनियोंके वचनोंकी सत्यताका प्रतिपादन करनेके लिये था। 'आदि' शब्दसे अपने द्वारपाल जयके अवतार हिरण्यकशिपुके वचनों और श्रीनारदके वचनोंकी सत्यताका प्रतिपादन करना समझना चाहिए। किन्तु यहाँ पर श्रीनृसिंह रूपमें आविर्भावका विषय और श्रीब्रह्माके द्वारा हिरण्यकशिपुके वध सम्बन्धी वचनों और सनकादिके वचनोंकी सत्यताका प्रतिपादन इत्यादिका उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि इस विषयमें सप्तम-स्कन्धमें कहा गया है—"अनन्तर भगवान् अपने भृत्य (दास)के वचन तथा समस्त प्राणियोंमें अपने व्याप्त होनेकी सत्यताके प्रदर्शनके लिये सभाके मध्यस्थित स्तम्भमें से अद्भुत श्रीनृसिंहरूपमें आविर्भूत हुए।" श्रील श्रीधरस्वामीपादने भी इस श्लोककी विस्तृत व्याख्या की है, इसलिए इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। परन्तु भगवान्‌की ऐसी लीला निश्चय ही मेरे प्रति कृपा करनेके लिए नहीं है।

श्रीब्रह्मा, श्रीरुद्र आदिकी उपेक्षा कर उन लोगोंके सामने मेरे प्रति सम्मानादि प्रदर्शन करनेकी जो बात आपने कही है, वह भी मेरे प्रति भगवत्कृपाका लक्षण नहीं है, बल्कि वह तो केवल भगवद्भक्तिके महत्वको प्रदर्शन करनेके लिए है। अर्थात् केवल मात्र अपनी भक्तिकी महिमाका प्रदर्शन करनेके लिए ही भगवान्‌ने वैकुण्ठके नित्य पार्षद श्रीगरुड़ आदि और श्रीमहालक्ष्मीके प्रति वैसे अनादरका सहारा लिया है। उनका यथार्थ अनादर कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि वे तो भगवान्‌के नित्य पार्षद हैं। इस विषयमें पहले भी कहा जा चुका है। इस प्रकार 'श्रीब्रह्मा जैसे भक्तोंका अनादर करके भी भगवान्‌ने तुम्हारा सम्मान किया था' इत्यादि (सप्तम) श्लोकके अर्थका भी उत्तर दिया गया है॥२४-२५॥

परमाकिञ्चनश्रेष्ठ यदैव भगवान् ददौ।
राज्यं मह्यं तदा ज्ञातं तत्कृपाणुश्च नो मयि॥२६॥

श्लोकानुवाद—हे परम अकिञ्चनश्रेष्ठ गुरुदेव! जबसे भगवान्‌ने मुझको राज्यदान किया है, तभीसे मैंने जान लिया है कि मेरे प्रति उनकी लेशमात्र भी कृपा नहीं है॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं कोऽप्यनुग्रहो मयि नास्त्येव प्रत्युत निग्रह एव महाँल्लक्ष्यते इत्याह—परमेति त्रिभिः। अकिञ्चनाः त्यक्ताखिलपरिग्रहाः परमहंसाः परमाकिञ्चनाः तेष्वपि श्रेष्ठाः परित्यक्तमुमुक्षात्मारामता मुक्तिसुखा भक्तास्तेष्वपि श्रेष्ठ हे नारद! एवं सम्बोधनेन राज्यादिपरिग्रह दोषं भवान् जानात्येवेति बोधितम्। तस्य भगवतः कृपया अणुश्च लेशोऽपि न मयि वर्त्तत इति तदानीमेव ज्ञातं मया॥२६॥

भावानुवाद—अतएव मेरे प्रति भगवान्‌की कृपा लेशमात्र भी नहीं है, अपितु महान निग्रह अर्थात् कृपाका अभाव लक्षित हो रहा है। यही 'परम' इत्यादि तीन श्लोकोंके माध्यमसे कह रहे हैं। अकिञ्चन अर्थात् समस्त ग्रहणीय वस्तुओंका त्याग करनेवाला। परमहंस—परम अकिञ्चनोंसे भी श्रेष्ठ। अतएव परम अकिञ्चन—भक्तश्रेष्ठ श्रीनारद! आपने मुमुक्षुता (मुक्तिकी इच्छा), आत्मारामता और मुक्ति सुख आदिका परित्याग कर दिया है। ऐसे सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि राज्य आदि संग्रहके दोषको आप जानते हैं। अतएव जबसे भगवान्‌ने मुझे राज्यदान किया है, तबसे मैंने जान लिया है कि श्रीभगवान्‌की कृपा मेरे प्रति लेशमात्र भी नहीं है॥२६॥

"तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम्।"
इत्याद्याः साक्षिणस्तस्य व्याहारा महतामपि॥२७॥

श्लोकानुवाद—इस विषयमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—"मैं जिसके प्रति कृपा करनेकी इच्छा करता हूँ, उसको सम्पत्तिसे रहित कर देता हूँ।" अन्यान्य महाजनोंकी ऐसी उक्तियाँ भी इस विषयमें साक्षी हैं॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव प्रमाणयति—तमिति। एतच्च दशमस्कन्धोक्तं शक्रं प्रति श्रीभगवद्वचनम्। अस्य भगवतो व्याहाराः उक्तयः साक्षिणः प्रमाणानि। आद्य-शब्देन तत्रैव (श्रीमद्भा॰ १०/८८/८) युधिष्ठिरं प्रति *'यस्याहमनु-गृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'* इत्यादि। महतां भगवद्भक्तानां श्रीदाम-रङ्कभक्तवृत्रादीनामपि

व्याहाराः साक्षिणः। तथा च श्रीदाम्नो वाक्यम् (श्रीमद्भा॰ १०/८१/३७)—*'भक्ताय चित्रा भगवान हि सम्पदो, राज्यं विभूतीर्न समर्थय त्यजः। अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम्॥'* इति। वृत्रस्यापि षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा. ६/११/२२)—*'पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां, याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम्। न राति यद्द्वेष उद्वेग आधिर्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः॥'* इति॥२७॥

भावानुवाद—राज्यदान श्रीभगवान्‌की कृपाका लक्षण नहीं है, इसे ही प्रमाणित कर रहे हैं। यथा, दशम-स्कन्धमें इन्द्रके प्रति श्रीभगवान्‌के वचन हैं—"मैं जिसके प्रति कृपा करनेकी इच्छा करता हूँ, उसको सम्पूर्णता सम्पत्तिहीन कर देता हूँ।" इत्यादि श्रीभगवान्‌की उक्ति ही इस विषयमें प्रमाण है। 'आदि' शब्दसे वहाँ उपस्थित श्रीयुधिष्ठिरके प्रति श्रीभगवान्‌के वचन हैं—"मैं जिसके प्रति कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उसका समस्त धन हरण कर लेता हूँ।" अन्यान्य महाजनोंकी ऐसी उक्तियाँ भी इस विषयमें साक्षी और प्रमाण हैं। उनमें श्रीदाम और वृत्रासुरादि भक्तोंकी उक्तियाँ ही विशेष प्रमाण हैं। श्रीदामकी उक्ति है—"स्वयं विवेकी श्रीभगवान् सम्पत्तिसे उत्पन्न गर्वके कारण धनी व्यक्तियोंका अधःपतन देखकर अविवेकी भक्तको विचित्र सम्पत्ति अथवा राज्यविभूति इत्यादि प्रदान नहीं करते हैं।" इसी प्रकार षष्ठ-स्कन्धमें वृत्रासुर भी कहते हैं—"जो एकान्त भावसे भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें आत्मसमर्पण करते हैं, वे भगवान्‌के निजजन कहलाते हैं। भगवान् उनको स्वर्ग, मर्त्य और पातालमें जो सब सम्पत्ति है उसे नहीं देते, क्योंकि ऐसी सम्पत्तिसे द्वेष, उद्वेग, मनकी पीड़ा, मत्तता, विषाद और क्लेश आदिकी उत्पत्ति होती है"॥२७॥

पश्य मे राज्यसम्बन्धाद्बन्धुभृत्यादिसङ्गतः।
सर्वं तद्भजनं लीनं धिग्धिङ् मां यन्न रोदिमि॥२८॥

श्लोकानुवाद—और भी देखो, राज्य सम्पदके कारण बन्धु-बान्धवोंके संगसे ही मेरा समस्त भगवद्भजन तिरोहित हो गया है। मुझे धिक्कार है! मैं अभी भी अपनी उस भजन अवस्थाके लिए क्रन्दन नहीं कर रहा हूँ॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अदीर्घ बोधायेतुक्त्या दीर्घबोधवतां भवादृशां तत्र दोषाय स्यात्। यथोक्तं श्रीभगवता मुचुकुन्दं प्रति (श्रीमद्भा॰ १०/५१/५९)—*'न धीरेकान्तभक्तानामा-शीर्भिर्भिद्यते क्वचित्।'* इति। उद्धवं प्रत्यपि (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१८)—*'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते।'* इति। सत्यम् किं तर्हि मयि भगवदनुग्रहाभावाद् व्यक्तमेव तद्दोषफलं पर्यवसितमिति सदैन्यमाह—पश्येति। तस्य भगवतः किम्वा तत्पूर्वकालीनं भजनम् लीनं लयं प्राप तिरोधत्तेत्यर्थः। सच्चिदानन्दरूपाया भगवद्भक्तेर्नित्यत्वेना-विनाशित्वाल्लीनमिति प्रयोगः। तच्च स चाविर्भवतीत्यत्र प्राग्व्याख्यातमेव॥२८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि 'अदीर्घबोध' कहनेसे अविवेकी भक्तोंको ही राज्य आदिसे सम्बन्ध होनेके कारण भक्तिमें बाधा पहुँचती है, किन्तु आपके जैसे विवेकीके लिए वह दोषका कारण क्यों होगा? यह तो भगवान्ने स्वयं मुचुकुन्दको भी कहा है—"जो मेरे एकान्त भक्त हैं, उनकी बुद्धि कभी भी विषयभोगरूपी सुखोंमें आसक्त नहीं होती है।" श्रीउद्धवको भी भगवान् कह रहे हैं—"जिनके हृदयमें भाव उत्पन्न हो गया है, उन भक्तोंकी तो बात ही क्या, भक्ति मार्गमें प्रवेश करनेवाला भक्त भी विषयोंके द्वारा अभिभूत नहीं होता है।" श्रीप्रह्लादने कहा—"यह सत्य है, किन्तु मेरे प्रति भगवान्की कृपा लेशमात्र भी नहीं है, और यह सब राज्य सम्पत्ति आदि भी मेरे लिए दोषरूप फलमें ही पर्यवसित हो रही है।" इसलिए दीनतापूर्वक कह रहे हैं—"देखिये! राज्य-सम्बन्धके कारण बन्धु-बान्धवोंके संगवशतः मेरा समस्त भगवद्भजन अथवा पूर्वकालीन भजन भी तिरोहित हो गया है।" किन्तु यथार्थतः भगवद्भक्ति सच्चिदानन्दरूपा है, अतः नित्य है—विनाशशील नहीं है। इसलिए यहाँ पर 'लीन' (तिरोहित) शब्दका प्रयोग किया गया है। इससे पहले भी इस भक्तिके सम्बन्धमें आविर्भाव कहकर व्याख्या की गयी है॥२८॥

अन्यथा किं विशालायां प्रभुणा विश्रुतेन मे।
पुनर्जाति-स्वभावं तं प्राप्तस्येव रणो भवेत्॥२९॥

श्लोकानुवाद—अन्यथा क्या यह मेरे लिए उचित था कि मैं फिरसे अपने असुर स्वभावको प्राप्तकर बदरिकाश्रममें प्रसिद्ध अपने प्रभु श्रीनारायणके साथ युद्ध करता?॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवान्यथानुपपत्तिन्यायेन द्रढ़यति—अन्यथेति। *'तुर्ये धर्मकला-सर्गे नरनारायणावृषी। भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरत् तपः॥'* इति प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/३/९)। चतुर्थस्कन्धे च (श्रीमद्भा॰ ४/१/५८)—*'एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ। लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम्॥'* इत्यादिवचन-प्रामाण्यात्तदीय-तत्रत्यतदुपाख्यानादि श्रवणाच्च विशालायां बदर्यां विश्रुतेन प्रसिद्धेनापि भगवता श्रीनारायणेन सह मम किमन्यथा तद्भजनलयं विना रणः संग्रामो भवेत्? सम्भावनायां सप्तमी। अपि तु तत् सम्भावनापि न स्यादित्यर्थः। जातिस्वभावम् असुरजातेर्भगवद्द्वेषरूपं स्वभावं तं निर्वक्तुम् अयोग्यम् अश्लीलत्वात्। यद्वा, निजपितृसदृशं प्राप्तस्य; इव उपेक्षायाम्॥२९॥

भावानुवाद—अब अपनी उक्तिकी दृढ़ताको स्थापित करनेके लिए श्रीप्रह्लाद 'अन्यथानुपपत्ति' न्यायके अनुसार युक्ति प्रदर्शित कर रहे हैं। अन्यथा, क्या मैं फिरसे प्रभुके साथ युद्ध करनेके लिए प्रवृत्त होता? श्रीमद्भागवतके प्रथम-स्कन्धमें उक्त है—"श्रीभगवान्‌ने चतुर्थ अवतारमें धर्म-पत्नीके गर्भसे श्रीनर-नारायण रूपमें आविर्भूत होकर आत्मसंयम रूप तपस्याके आचरणकी शिक्षा दी है।" तथा चतुर्थ-स्कन्धमें कथित है—"वही श्रीनर-नारायण इस प्रकार देवताओंके द्वारा स्तुति किये जाने पर उनको दर्शन देते हैं तथा उनके द्वारा की गई पूजाको ग्रहण करके गन्धमादन पर्वतको गमन करते हैं।" इत्यादि प्रामाणिक वचन और उस स्थान पर वर्णित उनके उपाख्यान आदिको श्रवण करके भी बदरिकाश्रममें प्रसिद्ध भगवान् श्रीनर-नारायणके साथ क्या मैं युद्धमें प्रवृत्त होता? अर्थात् भजन होने पर कभी भी युद्धकी सम्भावना नहीं रहती है; अतएव क्या मैंने फिरसे असुर स्वभावको प्राप्त नहीं किया है? अर्थात् मैंने असुर जाति सुलभ भगवद्द्वेष-भावरूप स्वभावको प्राप्त किया है। वैसी अश्लीलताके विषयमें कुछ प्रकाश करना भी उचित नहीं है। अथवा मैंने अपने पिता जैसे स्वभावको प्राप्त किया है, इसलिए मैं सम्पूर्णरूपसे उपेक्षा करने योग्य हूँ॥२९॥

आत्मतत्त्वोपदेशेषु दुष्पाण्डित्यमयासुरैः।
संगान्नाद्यापि मे शुष्कज्ञानांशोऽपगतोऽधमः॥३०॥

श्लोकानुवाद—आत्मतत्त्वके उपदेशके विषयमें असुर दुष्पण्डित हैं और उनके संगके प्रभावसे आज भी मेरा अधम शुष्कज्ञानका अंश नष्ट नहीं हुआ है॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्वमपि मम दैत्यदुःस्वभावोऽशेषो नापगतोऽस्त्येवेत्याह—आत्मेति। आत्मनो जीवस्य तत्त्वं ब्रह्मत्वं तस्योपदेशेषु यद्दुष्पाण्डित्यं दुष्टचातुर्यं भक्तिं विनापि तज्ज्ञानमात्रेणैव परमकृतार्थता निरूपणात्। तन्मयैरसुरैः सह सङ्गाद्धेतोर्मे मत्तोऽद्यापि शुष्कः भक्तिरसहीनः शुष्कस्य वा ज्ञानस्यांशो गन्धो नापगतः। कीदृशः? अधमः परमदुष्टः भक्तिरस विघातकत्वात्॥३०॥

भावानुवाद—अभी तक मेरा अपार दैत्यस्वभाव भी दूर नहीं हुआ है। मैंने दैत्य-बालकोंको जो उपदेश दिया है, उसके द्वारा मैंने केवल जीवात्माके ब्रह्मत्वरूप तत्त्वके विषयमें दुष्पाण्डित्य रूप दुष्ट चतुराताको ही प्रकाशित किया है। अर्थात् मैंने भक्ति रहित केवल आत्मोपदेश विषयमें अपने पाण्डित्यको ही प्रकाशित किया है, क्योंकि असुरलोग भक्तिसे रहित, केवल आत्माके ब्रह्मत्व-निरूपणमें ही परम कृतार्थता समझते हैं। अतएव ऐसे असुरोंके संगसे आज तक भक्तिरस हीन मेरा शुष्क ज्ञानका अंश नष्ट नहीं हुआ है। वह शुष्क ज्ञान कैसा है? वह ज्ञान अधम, परमदुष्ट, भक्तिरस-विघातक है॥३०॥

कुतोऽतः शुद्धभक्तिर्मे यया स्यात् करुणा प्रभोः।
ध्यायन् बाणस्य दौरात्म्यं तच्चिह्नं निश्चिनोमि च॥३१॥

श्लोकानुवाद—अतएव मुझमें शुद्धभक्ति कहाँ है? तथा शुद्धभक्तिके अभावमें मुझ पर भगवान्‌की कृपा भी किस प्रकार होगी? अपने पर-पौत्र बाणासुरके दुष्टताकी चिन्ता करके भी मैं अपनेमें शुद्धाभक्तिका अभाव अनुभव करता हूँ॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्माद्धेतोः शुद्धा कर्मज्ञानांशसंभिन्ना भक्तिः कुतो मे स्यात् अपि तु न भवेदेव। शुद्धभक्तेर्लक्षणं श्रीवोपदेवाचार्यैर्मुक्ताफलग्रन्थै श्रीकपिलवचनेन लिखितमस्ति—'*अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।*' इति। यथा शुद्धभक्त्या प्रभोः करुणा स्यात्, तल्लक्षणञ्च मया दृढ़ं ज्ञातमस्त्येवेत्याह—'ध्यायन्' इति। दौरात्म्यञ्च निजकुलेष्ट दैवतवर—श्रीविष्णुपरित्यागेनान्याश्रयणं श्रीमदनिरुद्धबन्धनादि वा तस्य शुद्धभक्तभावस्य चिह्नं लक्षणम्। ईदृशो हि दुष्टो यस्य वंशे जायते तस्य

काचिदपि शुद्धभक्तिर्भगवत्कृपा च तद्विषयका नास्तीति भावः। अनेन श्रीशिवोक्तं बाणरक्षणं भगवदनुग्रहलक्षणमिति निरस्तम्, तद्वधस्यैवेष्टत्वमननात्॥३१॥

भावानुवाद—अतएव मुझमें शुद्धभक्ति कैसे होगी? विशेषकर शुद्धभक्ति तो कर्म-ज्ञानादि द्वारा अनावृत होती है, इसलिए मुझमें वैसी शुद्धभक्ति कहाँ है? अर्थात् मुझमें शुद्धभक्ति नहीं है। शुद्धभक्तिके लक्षणोंको श्रीवोपदेवाचार्यने अपने मुक्ताफल नामक ग्रन्थमें श्रीकपिलदेवके वचनोंको उद्धृत करते हुए लिखा है—"पुरुषोत्तम भगवान्‌के विषयमें अनुष्ठित होनेवाली अहैतुकी तथा व्यवधान (बाधा) रहित भक्ति ही शुद्ध भक्ति कहलाती है।" वैसे लक्षणों वाली शुद्धभक्ति तो मुझमें नहीं है, यही मैं दृढ़तापूर्वक अनुभव कर रहा हूँ। अपने पर-पौत्र बाणासुरके दुष्टताकी चिन्ता करने पर भी अर्थात् बाणासुर द्वारा अपने कुलदेवता श्रीविष्णुके आश्रयको त्यागकर अन्य देवताका आश्रय ग्रहण करना तथा श्रीअनिरुद्धको बन्दी बना लेना, इस विषयमें चिन्ता करके मैं अपनेमें शुद्धभक्तिका अभाव अनुभव कर रहा हूँ। वास्तवमें जिसके वंशमें ऐसा दुष्ट जन्मग्रहण करे, क्या उसे कभी भी शुद्धभक्ति हो सकती है अथवा उन पर कभी भगवत्कृपा हो सकती है? कदापि नहीं। इसके द्वारा श्रीशिव द्वारा कहे गये वचन—'बाणासुरके प्राणोंकी रक्षा भगवान्‌की कृपाके लक्षण हैं' इत्यादिका भी खण्डन हुआ। यह भी सूचित होता है कि ऐसे दुष्टोंका वध ही वाञ्छनीय है, क्योंकि उसके प्राणोंकी रक्षा करना भगवत्कृपाका लक्षण नहीं है॥३१॥

बद्धा संरक्षितस्यात्र रोधनायास्तासौ बलेः।
द्वारीति श्रूयते क्वापि न जाने कुत्र सोऽधुना॥३२॥

श्लोकानुवाद—बलिके अपराधके कारण श्रीभगवान् उसके द्वारपालके रूपमें अवस्थान कर रहे हैं; यद्यपि यह बात सुनी तो जाती है, तथापि अब वे कहाँ हैं, इस विषयमें मैं कुछ नहीं जानता हूँ॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तां ताञ्च विना बलेर्द्वारपालोऽसौ कथं वृत्तः? तत्राह—बद्धेति। अत्र सुतले; बले रोधनाय आवरणार्थं बलेर्द्वारि असौ प्रभुरस्तीति क्वापि कस्मिंश्चिन्मुनिजने श्रूयते। तथा च श्रीहरिवंशे बाणं प्रति कुष्माण्डवचनम्—*'बलिर्विष्णुबलाक्रान्तो बद्धस्तव पिता नृप। सलिलौघाद् विनिःसृत्य क्वचिद्राज्यमवाप्स्यति॥'*

इति। एतादृशमन्यदपि श्रीरामायणोत्तरकाण्डे रावणपातालजयप्रसङ्गतो ज्ञेयम् एवं बलेर्द्वारि तस्यावस्थितिर्न कारुण्येन, किन्तु निरोधनायैवेति पूर्वोद्दिष्टनिग्रहः साधितः। अनेन भोः! वैष्णवश्रेष्ठेति श्लोकोक्तं निरस्तम्ः ननु तथापि श्रीशिवब्रह्मादि दुर्लभदर्शनः श्रीवैकुण्ठेश्वरः सततमत्र द्वारे दृश्यत इति। महती कृपा लक्ष्यते एव। तत्राह—न जान इति। स प्रभुरधुना कुत्रास्तीत्यपि न जाने, कुतश्च तद्दर्शनमित्यर्थः। अधुनेत्यनेन कदाचिदेव तद्दर्शनं लभ्यते, नतु सदेति सूचितम्॥३२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि तुम्हारी शुद्धभक्ति अथवा तुम्हारे प्रति भगवत्कृपाके बिना क्या भगवान् बलिके द्वार पर द्वारपालके रूपमें निवास करते? इस आशंकाके उत्तरमें 'बद्धेति' श्लोक कह रहे हैं। इस सुतलमें बलिके अपराधके कारण भगवान् उसके द्वार पर द्वारपालके रूपमें अवस्थान कर रहे हैं। यह वृत्तान्त किसी-किसी मुनि-समाजमें भी सुना जाता है। यथा, श्रीहरिवंशमें बाणके प्रति कुष्माण्डका वचन—"हे राजन्! यद्यपि आपके पिता बलि, श्रीविष्णुके बलसे आक्रान्त होकर बद्ध हुए हैं, यह सत्य है; तथापि जैसे रोका गया जलप्रवाह उछल कर बाँधको पार करके फिरसे आगेकी ओर प्रवाहित होने लगता है, उसी प्रकार आपके पिता भी बन्धनसे मुक्त होकर अपना अभिलषित राज्य प्राप्त करेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है?" ऐसा प्रसंग और स्थानों पर भी देखा जाता है। जैसे श्रीरामायणके उत्तरकाण्डमें रावणके पाताल विजय-प्रसंगमें उल्लिखित है—"बलिके द्वार पर द्वारपालके रूपमें भगवान्का अवस्थान उनकी करुणाके कारण नहीं, बल्कि बलिको रोकनेके लिए है ताकि वह कहीं भाग न जाए"—ऐसा समझना चाहिए। इसके द्वारा पूर्वोदिष्ट अनुग्रहका अभाव ही स्थापित होता है। और 'भोः वैष्णवश्रेष्ठ' इत्यादि श्लोकोक्त श्रीप्रह्लादके प्रति प्रशंसावादका भी खण्डन हुआ। यदि कहो कि तथापि श्रीशिव-ब्रह्मा आदिको भी जिस वैकुण्ठेश्वरके दर्शन दुर्लभ हैं, उनका सतत दर्शन करना क्या महती कृपाका लक्षण नहीं है? उसीके लिए कह रहे हैं—अब प्रभु कहाँ पर अवस्थान कर रहे हैं, मैं यह जानता नहीं हूँ, अतः उनके दर्शन किस प्रकार करूँ? 'अधुना' इस वाक्यके द्वारा सूचित हो रहा है कि कभी-कभी भगवान्के दर्शन होते हैं, सदैव नहीं॥३२॥

कदाचित् कार्यगत्यैव दृश्यते रावणादिवत्।
दुर्वाससेक्षितोऽत्रैव विश्वासात्तस्य दर्शने॥३३॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी कोई अपने कर्मोंकी गति वशतः रावण आदिकी भाँति उनका दर्शन करता है। अपने विश्वासके कारण दुर्वासाने इसी स्थान पर प्रभुके दर्शन किये थे॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु बलिपुरीमिमां प्रविशन् रावणो गदाधरेण भगवता पादाङ्गुष्ठेनोच्चाटित इत्याद्युपाख्यानतोऽत्र सदैव द्वारे भगवतोऽवस्थानं गम्यते। तत्राह—कदाचित् कार्येति। कार्यस्य द्वारपालनलक्षणस्य कृतास्य गत्या प्राप्त्यैव केनापि कदाचिद्दृश्यते। स रावणादिभिरिव अन्यथा रावणेन बलिरुपविनीतः स्यादिति भावः। आदिशब्देन दुर्वासः प्रभृतयः। ननु बलिरोधनाय साक्षाद्भूतं भगवन्तमत्र रावणः पश्यतु नाम। दुर्वासाश्च भगवति कुशस्थलीरक्षक-कुशादिदैत्य-गणकृत-निजदुःख-निवेदनार्थमत्रैवागतस्तं ददर्शेति प्रह्लाद-संहितोक्त्या सदा तस्यात्रावस्थानं गम्यते। तत्राह—दुर्वाससेति सार्धेन। अत्र बलिद्वार एव तस्य भगवतो दर्शने विश्वासाद्धेतोरत्रैव दृष्टः सः, न तु तस्य द्वारपालतयात्रावस्थानात् सम्प्रति सुतले बलिद्वारे ब्रह्मण्यदेवो भगवान् वर्त्तते। तत्राचिरेण तस्य दर्शनं प्राप्स्यसीत्यादि नारदोपदेशेन विश्वस्तः सन् दुर्वासास्तत्र गत्वा सद्य एव तं प्रापेत्येवमुपाख्यानं द्वारकामाहात्म्य प्रतिपादक प्रह्लाद संहितातोऽन्वेषणीयम्॥३३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि जिस समय रावणने पाताल-विजयके लिये सुतलमें बलिकी पुरीमें प्रवेश किया था, उस समय भगवान् श्रीगदाधरके पैरके अँगूठेकी ठोकरसे वह बहुत दूर जाकर गिरा था। इस उपाख्यान द्वारा यह ज्ञात होता है कि भगवान् सर्वदा बलिके द्वार पर द्वारपालके रूपमें अवस्थान करते हैं। इसलिए—'कदाचित्' इत्यादि पद कह रहे हैं, अर्थात् कार्यवशतः रावण आदिकी भाँति कोई-कोई कभी उनका दर्शन प्राप्त करते हैं, क्योंकि श्रीभगवान् बलिके द्वार पर द्वारपालके कार्यमें नियुक्त हैं। यदि भगवान् रावणको पैरके अँगूठेकी ठोकर द्वारा दूर न फेंक दिये होते, तो बलि रावणके द्वारा पीडित होते। यहाँ पर 'रावणादि' पदके आदि शब्दसे दुर्वासा आदिको भी ग्रहण करना होगा।

यद्यपि बलिके द्वारा रोक लिये जानेके कारण भगवान् द्वारापालके रूपमें सुतल लोकमें अवस्थान कर रहे हैं, तथा यदि उनका (श्रीभगवान्‌का) उद्देश्य भी यही हो (बलि सुतलमें ही वास करें),

तथापि यदि रावण बलिको पाताललोकसे कहीं निकाल दें, तो इससे भगवान्‌का उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा। अतएव कार्यवशतः बलिकी रक्षा करनेके लिये द्वारपालके रूपमें अवस्थान कर रहे प्रभुका दर्शन प्राप्त हुआ। कुशस्थलीरक्षक कुशादि दैत्यों द्वारा पीडित होकर भगवान्‌को अपना दुःख निवेदन करनेके लिये आये दुर्वासाने इसी सुतललोकमें ही श्रीभगवान्‌के दर्शन प्राप्त किये थे। बलिके द्वार पर श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके विषयमें श्रीप्रह्लादसंहितामें वर्णित उपाख्यान द्वारा उक्त प्रकारकी घटनाकी पुष्टि होती है। श्रीप्रह्लादसंहितामें कथित है, 'बलिके द्वार पर भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते हैं', ऐसे विश्वासके साथ दुर्वासा-ऋषिने वहीं पर भगवान्‌के दर्शन प्राप्त किये थे, किन्तु इस कारणसे नहीं कि भगवान् सुतलमें बलिके द्वारपालरूपमें सदा रहते हैं। आपने (श्रीनारदने) ही उनको कहा था—"आजकल भगवान् ब्रह्मण्यदेव सुतलमें बलिके द्वार पर रहते हैं, वहाँ जाने पर तुम उनके दर्शन पाओगे।" आपके इन्हीं वचनों पर विश्वास करके दुर्वासा-ऋषिने सुतलमें जाकर तत्क्षणात् भगवान्‌का दर्शन प्राप्त किया था। यह उपाख्यान द्वारका-महात्म्य-प्रतिपादक श्रीप्रह्लादसंहिता ग्रन्थमें द्रष्टव्य है॥३३॥

यस्य श्रीभगवत्प्राप्तावुत्कटेच्छा यतो भवेत्।
स तत्रैव लभेतामुं नतु वासोऽस्य लाभकृत्॥३४॥

श्लोकानुवाद—जिसकी जिस स्थान पर भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होती है, उसको उसी स्थानमें ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है। भगवान् किसी विशेष स्थान पर वास करते हैं, अतएव उनको उस स्थान पर ही पाया जा सकेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु नियतावस्थितिं बिना विश्वासोऽपि कथं जायताम्? तत्राह—यस्येति। यतो यत्र स्थाने; श्रीभगवतः प्राप्तौ यस्य उत्कटेच्छा लालसाधिक्यं प्रेमौत्कण्ठ्यमिति यावत्, न तु इच्छामात्रम्। अमुं भगवन्तम्; न तु अस्य वासो वसतिर्वासस्थानं वा। केवलमस्य श्रीभगवतो लाभं प्राप्तिं करोतीति तथा सः। अन्यथा श्रीवासुदेवस्य सर्वत्रैव वासात् सर्वेषामेव सर्वत्रापि तत्प्राप्तिः स्यात्। अतो विश्वासोऽपि तत् प्राप्त्युत्कटेच्छयैव भवतीति भावः। यच्च श्रीवृन्दावनादौ तदीयप्रियतमाक्रीड़वरे विश्वासादिकं विनापि कदाचित् श्रीभगवद्दर्शनादिकं कस्यचित्

स्यात्, तच्च भगवत्परमप्रियतमत्वेन स्थानविशेषस्यैव कस्यचित् तादृङ्महाप्रभावात्। न तु सर्वस्यापि भगवदावासस्थानस्येति दिक्॥३४॥

भावानुवाद—यदि आशंका हो कि भगवान्‌की निश्चित अवस्थितिके बिना उनके वास स्थानके प्रति विश्वास भी कैसे होगा? इसीके समाधानके लिए 'यस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिसकी जिस स्थान पर भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा जाग्रत होती है अर्थात् अत्यधिक लालसा या प्रेमोत्कण्ठा उदित होती है, वे उसी स्थान पर ही भगवान्‌को प्राप्त करते हैं। किन्तु केवल इच्छामात्र ही उनकी प्राप्तिके लिए पर्याप्त नहीं है; तथा भगवान् किसी विशेष स्थान पर रहते हैं, अतएव उसी स्थान पर ही उनका दर्शन प्राप्त किया जा सकता है—ऐसा भी कोई नियम नहीं है। इसका कारण है कि प्रेमोत्कण्ठाके बिना केवल भगवान्‌का वासस्थान भी उनकी प्राप्ति नहीं करा सकता। अन्यथा भगवान् श्रीवासुदेवके सर्वदा सर्वत्र वास करनेके कारण सभी उनको सर्वत्र प्राप्त कर लेते। अतएव विश्वास ही उनकी प्राप्तिकी तीव्र इच्छामें पर्यवसित होता है तथा ऐसी अत्यधिक लालसावशतः ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है। यद्यपि श्रीवृन्दावन भगवान्‌की अत्यन्त प्रियतम-क्रीड़ास्थली है तथा वहाँ ऐसे विश्वास आदिके बिना भी कभी-कभी किसी-किसीको भगवान्‌के दर्शन होते हैं, तथापि भगवान्‌के प्रियतम स्थानके प्रभावसे ही वैसा होता है। अर्थात् श्रीधामके महाप्रभावसे वहाँ भगवान्‌के दर्शन होते हैं, किन्तु सर्वत्र भगवान्‌का वासस्थान है—इस कारणसे नहीं॥३४॥

प्राकट्येन सदात्रासौ द्वारे वर्तेत चेत् प्रभुः।
किं यायां नैमिषं दूरं द्रष्टुं तं पीतवाससम्॥३५॥

श्लोकानुवाद—भगवान् यदि प्रकटरूपसे इसी द्वार पर सदैव वास करते, तो क्या मैं पीताम्बरधारी भगवान्‌के दर्शनके लिए सुदूर नैमिषारण्यमें जाता?॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—सदात्र साक्षादभगवदवस्थानं नास्तीति व्यक्तमेवेत्याह—प्राकट्येनेति। यायां गच्छेयं, सम्भावनायां सप्तमी। तत् प्रतिकृतिरूपम्॥३५॥

भावानुवाद—इसी स्थान पर सदैव साक्षात् भगवान्‌का निवास नहीं है, इसीको व्यक्त करते हुए 'प्राकट्येन' इत्यादि पद कह रहे हैं। 'तं' अर्थात् उन्हीं भगवान्‌की श्रीमूर्त्ति॥३५॥

भवताद्भवतः प्रसादतो भगवत्स्नेहविजृम्भितः किल।
मम तन्महिमा तथाप्यणुर्नवभक्तेषु कृपाभरेक्षया॥३६॥

श्लोकानुवाद—आपके अनुग्रहसे भगवान्‌की स्नेहपूर्ण कृपा मुझ पर हो! किन्तु श्रीहनुमान जैसे नये भक्तोंके प्रति भगवान्‌की कृपाका विचार करके देखने पर मेरे प्रति भगवान्‌की कृपा अत्यधिक कम प्रतीत होगी॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—विनयादिनापि निजगुरुवचनाक्षेपोऽनुपयुक्त एवेति मत्वा तदुक्तमखिलमङ्गीकृत्यान्यथा परिहरति—भवतादिति। आशिषि तात न भवत्वित्यर्थः। भवतः प्रसादाद्धेतोर्यो भगवत्स्नेहः तेन विजृम्भितो जनितः। नवेषु आधुनिकेषु भक्तेषु हनुमदादिषु यः कृपाभरस्तस्येक्षया विचारेण मम स भवदुक्तो महिमा अणुः सूक्ष्मः अत्यल्पतर इत्यर्थः। यथा महासमुद्रे दृष्टे सति सरोवरमत्यल्पमेव दृश्यत इति न्यायात्॥३६॥

भावानुवाद—अपने श्रीगुरुदेवके वचनों पर आपत्ति करना उचित नहीं है। इस प्रकार विवेचना करके श्रीप्रह्लाद विनयपूर्वक श्रीनारदके द्वारा कहे गये वचनोंको अङ्गीकार करके भी दूसरे रूपमें 'भवता' इत्यादि कहकर उनका निराकरण (खण्डन) कर रहे हैं। आपके अनुग्रहके कारण भगवान्‌के मेरे प्रति उदित स्नेहसे मुझे वैसी (महिमारूप) कृपाकी प्राप्ति हो। परन्तु यदि श्रीहनुमान आदि आधुनिक भक्तोंके प्रति प्रभुकी कृपाका विचार करके देखें, तो मेरे प्रति भगवान्‌की कृपा अर्थात् आपके द्वारा कही गयी मेरी महिमा उसी प्रकारसे अत्यधिक कम लगेगी, जिस प्रकार महासागरकी तुलनामें सरोवर अत्यधिक क्षुद्र दिखाई देता है॥३६॥

निरुपाधिकृपार्द्रचित्त हे बहुदौर्भाग्यनिरूपणेन किम्।
तव शुग्जननेन पश्य तत्करुणां किम्पुरुषे हनूमति॥३७॥

श्लोकानुवाद—हे निरुपाधिक कृपासे द्रवीभूत चित्तवाले (श्रीनारद)! मेरे दुर्भाग्यकी बात अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ होगा? उसके द्वारा आपको दुःख ही होगा, अतएव किम्पुरुषवर्ष पर जाकर श्रीहनुमानके प्रति भगवान्‌की करुणाका दर्शन कीजिए॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं मयि कृपाल्पतरेति विवृत्य स्पष्टं वर्ण्यतां, तत्राह—निरुपाधीति, निरुपाधिरहेतुका या कृपा तयार्द्रं कोमलं चित्तं यस्य। एवं मयुपदेशो निज परमदयालुत्वादेव न च मद्‌गुणापेक्षयेत्युक्तम्। बहुनो दौर्भाग्यस्य मदीयासौभाग्यस्य निरूपणेन वर्णनेन किम्? अपि तु न किमपि प्रयोजनम्। प्रत्युत दोष एवेत्याह—तव शुचां शोकानां जननेन उत्पादकेन, शिष्यवात्सल्यात् परदुःखासहिष्णुत्वाद्वा। ननु तर्हि को नामान्यो भगवत्कृपाभर विषयो यस्मादस्य मयारब्धस्यार्थस्य पर्याप्तिः स्यादित्यपेक्षायामाह—किम्पुरुषे वर्षे वर्त्तमानो यो हनुमान् तस्मिन् विषये तस्य भगवतः करुणां पश्य, स्वयमेव साक्षादनुभवेत्यर्थः॥३७॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि तुम्हारे प्रति भगवान्‌की जो अल्प कृपा है, उसे ही कुछ स्पष्टरूपसे वर्णन करो। इसके उत्तरमें श्रीप्रह्लाद कह रहे हैं कि मेरे प्रति आपकी (श्रीनारदकी) निरुपाधिक करुणा है तथा उस कृपाके कारण अर्थात् आपका चित्त कोमल होनेके कारण, मुझमें कुछ भी गुण न होने पर भी आपने परम दयालुतावशतः मुझे उपदेश दान किया है। अतएव मेरे दुर्भाग्यकी बात अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ होगा? इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है तथा ऐसा करनेसे दोष ही होगा, क्योंकि मेरे उस दुर्भाग्यकी बात आपको भी दुःखी कर देगी, अर्थात् शिष्य-वात्सल्यवशतः आप उस परमदुःखको सहन नहीं कर पायेंगे। यदि प्रश्न हो कि भगवान्‌की कृपाका पात्र कौन है तथा उसका क्या नाम है? इसे तुम स्पष्टरूपसे बतलाओ, जिससे मैं श्रीभगवान्‌की कृपाके पात्रका दर्शन कर सकूँ। इसी प्रश्नकी आशकांसे कह रहे हैं कि किम्पुरुषवर्षमें श्रीहनुमान हैं, उनके प्रति भगवान्‌की कृपाका दर्शन कीजिए अर्थात् स्वयं साक्षात्‌रूपसे उसे अनुभव कीजिए॥३७॥

भगवन्नवधेहि मत् पितुर्हननार्थं नरसिंहरूपभृत्।
सहसाविरभून्महाप्रभुर्विहितार्थोऽन्तरधात्तदैव सः॥३८॥

श्लोकानुवाद—भगवन्! आप मनोयोगसे श्रवण कीजिए। मेरे पिताका वध करनेके लिए भगवान् श्रीनृसिंहदेव सहसा आविर्भूत हुए थे, अतएव कार्य समाप्त होते ही वे अदृश्य हो गये॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तामेव विवृत्य वर्णयितुमादौ स्वभाग्याल्पतामाह—भगवन्निति द्वाभ्याम्। विहितोऽर्थो दैत्यहननादि प्रयोजनं येन सः। तदैव तत्क्षण एव॥३८॥

भावानुवाद—श्रीहनुमानके प्रति भगवान्की करुणाको विस्तारपूर्वक कहनेसे पहले श्रीप्रह्लाद अपने अल्पभाग्यके विषयमें 'भगवान्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। विहित्यर्थ अर्थात् दैत्योंका वध आदि कार्य पूर्णकर वे उसी क्षण अदृश्य हो गये॥३८॥

यथाकाममहं नाथं सम्यग्द्रष्टुञ्च नाशकम्।
महोदधितटेऽपश्यं तथैव स्वप्नवत् प्रभुम्॥३९॥

श्लोकानुवाद—मैं अपनी इच्छासे भगवान्को देखनेमें भी समर्थ नहीं हूँ। यद्यपि एक बार मैंने महासागरके तट पर उनका दर्शन किया था, किन्तु वह दर्शन भी स्वप्नकी भाँति प्रतीत हो रहा है॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अप्यर्थे चकारः। दष्टुमपि नाशकं, कुतो भक्तिं करिष्य इत्यर्थः। तथैवेति यथा श्रीनृसिंहाविर्भावस्थाने स्वल्पकालावस्थित्या भयगौरवादिना च सम्यग्द्रष्टुं नाशकम्। तथा प्रथमदर्शन-सम्भ्रमादिना महोदधितीरेऽपीत्यर्थः। एतद्विशेषस्तु हरिभक्तिसुधोदयाद विस्तरतो ज्ञेयः॥३९॥

भावानुवाद—यहाँ 'अपि'के अर्थमें 'च' कारका प्रयोग हुआ है। मैं प्रभुका दर्शन करनेमें भी समर्थ नहीं हूँ, फिर उनकी भक्ति कैसे कर सकता हूँ? 'तथैव' अर्थात् भगवान् श्रीनृसिंहदेवके प्रकट होनेका स्थान, प्रभु शीघ्र ही मेरे पिताका वधकर वहाँसे अदृश्य हो गये थे। अतएव वहाँ पर प्रभुके अल्प कालके वासके कारण मैं भय और गौरव आदि वशतः उनका भलीभाँति दर्शन करनेमें भी समर्थ नहीं हो पाया। महासागरके तट पर भी प्रथम दर्शनके समय उत्पन्न सम्भ्रम आदि वशतः मैंने भगवान्का स्वप्नकी भाँति ही दर्शन किया था। इस विषयमें अधिक विवरणके लिए हरिभक्तिसुधोदय ग्रन्थ द्रष्टव्य है॥३९॥

हनूमांस्तु महाभाग्यस्तत्सेवासुखमन्वभूत्।
सुबहूनि सहस्राणि वत्सराणामविघ्नकम्॥४०॥

श्लोकानुवाद—किन्तु इस विषयमें श्रीहनुमान महाभाग्यशाली हैं। उन्होंने हजारों वर्षों तक निर्विघ्नरूपसे भगवान्‌की सेवा-सुखका अनुभव किया है॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं वक्तव्यं महाप्रभुं समपश्यदिति। तस्य सेवानन्दमपि चिरमनुभूतवानित्याह—हनूमानिति। सुबहूनीति रामायणे किञ्चिदधिकान्येका-दशसहस्राणि, श्रीभागवते च साधिकानि त्रयोदशेत्युक्तानि। तथा च नवमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ९/११/१८) —*'अत उर्द्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः त्रयोदशाब्दसाहस्रमाग्निहोत्रम-अखण्डितम्॥'* इति तथा तत्रैव (श्रीमद्भा॰ ९/११/३६)—*'बुभूजे च यथाकालं काममन्यानपीड़यन्। वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रि पल्लवः॥'* इति तच्च अविघ्नकं केनचिदपि विघ्नेनासंस्पृष्टमित्यर्थः॥४०॥

भावानुवाद—श्रीहनुमानने भगवान्‌का सम्यक् (सम्पूर्ण) रूपसे दर्शन किया था, इस विषयमें और अधिक क्या कहूँ? उन्होंने हजारों वर्षों तक निर्विघ्नरूपसे भगवान्‌की सेवासे प्राप्त होनेवाले आनन्दका अनुभव किया है। इसीको ही 'हनुमांस्त' इत्यादि पदोंमें कह रहे हैं। 'सुबहूनि' कहनेसे रामायणके मतानुसार ग्यारह हजार वर्षसे थोड़ा अधिक समय। किन्तु श्रीमद्भागवतके मतानुसार श्रीहनुमानने तेरह हजार वर्ष तक उस सेवा-सुखका अनुभव किया है।

इस विषयमें नवम-स्कन्धमें कहा गया है, "श्रीहनुमानने अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतको धारणकर तेरह हजार वर्ष तक अग्निहोत्र द्वारा प्रभुका यजन (पूजन) किया है।" इसके उपरान्त कहा गया है—"भगवान् श्रीरामचन्द्रने अपनी प्रिया श्रीसीतादेवीके साथ लीला करते-करते अनेक वर्षों तक धर्मानुसार स्वेच्छापूर्वक धर्मराज्य पर शासन किया था। उस समय प्रत्येक मानव ही निरन्तर प्रभुके श्रीचरणकमलोंका ध्यान करते थे।" अतएव श्रीहनुमान द्वारा की गयी भगवान्‌की सेवामें किसी प्रकारकी विघ्नबाधा नहीं रही, इसलिए वे महाभाग्यशाली हैं॥४०॥

यो बलिष्टतमो बाल्ये देववृन्दप्रसादतः।
सम्प्राप्तसद्वरव्रातो जरामरणवर्जितः॥४१॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमान अपने बाल्यकालमें अत्यन्त बलवान थे तथा देवताओंकी कृपासे उत्तम-उत्तम वर प्राप्त करके वे वृद्धावस्था और मृत्यु आदिसे मुक्त हुए थे॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाभाग्यतामेव विस्तार्य दर्शयिष्यन् तत्र प्रथमं निर्विघ्नसततसेवा-सुखोपकरणत्वेन तस्य महाबलादिकमाह—य इति, सार्धेन चतुरक्षराधिक्येन बाल्येऽपि सद्वरव्रातमेव किञ्चिद्दर्शयति—जरेत्यादि-विशेषण-पञ्चकेन। अत्रेयमाख्यायिका रामायणादौ सुप्रसिद्धा—'जातमात्रो हनुमानुद्यन्तं सूर्यं वीक्ष्य पक्वतालमिव मत्वा ग्रसितुमुत्प्लुत्य ग्रहीतुमुपरि गच्छन्निन्द्रेणादित्यरक्षार्थं हनौ वज्रप्रहारेण पातितः मूर्च्छितः। ततः पुत्रशोकार्त्तेन वायुना सर्वत्रात्मनिरोधे कृते लोकानां प्राणपीड़ामालोक्य ब्रह्मादयः सर्वे देवाः समागत्य तं स्वस्थयित्वा महावरांस्तस्मै विविधान् ददुः' इति॥४१॥

भावानुवाद—अब श्रीहनुमानके महाभाग्यका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिए सर्वप्रथम उनके द्वारा प्राप्त निरन्तर निर्विघ्नरूपसे सेवासुख अनुभवके उपकरण-स्वरूप उनके महापराक्रमी होनेकी बातको 'यो' इत्यादि श्लोकमें बाल्य से लेकर सद्वरव्रातो पद तक किञ्चित् रूपमें बतला रहे हैं। श्रीहनुमान अपने बाल्यकालमें अत्यन्त बलवान थे तथा देवताओंकी कृपासे उत्तम-उत्तम वर प्राप्त करके वृद्धावस्था-मृत्यु आदि पर भी विजय प्राप्त कर चुके थे। 'जरा' इत्यादि (तथा श्लोक ४२ में कथित) पाँच विशेषणों द्वारा उनके वैशिष्ट्यको बतला रहे हैं। यह उपाख्यान श्रीरामायण आदि ग्रन्थोंमें सुप्रसिद्ध है। श्रीहनुमान जन्म लेते ही सूर्यदेवको पका हुआ तालका फल समझकर उन्हें ग्रास करनेके लिए ऊपर आकाशमें कूद गये थे। इन्द्रदेवने सूर्य देवताकी रक्षाके लिए श्रीहनुमान पर वज्रसे प्रहार किया जिससे वे भूमि पर गिरकर मूर्छित हो गये। अपने पुत्र हनुमानकी ऐसी अवस्था देखकर पवनदेवने पुत्रशोकमें कातर होकर वायुका प्रवह बन्द कर दिया। वायुके बन्द होने पर समस्त प्रणियोंकी प्राण-वायु बन्द होनेसे लोकमें सर्वत्र हा-हाकार मच गया। उस समय प्राण-पीड़ा उपस्थित होने पर श्रीब्रह्मादि समस्त देवताओंने मिलकर श्रीहनुमानको स्वस्थ किया तथा उनको 'जरा-मरण रहित होओ' इत्यादि उत्तम-उत्तम वर प्रदान किये॥४१॥

अशेषत्रासरहितो महाव्रतधरः कृती।
महावीरो रघुपतेरसाधारणसेवकः ॥४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानको किसी भी प्रकारका भय नहीं था, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और समस्त शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले थे। विशेषतः वे महापराक्रमी होनेके कारण भगवान् श्रीरघुपतिके प्रधान सेवक थे॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाव्रतधरः ब्रह्मचर्यनिष्ठः; कृती सर्वशास्त्रतत्त्वाभिज्ञो महाकविश्च महावीरो महायोधः। यद्वा, दानादिबहुप्रकार वीरतायां प्रवीण इत्यर्थः। तदुक्तं भरतेन—'*दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च। रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि॥*' इति, अतएव असाधारणो निरुपमः सेवकः॥४२॥

भावानुवाद—श्रीहनुमान महान व्रत धारण करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सभी शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले तथा महाकवि थे। महावीर कहनेसे महान योद्धा, अथवा दान आदि अनेक प्रकारकी वीरतामें प्रवीण थे। यथा, श्रीभरतके वचन हैं—"श्रीहनुमान जिस प्रकार दानवीर और धर्मवीर हैं, उसी प्रकार युद्धवीर भी हैं। उनके सम्बन्धमें इन तीन प्रकारके वीर रसकी बात श्रीब्रह्माने भी कही है।" अतएव वे भगवान् श्रीरामचन्द्रके असाधारण और अतुलनीय सेवक हैं॥४२॥

हेलाविलङ्घितागाध शतयोजनसागरः।
रक्षोराजपुरस्थार्तसीताश्वासनकोविदः ॥४३॥

श्लोकानुवाद—उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्रकी सेवाके लिए अगाध और अथाह, सौ योजन वाले सागरको अनायास ही पार करके राक्षसराज रावणकी पुरीमें भयसे व्याकुल श्रीसीतादेवीको आश्वासन प्रदान किया था॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—सेवकत्वमेव दर्शयति—हेलेत्यादिना सीताप्रमोदन इत्यन्तेन॥४३॥

भावानुवाद—अब 'हेलेति' श्लोक द्वारा श्रीहनुमानकी सेवाको दिखा रहे हैं। 'हेला' अर्थात् अनायास ही सागरको पारकर उन्होंने श्रीसीतादेवीको आश्वासन प्रदान आदि कार्य किये हैं॥४३॥

वैरिसन्तर्जको लङ्कादाहको दुर्गभञ्जकः।
सीतावार्त्ताहरः स्वामिगाढ़ालिङ्गनगोचरः॥४४॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने लंकापुरीको जलाकार और महलोंको तोड़फोड़कर प्रभुके शत्रुओंको भयभीत कर दिया था। श्रीसीतादेवीके सम्वादको प्रदान करके वे अपने प्रभु श्रीरामचन्द्र द्वारा गाढ़ आलिङ्गनको प्राप्त हुए थे॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वैरिणो रावणादीन् राक्षसान् सन्तर्जयति तत् प्रेषिताक्षयकुमार-मन्त्रिपुत्रहननादिना भीषयत इति तथा सः। स्वामिनो रघुनाथस्य यदगाढ़ालिङ्गनं सीतासद्वार्त्ताप्राप्तिहर्षभरात् तस्य गोचरो विषयः। एतच्च सर्वमुत्तरोत्तरं सेवाविशेषसम्पत्तेः कारणं सूचयति॥४४॥

भावानुवाद—श्रीहनुमानने भगवान् श्रीरामचन्द्रके शत्रु राक्षसराज रावण आदिको अत्यधिक भयभीत कर दिया था। रावण द्वारा प्रेरित अक्षयकुमार नामक मन्त्री-पुत्रका विनाश किया था तथा राक्षसराजकी पुरीमें स्थित श्रीसीतादेवीका सम्वाद लाकर अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रके गाढ़ आलिङ्गनके पात्र बने थे। इस प्रकार एकके बाद एक उनकी विशेष सेवा-सम्पत्तिके कारणको सूचित कर रहे हैं॥४४॥

स्वप्रभोर्वाहकश्रेष्ठः श्वेतच्छत्रितपुच्छकः।
सुखासनमहापृष्ठः सेतुबन्धक्रियाग्रणीः॥४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमान अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रके प्रधान वाहक थे, उन्होंने अपनी पूँछको श्वेतछत्र (छतरी)के रूपमें परिवर्तित किया था, उनका विशाल पृष्ठदेश (पीठ) भी प्रभुका सुखमय आसन था तथा समुद्र पर सेतुबन्धनके कार्यमें भी वे सर्वप्रधान थे॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वप्रभोस्तस्यैव किष्किन्धातः समुद्रतीरगमने सुविस्तीर्ण-सुन्दर-सुकुमार पृष्ठेन सुष्ठु वहनात्। वाहकेषु गरुड़ादिषु श्रेष्ठः। यद्यपि रावण युद्धसमयेऽपि वाहनतां गतोऽस्ति, तथापात्र रामायणोक्तक्रमेण सागरलङ्घनमारभ्य सीताप्रमोदनान्तमुपाख्यानमनुक्रम्य तदनुसारेण व्याख्यानात्तथार्थो लिखितः। श्रेष्ठत्वमेव किञ्चिदभिव्यञ्जयति—श्वेतेति पादद्वयेन-श्वेतच्छत्रं महाराजचिह्नं सितातपत्रं तद्वदाचरितं पुच्छं येन, बहुव्रीहौ कः। सुखासनं सुखमयमासनं भद्रपीठसिंहासनं वा महत् पृष्टं यस्य; समुद्रे सेतुबन्धक्रियायामग्रणीर्मुख्यः एकदैव महाशिलोच्चयसमुच्चयनयनात्॥४५॥

भावानुवाद—श्रीहनुमान अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रके प्रधान वाहक थे, अर्थात् किष्किन्धासे समुद्रतीर तक जानेके समय अपनी सुविस्तृत सुन्दर सुकुमार पीठ पर प्रभुको वहन करनेके कारण इन्होंने प्रभुके गरुड़ आदि वाहकोंसे भी श्रेष्ठ-स्थान प्राप्त किया है। यद्यपि रावणके साथ युद्ध करनेके समय भी वे वाहन बने थे, तथापि रामायणमें कहे गये क्रमानुसार सागर-लंघनसे आरम्भ करके श्रीसीतादेवीको आश्वासन प्रदान करने तक उनकी सेवाओंके विषयमें नियमित क्रमानुसार लिखा गया है। इस प्रकार उनकी श्रेष्ठताके विषयमें अभिव्यक्ति मात्र हो रही है—श्रीहनुमानने अपनी पूँछको महाराज-चिह्न श्वेतछत्र (छतरी)के रूपमें रूपान्तरित किया था। उनका विशाल पृष्ठदेश भी प्रभुका सुखमय आसन बना था, अर्थात् उनकी सुन्दर पीठ प्रभुके लिए सिंहासनस्वरूप बनी था। समुद्र पर सेतुबन्धनके कार्यमें भी वे अग्रणी थे, अर्थात् सर्वप्रधान थे। एक बारमें ही अनेक बड़ी-बड़ी शिलाओंको लाकर इन्होंने सेतुबन्धन कार्यमें सहायता की थी॥४५॥

विभीषणार्थसम्पादी रक्षोबलविनाशकृत्।
विशल्यकरणीनामौषध्यानयनशक्तिमान् ॥४६॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने विभीषणकी अभिलाषाको पूर्ण किया था तथा राक्षसी सेनाका विनाश किया था। विशल्यकरणी नामक औषधिको लानेमें केवल वही समर्थ थे॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—विभीषणस्यार्थः श्रीरघुनाथचरणारविन्दसमाश्रयणं तत् सम्पादनशीलः। पूर्वं विभीषणस्य बहुलसद्वृत्तकथनात् सम्प्रति च समुद्रतीरे समागतस्य तस्य प्रभुणा सह सङ्गमनात्। एवं बाल्यकाण्डान्तर्वर्त्ति-किष्किन्धासुन्दरकाण्डोक्तं तस्य सेवकत्वं संक्षेपतो निर्द्दिश्याधुना तथैव युद्धकाण्डोक्तमाह—रक्ष इत्यादिना प्रमोदन इत्यन्तेन। अत्रापेक्षिताख्यायिका रामायणतोऽवगन्तव्या। सा सुप्रसिद्धैवेति ग्रन्थविस्तरभयाद्विवृत्य न लिख्यते। विशल्यकरणीनाममहौषधेरानयनयोः इन्द्रजितो रात्रिकृतमायायुद्धेन निखिलवानरबले विसंज्ञे भृते, तथा श्रीलक्ष्मणेन च रावणामोघशूलप्रहारतो ब्रह्मवाक्य सत्यतापेक्षया मोहलीलायामवलम्बितायां सत्यां सुषेणवैद्यवचनाद्रात्रिमध्य एव वारद्वयमानयने या शक्तिः गन्धर्वगणजयगन्धमादन-महाशैलोत्पाटनवहन शीघ्र गमनादिरूपा तद्युक्तः भुम्नि मतुः॥४६॥

भावानुवाद—जिस समय विभीषण अपने भाई रावण द्वारा तिरस्कृत होकर श्रीरामचन्द्रके चरणकमलोंमें आश्रय ग्रहण करनेके लिए उपस्थित हुए थे, उस समय श्रीहनुमानने उनकी अभिलाषा पूर्ण करायी थी। उन्होंने पहलेसे ही भगवान् श्रीरामचन्द्रको विभीषणके अनेक सद्गुणोंकी बात बतला दी थी। समुद्र तट पर उपस्थित होने पर श्रीहनुमानने भगवान्‌के साथ विभीषणका मिलन कराया था। इस प्रकार बाल्यकाण्डके अन्तर्गत किष्किन्धाकाण्ड और सुन्दरकाण्डमें वर्णित श्रीहनुमानकी महिमा संक्षेपमें प्रदर्शित कर, अब युद्धकाण्डमें उक्त उनकी सेवा-महिमाके विषयमें बतला रहे हैं, तथा इसे 'रक्ष' इत्यादि पदोंसे आरम्भ करके 'प्रमोदन' (श्लोक ४९) तक कहा गया है। इस स्थान पर कथित होनेवाला उपाख्यान रामायणमें वर्णित है। यद्यपि ये सभी उपाख्यान अत्यधिक प्रसिद्ध हैं, तथापि ग्रन्थ विस्तारके भयसे उक्त विषय विस्तारपूर्वक वर्णित नहीं हुए हैं।

इन्द्रजीत द्वारा रात्रिकालमें किये गये माया-युद्धमें सारी वानर-सेना मूर्च्छित हो गयी थी तथा श्रीब्रह्माके वरदानकी सत्यता प्रदर्शन करनेके लिए रावणके अमोघ शूलके प्रहारसे श्रीलक्ष्मणने भी मोहलीला की थी। उस समय सुषेण वैद्यके वचनानुसार रात्रिमें ही श्रीहनुमानने सभी गन्धर्वोंको पराजित करके गन्धमादन पर्वतको उखाड़ फेंका तथा उसे वहनकर शीघ्रतापूर्वक गन्तव्य स्थान पर पहुँचे थे। इन समस्त कार्योंमें महाशक्तिका प्रदर्शन करके श्रीहनुमानने भगवान्‌की सेवा की थी, अर्थात् उस विशल्यकरणी औषधिको वहाँ तक लाना तथा अन्य अनेक कार्य केवल उन्हींकी शक्तिसे ही सम्पन्न हुए थे॥४६॥

स्वसैन्यप्राणदः श्रीमत्सानुजप्रभुहर्षकः।
गतो वाहनतां भर्त्तुर्भक्त्या श्रीलक्ष्मणस्य च॥४७॥
जयसम्पादकस्तस्य महाबुद्धिपराक्रमः।
सत्कीर्त्तिवर्द्धनो रक्षोराजहन्तुर्निजप्रभोः॥४८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीहनुमानने अपने पक्षकी सेनाको प्राणदान देकर अनुज श्रीलक्ष्मण सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रको प्रसन्न

किया था। भगवद्भक्तिकी अधिकतावशतः वे श्रीलक्ष्मणके भी वाहन बने थे। उन्होंने उत्तम मन्त्रणा द्वारा विजय दिलाकर, महाबुद्धि तथा पराक्रमको प्रकाश करके, राक्षसराज–विनाशी अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रकी सद्कीर्तिको वर्धित किया था॥४७–४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीमन्तं भक्तवात्सल्यादि स्वीकृतशस्त्रक्षताद्यपगमेन निजशोभातिशययुक्तं सानुजं लक्ष्मणसहितं प्रभुं हर्षयतीति तथा सः। अत्र च कथाक्रमो नापेक्षितः। वाक्यद्वयकृतस्याप्यस्य कर्मण ऐक्यरूप्यादेकत्रैव विवक्षया। भर्त्तुः श्रीरघुनाथस्य भक्तया श्रीलक्ष्मणस्य तद्भक्तस्यापि वाहनतां गतः इन्द्रजिद्वधे। तस्य लक्ष्मणस्य भर्त्तुरेव वा; महान्तौ बुद्धिपराक्रमौ यस्य; इन्द्रजितो रावणादेश्च वधे सन्मन्त्रप्रदानान्महाविक्रमदर्शनाच्च। एवं निजप्रभोः सत्कीर्त्तिं वर्धयतीति तथा सः, समुद्रलङ्घनादि रावण वध–हेतु प्रयोजनाचरणात्। एषा च युद्ध सम्बन्धि सेवावली–संक्षेपोक्तिः॥४७–४८॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीहनुमानने अपनी सेनाको प्राणदान दिया था। प्रभु श्रीरामचन्द्र द्वारा भक्तवात्सल्यवशतः अपने अंगोंमें अस्त्र–प्रहार क्षत स्वीकार करने पर उन्होंने औषधि प्रयोग द्वारा प्रभुके क्षत–विक्षत अंगोंका उपचार कर अति शोभायमान अनुज श्रीलक्ष्मण सहित भगवान्‌को प्रसन्न किया था। इस स्थान पर कथाके क्रमकी रक्षा नहीं हो पायी है, क्योंकि यहाँ एक समान दो घटनाओंको एक साथ वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अपने प्रभु श्रीरघुनाथके प्रति अत्यधिक भक्तिमान होनेके कारण श्रीहनुमान, इन्द्रजीतके वधके समय प्रभुके भक्त और प्रिय अनुज श्रीलक्ष्मणके भी वाहन बने थे। उन्होंने इन्द्रजीत तथा रावण आदिको वध करते समय उत्तम–उत्तम मन्त्रणा प्रदान की थी और अपने महापराक्रमका प्रकाश करके उन्होंने भगवान्‌की सत्कीर्तिको वर्धित किया था। इस प्रकार समुद्रलंघन और रावण–वध आदि युद्ध सम्बन्धीय उनकी सेवाओंका संक्षिप्त वर्णन किया गया है॥४७–४८॥

सीताप्रमोदनः स्वामिसत्प्रसादैकभाजनम्।
आज्ञयात्मेश्वरस्यात्र स्थितोऽपि विरहासहः॥४९॥

श्लोकानुवाद—श्रीसीतादेवीकी प्रसन्नताकी वृद्धि करके श्रीहनुमान अपने प्रभुकी सर्वश्रेष्ठ कृपाके एकमात्र पात्र हुए हैं। यद्यपि भगवान्‌की

आज्ञानुसार वे अब भी इस संसारमें रह रहे हैं, तथापि वे अपने प्रभुके विरहको सहन करनेमें असमर्थ हैं॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—सीतां प्रमोदयति प्रकर्षेण हर्षयतीति तथा सः; रावणवधादि-कथनात्, श्रीरघुनाथनिकटे समानयनाच्च। एवं निजप्रभुवरतदीयप्रियजन सेवामुक्त्वाऽधुना तत्तत् सेवाफलरूपानुग्रह विशेषलाभमाह—स्वामीति, स्वामिनोऽयोध्याधिपतेरभिषेकानन्तरं यः सत्प्रसादौघः श्रीजानकी-कण्ठहार-दापन-निश्चलविशुद्ध प्रेमभक्तिसम्पादनादि-रूपस्तस्य भाजनम्। ननु कथं तर्हि निजप्रभुपार्श्वं विहायात्रासौ स्थितस्तत्राह—आज्ञयेति। आत्मेश्वरस्य निजप्रभोः। यद्वा, आत्मनां जीवानामीश्वरस्य निरुपाधिहितकारिणः। हनूमत्यत्र स्थिते सर्वेषां लोकानां भक्तिमार्गे प्रवृत्त्या सुखं परमहितं भवेदित्यभिप्रायेण प्रभुणा कृतया आज्ञायेत्यर्थः। अपि यद्यपि विरहं निजप्रभुविच्छेदं न सहते सोढुं न शक्नोतीति तथा सः। एवं महाप्रभुणा साक्षाच्छ्रीमुखेन कृताया आज्ञायाः सम्पादनेन तस्य परमसेवैव सम्पन्नेति भावः॥४९॥

भावानुवाद—श्रीहनुमानने श्रीसीतादेवीको प्रसन्न किया था, अर्थात् रावण वध आदिकी बात सुनाकर तथा उनको भगवान् श्रीरामचन्द्रके निकट लाकर उनको भलीभाँति प्रसन्न किया था। इस प्रकार श्रीहनुमान अपने प्रभु और उनके प्रियतमजनोंकी सेवा करके प्रभुकी सर्वश्रेष्ठ कृपाके एकमात्र अधिकारी हुए हैं। यहाँ पर वैसी सेवाओंके फलस्वरूप भगवान्की विशेष कृपा प्राप्तिकी बात कह रहे हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रके अयोध्यापतिके रूपमें अभिषेक होनेके उपरान्त श्रीरामचन्द्रकी आज्ञासे श्रीजानकीका कण्ठहार श्रीहनुमानके गलदेशमें शोभायमान हुआ था। वास्तविक रूपमें ऐसे कण्ठहारकी प्राप्ति निश्चल विशुद्ध-प्रेमभक्तिरूप सर्वश्रेष्ठ कृपा प्राप्तिका ही परिचायक है।

यदि प्रश्न हो कि तो फिर क्यों श्रीहनुमान अपने प्रभुका संग छोड़कर (प्रभुके नित्य साकेत-गमनके समय उनके साथ न जाकर) इस पृथ्वी पर ही रह रहे हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे अपने प्रभुकी आज्ञानुसार ही ऐसा कर रहे हैं। यद्यपि उन्हें अपने प्राणप्रिय प्रभुका विरह अत्यन्त असहनीय है, तथापि उनकी आज्ञापालनरूप सेवाके लिए वे इस पृथ्वी पर वास कर रहे हैं। जीवोंके निरुपाधिक कल्याणकारी प्रभु श्रीरामचन्द्रका अभिप्राय यह है कि श्रीहनुमानके इस संसारमें रहनेसे सभीकी भक्तिमार्गमें प्रवृत्ति होगी, अतएव इससे सभीका

परम हित साधित होगा। प्रभुकी इसी आज्ञाके अनुसार श्रीहनुमान इस जगतमें वास कर रहे हैं। यद्यपि इस संसारमें रहते हुए वे अपने प्रभुके विरहको सहन करनेमें असमर्थ हैं, तथापि इस प्रकार भगवान्‌की साक्षात् आज्ञा पालनके लिए वे तीव्र विरहको सहन करके भी इस जगतका हित करते हैं॥४९॥

आत्मानं नित्यतत्कीर्त्ति श्रवणेनोपधारयन्।
तन्मूर्त्तिपार्श्वतस्तिष्ठन् राजतेऽद्यापि पूर्ववत्॥५०॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमान अपनेको सदा-सर्वदा प्रभुकी कीर्तिको श्रवण करनेमें निरत रखकर आज भी पहलेकी भाँति प्रभुकी श्रीमूर्त्तिके निकट विराजमान रहते हैं॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तं विना चिरं कथं जीवेत्? तत्राह—आत्मानमिति। तथाभूतमप्यात्मानं देहिनं नित्यं तस्य आत्मेश्वरस्य तासां वा अनिर्वचनीयानां कीर्त्तिनां श्रवणेन सुस्वर किम्पुरुषाचार्यार्ष्टिषेणादिगीयमान तत्तद् गाथा कर्णनेन कृत्वा हेतुना वा। यद्वा, तस्य कीर्त्तिः कीर्त्तनं श्रवणञ्चार्ष्टिषेणादितः द्वन्द्वैक्यं, तेन उपकण्ठे समीपे धारयन् निरुध्य रक्षन्। यद्वा, निर्गच्छन्तमपि उपपत्तिभिर्देहान्तर्दधान इत्यर्थः। तस्येश्वरस्य या मूर्त्तिः किम्पुरुषवर्षस्थिता तस्याः पार्श्वे विचित्रसेवया सदा तिष्ठन्नेव। पूर्ववदिति, पूर्वं यथा श्रीरामचन्द्रचरणारविन्दसमीपे विचित्रसेवां कुर्वन् शोभमान आसीत्, तथाधुना तत्रापि साक्षादिव विचित्रपरिचर्या विधानेन शोभत इत्यर्थः। तथा च पञ्चमस्कन्धे किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादि पुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनूमान सह किम्पुरुषैरुपास्ते। आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्त्तृभगवत्कथां समुपश्रृणोति स्वयञ्च गायतीति॥५०॥

भावानुवाद—यदि आशंका हो कि प्रभुकी साक्षात् सेवा किये बिना श्रीहनुमान कैसे इतने दीर्घ समय तक जीवन धारण कर रहे हैं? इसीके समाधानमें 'आत्मानं' इत्यादि पद कह रहे हैं। श्रीहनुमान अपनेको सदैव प्राणप्रिय भगवान् श्रीरामचन्द्रके कीर्तिकलाप श्रवणमें ही निरत रखते हैं। अथवा किम्पुरुषवर्षके आचार्य आर्ष्टिसेन आदि द्वारा अपने प्रभुकी अनिर्वचनीय कीर्तिका सुस्वरसे गान होने पर, उसीके श्रवण द्वारा अपने प्रभुका संगसुख अनुभव करते हुए प्राण धारण करते हैं। अथवा श्रीरामकथा-वाचक आर्ष्टिसेन आदिके मुखसे प्रभुके

कीर्तिकलापका श्रवण करके उन्हींके (श्रीरामचन्द्रके) समीप अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं। अन्यथा देहमें प्राण रहने पर वह निश्चय ही देहसे निकल जाता। अथवा वे किम्पुरुषवर्षमें स्थित अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रके श्रीविग्रहकी अनेक प्रकारसे सेवा करनेके लिए उनके समीपमें सदैव वास कर रहे हैं। अर्थात् पहले जिस प्रकार वे भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणकमलोंके समीपमें सर्वदा सुशोभित रहते थे, अभी भी उसी प्रकार साक्षात्की भाँति सेवा-परिचर्या द्वारा सुशोभित हो रहे हैं। इस विषयमें पञ्चम-स्कन्धमें कहा गया है कि किम्पुरुषवर्षमें परमभागवत श्रीहनुमान आदिपुरुष श्रीरामचन्द्र, श्रीसीतादेवी और अनुज श्रीभरत तथा श्रीलक्ष्मणकी उपासना कर रहे हैं। वहीं पर वे आर्ष्टिसेन आदि गन्धर्वों द्वारा गाये जानेवाले परम मंगलमयी भगवान् श्रीरामचन्द्रकी लीलाकथाका श्रवण कर रहे हैं तथा स्वयं भी गान कर रहे हैं॥५०॥

स्वामिन्! 'कपिपतिर्दास्ये' इत्यादिवचनैः खलु।
प्रसिद्धो महिमा तस्य दास्यमेव प्रभोः कृपा॥५१॥

श्लोकानुवाद—हे प्रभो! 'कपिपतिः दास्ये' इस प्रसिद्ध प्रमाण द्वारा निश्चितरूपसे श्रीहनुमानकी महिमा सुसिद्ध हुई है। अतएव दास्य ही प्रभुकी कृपा है॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—उपसंहरति—स्वामिन्निति। हे श्रीनारद! तथाच प्रसिद्धोऽयं श्लोकः—*'शारङ्गि-श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्त्तने, प्रह्लादः स्मरणे, तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने। अक्रुरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्ज्जुनः सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूद्भक्तः कथं वर्ण्यते॥'* इति। शार्ङ्गीति वक्तव्ये छन्दोऽनुरोधेन शारङ्गीति। श्रीविष्णोरिति पाठस्त्वागन्तुकः। दास्यञ्चात्र परिचर्याप्रधानमेवाभिप्रेतम्, न तु श्रीधरस्वामिपाद व्याख्यानुसारेण कर्मार्पणमिति, एवं सेवापि ज्ञेया। ततश्च तस्यां कायिक्यामपि सर्वेन्द्रियसेवा पर्यवस्यति, बाह्यान्तरेन्द्रियाणां सर्वेषामेव कायाश्रयकत्वात्। इत्थमेव स्नानादिना देहशुद्धया तत्तच्छुद्धिरपि स्यात्। अतः स्मरणाद्दास्यं श्रेष्ठम्; तत्र च साक्षाच्छ्रीरघुनाथस्य तादृशी सेवा। स्मरणञ्च प्रायः परोक्षकृत्यमेव; अतः प्रह्लादः स्वस्माच्छ्रेष्ठत्वेन श्रीहनूमन्तमस्तौदिति युक्तमेव॥५१॥

भावानुवाद—अब अपने वक्तव्यका उपसंहार करते हुए श्रीप्रह्लाद कह रहे हैं—हे प्रभो श्रीनारद! इस श्लोकमें भी उनकी महिमा प्रसिद्ध

है; यथा, "श्रीभगवन्नाम, रूप, लीला आदिके श्रवणसे राजा परीक्षित, कीर्त्तनसे शुकदेव, स्मरणसे प्रह्लाद, भगवत् चरणोंकी सेवा द्वारा लक्ष्मीदेवी, अर्चनसे पृथु, वन्दनसे अक्रूर, दास्यसे हनुमान, सख्यसे अर्जुन तथा आत्मनिवेदनसे बलि श्रीकृष्णको प्राप्त कर परम कृतार्थ हुए हैं।" यहाँ पर दास्य कहनेसे परिचर्या प्रधान दास्य अभिप्रेत है, श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्यानुसार कर्म–अर्पण रूप दास्य नहीं। वास्तविक रूपमें ऐसी सेवाकी प्राप्ति प्रभुकी कृपा है तथा यह सेवा भी कायिक, वाचिक और मानसिक होनेके कारण सभी इन्द्रियोंके द्वारा एक ही साथ सम्पूर्ण होती है, क्योंकि बाह्य और अन्तरेन्द्रिय सभीका आश्रय यह शरीर है। जिस प्रकार स्नान आदि द्वारा देहशुद्धि होने पर सारी इन्द्रियाँ अपने आप शुद्ध हो जाती हैं, उसी प्रकार देह द्वारा परिचर्या रूप दास्यसे मनके स्मरण आदि भक्ति अंग भी साधित हो जाते है, अतएव स्मरणकी तुलनामें दास्य श्रेष्ठ है। उसमें भी भगवान् श्रीरामचन्द्रकी साक्षात्‌रूपसे सेवा तो और भी अधिक प्रशंसनीय है। स्मरण अधिकांशतः अप्रत्यक्ष कार्य है, इसीलिए श्रीप्रह्लाद महाराज अपनी तुलनामें श्रीहनुमानको श्रेष्ठ जानकर उनका स्तव करते–करते कहने लगे॥५१॥

यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनूमते नमः॥५२॥

श्लोकानुवाद—जिन श्रीहनुमानने दशरथनन्दन श्रीरामसे अनायास ही प्राप्त होनेवाले दास्य–रहित मोक्षकी कामना नहीं की थी, मैं उन्हीं श्रीहनुमानको बारम्बार नमस्कार करता हूँ॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदि शब्दोपात्तम् एतन्महिमख्यापकं वचनान्तरञ्च पठन् स्वयमप्युप संहरति—यदृच्छयेति। स्वप्रयत्नं विनाप्यानुषङ्गिकत्वेन लब्धमपि मोक्षं नैच्छत्। इच्छामपि तस्मिन्न कृतवान्, कुतस्तरां स्वीकारमित्यर्थः, भक्तिरसविरोधित्वात्। विना दास्यमिति दास्यमेवैच्छत्, नान्यत् किमपीत्यर्थः। जन्म–मरणादिसंसारध्वंसोऽपि मम भक्तिमेव प्रवहतादिति भावः। यद्वा, नासौ जीवो यो मोक्षं विना अवान्तर फलत्वेन स्वयमेवोपस्थितमपि मोक्षं परित्यज्य केवलं विशुद्धदास्यमेव प्रार्थयामास, तस्मै हनूमते नमः इत्यर्थः। अयमपि श्लोकः श्रीनारायणव्यूहस्तवान्तर्वर्त्ती॥५२॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकोक्त 'आदि' शब्द द्वारा प्रतिपादित श्रीहनुमानकी महिमा ज्ञापक गुणोंको बतलाकर अब श्रीप्रह्लाद अपने वक्तव्यका उपसंहार 'यदृच्छया' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर रहे हैं। उन श्रीहनुमानने दशरथपुत्र श्रीरामचन्द्रकी सेवाके आनुसंगिक (गौण) फलरूपमें बिना किसी प्रयासके प्राप्त मोक्षको स्वीकार करनेकी बात तो दूर रहे, उसकी इच्छा भी नहीं की। कारण, दास्य-रहित मोक्ष भक्तिरसका विरोधी है, इसलिए उन्होंने केवल शुद्ध दास्यकी ही इच्छा की, अन्य कोई भी इच्छा नहीं की। अर्थात् उन्होंने जन्म-मरण आदिसे छुटकारा पानेकी इच्छा भी नहीं की, 'मुझमें केवल भक्ति ही सदैव विद्यमान रहे', यही प्रार्थना की। अथवा संसार-बन्धनसे छुटकारारूप मोक्ष जो भक्तिका आनुसंगिक फल है, उसके स्वयं उपस्थित होने पर भी उसका परित्याग करके केवल विशुद्ध दास्यकी प्रार्थना करनेवाले श्रीहनुमानको मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ। यह श्लोक श्रीनारायणव्यूह-स्तवके अन्तर्गत है॥५२॥

मदनुक्तं च माहात्म्यं तस्य वेत्ति परं भवान्।
गत्वा किम्पुरुषे वर्षे दृष्ट्वा तं मोदमाप्नुहि॥५३॥

श्लोकानुवाद—मैंने उन श्रीहनुमानकी जिन-जिन महिमाओंको नहीं कहा है, आप उन सबको भी जानते हैं। अतएव मैं इससे अधिक और क्या कहूँ? आप किम्पुरुषवर्षमें जाकर उन श्रीहनुमानके दर्शनसे आनन्द अनुभव कीजिए॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—मयानुक्तमपि परमन्यत्तस्य हनूमतो माहात्म्यं श्रीरघुनाथपादपद्मैक भक्तिरसनिष्ठतादिकं भवान् वेत्त्येव, किं मया तद्वर्णनीयमित्यर्थः। अतस्तं हनूमन्तं दृष्टया आप्नुहीति पञ्चम्यनुमतौ॥५३॥

भावानुवाद—मैंने श्रीहनुमानके जिन माहात्म्योंको नहीं कहा है, आप उनको भी जानते हैं। अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणकमलोंमें उनकी भक्तिरस-निष्ठा आदिके माहात्म्यसे आप अवगत हैं। अतएव मैं इससे अधिक और क्या वर्णन कर सकता हूँ? अभी आप किम्पुरुषवर्षमें जाकर उन श्रीहनुमानके दर्शनकर आनन्द अनुभव कीजिए॥५३॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अये मातरहो भद्रमहो भद्रमिति ब्रुवन्।
उत्पत्यासनतः खेन मुनिः किम्पुरुषं गतः॥५४॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—हे माता! 'अहो कैसी कल्याणकी बात है! अहो कितना मंगल है!' यह कहते-कहते मुनिवरने अपने आसनसे उठकर आकाश मार्गसे किम्पुरुषवर्षके लिए गमन किया॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—आसनादुत्पत्य उर्ध्वमापद्य अधोदेशादुपरितनदेशगमनात्। पश्चात् खेन आकाशमार्गेण॥५४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५४॥

तत्रापश्यद्धनूमन्तं रामचन्द्रपदाब्जयोः।
साक्षादिवार्चनरतं विचित्रैर्वन्यवस्तुभिः॥५५॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने किम्पुरुषवर्षमें उपस्थित होकर देखा कि श्रीहनुमान वनमें प्राप्त होनेवाली अनेक प्रकारकी वस्तुओंके द्वारा मानो साक्षात् रूपमें ही श्रीरामचन्द्रके श्रीचरणकमलोंका अर्चन करनेमें व्यस्त हैं॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—साक्षादिवेति, यथापूर्वं तयोः साक्षादर्च्चनं कृतमस्ति तथाधुनापि वन्यवस्तुभिरर्चने रतम्। यद्वा, मूर्त्तिर्ज्ञानं विहाय भगवानयं साक्षाद् वर्त्तत इति बुद्ध्येत्यर्थः॥५५॥

भावानुवाद—श्रीनारदने किम्पुरुषवर्षमें उपस्थित होकर देखा कि जैसे पहले श्रीहनुमान साक्षात् रूपमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका अर्चन करते थे, अभी भी ठीक उसी प्रकार वनमें उत्पन्न बहुत प्रकारकी वस्तुओंके द्वारा उनके श्रीचरणकमलोंके अर्चन-पूजनमें अत्यधिक निमग्न हैं। अर्थात् श्रीरामचन्द्रके श्रीविग्रहके निकट रहने पर भी उसे श्रीविग्रह न मानकर पहलेकी भाँति ही साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रके ज्ञानसे उनके श्रीविग्रहकी अर्चना कर रहे हैं॥५५॥

गन्धर्वादिभिरानन्दाद्गीयमानं रसायनम्।
रामायणञ्च शृण्वन्तं कम्पाश्रुपुलकाचितम्॥५६॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने और भी देखा कि गन्धर्व आदि गायक बड़े आनन्दसे श्रीरामायणका गान कर रहे हैं और श्रीहनुमान अपने कानों द्वारा उस परम रसायनका पान करते-करते कम्प, पुलक आदि द्वारा सुशोभित कलेवरसे आनन्दाश्रु प्रवाहित कर रहे हैं॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—गन्धर्वेति द्वाभ्याम्। रामायणं श्रीरामचन्द्र कथाकाव्यं, तत् शृण्वन्तं अतएव कम्पाश्रुपुलकैराचितं व्याप्तम्। तत् कीदृशं? गन्धर्वादिभिः किम्पुरुषवर्षवर्त्तिभिर्गीयमानम्। पुनः कीदृशं तत्? रसायनं—रसस्य सर्वलोकानामनुरागस्य शृङ्गारादिनवप्रकारस्य वा अयनमाश्रयम्। यद्वा, संसाररोगनिवर्त्तक-भक्तिपरिपोषक-परम-मधुरमहौषधरूपमित्यर्थः। आनन्दादिति यथापेक्ष्यं सर्वत्रापि योजनीयम्॥५६॥

भावानुवाद—श्रीहनुमान किस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीका अर्चन कर रहे हैं, इसे 'गन्धर्वादि' दो श्लोकोंके द्वारा विशेषरूपसे वर्णन कर रहे हैं। श्रीरामायण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाकथाका काव्य-ग्रन्थ है, उसको श्रवण करते-करते श्रीहनुमानका दिव्य कलेवर आनन्दसे परिपूर्ण होकर कम्प, अश्रु, पुलक आदिसे सुशोभित हो रहा है। वह कथा किसके द्वारा गायी जा रही है? किम्पुरुषवर्षके निवासी गन्धर्व आदि द्वारा रामायणकी लीलाकथाएँ गायी जा रही हैं। वह रामायणकी कथाएँ कैसी हैं? परम रसायन, रसका आश्रय अथवा शृङ्गार आदि नवविध रसोंका आश्रयस्वरूप हैं। अथवा संसाररूपी रोगको दूर करनेवाली तथा भक्ति परिपोषक परम महौषधि स्वरूप हैं॥५६॥

विचित्रैर्दिव्यदिव्यैश्च गद्यपद्यैः स्वनिर्मितैः।
स्तुतिमन्यैश्च कुर्वाणं दण्डवत्प्रणतीरपि॥५७॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी अपने द्वारा रचित और कभी-कभी वेद पुराणोंमें लिखित सुन्दर-सुन्दर गद्य-पद्यमय वाक्यों द्वारा श्रीहनुमान प्रभुकी स्तव-स्तुति करते-करते उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—दिव्येभ्य उत्कृष्टेभ्योऽपि दिव्यैः, स्वयं हनूमतैव निर्मितैर्विरचितैः; अन्यैश्च वेदपुराणादिर्भिगद्यैः पद्यैश्च स्तुतिं कुर्वन्तम्, प्रणतीः अष्टाङ्गप्रणामानपि कुर्वन्तम्॥५७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५७॥

चुक्रोश नारदो मोदाज्जय श्रीरघुनाथ हे।
जय श्रीजानकीकान्त जय श्रीलक्ष्मणाग्रज!॥५८॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानके दर्शनोंसे श्रीनारद अत्यधिक उल्लसित होकर उच्च स्वरसे कहने लगे—'हे श्रीरघुनाथ! जय श्रीजानकी-कान्त! जय श्रीलक्ष्मणाग्रज!'॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—नारदश्चाकाशयानेन गच्छन्नेव तं तथा दृष्टवा हर्षेण चुक्रोश उच्चैः शब्दमकरोत्। कथं? तदाह—जयेति॥५८॥

भावानुवाद—आकाश-यान द्वारा किम्पुरुषवर्षमें पहुँचकर तथा वहाँ श्रीहनुमानके दर्शनकर श्रीनारद अत्यन्त हर्ष सहित उच्च स्वरमें कहने लगे। क्या? इसे 'जयेति' पदोंमें कह रहे हैं॥५८॥

निजेष्टस्वामिनो नामकीर्त्तनश्रुतिहर्षितः।
उत्प्लुत्य हनूमान् दूरात् कण्ठे जग्राह नारदम्॥५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमान दूरसे ही अपने इष्टदेव श्रीरामचन्द्रके नामकीर्त्तनको श्रवणकर बड़े उल्लाससे छलांग लगाकर आकाशमें उड़ गये और वहीं श्रीनारदके गलेको पकड़कर उनको आलिङ्गन पाशमें बाँध लिया॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नाम्नां कीर्त्तनस्य श्रुत्वा श्रवणेन हर्षितः, उप्लुत्य उर्द्ध्वप्लुतिगत्या गगन एवाभिगम्येत्यर्थः॥५९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५९॥

तिष्ठन् वियत्येव मुनिः प्रहर्षान्नृत्यन् पदाभ्यां कलयन् कराभ्याम्।
प्रेमाश्रुधाराञ्च कपीश्वरस्य प्राप्तो दशां किञ्चिदवोचदुच्चैः॥६०॥

श्लोकानुवाद—मुनिवरने आकाशमें ही परमानन्दित होकर दोनों चरणोंसे नृत्य करते-करते अपने हाथोंसे कपीश्वर श्रीहनुमानकी प्रेमाश्रु-धाराको मार्जित कर दिया तथा किसी एक अपूर्व दशाको प्राप्त कर उच्च स्वरसे कुछ कहने लगे॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—पदाभ्यामेव नृत्यन् हनूमता कण्ठे ग्रहणादन्याङ्गविक्षेपाशक्तेः। तथा कपीश्वरस्य तस्यैव प्रेमाश्रुधारां कराभ्यां कलयन् मार्ज्जयन् गृह्णन्निति वा। एवं कामपि परमप्रेमप्रादुर्भावरूपां दशामावस्थां प्राप्तः सन्॥६०॥

भावानुवाद—मुनिवर आकाशमें ही दोनों चरणोंसे नृत्य करने लगे। दोनों चरणोंसे नृत्य करने लगे—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीहनुमानने देवर्षि नारदके गलदेशको अपने दोनों हाथोंसे बाँध रखा था, इसलिए वे अन्य अंगोंको हिलाने-डुलानेमें समर्थ नहीं थे। उसके उपरान्त देवर्षिने अपने दोनों हाथोंसे कपीश्वरकी प्रेमाश्रु-धाराको मार्जित कर दिया और परमप्रेमके प्रादुर्भावरूप किसी एक विशेष दशाको प्राप्त होकर कहने लगे॥६०॥

श्रीनारद उवाच—

श्रीमन्! भगवतः सत्यं त्वमेव परमप्रियः।
अहञ्च तत्प्रियोऽभूवमद्य यत्त्वां व्यलोकयम्॥६१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे श्रीमान्! हे परमभक्तिरूपी सम्पत्तिवान्! आप श्रीभगवान्के परमप्रिय हैं और अब मैं भी आपका दर्शन करके भगवान्का प्रिय हुआ हूँ॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीमन्! हे परमभक्तिसम्पत्तियुक्तः! अप्यर्थे चकारः। अहमपि तस्य भगवतः प्रियोऽद्याभूवम्। यद्यस्मात्॥६१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

क्षणात् स्वस्थेन देवर्षिः प्रणम्य श्रीहनूमता।
रघुवीरप्रणामाय समानीतस्तदालयम्॥६२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—श्रीहनुमानने क्षणकालमें ही प्रेम-विह्वलताके शान्त होने पर स्वाभाविक अवस्थामें आकर श्रीनारदको प्रणाम किया तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रको प्रणाम करानेके लिये उनको भगवान्के श्रीमन्दिरमें ले गये॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वस्थेन प्रेम विह्वलतोपशमाद् यथापूर्वं प्रकृतिस्थितेन सता। तस्य रघुवीरस्य आलयं प्रासादम्॥६२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६२॥

कृताभिवन्दनस्तत्र प्रयत्नादुपवेशितः।
सम्पत्तिं प्रेमजां चित्रां प्राप्तो वीणाश्रितोऽब्रवीत्॥६३॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने मन्दिरमें पहुँचकर भगवान्‌के श्रीविग्रहको प्रणाम किया और फिर श्रीहनुमानने उनको यत्नपूर्वक आसन पर बैठाया। उसी समय श्रीनारदका कलेवर प्रेमसे उत्पन्न अश्रु-पुलकादि सात्त्विक विकारोंसे परिव्याप्त हो गया तथा वे वाद्यरहित वीणाको हाथोंमें धारण किये हुए कहने लगे॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृतम् अभिवन्दनं श्रीरघुनाथमूर्त्तेरष्टाङ्गप्रणामो येन सः। तत्र आलये; सम्पत्तिं कम्पस्वेदपुलकाश्रुपात-गद्गदादिमयीम्; अतएव वीणां केवलमाश्रितः सन् न तु वादयन्। यद्वा, स्खलन शंकया तामवष्टभ्य वर्त्तमान इत्यर्थः॥६३॥

भावानुवाद—देवर्षि श्रीनारदने भगवान्‌के श्रीविग्रहको दण्डवत् प्रणाम किया और फिर श्रीहनुमानने उनको यत्नपूर्वक आसन पर बैठाया। किन्तु वे प्रेम द्वारा उत्पन्न कम्प-स्वेद-पुलक-अश्रु-गद्गदादि सात्त्विक विकारोंसे व्याप्त कलेवरसे वाद्यरहित वीणाको केवल हाथोंमें धारण किये हुए थे। अथवा गिरनेकी आशंकासे वीणाको केवल हाथोंमें धारण करके कहने लगे॥६३॥

श्रीनारद उवाच—

सत्यमेव भगवत्कृपाभरस्यास्पदं निरुपमं भवान् परम्।
यो हि नित्यमहहो महाप्रभोश्चित्रचित्रभजनामृतार्णवः॥६४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—सचमुच आप ही भगवान्‌के अनुपम कृपापात्र हैं। अहो! आप तो भगवान्‌की भक्तिरूपी अमृतके सागरस्वरूप हैं॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—परं केवलं भवानेव भगवत्कृपाभरस्य निरुपममसदृशं आस्पदं भाजनमिति यत्तत् सत्यमेव। अहहो इत्यव्ययम् अत्याश्चर्ये। यो भवान् चित्रादाश्चर्यान्नानाप्रकारादपि वा चित्रं भजनमेवामृतं संसाररोगहारित्वेन परम माधुर्यादिना च तस्यार्णवः; हि निश्चये॥६४॥

भावानुवाद—यह सत्य है कि केवल आप ही श्रीभगवान्‌की अनुपम कृपाके पात्र हैं। अहो! (अति आश्चर्यके कारण 'अहहो' अव्यय प्रयोग हुआ है) आप भगवान्‌के अति आश्चर्यजनक विविध प्रकारके भजनामृतके नित्य सागरस्वरूप हैं। अर्थात् आपका भजन संसाररूपी रोगको दूर करनेवाला होने पर भी परममाधुर्य आदिका अगाध सागरस्वरूप है। निश्चयके अर्थमें यहाँ 'ही' अव्ययका प्रयोग हुआ है॥६४॥

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजच्छत्रं वितानं व्यजनञ्च वन्दी।
मन्त्री भिषग्योधपतिः सहायश्रेष्ठो महाकीर्तिविवर्द्धनश्च॥६५॥

श्लोकानुवाद—आप भगवान्‌के दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वज, वीजन, व्यजन, वन्दी, मन्त्री, वैद्य, सेनापति, श्रेष्ठ सहायक और उनकी महान कीर्तिको वर्द्धित करनेवाले हैं॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृणोति—दास इति द्वाभ्याम्। हेलाविलङ्घितेत्यादि प्रह्लादोक्तेरयं संक्षेपो ज्ञेयः। तत्र दासः, तत्तत् सेवाकारित्वात्। सखा विश्वासाद्यास्पदम्; अन्यथा महाप्रभुणा निजाङ्गुरीयक-समर्पणपूर्वक-सीतोद्देशार्थ-प्रस्थापनस्यायोगात्। ध्वजः सदा श्रीरधुनाथपार्श्वावस्थित्या महोच्च-कायत्वेन दूरादेव ध्वजवत् तद्विज्ञापकत्वात्, यद्वा, वहनसमये उन्नमितस्य पुच्छस्य दूरतो ध्वजवद् दृश्यमानत्वात्। एवं तेनैवातपनिवारणादिना छत्रं वितानं व्यजनञ्चेति। यद्यपि वीजयितापि स एव तथापि व्यजनत्वे सिद्धे वीजनमपि सिद्धमेवेत्यभेदाभिप्रायेण पृथक् तथा नोक्तम्। वन्दी विचित्रस्तुतिपठनात्। भिषक् विशल्यकरणीमहौषध्यादि द्वारा शल्यक्षतादि चिकित्सनात्। सहायेषु वानरादिषु श्रेष्ठः; सर्वविलक्षण महाबुद्धिविक्रमशालित्वात्॥६५॥

भावानुवाद—श्रीहनुमान द्वाराकी जानेवाली सेवाओंके सम्बन्धमें 'दासः' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतलाया जा रहा है। यहाँ श्रीप्रह्लादोक्त—'हेलाविलङ्घित' इत्यादि वचनोंका संक्षिप्तरूपसे वर्णन किया जा रहा है, ऐसा जानना होगा। आप भगवान्‌की अनेक प्रकारकी सेवाओंके अधिकारी हैं, इसलिए आप दास हैं। विश्वासपात्र होनेके कारण सखा हैं, अन्यथा भगवान् अपनी अगूँठी देकर श्रीसीतादेवीको ढूढ़नेके लिए आपको नहीं भेजते। आप सर्वदा भगवान् श्रीरामचन्द्रके निकट रह कर अपने विशाल (उच्च) शरीरके कारण ध्वजाकी भाँति दूरसे ही

प्रभु श्रीरामचन्द्रकी उपस्थितिको सूचित करते हैं। अपनी पूँछको छत्र जैसा बनाकर आप प्रभुकी आँधी–तूफान तथा सूर्यकी प्रखर किरणोंसे रक्षा करते हैं, इसलिए आप चंद्रातप (चंदोवा) हैं अथवा अपनी पूँछसे पंखा झलते हैं, अतः व्यजन (पंखा) हैं। अथवा भगवान्‌को वहन करते समय अपनी ऊँची की हुई पूँछ द्वारा दूरसे ही ध्वजाकी भाँति दिखाई पड़नेके कारण ध्वजा हैं। यद्यपि व्यजनकार्यके होने पर वीजन भी हो जाता है, तथापि आपकी पूँछ ही ताप (गर्मी)को दूर करती है, अतः वीजनका पृथक्‌रूपसे उल्लेख नहीं किया गया। आप अनेक प्रकारकी स्तुतियोंके पाठक है, अतः वन्दी (पाल) हैं; विशल्यकरणी महौषधिको लाकर अस्त्रोंसे हुए घावोंकी चिकित्सा करनेके कारण वैद्य हैं; सर्व विलक्षण महान बुद्धिशाली और पराक्रमशाली होनेके कारण सेनापति हैं; प्रभुके वानर आदि सभी सहायकोंमें आप श्रेष्ठ सहायक भी हैं॥६५॥

समर्पितात्मा परमप्रसाद भृत्तदीयसत्कीर्तिकथैकजीवनः।
तदाश्रितानन्दविवर्द्धनः सदा महत्तमः श्रीगरुड़ादितोऽधिकः॥६६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार आप सब प्रकारसे आत्मसमर्पण करके प्रभुकी अत्यधिक कृपाके पात्र बने हैं। आप भगवान्‌के आश्रित–भक्तोंका निरन्तर आनन्द वर्धन करते हैं, इसलिए आप गरुड़ आदि भक्तोंसे भी परम श्रेष्ठतम हैं॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सर्वतोभावेन समर्पित आत्मा येन सः, निजाशेषकरणैः सेवनात्; यद्वा अनन्यप्रियत्वेन देहदैहिकार्थ–चेष्टाद्यनासक्तत्वात्। तदीया श्रीरघुनाथ–सम्बन्धिनी या सत्कीर्त्तिस्तस्याः कथैवैकं जीवनं यस्य तदभावे महाप्रभुविरहेण म्रियेतैवेति भावः। अतएव यत्र श्रीरामचन्द्रकथा भवेत्, तत्रैव श्रीहनूमानायातीति प्रसिद्धिः। तदाश्रितानां तदानीन्तनानामाधुनिकानाञ्च श्रीरघुनाथभक्तानामानन्दं विवर्धयतीति तथा सः। सदेति यथासम्भवं सर्वत्रापि सम्बन्धनीयम्। श्रीगरुड़ादिभ्योऽपि अधिको महत्तमः परमश्रेष्ठतर इत्यर्थः। यद्वा, एवं महत्तम इत्युपसंहारः। महत्सु भक्तवर्गेषु परमश्रेष्ठ इत्यर्थः। तत्र हेतुः—श्रीगरुड़ेति। *'दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो, यस्ते वितानं व्यजन त्रयीमयः। उपस्थितं ते पुरतो गरुत्मता, त्वदङ्घ्रिसंमर्दकिणाङ्कशोभिना॥'* इति श्रीवैष्णववरालमन्दारोक्तात् श्रीगरुड़माहात्म्यादत्रोक्तानुसारेण श्रीहनूमतः सेवाधिक्यान्–माहात्म्य विशेषसिद्धेः॥६६॥

भावानुवाद—इस प्रकार आप प्रभु श्रीरामचन्द्रके चरणकमलोंमें सब प्रकारसे समर्पित आत्मा हैं अर्थात् आपकी आत्मा सब प्रकारसे समर्पित हुई है। आप अपनी समस्त इन्द्रियों द्वारा भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं अथवा प्रभुके प्रति ऐकान्तिक प्रियताके कारण प्रभुके अलावा और कोई भी आपकी प्रीतिका विषय नहीं है, इसलिए देह-दैहिक चेष्टाओंके प्रति भी अनासक्त रहनेके कारण आप समर्पित आत्मा हैं। पुनः श्रीरामचन्द्रकी सत्कीर्ति कथा ही आपका जीवन है, उस कथाके बिना (प्रभुके विरहमें) आप मृतकी भाँति हो जाते हैं। इसीलिए सर्वत्र प्रसिद्धि है कि जहाँ भी भगवान् श्रीरामचन्द्रकी कथा होती है, वहाँ श्रीहनुमान भी गमन करते हैं। आप भगवान् श्रीरामचन्द्रके आश्रित भक्तोंके, यहाँ तक कि आधुनिक या प्राचीन सारे श्रीराम-भक्तोंका सदा आनन्दवर्द्धन करते हैं। (सदा-शब्दका मूल श्लोकके समस्त विशेषणोंके साथ यथासम्भव सम्बन्ध है।) अतएव आप महान भक्त गरुड़ आदिसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं। वैष्णवश्रेष्ठ आलमन्दारु-कृत स्तोत्रमें भी कहा गया है—"ये श्रीहनुमान दास, सखा, आसन, ध्वज, छत्र, वितान, व्यजन आदि रूपमें वेदमय गरुड़ आदिसे भी अधिक भगवान्‌के समीप रहकर उनके पाद-सम्वाहन आदि सेवा-रससे शोभायमान हैं।" इत्यादि वचनोंके अनुसार गरुड़के माहात्म्यसे भी श्रीहनुमानकी सेवाकी अधिकतावशतः उनका माहात्म्य विशेषरूपसे सिद्ध है॥६६॥

अहो भवानेव विशुद्धभक्तिमान् परं न सेवासुखतोऽधिमन्य यः।
इमं प्रभुं वाचमुदारशेखरं जगाद तद्भक्तगणप्रमोदिनीम्॥६७॥

श्लोकानुवाद—अहो! आप ही विशुद्ध भक्तिमान हैं। आपने सेवासुखको अन्य साध्य-वस्तुओंकी तुलनामें सर्वश्रेष्ठ जानकर वदान्यशिरोमणि भगवान्‌को जो वचन कहे थे, आज भी वे वचन भगवान्‌के भक्तोंको अत्यधिक आनन्द प्रदान करते हैं॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं सर्वनैरपेक्ष्येण सदा भक्त्येक-प्रियतामाहात्म्यमाह—अहो इति विस्मये। सेवासुखात् परमन्यत् सर्वंनाधिमन्य अधिकं न मत्वा किन्तु तदेकमेवोत्कृष्टम्, अन्यत् सर्वमपकृष्टमिति ज्ञात्वेत्यर्थः। उदारशेखरं वदान्यशिरोमणिं

सर्वमेव दातुमुद्यतमपीत्यर्थः। तस्य प्रभोर्भक्तानां गणस्य प्रकृष्टहर्षकरीं दास्यैकापेक्षया तद्विरोधित्वेन मुक्तेर्दूरतः परिहारात्॥६७॥

भावानुवाद—अब श्रीहनुमानके निरपेक्षभावसे सदा भक्तिप्रिय होनेके माहात्म्यको कह रहे हैं। अहो! आप ही विशुद्ध भक्तिमान हैं। यहाँ 'अहो' शब्द विस्मयके अर्थमें है। आपने अन्य साध्योंसे सेवासुखको अधिक न मानकर केवल सेवासुखको ही सर्वोत्कृष्ट तथा अन्य सभी साध्योंको तुच्छ जानकर वदान्यशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रसे अत्यन्त आनन्ददायक वचन कहा था। अर्थात् जब भगवान् श्रीरामचन्द्र आपको सर्वश्रेष्ठ वरदान देने लगे तब आपने उनसे सभी भक्तोंको अत्यधिक आनन्द प्रदान करनेवाले वचन ही कहे थे। दास्यभावसे सेवा करनेके लिए आपने उसकी विरोधी मुक्तिको दूरसे ही त्याग दिया था॥६७॥

भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥६८॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने प्रभुसे कहा था—"हे प्रभो! मैं आपसे भवबन्धन छेदनकारी मुक्तिकी प्रार्थना नहीं करता हूँ, क्योंकि उससे आप प्रभु हैं और मैं आपका दास हूँ, यह सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है"॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेवाह—भवेति। भवबन्धं जन्ममरणादि-संसारबन्धनं छिनत्तीति तथाभूतायै अपि न स्पृहयाम्यापि, कुतः स्वीकुर्यामित्यर्थः, मुक्तावद्वैतापत्तेर्भक्ति-सुखविघातात्। श्लोकश्चायं सुप्रसिद्ध एव॥६८॥

भावानुवाद—'भवेति' श्लोक द्वारा श्रीहनुमान द्वारा कहे गये वचनको कह रहे हैं—"जन्म-मरण आदि संसार-बन्धनका छेदन करनेवाली मुक्तिको स्वीकार करनेकी तो बात ही क्या, मैं उसकी इच्छा भी नहीं करता हूँ, क्योंकि मुक्तिमें सेव्य-सेवकका सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है। अर्थात् मुक्तिमें आप प्रभु हैं और मैं दास हूँ, यह भाव विलुप्त होकर दास और प्रभु दोनों अद्वैत अर्थात् मिलकर एकीभूत हो जाते हैं।" अतः मुक्ति भक्तिसुखमें पूर्णता बाधक है। यह श्लोक भी अत्यधिक प्रसिद्ध है॥६८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ततो हनूमान् प्रभुपादपद्म-कृपाविशेषश्रवणेन्धनेन।
प्रदीपितादो विरहाग्नितप्तो रुदन् शुचार्त्तो मुनिनाह सान्त्वितः॥६९॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—इसके उपरान्त श्रीहनुमान अपने प्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणकमलोंकी कृपाको श्रवण करके उनके विरहमें शोकातुर होकर क्रन्दन करने लगे। अर्थात् शुष्क तृण जिस प्रकार अग्निके संयोगसे प्रज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अत्यन्त कृपाके श्रवणरूप ईंधनके संयोगसे उनका विरहानल प्रदीप्त हो उठा। फिर श्रीनारद द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर उस शोकके प्रशमित होने पर वे कहने लगे॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रभुपादपद्मयोः कृपाविशेषस्तत्सेवालक्षणस्तस्य श्रवणमेव इन्धनं शुष्ककाष्ठं तेन प्रकर्षेण दीपितो ज्वलितो योऽमुयोः पादपद्मयोर्विरहाग्निस्तेन तप्तः पश्चान्मुनिना नारदेन सान्त्वितः मिष्टवाक्येनोपशान्तिं नीतःसन्नाह॥६९॥

भावानुवाद—भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी विशेषकृपा ही श्रीहनुमानकी सेवा है। अतएव उस सेवाके लक्षणोंको श्रवण करना ही शुष्क-काष्ठ द्वारा प्रज्वलित उनका विरहानल है, अर्थात् भगवान्के चरणकमलोंकी सेवाकी विरहाग्निमें सन्तप्त श्रीहनुमान रोदन करने लगे। श्रीहनुमान पहले ही सर्वदा प्रभुके विरहानलमें दग्ध रहते थे, उसके ऊपर प्रभुकी सेवारूप कृपाकी बात सुनकर सूखी हुई लकड़ीमें अग्नि-संयोगकी भाँति उनका विरहानल और भी धधक उठा। वे अत्यधिक शोकार्त्त होकर रोदन करने लगे। तत्पश्चात् मुनिवरके मधुर वचनोंको श्रवण करके उनका शोक कुछ कम हुआ तथा वे पुनः कहने लगे॥६९॥

श्रीहनुमान उवाच—

मुनिवर्य! कथं श्रीमद्रामचन्द्रपदाम्बुजैः।
हीनं रोदयसे दीनं नैष्ठुर्यस्मारणेन माम्॥७०॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने कहा—हे मुनिवर! मैं अति दीन-हीन हूँ। भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणकमलोंकी सेवासे रहित हूँ। आप मुझे फिरसे क्यों उनके विरहका स्मरण कराकर क्रन्दन करा रहे हैं?॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—पदाम्बुजैरिति बहुत्वं गौरवेण। हीनं त्यक्तम्; नैष्ठुर्यमनार्द्रहृदयत्वम्; परित्यज्य गतत्वात् तस्य स्मारणेन कथं मां रोदयसे? रोदनहेतुं तत्स्मरणं मा कारयेत्यर्थः॥७०॥

भावानुवाद—'पदाम्बुजैः' अर्थात् प्रभु श्रीरामचन्द्रके दोनों चरणकमल, इस बहुवचनका प्रयोग गौरववशतः हुआ है। हीन अर्थात् मैं प्रभु द्वारा त्यक्त हूँ, 'नैष्ठुर्य' अर्थात् मुझे त्यागते समय प्रभुका हृदय द्रवीभूत नहीं हुआ। यदि कहो कि श्रीरामचन्द्र आपको परित्यागकर चले गये हैं, अतः आप उन्हें स्मरण कर क्यों रो रहे हैं? इसके लिए कहते हैं कि इस क्रन्दनका कारण मैं नहीं हूँ, आप ही मुझे उनका स्मरण करवा रहे हैं॥७०॥

यदि स्यां सेवकोऽमुष्य तदा त्यज्येय किं हठात्।
नीताः स्वदयिताः पार्श्वं सुग्रीवाद्याः सकोशलाः॥७१॥

श्लोकानुवाद—यदि मैं उनका यथार्थ सेवक होता तब क्या भगवान् मुझे हठात् त्याग देते? साकेत-धाममें जाते समय वे अपने प्रिय सुग्रीव आदि सभी अयोध्यावासियोंको भी अपने साथ ले गये हैं॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अमुष्य श्रीरामचन्द्रस्य सेवक एव यद्यहं स्यात् भवेयम्, सम्भावनायाम् सप्तमी। तद्वा तेन किं त्यज्येयाहं त्यक्तः स्याम्? हठादिति आग्रह-भरेण जिगमिषतोऽपि सङ्गेऽनयनात्। विचित्रयुक्तयुक्तात्रैव रक्षणाच्च। आत्मनः पार्श्वं ते न नीताः; यतः स्वस्य तस्य दयिताः। आद्यशब्देन अङ्गदादयः सकोशलाः अयोध्यावासि-सहिताः॥७१॥

भावानुवाद—यदि मैं भगवान् श्रीरामचन्द्रका यथार्थ सेवक होता तो क्या वे मुझे हठात् त्याग कर पाते? 'हठात्' कहनेका तात्पर्य यह है कि मैं उनके साथ साकेत-धाम जानेके लिए पुनः-पुनः आग्रहपूर्वक प्रार्थना करता रहा, तथापि वे अनेक युक्तिपूर्ण वचनोंके द्वारा मुझे समझा-बुझाकर यहीं छोड़ गये हैं। 'आदि' शब्दसे अंगद आदि तथा अयोध्यावासियोंको समझना चाहिए॥७१॥

सेवासौभाग्यहेतोश्च महाप्रभुकृतो महान्।
अनुग्रहो मयि स्निग्धैर्भवद्भिरनुमीयते॥७२॥

श्लोकानुवाद—मेरे प्रति स्नेहवशतः आप केवल मेरे सेवा-सौभाग्यको देखकर मुझ पर श्रीरामचन्द्रजीकी महान कृपाका अनुमान कर रहे हैं॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमेकेनैवान्ते परित्यागलक्षणेन महादौर्भाग्येण तत् कारुण्यभर-लक्षणं सौभाग्यं सर्वं परिहृत्यापि प्राक्साक्षाद्-वर्त्तमानस्य तस्य प्रभोः सेवा-सौभाग्यानुमितं नारदोक्तं परमानुग्रहं गौरवेणाङ्गीकृत्यान्यथा परिहरति—सेवेति त्रिभिः। सेवासौभाग्याद्धेतोर्महाप्रभुणा कृतो महाननुग्रहो यो मयि भवद्भिरनुमीयते, स मद्विषयक-अनुग्रहः अधुना तेनैव महाप्रभुणा पाण्डवेषु कृतस्यानुग्रहस्य अंशं भागमप्येकं किञ्चित्तुलया साम्येन गन्तुं प्राप्तुं नार्हति न योग्यो भवतीत्यन्वयः। स्निग्धैरिति मद्विषयकस्नेहा देवानुमीयते, न तु तत्त्वविचारेणेति भावः॥७२॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीहनुमानने श्रीरामचन्द्रजी द्वारा अपने त्याग लक्ष्णरूपी महादुर्भाग्यकी बात कही है। पुनः भगवान्‌की करुणा प्राप्तिके सौभाग्यादि लक्षणोंके अलावा साक्षात् अनुभव किये गये सेवा-सौभाग्य और श्रीनारद द्वारा कथित अपने प्रति प्रभुके परमानुग्रहको गौरवके साथ अङ्गीकार करके भी, अन्य रूपसे 'सेवा' इत्यादि तीन श्लोकोंके द्वारा उस सेवा-सौभाग्यका भी खण्डन कर रहे हैं। आप सभी मेरा सेवा-सौभाग्य देखकर मेरे प्रति प्रभुके महान अनुग्रहका अनुमान कर तो रहे हैं, किन्तु प्रभु इस समय पाण्डवोंके प्रति जैसा अनुग्रह विस्तार कर रहे हैं, वैसे अनुग्रहके किञ्चित् अंशके साथ भी मेरे प्रति उनके अनुग्रहकी तुलना करना संभव नहीं है। परन्तु आप केवलमात्र स्नेहवशतः मेरे प्रति प्रभुकी कृपाका अनुमान कर रहे हैं, किन्तु तत्त्वका विचार करके नहीं॥७२॥

सोऽधुना मथुरापुर्यामवतीर्णेन तेन हि।
प्रादुष्कृतनिजैश्वर्यपराकाष्ठाविभूतिना ॥७३॥

श्लोकानुवाद—भगवान् इस समय मथुरापुरीमें अवतीर्ण हुए हैं तथा अपने ऐश्वर्यकी चरमसीमामें सब प्रकारकी विभूतियोंको प्रकाशित कर रहे हैं॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुनानुग्रहविशेषकरणे हेतुमाह—मथुरेति। प्रादुष्कृता प्रकटीकृताः निजैश्वर्यस्य परमकाष्ठा या विभूतयो येन तेन॥७३॥

भावानुवाद—अब पाण्डवोंके प्रति श्रीभगवान्‌की विशेष कृपाका कारण बता रहे हैं—भगवान् इस समय मथुरापुरीमें अवतीर्ण होकर अपने ऐश्वर्यकी पराकाष्ठारूप विभूतियोंको प्रकट कर पाण्डवोंके प्रति अपनी कृपाका विस्तार कर रहे हैं॥७३॥

कृतस्यानुग्रहस्यांशं पाण्डवेषु महात्मसु।
तुलयार्हति नो गन्तुं सुमेरुं मृदणुर्यथा॥७४॥

श्लोकानुवाद—महात्मा पाण्डवोंके प्रति भगवान् जिस प्रकारसे अनुग्रहका विस्तार कर रहे हैं, उनकी तुलनामें मेरे प्रति भगवान्‌की कृपा एक धूलिकणके समान है। एक धूलिकण जैसे सुमेरुपर्वतके समान नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरी तुलना पाण्डवोंसे नहीं की जा सकती है॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—सुमेरुं सौवर्णमहापर्वतवरं मृदणुः मृत्तिकाकणो यथा तुलया गन्तुं नार्हति। अनेन च दृष्टान्तेन पाण्डवेषु परमोत्कृष्टगुरुतरानुग्रहो मयि च तद्विपरीत इति ध्वनितम्॥७४॥

भावानुवाद—सुमेरु (स्वर्णपर्वत)के साथ जिस प्रकार मिट्टीके एक कणकी तुलना नहीं हो सकती, उसी प्रकार पाण्डवोंके प्रति भगवान्‌की कृपाकी तुलना मेरे प्रति भगवान्‌के अनुग्रहसे नहीं की जा सकती। इस दृष्टान्तके द्वारा यही सूचित हो रहा है कि पाण्डवोंके प्रति भगवान्‌की परमोत्कृष्ट कृपा है तथा मेरे प्रति उनकी कृपा उसके विपरीत अर्थात् एक धूलिकणके समान ही है॥७४॥

स येषां बाल्यतस्तत्तद्विषाद्यापद्गणेरणात्।
धैर्यं धर्मं यशो ज्ञानं भक्तिं प्रेमाप्यदर्शयत्॥७५॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌ने विषदान आदि अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको देकर बाल्यकालसे ही पाण्डवोंके धैर्य, धर्म, यश, ज्ञान, भक्ति और प्रेम आदिको दिखलाया है॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदनुग्रहमेव विवृणोति—स इति द्वाभ्यां, स महाप्रभुः बाल्यतः बाल्यादारभ्य तत्तदनिर्वचनीयं बहुतरं वा यद्विषदानादिरूपस्य आपद्गणस्य

ईरणं प्रेरणं तस्मात्तद्द्वारेत्यर्थः। तेषां पाण्डवानां धैर्यादिकमदर्शयत् प्रकटीचकार लोकेषु विख्यापितवानित्यर्थः। तादृशीषु महापत्स्वपि धैर्यादिवृत्तेः। एवं तेषां माहात्म्यभर-प्रकटनार्थं भगवतैव तेषु तत्तदापदः प्रेरिताः कुतोऽन्यथा तादृशेषु महात्मसु तत्तत्सम्भावनेति भावः॥७५॥

भावानुवाद—अब पाण्डवोंके प्रति भगवान्के अनुग्रहका वर्णन किया जा रहा है। भगवान्ने विषदान आदि अनेक प्रकारकी अनिर्वचनीय विपत्तियोंको देकर बाल्यकालसे ही पाण्डवोंके धैर्य आदिको समाजमें विख्यात किया है। अर्थात् उस प्रकारकी महान विपत्तियोंके समयमें भी पाण्डवोंके धैर्यको दिखाया है। इस प्रकार पाण्डवोंके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए ही भगवान्ने ऐसी-ऐसी विपत्तियोंको दिया, अन्यथा ऐसे महात्माओंके समक्ष वैसी विपत्तियोंका आना असम्भव है॥७५॥

सारथ्यं पार्षदत्वञ्च सेवनं मन्त्रिदूतते।
वीरासनानुगमने चक्रे स्तुतिनतीरपि॥७६॥

श्लोकानुवाद—भगवान् पाण्डवोंके सारथी, पार्षद, सेवक, मन्त्री, दूत और प्रहरी बने तथा उन्होंने पाण्डवोंका अनुगमन, स्तव यहाँ तक कि उन्हें नमस्कार आदि भी किया है॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परोक्षकृतमुक्त्वा साक्षात्कृतमनुग्रह विशेषमाह—सारथ्यमिति। पार्षदत्वं सभापतित्वं सख्येन सततपार्श्ववर्तित्वं वा। सेवनं चित्तानुवृत्तिं राजसूयादौ अभिषेचन-पादाब्जेनादिरूपं वा। मन्त्रितां दूतताञ्च; वीरासनं रात्रौ खड़्गहस्ततयावस्थानेन जागरणम्; अनुगमनञ्च पश्चाद्वर्तित्त्वं; कुत्रापि गच्छतामनुव्रजनं वा स्तुतीश्च नतीश्च प्रणामान् चक्रे सः। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१६/१७)—*'सारथ्य-पार्षद-सेवन-सख्य-दौत्य-वीरासनानुगमन-स्तवन्-प्रणामान्। स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे॥'* इति। अस्मिन् श्लोके च पूर्वस्मात् शृण्वन्निति पदमन्वेति। सारथ्यादीनि शृण्वन्निति सख्यजनित एव सारथ्यादौ सर्वत्र सख्यस्य वृत्तेः पृथगेतन्नोक्तमिति ज्ञेयं, किम्वा पार्षदत्वे तस्यान्तर्भावो द्रष्टव्यः॥७६॥

भावानुवाद—इस प्रकार पाण्डवोंके प्रति परोक्ष रूपमें किये गये अनुग्रहके विषयमें कहकर अब साक्षात् रूपमें किये गये अनुग्रहके

विषयमें बतला रहे हैं। श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पार्षद, सभापति और सखा बनकर सदा-सर्वदा उनके साथ रहते हैं। सेवन कहनेसे चित्तानुवृत्ति अर्थात् उनके मनको समझकर सेवा करना, राजसूय यज्ञमें अभिषेक या पाद-प्रक्षालन आदिकी सेवाके लिये जलदान आदि सेवा। इस प्रकार श्रीकृष्णने मन्त्री, दूत बनना तथा वीरासन (रात्रि-कालमें तलवार धारणकर वीरासनसे जागरण), अनुगमन (पीछे-पीछे गमन), स्तव और प्रणाम आदि भी किये हैं। यथा, प्रथम-स्कन्धमें कहा गया है—"त्रिलोकवासी जिनके श्रीचरणकमलोंमें प्रणत होते हैं, वही भगवान् श्रीविष्णु अपने प्रिय पाण्डवोंके सारथी, दूत, सभा रक्षक, द्वारपालकी भाँति हाथमें तलवार धारणकर रातमें द्वार-रक्षक और आज्ञा-पालक बने हैं तथा वे उनका स्तव करते हैं और उन्हें नमस्कार करते हैं।" इस श्लोकमें 'सारथ्य' आदिको सख्यवृत्ति अथवा पार्षद होनेके अन्तर्भूत समझना चाहिए॥७६॥

किंवा सस्नेहकातर्यात्तेषां नाचरति प्रभुः।
सेवा सख्यं प्रियत्वं तदन्योऽन्यं भाति मिश्रितम्॥७७॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌ने स्नेहवशतः पाण्डवोंका कौनसा कार्य नहीं किया? अर्थात् वे उनके सभी कार्य ही करते हैं। भगवान् और पाण्डवोंकी परस्पर की गयी सेवा, सख्य और प्रियता सभी एक ही समयमें प्रकाशित होती हैं॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किम्वा नाचरति, अपितु युद्धाकरणप्रतिज्ञादिकमपि त्यजति। भीष्मादिकृत-प्रहारमप्यङ्गीकरोतीत्यर्थः। ननु परमार्थत्वेन सर्वप्रियत्वात् सौहार्दं करोतु नाम निकृष्टेषु मर्त्येषु देहिषु विश्वासं सेवाञ्च किमिति करोतीत्यत्राह—सेवेति। तत्सेवादित्रयं अन्योन्यं मिश्रितमेव सद्भाति शोभते। न तु सेवां विना सख्यं, सख्यं विना च प्रियत्वम्, तथा प्रियत्वं विना सख्यं, संख्य विना च सेवा भातीत्यर्थः, अन्यथा कापट्यपर्यवसानात्। यद्वा, पाण्डवानां श्रीकृष्णस्य च परस्परं क्रियमाणमेव सेवादि भाति। पाण्डवैः सेवादौ विधीयमाने कृष्णेन तच्चेन्न क्रियेत तदा तन्न भाति। तत्र च मिश्रितं युगपदेव क्रियमाणं सदित्यर्थः॥७७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने स्नेहके वशीभूत होकर पाण्डवोंके किस कार्यको नहीं किया है? उन्होंने पाण्डवोंके लिए 'युद्ध नहीं करूँगा'

अपनी इस प्रतिज्ञाको भंग किया है। उन्होंने पाण्डवोंके लिए भीष्मादि द्वारा किये गये अस्त्र प्रहारको भी अङ्गीकार किया है। यदि कहो कि परमार्थ विचारसे तो भगवान् सर्वप्रिय होनेके कारण सभीके प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार करते हैं; किन्तु तुच्छ मरणशील देहधारीके प्रति उनका विश्वास ही क्या और सेवा ही क्या? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि उनकी सेवावृत्ति मर्त्यदेहके सम्बन्धमें प्रकाशित नहीं होती, बल्कि सेवा, सख्य और प्रियता, ये तीनों परस्पर मिश्रित भावमें प्रकाशित होती हैं। अर्थात् सेवाके बिना सख्य तथा सख्यके बिना प्रियता प्रकाशित नहीं होती; तथा प्रियताके बिना सख्य और सख्यके बिना सेवा प्रकाशित नहीं होती, अन्यथा ये सब कपटतामें ही फलित होती हैं। अथवा पाण्डवों और भगवान् श्रीकृष्णकी परस्परकी सेवा, सख्य और प्रियता एक समयमें प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार पाण्डवोंके प्रतिकी गयी भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा, सख्य और प्रियता तथा श्रीकृष्णके प्रति पाण्डवोंकी सेवा, सख्य और प्रियता एक ही समयमें प्रकाशित होती है। पक्षान्तरमें यदि पाण्डवगण केवल श्रीकृष्णकी सेवा करें, श्रीकृष्ण पाण्डवोंके प्रति सेवा न करें, तो वैसी सेवा शोभायमान नहीं होती। इसलिए परस्पर दोनों पक्षों द्वारा की गयी सेवाएँ एकत्रित होकर ही प्रकाशित होती हैं॥७७॥

यस्य सन्ततवासेन सा येषां राजधानिका।
तपोवनं महर्षीणामभूद्वा सत्तपः फलम्॥७८॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके सदैव वासके कारण पाण्डवोंकी राजधानी महर्षियोंकी तपस्याके फल प्रदान करनेवाली तपोवन-भूमिके रूपमें प्रकाशित हो रही है॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो यस्य प्रभोः सन्ततवासेन हेतुना सा हस्तिनापुराख्या राजकुलसम्बन्धमयी येषां पाण्डवानां राजधान्यपि तपोवनं तपःसिद्धिकर तपस्विगणा-वासस्थानमभूत्। श्रीकृष्णसन्दर्शनाय तत्र सततागमनात् तेन च स्वयमेव परमतपःसिद्धेः। तथाचोक्तं श्रीयुधिष्ठिरं प्रति नारदेनापि सप्तमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ७/१०/४८)—*'यूयं नृलोके वत भूरिभागा, लोकान् पुनाना मुनयोऽभियन्ति। येषां गृहानावसतीति साक्षाद्, गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥'* इति। 'किं वक्तव्यं तपः सिद्धम्' इति। तपः

फलमपि परमं तैः प्राप्तमित्याह—वेति पक्षान्तरे; सतः परमोत्कृष्टस्य तपसः फलं सैवाभूत्। तपोऽत्र चित्तैकाग्रता, सदिति फलविशेषणं वा सतत भगवत्–साक्षात्कार–हेतुत्वात्। फलदेति वक्तव्ये फलमित्युक्तिः कार्यकारणयोरभेद–विवक्षया, तत्र सतत तत्प्राप्तेरावश्यकत्वात्॥७८॥

भावानुवाद—अतएव श्रीकृष्णके निरन्तर वासके कारण हस्तिनापुर नामक पाण्डवोंकी राजधानी तपोवन बन गयी है, अर्थात् तपस्वियोंके लिए तप सिद्धिदायक स्थलमें बदल गई है। अथवा श्रीकृष्णके निश्चित अवस्थानके कारण पाण्डवोंकी राजधानी हस्तिनापुर स्वयं ही उत्तम तपस्याका स्थान बन गयी है। महर्षिगण भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए वहाँ पर सदैव आते रहते हैं और भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंसे उनकी परम तपस्या भी स्वतःसिद्ध हो जाती है। इस विषयमें आपने (श्रीनारदने) महाराज श्रीयुधिष्ठरको कहा था—"श्रीप्रह्लाद अथवा अन्यान्य भक्तोंसे, यहाँ तक कि वशिष्ठ आदि महर्षियोंसे भी महासौभाग्यशाली आप (पाण्डव) ही हैं, क्योंकि अपने दर्शन आदिके द्वारा त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले महर्षिगण भी अपने–आपको सम्पूर्णरूपसे पवित्र करनेके लिये आपके घर पर पधारते हैं। कारण, आपके घरमें ही नराकृति परब्रह्म निगूढ़भावसे (गुप्तरूपसे) रह रहे हैं।" अतएव हस्तिनापुर तप सिद्धिदायक स्थान है, इस विषयमें अधिक कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव उस स्थान पर सभी प्रकारकी तपस्याओंका फल शीघ्र प्राप्त होता है। पक्षान्तरमें हस्तिनापुर स्वयं ही तपस्याका परमोत्कृष्ट फलस्वरूप है, क्योंकि तपस्याका फल चित्तकी एकाग्रता है तथा उस एकाग्रताका विशेष फल भगवान्का साक्षात्कार है, अतएव निरन्तर भगवान्का साक्षात्कार करनेके लिए हस्तिनापुर स्वयं ही फलस्वरूप है। यहाँ पर फलदाता न कहकर 'फलस्वरूप' कहनेका तात्पर्य है—कार्य और कारणमें अभेदकी विवेचना। इसके द्वारा निरन्तर तपस्याके फल प्राप्तिकी आवश्यकता भी सूचित हुई है॥७८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

शृण्वन्निदं कृष्ण–पदाब्जलालसो द्वारावतीसन्ततवासलम्पटः।
उत्थाय चोत्थाय मुदान्तरान्तरा श्रीनारदोऽनृत्यदलं सहूङ्कृतम्॥७९॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—यह सुनकर श्रीनारद भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा प्राप्तिकी लालसासे उस द्वारकापुरीमें सदैव वास करनेके लिए अत्यधिक लुब्ध हो गये तथा वार्त्तालापके बीच-बीचमें आनन्दपूर्वक पुनः-पुनः हुंकार करते हुए उठ-उठकर नृत्य करने लगे॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीकृष्णस्य तत्प्रियाणाञ्च माहात्म्यभरश्रवणेन श्रीनारदश्च नितरां ननन्देत्याह—शृण्वन्निति। इदं श्रीहनूमदुक्तम्; श्रीकृष्णपादाब्जयोर्लालसः सततंतत्-सेवात्यन्तोत्सुक इत्यर्थः। अतएव द्वारावत्यां तत्पुर्यां सन्ततवासे लम्पटो रसिकः। तथैकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/२/१)—*'गोविन्द भुजगुप्तायां द्वारकायां कुरूद्वहः। अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासन लालसः॥'* इति। अतएव मुद्रा हर्षेण अन्तरान्तरा कथाया मध्ये मध्ये उत्थायोत्थाय हूङ्कृतेन हूङ्कारेण सहितं यथास्यात्तथा अलमतिशयेनानृत्यत्। वीप्सायां पौनःपुन्यं बोध्यते॥७९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्ण और उनके प्रिय पाण्डवोंके माहात्म्यको श्रवण करके श्रीनारद अत्यधिक आनन्दित हुए। यही 'शृण्वन' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। श्रीनारदने श्रीहनुमानकी बातको सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाके लिए अत्यन्त उत्सुक होकर द्वारकापुरीमें सदैव वास करनेके लिए संकल्प किया। इस विषयमें एकादश-स्कन्धमें कहा गया है, "हे कुरुकुलतिलक! देवर्षि श्रीनारद श्रीकृष्णके दर्शनके लिये लालायित होकर गोविन्दकी भुजाओं द्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें वास करते थे।" इसलिए श्रीनारद आनन्दमें भरकर वार्त्तालापके बीचमें ही पुनः-पुनः उठकर हुंकारपूर्वक अत्यधिक नृत्य करने लगे। अत्यधिक आनन्दके कारण 'उत्थाय उत्थाय' शब्द दो बार उक्त हुआ है॥७९॥

पाण्डवानां हनूमांस्तु कथारसनिमग्नहृत्।
तन्नृत्यवर्द्धितानन्दः प्रस्तुतं वर्णयत्यलम्॥८०॥

श्लोकानुवाद—पाण्डवोंकी कथारसके वर्णनमें निमग्न श्रीहनुमान, श्रीनारदको नृत्य करते देख अत्यधिक आनन्द सहित स्वयं भी नृत्य करने लगे। तदनन्तर वर्णित किये जा रहे विषयको आगे कहने लगे॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु ईदृशे महोत्सवे श्रीनारदेन सह श्रीहनूमानपि कथं नानृत्यत्? तत्राह—पाण्डवानामिति। कथायां पाण्डवमाहात्म्याख्याने रसोऽनुरागः माधुर्यविशेषो वा। यद्वा, कथैव रसः मादकमधुर-द्रवविशेषः संसार-विस्मारणात् परमसुखप्रदत्वाच्च। तस्मिन्निमग्नं हृदयस्य सः। किञ्च, तस्य नारदस्य नृत्येन वर्धित आनन्दः कथा-विषयको हर्षो यस्य सः। अतः अलमतिशयेन प्रस्तुतं प्रकृतं येषां माहात्म्यं वर्णयति एवं कथा रसावेशेन नानृत्यदिति भावः॥८०॥

भावानुवाद—यदि आशंका हो कि ऐसे कथा-महोत्सवमें श्रीनारदके साथ श्रीहनुमानने भी नृत्य क्यों नहीं किया? इसका उत्तर देते हुए 'पाण्डवानां' इत्यादि पद कह रहे हैं। पाण्डवोंके माहात्म्यरूपी कथामें अर्थात् पाण्डवोंके कथारसमें अनुरागवशतः अथवा उनकी कथाके माधुर्यमें श्रीहनुमानका चित्त निमग्न हो गया था, इसलिए वे स्वयं नृत्य करनेमें प्रवृत्त नहीं हुए। अथवा कथारस अपने आपमें ही मादक द्रव्य है, इसलिए उस रसपानसे हुई मत्तता संसारका सब कुछ विस्मरण कराकर परमसुख प्रदान करती है। अतएव ऐसी कथारसमें जिनका चित्त निमग्न है, उन श्रीहनुमानने देवर्षि श्रीनारदके नृत्यके दर्शनसे अत्यधिक आनन्दित होकर स्वयं नृत्य नहीं किया, परन्तु अत्यधिक रूपमें पाण्डवोंके माहात्म्यको वर्णन करनेमें ही प्रवृत्त हुए। इस प्रकार कथाके आवेशमें उन्होंने नृत्य नहीं किया, ऐसा समझना चाहिए॥८०॥

श्रीहनूमानुवाच—

तेषामापद्गणा एव सत्तमाः स्युः सुसेविताः।
ये विधाय प्रभुं व्यग्रं सद्यः संगमयन्ति तैः॥८१॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने कहा—पाण्डवोंकी विपत्तियाँ ही भली-भाँति सेवित साधुओंके समान हैं, क्योंकि जिस प्रकार साधुजनोंकी सुष्ठु सेवा श्रीकृष्णकी प्राप्ति कराती हैं, उसी प्रकार पाण्डवों पर आनेवाली विपत्तियाँ भी भगवान् श्रीकृष्णको व्यग्र बनाकर पाण्डवोंके साथ उनका अतिशीघ्र मिलन करा देती हैं॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—सुसेविताः परमोपासिताः सत्तमाः साधुवराः स्युरभवन्नित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—ये आपद्गणाः प्रभुं व्यग्रं अन्याशेष कृत्यत्याजनेन तेषां निकटागमने परमसम्भ्रान्तं कृत्वा। तेः पाण्डवैः सह; यथा महान्तो भगवत् प्राप्तिं कारयन्ति,

तथा तेषामापद्गणा अपि। सम्पदां तु महिमा केन वर्ण्यतामिति भावः। स च राजसूयादौ जरासन्धवधाभ्यागत पादाब्जेनादिना प्रसिद्ध एव। पूर्वन्तु तेषामापद्गणास्तत्वतो न सन्ति, धैर्यादि प्रकटनार्थं भगवदिच्छयैव भवन्तीत्युक्तं, इदानीञ्च लोकदृष्टया सन्तु नाम, तथापि परम सत्फलप्रदा एवेति विशेषः॥८१॥

भावानुवाद—पाण्डवोंकी विपत्तियाँ भगवान्‌को अत्यधिक व्याकुल करके अर्थात् भगवान्‌के अन्य समस्त कार्योंका त्याग कराकर उन्हें पाण्डवोंके निकट आगमनके लिए व्याकुल करके उनके साथ शीघ्र ही मिलन करा देती हैं। जिस प्रकार सुन्दर रूपमें आराधित होने पर साधु-महात्मा भगवान्‌की प्राप्ति करा देते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंकी विपत्तियाँ भी उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति करा देती हैं। यथार्थतः जिनकी विपत्तियाँ इतनी महान हैं, उनकी सम्पत्तिकी महिमाको कौन वर्णन कर सकता है? यह सब विषय राजसूय-यज्ञ, जरासन्ध-वध, अतिथियोंके पाद-प्रक्षालन आदि व्यवहारसे ही प्रसिद्ध है। वास्तवमें उनके ऊपर विपत्तियाँ आ ही नहीं सकती; भगवान् इन विपत्तियोंको भेजकर उनके धैर्य आदि महान गुणोंको प्रकाशित करते हैं तथा वे भी श्रीभगवान्‌की इच्छा जानकर वैसी विपदाओंको स्वीकार करते हैं। यद्यपि लोकदृष्टिमें उन्हें विपत्तियाँ ही कहा जाता है, तथापि पाण्डवोंके लिए वे परम सत्फलदायक बन जाती हैं, यही इन विपत्तियोंकी विशेषता है॥८१॥

अरे! प्रेमपराधीना विचाराचारवर्जिताः।
नियोजयथ तं दौत्ये सारथ्येऽपि मम प्रभुम्॥८२॥

श्लोकानुवाद—अरे प्रेम-पराधीन विचार-आचार रहित पाण्डवों! तुमने मेरे प्रभुको अपना दूत और सारथी बनाया है॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परमानन्दभरावेशेन साक्षादिव पाण्डवानेव सम्बोध्याह—अरे इति। प्रेम्णः पराधीनास्तन्नियन्त्रिता इत्यर्थः। अवएव विचारः;—अयं भगवान् जगदीश्वरो ब्रह्मादिनियन्ता दौत्यादौ नियोजनानर्ह इत्यादि लक्षणः, आचारश्च सतां व्यवहारः, सेव्यं सेवको न नियोजयेदित्यादिलक्षणस्ताभ्यां वर्जिताः रहिताः। मम प्रभुमित्युक्तिः प्रेम विशेषाविर्भावात्॥८२॥

भावानुवाद—इस प्रकार परमानन्दके आवेशमें श्रीहनुमान (मानों पाण्डव साक्षात्‌रूपसे दिख रहे हों) पाण्डवोंको सम्बोधन करके कहने

लगे—अरे पाण्डवों! तुम प्रेमके पराधीन हो अर्थात् प्रेम द्वारा नियन्त्रित हो, प्रेम जिस प्रकार तुम्हें परिचालित कर रहा है, तुमलोग भी उसी प्रकार चल रहे हो। तुममें तनिक भी स्वाधीनता नहीं है, इसलिए तुमलोग विचार-आचारसे रहित हो। अर्थात् ये भगवान् जगदीश्वर श्रीकृष्ण ब्रह्मा आदिके भी नियन्ता हैं, अतएव दूत आदि कार्यमें लगाने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार आचार-विचार शून्य होकर तुमलोगोंने मेरे प्रभुको दूत और सारथी आदि कार्योंमें नियुक्त कर रखा है, तुम्हारे यह सब लक्षण सदाचार रहित हैं। अथवा सदाचार कहनेका तात्पर्य है साधुओंका व्यवहार अर्थात् सेवक होकर सेव्य भगवान्को अपनी सेवामें नियुक्त नहीं करना आदि लक्षण, अतः तुम्हारा व्यवहार सदाचार रहित है। 'मेरे प्रभु'—श्रीहनुमानकी ऐसी उक्ति अत्यधिक प्रेम उदित होनेके कारण समझनी चाहिए॥८२॥

नूनं रे पाण्डवा मन्त्रमौषधं वाथ किञ्चन।
लोकोत्तरं विजानीधेव महामोहनमोहनम्॥८३॥

श्लोकानुवाद—अरे पाण्डवों! तुम निश्चय ही कोई अलौकिक मन्त्र या औषधि जानते हो जिसके प्रभावसे तुमलोगोंने परम मनोहर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको भी वशीभूत कर लिया है॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु प्रेमवैवश्येन विचारादिहान्या ते तथा व्यवहरन्तु नाम, भगवांस्तु कथं तत् स्वीकरोतीत्याशंक्य स्वयमेवाह—नूनमिति वितर्के। महामायाधीश्वरत्वात् परममोहनस्यापि भगवतो मोहनं वशीकारकम्; अतएव लोकोत्तरं सर्वलोकातीतं लोकेषु तदसम्भवात् जानीधेव जानीथ; वस्तुतः प्रियजनप्रेमभरमोहितत्वात् तथा करोतीति सिद्धान्तश्चाग्रे द्वितीयश्लोके व्यक्तो भावी॥८३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि प्रेमकी विवशताके कारण विचार आदि शून्य होनेसे अथवा उचित व्यवहार आदिके न होनेसे भगवान् ही उसे क्यों स्वीकार करते हैं? इसी आशंकाके समाधानके लिए स्वयं श्रीहनुमान 'नूनं' इत्यादि पद कह रहे हैं। यहाँ पर 'नूनं' शब्द वितर्कके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अरे पाण्डवों! तुमलोग निश्चय ही महामायाधीश्वर परममोहन श्रीभगवान्को भी मोहित और वशीभूत करनेवाले हो। अतएव समस्त लोकोंसे अतीत अर्थात् नृलोकमें जो

असम्भव है, तुमलोग ऐसे किसी अलौकिक मन्त्र अथवा औषधिको जानते हो। वस्तुतः श्रीभगवान् अपने प्रियभक्तोंके प्रेममें मुग्ध होकर इस प्रकारका आचरण करते हैं। ये सब सिद्धान्त आगेके (८५) श्लोकमें कहे जायेंगे॥८३॥

इत्युक्त्वा हनूमान्मातः पाण्डवेय-यशस्विनि।
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मुनिना मुहुर्नृत्यति वक्ति च॥८४॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित बोले—हे पाण्डव-पुत्र अभिमन्युकी पत्नी! यशस्विनि! मेरी मैया! ऐसा कहकर श्रीहनुमान परमानन्द-पूर्वक कूद-कूद कर श्रीनारदके साथ बार-बार नृत्य करने लगे तथा कहने लगे॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्येतद् भगवतो भक्तजनपराधीनत्वमुक्तवा पाण्डवेयोऽभिमन्युः तस्य यशस्विनि यशस्कारिसत्पत्नीत्यर्थः। एवं सम्बोधनेन तेषां माहात्म्यमेतत्त्वय्यपि पर्यवस्यतीति भावः। मुनिना नारदेन सह मुहुरूत्प्लुत्योत्प्लुत्य परमानन्दभरवैवश्येन प्लुतिगत्या कूर्दनेन उर्ध्वं गत्वा गत्वा मुहुर्नृत्यति मुहुर्वक्ति च॥८४॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीपरीक्षित भगवान्की भक्त-पराधीनताकी बात कहकर अन्तमें सम्बोधन करके कहने लगे—हे पाण्डव-पुत्र अभिमन्युकी पत्नी! यशस्विनि (यश प्रदान करनेवाली सत्पत्नी)! मेरी मैया उत्तरे (उत्तरा)! इस प्रकारके सम्बोधनका उद्देश्य यह है कि पाण्डवोंका माहात्म्य आपमें ही पर्यवसित हो रहा है। इसके उपरान्त श्रीहनुमान परमानन्द सहित पुनः-पुनः कूद-कूद कर श्रीनारदके साथ बार-बार नृत्य करने लगे और कहने लगे॥८४॥

अहो महाप्रभो भक्तवात्सल्य-भरनिर्जित।
करोष्येवमपि स्वीयचित्ताकर्षकचेष्टित॥८५॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने कहा—अहो! भक्तवात्सल्यसे भरकर भगवान् अपने भक्तोंके वशीभूत होकर उनके चित्तको आकर्षण करनेके लिए इस प्रकारके दूत और सारथी आदिके कार्योंको भी करते हैं॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं वक्ति? तदाह—अहो इति विस्मये, प्रेम सम्बोधने वा। महाप्रभो, जगदीश्वरेश्वर? एवमीदृशं सारथ्यादिकमपि करोषि; सम्भवेत्तावदेतदिति सम्बोधयति। भक्तेषु यद्वात्सल्यं स्नेहविशेषस्तस्य भरेण उद्रेकेण निर्जितः परमवशीकृतः। स्वातन्त्रयाभावात् भक्तानामिच्छानुरूपमेव व्यवहरसीति भावः; तदुक्तं श्रीभगवतैव श्रीनवमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ९/४/६३)—*'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥'* इति। नन्वेवं निजप्रियतमेश्वरस्यास्वातन्त्रेण व्यवहारे कथं भक्तानां मनोदुःखं न स्यात्? तत्र सम्बोधयति, स्वीयानां भक्तानां चित्तमाकर्षतीति तथाभूतं चेष्टितमाचरितं यस्य, परमप्रेमानन्दभरसम्पादनात्; एवं परमवात्सल्यात् स्वीयसन्तोषणार्थं क्रियमाणं कर्म कथञ्चित् कदाचिदपि भक्तानां दुःखदं न भवति, भक्तजनप्रियत्वात्; एतदेव भक्तजनप्रिय इति वदता भगवता; तत्पुरुषसमासेन बहुव्रीहिणावाभिप्रेतम्; एवञ्च सर्वं भक्तवात्सल्यादेव करोतीति तात्पर्यम्; तदुक्तं भगवतैव पद्मपुराणे—*'मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं शक्तो यद्यपि दानवान्। मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः॥ दर्शन-ध्यान-संस्पर्शैर्मत्स्य-कूर्म-विहङ्गमाः। स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज॥'* इति॥८५॥

भावानुवाद—प्रभुके भक्तवात्सल्यके विषयमें और अधिक क्या कहूँ? श्रीहनुमान विस्मय या प्रेमपूर्वक सम्बोधन करते हुए कहने लगे—हे महाप्रभो! जगदीश्वर! क्या आप ऐसे सारथी आदिके कार्योंको भी करते हैं? अहो! आप भक्तवात्सलताके कारण अथवा विशेष स्नेहवशतः भक्तके अत्यन्त वशीभूत हो जाते हैं। अर्थात् भक्तोंके समक्ष आपकी स्वाधीनता नहीं रहती तथा आप भक्तोंकी इच्छाके अनुरूप ही व्यवहार करते हैं। आपने अपने श्रीमुखसे ही कहा है—"मैं भक्तोंके अधीन हूँ, अतएव एक प्रकारसे उनके पराधीन हूँ, अर्थात् भक्तोंके समक्ष मेरी स्वाधीनता नहीं रहती। भक्तगण मेरे प्रिय हैं, अतः उन्होंने मेरे हृदय पर अधिकार प्राप्त कर रखा है।"

यदि आपत्ति हो कि अपने प्रियतम ईश्वरके इस प्रकारके अस्वतन्त्र व्यवहारसे क्या भक्तोंके मनको दुःख नहीं होता? इसीलिए कहते हैं—भगवान् भक्तोंके चित्तको आकर्षण करते हैं अर्थात् वे ऐसा आचरण करते हैं, जिससे भक्तोंका चित्त आकर्षित हो जाता है। अतएव भक्तोंको परमप्रेमानन्द प्रदान करनेके लिए तथा भक्तोंके स्नेहके अधीन होकर अत्यधिक वात्सल्य सहित भगवान् द्वारा अपने सन्तोषके लिए किये गये सब प्रकारके कार्य कभी भी भक्तोंके लिए

दुःखप्रद नहीं होते। श्रीभगवान् भक्तोंके प्रिय हैं और भक्तोंकी प्रसन्नता ही उनका एकमात्र उद्देश्य है। उद्धृत श्लोकके 'भक्तजनप्रिय'-पदको तत्पुरुष समास अथवा बहुव्रीहि समास करनेसे ऐसा ही अर्थ सूचित होता है। अतएव अर्थ यह हुआ कि भगवान् जो सब लीलाएँ करते हैं, वे सभी उनके भक्तवात्सल्यके कारण ही अनुष्ठित होती हैं। पद्मपुराणमें श्रीभगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है, "मैं एक क्षणमें ही सभी दानवोंका संहार करनेमें समर्थ हूँ, तथापि भक्तोंके आनन्दवर्द्धनके लिए ही अनेक प्रकारकी क्रियाएँ (लीलाएँ) करता हूँ। मच्छली, कूर्म और पक्षी, जिस प्रकार दर्शन, ध्यान और स्पर्श द्वारा अपने-अपने बच्चोंका पोषण करते हैं, मैं भी उसी प्रकार अपने भक्तोंका पोषण करता हूँ"॥८५॥

ममापि परमं भाग्यं पार्थानां तेषु मध्यमः।
भीमसेनो मम भ्राता कनीयान् वयसा प्रियः॥८६॥

श्लोकानुवाद—हे महाभाग्यवान्! मेरा भी परम सौभाग्य है कि श्रीकुन्तीदेवीके मध्यम पुत्र भीमसेन आयुमें मेरे कनिष्ठ भ्राताके समान होने पर भी गुणोंमें मुझसे श्रेष्ठ होनेके कारण मेरे परमप्रिय हैं॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—दुर्भगोऽप्यहं तेषां सम्बन्धेनाधुना महाभाग्यवान् वृत्त इत्येवं तेषामेव महामहिम-कथनाय निजभाग्यं स्तोति—ममेति। तेषु पाण्डवेषु मध्ये ये पार्थाः पृथागर्भजातास्तेषां मध्यमः अन्यथा पाण्डवानां मध्यमोऽर्जुन एव स्यादिति पार्थानामिति प्रयोगः। किञ्च, पृथा कृष्णस्य परमभक्तेति तदुदरजातत्वाद्भीमसेनस्य माहात्म्येन स्वभाग्यमहत्वमपि सूचितं स्यात् वयसैव कनीयानित्यनेन गुणादिभिर्ज्यायानित्या-भिप्रेतम्; अतएव प्रियः मदीयस्नेहातिशयविषय इत्यर्थः। एवमपि स्वभाग्यमहिमैव सूचितः॥८६॥

भावानुवाद—मैं दुर्भागा हूँ, तथापि पाण्डवोंके सम्बन्धसे अब महाभाग्यशाली हो गया हूँ, इस प्रकार पाण्डवोंकी महिमाके कथनरसमें निमग्न होकर श्रीहनुमान अपने भाग्यकी प्रशंसा कर रहे हैं। उन पाण्डवोंमें जो पृथा (कुन्ती)के गर्भजात पुत्र हैं, उनमें मध्यम भीमसेन हैं। यहाँ पर 'पृथाके गर्भजात' कहनेसे मध्यम भीमसेन ही हैं, ऐसा समझा रहे हैं अन्यथा पाण्डवोंमें मध्यम तो अर्जुन हैं। इसलिए मूल

श्लोकमें 'पार्थानां' पदका प्रयोग हुआ है। पृथा श्रीकृष्णकी परमभक्त हैं, अतएव उनके गर्भसे उत्पन्न भीमसेनके माहात्म्य द्वारा अपने भाग्यकी भी सराहना कर रहे हैं। भीमसेन आयुमें मुझसे कनिष्ठ होने पर भी गुणोंमें मुझसे श्रेष्ठ हैं, अतः मेरे परमप्रिय हैं अर्थात् मेरे अत्यधिक स्नेहके पात्र हैं। अतएव उनके साथ मेरे इस सम्बन्धको भी मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। इस प्रकार श्रीहनुमानके भाग्यकी महिमा भी सूचित हुई है॥८६॥

स्वसृदानादिसख्येन यः सम्यगनुकम्पितः।
तेन तस्यार्जुनस्यापि प्रियो मद्रूपवान् ध्वजः॥८७॥

श्लोकानुवाद—अपनी बहनका दान (विवाह) तथा सख्य व्यवहार द्वारा श्रीकृष्णने जिन पर विशेष कृपाकी है, उन अर्जुनको मेरे रूपसे युक्त रथकी ध्वजा अति प्रिय है, ऐसा जानकर मैं अपनेको अत्यन्त सौभाग्यवान् समझता हूँ॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च स्वसुः श्रीसुभद्राया दानं हरिणानुमोदनेन प्रतिपादनं तदार्दियस्य सारथ्यादिलक्षणस्य सख्यस्य तेन कृत्वा, तेन भगवता यः सम्यक् तेष्वपि वैशिष्ट्येनानुकम्पितः, तस्यापि ध्वजो मद्रूपवान मदाकारयुक्तः स च तस्य प्रियः॥८७॥

भावानुवाद—श्रीहनुमान और भी कहते हैं कि जब अर्जुनने श्रीकृष्णकी बहन सुभद्राका हरण किया था, तब श्रीकृष्णने मित्रतावशतः उस हरणका अनुमोदन किया था। इसके अलावा सारथी आदिके कार्यको करके भी अर्जुन पर परम अनुग्रह किया था। उन्हीं अर्जुनको मेरे आकारसे युक्त रथकी ध्वजा (कपिध्वज) अत्यधिक प्रिय है, इसलिए मैं अपनेको परम भाग्यशाली समझता हूँ॥८७॥

प्रभोः प्रियतमानान्तु प्रसादं परमं विना।
न सिद्ध्यति प्रिया सेवा दासानां न फलत्यपि॥८८॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌के प्रियतम भक्तोंकी कृपाके बिना मेरे जैसे दासोंकी सेवा सिद्ध नहीं हो सकती और न ही कोई सुफल प्रदान कर सकती है॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं वर्णयन् प्रेमोदयेन तत्र गन्तुमुत्कण्ठया गमनावश्यकता युक्तिमाह—प्रभोरिति चतुर्भिः। दासानां दासकर्त्तृका सेवा दास्यमित्यर्थः; सा च दासानां प्रिया अनन्यप्रियत्वात्। न सिध्यति न सम्पद्यते कृतापि न फलति च परमप्रेमसम्पदं न वहतीत्यर्थः, भगवतः प्रियजनाधीनत्वात्॥८८॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीहनुमान पाण्डवोंकी महिमाका वर्णन करते-करते प्रेमके उदित होनेके कारण पाण्डवोंके राजभवनमें जानेकी उत्कण्ठासे अर्थात् वहाँ जानेकी आवश्यकताको युक्ति सहित 'प्रभोः' इत्यादि चार श्लोकोंमें कह रहे हैं। वस्तुतः दासके द्वारा की गयी सेवा ही दास्य है तथा वही सेवा एकमात्र प्रिय वस्तु है, अर्थात् एकमात्र सेवाके अलावा दासोंको अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। तथा भगवान्‌की सेवा करने पर भी भगवान् अपने प्रियतम दासकी कृपाके बिना किसीको भी परमफल नहीं देते हैं अर्थात् उसमें प्रेम-सम्पदका सञ्चार नहीं करते हैं, क्योंकि भगवान् अपने प्रिय भक्तोंके अधीन हैं॥८८॥

तस्माद्भागवतश्रेष्ठ प्रभुप्रियतमोचितम्।
तत्र नो गमनं तेषां दर्शनाश्रयणे तथा॥८९॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे भागवत श्रेष्ठ! हे प्रभुके प्रियतम देवर्षि! हमारा पाण्डवोंके घर जाकर उनका दर्शन करना और उनकी शरण लेना ही कर्त्तव्य है॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे प्रभुप्रियतम्! एवं सम्बोधनद्वयेन तस्यापि पाण्डवसादृश्योत्त्या महाभाग्यं सूचितम्; तच्च सत्सङ्गत्या गमनौत्सुक्येनेति दिक्। तत्र पाण्डवगृहे नोऽस्माकं दासानां गमनमुचितं युक्तं, न च केवलं गमनमेव तेषामनुवृत्तिरपीत्याह—तथेति उक्तसमुच्चये भगवद्दर्शितप्रकारेणेति वा। तेषां पाण्डवानां दर्शनं आश्रयणं च सेवनं वीरासनादिना; यद्वा, शरणागतेत्वनाश्रयग्रहणम् उचितम्॥८९॥

भावानुवाद—अतएव हे भागवत श्रेष्ठ! हे भगवान्‌के प्रिय देवर्षि श्रीनारद! श्रीहनुमानके इस प्रकारके सम्बोधनसे यही सूचित होता है कि श्रीनारद भी पाण्डवों जैसे महासौभाग्यशाली हैं। इस प्रकार सत्संगके लिए पाण्डवोंके राजभवनमें गमनकी उत्सुकताका कारण प्रदर्शित हुआ है। अतएव हमारे जैसे दासोंका पाण्डवोंके यहाँ जाना उचित है। केवल गमन ही क्यों, उनकी सेवा करना भी उचित है।

कैसी सेवा? जिस प्रकारसे भगवान् प्रदर्शित कर रहे हैं अर्थात् पाण्डवोंका दर्शन, आश्रय और वीरासन आदि द्वारा उनकी सेवा करना अथवा शरणागत होकर उनका आश्रय ग्रहण करना ही उचित है॥८९॥

अयोध्यायां तदानीन्तु प्रभुणाविष्कृतं न यत्।
मथुरैकप्रदेशे तद्द्वारकायां प्रदर्शितम्॥९०॥
परमैश्वर्य–माधुर्यवैचित्र्यं वृन्दशोऽधुना।
ब्रह्मारुद्रादि–दुस्तर्क्यं भक्तभक्ति विवर्द्धनम्॥९१॥

श्लोकानुवाद—प्रभुने उस समय अयोध्यामें भी श्रीब्रह्मा-रुद्रादिके लिए तर्कसे अगोचर तथा भक्तोंकी भक्तिको वर्द्धित करनेवाली जिस परम ऐश्वर्य-माधुर्य आदिकी विचित्रताको प्रकट नहीं किया, इस समय उसीको मथुरा प्रदेशके अन्तर्गत द्वारकापुरीमें प्रचुररूपसे प्रदर्शित कर रहे हैं॥९०-९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च परममहालाभस्तत्र भवितेति गमनोत्कण्ठाभरेणाह—अयोध्यायामिति। श्रीमथुराया एकप्रदेशः एकांशरूपा द्वारका तस्यामित्यर्थः। यथोक्तं हरिवंशे श्रीविकद्रुणा स्वजामातृविषयक-मधुदैत्यवाक्यम्—*'स्वागतं वत्स! हर्यश्व! प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात्। यदेतन्मम राज्यं वै सर्वं मधुवनं विना॥ ददामि तव राजेन्द्र! वासश्च प्रतिगृह्यताम्। पालयैनं शुभं राष्ट्रं समुद्रानूपभूषितम्॥ गोसमृद्धं श्रिया जुष्टमाभीरप्रायमानुषम्। अत्र ते वसतस्तात! दुर्गं गिरिपुरं महत्। भविता पार्थिवावासः सुराष्ट्रविषयो महान्॥ अनुपविषयश्चैव समुद्रान्ते निरामयः। आनर्त्तं नाम ते राष्ट्रं भविष्यत्यायतं महत्॥'* इति। एवं समुद्रान्तमेव श्रीमथुराराष्ट्रं ज्ञेयम्। यच्च *'विंशतियोजनानान्तु माथुरं मम मण्डलम्।'* इति श्रीवराहेणोक्तम्; तच्च श्रीनन्दनन्दनचरणारविन्दक्रीड़ाविशेषभूमित्वेन तन्मण्डलस्य परमपावनत्वादि-गुणापेक्षयेतुह्यम्; एवं द्वारकामाहात्म्यमपि श्रीमथुरामाहात्म्य एव पर्यवस्यति, तथा द्वारकायामपि परमैश्वर्यविशेषप्रकटनं तस्या मथुरापेक्षयैवेति दिक्। अलमतिप्रसङ्गेन, प्रकृतमनुसरामः। तत्परमैश्वर्यस्य यन्माधुर्यं तस्य वैचित्र्यं बहुविधत्वम् अधुना वृन्दशः प्रकर्षेण परमकाष्ठाप्रापणादिना दर्शितं प्रकटितमित्यन्वयः। ब्रह्मादिभिर्दुःखेनापि तर्कयितुमशक्यं तैर्यत्तर्कयितुमपि न शक्यते, तदस्माभिस्तत्र गत्वैव साक्षादनुभवितव्यमिति भावः। मदिष्टतमा सेवा च विशेषतोऽधुना वृद्धिमाप्स्यतीत्याशयेनाह—भक्तेति, तदनुभवेन प्रेमभरोदयात्॥९०-९१॥

भावानुवाद—श्रीहनुमान और भी कहते हैं कि पाण्डवोंके राजभवनमें गमन करनेसे महालाभ होगा। इस प्रकार गमनकी उत्कण्ठासे

भरकर—'अयोध्यायां' इत्यादि पद कह रहे हैं। द्वारका मथुराका एक प्रदेश (एक अंश-स्वरूप) है, श्रीहरिवंशमें अपने जामाता विकद्रुके प्रति मधुदैत्यका कथन है—"आओ आओ पुत्र हर्यक्ष! तुम्हें देखकर अत्यधिक आनन्दित हुआ। हे राजेन्द्र! इस समय मैं तुम्हें मधुवनके अलावा अपना समस्त राज्य-सम्पत्ति और भवन-गृह आदि अर्पण करता हूँ। तुम इसे ग्रहण करके समुद्रसे भूषित विशाल राज्य अर्थात् गो-सम्पत्तिसे समृद्ध तथा नाना प्रकारकी सम्पदओंसे युक्त आभीर प्रायः मनुष्योंसे परिपूर्ण विशाल राज्यका उपभोग करो। हे तात! तुम सुदृढ़ दुर्गसे घिरे हुए इस गिरिपुरमें आवास स्थान बनाकर राजोचित सांसारिक विषयोंका उपभोग करो। यह महान सुराष्ट्र अनुपम विषय-वैभवसे परिपूर्ण है तथा समुद्र तक विस्तृत होने पर भी उपद्रवोंसे रहित अर्थात् शान्त है। विपुल क्षेत्रसे युक्त यह आनर्त्तदेश तुम्हारा राज्य होगा।" इत्यादि—इन वचनोंसे मथुरा राज्यका समुद्र तक विस्तार प्रमाणित होता है। श्रीवराहपुराणमें भी कहा गया है—"बीस योजनात्मक (अस्सी क्रोश विस्तृत) मेरा श्रीमथुरामण्डल है।" परन्तु यह मथुरामण्डल श्रीनन्दनन्दनके श्रीचरणकमलोंकी अनेक लीलाओंसे विभूषित है और परम पावन गुणोंसे युक्त है। इसीलिए उसका वृत्तान्त यहाँ पर अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार द्वारका-माहात्म्य भी मथुरा-माहात्म्यमें ही पर्यवसित हो रहा है तथा द्वारकाका परम-ऐश्वर्य भी मथुराके ऐश्वर्य पर निर्भर करता है। यही इस विचारका दिग्दर्शन है।

अब प्रस्तावित विषयका वर्णन किया जा रहा है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने त्रेतायुगमें अयोध्यापुरीमें भी जिस परम ऐश्वर्य-माधुर्यसे पूर्ण विचित्रताओंको प्रकटित नहीं किया, अब उसे मथुरा राज्यके अन्तर्गत द्वारकापुरीमें चरम सीमा तक प्रदर्शन कर रहे हैं। प्रभुकी वैसी महिमा ब्रह्मा और रुद्र आदिके लिए भी तर्कातीत है, अर्थात् ब्रह्मा आदि देवगण भी बहुत तर्क करके भी इसकी मीमांसा करनेमें समर्थ नहीं हैं। किन्तु वही ऐश्वर्य-माधुर्यकी विचित्रताएँ भक्तोंकी भक्तिका वर्धन करती हैं, इसलिए द्वारकापुरीमें जाकर साक्षात्रूपमें इसे अनुभव करना ही हमारा कर्त्तव्य है। विशेषतः वहाँ गमन द्वारा हमारे

द्वारा साक्षात् अभीष्ट सेवा करनी भी हो जायगी। श्रीहनुमानकी वह सम्पद् अब अति उत्कृष्ट विविध प्रकारकी ऐश्वर्य–माधुर्य लीलाओंके द्वारा परिसेवित होनेसे अत्यधिक वृद्धि प्राप्त हो रही है। अतएव वहाँ जानेसे अभिलषित सेवाकी प्राप्ति होगी। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं कि उस सम्पद्राशिका अनुभव प्रेमका उदय करानेवाला है तथा भक्तोंकी भक्तिको बढ़ाने वाला है॥९०–९१॥

श्रीनारद उवाच—

आः किमुक्तमयोध्यायामिति वैकुण्ठतोऽपि न।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ तत्तत्र गच्छावः सत्वरं सखे॥९२॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—अहो! सखे! अयोध्याका तो कहना ही क्या, वैसा ऐश्वर्य और माधुर्य वैकुण्ठमें कहीं भी नहीं है। अतएव उठो–उठो शीघ्र ही पाण्डवोंके घर पर चलें॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—आ इत्यव्ययं परमखेदे। यत्परमैश्वर्यमाधुर्य–वैचित्र्यमयोध्यायां नाविष्कृतमिति किमुक्तं त्वया? वैकुण्ठेऽपि नाविष्कृतमस्तीत्यर्थः। तत्तस्मात् उत्तिष्ठोत्तिष्ठेति परमाग्रहे वीप्सा; तत्र द्वारकायां पाण्डवराजधान्यां वा॥९२॥

भावानुवाद—अत्यधिक खेदके लिए 'आः' (अहो) अव्ययका प्रयोग किया गया है। अहो! सखे, अयोध्याकी बात क्या कह रहे हो? अर्थात् ऐसे परम ऐश्वर्य और माधुर्यकी विचित्रताएँ अयोध्यामें तो क्या, यहाँ तक कि वैकुण्ठमें कहीं भी प्रकटित नहीं है। अतएव उठो, शीघ्र ही पाण्डवोंके घर अर्थात् द्वारकामें अथवा पाण्डवोंकी राजधानी हस्तिनापुरमें चलें। परम आग्रहके कारण 'उठो उठो' दो बार कहा गया है॥९२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अथ क्षणं निशश्वास हनूमान् धैर्यसागरः।
जगाद नारदं नत्वा क्षणं हृदि विमृश्य सः॥९३॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—यह सुनकर धैर्यके सागर श्रीहनुमानने दीर्घ निःश्वास छोड़ा तथा थोड़ी देर तक मनमें चिन्ता करके श्रीनारदको कहने लगे॥९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—निशश्वास नितरां श्वासं जहौ। निजैकपातिव्रत्य चिन्तादुःखेन धैर्यसागर इति। तादृश्यां दिदृक्षायां जातायामपि तथा तादृश्यां नारद प्रेरणायामपि गमनार्थानुत्थानात् निजैकपातिव्रत्यभङ्गादि-विचारणाच्च। नत्वेति, तद्वाक्याद्यनादरापराध-क्षमापनार्थं ज्ञेयम्॥९३॥

भावानुवाद—श्रीनारदकी बात सुनकर श्रीहनुमानने दीर्घ निःश्वासका त्याग किया। यद्यपि वे धैर्यके सागर हैं, तथापि थोड़ी देर तक उन्होंने मनमें विचार किया। अर्थात् वैसी प्रेम सम्पत्तिके दर्शनकी इच्छा जागृत होने पर भी तथा श्रीनारद द्वारा वैसी प्रेरणा दिये जाने पर भी श्रीहनुमान एकपतिव्रत-धर्म (श्रीरामचन्द्रजीके प्रति एकान्तिकता) भंग होनेकी चिन्तासे जानेके लिए चेष्टारहित हो गये अर्थात् धैर्यकी मूर्त्ति होनेके कारण वे पाण्डवोंके घर चलनेके लिए नहीं उठे। किन्तु 'नत्वा' अर्थात् श्रीनारदके वचनोंके अनादरसे उत्पन्न अपराधको क्षमा करानेके लिए उनको प्रणामकर कहने लगे॥९३॥

श्रीहनूमानुवाच—

श्रीमन्महाप्रभोस्तस्य प्रेष्ठानामपि सर्वथा।
तत्र दर्शनसेवार्थं प्रयाणं युक्तमेव नः॥९४॥

श्लोकानुवाद—श्रीहनुमानने कहा—श्रीकृष्णके प्रियतम भक्त पाण्डवोंके दर्शन और सेवाके लिए हमारा वहाँ जाना ही उचित है॥९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—दर्शनञ्च सेवा च परिचर्या तयोर्निमित्तम्। यद्वा, दर्शनमेव सेवा परमोपासनं तदर्थं नोऽस्माकं तत्र प्रयाणं सर्वथा युक्तमेव॥९४॥

भावानुवाद—पाण्डवोंके दर्शन और सेवाके लिए अथवा दर्शनरूप परम उपासनाके लिए हमारा वहाँ जाना ही सब प्रकारसे युक्तियुक्त है॥९४॥

किन्तु तेनाधुनाऽजस्रं महाकारुण्यमाधुरी।
यथा प्रकाश्यमानास्ते गम्भीरा पूर्वतोऽधिका॥९५॥
विचित्रलीलाभङ्गी च तथा परममोहिनी।
मुनीनामप्यभिज्ञानां यया स्यात् परमो भ्रमः॥९६॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीकृष्ण इस समय पहलेसे भी कहीं अधिक गम्भीर महाकारुण्यमयी माधुरीको प्रकटित कर रहे हैं। विशेषकर उनकी विचित्र लीलाभंगी अत्यधिक मोहजनक है। इन लीलाओंका दर्शन करके अभिज्ञ मुनियोंको भी अत्यधिक भ्रम हो जाता है॥९५–९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तु तेन महाप्रभुणा यथा यादृशी महाकारुण्य-माधुर्यधुनाजस्रं प्रकाश्यमानास्ते, तथा परममोहिनी विचित्राणां विविधानां लीलानां भङ्गी च परम्परापि प्रकाश्यमानास्ते। तत्तस्मात्तस्या या लीलाभङ्ग्या हेतोर्यः अपराधस्तस्माद्विशङ्के इति चतुर्णामन्वयः। यदि कदाचित्तदीयतत्तल्लीला-दर्शनादन्येषामिव ममापि भ्रमादिकं स्यात्तदापराधः स्यात्तस्माच्चाहं विशेषेण शङ्कां प्राप्नोमीत्यर्थः। गम्भीरा अनवगाह्या अनवच्छिन्ना वा। पूर्वत इति श्रीरघुनाथादिरूपेण प्रकाशिताया अपि सकाशादधिकेत्यर्थः। परममोहिनीत्वमाह—मुनीनामिति सार्धेन। यया लीलाभङ्ग्या; भ्रमः अयम्-अवतारोऽवतारीत्यादि-भ्रान्तिः स्यात्॥९५–९६॥

भावानुवाद—किन्तु श्रीभगवान् इस समय पहलेसे भी अधिक गम्भीर महाकारुण्य माधुरीको निरन्तर प्रकाश कर रहे हैं, तथा मनमोहक विचित्र लीलाभङ्गी श्रेणीको भी प्रकाशित कर रहे हैं। श्रीभगवान्की वह लीलाएँ मोहजनक है, अर्थात् वैसी लीलाभङ्गीके कारण अपराधकी आशंका कर उसे चार श्लोकोंमें कह रहे हैं। यदि कभी उनकी लीला दर्शन करके दूसरोंकी भाँति मुझे भी भ्रम हो गया, तब तो अपराध हो जायेगा। इसीलिए मुझे विशेषरूपमें शंका हो रही है। 'गम्भीर' अर्थात् वे लीलाएँ अत्यन्य गम्भीर, अथाह और सीमा रहित हैं। 'पूर्वतः' कहनेसे श्रीरामचन्द्र आदि रूपमें प्रकाशित लीलाओंकी तुलनामें अधिक गम्भीर हैं। परम मोहिनी अर्थात् इन सब लीलाओंका दर्शन करके अभिज्ञ मुनि भी अत्यधिक भ्रमित हो जाते हैं। यहाँ 'भ्रम' कहनेसे 'ये अवतार हैं अथवा अवतारी' इत्यादि भ्रान्तिमूलक तर्क उपस्थित होते हैं॥९५–९६॥

अहो भवादृशां तातो यतो लोकपितामहः।
वेदप्रवर्त्तकाचार्यो मोहं ब्रह्माप्यविन्दत॥९७॥

श्लोकानुवाद—अहो! आप जैसे ऋषिके पिता, समस्त लोकोंके पितामह, वेदप्रवर्त्तक आचार्य स्वयं श्रीब्रह्मा भी भगवान्‌की उन लीलाओंके दर्शनसे मोहित हो गये थे॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो विस्मये; यतो लीलाभङ्गीतः; वेदप्रवर्त्तकानां व्यासादीनां मन्वादीनां वा; गुरुरुपदेष्टा; एतादृशोऽप्यमुह्यदित्यर्थः वत्सबालहरण-प्रसङ्गे परम-आश्चर्यावलीदर्शनेन ज्ञानक्रियाशक्त्यपगमात्॥९७॥

भावानुवाद—अहो! (विस्मय) जिनकी लीलाभंगिमासे वेदके प्रवर्त्तक व्यास और मनु आदिके गुरु (उपदेष्टा) अर्थात् ऐसे ज्ञानियोंके आचार्य स्वयं श्रीब्रह्मा भी वत्स-बालकहरण प्रसंगमें भगवान्‌की परम आश्चर्यमयी लीलाओंके दर्शनसे ज्ञान और क्रियाशक्तिका लोप होनेके कारण मोहित हो गये थे॥९७॥

वानराणामबुद्धीनां मादृशां तत्र का कथा।
वेत्सि त्वमपि तद्वृत्तं तद्विशङ्केऽपराधतः॥९८॥

श्लोकानुवाद—मेरे जैसे निर्बोध बन्दरका तो कहना ही क्या? इन लीलाओंकी मोहनशक्तिसे आप भी भलीभाँति अवगत हैं, इसलिए मैं अपराधके भयसे भयभीत हो रहा हूँ॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तस्यां मादृशां का कथा, वयन्तु मनाग्दर्शनमात्रेणैव मोहं प्राप्स्याम इत्यर्थः। ननु ज्ञानपरा मुनयो भ्रान्ता भवन्तु नाम? महाधिकारसम्बन्धेन ब्रह्मापि मुह्यतु, भक्तानान्तु तया मोहनं कथं सम्भवेदित्याशङ्क्य परमभागवतोत्तमो भवानपि मोहितोऽस्तीत्याशयेनाह—वेत्सीति। तस्या लीलाभङ्ग्या वृत्तम्, द्वारकायां प्रतिमहिषीगृह भ्रमणात्॥९८॥

भावानुवाद—अतएव मेरे जैसे निर्बोध बन्दरका उस विषयमें कहना ही क्या? अर्थात् उस लीलाके दर्शन मात्रसे ही मैं मोहग्रस्त हो जाऊँगा। यदि कहो कि ज्ञान परायण मुनि तो भ्रमित हो सकते हैं, और अधिकार प्राप्त ब्रह्मा भी मोहित हो सकते हैं, किन्तु भगवान्‌की लीलाओंसे भक्तोंमें मोह उत्पन्न होनेकी सम्भावना कैसे हो सकती है? इसी आशंकासे कह रहे हैं, परम भागवतोत्तम आप (श्रीनारद) भी तो उनकी लीलाभंगिमासे मोहित हो गये थे। अतएव उन लीलाओंकी

मोहनशक्तिसे आप भी भलीभाँति अवगत हैं, क्योंकि आप द्वारकामें प्रत्येक महिषीके भवनमें इधर–उधर चक्कर काटने लगे थे॥९८॥

आस्तां वानन्यभावानां दासानां परमा गतिः।
प्रभोर्विचित्रा लीलैव प्रेमभक्ति विवर्द्धिनी॥९९॥

श्लोकानुवाद—हमारा पाण्डवोंके घर जाना अवश्य कर्त्तव्य है, इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। विशेषतः अनन्यभावसे भजन करनेवाले दासोंके लिए भगवान्‌की वैसी लीलाएँ परम गति हैं, क्योंकि वे प्रेमभक्तिको वर्धित करनेवाली हैं॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि परमसेव्यस्य भगवतो दर्शनं तदेकापेक्षकैः सेवकैः किं न कर्त्तव्यमेवेत्याशंक्य तत्स्वीकृत्यापि तत्र निजप्रयाणमन्यथा परिहरति आस्तामिति षड्भिः। न विद्यतेऽन्यस्मिन् प्रभोस्तद्दर्शनाद्वा तदीयविचित्रलीलानुभवाद्वा इतरत्र भावो येषाम् तेषाम्। गतिः सर्वापत्सु शरणम्; न च केवलं गतिरेवेत्याह, प्रेम्णा भक्तिः सेवा तस्या विशेषेण वृद्धिकारिणी च॥९९॥

भावानुवाद—यदि कहो कि परमसेव्य भगवान्‌का दर्शन करना क्या उनके एकान्त सेवकोंके लिए कर्त्तव्य नहीं है? इस आशंकाको दूर करनेके लिए ही उसको स्वीकार करके भी श्रीहनुमान अपने द्वारका न जानेका कारण 'आस्तां' इत्यादि छह श्लोकोंमें बतला रहे हैं। हमारा पाण्डवोंके घर जाना अवश्य ही कर्त्तव्य है, इस विषयमें अधिक क्या कहूँ? विशेषकर भगवान्‌का दर्शन और उनकी विचित्र लीलाओंके अनुभवके अलावा अन्य कोई भाव या अभिलाषा जिनमें नहीं है, ऐसे एकान्त दासोंके लिए भगवान्‌की विचित्र लीलाएँ ही परम गति हैं। यहाँ पर 'गति'का तात्पर्य है—सभी प्रकारकी विपत्तियोंमें आश्रय-स्थल हैं। ये लीलाएँ केवल परम गति ही है, ऐसा ही नहीं, बल्कि ऐसी लीलाएँ तो दासोंकी प्रेमभक्तिको वर्धित करनेवाली हैं। अर्थात् भगवान्‌की ऐसी लीलाएँ ही विशेषरूपसे प्रेमभक्तिकी वृद्धि करती हैं॥९९॥

अथापि सहजाव्याजकरुणाकोमलात्मनि।
अवक्रभावप्रकृतावार्यधर्मप्रदर्शके ॥१००॥

एकपत्नीव्रतधरे सदा विनयवृद्धया।
लज्जयावनतश्रीमद्वदनेऽधोविलोकने ॥१०१॥
जगद्रञ्जनीशीलाढ्येऽयोध्यापुर पुरन्दरे।
महाराजाधिराजे श्रीसीतालक्ष्मणसेविते ॥१०२॥
भरतज्यायसि प्रेष्ठ सुग्रीवे वानरेश्वरे।
विभीषणाश्रिते चापपाणौ दशरथात्मजे ॥१०३॥
कौशल्यानन्दने श्रीमद्रघुनाथस्वरूपिणि।
स्वस्मिन्नात्यन्तिकी प्रीतिर्मम तेनैव वर्द्धिता ॥१०४॥

श्लोकानुवाद—तथापि श्रीदेवकीनन्दनके अभिन्नस्वरूप कौशल्यानन्दन श्रीरामचन्द्रके स्वरूपमें ही मेरी परम प्रीति है तथा उन्हीं श्रीदेवकीनन्दनने अपने अभिन्न स्वरूप श्रीरघुनाथके श्रीचरणकमलोंमें मेरी भक्तिको वर्धित किया है। अतएव जो अपने स्वभाव द्वारा ही निरुपाधिक करुणावशतः कोमलचित्त, सरल, आर्यधर्म-प्रदर्शक, एकपत्नी-व्रतधारी, विनययुक्त लज्जा द्वारा सदैव ही अपने मुखमण्डलको झुकाये रहनेवाले, सदैव नीची दृष्टि रखनेवाले, जगतके लोगोंका रञ्जन करनेवाले, अयोध्यापुरीके पुरन्दर, महाराजाधिराज, श्रीसीता-लक्ष्मण द्वारा सेवित, श्रीभरतके ज्येष्ठ भ्राता, वानरोंके राजा सुग्रीवसे प्रीतियुक्त, मेरे जैसे वानरोंके ईश्वर, विभीषणके आश्रय, धनुष धारण करनेवाले, दशरथ-कौशल्या-नन्दन उन श्रीरघुपतिरूपमें ही मेरी परम प्रीति है॥१००-१०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—यद्यप्येवं सर्वथा तत्रागमनं युक्तमेव अथापि तथापि श्रीमत्परमशोभायुक्तं यद्रघुनाथस्य स्वरूपं श्रीरामचन्द्रत्वं तद्वति स्वस्मिन्नेव तेनैव महाप्रभुणा श्रीदेवकीनन्दनेन ममात्यन्तिकी परमनिष्ठा प्राप्ता प्रीतिर्भावविशेषो वर्द्धितास्तीत्यन्वयः। तमेवासाधारणविशेषणैः सप्तदशभिरात्मसहजप्रीत्यनुसारेण विशिनष्टि—सहजेति। सहजा स्वाभाविकी या अव्याजा निर्व्यलीका करुणा तया कोमल आत्मा चित्तं स्वभावो वा यस्य। न विद्यते वक्रभावो वक्रता कौटिल्यं यस्यां तथाभूता प्रकृतिः स्वभावो यस्य। आर्याः पूज्यतमाः आप्तास्तेषां धर्म आचारस्तस्य प्रकर्षेण दर्शके स्वयमाचरण द्वारा प्रवर्त्तके। विनयेन वृद्धया वृद्धिं प्राप्तया लज्जया अवनतं अतएव श्रीमत्परमसुन्दरं वदनं यस्य; अतोऽध एव न इतस्ततोऽवलोकनं दृष्टिर्यस्य। जगद्रञ्जयतीति तथाभूतं यत् शीलं स्वभावो वृत्तं वा

तेन आढ्ये युक्ते। प्रेष्ठः सख्येन परमप्रियः सुग्रीवो यस्य। वानराणां मादृशानामीश्वरे विभीषणेन शरणतया आश्रिते॥१००–१०४॥

भावानुवाद—यद्यपि हमारा पाण्डवोंके घर जाना अवश्य कर्त्तव्य है, तथापि श्रीदेवकीनन्दनसे अभिन्न परमशोभायुक्त श्रीरामचन्द्र स्वरूपमें ही मेरी सम्पूर्ण परम निष्ठापूर्ण प्रीति भी है तथा वह प्रीति उन्हीं श्रीदेवकीनन्दन द्वारा ही वर्धित हुई है। इसलिए श्रीहनुमान अपनी स्वाभाविक प्रीतिके अनुसार 'सहज इत्यादि' सप्तदश (सत्रह) असाधारण विशेषणोंके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीकी विशेषताओंका वर्णन कर रहे हैं। सहजा—स्वाभाविक, निष्कपट करुणा द्वारा कोमल चित्त होनेके कारण श्रीरामचन्द्र कुटिलिता–रहित अथवा सरल–सहज स्वभावसे युक्त हैं। आर्य अर्थात् परम पूजनीय तथा स्वयं अपने आचरणके द्वारा वे आर्य धर्मके प्रवर्त्तक हैं। अत्यधिक विनयके कारण लज्जासे सदा झुके हुए परमसुन्दर मुखमण्डलवाले हैं, उनकी दृष्टि इधर–उधर न देखकर सदैव नीचेकी ओर रहती है, जो जगत अर्थात् समस्त प्राणियोंका रञ्जन (प्रसन्न) करनेवाले स्वभावसे युक्त हैं, सुग्रीव जिनके परमप्रिय सखा हैं, जो मेरे जैसे वानरोंके ईश्वर तथा विभीषणके आश्रय हैं, उन श्रीरघुनाथमें ही मेरी परम प्रीति है॥१००–१०४॥

तस्मादस्य वसाम्यत्र तादृग्रूपमिदं सदा।
पश्यन् साक्षात् स एवेति पिबंस्तच्चरितामृतम्॥१०५॥

श्लोकानुवाद—श्रीदेवकीनन्दनके उसी श्रीरामचन्द्र स्वरूपमें ही मेरी परमप्रीति वर्धित हो रही है। अतएव अपने सामने स्थित इसी श्रीविग्रहको ही मैं साक्षात् श्रीरामचन्द्रके रूपमें देखता हूँ तथा इन्हींका चरितामृत पान करके इस किम्पुरुषवर्षमें निवास करता हूँ॥१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मात्तद्विषयक प्रीतिवर्धनाद्धेतोः अस्य श्रीदेवकीनन्दनस्य तादृग् उक्तलक्षणमिदं साक्षाद्वर्त्तमानं रूपं श्रीमूर्त्तिम्। साक्षाद्भूतः स श्रीरघुनाथ एवेति पश्यन् जानन् अवलोकयन् वा। तस्य चरितमेवामृतं आर्ष्टिषेनादिद्वारा पिबंश्च अत्र किम्पुरुषवर्षे वसामि। एवं मम कुत्रापि स्वातन्त्र्यं नास्ति मदिच्छया च किमपि न सिध्यतीति भावः॥१०५॥

भावानुवाद—अतएव श्रीरामचन्द्रके प्रति मेरी प्रीति वर्द्धन होनेके कारण श्रीदेवकीनन्दनसे अभिन्न श्रीरामचन्द्रजीके लक्षणोंसे युक्त मेरे सामने स्थित इस श्रीविग्रहको ही मैं साक्षात् श्रीरामचन्द्रके रूपमें देखता हूँ और आर्ष्टिसेन आदि द्वारा गाये जानेवाले उनके चरितामृतके रससे परिपुष्ट होकर इस किम्पुरुषवर्षमें वास कर रहा हूँ। अतएव मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, तथा मेरी स्वतन्त्र इच्छा होनेसे भी कोई लाभ नहीं होगा॥१०५॥

यदा च मां कमप्यर्थमुद्दिश्य प्रभुराह्वयेत्।
महानुकम्पया किञ्चिद्दातुं सेवासुखं परम्॥१०६॥

श्लोकानुवाद—किन्तु यदि कभी विशेष कृपापूर्वक प्रभु आवश्यकता वशतः किञ्चित् सेवासुख प्रदान करनेके लिए मुझे बुलायेंगे—॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो भगवदिच्छयैव तत्र मे गमनं भवतीत्याह—यदेति सपादद्वयेन। कमप्यर्थं प्रयोजनमुद्दिश्य भारतयुद्धादौ कौरवसैन्यभयोत्पादनादि-निमित्तं परमन्यद्वा किञ्चित् सेवासुखं दातुं परमानुग्रहेण प्रभुः श्रीकृष्णदेव आह्वयेत्। तदा तत्र द्वारकायां हस्तिनापुरे वा यत्र स्थित आह्वयेत्तत्रैव आशु भवेयं सद्य एव गन्तास्मीत्युत्तरेणान्वयः। यद्वा, ननु तत् सेवैव तत्परमप्रिया किमन्यप्रयोजनेन ते तत्राह—किञ्चिदिति। परं श्रेष्ठम्; तदादिष्टार्थ-सम्पादनमेव मम परम सेवा-सुखमित्यर्थः॥१०६॥

भावानुवाद—अतएव भगवान्की इच्छा होने पर मैं पाण्डवोंके घर जा सकता हूँ; वह भी तब, जब प्रभु श्रीकृष्ण अपने किसी कार्यवशतः मुझे बुलायेंगे। जैसे महाभारत युद्धके समय कौरवोंकी सेनाको भयभीत करनेके लिए अथवा मेरे प्रति अनुग्रह प्रकाश करनेके लिए अर्थात् किञ्चित् सेवासुख प्रदान करनेके लिए यदि वे मुझे बुलायेंगे, तो मैं तत्क्षणात् उनके श्रीचरणकमलोंमें उपस्थित हो जाऊँगा। उस समय वे द्वारकामें हों अथवा हस्तिनापुर या किसी भी स्थान पर ही क्यों न हों। अथवा यदि कहो कि उनकी सेवा जब तुम्हें अत्यन्त प्रिय है, तब प्रभुको और दूसरी क्या आवश्यकता हो सकती है? इसके लिए कह रहे हैं कि प्रभुके द्वारा आदेश किये हुए कार्यको पूर्ण करनेमें ही मेरा परमसुख है॥१०६॥

किं वा मद्विषयकस्नेहप्रेरितः प्राणतो मम।
रूपं प्रियतमं यत्तत् सन्दर्शयितुमीश्वरः ॥१०७॥

श्लोकानुवाद—अथवा मेरे प्रति स्नेह द्वारा प्रेरित होकर (श्रीभगवान् द्वारा) मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रियतम श्रीरामचन्द्र रूपके दर्शनोंके लिए मुझे बुलाते ही— ॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वत्रापि तत् सम्पद्यमानमस्तीत्याशंक्य स्वयमेव पक्षान्तरमाह— किं वेति। अहं विषयः पात्रं यस्य तेन स्नेहेन वात्सल्येन प्रेरितः सन् मम प्राणतो जीवनादपि प्रियतमं यद्रूपं श्रीरघुनाथस्वरूपं तत्। यत्तदिति। परमानिर्वचनीयमिति वा सम्यक् तत्तल्लीलामाधुर्यादि प्रकाशनपूर्वकं दर्शयितुमाह्वयेत्। अत्र च तत्तन्मधुर-वचनचातुरी लीलाचरित माधुरीविशेषस्य सदा साक्षादनुभवो न स्यादिति भावः। तत्र कथं तत् सिध्येत? तत्राह—ईश्वरः सर्वं कर्त्तुं समर्थः; यद्वा, साक्षाद्भगवान् अवतारित्वात्। अत्र च प्रसिद्धेयमाख्यायिकाऽनुसन्धेया। एकदा श्रीगरुड़ादेर्गर्वभञ्जन-कौतुकाय निजपादपद्मभक्तिविषयैकान्त्य-विशेषप्रदर्शनाय द्वारकायां श्रीभगवान् गरुड़-मादिदेश,—'मदाज्ञां श्रावयित्वा किम्पुरुष-वर्षान्मत्पार्श्वं हनूमन्तमानय।' इति। स तत्र गत्वा तमब्रवीत्—'भो हनूमन्! भगवान् श्रीयादवेन्द्रस्त्वामाह्वयति सत्त्वरमागच्छ।' इति। स च श्रीरघुनाथचरणारविन्दैक-भक्तिनिष्ठ-स्तदेकरतस्तद्वचनमनाद्रियमाणः क्रुद्धेन गरुत्मता बलात् भगवत्पार्श्वमानेतुं गृहीतः सन् लाङ्गुलाग्रेण हेलयामुं चिक्षेप। स च सद्यो द्वारकायां निपतितो विह्वलो दृष्टवा भगवता विहस्योक्तः—भो गरुड़! श्रीरघुनाथस्त्वामाह्वयतीति तं गत्वा वदेति। स्वयञ्च भगवान् श्रीरामचन्द्रस्वरूपो भूत्वा श्रीबलरामं लक्ष्मणं विधाय सीतारूपं कर्तुमशक्तां सत्यभामामपि विहस्य श्रीरुक्मिणीं धृतसीतारूपां निज वामपार्श्वे निधाय द्वारकायामासीत्। गरुड़श्च पुनर्गत्वा तथैव तमुवाच। तच्छ्रुत्वा च स हनूमान् सद्यः परमानन्दविवशः सन् धावन् समागतस्तथैव भगवन्तं ददर्श, भक्त्या तुष्टाव च। अथ परमप्रीताद्भगवतो निजाभीष्टान् वरानपि प्रापेति॥१०७॥

भावानुवाद—आप तो यहीं पर रहकर वह सब सेवासुख उपभोग कर रहे हैं, कहीं दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता क्या है? ऐसे प्रश्नकी आशंका करके श्रीहनुमान स्वयं ही पक्षान्तरमें सिद्धान्त कर रहे हैं। श्रीकृष्ण द्वारा मेरे प्रति वात्सल्यपूर्वक प्रेरित होकर, मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रियतम उस परम अनिर्वचनीय श्रीरघुनाथ-स्वरूपके लीला-माधुर्य आदिको प्रकाश करके उसके दर्शनके लिए मुझे बुलाने पर, मैं उसी समय प्रभुको सेवासुख प्रदान करनेके लिए उनके

श्रीचरणकमलोंमें उपस्थित होऊँगा। कारण, यहाँ किम्पुरुषवर्ष पर प्रभुकी मधुर वचनचातुरी और लीलाचरित्रकी विशेष माधुरी सदैव साक्षात् रूपमें अनुभूत नहीं होती है।

यदि कहो कि वहाँ द्वारकामें भी वह लीलामाधुरी किस प्रकारसे अनुभूत होगी? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि श्रीदेवकीनन्दन स्वयं ईश्वर होनेके कारण सब कुछ कर सकते हैं। अथवा वे स्वयं अवतारी साक्षात् भगवान् हैं, अतएव वे श्रीरामचन्द्र-स्वरूपको दिखानेमें समर्थ हैं। इस विषयमें प्रसिद्ध उपाख्यान है—एक समय द्वारकापुरीमें गरुड़का गर्व भंगरूप लीलाके लिए तथा श्रीहनुमानके हृदयमें अपने चरणकमलोंमें भक्तिकी ऐकान्तिकता स्थापित करनेके लिए श्रीभगवान्ने गरुड़को आदेश दिया, 'गरुड़! तुम किम्पुरुषवर्षमें जाकर हनुमानको मेरी आज्ञा सुनाकर मेरे पास ले आओ।' तदुपरान्त गरुड़ने किम्पुरुषवर्षमें जाकर श्रीहनुमानको कहा—'हे श्रीहनुमान! आपको भगवान् श्रीयादवेन्द्रने बुलाया है, शीघ्रतासे वहाँ पर चलें।' श्रीहनुमान श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंमें एकनिष्ठ भक्तिमान हैं और उन्हींकी सेवामें सर्वदा निमग्न रहते हैं, अतएव पतिव्रतधर्मके भंग होनेके भयसे उन्होंने गरुड़के वचनोंका आदर नहीं किया। इससे गरुड़ क्रोधित होकर उनको बलपूर्वक भगवान्के पास ले जानेके लिए पकड़ने लगे, तो श्रीहनुमानने अपनी पूँछके अग्रभाग द्वारा अनायास ही उनको दूर फेंक दिया। इस प्रकार गरुड़ सुदूर द्वारकापुरीमें आ गिरे। उनको विह्वल देखकर श्रीभगवान्ने मुस्कराते हुए कहा, 'हे गरुड़! तुम पुनः हनुमानके पास जाकर कहो कि श्रीरघुनाथजीने तुम्हें बुलाया है।' तदनन्तर श्रीकृष्ण स्वयं श्रीरामचन्द्र बन गये, श्रीबलरामजी लक्ष्मण हो गये, श्रीसत्यभामाको सीता होनेके लिए कहा गया, किन्तु वे सीतारूप धारण करनेमें समर्थ नहीं हुईं, इसलिए भगवान्ने उनका उपहास कर श्रीरुक्मिणीदेवीको श्रीसीताजीका रूप धारण करनेके लिए कहा। श्रीरुक्मिणीदेवीके श्रीसीतारूप धारण करने पर भगवान् अपने बाँयी ओरमें उनको बैठाकर द्वारकाके सिंहासन पर विराजमान हुए। दूसरी ओर गरुड़ने पुनः श्रीहनुमानके पास जाकर उनको भगवान्के वचन सुनाये। श्रीहनुमान अपने प्रभु श्रीरघुनाथजीका आदेशमात्र सुनते ही

परमानन्दमें विवश होकर उसी समय कूद कर द्वारका आ पहुँचे तथा श्रीभगवान्के ऐसे अर्थात् श्रीरामस्वरूपमें दर्शन करके उनको सेवा द्वारा सन्तुष्ट किये। श्रीभगवान्ने भी परम प्रीतिपूर्वक उनको अभीष्ट वर प्रदान किया॥१०७॥

तदा भवेयं तत्राशु त्वन्तु गच्छाद्य पाण्डवान्।
तेषां गृहेषु तत् पश्य परं ब्रह्म नराकृति॥१०८॥

श्लोकानुवाद—मैं अवश्य ही उनके श्रीचरणोंमें उपस्थित होऊँगा जब वे मुझे बुलाएँगे। अभी आप पाण्डवोंके पास जाइये तथा उनके घरमें विराजमान उन नराकृति परब्रह्मका दर्शन कीजिए॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रस्तुतं व्याख्यामः। ननु तदानीमेवाहमपि त्वत्सङ्गत्या गमिष्यामि तत्राह—त्वन्त्विति। तत्र हेतुं वदन् भगवतस्तेषु कारुण्यभरमेव दर्शयति—तेषामिति। परं ब्रह्म साक्षाच्छ्रीनारायणं पश्य दृग्भ्यां साक्षात्कुरु। अत्र च नराकृति–परमसुन्दर–श्रीमद्द्विभुजत्वाविष्कारात्। तत्रापि तदनिर्वचनीयविविध–मधुरतर–माहात्म्यमित्यर्थः॥१०८॥

भावानुवाद—अब श्रीहनुमान प्रस्तुत विषयकी व्याख्या कर रहे हैं। यदि श्रीनारद कहें कि मैं भी उसी समय उनके (श्रीहनुमानके) साथ ही जाऊँगा, इसीका उत्तर देते हुए 'तदा' इत्यादि पद कह रहे हैं। आप आज ही पाण्डवोंके निकट जाइये। उसका कारण बतलाते हुए सर्वप्रथम पाण्डवोंके प्रति श्रीभगवान्की करुणाका वर्णन कर रहे हैं। यद्यपि भगवान् मुनियोंके भी वाक्य और मनके अगोचर हैं, तथापि पाण्डवोंके घरमें सुन्दर नराकृति द्विभुज श्रीमूर्त्ति धारण कर अनेक प्रकारके अनिर्वचनीय सुमधुर माहात्म्यको प्रकट कर रहे हैं। अतः आप उनके घर पर विराजमान परब्रह्म साक्षात् श्रीनारायणका दर्शन करके कृतार्थ होवें॥१०८॥

स्वयमेव प्रसन्नं यन्मुनिहृद्वागगोचरम्।
मनोहरतरं चित्रलीलामधुरिमाकरम्॥१०९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि वे प्रभु मुनियोंके भी वाक्य और मनके अगोचर, परम मनोहर और विचित्र प्रकारकी मधुर लीलाओंके

आधार-स्वरूप हैं, तथापि स्वयं सुप्रसन्न होकर पाण्डवोंके घर पर विराजमान हो रहे हैं॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हीदृशं परमदुलर्भं तत्तैः प्राप्तम्? तत्राह—स्वयमिति। विनैव किञ्चित् साधनं तान् प्रति प्रसन्नं कृतकारुण्यभरमित्यर्थः; एवं तेषां नित्यतादृशमहाभाग्यवत्तामाहात्म्यविशेष उक्तः। एवमुक्तमलभ्यलाभेन माहात्म्यविशेषमेव दर्शयितुं तस्यान्यदुर्लभतामाह—मुनीनां हृदो वाचश्चागोचरमविषयं तदिति सूचितमेव। परम सौन्दर्यादिकमाह—मनोहरतरमिति। यतः चित्रो बहुविधो यो लीलाया मधुरिमा तस्य; यद्वा, चित्रयोर्लीला-मधुरिम्नोराकरमुत्पत्तिक्षेत्रं कामादीनामपि तदंशलेशस्पर्शेनैव मनोहरत्वात्॥१०९॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि ऐसे परम दुर्लभ परब्रह्म पाण्डवोंको किस प्रकार दर्शन देते थे। इसीके उत्तरमें 'स्वयमेव' इत्यादि पद कह रहे हैं। यद्यपि वे मुनियोंके भी वाक्य और मनके अगोचर हैं, तथापि वे स्वयं ही सुप्रसन्न हैं, अर्थात् बिना किसी साधनके अथवा किञ्चित् साधन द्वारा अपनी करुणाको प्रकाश करनेवाले हैं। इसी प्रकार स्वयं ही प्रसन्न होकर पाण्डवोंके प्रति करुणाको प्रकट करते हैं और निरन्तर वैसी अनेक प्रकारकी मनोहर मधुर लीलाओंके आधार-स्वरूप नराकार परब्रह्म रूपमें दिखाई देते थे। इस प्रकार पाण्डवोंके सौभाग्य और विशेष माहात्म्यका उल्लेख किया गया है। मुनियोंको ऐसा सौभाग्य प्राप्त न होनेके कारण वे मुनियोंकी वाणी और मनके अगोचर हैं, ऐसा कहने पर भी दूसरे रूपमें पाण्डवोंके ही विशेष माहात्म्यको सूचित किया गया है। परम सौन्दर्य आदि कहनेका तात्पर्य यह है कि वे अनेक प्रकारकी मनोहर सुमधुर लीलाओंके आधार हैं अर्थात् विविध मधुर लीलाओंकी खान या उत्पत्ति-स्थल हैं। अथवा विविध मधुर लीलाओंके उत्पत्ति-स्थल होनेके कारण केवल उनके अंशमात्रके स्पर्श द्वारा ही कामदेव आदिका मन हरण हो जाता है॥१०९॥

बृहद्व्रतधरानस्मांस्तांश्च गार्हस्थ्यधर्मिणः।
साम्राज्यव्यापृतान्मत्वा मापराधावृतो भव॥११०॥

श्लोकानुवाद—(हे श्रीनारद) हमलोग नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, पाण्डवगण गृहस्थ धर्मका पालन करनेवाले और साम्राज्यकी

व्यवस्थामें व्यस्त रहनेवाले हैं, ऐसा विचार करके अपने आपको अपराधी मत बना लेना॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तैर्महाविषय भोगैश्वर्ययुक्तैः सहाकिञ्चनानां नैष्ठिकानां मादृशां सङ्गोऽनुचितः इत्याशंक्य शिक्षयति—बृहदिति। अस्मादिति बहुत्वेन श्रीनारद-सनकादयः सर्व एव नैष्ठिकब्रह्मचारिणः संगृह्यन्ते। तान् पाण्डवान् गार्हस्थ्यं गृहस्थता, तत्सम्बन्धि धर्मयुक्तान्, तत्र च साम्राज्यं चक्रवर्त्तित्वं, तत्र व्यापृतान् तत्कृत्यानुष्ठातृन् मत्वा अपराधेन आवृतो मा भव; तादृशेषु महत्तमेषु तथामननमेवापराधः, स च कदापि नापयाति, अतस्तादृशो माभूरित्यर्थ॥११०॥

भावानुवाद—'पाण्डवगण अत्यधिक विषयभोग और ऐश्वर्य आदिसे युक्त हैं, किन्तु हमलोग अकिञ्चन और नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, अतएव मेरे जैसे व्यक्तिके लिए उनका संग करना अनुचित है'—ऐसी आशंका करके श्रीहनुमान (श्रीनारदको) शिक्षा देनेके लिए 'बृहद्' इत्यादि पद कह रहे हैं। हम नैष्ठिक ब्रह्मचर्यरूप बृहद् व्रतधारी हैं, यहाँ पर 'हमलोग' कहनेसे श्रीनारद और श्रीसनक आदि भी नैष्ठिक ब्रह्मचारीके रूपमें ग्रहण किये गये हैं। पाण्डव गृहस्थ हैं अर्थात् गृहस्थधर्म पालन करते हैं, विशेषकर चक्रवर्त्ती साम्राज्य होनेके कारण साम्राज्यकी परिचालना करनेमें व्यस्त रहते हैं तथा राजकार्य करनेमें रत रहते हैं—ऐसा विचार करके अपनेको अपराधी मत बना लेना। अर्थात् वैसे महाभागवतोंके प्रति इस प्रकार सोचना अर्थात् उन्हें नीचा सोचना अपराध है और वह अपराध कभी भी दूर होने वाला नहीं है। अतएव ऐसा विचार करके अपराध मत करना॥११०॥

निःस्पृहाः सर्वकामेषु कृष्णपादानुसेवया।
ते वै परमहंसानामाचार्याच्चर्यपदाम्बुजाः॥१११॥

श्लोकानुवाद—यथार्थतः पाण्डवगण निष्किञ्चन हैं अर्थात् निरन्तर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करके वे सब प्रकारके भोगोंकी कामनासे रहित हो गये हैं। अतएव उन पाण्डवोंके चरणकमल परमहंसोंके आचार्यों द्वारा भी पूजित हैं॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—यतस्तादृक्साम्राज्येऽपि तेषां परमाकिञ्चन-साम्राज्यमेवेत्याह—निःस्पृहा इति, सर्वेषु ऐहिकामुष्मिकेषु कामेषु भोगेषु निःस्पृहाः स्पृहामात्रमपि न

कुर्वन्तीत्यर्थः। अतः परमहंसानां अन्त्याश्रमिमूर्द्धन्यानां ये आचार्या गुरवस्तैरपि अर्च्यानि अर्चयितुं योयानि पदाम्बुजानि येषां ते, तेषां परमतुच्छात्मानुभवसुख-निष्ठत्वात्, एषाञ्च परममहानन्दमय भक्तिरसिकत्वात्॥१११॥

भावानुवाद—अतएव पाण्डवोंका वैसा ऐश्वर्य और साम्राज्य होने पर भी वे परम अकिञ्चन हैं तथा साम्राज्यके अधिकारी होने पर भी वे भोगोंकी कामनासे रहित हैं; अर्थात् वे ऐहिक और पारत्रिक सब प्रकारके भोगोंकी कामनासे रहित हो गये हैं। अतएव वे परमहंसोंके भी गुरु हैं, अर्थात् अन्तिम आश्रमके शिरोमणि परमहंसोंके भी आचार्य होनेके कारण वे अर्चनके योग्य हैं, क्योंकि वे निरन्तर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करके सभी विषयोंकी कामनासे रहित हो गये हैं। किन्तु परमहंसगण अति तुच्छ आत्मानुभव-सुखकी निष्ठा तकका भी त्याग नहीं कर पाते। इस प्रकार पाण्डवगण परम आनन्दमय भक्तिके रसिक होनेके कारण परमहंसोंके भी पूजनीय हैं॥१११॥

तेषां ज्येष्ठस्य साम्राज्ये प्रवृत्तिर्भगवत्प्रियात्।
अतो बहुविधा देवदुर्लभा राज्यसम्पदः॥११२॥

श्लोकानुवाद—पाण्डवोंमें ज्येष्ठ श्रीयुधिष्ठिर महाराजकी साम्राज्यमें प्रवृत्ति केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिए ही है और इसीलिए उनके पास ऐसी राज्य-सम्पत्ति है, जो देवताओंके लिए भी दुर्लभ है॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवञ्चेत्तर्हि साम्राज्येन किम्? तत्राह—तेषामिति। पाण्डवानां ज्येष्ठस्य श्रीयुधिष्ठिरस्य; भगवतः प्रियात् प्रीतिं पर्यालोच्येत्यर्थः साम्राज्यस्वीकारे सति सर्वत्र भगवद्भक्तिप्रवर्त्तनेनाखिललोकानां परमं हितं स्यात्तेन च भगवतः सन्तोषविशेषः स्यादित्येतदर्थमेवेति भावः। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१२/४)— *'अपीपलद्धर्मराजः पितृवद्रञ्जयम् प्रजाः। निस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्ण-पादानुसेवया॥'* इति। अत्र च प्रजा रञ्जयन्निति वदता श्रीसूतेन भगवद्भक्ति-प्रवर्त्तनद्वारैव प्रजारञ्जनात् पितृवत्ताः पालयामासेत्येवाभिप्रेतम्। तदुक्तं श्रीनारदेन शौनकं प्रति हरिभक्तिसुधोदये— *'अहोऽति धन्योऽसि यतः समस्तो, जनस्त्वयेश प्रवलीकृतोऽयम्। उत्पादयेद् योऽत्र भवार्द्दितानां, भक्तिं हरौ लोकपिता स धन्यः॥'* इति। अतोऽस्मादुक्ताद्धेतोः देवैर्दुर्लभा अपि राज्यं सम्पदादयो राज्ञो युधिष्ठिरस्य कामपि प्रीतिं मनोविकारविशेषं जनयितुं क्वचित् कदाचिदपि नाशकन्निति तृतीयश्लोकोत्तरार्धेनान्वयः। राज्यं राज्ञः कर्म

प्रजापालनादि, तेन सम्पदः प्रजाकृतपुण्य-षष्ठांश प्राप्त्या धर्मसम्पत्तयः; यद्वा राज्यं राष्ट्रं तस्मिन् सम्पदः ताश्चात्र सद्धर्मलक्षणा एव गृह्यन्ते, प्राधान्यात्। अग्रेते त्वैहिकोक्तेश्च; एवं ज्येष्ठस्य तत्र प्रवृत्त्या कनिष्ठानामपि तत्र प्रवृत्तिस्तस्य साम्राज्ये न च तेषामपि साम्राज्यमित्याद्युक्त्या तेषामैक्येन परस्परं परमसौहार्देन सद्धर्मपालनादि-माहात्म्यविशेषश्च दर्शितः॥११२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि ऐसे भक्तिरसिक होने पर साम्राज्यकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें 'तेषां' इत्यादि पद कह रहे हैं। ऐसा करनेसे प्रभु प्रसन्न होंगे—यह विचार करके ही पाण्डवोंमें ज्येष्ठ महाराज श्रीयुधिष्ठिरकी साम्राज्यमें प्रवृत्ति हुई है। साम्राज्य स्वीकार करने पर सर्वत्र भगवद्भक्तिके प्रवर्त्तन द्वारा सभीका परम कल्याण होगा तथा भगवान् भी सन्तुष्ट हो जायेंगे, इसी उद्देश्यसे उन्होंने साम्राज्यको स्वीकार किया। यथा, प्रथम-स्कन्धमें उक्त है—"धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर निरन्तर श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्मरण करते थे, इसी कारण समस्त विषयोंकी कामनासे रहित हो गये थे। वे अपने पिताकी भाँति प्रजाको आनन्दित करते हुए तथा भक्तिका प्रवर्त्तन करते हुए राज्य पर शासन करने लगे।" उक्त श्लोकमें 'प्रजारञ्जन'-पदकी व्याख्यामें श्रीसूतगोस्वामीने कहा है—भगवद्भक्तिके प्रवर्त्तन द्वारा प्रजाको आनन्दित करना। और 'पितृवत्-पालन'का अर्थ भी भगवद्भक्तिके प्रवर्त्तन द्वारा पालन ही है।

श्रीहरिभक्तिसुधोदय ग्रन्थमें शौनकके प्रति श्रीनारदका उपदेश भी इस प्रकार है—"आप अत्यधिक धन्य हैं, क्योंकि आप सभी व्यक्तियोंमें ईश्वरके प्रति भक्तिको जागृत कर रहे हैं। वास्तवमें जो संसारके दुःखोंसे पीड़ित व्यक्तियोंके हृदयमें हरिभक्तिको जाग्रत करते हैं, वे सभी लोकोंके पिता और पालनकर्त्ता हैं, वे ही धन्य हैं।" अतएव महाराज श्रीयुधिष्ठिरको अनेक प्रकारके देव-दुर्लभ राज-ऐश्वर्यसे बिलकुल भी प्रीति नहीं है और उनके मनमें कभी भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है। यहाँ पर सम्पत्ति कहनेसे राज्य और राज्यकी प्रजाका पालन करनेसे प्रजा द्वारा किये गये पुण्योंका जो छटा अंश राजाको प्राप्त होता है, वही पुण्य सम्पत्ति है। अथवा सम्पत्तिका अर्थ है राज्य और राज्यमें स्थित सम्पूर्ण सम्पत्ति और इस सम्पत्तिको

सद्धर्मका लक्षण समझना चाहिए। 'पाण्डव-ज्येष्ठ' इस उक्ति द्वारा ज्येष्ठ भ्राताकी सम्पत्तिको कनिष्ठ भ्राताओंकी भी सम्पत्ति समझना चाहिए। इस प्रकार पाण्डवोंके परस्पर ऐक्यवशतः परम सौहार्द सहित सद्धर्म पालन आदिके विशेष माहात्म्यका प्रदर्शन किया गया है॥११२॥

राजसूयाश्वमेधादिमहापुण्यार्जितास्तथा ।
विष्णुलोकादयोऽत्रापि जम्बुद्वीपाधिराजता॥११३॥

श्लोकानुवाद—श्रीयुधिष्ठिर राजसूय और अश्वमेध आदि यज्ञोंके अनुष्ठानसे उदित महापुण्य द्वारा अर्जित विष्णुलोक आदि तथा इस लोकमें भी जम्बुद्वीपके अधिपति हैं॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—राजसूयाश्वमेधादिकस्य स्वयमेव साक्षाद्विहितस्य यागादि कर्मणस्तेन यन्महापुण्यं भक्तिलक्षणं भगवत्समर्पणात्, तेनार्जिताः साधिताः; तथेत्युक्तसमुच्चये, तेन प्रकारेणेति वा, तादृशा इति वा। विष्णुलोकः श्रीवैकुण्ठ आदिः सर्वतः श्रैष्ठ्यात् सर्वोपरितनत्वाच्च मुख्यो येषां स्वर्लोकादीनां ते श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्त्या तत्रैव तदन्तर्वर्त्ति सर्वलोकप्राप्तेः। तत्रत्य सुखसागरेऽन्य सर्वसुखप्रवाहान्तर्भावाद्वा, किम्वा स्वेच्छया स्वर्गादिभोगक्रमेण वैकुण्ठगमनात्। एवं पारलौकिकीः सम्पदो निगद्य ऐहिकीरप्याह—अत्रापीत्यादिना पादत्रयेण। अत्र अस्मिँल्लोकेऽपि॥११३॥

भावानुवाद—श्रीयुधिष्ठिर महाराज राजसूय और अश्वमेध आदि भक्तिलक्षणसे युक्त यज्ञोंको स्वयं अनुष्ठान करने पर भी उन सबको श्रीभगवान्‌को ही समर्पित करते थे, इसलिए राज-ऐश्वर्यको महापुण्य द्वारा अर्जित कहा गया है। 'तथा' शब्दका अर्थ है समूह अर्थात् एकजातीय वस्तुओंका एकत्व। अतएव उनके लिए उस प्रकारसे महान पुण्योंके द्वारा अर्जित श्रीवैकुण्ठ आदि लोकोंकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। यहाँ 'आदि' शब्दसे सबसे ऊपर स्थित वैकुण्ठलोक और उसके अन्तर्गत सभी लोकोंकी प्राप्ति अर्थात् श्रीवैकुण्ठलोककी प्राप्ति होनेसे उसके अन्तर्गत स्वर्ग आदि लोकोंकी भी प्राप्ति हो गयी, ऐसा समझना चाहिए। श्रीवैकुण्ठके सुखसमुद्रके तुल्य होनेके कारण अन्यान्य लोकोंके सुख उसमें मिलनेवाले प्रवाहके समान हैं, अतएव सब प्रकारके सुख ही वैकुण्ठ-सुखके अन्तर्गत हैं। अथवा श्रीयुधिष्ठिर आदि पाण्डव स्वेच्छापूर्वक स्वर्ग आदिका भोग करके वैकुण्ठमें गये।

इस प्रकार उनकी पारलौकिक सम्पत्तिका वर्णन करके अब ऐहिक सम्पत्तिकी महिमाका 'अत्रापि' इत्यादि तीन पदों (चरणों)के द्वारा वर्णन कर रहे हैं॥११३॥

त्रैलोक्यव्यापकं स्वच्छं यशश्च विषयाः परे।
सुराणां स्पृहणीया ये सर्वदोषविवर्जिताः॥११४॥
कृष्णप्रसादजनिताः कृष्ण एव समर्पिताः।
नाशकन्कामपि प्रीतिं राज्ञो जनयितुं क्वचित्॥११५॥

श्लोकानुवाद—श्रीयुधिष्ठिर महाराजके त्रिभुवनव्यापी अमल यश तथा दूसरे समस्त दोष रहित विषय देवताओंके लिए स्पृहनीय हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे यह सम्पद उन्हें स्वयं ही प्राप्त हुई है तथा श्रीकृष्णके लिए ही समर्पित है। इसलिए यह सब विषय महाराज युधिष्ठिरकी किसी प्रकारसे भी प्रीति उत्पन्न करनेमें सक्षम नहीं हैं॥११४-११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—परे अन्येऽपि विषयाः स्रक्चन्दनाद्युपभोगद्रवाणि; ये विषयाः स्पृहनीया एव, न तु लभ्याः। पूर्वं पारलौकिक्यः सम्पदो देवदुलर्भा इत्युक्तम्, इदानीमैहिक्योऽपि देवस्पृहणाया इत्येवमपुनरुक्तार्थता द्रष्टव्या। स्पृहणीयत्वे हेतुः; सर्वैर्दोषैर्नश्वरत्वादिभिर्विवर्जिताः परित्यक्ताः; यतः कृष्णप्रसादेन जनिताः, न तु स्वकर्मोपार्जिताः। ननु तथापि विषया वह्नुष्णतावत् सहजसर्वदोषाश्रया अनर्थकारिण एव। सत्यं, भगवत् समर्पणेन विषयस्याप्यमृतत्वश्रवणात्। किञ्चिदपि दोषं कर्त्तुं न प्रभवन्ति, प्रत्युत गुणानेव वहन्तीत्याशयेनाह—कृष्ण एव सम्यक् निष्काम-त्वादिनाऽर्पिताः॥११४-११५॥

भावानुवाद—श्रीयुधिष्ठिरका इस लोक और जम्बुद्वीपका आधिपत्य तथा त्रिभुवनव्यापी अमल यश और सब प्रकारके दोषोंसे रहित अन्य भोग्य-विषय, माला-चन्दन आदि देवताओंके द्वारा भी कामना किये जाते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं होते है। यद्यपि पहले भी उनकी पारलौकिक सम्पत्ति-वर्णनके प्रसंगमें 'देवदुर्लभ' कहा गया है, तथापि अब ऐहिक सम्पत्ति-वर्णनके प्रसंगमें भी 'देवताओंके द्वारा कामना' कहनेसे द्विरुक्ति हुई है। 'देवताओंके द्वारा भी कामना किये जाते हैं' कहनेका कारण यह है कि वे सब द्रव्य नश्वरता आदि समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित हैं, क्योंकि यह सारी सम्पत्ति भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे प्राप्त हुई है—अपने कर्मोंके द्वारा उपार्जित नहीं है।

यदि कहो कि अग्नि जैसे स्वभावसे ही उष्ण है, उसी प्रकार विषय-समूह स्वभावतः समस्त दोषोंके आश्रय होनेसे क्या अनर्थकारी नहीं हैं। यह बात सत्य है, किन्तु वे सब विषय श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें अर्पित होने पर अमृतके समान हो जाते हैं—ऐसा सुना जाता है, अतएव उनमें किसी प्रकारका दोष नहीं रहता है; अथवा वह अनर्थ आदि भी अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर पाते, अपितु वे महान गुणके रूपमें बदल जाते हैं। यहाँ पर श्रीकृष्णको सर्मर्पित कहनेसे सम्पूर्णरूपसे निष्कामता अर्थात् केवल श्रीकृष्ण-सेवाके लिए प्रीतिपूर्वक श्रीकृष्णको ही समर्पण, समझना चाहिए॥११४-११५॥

कृष्णप्रेमाग्निदन्दह्यमानान्तःकरणस्य हि।
क्षुदग्निविकलस्येव वासः स्रक्चन्दनादयः॥११६॥

श्लोकानुवाद—वस्त्र, माला और चन्दन आदि वस्तुएँ जिस प्रकार भूखसे पीड़ित व्यक्तिको सुख देनेमें समर्थ नहीं होतीं, उसी प्रकार ये समस्त विषय भी महाराज श्रीयुधिष्ठिरके, श्रीकृष्णप्रेमरूपी अग्नि द्वारा दग्ध, अन्तःकरणको सुख प्रदान करनेमें समर्थ नहीं होते हैं॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि प्रीत्युत्पादनाशक्तौ मुख्यं हेत्वन्तरं दर्शयितुं कृष्ण-समर्पण-फलमेव वदन् राजानं विशिनष्टि—कृष्णेति। कृष्णे यः प्रेमा स एव स्पर्शमात्रेणाशेष-महादोषराशिदाहकत्वात्, तथा तद्वतां हृदि विरहावसरे सन्तापजनकत्वात्, सम्भोगसमयेऽपि भाविविरहशंकया अन्तर्ज्वालकत्वात्। किम्वा परममहानन्दचरमकाष्ठा परिणामरूप निजसहजोत्तापधर्मेणाग्नितुल्यत्वादग्निस्तेन दन्दह्यमानमतिशयेन भृशं दह्यमानमन्तःकरणं मनो यस्य तस्य; हि हेतौ निश्चये वा। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/२०/४५) शरद्वर्णने—*'आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम्। जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः॥'* इति। अस्यार्थः—शरत्कालीन-पुष्पित-वनवायुमनुभूय सर्वे जनास्तापं जहुः, गोप्यस्तु तापं न जहुः। कुतः? कृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां ताः, कृष्णप्रेमाग्निगाढ़दग्धत्वात्; अतएव महातापमेव प्रापुरित्युक्तं स्यात्। शरदाधिकं तत्प्रेम्णः उद्दीपनादिति, तत्राप्येवमुह्यम्। तत्र दृष्टान्तमाह—क्षुदेवाग्निः सर्वधातुशोषकत्वात्, तेन विकलस्य विह्वलस्य यथा स्वीकृता अपि वस्त्रादयो हर्षं जनयितुं न शक्नुवन्ति, अपि तु शोकमेव जनयन्ति। आदिशब्देन कलत्र-पुत्रादयः। यथा तस्यानुभोगेनैव तच्छान्तिः सुखञ्च स्यात्तथास्य कृष्णप्राप्त्यैव विरहाग्निशान्तिः सुखञ्चेति दृष्टान्तेन ध्वनितम्। अथवा प्रीत्युत्पादन शक्तयभावमात्रे एकांशे दृष्टान्तोऽयम्॥११६॥

भावानुवाद—तथापि समस्त भोग्य पदार्थ श्रीयुधिष्ठिर महाराजके अन्तःकरणको किसी प्रकारसे भी सुख प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हैं। क्यों? इसका मुख्य कारण प्रदर्शन करनेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णमें समर्पणका उल्लेख करके अब महाराज श्रीयुधिष्ठिरका वैशिष्ट्य बतला रहे हैं। श्रीकृष्णके प्रति जो प्रेम है, उस प्रेमके स्पर्शमात्रसे ही अनन्त प्रकारके महान दोष भी स्वतः ही विनष्ट हो जाते हैं, इसलिए प्रेमको अग्नि तुल्य कहा गया है। प्रेमवानके हृदयमें वह प्रेम श्रीकृष्णके विरहके समयमें सन्तापजनक हो जाता है तथा सम्भोगके समय भावी-विरहकी आशंकासे मिलन सुखका अन्तर्ध्यान हो जाता है। इसलिए श्रीकृष्णप्रेम सदैव अग्नि तुल्य ज्वालामयी है।

अथवा प्रेम नामक वस्तु परमानन्दकी चरमसीमा स्वरूप है, इसलिए उसका परिणाम भी अपने स्वाभाविक अत्यन्त ताप-धर्मयुक्त अग्नितुल्य ही है। अर्थात् यह प्रेमानन्द जिसके हृदयमें उदित होता है, उसका हृदय भी सदा अग्निके समान अत्यधिक ज्वालायमान हो जाता है। इस विषयका प्रमाण दशम-स्कन्धमें शरद ऋतुके वर्णनमें व्यक्त हुआ है, "कुसुमित वनके सुगन्धित समशीतोष्ण वायुका सेवन कर प्राणीमात्रका ताप तो प्रशमित हुआ, किन्तु श्रीकृष्णके द्वारा अपहृत-चित्तवाली गोपियोंका ताप दूर नहीं हुआ, बल्कि और भी अधिक बढ़ गया।" तात्पर्य यह है कि शरद ऋतुमें पुष्पित-वन-वायुके सेवनसे सभीका ताप शान्त हो गया, किन्तु गोपियोंका ताप और अधिक बढ़ गया। क्यों? जिनके चित्तको श्रीकृष्णने हरण कर लिया था, वे गोपियाँ श्रीकृष्णप्रेमरूपी अग्निमें अत्यधिकरूपसे जल जानेके कारण महाताप-ग्रस्त हो गयीं। अर्थात् शरद ऋतुकी पुष्पित-वन-वायुसे उनकी प्रेमाग्नि और भी अधिक उद्दीप्त हो गयी। (यहाँ उन लीलाओंका वर्णन नहीं किया गया।) इस विषयमें दृष्टान्त है—वस्त्र और माला-चन्दन आदि वस्तुएँ भूखसे पीड़ित व्यक्तिको सुख देनेमें समर्थ नहीं होतीं, क्योंकि भूखरूपी अग्नि शरीरकी सभी धातुओंका शोषण करके शरीरको व्याकुल कर देती हैं। अतः वस्त्र और माल्य-चन्दन आदि पदार्थ भूखे व्यक्तिके लिए सुखदायक नहीं, बल्कि उसे दुःखदायक ही होते हैं। 'आदि' शब्दसे पुत्र-पत्नी आदि भी

ग्रहणीय हैं। परन्तु यदि भूखसे पीड़ित व्यक्तिको अन्न-भोजन आदि प्राप्त हो जाए, तभी उसकी जठराग्नि शान्त हो सकती है; उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेमरूपी अग्नि द्वारा तप्त व्यक्तिको विषय-भोगकी वस्तुएँ सुखी नहीं कर सकती, परन्तु यदि उस व्यक्तिको श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो जाए, तभी वह विरहाग्निकी ज्वालासे शान्ति प्राप्त कर सकता है तथा पूर्णता सुखी हो सकता है। यही इस दृष्टान्त द्वारा सूचित होता है। अथवा यह दृष्टान्त प्रीति-उत्पन्न करनेकी शक्तिके अभावके कारण मात्र एकांशसे ही ग्रहणीय है॥११६॥

अहो! किमपरे श्रीमद्द्रौपदी महिषीवरा।
तादृशा भ्रातरः श्रीमद्भीमसेनार्जुनादयः॥११७॥
न प्रिया देहसम्बन्धान्न चतुर्वर्गसाधनात्।
परं श्रीकृष्णपादाब्जप्रेमसम्बन्धतः प्रियाः॥११८॥

श्लोकानुवाद—अहो! विषयोंकी बात और अधिक क्या कहूँ? महिषी-शिरोमणि श्रीमती द्रौपदीदेवी तथा अनेक गुणोंसे अलंकृत भीम, अर्जुन आदि भाई भी श्रीयुधिष्ठिरके प्रिय नहीं हैं। तथापि श्रीयुधिष्ठिरकी उनके प्रति जो प्रीति देखी जाती है, वह भी देहसे सम्बन्ध होनेके कारण नहीं है, बल्कि श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति प्रेम सम्बन्धवशतः ही वे सब उनके प्रिय हैं॥११७-११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तस्य द्रोपद्यां पत्न्यां भातृष्वपि कनिष्ठेषु परमाप्रीतिर्वर्त्तते, तत्राह—अहो इति द्वाभ्याम्। अपरे धनभोगादयो बान्धवादयश्च तस्य प्रीतिं जनयितुं नाशकन्निति किं वक्तव्यं, श्रीमद्द्रौपद्यादयोऽपि नाशकन्नित्यर्थः। या च कदाचिदन्योन्यं तेषां प्रीतिर्दृश्यते, सा च न देहसम्बन्धादिना, किन्तु श्रीकृष्णभक्तिसम्बन्धेनैवेत्याह—नेति। अथवा श्रीकृष्णैकप्रियस्य तस्यापरे प्रिया न भवन्तीति किं वक्तव्यं, द्रौपद्यादयोऽपि देहसम्बन्धादिना न प्रिया इति द्वाभ्यामन्वयः। महिषीषु राजपत्नीषु वरा श्रेष्ठा सर्वसद्रूपगुणाद्यलङ्कृतत्वात्; अतएव श्रीमती चासौ द्रौपदी चेति तादृशा रूपगुणादिभिर-अनिर्वचनीया; देहसम्बन्धात् पाणिग्रहणजन्मादि-दैहिकसम्बन्धाद्धेतोः। चतुर्वर्गस्य धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनात् सम्पादनादपि न प्रियाः। तच्च *'माता तीर्थं पिता तीर्थं भार्या तीर्थं तथैव च। पुत्रतीर्थं'* इत्यादि पद्मपुराणीयवचनं तत्तदुपाख्यानानुसारेण भार्याया द्रौपद्याः पुत्रतुल्यानां कनिष्ठभातृणामपि भीमादीनां तीर्थत्वात् स्वत एव तत्तत् साधन सामर्थ्ययोगाच्चोह्यम् परं केवलं श्रीकृष्णपादाब्जयोस्तेषां प्रेम किम्वा

तेष्वेव तयोः प्रेम तत्सम्बन्धेनैव। प्रिया इति पुनः प्रयोगेण कृष्णप्रेम सम्बन्धात् प्रियत्वातिशयः सूचितः। श्रीकृष्णभक्तानां हि परस्परं प्रियताभक्तिस्वभावेन तद्वृद्धये तद्रसास्वादन–महासुखाय वा भवतीति प्रसिद्धमेव। एवमेकस्यापि गुणाः सर्वष्वन्येष्वपि पर्यवस्यन्तीति सर्वेषामेव तेषां तत्तदुक्तमाहात्म्यं द्रष्टव्यम् कनिष्ठानां ज्येष्ठानुवर्त्तित्वात्। अयं च *'सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही। जम्बुद्वीपाधिपत्यञ्च यशश्च त्रिदिवं गतम्॥ किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विज। अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे॥'* इति प्रथमस्कन्धोक्त (श्रीमद्भा॰ १/१२/५–६) श्लोकद्वयार्थस्य विस्तरो ज्ञेयः॥११७–११८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि महाराज श्रीयुधिष्ठिरकी अपनी पत्नी श्रीमती द्रौपदीके प्रति तथा भीम–अर्जुन आदि कनिष्ठ भाइयोंके प्रति अत्यधिक प्रीति क्यों देखी जाती है? इसके लिए 'अहो' इत्यादि दो श्लोकोंकी अवतरणा कर रहे हैं। बान्धव आदि भी उनकी प्रीतिको उत्पन्न करनेमें सक्षम नहीं हैं, फिर भोग्य–धन सम्पत्तिके विषयमें तो कहना ही क्या? श्रीमती द्रौपदी भी उनकी प्रीति उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर भी कदाचित् द्रौपदीके प्रति उनकी प्रियता देखी जाती है। वह प्रीति देह आदिके सम्बन्धवशतः नहीं, बल्कि केवल मात्र श्रीकृष्णभक्ति सम्बन्धवशतः ही होती है। अथवा श्रीकृष्ण–सम्बन्धसे रहित अन्य भोग्य विषयोंकी बात तो दूर रहे, रमणी–शिरोमणि, राजमहिषियोंमें सर्वश्रेष्ठ, समस्त सद्‌गुण–रूप आदिसे अलंकृत श्रीमती द्रौपदी तथा वैसे महान गुणोंसे समलंकृत भीम–अर्जुन आदि भाई भी श्रीयुधिष्ठिरको प्रीतिप्रद नहीं हैं। फिर भी उनके प्रति कभी–कभी जो प्रीति दिखती है, वह भी पाणिग्रहण (विवाह)के कारण देह–सम्बन्ध अथवा जन्म आदि दैहिक सम्बन्धसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदिमें सहायताके कारण नहीं है। "माता तीर्थ, पिता तीर्थ, पत्नी तीर्थ, पुत्र तीर्थ" इत्यादि पद्मपुराणके वचन तथा वैसे उपाख्यानके अनुसार पत्नी द्रौपदी, पुत्र तुल्य भीम–अर्जुन आदि कनिष्ठ भ्राता स्वतः ही तीर्थ स्वरूप हैं। अतएव यद्यपि वे परस्पर पुरुषार्थके साधनमें सहायक होते हैं, तथापि श्रीयुधिष्ठिरकी अपने भाइयों और पत्नीके प्रति जो प्रीति है, वह देह सम्बन्धीय नहीं है, परन्तु केवल श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें प्रेम सम्बन्धके कारण ही है। अथवा श्रीकृष्णके भक्तोंमें परस्पर जो प्रीति होती है, उस प्रीतिके सम्बन्धवशतः ही उनमें प्रियता लक्षित होती है।

मूल श्लोकमें 'प्रिया' शब्दके पुनः प्रयोगका कारण है कि कृष्णप्रेम-सम्बन्धमें ही उनकी परस्पर प्रियता सूचित होती है। वस्तुतः कृष्णभक्तोंकी एक दूसरेके प्रति परस्पर ममता या प्रियता भक्तिका ही स्वभाव है तथा इससे महासुखकी प्राप्ति होती है, ऐसा प्रसिद्ध है। इस प्रकार एकके गुण दूसरेमें पर्यवसित होते हैं। अतएव केवल श्रीयुधिष्ठिर महाराजके माहात्म्यको दिखलानेसे सभीका माहात्म्य सूचित होता है और फिर कनिष्ठ भी ज्येष्ठके अनुवर्त्ती होते हैं, अतएव ज्येष्ठ भ्राताके समस्त गुण कनिष्ठमें पर्यवसित होते हैं। ऐसी महामहिमा प्रथम-स्कन्धमें (श्रीमद्भा॰ १/१२/५-६) वर्णित है—"महाराज श्रीयुधिष्ठिरकी सम्पत्ति, यज्ञ, यज्ञोपार्जित सद्गति, स्त्री, भ्राता तथा जम्बुद्वीपके आधिपत्यके विषयमें स्वर्गके देवता भी प्रशंसा करते हैं। किन्तु उस देव-दुर्लभ अतुल ऐश्वर्यमें भी धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरको आकर्षण करनेका सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि वे केवल श्रीकृष्णके चरणकमलोंका ही चिन्तन करते थे। इस विषयमें और अधिक क्या कहूँ? जिस प्रकार भूखसे पीड़ित व्यक्तिका मन अन्नके अलावा माल्य-चन्दन आदि अन्य विषयोंकी ओर कभी नहीं जाता, उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेमकी अग्नि द्वारा दग्ध श्रीयुधिष्ठिरके अन्तकरणमें विशाल राज्य-ऐश्वर्य आदि कोई भी भोग्य पदार्थ, प्रीति उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं।" इस टीकाको आलोच्य दो श्लोकोंके अभिप्रेत अर्थका विस्तार कहा जा सकता है॥११७-११८॥

वानरे मया तेषां निर्वक्तुं शक्यते कियत्।
माहात्म्यं भगवन् वेत्ति भवानेवाधिकाधिकम्॥११९॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपासार निर्द्धारखण्डे
भक्तोनाम चतुर्थोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—हे भगवन्! मैं वानर हूँ, पाण्डवोंका माहात्म्य मैं क्या जानूँ, और उनका माहात्म्य वर्णन करनेकी शक्ति भी मुझमें कहाँ है? आप तो उनके माहात्म्यको मुझसे भी अधिक जानते हैं॥११९॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके चतुर्थ अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां पाण्डवानां कियन्माहात्म्यं निर्वक्तुं निरूपयितुं शक्यते, अपितु किञ्चिदपि न शक्यत एव। कुतः? वानरेण अनुकृत वानर जातित्वादित्यर्थः। अतोऽलं तत् कथनेनेति भावः। ननु तर्हि कथं मया ज्ञेयं? तत्राह—भगवन्! हे सर्वज्ञवर! मदुक्तादप्यधिकं ततोऽप्यधिकं भवानेव जानाति; तच्च द्वारकागमनोन्मुख—श्रीभगवतः प्रेम बोधनादिकमूह्यम्॥११९॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे चतुर्थोऽध्यायः।

भावानुवाद—क्या मैं पाण्डवोंके माहात्म्यको वर्णन करनेमें समर्थ हूँ? अर्थात् उनके माहात्म्यका निरूपण करनेकी कुछ भी शक्ति मुझमें नहीं है। क्यों? मैं वानर हूँ, अर्थात् वानरोंके लिए इससे अधिक शक्ति और क्या होगी? यही बहुत है। यदि श्रीनारद कहें कि तो फिर मैं पाण्डवोंकी महिमासे कैसे अवगत होऊँगा? उसके उत्तरमें कहते हैं—हे भगवन्! हे सर्वज्ञवर! आप मेरे द्वारा कही गयी पाण्डवोंकी महिमाकी तुलनामें और भी अधिक उनके माहात्म्यको जानते हैं। अभी द्वारका जानेके लिए प्रस्तुत श्रीनारदके लिए भगवान्के प्रेम आदिका विषय अव्यक्त रहा॥११९॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके चतुर्थ अध्यायकी दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः (प्रियः)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तत्र श्रीनारदो हर्षभराक्रान्तः सनर्त्तनम्।
कुरुदेशं गतो धावन् राजधान्यां प्रविष्टवान्॥१॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—तब श्रीनारदने हर्षपूर्वक नृत्य करते-करते कुरुदेशमें उपस्थित होकर शीघ्रतासे महाराज श्रीयुधिष्ठिरकी राजधानीमें प्रवेश किया॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

पञ्चमे निजमाहात्म्यं मुन्युक्तं पाण्डवा यथा।
निरस्योचुर्यदूनां तत्तथा तेऽप्युद्धवस्य तत्॥

नर्त्तनेन नृत्येन सहितं यथा स्यात्तथा धावन् राजधान्यां श्रीयुधिष्ठिर-महापुर्यां प्राविशत्॥१॥

भावानुवाद—इस पञ्चम अध्यायमें पाण्डवोंने जिस प्रकार श्रीनारद द्वारा कहे गये अपने माहात्म्यका खण्डन करके यादवोंके माहात्म्यका वर्णन किया है, उसी प्रकार यादवोंने भी अपने माहात्म्यका खण्डनकर श्रीउद्धवकी महिमाका गुणगान किया है।

श्रीनारदने नृत्य करते-करते और कभी धावित होकर महाराज श्रीयुधिष्ठिरकी राजधानीमें प्रवेश किया॥१॥

तावत् कस्यापि यागस्य विपत्पातस्य वा मिषात्।
कृष्णमानय पश्याम इति मन्त्रयता स्वकैः॥२॥
धर्मराजेन तं द्वारि तथा प्राप्तं महामुनिम्।
निशम्य भ्रातृभिर्मात्रा पत्नीभिश्च सहोत्थितम्॥३॥

श्लोकानुवाद—उस समय धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर अपने आत्मीय-जनोंके साथ यह परामर्श कर रहे थे कि किसी यज्ञ या विपत्तिके बहाने

श्रीकृष्णको बुलाकर उनका दर्शन किया जाय। किन्तु उसी समय द्वारपालके मुखसे श्रीनारदके आगमनका समाचार सुनकर उनके स्वागतके लिए स्वयं धर्मराज अपनी माता, पत्नी और भाइयोंके सहित उठ खड़े हुए॥२–३॥

दिग्दर्शिनी टीका—यावदन्तः प्रविशति तावदेव धर्मराजेन श्रीयुधिष्ठिरेण, तथा तेन नर्त्तनादिप्रकारेण द्वारि प्राप्तमागतं तं नारदं निशम्य द्वारापालाधिकारितः श्रुत्वा भ्रात्रादिभिः सह उत्थितं मन्त्रणादासनाद्वेति द्वाभ्यामन्वयः। किं कुर्वता? स्वकैर्भ्रात्रमात्यादिभिः समं मन्त्रयता। किं कृष्णमानाय भीमादिप्रेषणेन द्वारकातो हस्तिनापुरमिदं प्रापय पश्यामः? इत्येतत्। कथं कस्यचिद्यागस्य अश्वमेधादियागस्य वेति तदर्थं शीघ्रागमना सम्भावनया, पक्षान्तरे विपदां दुष्टारिकुलविहिताभिभवादि रूपाणामापदं पातस्य पातनस्य विनाशनस्येत्यर्थः। यद्वा, अकस्मादागमनस्य तथापि तन्निरसनस्येत्येष एवार्थः पर्यवस्यति। मिषात् छलेन; वस्तुतस्तु तत्तदसद्भावेऽपि केवलं श्रीभगवद्दर्शनार्थमेव तत्तदुद्भावनात्। एवं तेषामश्वमेधादियज्ञविधानं तत्तदापद्गणस्वीकरणञ्च सर्वं श्रीकृष्ण–सन्दर्शन लाभायैवेति ध्वनितम्। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेणापि तदापदां द्वैविध्यं बोद्धव्यम्। कतिचित्तास्तेषां माहात्म्यविख्यापनाय भगवतैव प्रेर्षन्ते, कतिचिच्च भगवत्सन्दर्शनार्थं तैरेव स्वयमुत्थाप्यन्त इति। एवमन्येष्वपि भक्तेषूह्यम्॥२–३॥

भावानुवाद—जब श्रीनारदने नृत्य करते–करते अन्तःपुरके द्वारमें प्रवेश किया, तब धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर अपनी माता, भाई आदि आत्मीयजनोंके साथ परामर्श कर रहे थे। क्या परामर्श कर रहे थे? अश्वमेध आदि यज्ञके अनुष्ठान अथवा दुष्ट शत्रुओंके आक्रमणसे आयी हुई विपत्तिके बहाने किसी भी प्रकारसे भीम आदिको भेजकर श्रीकृष्णको द्वारकासे हस्तिनापुरमें बुलाकर उनका दर्शन किया जाय। किन्तु अश्वमेध आदि यज्ञकी बात सुनकर उनका शीघ्रतापूर्वक आना असम्भव है। पक्षान्तरमें शत्रुओंके आक्रमणसे उत्पन्न विपत्ति तथा हमारी हारका संवाद भेजनेसे वे शीघ्र आ जायेंगे। उसी समय अचानक द्वारपालके मुखसे नृत्य करते हुए श्रीनारदके आगमनका समाचार सुनकर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर उनके स्वागतके लिए अपनी माता, पत्नी और भाइयोंके साथ आसनसे उठ खड़े हुए।

वास्तवमें उस समय पाण्डवोंको किसी प्रकारके यज्ञ आदि अनुष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं थी और न ही किसी प्रकारकी विपत्ति आदिकी आशंका थी, फिर भी भगवान्के दर्शनोंके लिए वे

आपसमें परामर्श कर रहे थे। इससे यह भी ध्वनित होता है कि उनके द्वारा अश्वमेध आदि यज्ञानुष्ठान और विपत्तियोंका संवाद भेजना, सब कुछ श्रीकृष्णके दर्शनके लिए ही है। अतएव पूर्वोक्त प्रकारकी विपत्तियाँ भी दो प्रकारकी हैं। कुछ विपत्तियाँ तो जगतमें उनकी महिमाको विख्यात करनेके लिए स्वयं भगवान्के द्वारा भेजी जाती हैं और कुछ उनकी अपनी इच्छाकृत होती हैं अर्थात् श्रीभगवान्के दर्शन करनेके लिए वे स्वयं ही उनका सृजन करते हैं। किन्तु यहाँ पर अन्य भक्तोंसे सम्बन्धित वैसी विपत्तियोंकी बात अव्यक्त रही॥२-३॥

ससम्भ्रमं धावता तु सोऽभिगम्य प्रणम्य च।
सभामानीय सत्पीठे प्रयत्नादुपवेशितः॥४॥
राज्ञा पूजार्थमानीतैः पूर्ववद्द्रव्यसञ्चयैः।
मातस्त्वच्छ्वशुरानेव सभृत्यानार्चयत् स तान्॥५॥

श्लोकानुवाद—धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरने उत्साह सहित दौड़कर श्रीनारदको प्रणाम किया तथा उनको आदरपूर्वक सभामें लाकर उन्हें बड़े यत्नपूर्वक उत्तम आसन पर बैठाया। तदुपरान्त जो सब द्रव्य धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर श्रीनारदकी पूजाके लिए लाये थे, हे माता! श्रीनारद उन्हीं समस्त द्रव्योंके द्वारा आपके श्वसुर श्रीयुधिष्ठिर तथा उनके सेवकोंकी पूजा करने लगे॥४-५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स च नारदः अभिगम्य पुरोभूय गृहीत्वा; प्रणम्य साष्टाङ्गं नत्वा। धर्मराजेनेत्यनुवर्त्तत एव तथापि राज्ञेति पुनः प्रयोगो विचित्रासंख्यपूजाद्रव्यसद्यः-सम्पादनशक्तिबोधनार्थम्। यथापूर्वं, महामुनेः पूजार्थमानीतैरेव न तु समर्पितैः। यावत्ते तैस्तस्य पूजां कर्त्तुमारभेरन् तावदेवेत्यर्थः। तान् युधिष्ठिरादीन् भृत्यसहितान् स महामुनिरार्चयत् पूजयामास। त्वच्छ्वशुरानिति तेषां सम्बन्धेन तस्या अपि तादृशं माहात्म्यं ध्वनयति। हे मातरिति परमाश्चर्येण सम्बोधनम्॥४-५॥

भावानुवाद—महाराज श्रीयुधिष्ठिर उत्साहके साथ दौड़ते हुए श्रीनारदके समक्ष उपस्थित हुए तथा उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीनारदने भी उनको प्रणाम किया। फिर महाराज श्रीयुधिष्ठिरने पूर्वकी भाँति श्रीनारदकी पूजाके लिए विविध-प्रकारकी पूजन-सामग्रियोंको

मँगवाया। यहाँ पर 'राज्ञा' शब्दके पुनः प्रयोग द्वारा तत्क्षणात् अनेक प्रकारकी विचित्र–विचित्र पूजन–सामग्री प्रस्तुत करनेकी उनकी असाधारण शक्ति सूचित हो रही है। महाराजने पूजनकी सारी सामग्रियोंको मँगवाया, किन्तु समर्पण नहीं किया। किन्तु उन पूजन सामग्रियोंके द्वारा जैसे ही महाराज श्रीयुधिष्ठिर श्रीनारदकी पूजा करनेके लिए प्रवृत्त हुए, उसी समय हे माता! श्रीनारद उन्हीं पूजन–सामग्रियोंसे महाराज श्रीयुधिष्ठिर आदि आपके श्वसुरों तथा उनके सेवकोंकी पूजा करने लगे। 'आपके श्वसुर' इस सम्बन्धके कारण श्रीउत्तरादेवीकी भी पाण्डवोंके समान महिमा सूचित हो रही है॥४–५॥

हनूमद्गदितं तेषु कृष्णानुग्रहवैभवम्।
मुहुः संकीर्त्तयामास वीणागीत विभूषितम्॥६॥

श्लोकानुवाद—पाण्डवोंके प्रति श्रीकृष्णके अनुग्रहकी महिमाके विषयमें श्रीहनुमानने जिस प्रकार वर्णन किया था, श्रीनारद उसीका वीणाकी झंकारके साथ बारम्बार अत्यधिक मधुर स्वरसे संकीर्त्तन करने लगे॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषु पाण्डवेषु यः कृष्णस्यानुग्रहस्तस्य वैभवं विस्तारं महत्त्वं वा। वीणागीतेन विभूषितं यथा स्यात्तथा वीणां मध्ये मध्ये वादयन् तया तद्गायंश्च परम–मधुर–प्रकारेण संकीर्त्तयामासेत्यर्थः॥६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६॥

श्रीनारद उवाच—

यूयं नृलोके वत भूरिभागा, येषां प्रियोऽसौ जगदीश्वरेशः।
देवो गुरुर्बन्धुषु मातुलेयो, दूतः सुहृत् सारथिरुक्तितन्त्रः॥७॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—इस नरलोकमें आपलोग ही परम सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण आपके प्रिय, इष्टदेव, गुरु, बन्धुओंमें ममेरे भाई, दूत, सारथी, मित्र और आज्ञाकारी सेवक हैं॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—यूयमित्यादिना भवतां कृते परमित्यन्तेन। नृलोक इति महाभोगैश्वर्यास्पदस्वर्गादौ वैराग्याद्यभावेन स्वत एव भगवदनुग्रहविशेष–प्राप्त्ययोगात्।

भूरिर्महत्तापरमकाष्ठाप्राप्तः भागः भगवदनुग्रहभरप्रापकभक्तिविशेषलक्षणं भागधेयं भजनमेव वा। यद्वा, भगवदनुग्रहविशेषे अंशो येषां ते। तत्र हेतुः—येषां युस्माकमसौ श्रीदेवकीनन्दनः प्रियः प्रियताविषयः। कथम्भूतोऽसौ? जगदीश्वराणां ब्रह्मरुद्रादीनामपीशः नियन्ता, अनेन भूरिभागत्वमेव साधितम्। किञ्च, न केवलं प्रिय एव, देवश्च नित्योपास्यः सर्वापत्सु रक्षक इत्यर्थः। गुरुश्च साक्षात् सर्वोपदेशकर्त्ता। बन्धुषु जन्मादिसम्बन्धबद्धेषु बान्धवेषु मध्ये वर्त्तमानश्च बन्धुरित्यर्थः। तत्रापि मातुलेयः लोके मातुलेयपैतृस्वसेय-भ्रातृणामन्योन्यं सौहृदविशेषदर्शनात् परमस्नेहविषय इत्यर्थः। यद्वा, बन्धुषु मध्ये मातुलेयो मातृसम्बन्धेन परमस्निग्ध इत्यर्थः। दूतश्च उपप्लवाख्य-विराटनगराद्धस्तिनापुरे दुर्योधन-सदसि प्रेषणात्; सुहृच्च प्रत्युपकारानपेक्षकतया निरुपाधिपरम-हिताचरणपरः; सारथिश्च भारतयुद्धादावर्जुनस्य रथयोजनाश्वग्रहणादिना। उक्तितन्त्रश्च वचन प्रतिपालनपरः; *'उभयोः सेनयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।'* (श्रीगीता १/२१) इत्याद्यर्जुनवचसेतस्ततः सद्यो रथनयनात्। यद्वा, एवमुक्तितन्त्र इत्युपसंहारः; यद्वा, किमन्यद्बहु वक्तव्यं, उक्तितन्त्रोऽपि। यदा भवन्तो यदाज्ञापयन्ति, तदैव तदा स इव निष्पादयतीत्यर्थः। अथवा उक्तितन्त्रशब्देन सेवक एवोच्यते, स्पष्टतया तथानुक्तिश्च श्रवणकटुकत्वात्। ततश्चैवं हनूमदुक्तसेवन-वीरासनादिकमपि सूचितं भवति; एवं देवत्वादिना प्रियत्वमेव साधितमित्यपि ज्ञेयम्; यद्वा, प्रिय इत्यस्य सर्वेणैवान्वयः, ततश्च प्रियो देवः इष्टदेवता प्रेमभरेण नित्यमुपास्य इत्यादिकं यथायथमूह्यम्; एवमर्जुनादिसेवित-श्रीरुद्रद्रोणादि व्यवच्छेदो द्रष्टव्यः। प्रियत्वञ्च सर्वत्रैवान्तर्भूतमिति परमप्रियताविषयत्वञ्च स्वत एव सिध्येदिति दिक्। अयं भावः;—ब्रह्म-रुद्रादीनां केवलमीश्वर एव युस्माकं च प्रिय इत्यादिरूपः। यद्वा, नियन्तृत्वात्तैः केवलमीश्वर त्वेनोपास्यते, युस्माकन्तु प्रियो देवस्तथापि गुरुः; एवमग्रेऽपि अतस्तेभ्योऽपि यूयं श्रेष्ठा इति॥७॥

भावानुवाद—श्रीनारद द्वारा पाण्डवोंके प्रति श्रीकृष्णके अनुग्रहकी महिमाके गानको 'यूयं' इत्यादि श्लोक संख्या ७से आरम्भ करके 'भवतां कृते परम' श्लोक संख्या ४४ तक विस्तारपूर्वक कहा गया है। इस नरलोकमें आपलोग ही सौभाग्यशाली हैं। यहाँ 'नृलोक' शब्दके प्रयोगसे कोई यह न समझे कि केवल नृलोक अर्थात् नरलोकमें ही भूरि भाग्यवान लोग हैं, परन्तु स्वर्ग आदि लोकोंमें इनसे भी अधिक सौभाग्यशाली अनेक व्यक्ति हैं। इसलिए कह रहे हैं कि अत्यधिक भोग और ऐश्वर्य-सम्पत्तिसे भरपूर स्वर्ग आदि लोकोंमें वैराग्य आदिके अभावके कारण स्वाभाविकरूपमें ही भगवान्‌की कृपा-प्राप्तिकी उपयोगिता नहीं है। 'भूरिभाग्य' पदके 'भूरि' शब्दका अर्थ महत् अथवा पराकाष्ठा

(चरम सीमा) प्राप्त है तथा 'भाग्य' शब्दका अर्थ है जिसके द्वारा पूर्ण रूपमें भगवान्‌की कृपाकी प्राप्ति होती है, वैसे भक्ति-लक्षणसे युक्त भाग्य अथवा भगवान्‌का भजनरूप भाग्य। अतएव उसी भगवत्कृपाको प्राप्त करानेवाली भक्तिके लक्षणसे युक्त भाग्यकी चरमसीमाका नाम भूरिभाग्य है। अथवा 'भूरिभाग्य' पदका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की कृपामें जिनको अंश प्राप्त है अथवा जो भगवान्‌की कृपाके अंशीदार हैं, अतः पाण्डवगण ही भूरि भाग्यवान हैं। उसका कारण बताते हुए कह रहे हैं कि ब्रह्मा, रुद्र आदि ईश्वरोंके भी जो ईश्वर हैं, वे श्रीदेवकीनन्दन आप लोगोंके प्रिय हैं। इसके द्वारा पाण्डवोंका भूरिभाग्यत्व सिद्ध हुआ।

श्रीनारद और भी कह रहे हैं कि श्रीदेवकीनन्दन आप लोगोंके केवल प्रिय ही नहीं हैं, अपितु इष्टदेव, गुरु और बान्धव भी हैं। 'इष्टदेव' अर्थात् नित्य उपास्य तथा सब प्रकारकी विपत्तियोंसे रक्षा करनेवाले। 'गुरु' अर्थात् साक्षात्‌रूपमें सब प्रकारके उपदेशदाता हैं। 'बान्धव' अर्थात् जन्म आदि सम्बन्धके कारण बान्धव हैं और मातुलेय अथवा मातृसम्बन्धसे सम्बन्धित कुटुम्बी हैं। अर्थात् माता जैसे स्नेहमयी होती हैं, श्रीकृष्ण भी वैसे ही परम स्निग्ध हैं और 'बन्धु' शब्दसे भी जन्म आदि सम्बन्धसे बन्धु तथा वैसे बन्धुओंमें भी मातुलेय अथवा बुआके पुत्र-सम्बन्धसे भ्राता हैं। इस प्रकार भ्रातृवत् परस्पर सौहार्द प्रदर्शनके कारण वे परम स्नेहके पात्र हैं। वे आपके दूत हैं, क्योंकि वे आपके पक्षसे दूतरूपमें उपप्लव नामक विराट नगरसे हस्तिनापुरमें दुर्योधनके महलमें भेजे गये थे। वे आपके सुहृद् हैं, क्योंकि उपकारके बदलेमें किसी भी प्रकारकी आशा न करके बिना किसी कारण ही आप लोगोंका हित करते हैं। वे आपके सारथी हैं, क्योंकि उन्होंने महाभारतके युद्धमें अर्जुनके रथमें घोड़ोंकी लगामको धारणकर रथकी परिचालनाकी थी। वे आपके आज्ञाकारी सेवक हैं, क्योंकि युद्धके समय जब अर्जुनने कहा था—"हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलो।" इस आदेशको सुनकर तत्क्षणात् श्रीकृष्णने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें लाकर खड़ा किया था। इस प्रकार उनके आज्ञाधीन सेवक होनेके प्रसंगका उपसंहार

करते हुए कह रहे हैं कि और अधिक क्या कहूँ; वे आपके आज्ञाकारी सेवक हैं, क्योंकि आपलोग जिस समय जैसा आदेश देते हैं, वे उसी समय उस आदेशका पालन करते हैं। अथवा यहाँ 'उक्तितन्त्र' शब्दसे सेवकको समझना चाहिए, क्योंकि श्रीकृष्णके लिए 'सेवक' शब्दका व्यवहार सुननेमें अत्यधिक कटु लगता है, इसलिए स्पष्टरूपमें 'सेवक' शब्दका उल्लेख न करके 'उक्तितन्त्र' शब्द प्रयोग कर रहे हैं। इसके द्वारा श्रीहनुमान द्वारा कही गयी सेवक और वीरासन आदिकी बात भी सूचित हुई है।

इस प्रकार मूल श्लोकके 'देवो गुरु' इत्यादि वाक्योंमें भी प्रियत्व ही सिद्ध हुआ है; अथवा 'प्रिय' शब्दका सभी पदोंके साथ अन्वय करके ही अर्थ करना होगा, जैसे प्रिय देवता, प्रिय गुरु इत्यादि। 'प्रिय देवता' अर्थात् प्रिय इष्टदेव, जो प्रीतिपूर्वक नित्य उपास्य हैं। इस प्रकार अर्जुन आदि द्वारा देवतारूपमें सेवित रुद्र तथा गुरुरूपमें सेवित द्रोणाचार्य आदिकी बातका खण्डन हुआ। अर्थात् किसी विशेषकार्यकी सिद्धिके लिए ही अर्जुनने कभी रुद्रदेवकी आराधना की थी और द्रोणाचार्यको गुरुके रूपमें सम्मानित किया था। किन्तु श्रीरुद्रकी तुलनामें श्रीकृष्ण ही उनके प्रियदेवता हैं तथा द्रोणाचार्यके स्थान पर श्रीकृष्ण ही उनके प्रिय गुरु हैं। इस प्रकार 'प्रिय' शब्दका सभी पदोंके साथ अन्वय करने पर स्वाभाविकरूपमें यही सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ही उनके परम प्रिय हैं। अतएव सारार्थ यह है कि ब्रह्मा–रुद्र आदि केवल ईश्वर हैं और ये (श्रीदेवकीनन्दन) आप लोगोंके प्रिय ईश्वर हैं। अथवा ब्रह्मा–रुद्र आदि केवल नियन्ता रूपमें ही उपास्य हैं और श्रीकृष्ण प्रिय इष्टदेवके रूपमें उपास्य हैं। इसके अलावा और भी घनिष्ठ सम्बन्ध यह है कि ये गुरु हैं। इसी प्रकार पहले ही यह सब विचार किया जा चुका है, अतएव नरलोकमें आप ही सबसे अधिक सौभाग्यवान हैं॥७॥

यो ब्रह्मरुद्रादिसमाधिदुर्लभो, वेदोक्तितात्पर्यविशेषगोचरः।
श्रीमान् नृसिंहः किल वामनश्च श्रीराघवेन्द्रोऽपि यदंशरूपः॥८॥

श्लोकानुवाद—उन भगवानके दर्शन ब्रह्मा-रुद्र आदि देवताओंको समाधिमें भी दुर्लभ हैं, वे वेदोंके निखिल तात्पर्यके विषय हैं तथा श्रीनृसिंहदेव, श्रीवामन और श्रीरामचन्द्र आदि अवतार भी उनके अंश स्वरूप हैं॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीदेवकीनन्दनस्य प्रियत्वादिना अस्माकं माहात्म्यं तदा भवति। यद्यसौ निगूढ़ो दुर्लभतरः स्यात्, स चास्मादृशानां गृहेषु सदा सुलभः सम्बन्धीति किमित्यतिस्तुतिः क्रियते? इत्याशंका तस्यात्यन्तदौर्लभ्यादि-परममहिमानमाह—य इत्यादिना चित्रताचित्तेत्यन्तेन ग्रन्थेन। तत्रादौ परमदुलर्भत्वं दर्शयति—श्लोकार्धेन; ब्रह्म-रुद्रादीनां समाधावपि दुर्लभः। कुतः? वेदानामुक्तयो वचनानि तेषामपि यत्तात्पर्यं न तु साक्षाद्वृत्तिः तस्यापि विशेषः कोऽपि सारांशः तस्यैव गोचरः, न तु अतन्निरसनद्वारा ब्रह्मवत्तात्पर्यमात्रस्य विषय इत्यर्थः, श्रीकृष्णस्य मधुरमधुर-सच्चिदानन्दघनरूपत्वात्। ननु तर्हि श्रीनृसिंहादयोऽपीदृशा एवेत्याशंक्य तेभ्योऽपि वैशिष्ट्यमाह—श्रीमानिति पादत्रयेण; श्रीमानित्यनेन नृसिंहस्य परमभयंकररूपत्वेऽपि तथा वामनस्य ह्रस्वत्वेऽपि परमविचित्रशोभोद्दिष्टा। अयमर्थः—स्वभक्त-वात्सल्यात्तादृशरूपत्वेन स्तम्भमध्यादाविर्भूतो नृसिंहदेवस्तथा पादद्वयाक्रान्तत्रैलोक्यः वलये विश्वरूपप्रदर्शकस्त्रिविक्रमो वामनश्च। तथा साक्षाद्भगवान् श्रीराघवेन्द्रः श्रीरामचन्द्रोऽपि यस्य देवकीनन्दनस्य अंशरूपः अवतारतुल्यः, साक्षाद् भगवत्वेऽप्यनाविस्कृताशेष-पारमैश्वर्यत्वेन अवतारवत् प्रतीतेः। किलेति, *'एते चांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'* (श्रीमद्भा॰ १/३/२८) इत्यादि प्रसिद्धं प्रमाणयति; इत्थं श्रीनृसिंह-श्रीवामन-रघुनाथसेवकेभ्यः श्रीप्रह्लाद-बलि हनूमद्भयोऽपि पाण्डवानां माहात्म्यं सुसिद्धम्॥८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि हमारे प्रिय, इष्ट आदि होने पर भी वे (श्रीदेवकीनन्दन) तो अति निगूढ़ और दुर्लभ परब्रह्मस्वरूप हैं, अतएव हमारे जैसे मनुष्योंके घरमें वे सदैव वास क्यों करेंगे? इसके द्वारा यह समझा जा सकता है कि आप हमलोगोंकी अतिस्तुति कर रहे हैं, परन्तु ऐसा क्यों कर रहे हैं? इस प्रश्नकी आशंका करके श्रीनारद पहले श्रीदेवकीनन्दनकी परमदुर्लभता आदिको प्रदर्शित कर रहे हैं। उनके दर्शन ब्रह्मा-रुद्र आदि देवताओंको समाधिमें भी दुर्लभ हैं। क्यों? वे केवल वेद-वाक्योंके निखिल तात्पर्यके विषय हैं, किन्तु साक्षात्‌रूपमें नहीं, अर्थात् वेद-वाक्योंकी तात्पर्य वृत्ति द्वारा वे ब्रह्मा आदिके अनुभवके विषय होते हैं, किन्तु साक्षात्‌रूपमें नहीं। साक्षात्‌रूपमें वे वेदोंके द्वारा भी अगोचर हैं।

ये देवकीनन्दन श्रीकृष्ण परममधुर सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हैं। ब्रह्मकी भाँति केवल चिन्मात्र सत्ता नहीं हैं, अतएव ये वेदोंकी साक्षात् वृत्ति द्वारा गोचर नहीं हैं। यदि कहो, तो क्या श्रीनृसिंह, श्रीवामन इत्यादि भी ऐसे ही हैं? ऐसी आशंकाके कारण उनकी तुलनामें श्रीकृष्णका वैशिष्ट्य-प्रदर्शन करनेके लिए 'श्रीमान्' इत्यादि कह रहे हैं। श्रीनृसिंह, श्रीवामन और श्रीरामचन्द्रजी भी उनके ही अंश हैं, अतएव ये सभी सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हैं, किन्तु इन भगवदवतारोंकी तुलनामें श्रीकृष्णका अधिक वैशिष्ट्य है। जैसे श्रीमान् नृसिंहदेव परम भयंकर रूपमें भी अनेक प्रकारकी शोभासे युक्त हैं तथा श्रीवामनदेव अत्यन्त लघु-स्वरूप होने पर भी परम विचित्ररूपसे शोभायमान हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीनृसिंहदेव अपने भक्तके प्रति वात्सल्यवशतः कृपापूर्वक स्तम्भसे आविर्भूत हुए थे और श्रीवामनदेव भी अपने भक्तके प्रति कृपा करके दो पगसे त्रिलोकको नापकर विश्वरूप-प्रदर्शक त्रिविक्रम मूर्त्तिको धारण किये थे। साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्र भी श्रीदेवकीनन्दनके अंशावतार हैं। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् हैं, तथापि उन्होंने इस अवतारमें अपने असीम ऐश्वर्यका प्रकाश नहीं किया, इसलिए वे अवतार जैसे ही प्रतीत होते हैं। श्रीकृष्ण ही सभीके अवतारी हैं; यथा—"पूर्वोक्त सभी अवतार पुरुषोत्तम भगवान्के अंश या कला हैं, किन्तु सर्वशक्तिमान होनेके कारण श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं।" इत्यादि प्रसिद्ध प्रमाणों द्वारा श्रीनृसिंहदेव, श्रीवामनदेव और श्रीरामचन्द्रके सेवक यथाक्रमसे श्रीप्रह्लाद महाराज, श्रीबलि महाराज और श्रीहनुमानसे भगवान् श्रीकृष्णके सेवक पाण्डवोंका अधिक माहात्म्य सिद्ध होता है॥८॥

अन्येऽवताराश्च यदंशलेशतो ब्रह्मादयो यस्य विभूतयो मताः।
माया च यस्येक्षणवर्त्मवर्तिनी दासी जगत्सृष्ट्यवनान्तकारिणी॥९॥

श्लोकानुवाद—अन्यान्य सभी अवतार श्रीदेवकीनन्दनके अंशके लेशमात्र हैं, ब्रह्मा आदि देवगण उनकी विभूतियाँ हैं, जगतकी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी माया उनके संकेतके अनुसार उनकी आज्ञाका पालन करती हैं॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्ये मत्स्य-कूर्मादयो यस्य अंशतस्तल्लेशतश्च पृथ्वादय इति ज्ञेयम्; अतो ब्रह्मादयोऽपि यस्य देवकीनन्दनस्य विभूतयः वैभवरूपाः सेवका इत्यर्थः न तु लीलावतारा मताः शास्त्रतत्त्वविद्भिः। यथोक्तं नारदं प्रति ब्रह्मणैव द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/६/४३-४६)—*'अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा, दक्षादयो ये भवदादयश्च। स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला, नृलोकपालास्तललोकपालाः॥ गन्धर्व-विद्याधरचारणेशा, ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः। ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां, दैत्येन्द्रसिद्धेश्वर दानवेन्द्राः॥ अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत, कुष्माण्ड-यादोमृगपक्ष्यधीशाः। यत्किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजः सहस्वद्बलवत् क्षमावत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भूतार्णं, तत्त्वं परंरूपवद्स्वरूपम्॥ प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति, लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः। आपीयतां कर्णकषायशोषान्, अनुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्॥'* इति। व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—'अहं ब्रह्मा, भवः श्रीरुद्रः, यज्ञो विष्णुः, दक्षादयो ये इमे प्रजेशाः, भवदादयश्च नैष्ठिकाः, तललोकपालाः पातालाधिपतयः, गन्धर्वादीनामीशाः, यक्षादीनां नाथाः रक्षोरगेति सन्धिरार्षः; ऋषीणां पितृणाञ्च श्रेष्ठाः; प्रेतादीनामधीशाः, किं बहुना, यत् किञ्चित् भगवदादि तत् सर्वं परमं तत्त्वं तद्विभूतिरित्यर्थः। तत्र भगवदैश्वर्ययुक्तं, महस्वत्तेजोयुक्तं, ओजःसहसी इन्द्रियमनःशक्ती तद्युक्तम्; बलं दार्ढ्यं तद्युक्तम्, श्रीः शोभा, ह्रीरकर्मजुगुप्सा, विभूतिः सम्पत्तिः, आत्मा बुद्धिस्तद्युक्तम्, अर्णो वर्णः, अद्भुतार्णम् आश्चर्यवर्णमित्यर्थः, रूपमेव स्वरूपम्, रूपवत् अस्वरूपञ्च यत् तत् सर्वं परं तत्त्वं तद्विभूतिरित्यर्थः।' एवं श्रीभगवद्गीता विभूत्यध्यायोक्तानुसारेण गुणावतारानपि विभूतिषु गणयित्वा अधुना सच्चिदानन्दघनलीलावतारान् वक्तुमाह—प्राधान्यत इति; अन्येऽप्यप्रसिद्धाः क्षुद्रावतारा बहवः सन्ति, इमांश्च मुख्यान् तेऽनुक्रमेण कथयिष्यामीत्यर्थः। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/३/२६)—*'अवतारा ह्यसंख्येयाः हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥'* इति। अस्यार्थः—सत्त्वमत्र परमकारुण्यम्; अतएवासंख्येया अवताराः अविदासिनः उपक्षयशून्यात् सरसः सकाशात् कुल्याः क्षुद्रप्रवाहा इवेति। यद्यपि ब्रह्मादयस्त्रयो गुणावतारा एव, न तु विभूतयस्तथापि श्रीभगवद्भक्तिप्रवर्त्तनात् भक्तसादृश्येन श्रीब्रह्म-रुद्रौ विभूतिमध्येऽपि क्वचित् कथ्येते; तयोः साहचर्येण किम्वा प्रतिमन्वन्तर-मवतरतो भगवतो रूपस्यैकस्य मन्वन्तरपालनाधिकारा- पेक्षया यज्ञादिरूपः श्रीविष्णुरपि; तत्र च यद्यपि यज्ञो लीलावतार एव; यथोक्तं तेन तत्रैव (श्रीमद्भा॰ २/७/२) लीलावतारकथनाध्याये—*'जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ, आकूतिसुनुरमरानथ दक्षिणायाम्।'* इत्यादि। तथापि तस्य स्वायम्भुवमन्वन्तरपालनाधिकारापेक्षया तदानीन्तनेन्द्रत्वापेक्षया वा, विभूतिषु गणनेत्युह्यम्। मुख्यलीलावताराणां क्रमसंख्या च लीलास्तोत्रादवगन्तव्या। तेषां तद्विभूतित्वे हेतुं दर्शयन् सकलप्रपञ्चैश्वर्या मायाया अपि साक्षात्तत्प्राप्त्यभावेन पुनस्तस्यैव दुलर्भतामाह—मायेति। यस्य श्रीदेवकीनन्दनस्य

ईक्षणं दृष्टिः, तस्य वर्त्मनि अतिदूर इत्यर्थः। वर्तितुं शीलमस्याः सा, अतएव दासीतुल्यत्वात् दासी परमाधीनेत्यर्थः। कथम्भूता? जगतः सर्वप्रपञ्चस्य सृष्टि-स्थिति-संहारकारिण्यपि; अतस्तदधीनानां ब्रह्मादीनां स्वत एव परमदासत्वं सिद्धम्॥९॥

भावानुवाद—मत्स्य-कूर्म आदि अवतार श्रीदेवकीनन्दनके अंश हैं। पृथु आदि उनके अंशोंके भी अंश मात्र हैं और ब्रह्मा आदि देवता उनकी विभूति अथवा वैभव स्वरूप सेवकमात्र हैं, किन्तु लीलावतार नहीं हैं, यही शास्त्रोंको जाननेवाले साधुओंका मत है। इस विषयमें श्रीनारदके प्रति श्रीब्रह्माकी उक्तिमें भी अभिव्यक्त किया गया है। जैसे—"हे नारद! मैं, रुद्र, विष्णु, प्रजापतिगण, अन्य समस्त देवर्षि, स्वर्गलोकपाल, मनुष्यलोकपाल, पाताल आदि पाल, गन्धर्वपति, विद्याधरपति, चारणपति, यज्ञपति, उरगपति, नागपति, ऋषिश्रेष्ठ, पितृश्रेष्ठ, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानवेन्द्र, प्रेतपति, पिशाचपति, भूतपति, कुष्माण्डाधिपति, यादोपति, मृगराज, पक्षीराज और अधिक क्या, लोकमें जो कुछ ऐश्वर्यशाली, तेजशाली, इन्द्रियशक्ति-सम्पन्न, मनःशक्ति सम्पन्न, बलवान, क्षमावान, शोभाशाली, सम्पत्ति-सम्पन्न, लज्जाशील, बुद्धिमान, आत्मवत् अद्भुत रूपसम्पन्न अथवा विरूप आकृति-विशिष्ट जो सब वैभव देखे जाते हैं, वे परमपुरुष भगवान्‌की विभूति अथवा अवतार तत्त्व हैं। परन्तु उन परमपुरुषके अनेक प्रकारके अन्य जो सब लीला अवतार हैं, उनके नाम और चरित्र आदिके श्रवणसे कानोंका मल नष्ट हो जाता है। हे नारद! मैं उन अवतारोंका चरित्र कीर्त्तन कर रहा हूँ, तुम कर्णपुट (कानों)के द्वारा पान करो अर्थात् श्रवण करो।" इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधरस्वामीपाद लिखते हैं—"मैं (ब्रह्मा), रुद्र, विष्णु, दक्ष आदि प्रजापति, तुम्हारे जैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी, स्वर्ग-लोकपाल, भुवलोकपाल, भूलोकपाल, पाताल आदि लोकोंके पाल, गन्धर्व-अधिपति, विद्याधर अधिपति, चारणाधिपति, यक्षाधिपति, उरगगणपति, नागगणाधिपति, ऋषि और पितृगण, प्रेत-पिशाच-भूत-कुष्माण्ड-यादपति, मृग-पक्षी जैसोंके अधीश्वरगण और अधिक क्या, समस्त लोकोंमें जो सब ऐश्वर्ययुक्त है, अर्थात् तेजयुक्त, इन्द्रिय और मनकी शक्तिसे युक्त तथा बल, दृढ़ता, शोभा, अकर्म, जुगुप्सा, सम्पत्ति, बुद्धि, आश्चर्यसम्पन्न, रूपवान—ये सभी भूमा पुरुषकी विभूतियाँ हैं।"

इस प्रकार श्रीभगवद्‌गीताके विभूतियोग अध्यायके क्रमानुसार गुणावतारोंको विभूतिमें गणना करके, अब सच्चिदानन्दघन लीलावतारके विषयमें कहनेके लिए ही उद्धृत 'प्रधान्यत' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि उक्त क्रमके अनुसार प्रथमतः चतुःसन रूपमें ब्राह्मण होकर वही परमपुरुष आविर्भूत हुए थे। इस प्रकार लीलावतारोंके नामोंका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर श्रीब्रह्माने यह भी कहा कि उन परमपुरुषके बहुतसे क्षुद्र-क्षुद्र अवतार हैं। किन्तु उनमें से प्रसिद्ध अर्थात् इन सभीमें मुख्य अवतारोंके विषयमें क्रमशः कीर्त्तन करूँगा। इस विषयमें प्रथम-स्कन्धमें कहा गया है—"हे द्विजगण! सत्त्वनिधि श्रीहरिके असंख्य अवतार हैं, उनका और अधिक क्या वर्णन करूँ? जैसे किसी एक अक्षय सरोवरसे असंख्य छोटी-छोटी जल-धाराएँ निकलकर अलग-अलग दिशाओंमें प्रवाहित होती हैं, उन सत्त्वनिधि भगवान्‌से भी उसी प्रकार अनेक अवतार आविर्भूत होते हैं।" इस उद्धृत श्लोकमें 'सत्त्व' शब्दसे परम कारुण्यशक्ति अर्थात् असंख्य अवतारोंके प्रादुर्भावकी शक्तिका बोध होता है। अतएव असंख्य अवतार ही नित्य हैं तथा सभी अवतार ही करुणावशतः जगतमें पुनः-पुनः अवतरित होते हैं। अक्षय सरोवरसे निकलनेवाली जलकी धाराएँ जैसे नित्य होती हैं, इस दृष्टान्तके अनुसार उन स्वयं-भगवान्‌के असंख्य अवतार भी उसी प्रकार नित्य हैं। अतएव उन सभी अवतारोंकी देह भी घनीभूत परमानन्द, सभी प्रकारके गुणोंसे युक्त तथा सभी प्रकारके दोषोंसे रहित हैं। यद्यपि श्रीब्रह्मा-विष्णु-रुद्र गुणावतार हैं—विभूति नहीं, तथापि ये भगवद्भक्तोंकी भाँति भगवद्भक्तिका प्रवर्त्तन करते हैं, इसलिए इनको कभी-कभी विभूति भी कहा जाता है। परन्तु श्रीविष्णुको गुणावतार अथवा विभूतिरूपमें गणना करने पर भी अथवा प्रति मन्वन्तरमें अवतरणकारी होनेसे अर्थात् श्रीभगवान्‌के मन्वन्तर पालन या अधिकार आदिकी आशासे यज्ञादिरूप अथवा श्रीविष्णुरूप होने पर भी वे लीलावतार हैं। लीलावतार वर्णनके प्रसंगमें कहा गया है, "वे प्रजापति रुचिसे आकुतिके गर्भमें सुयज्ञ नामसे जन्मग्रहण कर दक्षिणाके गर्भसे सुषम जैसे श्रेष्ठ देवताओंको उत्पन्न कर इन पुत्रोंके सहित स्वायम्भुव मन्वन्तरका पालन करते हैं।" वे यज्ञरूप भगवान् ही अब इस

मन्वन्तरमें स्वयं इन्द्र बने हैं। यद्यपि किसी–किसी स्थान पर उनको विभूति कहा गया है, तथापि वे लीलावतार हैं। अर्थात् मन्वन्तर पालनके अधिकारके विचारसे तथा उस समयमें उनके इन्द्रत्वके विचारसे उनका विभूतिरूपसे वर्णन किया गया है, वस्तुतः वे लीलावतार ही हैं। अतः मुख्य लीलावतारोंकी क्रम संख्या लीलास्तोत्र आदिसे समझनी होगी।

इस प्रकार उनके विभूति रूपमें परिगणित होनेके कारणको प्रदर्शित करके अब सभी प्रपञ्चोंकी ईश्वरी मायाके साक्षात् सम्बन्धसे श्रीकृष्णकी प्राप्तिके अभाव और दुर्लभता आदिको 'माया' इत्यादि पदों द्वारा दिखला रहे हैं। यह माया दासीकी भाँति श्रीदेवकीनन्दनके दृष्टिपथसे बहुत दूर स्थित है, यही मायाका स्वभाव है। अर्थात् दासी जैसे अपने प्रभुकी दृष्टिसे दूर रहकर ही कार्य करती है, उसी प्रकार मायाका स्वभाव जानना चाहिए। अतएव दासीके तुल्य होनेके कारण पराधीना है। वह माया कैसी है? जगतकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाली है, अतएव मायाके अधीन ब्रह्मा आदि देवताओंका भी स्वभावतः दास होना सिद्ध हुआ॥९॥

यस्य प्रसादं धरणीविलापतः क्षीरोदतीरे व्रतनिष्ठया स्थिताः।
ब्रह्मादयः कञ्चन नालभन्त स्तुत्वाप्युपस्थानपराः समाहिताः॥१०॥

श्लोकानुवाद—धरणीके विलापसे कातर होकर ब्रह्मादि देवताओं द्वारा क्षीरसागरके तट पर उपस्थित होकर पूर्ण निष्ठाके साथ व्रत, पूजा और एकाग्र चित्तसे स्तुति करने पर भी वे देवता भगवान्के दर्शन या अन्य किसी भी प्रकारसे उनकी कृपाकी प्राप्ति नहीं कर पाये थे॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—समाधिदुर्लभत्वमेवेतिहासद्वारा किञ्चिद्दर्शयति—यस्येति। अपीति यथापेक्षं सर्वत्रैव योजनीयम्। धरण्या विलापतो हेतोः व्रतनिष्ठया वायुभोजनादि नियमपरतया क्षीरोदस्य लक्ष्मीपितुस्तीरे स्थिता अपि उपस्थानं अर्चनवन्दनादिकं तत्प्रवणा अपि समाहिताः तन्निष्ठीकृतबहिरन्तःकरणा अपि सन्तः स्तुत्वा पुरुषसूक्तादिना स्तुतिं कृत्वा कञ्चन दर्शनाश्वासनादिरूपं प्रसादमपि नालभन्त, कुतस्तं प्राप्नुयूरित्यर्थः। इदञ्च दशमस्कन्धारम्भे सुप्रसिद्धमेव॥१०॥

भावानुवाद—पिछले श्लोकमें कहा गया है कि वे श्रीकृष्ण ब्रह्म-रुद्रादि देवताओंको समाधिमें भी दुर्लभ हैं, अब उसीका इतिहास द्वारा (उदाहरण द्वारा) वर्णन कर रहे हैं। धरणी देवीके विलापको सुनकर ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा कातर होकर निष्ठापूर्वक व्रताचरण करके अर्थात् केवल वायुभोजनका नियम पालन करते हुए, क्षीरसागरके तट पर वास करके, अर्चन-वन्दन आदिमें रत होकर, बाह्य और अन्तर इन्द्रियोंको निरोधकर (विषयोंसे हटाकर), एकाग्र चित्तसे पुरुषसूक्त आदि मन्त्रों द्वारा स्तुति करने पर भी, वे प्रभुके दर्शन अथवा किसी भी प्रकार उनके आश्वासन आदि रूप कृपाको भी प्राप्त नहीं कर पाये, साक्षात् प्रभुको प्राप्त करना तो बहुत दूरकी बात है। यह सुप्रसिद्ध उपाख्यान दशम-स्कन्धमें द्रष्टव्य है॥१०॥

ब्रह्मणैव समाधौ खे जातामधिगतां हृदि।
यस्य प्रकाश्यतामाज्ञां सुखिता निखिलाः सुराः॥११॥

श्लोकानुवाद—केवल श्रीब्रह्मा ही समाधिमें अपने हृदयरूपी आकाशमें आविर्भूत दैव-वाणीके रूपमें उनकी आज्ञासे अवगत हुए थे तथा उस प्रसिद्ध आज्ञाको प्रकाश करके उन्होंने देवताओंको सन्तुष्ट किया था॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तदुपस्थानादिकं न कदापि वैफल्यमर्हति। सत्यं, तेषां प्रार्थनायाः परमगरिष्ठत्वेन द्रुतसिद्धेरसम्भवादिति वदन् परमदौर्लभ्यमेवाह—ब्रह्मणैवेति। यस्य जगदीश्वरेशस्य तां सुप्रसिद्धामाज्ञाम्। *'पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो, भवद्भिरंशै-र्यदुषूपजन्यताम्। स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः, स्वकालशक्तया क्षपयंश्चरेद्भुवि॥ वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः। जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्त्वमरस्त्रियः॥ वासुदेव कलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्। अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥ विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्। आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे संभविष्यति॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/१/२२-२५) इत्यत्रोद्दिष्टाम्। ब्रह्मणैव केवलमधिगतां ज्ञानद्वारात्म-साक्षात्कृताम्; तत्रापि समाधौ बहिरिन्द्रियवृत्तिप्रत्याहारेण मनस एकाग्रतायां सत्याम्; तत्रापि खे आकाशे जातामार्विभूताम् आकाशवाणीरूपां, न तु साक्षाद्दृष्ट-वक्तृकामित्यर्थः। प्रकाश्य परमनिगूढ़ामपि देवान् प्रति प्रकाशं नीत्वेत्यर्थः। सुखिताः सुखिनः कृताः॥११॥

भावानुवाद—यदि कहो कि भगवान्‌का अर्चन आदि कभी भी विफल नहीं हो सकता है। इसके लिए कहते हैं कि यह सत्य है, किन्तु उनके प्रति प्रार्थनाओंके अत्यधिक महत्वपूर्ण होने पर भी उन्हें प्रसन्न करना सहज नहीं है, अतः ऐसी प्रार्थनाओंका शीघ्र ही सिद्ध होना असम्भव है। इस विचारको पूर्व श्लोकमें वर्णन करके अब भगवान्‌की परमदुर्लभताकी बात कह रहे हैं। श्रीब्रह्मा समाधिमें आकाशवाणी श्रवण करके देवताओंको कहने लगे, "हे देवताओं! मैंने भगवान्‌के आदेशको श्रवण किया है, तुमलोग कोलाहल बन्दकर उसे श्रवण करो और शीघ्र ही उनकी आज्ञाका पालन करो। (यह कहकर श्रीब्रह्माने श्रीभगवान् द्वारा कहे गये वचनोंको सुनाया।) तुम्हारे निवेदन करनेसे पहले ही पुरुष (श्रीभगवान्) धरणीदेवीके विलापके विषयमें जानते हैं; (यहाँ श्रीक्षीरोदकशायीके लिए कथित 'पुरुष' शब्दसे भगवान् श्रीकृष्णको समझना चाहिए) तुमलोग अपने-अपने अंशसे यदुवंशियोंके पुत्र-पौत्रादि रूपमें जन्म ग्रहण करो तथा जब तक वे परमेश्वर (श्रीकृष्ण) कालशक्ति द्वारा पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए पृथ्वी पर प्रकट होकर विहार करेंगे, तब तक तुमलोग भी (यहाँ पर 'तुमलोग भी' अर्थात् क्षीरोदकशायी विष्णु सहित देवतागण) यदुकुलमें अवस्थान करो। परमपुरुष साक्षात्-भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र ही श्रीवसुदेवके घरमें आविर्भूत होंगे। उनको प्रसन्न करनेके लिए देववधुएँ भी धरणी तल पर जन्म ग्रहण करें। उन्हीं श्रीवासुदेवके अंश सहस्रवदन स्वराट् अनन्तदेव भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए उनसे पहले ही आविर्भूत होंगे। भगवती विष्णुमाया जो जगतको मोहित करती हैं, वे भी भगवान्‌के आदेशसे कार्यसिद्धिके लिए श्रीयशोदाके गर्भसे अंश रूपमें आविर्भूत होंगी।" श्रीभगवान्‌के इस आदेशको श्रीब्रह्मा केवल बुद्धि-वृत्तिकी प्रेरणासे अपने हृदयमें समाधि-अवस्थामें ही अवगत हुए थे। अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंको वशीभूत करके केवल मनकी एकाग्रता द्वारा आकाशवाणी रूपमें इस आदेशको प्राप्त किये थे, किन्तु वक्ताका दर्शन प्राप्त नहीं कर पाये थे। अपने हृदयरूपी आकाशमें आविर्भूत उस दैववाणी रूप परम निगूढ़ आज्ञाको प्रकाश करके श्रीब्रह्माने सभी देवताओंको सुख प्रदान किया था॥११॥

कस्मिन्नपि प्राज्ञवरैर्विविक्ते गर्गादिभिर्यो निभृतं प्रकाश्यते।
नारायणोऽसौ भगवाननेन साम्यं कथञ्चिल्लभते न चापरः॥१२॥
अतः श्रीमधुपुर्यां यो दीर्घविष्णुरिति श्रुतः।
महाहरिर्महाविष्णुर्महानारायणोऽपि च॥१३॥

श्लोकानुवाद—विद्वानोंमें श्रेष्ठ गर्ग आदि मुनियोंने किसी एक निर्जन स्थानमें गुप्तरूपसे उनको प्रकाश करते हुए कहा था कि इन श्रीकृष्णकी तुलना केवल भगवान् श्रीनारायण ही कुछ-कुछ अंशमें कर सकते हैं, किन्तु सर्वांशमें नहीं। अतएव वे श्रीमधुपुरीमें दीर्घविष्णु, महाहरि, महाविष्णु, महानारायण जैसे नामोंसे भी प्रसिद्ध हैं॥१२-१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि साक्षाद्भगवान् श्रीनारायण एवायमित्याशंक्य श्रीगरुड़ादि वैकुण्ठपार्षदेभ्योऽपि तेषां महत्वातिशयं वक्तुं श्रीनारायणादपि माहात्म्यमाह—कस्मिन्निति द्वाभ्याम्। श्रीनन्दादौ व्यक्ततया तस्यानुक्तिरग्रे परमानुग्रहचरमकाष्ठापात्रतया वक्ष्यमानत्वेनाधुना तत्प्रसङ्गानौचित्यात्। विविक्ते एकान्ते; तत्रापि निभृतं शनैः शनैर्यः श्रीदेवकीनन्दनः प्रकाश्यते। कथं? असौ श्रीवैकुण्ठेश्वर एव अनेन श्रीकृष्णेन समतां केनापि प्रकारेण अवतारित्वादिना श्रीमदङ्ग-सौष्ठवादिना वा लभते, न तु सम्यक्तयेत्यर्थः। कथम्भूतः भगवान? *'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य (वीर्यस्य) यशसःश्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना॥'* इत्युक्त-भगशब्दार्थयुक्तोऽपि। अतएव नारं जीवसमुहं अयते कारुण्यभरेण पश्यति, ज्ञानक्रियाशक्ति दानेन पालयति, सत्कर्मणि प्रवर्त्तयति चेति। नारायणोऽपि, न च अपरः श्रीमहापुरुषादिः *'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्'*—(श्रीमद्भा॰ १/३/५) इत्यादिनाऽवतारिवत्तस्य महिम्नि श्रूयमाणेऽपि तादृशपरममधुरगुणरूपलीलाद्य श्रवणात्। यद्वा, अप्यर्थे चकारः, न विद्यते परः श्रेष्ठो यस्मात् स सर्वश्रेष्ठ इत्यर्थः। सोऽपि कथञ्चिदपि साम्यं न लभते परमप्रेमविशेषविस्तारकतादृशरूपगुणलीलामाधुरी-सारतरङ्गाप्रकटनात्। यथोक्तं श्रीनन्दं प्रति गर्गेण दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/८/१९) *'तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायण समो गुणैः। श्रिया कीर्त्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः॥'* इति। अस्यार्थः—'नारायण एव समो यस्य सः सोऽपि कैः श्रीगुणादिभिरेव न तु मधुरमधुरवेशविहारविशेष-विस्तारणादिना। यद्वा; गुणादीनामुत्तरेण सम्बन्धः। गोपानां तादृशां आयः प्रेमसम्पदां वृद्धिर्लाभो वा यद्वा, अयः शुभावहो विधिस्तस्मिन् सुसमाहितः परमोद्युक्तः। स्वेति पाठे आयस्वशब्दाभ्यां योगक्षेमे अभिधीयेते। अतस्तदर्थमत्र रूपगुणलीलाविशेष प्रकटनात् वैकुण्ठे च तदविधानात् अयमेव साक्षाद्भगवान् श्रीनारायणादप्यधिक इति भावः। अतः अस्मादेवोक्ताद्धेतोः यः श्रीदेवकीनन्दनः श्रुतः विश्रुतः प्रसिद्ध इत्यर्थः। अपि शब्दः पुनः प्रयुक्तो, यच्छब्दश्चाप्रसिद्धमपि महानारायणेति साधयतः पूर्वोक्तानुसारात्॥१२-१३॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि क्या ये श्रीदेवकीनन्दन साक्षात् भगवान् श्रीनारायण हैं? इस आशंकाको दूर करनेके लिए तथा श्रीगरुड़ आदि वैकुण्ठ पार्षदोंकी तुलनामें श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंका महत्व वर्णन करनेके अभिप्रायसे प्रथमतः श्रीनारायणसे भी श्रीदेवकीनन्दनके अधिक माहात्म्यको 'कस्मिन्' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। यद्यपि इस 'कस्मिन्' पदसे उन्हीं श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंको ही निर्देश किया गया है, तथापि उनके नामको स्पष्टरूपसे व्यक्त नहीं किया गया है। उन्होंने श्रीकृष्णके परमानुग्रहको चरमसीमा तक प्राप्त किया है, इसलिए उनके माहात्म्यको आगे व्यक्त करेंगे। किन्तु, इस प्रसंगमें उनके माहात्म्यको व्यक्त करना उचित नहीं है, ऐसी विवेचना करके ही केवल 'कस्मिन्' पदसे इंगित मात्र कर रहे हैं।

इस प्रकार विद्वानोंमें श्रेष्ठ गर्ग आदि मुनियोंने किसी निर्जन स्थानमें धीरे-धीरे श्रीदेवकीनन्दनको प्रकाशित किया। किस प्रकारसे? षडैश्वर्यशाली श्रीवैकुण्ठेश्वर इन श्रीकृष्णके साथ किसी-किसी अंशमें समता प्राप्त करते हैं, किन्तु सर्वांशमें नहीं। अवतारी होनेके कारण अथवा अंगसौष्ठव आदि किसी-किसी विषयमें श्रीकृष्णके साथ श्रीनारायणकी कुछ-कुछ समानता है, किन्तु सब प्रकारसे या समस्त विषयोंमें समानता नहीं है। भगवान् श्रीनारायण कैसे हैं? समग्र ऐश्वर्य, धर्म (वीर्य), यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य यह छह गुण 'भग' शब्द-वाच्य हैं और ये छह गुण पूर्णरूपसे श्रीनारायणमें वर्त्तमान हैं, इसलिए उनको षड्-ऐश्वर्यशाली भगवान् कहा जाता है। 'नार' शब्दका अर्थ है जीवसमूह और 'अयन' शब्दका अर्थ है कारुण्यभावसे जो दर्शन करते हैं तथा ज्ञान-क्रिया शक्तिको प्रदान कर पालन और सत्कर्ममें प्रवर्तित करते हैं। अतएव उन्हीं श्रीवैकुण्ठेश्वरका नाम ही श्रीनारायण है तथा ऐसे भगवान् श्रीनारायण भी कभी-कभी श्रीकृष्णका सादृश्य प्राप्त करते हैं। परन्तु इन देवकीनन्दनमें उक्त गुण अद्भुत रूपसे अर्थात् पूर्णतमरूपमें प्रकटित रहते हैं, इसलिए ये ही मूल नारायण या महानारायणके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इसलिए गर्ग मुनिने कहा है, "वैकुण्ठेश्वर श्रीनारायण इन श्रीकृष्णके साथ किसी-किसी अंशमें समता प्राप्त करते हैं।" श्रीनारायणसे श्रेष्ठ अन्य कोई महापुरुष नहीं

हैं, यथा—"जिनकी मूर्त्ति अन्य सभी अवतारोंकी बीज स्वरूप है।" इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा यह जाना जाता है कि श्रीनारायण नाना अवतारोंके मूल अथवा सर्वावतारी हैं, तथापि वे श्रीदेवकीनन्दनके समान परममधुर रूप-गुण-लीला आदिसे युक्त नहीं हैं। अथवा 'न चापरः' पदसे जो सर्वश्रेष्ठ हैं—ऐसा बोध होता है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ श्रीनारायण भी इन श्रीदेवकीनन्दनके साथ किञ्चित् मात्र भी समता प्राप्त नहीं करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण परम प्रेमको विस्तार करनेवाले रूप, गुण और लीला माधुरीकी सार-तरंगको प्रकट कर उस प्रेमका विस्तार कर रहे हैं। यथा, श्रीनन्दमहाराजके प्रति श्रीगर्गाचार्यके वचन हैं—"हे नन्द! तुम्हारा यह पुत्र गुण, श्री, कीर्त्ति और प्रभावमें नारायणके समान है, तुम सावधानीपूर्वक इसका पालन करो।"

तात्पर्य यह है कि श्रीनारायणके समान जिनके गुण, रूप, श्री (ऐश्वर्य) आदि हैं, वही श्रीनारायणके समान हैं। अब उन्हीं श्रीनारायणका कोई-कोई गुण इनके समान है, किन्तु मधुर-मधुर वेश-विहारका विस्तार करनेमें समानता नहीं है। अथवा ये श्रीकृष्ण श्रीनन्द आदि गोपोंके 'आयः' अर्थात् प्रेम सम्पत्तिको बढ़ानेवाले हैं। अथवा 'अयः' शब्दका अर्थ है—कल्याणजनक विधि तथा सुष्ठुरूपमें एकत्र की हुई परमानन्दस्वरूप सम्पत्ति। अथवा 'स्वेति' पाठ होनेसे 'आयः' और 'स्व' शब्द द्वारा योगक्षेम अर्थ होता है। अतएव ये गोपोंके योगक्षेम-स्वरूप हैं, अतएव इनके प्रति एकाग्रचित्त होओ। श्रीगर्गके इन वचनोंके द्वारा यह सूचित होता है कि श्रीकृष्ण गोपोंके योगक्षेमकी व्यवस्था करनेवाले हैं, इसलिए व्रजमें सर्वाधिक मधुर गुण, रूप, लीला आदिको प्रकाशित करते हैं। किन्तु वैकुण्ठमें ऐसी योगक्षेम व्यवस्था नहीं है, अतः ये ही साक्षात् भगवान् हैं; अर्थात् श्रीकृष्णमें श्रीनारायणसे भी अधिक अद्भुत रूपमें गुण विराजमान हैं, इसलिए ये श्रीकृष्ण ही स्वयं-भगवान्के नामसे प्रसिद्ध हैं॥१२-१३॥

यस्य प्रसादः सन्मौनशान्तिभक्त्यादिसाधनैः।
प्राथ्यों नः स स्वयं वोऽभूत् प्रसन्नो वशवर्त्यपि॥१४॥

श्लोकानुवाद—आत्मारामता, मुक्ति, भक्ति और साधुसंग आदि साधनोंके द्वारा जिनकी कृपा प्राप्त नहीं की जा सकती, वही श्रीकृष्ण बिना किसी साधनके स्वयं ही आपलोगोंके प्रति प्रसन्न हैं तथा आपलोगोंके वशीभूत भी हैं॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं जगद्वन्द्येभ्योऽपि महामुनिभ्यो भवन्तः श्रेष्ठा इत्याशयेनाह—यस्येति। सत् उत्कृष्टं यन्मौनं आत्मारामता शान्तिर्मुक्तिः, भक्तिर्नवधा, आदिशब्देन श्रीमूर्त्तिदर्शनवैष्णवसङ्गमादि; तैरव साधनैः यस्य श्रीदेवकीनन्दनस्य प्रसादोऽनुग्रहविशेषो नोऽस्माकं प्रार्थणीय एव, न त्वद्यापि प्राप्तः प्राप्तव्यो वा। सः स्वयमेव साधनैर्विना वो युस्माकं प्रसन्नोऽभूत्; न च केवलं प्रसन्न एव वशवर्ती वश्योऽपि तत्तदाज्ञाप्रति पालनादिना। तथा च सप्तमस्कन्धे श्रीनारदेनैव श्रीयुधिष्ठिरं प्रति (श्रीमद्भा॰ ७/१०/४८-५०, ७/१५/७५-७७) *'यूयं नृलोके बत भूरिभागा, लोकान् पुनाना मुनयोऽभियन्ति। येषां गृहाणावसतीति साक्षाद् गूढ़ं परंब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य कैवल्य निर्वाणसुखानुभूतिः। प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च॥ न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्। मौनेन भक्तयोपशमेन पूजितः, प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥'* इति। अहो महाधन्यः श्रीप्रह्लादः यः किल तादृशभगवद्नुग्रहगोचरः, वयन्त्वधन्या इति मनसि विषीदत इव पाण्डवानालक्ष्य प्रह्लादचरिताख्यानशेषे श्रीनारदः श्लोकत्रयीमेतामब्रवीत्। अस्यास्त्वयमर्थः—येषां युस्माकं गृहान् मुनयोऽभियन्ति सर्वतः समायान्ति तत् कस्य हेतोः? गूढ़ं परं ब्रह्म नराकारं सत्यं प्रत्यक्षं वसतीति तद्दर्शनार्थमित्यर्थः। गूढ़त्वमेव वदन् तस्य परमदुर्लभतामाह—ब्रह्मणा मादृशतातेन महद्भिश्चान्यैः सनकादिभिः। यद्वा, वेदेन ब्रह्मादिभिश्च विमृग्यमेव, न तु साक्षाल्लभ्यं यत्कैवल्य निर्वाणसुखं निरुपाधिपरमानन्दः तदनुभूतिरूप एव। एवं गूढ़त्वादिना परमानिर्वचनीयो यः स एव वो युस्माकं प्रियः सुहृदित्यादिरूपो भवति। तत्र प्रियः प्रीतिकारी; सुहृत् निरुपाधिहितकारी; आत्मा परमप्रीतिविषयः; अर्हणीय इष्ट-देवतात्वेनोपास्यः; विधकृत् आज्ञानुवर्ती; अयमिति तत्रैव सभायामासीनं भगवन्तमङ्गुल्या निर्दिशति। एवं परमदुर्लभ तरोऽपि युष्मद्विषयकानुग्रहविशेषेण सर्वेषामधुना लोचनदृश्यतां गतः इति भूरिभागत्वं युक्तमेवेत्यर्थः। ननु ईदृशं परं ब्रह्म चेत्तर्हि कथं द्वष्टसहस्रस्त्रीषु रतिः, कथं वा धर्माद्याचरणं तस्येत्यत्राह—यस्य रूपम् तत्त्वम्। यद्वा, साक्षाद्दृश्यमानं एकाङ्गसौन्दर्यमपि भवादिभिरपि धिया स्वबुद्ध्यापि वस्तुतया इदमित्थमिति साक्षान्नोपवर्णितं वर्णयितुं न शक्तं, कुतो लीलावैभवं तच्च मुख्येन तदपि मादृशेनेत्यर्थः। स तु युस्माकं स्वयमेव प्रसन्नः; अस्माकन्तु मौनादिसाधनैस्तत्प्रसादः प्रार्थनीय एवेत्याह—मौनेनेति। एष इति पूर्वोक्तोऽयमितिवत्। अयं भावः—न हि

प्रह्लादस्य गृहे परं ब्रह्म वसति; न च तद्दर्शनाय मुनयस्तद्गृहानभियन्ति; न च तस्य परं ब्रह्म मातुलेयादिरूपेन वर्तते; न च स्वयमेव प्रसन्नः; अतो यूयमेव ततोऽपि महामुनिभ्योऽपि भवपद्मजादिभ्योऽपि भक्तेभ्योऽप्यस्मत्तो भूरिभागा इति॥१४॥

भावानुवाद—अब श्रीनारद पाण्डवोंको जगत-वन्दनीय महामुनियोंसे भी अधिक श्रेष्ठ बतलानेके लिए 'यस्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। उत्कृष्ट मौनव्रत अर्थात् आत्मारामता, शान्ति अर्थात् मुक्ति, नवधा भक्ति तथा श्रीविग्रहका दर्शन और वैष्णव-संग आदि साधनोंके द्वारा श्रीदेवकीनन्दनकी विशेष कृपाके लिए केवल प्रार्थना मात्र की जा सकती है, किन्तु वह कृपा प्राप्त नहीं की जा सकती है। वही भगवान् श्रीकृष्ण किसी साधनके बिना स्वयं ही आपके प्रति प्रसन्न हो गये हैं, केवल प्रसन्न ही नहीं, आपके वशीभूत होकर आज्ञापालन आदि कार्य भी कर रहे हैं। किसी समय महाराज श्रीयुधिष्ठिरने कहा था, "अहो! श्रीप्रह्लाद महाराजका कैसा सौभाग्य है! वे महाधन्य हैं! वे भगवान्की विशेष कृपाके पात्र हैं, किन्तु हमलोग अधन्य हैं।" इस प्रकार अपनेको अधन्य मानकर जब महाराज श्रीयुधिष्ठिर दुखित हो गये, तब उनको लक्ष्यकर (श्रीप्रह्लाद चरित्र-उपाख्यानके अन्तिम भागमें) श्रीनारदने कहा, "हे राजेन्द्र! प्रह्लाद भाग्यवान हैं, और हम अभागे हैं—ऐसा मानकर आप दुखित न होवें। मनुष्यलोकमें आपलोग ही अत्यन्त भाग्यवान हैं, क्योंकि लोकपावन मुनिगण निरन्तर आपके घरमें आवागमन करते रहते हैं तथा आपके घरमें साक्षात् परमब्रह्म नराकाररूपमें गुप्तरूपसे वास कर रहे हैं। वे श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म हैं, इसलिए महत् व्यक्तियोंके द्वारा भी कैवल्य-निर्वाणसुखके अनुभवरूपमें वे अन्वेषणीय (खोजे जा रहे) हैं। परन्तु वही परमब्रह्म आपके प्रिय, सुहृद, मामाके पुत्र, आत्मा, पूजनीय इष्टदेव, आज्ञाकारी सेवक और गुरु हैं। अतएव आपके समान कौन भाग्यशाली है? हे राजन्! साक्षात् शिव, ब्रह्मादि देवता भी अपनी-अपनी बुद्धि द्वारा जिनके रूपका निश्चय करके वर्णन नहीं कर पाते, मैं उनका क्या वर्णन कर सकता हूँ? वही भक्ताधीन भगवान् मौनव्रत, इन्द्रिय निग्रह तथा भक्तिके द्वारा ही पूजित होकर प्रसन्न हों।" ऐसा कहकर श्रीनारदने अपनी अंगुली द्वारा उस सभामें विराजमान श्रीभगवान्का निर्देश

किया। इसका भावार्थ यह है कि ऐसे परम दुर्लभ परमब्रह्म आपलोगोंके प्रति अत्यधिक कृपाशील होकर इस समय सभीको दर्शन देते हुए विराजित हैं, अतएव आपलोगोंके भूरिभाग्यके विषयमें मैं अधिक क्या कहूँ? यदि कहो कि हमारे घरमें जगतको पावन करनेवाले मुनियोंके सदैव आवागमन करनेका कारण क्या है? इसके उत्तरमें कह रहे है कि आपके घरमें मनुष्यरूपमें गुप्तरूपसे परमब्रह्म प्रत्यक्ष रूपमें विराजमान हो रहे हैं, इसलिए मुनिगण उनके दर्शनके लिए आवागमन करते हैं।

इस प्रकार भगवान्के गूढ़ (गुप्त) वासकी बात कहकर अब उनकी परम दुर्लभताकी बात कह रहे हैं। ब्रह्मादि देवगण और मेरे जैसे सनकादि महामुनि भी जिनके रूपका निश्चितरूपमें वर्णन नहीं कर पाये, अथवा ब्रह्मादि देवता भी जिनको वेदोंमें ढूढ़ते रहते हैं, किन्तु साक्षात्‌रूपमें प्राप्त न करके उनको कैवल्य-निर्वाणसुखके रूपमें अर्थात् निरुपाधिक परमानन्द-स्वरूप बतलाते हैं। ऐसे गूढ़ तथा परमानिर्वचनीय परमब्रह्म भगवान् ही आपके प्रिय, सुहृद् इत्यादि हैं। यहाँ पर प्रिय कहनेसे प्रीतिकारी, सुहृद् अर्थात् निरुपाधिक हितकारी, आत्मा अर्थात् परम प्रीतिके विषय, पूजनीय अर्थात् इष्टदेवता होनेके कारण उपास्य, विधकृत अर्थात् आज्ञाका पालन करनेवाले हैं।

यदि प्रश्न हो कि ऐसे परमब्रह्म होकर भी उन्होंने सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंका पाणिग्रहण क्यों किया अथवा धर्मादिका आचरण क्यों किया? इसीलिए कह रहे हैं—'यस्य रूपं तत्त्वम्' ब्रह्मा आदि देवतागण भी उनके तत्त्वको निश्चितरूपमें वर्णन नहीं कर पाये, अथवा साक्षात् दृश्यमान इन परमब्रह्मके एक अंगके (आंशिक) सौन्दर्यको ही अपनी-अपनी बुद्धिके बलसे अनुभव करके 'वे ऐसे हैं' 'वे ऐसे हैं' कहकर दिग्दर्शन न्यायके अनुसार किञ्चित् मात्र वर्णन किये हैं। किन्तु साक्षात्‌रूपमें अर्थात् सम्पूर्णरूपमें वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो पाये। अतएव उनका जो महान लीला-वैभव है, वह अनिर्वचनीय है, देवता उसका किस प्रकार अनुभव या वर्णन कर सकते हैं। यद्यपि यहाँ पर मैंने भव (शिव) और पद्मयोनि (ब्रह्मा)के नामका ही मुख्यरूपमें उल्लेख किया है, तथापि हमलोग भी अर्थात्

मैं और सनक आदि मुनिगण भी उस तत्त्वको निश्चितरूपमें वर्णन करनेमें अथवा उनकी लीलाको अनुभव करनेमें असमर्थ हैं। परन्तु ऐसे महामहिमायुक्त परमब्रह्म आपके प्रति स्वयं ही प्रसन्न हैं। यद्यपि हम मौनव्रत आदि साधनोंके द्वारा उनकी कृपाके लिए प्रार्थना करते हैं, तथापि प्राप्त नहीं कर पाते।

सारार्थ यह है कि श्रीप्रह्लादके घरमें इन परमब्रह्मने साक्षात्‌रूपमें निवास नहीं किया और उनके दर्शनके लिए मुनिगण भी वहाँ पर नहीं गये। अथवा परमब्रह्मका श्रीप्रह्लादके साथ पाण्डवोंकी भाँति मामाके पुत्र आदि जैसा कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अतएव आपलोग श्रीप्रह्लादकी तुलनामें अधिक सौभाग्यशाली हैं, इससे अधिक क्या कहूँ? शिव, ब्रह्मा आदि देवतागण तथा मेरे जैसे सनकादि मुनिगण और अन्य भगवद्भक्तोंकी तुलनामें आप ही भूरिभाग्यवान है॥१४॥

अहो शृणुत पूर्वन्तु केषाञ्चिदधिकारिणाम्।
अनेन दीयमानोऽभून्मोक्षः स्थितिरियं सदा॥१५॥

श्लोकानुवाद—अहो! श्रवण करें। पूर्वकालमें यह नियम था कि श्रीभगवान् किसी विशेष-विशेष अधिकारीको ही मोक्ष प्रदान करते थे॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तस्य परमश्रैष्ठ्यस्य प्राप्तौ निदानं तु तदीयासाधारण-महिमभरमाधुरी-प्रकाशनमेवेत्याशयेनाह—अहो! इति दशभिः। आश्चर्यम्, मोक्षादिकारिणां मध्ये केषाञ्चित्; अनेन श्रीदेवकीनन्दनेनैव; स्थितिमर्यादा; कदाचिदप्यत्र व्यभिचारो नास्तीत्यर्थः॥१५॥

भावानुवाद—पाण्डवों द्वारा ऐसी श्रेष्ठताको प्राप्त करनेका मूल कारण है, श्रीकृष्णकी वैसी असाधारण महिमायुक्त माधुरीका प्रकाशन। इसी अभिप्रायसे 'अहो' इत्यादि दस श्लोकोंमें श्रीकृष्णकी महिमा-माधुरीका वर्णन कर रहे हैं। कितने आश्चर्यकी बात है! इन्हीं श्रीदेवकीनन्दनने अपने पूर्व-पूर्व अवतारोंमें मोक्ष प्राप्तिके अधिकारियोंमें भी किसी-किसी विशेष अधिकारीको ही मोक्ष प्रदान किया था। किन्तु अब उस मोक्षको ये सर्वत्र प्रदान कर रहे हैं और इस विषयमें कुछ अनुचित भी नहीं है॥१५॥

कालनेमिर्हिरण्याक्षो हिरण्यकशिपुस्तथा।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्ये घातिताः स्वयम्॥१६॥
मुक्तिं न नीता भक्तिर्न दत्ता कस्मैचिदुत्तमा।
प्रह्लादाय परं दत्ता श्रीनृसिंहावतारतः॥१७॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्ने कालनेमि, हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु जैसे असुरोंका तथा रावण और कुम्भकर्ण जैसे राक्षसोंका स्वयं वध करके भी उन्हें मुक्ति प्रदान नहीं की; अतएव उन्होंने किसीको भी अपनी उत्तमा भक्तिदान नहीं की, इस विषयमें फिर क्या कहा जाए? तथापि उन्होंने केवल श्रीनृसिंह अवतारमें श्रीप्रह्लादको ज्ञानमिश्रा-भक्ति प्रदान की थी॥१६-१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—कालेति सपञ्चाक्षरश्लोकेन। अनेनेत्यनुवर्त्तते एव कालनेमिर्घातितो मारितः। स्वयमेव श्रीवैकुण्ठेश्वररूपेण देवासुरयुद्धे। हिरण्याक्षश्च श्रीवराहरूपेण, हिरण्यकशिपुः श्रीनृसिंहरूपेण, रावणकुम्भकर्णौ श्रीरघुनाथरूपेण, अन्ये च दैत्यराक्षसादयः तत्तत्-सम्बन्धिप्रभृतयः। स्वयमेवानेनैते घातिता अपि मुक्तिं न प्रापिताः। अस्मिन्नेवावतारे तद्दानेनास्यैव महामहिमविशेषबोधनाय। अथ कथं भगवद्भक्तिप्राप्तास्त्वित्याह—भक्तिरिति। उत्तमा विशुद्धा प्रेमलक्षणा वा परं केवलं दत्ता भक्तिः; सा च ज्ञानमिश्रेति बोद्धव्यम्। उत्तरत्र शुद्धामित्युक्तेः। प्राक् प्रह्लादेन स्वयमेव तथोक्तत्वाच्च सप्तम्यांतस्॥१६-१७॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने मुक्ति भी सहजरूपमें प्रदान नहीं की, इसे बतानेके लिए 'कालेति' श्लोक कह रहे हैं। प्रभुने श्रीवैकुण्ठेश्वररूपमें देवासुर-संग्राममें कालनेमिका, श्रीवराहरूपमें हिरण्याक्षका, श्रीनृसिंहदेवरूपमें हिरण्यकशिपु आदि असुरोंका तथा श्रीरघुनाथरूपमें रावण, कुम्भकर्ण जैसे राक्षसोंका स्वयं वध करके भी उन्हें मुक्ति प्रदान नहीं की। अतएव उनके द्वारा किसीको उत्तमा भक्ति प्रदान नहीं की गयी, इस विषयमें फिर अधिक क्या कहा जाए? परन्तु श्रीकृष्ण अवतारमें उसी मुक्तिको प्रदान करनेके कारण उनकी अत्यधिक महिमाको सूचित करनेके लिए ही ऐसा उल्लेख हुआ है। अर्थात् पूर्वकालमें जब मुक्ति ही दान नहीं की, तब विशुद्ध प्रेमाभक्तिका दान किस प्रकार करेंगे? किन्तु केवल श्रीनृसिंह अवतारमें ही उन्होंने श्रीप्रह्लादको ज्ञानमिश्रा-भक्ति प्रदान की थी। श्रीप्रह्लादकी भक्ति शुद्धभक्ति नहीं है, ऐसा इससे पूर्व स्वयं श्रीप्रह्लाद द्वारा ही कहा गया है॥१६-१७॥

हनूमान जाम्बुवान् श्रीमान् सुग्रीवोऽथ विभीषणः।
गुहो दशरथोऽप्येते नूनं कतिपये जनाः॥१८॥

श्लोकानुवाद—श्रीरामावतारमें श्रीमान् हनुमान, जाम्बुवान, सुग्रीव, विभीषण, गुहक और राजा दशरथ जैसे कुछ व्यक्तियोंने इनसे शुद्धभक्ति प्राप्त की थी॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—हनूमदादयः कतिपये जना जीवाः सेवका वा शुद्धां ज्ञानकर्माद्य-संभिन्नां भक्तिं तु रघुनाथावतारे अस्माच्छ्रीदेवकीनन्दनाल्लेभिरे इत्युत्तरेणान्वयः। श्रीमान् परमसौभाग्यसम्पद्युक्तः; अस्य च सर्वत्रैवानुषङ्गः। नूनं निश्चये वितर्के वा, लक्षणेन तेषु शुद्धभक्तेरनुमानात्। यद्वा, नूनमित्यस्य दशरथोऽपीत्यनेनैव सम्बन्धः। ततश्च ब्रह्मशापादेव पुत्रविच्छेदशोकेन मरणाच्छुद्धभक्तौ संशये जातेऽपि तस्य पुत्रस्नेहेन शुद्धभक्तिसम्भावनया वितर्कः। अतएवात्रापि शब्दोऽपि॥१८॥

भावानुवाद—श्रीरामचन्द्रजीके अवतारमें श्रीहनुमान जैसे कुछ सेवकों तथा कुछ जीवोंने इन्हीं श्रीदेवकीनन्दनसे शुद्धभक्ति अर्थात् ज्ञान-कर्म आदिसे अनावृत भक्ति प्राप्त की थी। 'श्रीमान्' कहनेसे परमसौभाग्यरूपी सम्पत्तिको ही समझना चाहिए तथा ऐसे सभी लोग परम सौभाग्यसे युक्त हैं। यहाँ पर 'नूनं' शब्द निश्चयार्थ अथवा वितर्करूपमें प्रयोग किया गया है, अर्थात् जिन लक्षणोंके द्वारा उनकी शुद्धभक्तिका अनुमान किया जाता है वह लक्षण। अथवा इस 'नूनं' शब्दका श्रीदशरथसे भी सम्बन्ध है, जैसे ब्रह्म-शापके कारण पुत्रविच्छेदके शोकमें उनकी मत्यु होनेसे उनकी शुद्धभक्तिके सम्बन्धमें संशय उत्पन्न होता है। दूसरी ओर श्रीरामचन्द्रजीके प्रति उनके पुत्रस्नेहको देखकर शुद्धभक्तिकी सम्भावना होती है, यही वितर्क है। इसीलिए मूलश्लोकमें 'दशरथ' शब्दके बाद 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है॥१८॥

रघुनाथावतारेऽस्माच्छुद्धां भक्तिं तु लेभिरे।
विशुद्धस्य च कस्यापि प्रेम्णो वार्त्तापि न स्थिता॥१९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रीरामावतारमें कुछ महात्माओंने शुद्धभक्ति तो प्राप्त की थी, किन्तु उस अवतारमें विशुद्ध प्रेम प्राप्तिकी बात नहीं सुनी जाती है॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—विशुद्धस्य स्वारसिकस्य, न तु गुणरूपाद्यपेक्षकस्येतार्थः। कस्यापीति पतिपुत्रादिभावेन जायमानेषु नानाविधेषु विशुद्धेषु प्रेमसु मध्ये कस्यचित् एकतरस्यापीत्यर्थः। यद्वा, अनिर्वाच्यस्य श्रीगोपीनामिव श्रीकृष्णप्रेम-विशेषस्येत्यर्थः। वार्त्तापि तदानीं नासीत् कुतश्च प्राप्तिरित्यर्थः॥१९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीदशरथके विशुद्ध स्वारसिक भक्त होने पर भी उनकी भक्ति श्रीरामचन्द्रके गुण-रूप आदि पर निर्भर नहीं करती, क्योंकि पति-पुत्र आदि भावसे उत्पन्न नाना-प्रकारके विशुद्ध प्रेममें से किसी एक भावका विचार भी उस समय प्रचलित नहीं था। अथवा गोपियोंके समान विशुद्ध अनिर्वचनीय श्रीकृष्णप्रेमकी वार्त्ता भी उस समय किसीके कर्णगोचर नहीं हुई थी। अतएव वैसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति कैसे सम्भव होती?॥१९॥

इदानीं भवदीयेन मातुलेयेन नो कृताः।
मुक्ता भक्तास्तथा शुद्धप्रेमसम्पूरिताः कति॥२०॥

श्लोकानुवाद—किन्तु क्या इस समय आपके मातुलेय (मामाके पुत्र) श्रीकृष्णने अनेक व्यक्तियोंको मुक्ति, भक्ति और शुद्ध प्रेमरस प्रदान नहीं किया है?॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कति मुक्ताः, कति भक्ताः, कति शुद्धप्रेमरससम्पूरिताश्च न कृता, अपि तु बहव एव ते ते कृता इत्यर्थः। भवदीयमातुलेयेनेति तादृशमहिमवतः श्रीकृष्णस्य तादृक् सम्बन्धेन तेषामपि तादृङ्माहात्म्यं सूचयति॥२०॥

भावानुवाद—क्या श्रीकृष्णने बहुतसे व्यक्तियोंको मुक्ति, भक्ति तथा शुद्ध प्रेमरस प्रदान नहीं किया है? अपितु अनेक व्यक्ति मुक्ति, भक्ति तथा प्रेमरसमें निमज्जित होकर कृतार्थ हुए हैं। मूल श्लोकके 'भवदीयेन मातुलेयेन' अर्थात् 'आपके मामाके पुत्र' पदके द्वारा वैसे महिमायुक्त श्रीकृष्णके साथ सम्बन्धवशतः आप लोगोंका भी वैसा ही माहात्म्य सूचित हो रहा है॥२०॥

आत्मना मारिता ये च घातिता वार्जुनादिभिः।
नरकार्हाश्च दैतेयास्तन्महिम्नामृतं गताः॥२१॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने स्वयं जिनका वध किया है अथवा जिनको अर्जुन आदि द्वारा वध करवाया है, वे सब दैत्य नरक भोगनेके योग्य थे, किन्तु उन्होंने श्रीकृष्णकी महिमासे मुक्ति प्राप्त की है॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ प्राप्तमोक्षान्निर्दिशति—आत्मनेति। ये दैतेयाः पुतनादयः; वेत्युक्त-समुच्चये; ये च अर्जुन भीमादिभिः कृत्वा घातिताः कर्णदुर्योधनादयः, तेऽपि दैत्यांशप्रवेशाद्दैतेया एव। अप्यर्थे चकारः। नरकार्हा नरकयोग्या अपि विष्णुवैष्णवद्रोहात्। तस्य भवदीय मातुलेयस्य महिम्नैव अमृतं मुक्तिं प्राप्ताः। तथा च द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ २/७/३४-३५) *'ये च प्रलम्बखरदर्दूरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुज-पौण्ड्रकाद्याः । अन्ये च साल्वकपिबल्वल-दन्तवक्र-सप्तोक्ष-सम्बरविदूरथ-रुक्मिमुख्याः॥ ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः, काम्बोजमत्स्यकुरुसृञ्जयकैकयाद्याः। यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥'* इति। एतयोरर्थः—ये च प्रलम्बादयस्ते सर्वे हरिणा हेतुभूतेन तदीयं तेषां योग्यं निलयं नितरां लयं मोक्षम् अदर्शनं दर्शनाविषयं पुनर्दर्शनरहितं वा परमाभावरूपत्वात्। अलमत्यर्थम्; यद्वा, अदर्शनेषु अदृश्येषु मध्ये मलरूपं परमहेयमित्यर्थः, भक्तिरसविघातकत्वात्। यास्यन्ति प्राप्स्यन्तीत्युत्तरेणान्वयः। दर्दूर इव दुर्दूरो वकः; कपिर्द्विविदः। ननु खरकपिबल्वल-प्रमुखाः बलभद्रेण निहताः; काम्बोजादयश्च भीमार्जुनादिभिः; शम्बरः प्रद्युम्नेन, यवनो मुचुकुन्देन न तु हरिणा। तत्राह—बलपार्थभीमेत्यादयः व्याजाह्वया कपटनामानि यस्य तेनेति। यदि च तदीय निलयं श्रीवैकुण्ठमिति व्याख्या तदा मुक्ता इत्यस्य वैकुण्ठनयनेन संसारबन्धछेदनान्मुक्ताः कृताः मोचिता इत्यर्थो द्रष्टव्यः॥२१॥

भावानुवाद—'आत्मनेति' श्लोक द्वारा सर्वप्रथम मोक्षको प्राप्त करनेवाले दैत्योंके नाम बतला रहे हैं। इस श्रीकृष्णावतारमें उन्होंने पूतना आदि जिन दैत्योंका स्वयं वध किया है, अथवा जिनको भीम-अर्जुन आदि द्वारा मरवाया है, वे सभी नरक भोगनेके ही योग्य थे, तथापि आपके मामाके पुत्र श्रीकृष्णकी कृपासे उन सबने मुक्ति प्राप्त की है। यहाँ पर कर्ण-दुर्योधन आदि क्षत्रिय राजाओंको दैत्य कहा गया है, क्योंकि उनके शरीरमें दैत्योंके अंश होनेके कारण वे श्रीविष्णु और वैष्णवोंके प्रति द्रोहाचरण करते थे, इसलिए उनकी गिनती भी दैत्योंमें की गयी है।

द्वितीय-स्कन्धमें कहा गया है—"प्रलम्बासुर, खर, बक, केशी, अरिष्ट, मल्लगण, कुवलयपीड़, कालयवन, कपि, पौण्ड्रक, शाल्व,

नरक, बल्वल, दन्तवक्र, सप्तोक्ष, सम्बर, विदुरथ और रुक्मी जैसे प्रमुख योद्धागण तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, सृञ्जय और केकय आदि जिस किसीने धनुष आदि अस्त्रोंको धारण करके युद्धमें अत्यधिक अहंकार प्रकाश किया था, वे सभी श्रीकृष्णके हाथसे निहत होकर मुक्त हुए थे। सचमुच श्रीकृष्णका यह कार्य अलौकिक है। यद्यपि इन दैत्योंमें कोई-कोई तो स्वयं श्रीकृष्णके हाथोंसे निहत हुए थे; खर, कपि, बल्वल आदि दैत्य श्रीबलरामके हाथों निहत हुए थे; काम्बोज आदि दैत्य भीम और अर्जुन द्वारा निहत हुए थे; प्रद्युम्नके द्वारा सम्बर निहत हुआ था; मुचुकुन्दके द्वारा कालयवन निहत हुआ था, तथापि वे सभी श्रीकृष्णके हाथोंसे ही निहत हुए थे—ऐसा समझना होगा, क्योंकि श्रीबलराम, भीम, अर्जुन आदि श्रीकृष्णके ही कपट (दूसरे) नाम हैं।

अतएव ये सभी मारे गये दैत्य पुनर्दर्शनसे रहित सम्पूर्ण मोक्षपदको प्राप्त हुए। अथवा 'यास्यन्तदर्शनमलं' पदका अन्य प्रकारसे भी अर्थ हो सकता हैं; वे सब दैत्य पुनर्दर्शनसे रहित या परम अभावरूप अर्थात् सम्पूर्ण लयरूप मोक्षपदको प्राप्त हुए, अर्थात् पुनः उन्हें किसी देहकी प्राप्ति नहीं हुई थी। अथवा अदर्शनमल-स्वरूप मोक्षको प्राप्त हुए थे, अदर्शनरूप लय अथवा मोक्ष भक्तिरसका विघातक होनेके कारण मलस्वरूप है। यद्यपि 'तदीय निलय' कहनेसे श्रीवैकुण्ठ पदका ही बोध होता है, तथापि (मूल श्लोकमें) 'मुक्ति' शब्द होनेसे वैकुण्ठमें लाये जाने पर भी संसार-बन्धनसे मोचनरूप मुक्ति ही समझना होगा। अतएव यहाँ पर मुक्ति कहनेसे दैत्योंके संसार-बन्धनरूप मोचनको ही समझना चाहिए॥२१॥

तपोजपज्ञानपरा मुनयो येऽर्थसाधकाः।
विश्वामित्रो गौतमश्च वशिष्ठोऽपि तथापरे॥२२॥
तं कुरुक्षेत्रयात्रायां गत्वा कृष्णप्रसादतः।
भक्तिं तं प्रार्थ्यतां प्राप्याभवंस्तद्भक्तितत्पराः॥२३॥

श्लोकानुवाद—तपनिष्ठ विश्वामित्र, जपनिष्ठ गौतम, ज्ञाननिष्ठ वशिष्ठ तथा अन्य-अन्य मुनियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके

साधक होकर भी कुरुक्षेत्र यात्राके समय श्रीकृष्णसे भक्तिकी प्रार्थना की थी तथा श्रीकृष्णकी कृपासे भक्ति प्राप्त करके अन्तमें वे भक्तिमें रत हुए थे॥२२-२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं प्राप्तभक्तिकानाह—तप इति द्वाभ्याम्। विश्वामित्रादयस्त्रयः क्रमेण तप आदि परा अपि। अतएव अर्थानां धर्मार्थकाममोक्षाणां साधका अपि। तं कृष्णं, तां भक्तिम्। तथा च तेषां प्रार्थनं दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/८४/२६)—*'तस्याद्य! ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष, तीर्थास्पदं हृदिकृतं सुविपक्वयोगैः। उत्सिक्त-भक्त्यपहताशयजीवकोषा,-श्चापुर्भवद्गतिमथानुगृहाण भक्तान्॥'* इति। व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामीपादैः—'अघौघस्य मर्षं नाशकरं यद्गङ्गाख्यं तीर्थं तस्यास्पदमाश्रयम्। सुविपक्वयोगैरपि हृदि कृतं केवलं न तु दृष्टम्। तस्य तेऽङ्घ्रिं ददृशिम दृष्टवन्तो वयं बहुभिः पुण्यैः। अतोऽस्माननुगृहाण, भक्तान् कृत्वानुग्रहं कुर्वित्यर्थः। ननु किं भक्तया यथा पूर्वं तप एव तप्यतां तत्राहुः—उत्सिक्ता उद्रिक्ता या भक्तिस्तयाऽपहत आशयलक्षणो जीवकोषो येषां त एव पूर्वं भगवद्गतिं परमपदमापुर्नान्ये' इति॥२२-२३॥

भावानुवाद—अब 'तपेति' दो श्लोकोंमें श्रीकृष्णके द्वारा भक्तिको प्राप्त करनेवाले मुनियोंकी बात कह रहे हैं। तपनिष्ठ विश्वामित्र, जपनिष्ठ गौतम, ज्ञाननिष्ठ वशिष्ठ तथा अन्य-अन्य मुनियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साधक होकर भी कुरुक्षेत्रमें उपस्थित होकर श्रीकृष्णसे सर्वप्रथम भक्तिकी प्रार्थना की थी, तथा उनकी कृपासे अपनी प्रार्थित भक्तिको प्राप्त करके अन्तमें वे भक्तिमें रत हुए थे।

इस विषयमें दशम-स्कन्धमें कहा गया है, "हे श्रीकृष्ण! आज हमने आपके चरणकमलोंका दर्शन किया है। ये श्रीचरणकमल सब प्रकारके पापोंको ध्वंस करनेवाले हैं, गंगा तीर्थके जनक हैं तथा योगमें सिद्धि प्राप्त करनेवाले योगियोंके द्वारा भी हृदयमें ध्यान किये जाते हैं। अतः आज हमने साक्षात्‌रूपमें उन श्रीचरणोंके दर्शन किये हैं, अतएव भक्ति प्रदान करके हमारे प्रति अनुग्रह कीजिए। तत्त्वज्ञानसे युक्त भक्ति द्वारा जिनका वासनारूप जीव-कोष ध्वंस हो गया है, वे ही आपके श्रीचरणकमलोंकी भक्ति करते हैं।" इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधरस्वामीने कहा है—"सुपक्व अर्थात् परमसिद्धिको प्राप्त किये हुए योगी जिन श्रीचरणकमलोंका अपने हृदयमें ध्यान करते हैं, किन्तु साक्षात् दर्शन प्राप्त नहीं कर पाते; जो श्रीचरणकमल समस्त पापोंको

ध्वंस करनेवाले हैं; गंगा नामक तीर्थके आश्रयस्वरूप हैं; हे प्रभो! आपके उन्हीं श्रीचरणकमलोंका आज हमने अनेक पुण्योंके फलस्वरूप साक्षात्‌रूपमें दर्शन किया है। अब आप हमें अपना भक्त बनाकर अपनी कृपा प्रकाश कीजिए।"

यदि कहो कि भक्तिकी क्या आवश्यकता है, तुम पहलेकी तरह ही जप-तप आदि करो। उसके लिए ही मुनिगण कह रहे हैं—'हे प्रभो! आपके श्रीचरणकमलोंके दर्शनसे हमारे हृदयमें भक्तिका उदय हुआ है और उसके कारण वासनारूप हमारे जीवकोषका ध्वंस हुआ है। अतएव हम आपके श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, कोई दूसरी गति नहीं चाहते हैं'॥२२-२३॥

स्थावराश्च तमोयोनिगतास्तरुलतादयः।
शुद्धसात्विकभावाप्त्या तत्प्रेमरसवर्षिणः॥२४॥

श्लोकानुवाद—तामसयोनिको प्राप्त किये हुए तरु-लता आदि स्थावर प्राणी भी श्रीकृष्णकी कृपासे शुद्ध सात्विक भावको प्राप्तकर सदा प्रेमरसकी धाराका वर्षण कर रहे हैं॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना प्रेमसम्पूरितानाह—स्थावरा इति। अप्यर्थः चकारः। तमोयोनिः स्थावरत्वं बहिरिन्द्रियशक्त्यसद्भावात् तां प्राप्ता अपि वृन्दावनादौ स्थितास्तरुलतादयः। यद्यपि तत्रत्यास्तामसा न भवन्ति, तथापि साधारणस्थावर-तुल्यतादृष्ट्या तथोक्तमिति ज्ञेयम्। यद्वा, हस्तिनापुरादिवर्तिनः यथोक्तं श्रीभगवन्तं प्रति श्रीकुन्त्या प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/८/४०)—*'इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधि-वीरुधः। वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षिताः॥'* इति। अत्र च भवता परमानुकम्पया दृष्टाः सन्तः एधन्ते परमप्रेमसम्पत्प्राप्त्या वर्धन्ते सर्वतोऽधिकतरा भवन्तीति वदन्त्या स एवार्थोऽभिप्रेतः। शुद्धसात्विकानां परमवैष्णवानां यो भावस्तत्ता। यद्वा, शुद्धसात्त्विकः रजस्तमोऽसंस्पृष्टो यो भावः प्रेमानुभावरूपस्तम्भादिस्तस्य प्राप्तया। तस्य भगवतः प्रेमरसवर्षिणः सततमधुधारास्रावव्याजेन प्रेमसम्पत्तिलक्षणाश्रुधारा-वृष्टियुक्ता अभवन्नित्यर्थः॥२४॥

भावानुवाद—अब 'स्थावरा' इति श्लोक द्वारा प्रेमसे परिपूर्ण स्थावर आदि प्राणियोंकी महिमा कह रहे हैं। तामस योनिको प्राप्त तरु-लता आदि प्राणी साधारणतः बाह्य इन्द्रियोंकी क्रियाशक्तिके अभावमें जड़

रहते हैं, तथापि श्रीवृन्दावन आदि धामोंमें स्थित तरु-लता बाह्य इन्द्रियोंकी क्रियावृत्तिके अभावमें स्थावर जातिके होने पर भी, श्रीकृष्णकी कृपासे सात्त्विक भावको प्राप्त हुए हैं। यद्यपि श्रीवृन्दावनके तरु-लता आदि तामस योनिमें नहीं है, तथापि साधारण स्थावर जातिके साथ तुलना करनेके कारण ऐसा वर्णन कर रहे हैं। अथवा हस्तिनापुर स्थित तरु-लता आदिके सम्बन्धमें ऐसा समझना चाहिए। यथा, प्रथम-स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति श्रीकुन्तीदेवीकी उक्ति है—"हे श्रीकृष्ण! क्योंकि तुम यहाँ पर विराजमान हो, इसलिए यह देश भी समृद्धशाली हो रहा है और यहाँकी औषधि और तरु-लताएँ आदि समय पर सुपक्व फल उत्पन्न कर रही हैं। अर्थात् आपकी कृपादृष्टिसे ये सब पर्वत, वन, सरोवर इत्यादि अत्यधिक वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं।" उद्धृत श्लोकके 'तव वीक्षिताः' पदका अर्थ है—आपकी परम कृपापूर्ण दृष्टिसे ये सब समृद्धिशाली हो रहे हैं, तथा 'एधन्ते' पदका अर्थ है—आपकी प्रेम-सम्पत्तिको प्राप्त करके सर्वाधिक वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं, यही इस श्लोकका अभिप्रेत अर्थ है। अथवा वास्तवमें तरु-लता आदि स्थावर होने पर भी परम वैष्णवोंके शुद्ध-सात्त्विक भावको प्राप्त कर चुके हैं। यहाँ पर 'शुद्ध-सात्त्विक' कहनेसे रजोगुण और तमोगुणसे रहित जो शुद्धभाव है, प्रेमके उसी अनुभावरूप स्तम्भ आदि सात्त्विक भावोंको प्राप्त किया है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार वे तरु-लतादि भी श्रीभगवान्के प्रेमरस-धाराके वर्षणसे अर्थात् निरन्तर मधु-धाराके वर्षणके बहाने प्रेम-सम्पत्ति लक्षण रूप अश्रुधाराका वर्षण कर रहे हैं॥२४॥

हे कृष्णभ्रातरस्तस्य किं वर्णोऽपूर्वदर्शितः।
रूप-सौन्दर्य-लावण्य-माधुर्याश्चर्यताभरः ॥२५ ॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीकृष्णके भाईयों! श्रीकृष्णके रूप, सौन्दर्य, लावण्य और माधुर्य आदि आश्चर्यपूर्ण महिमाओंका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ, वे सभी तो अपूर्व हैं॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं मुक्त्यादिदानेन माहात्म्यभरमुक्त्वाधुना स्वत एव तत्तद्धेतुत्वेन तदीयरूपादि-महिमानमाह—हे कृष्णेति द्वाभ्याम्। अपूर्वदर्शितः पूर्वं

वैकुण्ठेऽवतारेषु-चाप्रकटीकृतः। रूपमाकारः, सौन्दर्यमवयवसौष्ठवम्, लावण्यं कान्तिविशेषः, माधुर्यं स्मितभ्रूनर्त्तनकटाक्षादि; तेषामाश्चर्यता चित्तचमत्कारकारित्वं तस्या भरोऽतिशयः किं वर्ण्यः अपितु वर्णयितुमशक्य इत्यर्थः॥२५॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके द्वारा मुक्ति, भक्ति और प्रेम आदि दानके माहात्म्यका कीर्त्तन करके अब उनकी समस्त महिमाओंका कारण अर्थात् स्वतःस्फूर्त उनके रूप आदिकी महिमाका वर्णन 'हे कृष्णोति' दो श्लोकोंके द्वारा कर रहे हैं। हे श्रीकृष्णके भ्रातृगण! श्रीकृष्णका रूप आदि सब कुछ ही अपूर्व है, पहले कभी भी अर्थात् वैकुण्ठेश्वर श्रीनारायणके अवतारमें भी ऐसा सब कुछ प्रकटित नहीं हुआ है। रूप अर्थात् उनका आकार; सौन्दर्य अर्थात् उनके अंगोंकी सुन्दरता और सुडौलता; लावण्य अर्थात् कान्तिविशेष; माधुर्य अर्थात् स्मित हास्य, भ्रूनर्त्तन अर्थात् कटाक्ष आदि। इन गुणोंकी आश्चर्यपूर्ण-महिमा अर्थात् अत्यन्त चित्त-चमत्कारिताका वर्णन कहाँ तक करूँ; अपितु मैं वर्णन करनेमें भी असमर्थ हूँ॥२५॥

अपूर्वत्वेन तस्यैव यो विस्मयविधायकः।
तथा लीलागुणाः प्रेमा महिमा केलिभूरपि॥२६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णका अपूर्व रूप आदि उन्हींको विस्मित करनेवाला है; उनकी लीला, गुण, प्रेम, महिमा तथा लीलाभूमि भी उसी प्रकार अपूर्व हैं॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुतस्तस्य श्रीकृष्णस्यापि यो रूपसौन्दर्याद्याश्चर्यताभरः विस्मयं विदधातीति तथा सः। केन हेतुना; अपूर्वत्वेन परमाश्चर्यतया। यद्वा, पूर्ववृत्तत्वेन पूर्वं कदापीदृशो नासीत्, कथमधुना जात इत्येतेनेत्यर्थः। यथा रूपादि तथा तादृश्य एव लीलादयः; तत्र लीला विचित्रचरितानि, गुणाः कारुण्यादयः, प्रेमा भक्तविषयकः, भक्तानां वा तद्विषयकः। महिमा दीनवात्सल्यादिर्भक्तजनाधीनत्वादिर्वा, केलिभूमिः श्रीवृन्दावनादि; कृष्णभ्रातर इति तत्तत्त्वं भवन्त एव सम्यग् विदन्त्यनुभवन्ति चेति यूयमेव भूरिभागा इति भावः॥२६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके रूप और सौन्दर्य आदि उन्हींको विस्मित कर देते हैं। क्यों? क्योंकि, उनका ऐसा परम आश्चर्यमय रूप-सौन्दर्य आदि पहले कभी भी प्रकटित नहीं हुआ। उसी प्रकार उनकी लीला,

उनका विचित्र चरित्र, कारुण्य आदि गुण, भक्तोंके प्रति उनका प्रेम तथा उनके प्रति भक्तोंका प्रेम, दीनजनोंके प्रति उनके वात्सल्यकी महिमा अथवा भक्तोंके अधीन होनेकी महिमा तथा उनकी लीलाभूमि श्रीवृन्दावन आदि भी वैसी महिमायुक्त हैं। 'श्रीकृष्णभ्रातृगण' कहनेका तात्पर्य यह है कि आप उनके भाई होनेके नाते उनकी वैसी महिमासे तत्त्वतः अवगत हैं तथा अनुभवी भी हैं। अतएव आपलोग ही भूरिभाग्यवन्त अर्थात् अत्यन्त भाग्यशाली हैं॥२६॥

मन्येऽत्रावतरिष्यन्न स्वयमेवमसौ यदि।
तदास्य भगवत्तैवाभविष्यत् प्रकटा न हि॥२७॥

श्लोकानुवाद—मैं ऐसा मानता हूँ कि यदि श्रीकृष्ण स्वयं इस भूमण्डलमें अवतीर्ण न हुए होते, तो उनकी परम भगवत्ता अर्थात् परम भगवान् होनेकी महिमा भी जगतमें प्रकाशित नहीं होती॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु यद्येते पूर्वं नासन्, तदा नित्यत्वहानिः स्यात्। यदि वासन् तदा पूर्वतोऽस्य श्रैष्ठ्यं न सिध्येदित्याशंक्याह—मन्य इति द्वाभ्याम् अहमेवं मन्ये। अत्र भूतले श्रीमथुरायां वा असौ श्रीकृष्णः स्वयं यदि नावतरिष्यत्; अप्यर्थे एव-शब्दः, भगवता परमेश्वरत्वमपि प्रकटा व्यक्ता ना भविष्यत्, किं पुनः परमाश्चर्यरूपादिभरस्तादृशलीलादयश्च, साक्षात् सर्वैरननुभूयमानत्वात्। हि निश्चितम्; यद्वा, तादृशरूपादिकमेव भगवत्ता सा प्रकटा नाभविष्यदेव। अप्रकटत्वेन तेनासन्नेवेति मन्य इति भावः॥२७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि पहले कभी भी ऐसा रूप आदि प्रकटित नहीं हुआ, तो फिर अब कैसे प्रकट हुआ है? यदि उनके रूप आदि अपूर्व हैं, तो फिर उनकी नित्यता कहाँ रही; और यदि कहा जाए कि वह पहले भी था, तो फिर उनके अपूर्व होनेकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकारके प्रश्नकी आशंका करके 'मन्ये' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। मेरा मन्तव्य यह है कि श्रीकृष्ण यदि स्वयं इस भूमण्डलके श्रीमथुराधाममें अवतीर्ण न हुए होते, तब उनके परम आश्चर्यमय रूप आदिकी तो बात ही क्या, उनकी परमेश्वरता भी अभिव्यक्त नहीं होती। निश्चयके अर्थमें 'हि' अव्ययका प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि उनका परम ऐश्वर्य तथा रूप, लीला और

धाम आदि नित्य हैं अर्थात् प्रपञ्चातीत गोलोकमें नित्य वर्त्तमान हैं, तथापि भूमण्डलमें अवतरण नहीं कराने पर वह कभी भी प्रकटित नहीं होते अथवा जगतका कोई भी जीव उनको अनुभव नहीं कर पाता। अतः उनके वैसे रूप-लीलादिके कारण जगतमें उनकी भगवत्ता अपूर्व ही थी, किन्तु इस समय जगतमें प्रकटित होनेसे सभी उसको अनुभव कर रहे हैं। अतएव मेरा मन्तव्य यह है कि जगतमें यदि ऐसे रूप आदि वैभवसे युक्त उनकी भगवत्ता प्रदर्शित नहीं होती, तो फिर वह भगवत्ता नित्य होने पर भी जगतमें अप्रकट ही रहती। अतएव मैं निश्चय ही भगवत्ताके उस स्वरूपको 'न होनेमें' ही गणना करता अर्थात् 'नहीं है' कहकर ही मानता॥२७॥

इदानीं परमां काष्ठां प्राप्ताभूत् सर्वतः स्फुटा।
विशिष्टमहिमश्रेणी-माधुरीचित्रताचिता ॥२८॥

श्लोकानुवाद—इस समय श्रीकृष्णकी विशिष्ट महिमाओंकी बहुविध माधुरी अनेक प्रकारसे परिव्याप्त और चरमसीमाको प्राप्त हुई है, अतः वही भगवत्ता सब प्रकारसे सर्वत्र परिस्फुट हो रही है॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीमत्रावतरणे तु सर्वतः सर्वथा सर्वत्र स्फुटाभूत्। तत्रापि परमां काष्ठां निष्ठां प्राप्ता सती। तत्प्रकारमेवाह—विशिष्टा उत्तमा या महिमश्रेण्यस्तासां माधुरी तस्याश्चित्रता वैचित्री बहुविधत्वं तया आचिता व्याप्ता सती। एवं श्रीकृष्णस्यावतारित्वमवतारत्वमपि प्रसक्तम्। अतएव तत्तत्परमैश्वर्यादिकं परममाधुर्यादिकमपि युगपदेव तस्मिन् सुसङ्गच्छत इति भावः॥२८॥

भावानुवाद—अभी उनके इस अवतारमें वैसे रूप आदिसे युक्त उनकी भगवत्ता सब प्रकारसे सभी स्थानों पर परिस्फुट हुई है तथा उनका माधुर्य आदि भी चरमसीमाको प्राप्त हो रहा है। किस प्रकारसे? उनकी विशिष्ट और उत्तम महिमाएँ अनेक प्रकारकी माधुरीकी वैचित्री द्वारा व्याप्त होकर चरमसीमाको प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके अवतारी होने पर भी उनके अवतारकी बात ही उपलब्ध हो रही है। अतएव श्रीकृष्णके अवतारी होनेके कारण उनमें वैसे परम ऐश्वर्य और परम माधुर्य आदिका विद्यमान रहना सुसंगत ही हुआ है॥२८॥

कृष्णस्य कारुण्यकथास्तु दूरे तस्य प्रशस्यो वत निग्रहोऽपि।
कंसादयः कालियपूतनाद्या बल्यादयः प्रागपि साक्षिणोऽत्र॥२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी कृपाकी बात तो दूर रहे, उनका निग्रह (दण्ड) भी प्रशंसनीय है। इसके साक्षी इस श्रीकृष्णावतारमें कंस, कालिय और पूतना आदि और पूर्व अवतारोंमें बलि जैसे असुरगण हैं॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं श्रीभगवतोऽनुग्रहादिगुणमहिमानं संक्षेपेणोक्त्वा निग्रह-व्याजमाहात्म्य-विशेषमाह—कृष्णस्येति। वत हर्षे, तस्य कृष्णस्य निग्रहोऽपि प्रशस्यः परमस्तुत्यः। अत्र निग्रहप्रशंसने कंसादयः साक्षिणः प्रमाणम्। तथाहि जीवने कंसस्य श्रीमथुराधिपत्यम्। तथा *'आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्। चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/२/२४) इत्येष महायोगिदुर्लभो भावोऽजनि। मरणे च मञ्चान्निपातितस्य तस्योपर्येव पतनाद् वक्षसि पादपद्माश्लेषः साक्षाच्छ्रीमुखदर्शनम्। विश्रान्तौ तद्देहस्य यदुकुलगोपवर्ग-परिवृत-श्रीभगवत्-साक्षाद्राजयोग्यदाहादिसंस्कारः। परम बन्धुवत् तत्पत्नीनामाश्वासनं तत्पित्रे राज्य-समर्पणमित्यादि। आदिशब्देन कंससदृशाश्चाणूरादयो मल्ला जरासन्धादयश्च राजानः शिशुपाल-दन्तवक्राभ्यां व्यतिरिक्ताः ग्राह्याः। तयोर्ब्राह्मणापराधिनोरपि पूर्वभक्तत्वापेक्षया कृपायोग्यत्वात्। तत्र मल्लादीनां कंसाज्ञादिना भगवता सह मल्लयुद्धार्थं कंसवद्भावविशेषो नूनं जात एव। विशेषतो निजगोपैरिव मल्लैः सहालिङ्गनमहाप्रसादरूपनियुद्धक्रीड़ा वृत्ता। *'यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत्'*—(श्रीमद्भा॰ १०/४४/४९) इत्यनेन तेषामपि तथैवान्तासंस्कारः सिद्धः। जरासन्धस्य च श्रीबलदेवगृहीतस्यापि वीरयशोविस्तारणाय मुहुर्मुहुः परिमोचनम्। अन्ते च स्वयं तद्गृहे सुहृद्भ्यां सह गत्वा ब्रह्मण्यता-वदान्यता-दुर्जयत्वादि-महाकीर्त्तिर्जगति व्यक्तं स्थापितैव। एवं पौण्ड्रादीनामन्येषामप्यूह्या। मुक्तिश्च सर्वेषां तेषामपि विशेषणैवेत्युक्तमेवात्र आत्मना मारिता ये चेति। श्रीभागवतादौ च (श्रीमद्भा॰ ११/५/४८)—*'वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः। ध्यायन्तः आकृतिधियः शयनासनादौ, तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥'* इत्यादिवचनैः। अधुना तेभ्योऽपि विशेषं गोकुलगतानां वक्तुं पृथक्त्वेनाह—कालियेति। नियुद्धे चानूरादिभ्योऽपि तस्य च महाभोगेन श्रीमदङ्गालिङ्गनं सम्यग्प्रवृत्तमेव। श्रीपादाब्जरजःस्पर्श-सौभाग्यञ्च तत्पत्नीभिः *'कस्यानुभावोऽस्य न देव! विद्महे'*—(श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६) इत्यादिना वर्णितमेव। तत्र च तद्रजःस्पर्शमहाकौतुक-नृत्यलीलागतिविशेषेण। ततश्च तस्य सर्वापि फणराजी प्रत्येकं तादृशरङ्गस्थली बभूव। पश्चात् स्तुतिपूजाविशेषः; आज्ञा प्रसादलाभः; श्रीगरुड़भयपरित्यक्तनिजावास-रमणकाख्यमहाद्वीप-सुखवासलाभः; सहजवैरि श्रीवैनतेयेन

सह परमं सख्यं तेन सम्मानञ्च। यतः परमदुलर्भस्य श्रीमत्पादारविन्दासाधारणचिह्नस्य सुदर्शनस्य मस्तके धारणमित्यादि। पूतनायाश्च गोकुले गोगोपीगणमध्ये सत्तमवेशेनागमनम्। अतएवोक्तं तत्प्रसङ्गे श्रीबादरायणिना—(श्रीमद्भा॰ १०/६/३) *'न यत्र श्रवणादीनि'* इति। अतस्तया केवलं भाग्यविशेषेणैव तत्रागतमिति तदभिप्रायः। ततश्च श्रीब्रह्मादिध्येयं तच्छ्रीपादाब्जद्वयं निजोत्सङ्गे सलालनं निवेशितम्; परमपि लालनादिकं तथाकृतम्। येन श्रीयशोदा मातापि परमविस्मिता अभूत्। तच्च तत्रैवोक्तम् (श्रीमद्भा॰ १०/६/९)— *'अतिवामचेष्टिताम्'* इति, *'निरीक्ष्यमाणे जननी ह्यतिष्ठताम्'* इति। एवं मातृवल्लालनेनैव मातृगतिराप्ता। तच्च *'पूतना लोकबालघ्नी'* (श्रीमद्भा॰ १०/६/३५) इत्यादि श्रीशुकोक्त्या *'सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३५) इति ब्रह्मोक्त्या *'अहो! वकी यं स्तनकालकूटम्'* (श्रीमद्भा॰ ३/२/२३) इत्यादि श्रीमदुद्धवोक्त्या चाभिव्यञ्जितमेवास्ते। अथ मरणेऽपि तद्वक्षःस्थले भगवतः क्रीड़ाकौतुकम्। *'बालञ्च तस्या उरसि क्रीड़न्तम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/६/१८) इति तत्रैवोक्तेः। तथा पाञ्चभौतिकस्यापि तद्राक्षसदेहस्य दाहेऽगुरुतोऽपि सौरभं दिक्षु प्रसृतम्। *'दह्यमाणस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः। उत्थितः'* (श्रीमद्भा॰ १०/६/३४) इति तत्रैवोक्तेरिति दिक्। आद्यशब्देन कालियादिवद्-गोकुल-सम्बन्धिनो यमलार्जुनाघासुरादयः। तत्र यमालार्जुनयोस्तादृशाद्भुतदामोदरबन्धलीलाया मध्ये प्रवेशः। महामुनिशापविमोचनं तादृशस्तुतिप्रार्थना-प्रेमभक्तिवरप्राप्तिरिति दिक्। अघासुरस्य च महाशरीरान्तरे ससखिवत् सगणस्य भगवतोऽद्भुतप्रवेशादिक्रीड़ा, विश्वाद्भुतत्वावहमोक्षप्राप्तिः, मृतशरीरस्यापि महाक्रीड़ता जाता। *'राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्। व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीड़गह्वरम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/११/३६) इति तत्रैवोक्तेः। एवमन्येषामपि बकारिष्टकेशिप्रभृतीनां दशमस्कन्धादुक्तया स्फुटमेव मनीषिभिरूह्यम्। एवं श्रीगोपिकादीनां रासक्रीड़ादौ त्यागदोषोऽपि प्रेम विशेषवृद्धये। प्रेमभराकृष्टचित्तस्य भगवतस्तत्तत्-प्रेमालापश्रवणपरतया सम्वृत्तः परमगुण एव पर्यवसितः। तच्च तत्रैव। *'नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२०) इत्यादि श्लोकत्रयेण श्रीभगवन्मुखादेव व्यक्तम्। अत्राप्यग्रे तथैव व्यक्तं भावि। प्रागपि इत्यपि शब्दस्यायमर्थः। साक्षादवतारिणोऽस्य तद्युज्यत एव; अस्य श्रीवामनावतारेऽपीति। तत्र च बन्धनादिना श्रीबलेः परमैश्वर्यादि विख्यापनं व्यक्तमेव। तथा स्वर्गराज्यात् भ्रंसितस्यापि तस्य स्वर्गराज्याधिक-सुतलराज्य-महाविभूतिसम्पादनं द्वारेऽवस्थानम्; रावणादिनिवारणादिना द्वारपालव्यवहारपरिपालनम्; कुशदैत्यपीड़ित-दुर्वाससः परमार्तिप्रार्थनयापि बलिद्वारात्यजनादिकं तत्तदाख्यानतः श्रीमद्भागवतादौ प्रसिद्धमेव। एतच्चावतारेऽपि तस्मिन्ननेनेदृशं कृतमित्यधुना अवतारिणोऽस्य महामाहात्म्य एव पर्यवस्यतीत्यत्रोक्तम्। आदि-शब्देन मधु-कैटभ-कालनेमि प्रभृतयः। तेषां तथा तथा युद्धक्रीड़ादिकौतुकेन महाप्रसादलाभः पुराणेषु प्रसिद्ध एवेति दिक्। अलमति विस्तरेण॥२९॥

भावानुवाद—इस प्रकार भगवान्‌की कृपा आदि गुणोंकी महिमाका संक्षेपमें वर्णन करके अब उनके निग्रहके (दण्डके) बहाने भी जो विशेष माहात्म्य प्रकटित हुआ है, उसे 'कृष्णस्य' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। अहो! कैसे आनन्दकी बात है! श्रीकृष्णकी कृपाकी बात तो दूर रहे, उनका दण्ड भी प्रशंसनीय है अर्थात् परम स्तुतिका विषय है। इस प्रकार श्रीकृष्णके दण्डकी प्रशंसाके विषयमें कंस आदि असुरगण ही साक्षी और प्रमाण हैं। यथा, "कंस अपने जीवित कालमें श्रीमथुराके अधिपति होकर भी राज-सिंहासन पर बैठने, उठने, वास करने, भोजन, पान, पर्यटन आदि सभी कार्योंमें सब समय श्रीहृषीकेशकी वैरभावसे चिन्ता करके उनमें तन्मय हुए थे।" इस प्रकार जीवितकालमें ही कंसको महायोगियोंके लिए भी जो दुर्लभ है, उस भावकी प्राप्ति हुई थी। श्रीकृष्णके द्वारा मंचसे गिराने पर मृत्युके समय कंसने अपने वक्षःस्थल पर श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंका आलिङ्गन प्राप्त किया और साक्षात् श्रीकृष्णके मुखमण्डलका दर्शन करते-करते देहत्याग किया। देहत्याग करनेके पश्चात् भी उसके देहका सत्कार हुआ अर्थात् श्रीभगवान्‌ने स्वयं यादवों और गोपों सहित उपस्थित होकर राजोचित रीतिसे उसका दाह आदि संस्कार करवाया था। तदुपरान्त श्रीकृष्णने परमबन्धुके समान मधुर वाक्योंके द्वारा कंसकी पत्नियोंको आश्वासन प्रदान किया था और उसके पिता श्रीउग्रसेनको राज्य समर्पित किया था। मूल श्लोकके 'आदि' शब्दसे कंसके समान चाणूर आदि मल्ल तथा शिशुपाल और दन्तवक्रको छोड़कर जरासन्ध आदि राजाओंको भी सम्मिलित करना होगा। शिशुपाल और दन्तवक्र ब्राह्मणोंके अपराधी थे, इसलिए दैत्यों जैसा आचरण करते थे। किन्तु वे पहले भक्त थे, इसलिए प्रभुकी कृपाके योग्य बने—ऐसा समझना चाहिए। कंसकी आज्ञासे जिन सब मल्लोंने भगवान्‌के साथ मल्लयुद्ध किया था, उन्होंने भी श्रीकृष्णके प्रति कंसके समान अथवा उससे कुछ कम भावको प्राप्त करके भी उसके जैसी सद्गतिको प्राप्त किया था। विशेषतः श्रीकृष्ण अपने प्रिय गोपोंके साथ जैसी मल्ल-क्रीड़ा करते थे, इन मल्लोंके साथ भी वैसी मल्ल-क्रीड़ाके बहाने श्रीकृष्णने उनको आलिङ्गन आदि रूपमें अपना

महाप्रसाद दान किया था। "तदुपरान्त लोकपावन श्रीभगवान्ने राजरानियोंको सान्त्वना प्रदान की तथा अपने द्वारा मृत सभी व्यक्तियोंकी लौकिक सत्क्रिया आदि सम्पूर्ण करवायी।" इसके द्वारा उन सबका भी कंस जैसा ही अन्तिम संस्कार हुआ—ऐसा स्थापित होता है।

जरासन्धके श्रीबलराम द्वारा पकड़ लिए जाने पर भी श्रीकृष्णने उसके वीर-यशका विस्तार करनेके लिए पुनः-पुनः उसको छुड़वा दिया था। उसके मृत्युकालमें भी स्वयं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ उसके घर जाकर श्रीकृष्णने अपनी ब्रह्मण्यता, महावदान्यता और दुर्जयत्व आदि महाकीर्त्तिको जगतमें प्रतिष्ठित किया था। पौण्ड्रक आदिके सम्बन्धमें भी ऐसी सद्‌गतिकी प्राप्ति ही समझनी चाहिए। इन सभीने मुक्ति प्राप्त की थी, इस विषयमें अधिक क्या कहा जाए? विशेषतः जो स्वयं श्रीकृष्णके हाथोंसे निहत हुए थे, उनके विषयमें पहले ही कहा जा चुका है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है, "शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजा शत्रुतावशतः शयन, भोजन और उठते-बैठते सब समय श्रीकृष्णकी गति, विलास और आवलोकन आदि क्रियाओं द्वारा उनकी चिन्ता करते-करते उनके सारूप्य, सायुज्य आदिको प्राप्त हुए थे, अतः जिनका मन श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुरक्त है, उनकी सद्‌गतिके विषयमें फिर क्या सन्देह है?" इत्यादि वाक्यों द्वारा शत्रुता भावको प्राप्त राजाओंकी बात कहकर अब उनकी तुलनामें अधिक सौभाग्यशाली गोकुलके कालिय और पूतना आदिके वैशिष्ट्यको पृथक्‌रूपसे बतला रहे हैं।

मल्लयुद्धके समय चाणूर आदि मल्लोंको जिस प्रकार श्रीकृष्णको आलिङ्गन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था, गोकुलके कालियको उनकी तुलनामें श्रेष्ठ अर्थात् भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी रज प्राप्त करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस विषयमें कालियकी पत्नियाँ ही कहती हैं, "हे देव! हम यह नहीं समझ पा रही हैं कि यह कालिय नाग किस पुण्यके बलसे आज श्रीलक्ष्मी द्वारा भी वाञ्छित आपके श्रीचरणोंकी रजको मस्तक पर धारण कर सका है।" इस प्रकार कालियके मस्तक पर भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी रज स्पर्शरूप महाकौतुक अर्थात् नृत्य-लीलाकी विशेष गति द्वारा उसका प्रत्येक फण

ही भगवान्‌की नृत्य-स्थली बन गया था। उस कालियने भगवान्‌की स्तुति, पूजा आदि भी की थी तथा उनकी आज्ञारूपी कृपाको भी प्राप्त किया था; अर्थात् श्रीगरुड़के भयसे परित्यक्त अपने निवासस्थल रमणक नामक महाद्वीपमें फिरसे सुखपूर्वक निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त किया था। श्रीगरुड़ने भी अपनी स्वभावसिद्ध शत्रुताका परित्याग करके उसके साथ मित्रताकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया था, क्योंकि कालियने अपने मस्तक पर परमदुर्लभ भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके सुदर्शन आदि असाधारण चिह्नोंको धारण कर रखा था।

पूतनाके सौभाग्यका कारण यह है कि वह राक्षसी होकर भी गोकुलमें गोप-गोपियोंके बीच साधुवेश अर्थात् माताका वेश धारण करके आयी थी। इसलिए उसके विषयमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है, "जिस स्थानके निवासी अपना-अपना कार्य करते समय भगवान्‌के राक्षस-नाशक नामोंका श्रवण और कीर्त्तन नहीं करते, उसी स्थान पर ही यातुधान आदि राक्षसोंका प्रादुर्भाव हो सकता है।" किन्तु जहाँ पर श्रीभगवान् साक्षात्‌रूपमें निवास कर रहे हों, क्या उस स्थान पर राक्षसी प्रवेश कर सकती है? कदापि नहीं, अतः इस परिस्थितिमें पूतनाका असाधारण सौभाग्य होनेके कारण ही वह साधुवेश धारण करके प्रविष्ट हुई थी। फिर नारीरूप धारण करनेवाली उस राक्षसीने ब्रह्मादिके भी ध्येय भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंको अपनी गोदमें रखकर माताके समान अत्यधिक स्नेहपूर्वक उनका लालन किया था। पूतनाने ऐसा अद्भुत लालन किया था कि उसके दर्शनसे माता यशोदा भी अत्यधिक विस्मित हो गई थी। यह बात श्रीमद्भागवतमें पूतना-वध प्रसङ्गमें कही गयी है—"श्रीकृष्णकी दोनों माताएँ, श्रीयशोदा और श्रीरोहिणी, पूतनाको घरके भीतर देखकर उसकी ओर देखती ही रह गयीं, उसे मना नहीं कर पायीं।" इस प्रकार माताके समान लालन द्वारा पूतनाको मातृगतिकी प्राप्ति हुई थी। तथा "शिशुघातिनी, रक्त-पान करनेवाली राक्षसी पूतना, श्रीकृष्णके प्राण नाश करनेके अभिप्रायसे उन्हें स्तनपान कराकर भी मातृगतिको प्राप्त हुई।" इत्यादि विषय श्रीशुकदेव गोस्वामीकी उक्तिमें भी कथित हुए हैं। तथा "भक्तोंका अनुकरण करने मात्रसे ही पूतना आदिने अपने समस्त

कुलके साथ श्रीभगवान्‌को प्राप्त किया है।" इत्यादि श्रीब्रह्माकी उक्ति भी द्रष्टव्य है। "अहो भगवान्‌की दयालुता अति आश्चर्यजनक है! दुष्ट पूतनाने प्राणोंको नाश करनेकी कामनासे श्रीकृष्णको अपने विषलिप्त स्तनोंका पान कराया था, किन्तु फिर भी उस पूतनाको धात्री-उचित गति प्राप्त हुई। अर्थात् श्रीकृष्णने केवल उसके भक्तवेशको देखकर ही उसे सद्‌गति प्रदान की थी।" इत्यादि श्रीउद्धवकी उक्तिमें भी यह विषय कथित हुआ है। पूतनाकी मृत्युके समय भी भगवान्‌ने उसके वक्षःस्थल पर क्रीड़ा की थी—"बालकने उसके वक्षःस्थल पर क्रीड़ा की थी।" इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा यह और भी परिस्फुट हुआ है। पूतनाकी पाञ्चभौतिक राक्षसी देह होने पर भी दाहकालके समय अगरु-चन्दन आदिकी तुलनामें भी श्रेष्ठ सुगन्ध चारों ओर फैल गयी थी। "पूतनाकी देह जब दग्ध हो रही थी, तब उसमें से अगुरु जैसा सुगन्धित धुआँ उठ रहा था।" इत्यादि प्रसिद्ध वाक्य भी द्रष्टव्य है।

मूल श्लोकके 'पूतनादि' पदके 'आदि' शब्दसे गोकुलसे सम्बन्धित कालिय, यमलार्जुन और अघासुर आदिको भी ग्रहण करना होगा। उनमें से यमलार्जुनका सौभाग्य यह है कि दामबन्धन-लीलामें श्रीकृष्णने उन यमलार्जुनके बीचमें प्रवेश करके उन्हें जड़से उखाड़कर महामुनिके शापसे मुक्त किया था तथा उनको स्तुति, प्रार्थनाका सुयोग देकर प्रेमभक्तिका वरदान दिया था। अघासुरका सौभाग्य यह है कि उसके सर्पकी आकृतिवाले विशाल शरीरमें श्रीकृष्णने अपने मित्रोंके साथ प्रवेश किया था तथा वहाँ अपने सखाओंके साथ अद्भुत लीलाएँ की था। उस क्रीड़ाके बहाने श्रीकृष्णने अघासुरको भी समस्त विश्वको चमत्कृत करनेवाली अति अद्भुत मुक्ति प्रदानकी थी। उसके मृत शरीरका सूखा हुआ चमड़ा बहुत दिनों तक श्रीकृष्ण और उनके सखाओंके लिए महाक्रीड़ा स्थलीमें बदल गया था। "वृन्दावनमें अघासुरका अद्भुत चर्म सूखकर अनेक दिनों तक व्रजवासियोंकी क्रीड़ाके लिए गुफा बन गया था।" इस प्रकार बक, केशी, अरिष्ट जैसे असुरोंकी कथा दशम-स्कन्धमें स्पष्टरूपसे व्यक्त हुई है, इसलिए श्रीनारदने उसका उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार रासलीलाके समय श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोंका त्यागरूप दोष भी प्रेमकी वृद्धि करनेके कारण महागुणमें ही परिणत हुआ है। गोपियोंके प्रेमसे आकृष्ट-चित्त श्रीकृष्ण विच्छेदके समयमें उनके प्रेमालापको सुननेमें पूर्णता रत हुए थे, अतएव उनके द्वारा किये गये त्याग आदि दोष भी महान गुणमें पर्यवसित हो गये हैं। रासलीला प्रसङ्गमें ही कहा गया है—(श्रीकृष्णने देखा कि गोपियाँ उनको अकृतज्ञ और गुरुद्रोही मानकर आपसमें नेत्रोंके संचालनके माध्यमसे गूढ़रूपमें मुस्कुराने लगीं, गोपियोंके इस भ्रमको दूर करनेके लिए भक्तोंके प्रति भगवान्का जो भाव है, उसे व्यक्त कर रहे हैं।) "हे सखियों! मैं अकृतज्ञ, गुरुद्रोही आदिमें से कोई भी नहीं हूँ; मैं आत्माराम और पूर्णकाम होने पर भी तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होकर रमण करता हूँ, अतएव इस अर्थमें मैं अनात्माराम तथा शान्त-दास्यादिसे भी मधुररसके आस्वादनमें परम उत्सुक होनेके कारण अपूर्णकाम हूँ। मैं अकृतज्ञ नहीं हूँ, क्योंकि गोपबालक होनेके कारण नीति-शास्त्रका अध्ययन न करने पर भी नारायण होनेके कारण मैं सर्वज्ञ और कृतज्ञ भी हूँ; मैं गुरुद्रोही नहीं हूँ, इस सम्बन्धमें अधिक क्या कहा जाए, क्योंकि तुम्हारे सविलास-कटाक्ष द्वारा आहत होकर ही मैं अदृश्य हुआ था, वह भी केवल तुम्हें अपने वशीभूतकर किसी एक अनिर्वचीय स्वप्रेमको दान करनेके उद्देश्यसे ही। यदि कहो कि वह प्रेम कैसा है? तो बतला रहा हूँ, सुनो। जो मेरा भजन करते हैं, मैं उनका भजन नहीं करता हूँ, क्योंकि ऐसा करनेसे वे निरन्तर मेरी वैसी ही चिन्ता करेंगे, जैसे कोई निर्धन व्यक्ति धन प्राप्त करनेके उपरान्त उस धनको खो देने पर उस धनकी चिन्तामें ही निमग्न रहकर अन्य सब कुछ भूल जाता है। इसीलिए मैं तुम्हारे नेत्रोंसे ओझल होने पर भी तुमसे दूर नहीं रहता। यदि कहो कि फिर आप अदृश्य क्यों हो जाते हैं? यद्यपि मैंने पहले ही तुम्हें इसका कारण बतला दिया है, तथापि फिरसे श्रवण करो। हे अबलाओं! मेरे लिए धर्म-अधर्मका परित्याग करके तुम निरन्तर मेरी चिन्तामें निमग्न रहती हो; तथापि मेरे प्रति तुम्हारी आसक्तिकी वृद्धिके लिए तथा तुम्हारा प्रेमालाप सुनते-सुनते और उसके द्वारा परोक्ष रूपमें सेवित होकर,

तुम्हारे नेत्रोंसे ओझल होकर भी मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चल रहा था। अतएव हे प्रियाओं! मैं वास्तवमें तुम्हारा प्रियतम हूँ, इसलिए परोक्ष रूपमें तुम्हारा ही भजन कर रहा था, अतएव प्रियतमके प्रति दोषारोपण करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।" इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा भगवान्ने गोपियोंके प्रति अपनी कृपाके विषयमें स्वयं अपने मुखसे ही कहा है, इसे आगे भी बतलाया जायेगा।

वस्तुतः साक्षात् अवतारी श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा व्यवहार ही युक्तियुक्त है। इन्हीं श्रीकृष्णके वामनावतारमें भी ऐसा व्यवहार सुप्रसिद्ध है। श्रीभगवान्ने बलिको बाँधकर उनके असीम धैर्यको सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात करनेके लिए ही ऐसी निष्ठुरता दिखलायी थी। पुनः बलिसे स्वर्ग राज्य छीन लिए जाने पर श्रीवामनदेवने उनको स्वर्गसे भी अधिक महाविभूतिसे सम्पन्न सुतल राज्यका आधिपत्य प्रदान करके तथा उनके द्वार पर द्वारपाल बनकर उनके प्रति अपने विशेष अनुग्रहको प्रकाश किया है। रावण आदि जैसे दिग्विजयीके उपद्रवसे उनकी रक्षाकर अपने कर्त्तव्यका भी पालन किया है। कुश-दैत्यसे प्रपीड़ित दुर्वासा द्वारा अत्यधिक आर्त्तिपूर्वक प्रार्थना करने पर भी भगवान् श्रीवामनदेवने उनकी प्रार्थनाको सुना तक नहीं; अर्थात् श्रीभगवान् दुर्वासाकी रक्षाके लिए बलिके द्वारको छोड़कर जानेके लिए तैयार नहीं हुए। यह उपाख्यान श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें लिपिबद्ध है। अतएव इन श्रीवामनावतारकी वैसी महिमा भी मूलतः अवतारी भगवान् श्रीकृष्णकी महिमामें ही पर्यवसित हुई है। 'आदि' शब्दसे मधुकैटभ, कालनेमि जैसे असुरोंको भी ग्रहण करना होगा तथा उनके साथ भगवान्की युद्धक्रीड़ा आदि कौतुक और महाप्रसाद (कृपाका) दान आदि भी उक्तपुराणमें वर्णित हैं। ग्रन्थ विस्तारके भयसे इस स्थान पर उन लीलाओंका उल्लेख नहीं हुआ है॥२९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इति प्रगायन् रसनां मुनिर्निजा,-मशिक्षयन्माधव-कीर्तिलम्पटाम्।
अहो प्रवृत्तासि महत्त्ववर्णने प्रभोरपीति स्वरदैर्विदश्यताम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने (अपनी मातासे) कहा—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करते-करते मुनिवर श्रीनारदने सहसा अपनी जिह्वाका दंशन करके कहा—'अहो! तुम प्रभु श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हो रही हो?' ऐसा करके उन्होंने माधवकी कीर्त्ति वर्णनमें लोभी अपनी जिह्वाको उचित शिक्षा प्रदान की॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्येवं प्रकर्षेण गायन् निजां रसनां जिह्वामशिक्षयत् वक्ष्यमाणं शिक्षयामास। माधवस्य मधुवंशसमुद्रचन्द्रस्य भगवतः कीर्त्तौ यशसि तन्माहात्म्य कीर्त्तने वा रसिकामपि। किं कृत्वाशिक्षयत्? तां रसनां स्वरदैर्निजदन्तैर्विदश्य। कथम? अहो! विस्मये खेदे वा। अनुचितप्रवृत्त्या प्रभोः श्रीकृष्णस्यापि महत्त्ववर्णने त्वं प्रवृत्तासि इत्येवं तथोक्तेयत्यर्थः। अयं भावः—चतुरानन-सहस्रवदनादयो यद्वर्णयितुं न शक्नुवन्ति तत् कथं त्वं वर्णयसि? अतस्त्वदशक्तया धाष्टर्यमेव ते फलिष्यतीति॥३०॥

भावानुवाद—इस प्रकार उत्कर्षके सहित श्रीकृष्णका गुणगान करते-करते देवर्षि श्रीनारदने अपनी जिह्वाको शिक्षा प्रदान की। 'माधव' कहनेसे मधुवंशरूप समुद्रके चन्द्रस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका बोध होता है, अतएव उनकी महिमा कीर्त्तन करनेमें प्रवृत्त हुई अथवा कीर्त्तिको वर्णन करनेवाली जिह्वाको शिक्षा प्रदान की। कैसे शिक्षा दी? उस रसनाको अपने दाँतोंके द्वारा दंशन करके अर्थात् दातोंके बीचमें दबाकर। क्यों दंशन किया? हाय! (विस्मय और खेदपूर्वक) चतुरानन ब्रह्मा और सहस्रानन अनन्तशेष आदि भी जिनकी महिमा वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, तुम उन्हीं श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन कर रही हो? ऐसे अनुचित कार्यको करनेमें क्यों प्रवृत्त हो रही हो? इसके द्वारा तो केवल मेरी धृष्टता ही लक्षित हो रही है॥३०॥

रसने ते महद्भाग्यमेतदेव यदीहितम्।
किञ्चिदुच्चारयैवैषां तत् प्रियाणां स्वशक्तितः॥३१॥

श्लोकानुवाद—अरी मेरी रसने (जिह्वा)! यदि तुम प्रभुके इन प्रियभक्तोंकी किञ्चित् मात्र महिमा भी अपनी शक्तिके अनुसार वर्णन कर सको, तो मैं उसे तुम्हारा महासौभाग्य समझूँगा॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमशिक्षयत्तदाह—रसने इति। अप्यर्थे एवशब्दो यथापेक्ष्यं सर्वत्र सम्बन्धनीयः। एषामपि, किमुत एषामीश्वरस्य? ईहितं चेष्टितमपि किमुत महिम्नः? तत्रापि किञ्चिदपि किमुत समग्रम्? उच्चारयेति उच्चारणमात्रं कुर्याः; सम्भावनायां सप्तमी। किमुत संकीर्त्तयसीति दिक्। इति यदेतदपि तव महद्भाग्यम्; एतदुक्तं भवति। यद्यपि श्रीभगवत इव तत्प्रियजनानामपि माहात्म्यमर्निवचनीयमेव, तथाप्यनाद्यन्ततया परमदुर्वितर्क्यतया च निजज्ञानाविषयत्वाद् भगवन्महिम्नो वर्णनं किल दुःशकमेव। तद्भक्तानान्तु कथञ्चिन्निजसादृश्येन साक्षादनुभूयमानत्वेन च यथादृष्टचेष्टितमात्रस्य वर्णने काचित् किल शक्तिर्घटतेऽपि कदाचिदसत्यादिना तदन्यथावर्णने जायमानमपराधं ते दीनवत्सलाः क्षमितुमप्यर्हन्तीति तेषां महत्त्व-वर्णनमेवोचितमिति। अत्र च श्रीमद्भक्तानां माहात्म्यवर्णनमेव श्रीभगवतो माहात्म्यवर्णनं परमिति गूढ़ोऽभिप्राय इति दिक्॥३१॥

भावानुवाद—देवर्षि श्रीनारदने अपनी रसनाको क्या शिक्षा दी, इसे 'रसने' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। 'अपि'के अर्थमें 'एव' शब्दका भी यथायोग्य सर्वत्र सम्बन्ध है। रसने! तुम यदि उन भगवान् श्रीकृष्णके प्रियभक्तोंका किञ्चित् मात्र चरित्र भी वर्णन कर सको, तभी तुम्हें अत्यधिक सौभाग्यशाली समझूँगा, उनके इष्टदेव अर्थात् श्रीभगवान्की महिमाके वर्णनकी तो फिर बात ही क्या? तथापि, यदि तुम अपने सामर्थ्यके अनुसार भक्तोंकी महिमा किञ्चित् उच्चारण मात्र भी कर पाओ तो तुम्हारा परम सौभाग्य समझूँगा, सम्पूर्णरूपमें कीर्त्तन कर सको तो उसका कहना ही क्या? अर्थात् भक्तोंकी महिमा भी अनिर्वचनीय है; अतएव उसको उच्चारण करनेका सौभाग्य भी अवर्णनीय है और फिर तुम जो उच्चारण कर रही हो, उसीको अपना बड़ा सौभाग्य मानो। संकीर्त्तन करनेसे क्या फल प्राप्त होता है, उसे कहा नहीं जा सकता। यद्यपि भगवान्के समान ही उनके भक्तोंकी महिमा भी अनिर्वचनीय है, तथापि भगवान्की महिमा अनादि अनन्त तथा परम दुर्वितर्क्य (तर्कसे अतीत) है और मेरे ज्ञानके अतीत होनेके कारण मेरे द्वारा उसका वर्णन करना भी दुःसाध्य है। किन्तु उनके भक्तोंका आचरण कुछ-कुछ अपने आचरणके समान तथा साक्षात् अनुभवका विषय होनेके कारण उसका वर्णन कदाचित् चेष्टा किये जाने पर किसी प्रकार सम्भव भी हो सकता है। अपनी असमर्थतावशतः उस वर्णनमें त्रुटि रहनेकी सम्भावना है और उससे

अपराध होना ही सम्भव है; किन्तु वह अपराध दीनवत्सल भक्तोंके लिए क्षमा योग्य है अर्थात् वे उस अपराधको क्षमा कर देते हैं। अतएव भक्तोंका माहात्म्य वर्णन करना ही कर्त्तव्य है। इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के माहात्म्यका वर्णन करनेकी तुलनामें भगवान्‌के भक्तोंका माहात्म्य वर्णन करना अधिक श्रेष्ठ है। यही इस प्रसंगका दिग्दर्शन है॥३१॥

श्रीनारद उवाच—

महानुभावा भवतास्तु तस्मिन् प्रतिस्वकं यः प्रियताविशेषः।
भवत्सु तस्यापि कृपाविशेषो धृष्टेन नीयेत स केन जिह्वाम्॥३२॥

श्लोकानुवाद—हे महानुभावों! भगवान् श्रीकृष्णके प्रति आप सबकी जैसी प्रियता दृष्टिगोचर होती है, भगवान् श्रीकृष्णकी भी आप सभीके प्रति वैसी ही विशेष कृपाका दर्शन होता है। कोई धृष्ट व्यक्ति ही इस कृपाके विषयमें अपनी जिह्वासे वर्णन करनेका साहस कर सकता है॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन सर्वेषामेव माहात्म्यमुक्त्वा इदानीं प्रत्येकं भगवत्कृपाविशेषेण माहात्म्यविशेषं वक्तुमादौ तथावर्णने स्वकीयायोग्यतामाशंक्याह— महेति। हे महानुभावाः! परममाहात्म्यवन्तः! तस्मिन् श्रीकृष्णे प्रतिस्वकं प्रत्येकमित्यर्थः। तस्य श्रीकृष्णस्यापि प्रतिस्वकं भवत्सु यः कृपाविशेषः, स केन धृष्टेन जिह्वां नीयेत प्राप्येत? यस्तं वर्णयेत् स निर्लज्ज इत्यर्थः। निजाशक्येऽनिवर्चनीय वर्णने प्रवृत्तेः॥३२॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपमें पाण्डवोंके माहात्म्यका वर्णन करके अब श्रीनारद पृथक्‌रूपमें प्रत्येकके प्रति भगवान्‌की विशेष कृपाका माहात्म्य वर्णन करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं। सर्वप्रथम उस वर्णनमें अपनी अयोग्यताकी आशंकासे 'महेति' श्लोक कह रहे हैं। हे महानुभवगण! हे परम माहात्म्य युक्त महात्माओं! श्रीकृष्णके प्रति आप सभीका जो विशेष प्रेम देखा जाता है, भगवान् श्रीकृष्णकी भी आप सभीके प्रति वैसी ही विशेष कृपा भी दिखाई देती है। कौन धृष्ट व्यक्ति उनकी इस विशेष कृपाकी महिमा अपनी जिह्वासे उच्चारण करनेका साहस करेगा। यदि उसे वर्णन करनेकी चेष्टा करता है तो

वह निर्लज्ज है, क्योंकि वह ऐसे विषयका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हो रहा है जो अनिर्वचनीय है॥३२॥

माता पृथेयं यदुनन्दनस्य स्नेहार्द्रमाश्वासनवाक्यमेकम्।
अक्रूरवक्त्रात् प्रथमं निशम्य प्रेमप्रवाहे निममज्ज सद्यः॥३३॥

श्लोकानुवाद—आपकी माता श्रीकुन्तीदेवी, श्रीयदुनन्दनके केवलमात्र एक स्नेहभरे आश्वासन वाक्यको अक्रूरके मुखसे सुनते ही उसी क्षण प्रेमके प्रवाहमें निमग्न हो गयी थीं॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तत्कीर्त्तनैकरसिकत्वात् तत्परित्यागाशक्तेस्तथैव माहात्म्यं वर्णयति—मातेति सप्तभिः, भवतां माता; यद्वा भवन्मातृत्वेन मादृशामपि मातैव। समाश्वासनवाक्यम्—*'स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया। जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व गजसाह्वयम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४८/३२) इत्यादि दशमस्कन्धानुरूपम्। प्रथममिति, ततः पूर्वं तादृश-वाक्याश्रवणात्॥३३॥

भावानुवाद—तथापि श्रीनारद भक्तोंके माहात्म्यका कीर्त्तन करनेमें परम रसिक होनेके कारण तथा उसका परित्याग करनेमें असमर्थ होकर ही पाण्डवोंके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। इसे 'माता' इत्यादि सात श्लोकोंके माध्यमसे विस्तृतरूपसे कहा जा रहा है। आपकी माता, अथवा आपकी माता होनेके कारण मेरे जैसे व्यक्तियोंकी भी माता, ये श्रीकुन्तीदेवी (अक्रूरके माध्यमसे भेजे गये) श्रीकृष्णके केवल मात्र एक आश्वासन वाक्य, "हे तात! मेरे जितने भी आत्मीयस्वजन हैं, आप उन सबमें श्रेष्ठ हैं, अतएव आप पाण्डवोंकी कुशल कामनाके लिए अर्थात् वे कैसे हैं, यह सम्वाद लानेके लिए शीघ्र ही हस्तिनापुर गमन कीजिए।" अक्रूरके मुखसे पहली बार इन वचनोंको श्रवण करके वे प्रेमके प्रवाहमें निमग्न हो गयी थीं, क्योंकि इससे पहले उन्होंने ऐसे प्रेमभरे वचन कभी भी श्रवण नहीं किये थे॥३३॥

विचित्रवाक्यैर्बहुधा रुरोद स्फुटेन्नृणां यच्छ्रवणेन वक्षः।
भवत्स्वपि स्नेहभरं परं सा ररक्ष कृष्णप्रियतामपेक्ष्य॥३४॥

श्लोकानुवाद—श्रीयदुनन्दनके आश्वासनपूर्ण वचनोंको सुनकर श्रीकुन्तीदेवीने अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए क्रन्दन किया था।

उनके उस क्रन्दनको श्रवण करने मात्रसे ही मानवका हृदय विदीर्ण हो जाए। वे केवल श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त करनेकी आशासे ही आप लोगोंके प्रति अत्यधिक स्नेह करती हैं॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेमरसपूरनिमग्नतालक्षणमाह—विचित्रेति। *'कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन। प्रपन्नां पाहि गोविन्द! शिशुभिश्चावसीदतीम्॥ नान्यत्तव पदाम्भोजात् पश्यामि शरणं नृणाम्।'* (श्रीमद्भा॰ १०/४९/११-१२) इत्यादि दशमस्कन्धोक्तैर्विचित्रैर्वाक्यैः कृत्वा। यस्य रोदनस्य येषां वा वाक्यानां वा श्रवणेन नृणां हृदयं स्फुटेत् विदीर्येताद्यापि; सम्भावनायां सप्तमी। ननु कथं तर्हि पुत्रेष्वस्मासु तस्याः स्नेहः सम्भवेत्तत्राह—भवत्स्विति। अपिशब्देन परमसत्पुत्रतया स्नेहभरयोग्यता बोध्यते। तथापि सा पृथा; भवत्सु कृष्णस्य प्रियता प्रेम; यद्वा, कृष्णः प्रियो येषां, कृष्णस्य प्रिया इति वा; तेषां भावः कृष्णप्रियता तामेव परं केवलमपेक्ष्य। ररक्षेति;—श्रीकृष्णविषयक-भक्तिभरस्वभावेन स्वयमेव पुत्रादि-स्नेहमपसरन्तमपि निरुध्य रक्षतीत्यर्थः। रक्षणस्य दाढर्यबोधनार्थं वर्त्तमानेऽप्यतीत-निर्द्देशः॥३४॥

भावानुवाद—श्रीकुन्तीदेवीके प्रेमरसमें निमग्न होनेका लक्षण 'विचित्रेति' श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। उन्होंने नाना-प्रकारसे विलाप करते हुए कहा था, "हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन्! हे विश्वपालक! मैं आपके शरणागत हूँ, अपने बालकोंके साथ मैं निरन्तर क्लेशसे भरे हुए संसारमें रह रही हूँ। हे गोविन्द! मेरी रक्षा करो। कालके भयसे भयभीत मनुष्योंके लिए तुम्हारे श्रीचरणकमलोंके अलावा और कोई शरणस्थल नहीं देख रही हूँ।" इत्यादि; दशम-स्कन्धमें उक्त विचित्र प्रकारसे विलाप करते हुए उन्होंने रोदन किया था। उनके वैसे रोदन या विलापको सुनने मात्रसे ही मनुष्यका हृदय विदीर्ण हो जाए।

यदि आपत्ति हो कि उनमें यदि इतना कृष्णप्रेम है, तो फिर उनका अपने पुत्रोंके प्रति स्नेह कैसे सम्भव है? 'भवत्स्वपि' इत्यादि पदों द्वारा इसका समाधान कर रहे हैं। इस पदके 'अपि' शब्द द्वारा सूचित हो रहा है कि आप लोगों जैसे परम सत्पुत्रोंके होनेके कारण ही उनका वैसा परम स्नेह सम्भव हुआ। तथापि वे आप लोगोंके साथ श्रीकृष्णके सम्बन्धको लक्ष्य करके, अथवा आपके प्रति भगवान् श्रीकृष्णकी प्रियताको लक्ष्य करके, अथवा श्रीकृष्ण जिनके प्रिय हैं,

वे ही कृष्णप्रिय हैं तथा उन्हीं कृष्णप्रिय व्यक्तियोंकी श्रीकृष्णके प्रति प्रियता (प्रीति)के कारण ही आपके प्रति वैसा स्नेह रखती हैं। यहाँ पर 'ररक्ष' पदका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके प्रति भक्तिपूर्ण स्वभावके कारण श्रीकुन्तीदेवीका स्वतः ही अपने पुत्रोंके प्रति स्नेह नहीं रहा, किन्तु पुत्रोंके श्रीकृष्णभक्ति-स्वभावके कारण ही अर्थात् उन्हें श्रीकृष्ण-सम्बन्धीय जानकर ही वे उनके प्रति स्नेह रखती थीं। उनकी वैसी प्रीति करनेकी दृढ़ता दिखलानेके लिए ही वर्त्तमान कालकी क्रियामें अतीत कालका प्रयोग किया है॥३४॥

चिरेण द्वारकां गन्तुमुद्यतो यदुजीवनः।
काकुस्तुतिभिरावृत्य स्वगृहे रक्षतेऽनया॥३५॥

श्लोकानुवाद—यादवोंके प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण दीर्घकाल तक आप लोगोंके राजभवनमें निवास करनेके उपरान्त जब द्वारका जानेके लिए प्रस्तुत हुए, तो श्रीकुन्तीदेवीने ही विनयपूर्ण स्तुति-वाक्योंके द्वारा उनको रोककर अपने भवनमें रखा था॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च चिरेणेति, भारतयुद्धादिनिमित्तं युधिष्ठिरादिनिकटे तत्-पुर्यादौ चिरमवस्थानात्। यदुजीवन इति चिरविरहेण मृतप्रायान् यादवान्जीवयितुमित्यर्थः। काकुयुक्ताभिः स्तुतिभिः; *'नमस्ये पुरुषं त्वाद्यम्'* (श्रीमद्भा॰ १/८/१८) इत्यादि प्रथमस्कन्धोक्ताभिः। आवृत्य निरुध्य; अनया पृथया; रक्षत इति वर्त्तमाननिर्द्देशेन पौनःपुन्यं बोध्यते॥३५॥

भावानुवाद—श्रीनारद कुछ और भी कह रहे हैं, महाभारत युद्धके लिए श्रीयुधिष्ठिर आदि पाण्डवोंके साथ दीर्घकाल तक रहनेके पश्चात् श्रीकृष्ण जब द्वारका जानेके लिए प्रस्तुत हुए, तो इन्हीं श्रीकुन्तीदेवीने विनयपूर्ण वचनोंके द्वारा कहा था, "हे कृष्ण! तुम्हें नमस्कार करती हूँ, तुम स्वयं ईश्वर हो, प्रकृतिके अगोचर आदि-पुरुष हो।" इत्यादि प्रथम-स्कन्धमें उक्त स्तुति वाक्योंके द्वारा श्रीकृष्णको जानेसे रोककर अपने भवनमें कुछ और दिनों तक रखा था। मूल श्लोकका 'रक्षते' क्रियापद वर्त्तमान कालका बोधक है, अर्थात् (श्रीकुन्तीदेवीने) यादवोंके जीवन-स्वरूप श्रीकृष्णको पुनः-पुनः रोक लिया था, ऐसा सूचित हो रहा है। 'यदुजीवन' पदका तात्पर्य यह है कि अपने जीवन-स्वरूप

श्रीकृष्णके अनेक दिनोंके विरहसे यादवगण मृतकी भाँति हो गये थे, इसलिए यादवोंके प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण उनको दर्शन प्रदान कर जीवित करनेके लिए पुनः–पुनः द्वारका जानेके लिए तैयार होते थे और श्रीकुन्तीदेवी भी पुनः–पुनः उनको रोककर अपने भवनमें रख लेती थीं॥३५॥

युधिष्ठिरायापि महाप्रतिष्ठा लोकद्वयोत्कृष्टतरा प्रदत्ता।
तथा जरासन्धवधादिना च भीमाय तेनात्मन एव कीर्त्तिः॥३६॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकार महाराज श्रीयुधिष्ठिरको इस लोक और परलोकमें महान कीर्त्ति प्रदान की है, उसी प्रकार जरासन्ध वध आदि द्वारा भीमसेनको भी महान कीर्त्ति प्रदान की है॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—महती प्रतिष्ठा कीर्त्तिः; तेन कृष्णेन प्रकर्षेण दत्ता, राजसूयादि—सम्पादनात्। अतएवोक्तमष्टोत्तरशतनामस्तोत्रे—'युधिष्ठिरप्रतिष्ठाता' इति। आत्मन एवेति बारंबारं हन्तुं प्राप्तस्यापि जरासन्धस्याहननात्॥३६॥

भावानुवाद—महाप्रतिष्ठा—महान कीर्त्ति अर्थात् श्रीकृष्णने राजसूय यज्ञ सम्पूर्ण कराकर श्रीयुधिष्ठिर महाराजको महान कीर्त्ति प्रदान की थी। अतएव अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रमें श्रीकृष्ण 'युधिष्ठिर–प्रतिष्ठाता' नामसे विख्यात हुए हैं। इस प्रकार जरासन्ध आदि राजाओंका वध करनेमें स्वयं समर्थ होने पर भी तथा बार–बार उनके वधका सुयोग प्राप्त होने पर भी भीमसेन द्वारा उनका वध कराकर श्रीकृष्णने अपनी कीर्त्ति उनको प्रदान की थी॥३६॥

भगवानयमर्जुनश्च तत् प्रियसख्येन गतः प्रसिद्धताम्।
न पुराणशतैः परैरहो महिमा स्तोतुममुष्य शक्यते॥३७॥

श्लोकानुवाद—सब प्रकारके ऐश्वर्यसे सम्पन्न इन अर्जुनने भी श्रीकृष्णके प्रिय सखाके रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त की है। अहो! सैकड़ों पुराण और श्रेष्ठ शास्त्र भी इनकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकते॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगवानिति परमगौरवेण; किम्वा *'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥'* एवंलक्षणेन भगवत्तुल्यतया वा; तस्य कृष्णस्य प्रियसख्येन प्रियसखतयैव प्रसिद्धिं प्राप्तः। परैरन्यैश्च श्रेष्ठैरिति वा; अहो आश्चर्ये; अमुष्य अर्जुनस्य॥३७॥

भावानुवाद—अत्यधिक गौरवके कारण प्रस्तुत श्लोकमें अर्जुनके लिए 'भगवान्' शब्दका प्रयोग किया गया है। अथवा "जो सभी प्राणियोंकी उत्पत्ति, प्रलय, गति-अगति तथा विद्या और अविद्याके तत्त्वको जानते हैं, उन्हींके लिए 'भगवान्' शब्दका प्रयोग होता है।" इन शास्त्रीय लक्षणोंके आधार पर भगवान्के समान होनेसे अथवा भगवान् श्रीकृष्णके प्रियसखा होनेके कारण अर्जुन जगतमें प्रसिद्ध हुए हैं। अहो! (आश्चर्य) अनेक पुराण तथा अन्य शास्त्र भी उनकी महिमाको भलीभाँति वर्णन करनेमें असमर्थ हैं॥३७॥

नकुलः सहदेवश्च यादृक् प्रीतिपरौ यमौ।
अग्रपूजाविचारादौ　सर्वैस्तद्वृत्तमीक्षितम्॥३८॥

श्लोकानुवाद—(जुड़वाँ भाई) नकुल और सहदेवकी भी श्रीकृष्णके प्रति जिस प्रकारकी प्रीति है, उसका सम्पूर्ण परिचय उन्होंने राजसूय यज्ञके समय सर्वप्रथम श्रीकृष्णकी पूजाका प्रस्ताव रखकर दिया था, जिसे सभीने प्रत्यक्ष देखा है॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—यमौ यमलावित्यनेन एकस्य वृत्तमन्यस्मिन्नपि पर्यवस्यतीति बोध्यते। अग्रपूजायाः राजसूयेऽग्रार्हणं कस्मै देयमित्येवं विचारादौ, आदिशब्देन व्यवहारादि। तद्वृत्तं तयोः श्रीकृष्णप्रियतावृत्तम ईक्षितं साक्षादनुभूतं राजसूयादौ॥३८॥

भावानुवाद—ये नकुल और सहदेव श्रीकृष्णके प्रति अत्यधिक प्रीतियुक्त हैं। यहाँ 'यमौ' (जुड़वाँ भाई) कहनेसे एककी वृत्ति दूसरेमें भी पर्यवसित होती है, ऐसा समझना चाहिए, अर्थात् दोनोंकी एक समान प्रीति है। अग्रपूजा अर्थात् राजसूय यज्ञके अवसर पर सबसे पहले किसको अर्घ्य प्रदान (पूजन) किया जाए, इत्यादि प्रस्ताव तथा वैसा ही व्यवहार। राजसूय यज्ञमें उपस्थित सभी लोगोंने उन जुड़वाँ भ्राताओंकी श्रीकृष्ण प्रीतिकी वृत्तिको प्रत्यक्षरूपसे अनुभव किया है॥३८॥

श्रीद्रौपदी च हरिणा स्वयमेव राजसूयादिषूत्सववरेष्वभिषिक्तकेशा।
सम्बोध्यते प्रियसखीत्यवितात्रिपुत्र–दुःशासनादिभयतो हृतसर्वशोका॥३९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने स्वयं राजसूय यज्ञ उत्सवमें द्रौपदीके केशोंको अभिषिक्त किया है; वे द्रौपदीको 'प्रियसखी' कहकर सम्बोधन करते हैं तथा दुर्वासा और दुशासनके भयसे रक्षा करके श्रीकृष्णने उसके सम्पूर्ण शोकका हरण किया है॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—हरिणा स्वयमेवाभिषिक्ताः; स्वहस्तेन मन्त्रपूतजलकलसैः स्नापिताः केशा यस्याः सा। हे प्रियसखि! इत्येवं सम्बोध्यते आमन्त्रयते अत्रिपुत्रो दुर्वासास्तस्माद् यद्भयं, धर्मराजेन निमन्त्रितस्य सशिष्यगणस्य तस्य भोजनार्थं सूर्यवरप्राप्त–निजभोजनान्तर–त्यक्तान्नपात्रेऽन्नासद्भावात्, दुःशासनाच्च सभामध्ये वस्त्र–आकर्षणादिना यद्भयं, तस्मात्तस्मादविता रक्षिता च या। स्वयमागत्य स्थालीलग्न–शाकान्नप्राशनमात्रेण शिष्यगणसहितदुर्वाससस्तृप्तिजननात् क्षुदभावेनाधिकपाकदोषभीत्या सद्योऽपसारणात्, सभामध्ये च वस्त्रानन्त्यापादनात्। किञ्च, हृता नाशिता दुःशासनघातनादिना सर्वे शोकाः सभामध्यानयनादि सम्भवाः यस्याः सा॥३९॥

भावानुवाद—स्वयं श्रीकृष्णने राजसूय यज्ञके उत्सवमें द्रौपदीको अपने हाथों द्वारा मन्त्रोंसे शुद्ध किये जलके कलशसे स्नान करवाया और उसके केशोंको अभिषिक्त किया था। श्रीकृष्ण उनको 'हे प्रियसखि!' कहकर सम्बोधन करते हैं तथा उन्होंने अत्रिऋषिके पुत्र दुर्वासाके अभिशापसे द्रौपदीकी रक्षा की है। इसका वृत्तान्त इस प्रकार है—किसी एक समय जब पाण्डव काम्यवनमें वनवासका समय व्यतीत कर रहे थे, महाराज श्रीयुधिष्ठिरने महर्षि दुर्वासाको अपने साठ हजार शिष्योंके साथ भोजनके लिए निमन्त्रण दिया, किन्तु वे बहुत देरसे पाण्डवोंके पास पहुँचे। उस समय श्रीयुधिष्ठिर महाराज अपने भ्राताओं और पत्नी द्रौपदीके साथ भोजन कर चुके थे। सूर्यने वरदान दिया था कि द्रौपदीके भोजनके पश्चात् भोजनकी थालीको धोकर साफ कर लेने पर उनके पास अन्न समाप्त हो जाएगा; अतः उस समय उनकी भोजन सामग्री समाप्त हो चुकी थी। तब अन्नके अभावसे उत्पन्न भयसे श्रीकृष्णने उन लोगोंकी रक्षा की थी। किस प्रकार? श्रीकृष्णने स्वयं वनमें आकर थालीके भीतर लगे हुए कणमात्र शाकका भोजन कर 'तृप्तोऽस्मि' कहा, ऐसा कहनेके साथ ही शिष्यों

सहित महर्षि दुर्वासाका पेट पूर्णरूपसे भर गया तथा अधिक भोजन करनेमें असमर्थ होनेके भयके कारण वे वहाँसे तुरन्त भाग गये। भय इसलिए था कि उनके भोजन ग्रहण न करनेसे पाण्डवोंके द्वारा बनायी गयी सारी भोज्य सामग्री नष्ट हो जायगी और इसमें सारा दोष उनका ही होगा।

भरी सभाके बीच दुःशासन द्वारा द्रौपदीका वस्त्र खींचते समय श्रीकृष्णने उनके वस्त्रको अनन्तगुणा बढ़ा दिया था। इस प्रकार दुःशासनके भयसे भी द्रौपदीकी रक्षा की थी। फिर कुरुक्षेत्रके युद्धमें दुःशासन आदिके वध द्वारा सभामें खींचकर लानेके कारण हुए द्रौपदीके समस्त शोकका हरण किया था॥३९॥

आस्वादनं श्रीविदुरौदनस्य श्रीभीष्म-निर्याणमहोत्सवश्च।
तत्तत्कृतत्वादृशपक्षपात-स्यापेक्षयैवेति विचारयध्वम्॥४०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने जो विदुरके घरमें भोजन आस्वादन किया था और भीष्मका निर्याण अर्थात् वैकुण्ठ-गमन महोत्सव सम्पन्न किया था, उसको भी विचार करके देखो। वे केवल आपके पक्षपात या प्रीतिके कारणसे ही हुआ था, अन्य किसी कारणसे नहीं॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अन्नभक्षणेन श्रीविदुरे, श्रीभीष्मे च मरणसमयेऽपि महोत्सवापादनेनास्मत्तोऽधिकोऽस्यानुग्रहो दृश्यते? तत्राह—आस्वादनमिति। प्रीत्या तत्तद्रसग्रहणपूर्वकं सश्लाघं भक्षणम्; श्रीभीष्मस्य निर्याणं निःशेषेण गमनं मरणम्; यद्वा, अपुनरावृत्तिकं श्रीवैकुण्ठलोकलाभाय भगवत्सादृश्येन भगवत्सायुज्यमित्यर्थः; तदेव महानुत्सवः। एवं यत्र कुत्रापि भक्तानां भगवत्सायुज्यप्राप्त्युक्तिस्तु केवलं सच्चिदानन्दविग्रहत्वेन भगवत्सादृश्याद् वैकुण्ठप्राप्तियोग्यता-बोधनायैवेत्यग्रे व्यक्तं भावि। तेन विदुरेण, तेन च भीष्मेण कृतो यस्त्वादृशेषु पक्षपातः साहायं स्नेहविशेषो वा तस्यैवापेक्षया, न तु तयोः सद्वृत्ताद्यपेक्षयाः; तयोः स्वकीयल्पानुवृत्त्या तादृशमहाप्रसादलाभासम्भवादित्यर्थः। इत्येतत् विचारेण जानीथ। एवं लोके परमानुग्रह-पात्रतया प्रसिद्धाभ्यामाभ्यामपि सकाशात् पाण्डवानां भूरिभागत्वं दर्शितम्॥४०॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीकृष्णने विदुरके घरमें अन्न भोजन किया था और भीष्मकी मृत्युके समय भी महोत्सव किया था, अतएव हमारी (पाण्डवोंकी) तुलनामें उनके प्रति श्रीकृष्णका अनुग्रह अधिक

दिखाई देता है? इसीके लिए 'आस्वादनं' इत्यादि पद कह रहे हैं। वे लोग तुम पाण्डवोंके प्रति स्नेह रखते थे, इसीलिए उनके प्रति भी श्रीकृष्णका ऐसा अनुग्रह दिखाई दे रहा है। श्रीकृष्णने प्रीतिपूर्वक या प्रशंसापूर्वक विदुरका अन्नरस आस्वादन किया था तथा भीष्मका निर्याण अर्थात् निःशेषरूपमें गमन या मरणरूप महोत्सवको भी सम्पन्न किया था। अथवा निर्याण कहनेसे अपुनरावृत्तिरूप (संसारमें पुनः आगमन न कर) श्रीवैकुण्ठ प्राप्तकर भगवत् सादृश्य अर्थात् भगवान्के समान रूप प्राप्त किया था—समझना होगा। अतः इस भगवत् सायुज्य रूप भीष्मनिर्याण महोत्सवको श्रीकृष्णने सम्पूर्ण किया था। इस प्रकार यदि किसी-किसी स्थल पर भक्तोंकी सायुज्यमुक्तिकी बात आती है, तो ऐसी बात उस स्थान पर केवल भगवान्के समान सच्चिदानन्द विग्रह प्राप्तिकी अथवा वैकुण्ठ प्राप्तिकी योग्यताका बोध करानेके लिए ही कथित होती है; इस विषयमें आगे चर्चा होगी।

वास्तवमें इसी प्रकार विदुरका अन्नरूपी रस आस्वादन अथवा भीष्मका भगवत् सादृश्यरूप वैकुण्ठ-प्राप्ति महोत्सव हुआ था। वह भी इसलिए कि वे दोनों आप (पाण्डवों)के प्रति स्नेहशील थे और आपका पक्ष लेते थे। इसीलिए उन्होंने श्रीकृष्णकी ऐसी कृपाको प्राप्त किया था, अन्य किसी कारणसे नहीं। अर्थात् उनकी साधुवृत्तिके कारण उन पर ऐसी कृपा नहीं हुई, क्योंकि उनमें भगवान्के प्रति सेवावृत्ति बहुत कम थी तथा वैसी अल्प सेवावृत्ति द्वारा उस प्रकारकी कृपा प्राप्त होना असम्भव है। यह आप स्वयं ही विचार करके देखिये। इस प्रकार संसारमें श्रीभगवान्के परम अनुग्रहके पात्र समझे जानेवाले विदुर और भीष्मकी तुलनामें पाण्डवोंका अधिक सौभाग्य प्रदर्शित हुआ है॥४०॥

अहो वत महाश्चर्यं कवीनां गेयतां गताः।
भवदीय-पुरस्त्रीणां ज्ञानभक्त्युक्तयो हरौ॥४१॥

श्लोकानुवाद—अहो! कैसे महान आश्चर्यका विषय है! आपके नगरकी सभी स्त्रियाँ भी श्रीकृष्णके उद्देश्यसे जिस ज्ञान और भक्तिकी

चर्चा करती हैं, वह सब श्रीव्यास जैसे कवियोंके वर्णनका विषय बन गया है॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्तु तावद्भवतां वार्त्ता, भवत्सम्बन्धेन पौरजनानामपि परमाश्चर्यमहिमेत्याह—अहो इति। कवीनां श्रीव्यासादीनां गेयतां संकीर्त्तन-योग्यतां प्राप्ताः। हरौ श्रीकृष्णे यत् ज्ञानं भक्तिश्च ताभ्यां कृत्वा उक्तयो वचनानि। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/१०/२१) *'स वै किलायं पुरुषः पुरातनो, य एक आसीदविशेष आत्मनि। अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु॥'* इत्याद्याः पञ्चश्लोकाः ज्ञानोक्तयः। *'अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलमहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्। यदेष पुंसामृषभः प्रियः श्रियः, स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति॥'* (श्रीमद्भा॰ १/१०/२६) इत्यादयश्च चत्वारो भक्त्युक्तय इति॥४१॥

भावानुवाद—आप लोगोंकी महिमाका तो कहना ही क्या, आप लोगोंके सम्बन्धसे आपके नगरवासियोंकी भी अद्भुत महिमा है—इसे 'अहो' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। अहो! कैसे महान आश्चर्यकी बात है! आपके नगरकी सभी स्त्रियाँ श्रीकृष्णके उद्देश्यसे जिस ज्ञान और भक्तिकी परस्पर चर्चा करती हैं, वह चर्चा श्रीव्यास जैसे कवियोंके वर्णनका विषय हुआ है। यथा, प्रथम-स्कन्धमें कथित है—"ये पुराणपुरुष साक्षात् ईश्वर हैं। ये गुणोंके क्षुब्ध होनेसे पहले तथा (अविद्या ध्वंस करनेके लिए जीवोंके उपाधिभूत) तीनों गुणोंके लयरूप प्रलयकालमें अकेले ही प्रपञ्च रहित अपनेमें अवस्थित थे। बादमें इन्होंने जीवके नाम और रूपको प्रकाश करनेके लिए अपनी कालशक्ति द्वारा प्रेरित जीवमोहिनी तथा सृष्टिकी इच्छा करनेवाली प्रकृतिके प्रति दृष्टिपात किया था।" इत्यादि श्रीमद्भा॰ (१/१०/२१-२५) पाँच श्लोकोंमें ज्ञानकी बात सुनाकर फिर श्रीमद्भा॰ (१/१०/२६-२९) तक चार श्लोकोंमें भक्तिकी बात कह रहे हैं, यथा—"अहो! ये पुरुषोत्तम भगवान् जिस यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं, वह यदुवंश धन्य है। मधुवनका (वृन्दावनका) भी क्या सौभाग्य है! श्रीदेवकीनन्दनके जन्म और विहार आदिके कारण उनकी पदरेणुके स्पर्शसे वह स्थान परम पवित्र हो गया है। द्वारकाके माहात्म्यकी भी कोई सीमा नहीं है, पृथ्वी उसे अपने वक्षःस्थल पर धारण करके धन्य हो गयी है।" इत्यादि भक्तिको संकेत करनेवाली उक्तियाँ हैं॥४१॥

सहैकपौत्रेण कयाधुनन्दनोऽनुकम्पितोऽनेन कपीन्द्र एकलः।
ससर्वबन्धुः सजना भवादृशा महाहरेः प्रेमकृपाभरास्पदम्॥४२॥

श्लोकानुवाद—कयाधुनन्दन श्रीप्रह्लाद महाराजने एकमात्र अपने पौत्रके साथ तथा कपीन्द्र श्रीहनुमानने अकेले ही श्रीहरिकी कृपाको प्राप्त किया था। परन्तु आप लोग अपने समस्त बन्धु-बान्धवों और स्वजनोंके सहित श्रीहरिकी विशेष कृपा और प्रेमके पात्र बने हैं॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुपसंहरिष्यन् पूर्वोद्दिष्टं श्रीप्रह्लाद-हनूमद्‌भ्यां सकाशात् भूरिभागत्वं साक्षादेवाह—सहेति, एकेन पौत्रेण बलिनैव सह कयाधुनन्दनः प्रह्लादः। यथोक्तं श्रीभगवता एकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/१२/५)—*'बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः'* इति। अनेन श्रीकृष्णेन; कपीन्द्रो हनूमांस्तु एकलः एकाक्येव, नैष्ठिकब्रह्मचारित्वेन पुत्राद्यभावात्। बान्धवाः पुत्रकलत्रादयः; स्वजनाः पौरामात्यादयः; यद्वा, बान्धवा सम्बन्धिनः, द्रुपदविराटाद्याः; स्वा ज्ञातयः दुर्योधनादीनामपि सद्‌गतिप्राप्तेः; जनाः भृत्य प्रजादयः; तै सर्वैरेव सहिताः। तत्रापि महाहरेः परमावतारिणः परममहामनोहरस्य श्रीकृष्णस्य तत्रापि प्रेमयुक्तायाः कृपायाः भरस्य भाजनम्॥४२॥

भावानुवाद—अब उपसंहार करते हुए पूर्वकथित श्रीप्रह्लाद और श्रीहनुमानसे भी पाण्डवोंके साक्षात् भूरिभाग्यत्व अर्थात् महाभाग्यशाली होनेका वर्णन कर रहे हैं। कयाधुनन्दन श्रीप्रह्लाद महाराजने अपने एकमात्र पौत्र बलि महाराजके साथ श्रीभगवान्‌की कृपा प्राप्त की थी। यथा, एकादश-स्कन्धमें भगवान्‌की उक्ति है—"वृत्रासुर और कयाधुनन्दन श्रीप्रह्लाद आदि अनेक व्यक्तियोंने मुझे प्राप्त किया था।" कपीन्द्र श्रीहनुमानने अकेले ही श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त की थी। श्रीहनुमान नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, इसलिए उनके पुत्र-पत्नी आदि नहीं थे। किन्तु आप लोगोंने अपने पुत्र-पत्नी आदि स्वजनों, सेवक, मंत्री और प्रजा आदि नगरवासियोंके साथ श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त की है। अथवा बान्धव-सम्बन्धीय द्रुपद और विराटादि तथा आपके ज्ञाति दुर्योधन आदिने भी श्रीकृष्णकी कृपासे सद्‌गति प्राप्त की है। आप लोगोंका और भी वैशिष्ट्य यह है कि श्रीप्रह्लाद और श्रीहनुमानने श्रीकृष्णके अवतार द्वारा कृपा प्राप्त की हैं, किन्तु आपने तो परम मनोहर स्वयं अवतारी श्रीकृष्णकी ही विशेष कृपाको प्राप्त किया है; केवल कृपा ही नहीं, प्रेमयुक्त कृपाको प्राप्त किया है॥४२॥

उद्दिश्य यान् कौरवसंसदं गतः
कृष्णः समक्षं निजगाद मादृशां।
ये पाण्डवानां सुहृदोऽथ वैरिणस्ते
तादृशा मेऽपि ममासवो हि ते॥४३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने कौरवोंकी भरी सभामें हम लोगोंके सामने ही आपलोगोंको उद्देश्य करके कहा था, 'जो पाण्डवोंके सुहृत् हैं, वे मेरे भी सुहृत् हैं; जो उनके शत्रु हैं, वे मेरे भी शत्रु हैं, क्योंकि पाण्डव मेरे प्राणोंके समान हैं'॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—उद्दिश्येति; मादुशां महामुनिप्रभृतीनां समक्षं साक्षादेव; अनेन सर्वमहाजनविदितत्त्वं सत्यत्वञ्चेति सूचितम्। किं तत्। ये पाण्डवानां सुहृदः हितकर्त्तारः ते ममापि सुहृदः, ये च तेषां वैरिणो विद्वेष्टारस्ते ममापि वैरिण इत्यर्थः। हि यस्मात् ते पाण्डवाः मम असवः प्राणतुल्याः परमप्रियतमा इत्यर्थः। तथा च श्रीभगवद्वाक्यं उद्योगपर्वणि—*'यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु। ऐकात्म्यमागतं विद्धि पाण्डवैधर्माचारिभिः॥'* इति। अन्यत्रापि—*'द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत। पाण्डवान् द्विषसे राजन्! मम प्राणा हि पाण्डवाः॥'* इति॥४३॥

भावानुवाद—पाण्डवों पर श्रीकृष्णकी कैसी कृपा थी, इसे 'उद्दिश्य' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें आप लोगोंको उद्देश्य करके मेरे जैसे महामुनियोंके समक्ष ही कहा था। इसके द्वारा सभी महाजनोंके द्वारा अवगत परम सत्य ही सूचित हुआ। श्रीकृष्णने क्या कहा था? "जो लोग पाण्डवोंके सुहृत् (हितकारी) हैं, वे मेरे भी सुहृत् हैं तथा जो उनके शत्रु हैं, वे मेरे भी शत्रु हैं, क्योंकि पाण्डव मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।" यथा, महाभारतके उद्योगपर्वमें भगवान्ने कहा है—"जो लोग पाण्डवोंसे विद्वेष करते हैं, वे मुझसे ही विद्वेष करते हैं और जो पाण्डवोंके अनुगत हैं, वे मेरे भी अनुगत हैं। अतएव धर्मका आचरण करनेवाले पाण्डवोंको और मुझको एक समान ही समझना।" और दूसरे स्थान पर भी कहा गया है कि किसी समय जब कौरवोंने भगवान् श्रीकृष्णको भोजनके लिए प्रार्थना की थी, तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा था—"विद्वेषी व्यक्तियोंका भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए और न ही उनको भोजन कराना चाहिए।

हे राजन्! आपलोग तो पाण्डवोंके विद्वेषी हैं, परन्तु पाण्डव मेरे प्राणोंके समान हैं"॥४३॥

धार्ष्ट्यं ममाहो भवतां गुणान् किल
ज्ञातुञ्च वक्तुं प्रभवेत् स एकलः।
निर्णीतमेतत्तु मया महाप्रभुः
सोऽत्रावतीर्णो भवतां कृते परम्॥४४॥

श्लोकानुवाद—अहो! आपलोगोंके गुणोंका वर्णन करना मेरी धृष्टता है, क्योंकि आपलोगोंके गुणोंको तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही भलीभाँति जानते हैं तथा वे ही उनका वर्णन कर सकते हैं। तथापि मैंने यह निश्चय किया है कि भगवान् श्रीकृष्ण इस जगतमें केवल आप लोगोंके लिए ही अवतीर्ण हुए हैं॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उपसंहरति—धार्ष्ट्यमिति। स श्रीकृष्णः एकलः एक एव भवतां गुणान् ज्ञातुं वक्तुञ्च शक्नुयात् नान्यः, तस्यैव तदनुरूपव्यवहारदर्शनात्। किलेति निश्चये वितर्के वा, अनिर्वचनीयादिस्वभावकत्वेन सम्यगनवधारणात्। अतस्तदवर्णने मम प्रवृर्त्तिधार्ष्टयमेवेत्यहो कष्टमित्यर्थः। 'किं नु बहुनोक्तेन? किं मया तु एतन्निर्णीतम्? किं स महाप्रभुः श्रीदेवकीनन्दनः परं केवलं भवताम् कृते निमित्तम् भवदीयसुखसम्पन्माहात्म्यविशेषविस्तारणार्थमेवात्रावतीर्णः?' इति॥४४॥

भावानुवाद—अतएव आप लोगोंके गुणोंका वर्णन करनेका प्रयास करना भी मेरी धृष्टता ही है, ऐसा कहते हुए देवर्षि श्रीनारद उपसंहार कर रहे हैं। आप लोगोंके गुणोंको केवल श्रीकृष्ण ही भलीभाँति जानते हैं और वे ही उसका वर्णन कर सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं। विशेषतः श्रीकृष्णके आपलोगोंके गुणोंके अनुरूप व्यवहारके दर्शनसे मैंने यह निश्चय कर लिया है कि आपके समस्त गुणोंको समझना और निश्चय करना असम्भव है। वे अनिर्वचनीय हैं, अतएव उनको वर्णन करनेका प्रयास करना भी मेरी धृष्टता ही है। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—अहो! उनको वर्णन करनेमें मेरी प्रवृत्ति कैसे दुःसाहसका विषय है! अतएव अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, मैंने यह निर्धारित कर लिया है कि भगवान् श्रीदेवकीनन्दन केवल

आपकी सुख-सम्पत्ति (प्रसन्नता) तथा महिमाका विस्तार करनेके लिए ही इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं॥४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अथ क्षणं लज्जयेव मौनं कृत्वाथ निःश्वसन्।
धर्मराजोऽब्रवीन्मातृभ्रातृपत्नीभिरन्वितः ॥४५॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! तब एक क्षणके लिए मौन रहकर तथा लज्जासहित एक लम्बी सांस लेकर महाराज श्रीयुधिष्ठिर अपनी माता, भाई और पत्नी सहित कहने लगे— ॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वमाहात्म्यश्रवणेन लज्जया; इवेति वस्तुतश्चातृप्त्या मनोदुःखेन परमोपहासमिव मत्वा शोकेनेत्यर्थः। अतएव निःश्वसन् उच्चैर्दीर्घश्वासं मुञ्चन्; यद्यपि मात्रादिभिरन्वित इत्युक्तं, तथापि तेषां क्रमेणैवोक्तिरवगन्तव्या, अग्रे तथैवोक्तेः॥४५॥

भावानुवाद—महाराज श्रीयुधिष्ठिर अपने माहात्म्यको सुनकर लज्जितकी भाँति हो गये। यहाँ पर 'इव' कारका तात्पर्य है कि वास्तवमें भक्तिका स्वभाव—अतृप्ति है, अतएव उक्त माहात्म्यको अत्यधिक उपहासजनक मानकर श्रीयुधिष्ठिर मनमें दुखित हुए। फिर एक क्षणके लिए मौन धारण करके दीर्घ श्वास लेते हुए अपनी माता, भाई और पत्नीके सहित कहने लगे। यद्यपि यहाँ माता, भाई इत्यादिके सहित कहा गया है, तथापि उन्होंने क्रमानुसार अपना-अपना मन्तव्य प्रकाश किया है, वह आगे व्यक्त होगा॥४५॥

वावदूक्-शिरोधार्य नैवास्मासु कृपा हरेः।
विचार्याभीक्ष्णमस्माभिर्जातु काप्यवधार्यते॥४६॥

श्लोकानुवाद—श्रीयुधिष्ठिरने कहा—हे वाग्मि-शिरोमणि (श्रीनारद)! हमलोग बारम्बार विचार करके भी अपने प्रति भगवान् श्रीकृष्णकी कभी भी किसी प्रकारकी कृपाको निश्चित नहीं कर पाये हैं॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे वावदूकानां वाग्मिनां शिरोधार्य! तेषु श्रेष्ठतमेत्यर्थः। एतेन वाक्चातुर्यादेव भवतैवमुक्तं, न तु परमार्थविचारादिति ध्वनितम्। यतः

अस्मासु काचिदपि हरेः कृपास्माभिरभीक्ष्णं मुहुर्मुहुर्विचार्य जातु कदाचिदपि नैवावधार्यते, न निश्चयेन ज्ञायते॥४६॥

भावानुवाद—हे वाग्मि-शिरोमणि (श्रीनारद)! आप अपनी वाक् चातुरीवशतः ऐसा कह रहे हैं, किन्तु परमार्थका विचार करके नहीं कह रहे हैं। यही इस सम्बोधनसे सूचित हो रहा है। इसका कारण है कि हमलोग बारम्बार विचार करके भी अपने प्रति भगवान् श्रीकृष्णकी कभी भी किसी प्रकारकी कृपाको निश्चितरूपसे जान नहीं पाये हैं अर्थात् उसे ठीकसे समझ ही नहीं पाये हैं॥४६॥

प्राकृतानां जनानां हि मादृगापद्गणेक्षया।
कृष्णभक्तौ प्रवृत्तिश्च विश्वासश्च ह्रसेदिव॥४७॥

श्लोकानुवाद—ऐसा लगता है कि हमारी विपत्तियोंको देखकर साधारण लोगोंमें श्रीकृष्णका भजन करनेकी प्रवृत्ति और विश्वास नष्ट होगा॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव सहेतुकं दर्शयति—प्राकृतानामिति दशभिः, प्राकृतानां बहिर्दृष्टिदुष्टानाम्, मादृक्षु तद्भक्तेषु य आपद्गणः तस्येक्षया दृष्ट्या *'न वासुदेव-भक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्'*, इत्यादिरूपो विश्वासः, तस्य ह्रासात् प्रवृत्तिश्च ह्रसेत् त्रुट्यतीव। तदानीमपि सम्यक् तादृशत्वाभावादिवशब्दः॥४७॥

भावानुवाद—'हमारे प्रति भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा नहीं है' इसीको कारण सहित प्रदर्शन करनेके लिए श्रीयुधिष्ठिर 'प्राकृतानां' इत्यादि श्लोकसे आरम्भ करके 'अस्मासु' तक दस श्लोक कह रहे हैं। हमारे जैसे भक्तोंकी विपत्तियोंको देखकर प्राकृत अर्थात् सांसारिक दृष्टिके दोषसे दुष्ट लोगोंकी श्रीकृष्ण-भजनमें प्रवृत्ति मानो कम हो जाएगी; अथवा 'श्रीवासुदेवके भक्तोंका कदापि अशुभ नहीं हो सकता है' इत्यादि शास्त्रीय वचनोंके प्रति उनकी श्रद्धा घट जाएगी। वास्तवमें उस समय वहाँके लोगोंमें ऐसे विश्वासका अभाव ही दिखलायी दे रहा था। इसलिए 'इव' कारका प्रयोग किया गया है॥४७॥

एतदेवातिकष्टं नस्तदेकप्राणजीविनाम्।
विनान्नं प्राणिना यद्वन्मीनानाञ्च विना जलम्॥४८॥

श्लोकानुवाद—प्राणी जिस प्रकार अन्नके बिना और मछली जिस प्रकार जलके बिना जीवन धारण नहीं कर पाती, हम भी उसी प्रकार श्रीकृष्णके बिना जीवन धारण नहीं कर पाते हैं। श्रीकृष्ण ही हम लोगोंके एकमात्र प्राण हैं, अतः उनके द्वारा ही हम जीवन धारण करते हैं॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतत् कृष्णभक्तिविश्वासप्रवृत्ति-ह्रसनमेव, नत्वापद्गणभोगः; यतः स कृष्ण एव, सा कृष्णभक्तिर्वा; एकोऽद्वितीयो मुख्यो वा। प्राणः सूत्रात्माख्यो देहधारकः तद्धेतुर्वायुर्वा; तेनैव जीवितुं शीलमेषामिति तथा तेषाम्। तत्र दृष्टान्तद्वयं विनेति, जलं विना मीनानाञ्च यद्वदित्यनेन क्षणमपि तदतिकष्टसहनासामर्थ्यमुक्तम्॥४८॥

भावानुवाद—साधारण लोगोंमें श्रीकृष्णका भजन करनेकी प्रवृत्ति और विश्वासका नाश होगा, हमारे लिए केवल यही अत्यधिक कष्टका विषय है, अन्यथा विपत्तियोंको भोग करनेमें हमें कोई कष्ट नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी भक्ति ही हमारे एकमात्र प्राण हैं अर्थात् उनको अपने प्राणोंका प्राण जानकर ही हमलोग अपना जीवन धारण करते हैं। यहाँ पर 'प्राण' कहनेसे 'आत्मा' नामक देहधारण करनेवालेको अथवा उसके कारण प्राणवायुको समझना चाहिए। वायुके बिना जैसे प्राणी क्षणकाल भी प्राणोंको धारण नहीं कर पाते, उसी प्रकार हमलोग भी श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णकी भक्तिके बिना जीवन धारण नहीं कर पाते हैं। इस विषयमें दृष्टान्त हैं—प्राणी जैसे अन्नके बिना तथा मछली जैसे जलके बिना एक क्षणके लिए भी जीवन धारण नहीं कर पाती। इसके द्वारा यह दिखाया जा रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी भक्तिके बिना पाण्डवोंके प्राणोंको जो कष्ट होता है, उसको क्षणकालके लिए भी सहन करनेमें वे असमर्थ हैं॥४८॥

अतोऽर्थितं मया यज्ञसम्पादनमिषादिदम्।
निष्ठां दर्शय भक्तानामभक्तानामपि प्रभो॥४९॥

श्लोकानुवाद—इसीलिए मैंने राजसूय यज्ञ सम्पूर्ण करानेके बहाने श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें यही प्रार्थना की थी, 'हे प्रभो! आप अपने भक्तों और अभक्तोंकी निष्ठाका प्रदर्शन कीजिए'॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतोऽस्मादेव हेतोः राजसूयादियज्ञसम्पादनच्छलेन इदमर्थितं याचितम्, मिषादिति; अन्यथा तत्फलादौ तात्पर्याभावात्; अथवास्य पदस्योत्तरेणान्वयः। किन्तदाह—निष्ठामिति। स्थितिं—त्वद्भक्ता ऐहिकामुष्मिकाशेषसम्पद्भाजो भवन्ति, अन्ये च तद्विपरीता इत्येवंलक्षणाम्। यथोक्तमनेनैव दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/७२/५) *'तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः। ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां, निष्ठां प्रदर्शय विभो! कुरु सृञ्जयानाम्॥'* इति॥४९॥

भावानुवाद—इसी कारण मैंने राजसूय यज्ञ सम्पूर्ण करानेके छलसे भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की थी, 'हे प्रभो! आप अपने भक्तों और अभक्तोंकी निष्ठा अर्थात् स्थितिका प्रदर्शन कीजिए', नहीं तो हमारे द्वारा इस राजसूय यज्ञके फल प्राप्तिकी कोई सार्थकता ही नहीं है। यहाँ पर स्थिति कहनेसे यह समझना चाहिए कि केवल भगवान्के भक्त ही ऐहिक और पारत्रिक असीम सम्पत्तिके अधिकारी होते हैं, अतएव वही 'स्थिति' शब्दवाच्य हैं। भक्तोंके अलावा और सभी लोग उसके विपरीत लक्षणों अर्थात् इस लोकमें और परलोकमें केवल दुःख ही भोग करते हैं। इस विषयमें स्वयं धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरने ही कहा है, "हे भगवन्! ये सब लोग आपके श्रीचरणकमलोंकी सेवाके महत्वका दर्शन करें। हे विभो! कौरवों और पाण्डवोंमें जो आपका भजन करते हैं और जो आपका भजन नहीं करते हैं, उन दोनोंकी ही निष्ठा या गतिका प्रदर्शन कीजिए"॥४९॥

लोकोऽयन्तु यतो लोका सर्वे त्वद्भक्तसम्पदः।
ऐहिकामुष्मिकीश्चित्राः शुद्धाः सर्वविलक्षणाः॥५०॥
भूत्वा परमविश्वस्ता भजन्तस्तत्पदाम्बुजम्।
निर्दुःखा निर्भया नित्यं सुखित्वं यान्ति सर्वतः॥५१॥

श्लोकानुवाद—तभी संसारके समस्त जीव आपके भक्तोंकी लौकिक तथा पारलौकिक विचित्र, पवित्र और विलक्षण सम्पत्तिको देखकर अत्यधिक विश्वासपूर्वक आपके श्रीचरणकमलोंका भजन करके समस्त प्रकारके दुःख और भयसे रहित होकर नित्य सुखको प्राप्त कर सकेंगे॥५०–५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यतो निष्ठादर्शनाद्धेतोः; त्वद्भक्तानां सम्पदो विभूतीर्लोकयन्तः वीक्ष्यमाणाः सर्वेऽपि लोकाः परमविश्वस्ता भूत्वा तव पादाम्बुजं भजन्तः नित्यं निर्गताशेषदुःखा निर्गताखिलभयाश्च सन्तः सर्वत्र सुखित्वं सौख्यं यान्ति प्राप्नुवन्तीति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशीस्ताः? ऐहिकीः राजसूयादियागसाम्राज्यादीः, आमुष्मिकीर्देवगण-पूज्यत्वाद्याः; चित्रा बहुविधाः; शुद्धाः सर्वदोषरहिताः; अतएव सर्वाभ्यो धर्मादि-परलोकसम्पदभ्यो विलक्षणा असाधारणीरित्यर्थः॥५०-५१॥

भावानुवाद—अतएव सभी लोग भगवद्भक्तोंकी निष्ठाका दर्शन करके अर्थात् भक्तोंकी लौकिक और पारलौकिक सम्पत्तिका दर्शन करके, अत्यधिक विश्वासके साथ आपके श्रीचरणकमलोंका भजन करते हुए, सदैव सर्वत्र असीम दुखों तथा अखिल भयसे रहित होकर नित्य सुखको प्राप्त करें। वह सम्पत्ति कैसी है? लौकिक सम्पत्ति कहनेसे राजसूय यज्ञ आदि अनेक प्रकारके यज्ञोंको सम्पूर्ण करनेके योग्य अर्थात् सब प्रकारके दुखोंसे रहित साम्राज्य आदिका होना; तथा पारलौकिक सम्पत्ति कहनेसे देवताओंके भी पूज्य होना आदि असाधारण सम्पदको समझना चाहिए। अतएव सर्वश्रेष्ठ तथा धर्म आदिके पालन द्वारा प्राप्त होनेके कारण ही भक्तोंकी सम्पत्तिको सबसे विलक्षण सम्पत्ति कहा गया है॥५०-५१॥

सम्प्रत्यभक्तानस्माकं विपक्षांस्तान् विनाश्य च।
राज्यं प्रदत्तं यत्तेन शोकोऽभूत्पूर्वतोऽधिकः॥५२॥

श्लोकानुवाद—अब श्रीकृष्णने हमारे विपक्षी अभक्तोंका नाश करके हमें राज्य प्रदान किया है, परन्तु इसके द्वारा हमें पहलेसे भी अधिक शोककी प्राप्ति हुई है॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वीदानीमापद्गण-विनाशादिना तन्मनोरथस्तेन सम्पादित एव, कथं शोचसि? तत्राह—सम्प्रतीति। तस्या भक्ता एवास्माकं विपक्षास्तान्, तान् सुप्रसिद्धान् जरासन्ध-शिशुपाल-दुर्योधनादीन् विशेषेण पुनर्जन्माभावात् समूलतया नाशयित्वा, तेन राज्यदानेन, पूर्वतः आपत्कालीनाच्छोकादप्यधिकः॥५२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि अब तो श्रीकृष्णने आपकी सारी विपत्तियोंका नाश करके आपके सारे मनोरथोंको पूर्ण कर दिया है, अतएव शोक क्यों कर रहे हो? इसीके उत्तरमें 'साम्प्रत्य' इत्यादि पद

कह रहे हैं। यद्यपि इस समय श्रीकृष्णने अपने अभक्तों और हमारे विपक्षियोंमें प्रसिद्ध जरासन्ध, शिशुपाल और दुर्योधन आदिका विनाश करके अर्थात् उन्हें मोक्ष प्रदानकर उनके पुनर्जन्मकी सम्भावनाका समूल विनाश करके हमें राज्य प्रदान किया है, यह सत्य है; किन्तु इससे हमें विपत्तियोंके समय हुए दुःखकी तुलनामें अधिक दुःखकी ही प्राप्ति हुई है॥५२॥

द्रोणभीष्मादिगुरवोऽभिमन्युप्रमुखाः सुताः।
परेऽपि बहवः सन्तोऽस्मद्धेतोर्निधनं गताः॥५३॥

श्लोकानुवाद—इस राज्यके लिए ही द्रोण और भीष्म आदि गुरुवर्ग, अभिमन्यु आदि पुत्रों तथा बहुतसे धर्म परायण राजाओंका निधन हो गया है॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—द्रोणेति त्रिभिः। सन्तः साधवः श्रीकृष्णभक्ता इत्यर्थः। निधनं गताः मृताः, तत्रापि अस्माद्धेतोः अस्मद्राज्यादि-सिद्धयर्थमित्यर्थः॥५३॥

भावानुवाद—श्रीयुधिष्ठिर अपने शोकका कारण बता रहे हैं—इस राज्यकी प्राप्तिके लिए द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह आदि गुरुवर्ग तथा बहुतसे धार्मिक अर्थात् श्रीकृष्णभक्त राजाओंका निधन हो गया है। इन सबकी मृत्युका कारण एकमात्र हम ही हैं अर्थात् हमें राज्य प्राप्त करवानेके लिए ही उन सबकी मृत्यु हुई है॥५३॥

स्वजीवानाधिकप्रार्थ्यश्रीविष्णुजनसङ्गतेः ।
विच्छेदेन क्षणञ्चात्र न सुखांशं लभामहे॥५४॥

श्लोकानुवाद—वास्तवमें भगवान् श्रीविष्णुके भक्तोंका संग हमें अपने जीवनसे भी अधिक प्रार्थनीय है, परन्तु अब उन्हीं भक्तोंके विच्छेदसे हम लोग इस संसारमें एक क्षणके लिए तनिक भी सुख प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः स्वजीवनादपि अधिकं प्रार्थ्या, यद्वा, अधिका महत्तरा अतएव प्रार्थ्या या श्रीविष्णुजनैर्भगवद्भक्तैः सङ्गतिस्तस्या विच्छदेन हेतुना; अप्यर्थे चकारः। क्षणमपि सुखस्यांशं लेशमपि न लभामहे॥५४॥

भावानुवाद—अतएव महत् भक्तोंका संग हमें अपने जीवनसे भी अधिक अथवा प्राणोंसे भी अधिक प्रार्थनीय है। किन्तु उन्हीं श्रीविष्णुभक्तोंके संगके बिना हम इस राजपुरीमें एक क्षण भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं॥५४॥

श्रीकृष्णवदनाम्भोजसन्दर्शनसुखञ्च तत्।
कदाचित् कार्ययोगेन केनचिज्जायते चिरात्॥५५॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके अनिर्वचनीय मुखकमलका दर्शन करनेका सुख भी बहुत समयसे अन्तर्हित हो गया है। अब तो कभी-कभी अश्वमेध आदि यज्ञोंके समय ही हमें वह सुख प्राप्त होता है, अतएव अत्यधिक शोक ही होता है॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च श्रीकृष्णेति; तत् पुरानुभूतम्, अनिर्वचनीयमिति वा; कार्यस्य अश्वमेधादेर्योगेनैव, अतोऽधुना परमः शोको जात एवेति भावः॥५५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५५॥

यादवानेव सद्बन्धून् द्वारकायामसौ वसन्।
सदा परमसद्भाग्यवतो रमयति प्रियान्॥५६॥

श्लोकानुवाद—इस समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें रहकर अपने परम बन्धुओं और परम सौभाग्यशाली प्रियतम यादवोंको निरन्तर सुख प्रदान कर रहे हैं॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भवत्सदृशास्तस्यान्ये प्रियजना न हि सन्ति; तद्भवदर्थार्थमेव कुत्रापि गतस्तं निष्पाद्यागतप्राय इति चेन्न; अस्मत्तोऽपि यादवास्तस्य परमप्रियतमा इति वक्तुं तेषां सौभाग्यविशेषमाह—यादवानिति। सद्बन्धून् परमोत्कृष्ट-बान्धवान्, अतएव प्रियान्, कुतः? परमसत् परमोत्कृष्टं भाग्यं श्रीकृष्णभक्तिविशेषरूपं तद्वतः। अतएवासौ श्रीकृष्णः सदा रमयति। एवं तादृश भाग्याभावेन वयं तदुपेक्षिता निकृष्टा यादवाश्च परमधन्या इति भावः॥५६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि आप लोगोंके समान भगवान् श्रीकृष्णका कोई भी प्रियतम नहीं है, अतएव वे आप लोगोंके किसी कार्यके लिए ही किसी अन्य स्थान पर गये होंगे, किन्तु कार्य पूरा करके पुनः लौट

आएँगे, ऐसा ही समझो। 'नहीं! हमारी तुलनामें यादव उनको परमप्रिय हैं' इसे कहनेके लिए श्रीयुधिष्ठिर यादवोंके सौभाग्यके विषयमें 'यादवा' इत्यादि पद कह रहे हैं। यादव श्रीकृष्णके सद्बन्धु अथवा सर्वश्रेष्ठ बान्धव हैं, अतएव उनके प्रियतम होनेके कारण यादव ही सर्वाधिक सौभाग्यशाली हैं। यहाँ 'भाग्य' कहनेसे श्रीकृष्णके प्रति विशेष भक्तिका बोध होता है और यादव श्रीकृष्णकी उसी विशेष भक्तिके कारण परम भाग्यवान हैं। इसलिए श्रीकृष्ण अभी द्वारकामें अवस्थान कर रहे हैं तथा उनको सदैव सुख प्रदान कर रहे हैं। परन्तु वैसी भक्तिके अभावमें हमलोग श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षित हैं, अतएव हम अत्यन्त निकृष्ट हैं तथा यादवगण परम धन्य हैं, यही भावार्थ है॥५६॥

अस्मासु यत्तस्य कदापि दौत्यं सारथ्यमन्यच्च भवद्भिरीक्ष्यते।
तद्भूरिभारक्षपणाय पापनाशेन धर्मस्य च रक्षणाय॥५७॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीनारद! आप कभी-कभी श्रीकृष्णको हमारे दूत, सारथी या अन्य कार्योंको करते हुए देखते हैं, किन्तु उनके वह सब कार्य केवल भूभार-हरण और पापके नाश द्वारा धर्मके संरक्षणके लिए ही हैं॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवञ्चेत् दौत्यादिकं कथं सम्भवति? तत्राह—अस्मास्विति अन्यत् उपदेष्टृत्वादिकञ्च, पापानामधर्माणां तद्धेतूनां वा नाशेन; अस्य पदस्य पूर्वेण परेणापि सम्बन्धः। तत्तदर्थमेव तत् सर्वं करोति, न त्वस्मत्स्नेहेनेति भावः॥५७॥

भावानुवाद—यदि आप लोग श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षित हैं तो फिर भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा आपके दूत आदिके रूपमें कार्य करना कैसे सम्भव हुआ? इसीके समाधानके लिए 'अस्मासु' इत्यादि पद कह रहे हैं। आपने जब कभी-कभी उनको हमारे दूत, सारथी और उपदेष्टा आदिके रूपमें कार्य करते देखा है, उनके वह कार्य हमारे प्रति स्नेहके कारण नहीं बल्कि वह तो केवल भूभार-हरण तथा पापके नाश द्वारा धर्मके संरक्षणके लिए ही थे—ऐसा जानना चाहिए॥५७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अथ श्रीयादवेन्द्रस्य भीमो नर्मसुहृत्तमः।
विहस्योच्चैरुवाचेदं शृणु श्रीकृष्णशिष्य हे॥५८॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—तब श्रीयादवेन्द्रके नर्म (विनोदी) सुहृत् भीमसेन बहुत जोरसे हँसते हुए कहने लगे, हे श्रीकृष्णके शिष्य! मेरी भी तो कुछ सुनिये॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—नर्म परिहासकौतुकं, तत्सम्बन्धी सुहृत्तमः, अत उच्चैर्विहस्य इदं वक्ष्यमाणं वाक्यं हे कृष्णशिष्येति एतादृशं धूर्त्तवचनचातुर्यादिकं तेनैव त्वं शिक्षितोऽसि, न च तवात्र कोऽपि दोष इति भाव इत्यर्थः॥५८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके नर्मसुहृत् अर्थात् उनके साथ परिहास-कौतुक (हँसी-मजाक) करनेवाले परममित्र भीमसेन बहुत जोरसे हँसते हुए कहने लगे—हे श्रीकृष्णके शिष्य देवर्षि नारद! क्या आपने ऐसी धूर्त्तता और चतुराई उन चतुरशिरोमणिसे सीखी है? अहो! समझ गया, इसमें आपका कोई भी दोष नहीं है॥५८॥

अमुष्य दुर्बोधचरित्रवारिधे,-र्मायादिहेतोश्चतुरावलीगुरोः।
प्रवर्त्तते वाग्व्यवहारकौशलं न कुत्र किं तन्न वयं प्रतीमः॥५९॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णकी लीला सागरके समान गंभीर और दुर्बोध है। वे मायाके आदिकारण स्वरूप और चतुरोंके भी गुरु हैं, अतएव उनकी वाणीकी निपुणता और व्यवहारकी पटुता कहाँ पर अपना प्रभाव नहीं दिखलाती? हमलोग यह सब तत्त्व जानते हैं, इसीलिए इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते हैं॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अमुष्य श्रीकृष्णस्य दूर्बोधं यच्चरित्रं लीला तस्य वारिधेः। मायाया आदिकारणस्य, अतएव चतुराणां धूर्त्तानामवली पंक्तिः, तस्या गुरोः परम-चतुरसिंहस्येत्यर्थः। अतः वाचां व्यवहाराणां कौशलं परिपाटी; यद्वा वाक्षु व्यवहारेषु च पाटवं किं कुत्र न प्रवर्त्तते? अपि तु कुत्रचिन्महालीलया, कुत्रापि महामाया, कुत्रचिच्च महाचातुर्येणेत्येवं सर्वत्र सर्वं तत् प्रवर्त्तत एवेत्यर्थः। अतो न तु सौहार्द्देन परमार्थतया वेति भावः। अतएव वयं तत्तत्त्वाभिज्ञास्तकौशलं न प्रतीमः, तत्र न विश्वसिम इत्यर्थः॥५९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णका चरित्र और लीलाएँ सागरके समान गंभीर हैं, इसलिए उनको कोई आसानीसे समझ नहीं सकता है। वे मायाके आदि कारण हैं तथा चतुर और धूर्त्त व्यक्तियोंके गुरु हैं। अतएव उनकी वाणीकी निपुणता और व्यवहारकी कुशलता कहाँ पर अपना प्रभाव नहीं दिखलाती? अर्थात् सर्वत्र ही दिखलाती है; अतः कहीं पर महालीला, कहीं पर महामाया, कहीं पर महाचतुरता द्वारा सर्वत्र ही प्रभावशाली होती है। अतएव उनके वचन और व्यवहारकी कुशलता हमारे प्रति सौहार्दवशतः अर्थात् परमार्थतः (यर्थाथतः) नहीं हैं। हम इन सभी तत्त्वोंसे अवगत हैं, इसलिए इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते हैं॥५९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

सशोकमवदन्मातस्ततो मम पितामहः।
कृष्णप्राणसखः श्रीमानर्जुनो निःश्वसन्मुहुः॥६०॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—हे माता! फिर श्रीकृष्णके प्राणप्रिय सखा, मेरे पितामह श्रीअर्जुन शोकाकुल हृदयसे बारम्बार निःश्वास त्याग करते हुए कहने लगे॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृष्ण एव प्राणसखो यस्य, कृष्णस्य प्राणतुल्यः परमः प्रियः सखेति वा; अतः श्रीमान् सर्वशोभासम्पन्नः, अतएव तन्नैष्ठुर्यस्मारणेन शोक-सहितं यथा स्यात्तथा मुहुर्निश्वसन्नवदत्॥६०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके प्राणप्रिय सखा अथवा जिसके प्राणप्रिय सखा श्रीकृष्ण हैं, वे श्रीमान् अर्थात् समस्त शोभासे युक्त अर्जुन अपने सखाकी निष्ठुरताका स्मरण करके शोकाकुल हृदयसे बारम्बार दीर्घ-निःश्वास त्याग करते हुए कहने लगे॥६०॥

श्रीभगवानर्जुन उवाच—

भवत्प्रियतमेशेन भगवन्नमुना कृतः।
कृपाभरोऽपि दुःखाय किलास्माकं बभूव सः॥६१॥

श्लोकानुवाद—श्रीअर्जुनने कहा, हे भगवन्! आपके प्रियतम प्रभु श्रीकृष्णने हम पर जो कृपा की है, क्या वह हमारे दुःखका कारण नहीं है?॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—भो भगवन् श्रीनारद! भवतः प्रियतमो य ईशः स्वामी तेनामुना श्रीकृष्णेन; स सारथ्यादिलक्षणः। पूर्वं भीमेन नर्मसुहृदा श्रीकृष्णकृत-कृपाभरस्य लीलादिकृतत्वादपरमार्थतोक्तया निरासः कृतः, अर्जुनेन च तत्प्रिय-सखत्वात् सर्वमङ्गीकृत्यान्यथा परिहरतीति विवेचनीयम्॥६१॥

भावानुवाद—हे भगवन् श्रीनारद! आपके प्रियतम प्रभु श्रीकृष्णने हमारे प्रति जो आचरण किया है अर्थात् सारथी आदि बनकर हम पर जो कृपा प्रदर्शित की है, क्या वह हमारे दुःखका कारण नहीं है? अर्थात् उनका समस्त आचरण ही हमारे दुःखका कारण है। पहले श्रीकृष्णके नर्मसुहृद् सखा भीमसेनने श्रीकृष्णकी जिस कृपाको उनकी लीलादि बतलाकर उसकी परमार्थता (यर्थाथतः)को अस्वीकार किया था, परन्तु अब अर्जुन उसको स्वीकार कर रहे हैं। इसका कारण है कि अर्जुन श्रीकृष्णके प्रियसखा हैं, अतः सब कुछ स्वीकार करके भी अन्य प्रकारसे अस्वीकार कर रहे हैं॥६१॥

स्वधर्मैकपरैः शुष्कज्ञानवद्भिः कृता रणे।
भीष्मादिभिः प्रहारा ये वर्ममर्मभिदो दृढ़ा॥६२॥
ते तस्यां मत्कृते स्वस्य श्रीमूर्त्तौ चक्रपाणिना।
वार्यमाणेन च मया सोढ़ाः स्वीकृत्य वारशः॥६३॥

श्लोकानुवाद—स्वधर्ममें रत शुष्क-ज्ञानी पितामह भीष्मने युद्धमें जिन सब अस्त्रों द्वारा मुझ पर प्रहार किया था, वे सभी अस्त्र सुदृढ़ कवचभेदी और हृदय-विदारक थे; परन्तु चक्रपाणि श्रीकृष्णने मेरे द्वारा रोके जाने पर भी मेरी रक्षाके लिए उन सबको अपने दिव्य श्रीअङ्गों पर ग्रहण किया था॥६२-६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव सहेतुकं प्रपञ्च्य दर्शयति—स्वेति नवभिः। भीष्मादिभि-र्भारत युद्धे ये प्रहाराः कृतास्ते चक्रपाणिना श्रीकृष्णेन; मत्कृते मज्जयादिसिद्ध्यर्थम्; तस्यां परमसौकुमार्यादियुक्तायां मादृशजीवन-रूपायां स्वस्य श्रीमूर्त्तौ श्रीकृष्णेन वारशः स्वीकृत्य सोढ़ा इति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशैः? स्वधर्मः—*'पित्रादयोऽपि हन्तव्याः क्षत्रियेण रणाङ्गने'* इत्येवं लक्षणः, स एवैकः परः अवश्यकर्त्तव्यत्वेन श्रेष्ठो येषां तैः तदेकप्रवीणैः इत्यर्थः। तथापि सर्वसद्धर्मफलरूपे तस्मिन् प्रहाराः परमानुचितास्तत्राह—शुष्कं यज्ज्ञानं परब्रह्मरूपे श्रीकृष्णेऽस्त्रपीड़ादिकं कथञ्चिदपि न

सङ्गच्छतेत्यादिरूपं तद्युक्तैः; एवं भक्तिपरत्वाभावेन श्रीकृष्णचरणारविन्द–मकरन्दास्वाद–ज्ञानविशेषाभावात् प्रेमहान्या तथा तैर्व्यवहृतमिति भावः। वर्माणि कवचानि, मर्माणि च प्राणसन्धिस्थानानि अन्येषां भिन्दन्तीति तथा ते, अतएव दृढ़ाः; यद्वा, भक्तवात्सल्यरसेनाविर्भवन्त्याः प्रस्वेदधारायास्तेनैव रक्तपूरतया प्रदर्शनात्। तच्च लोके स्वभक्तवात्सल्यभरबोधनार्थमेवेति ज्ञेयम्। कीदृशेन तेन? मया वार्यमाणेनापि; भो भगवन! युद्धाकरणप्रतिज्ञां कृत्वापि भवान् भीष्मादीन् हन्तुं कथमग्रे सरति? कथं वा मयि वर्त्तमाने भगदत्तादीनां प्रहारानात्मनि स्वीकरोतीत्यादिवचनैः पादग्रहणादिना च निरुध्यमानेनापि। चक्रपाणिनेति यद्यपि चक्रमेव स्वयं सर्वांस्तान् हन्तुं सद्यः शक्नोति, सर्वान् प्रहारांश्च तान् विनिवारयितुं हेलया प्रभवति, तथापि केवलं मदीयकीर्त्त्यतिशयार्थमेव स्वयमयुध्यमानेन तेन ते सोढ़ा इति भावः। एवं स्वीकृत्येति च ज्ञेयम्। अन्यथा हेलया ते प्रहाराः सुखं वञ्चिताः स्युरिति दिक्॥६२–६३॥

भावानुवाद—'श्रीकृष्णकी कृपा हमारे दुःखका कारण बनी'—इसे ही कारण सहित 'स्वधर्म' इत्यादि नौ श्लोकोंमें बतला रहे हैं। भीष्म पितामह आदि महारथियोंने जिन अस्त्रोंके द्वारा मुझ पर प्रहार किया था, चक्रपाणि श्रीकृष्णने मुझे बचानेके लिए अर्थात् मेरी विजयके लिए अत्यधिक सुकोमल तथा मेरे जैसे भक्तोंके लिए जीवनस्वरूप अपने दिव्य श्रीविग्रह पर ही उन सब अस्त्रोंका प्रहार सहन किया था। वे भीष्म कैसे हैं? स्वधर्म पालन करनेवाले हैं। यद्यपि 'रणभूमिमें पिता आदि गुरुजनोंको मारना भी क्षत्रियका धर्म है' इत्यादि वर्णाश्रम धर्मके अन्तर्गत अवश्य पालनीय कर्त्तव्योंका पालन करनेवाले व्यक्तियोंमें वे प्रवीण थे, तथापि सभी धर्मोंके चरम फलस्वरूप श्रीकृष्णके सुकुमार अङ्गों पर प्रहार करना सर्वथा अनुचित था। (अर्जुन) और भी कुछ कह रहे हैं, 'वे शुष्कज्ञानी हैं'। अर्थात् परब्रह्म श्रीकृष्णके अङ्गमें अस्त्रपीड़ा आदिका होना लेशमात्र भी संभव नहीं है, वे इस प्रकारके शुष्क ज्ञानसे युक्त थे। परन्तु भक्तिके अभावमें कभी भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मकरन्दका आस्वादन नहीं किया जा सकता अथवा उनके माधुर्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव, यद्यपि श्रीभीष्मदेव शुष्कज्ञानी होनेके कारण श्रीकृष्णको परब्रह्म मानते थे, तथापि वे भक्तिपरायण नहीं थे। भक्तिपरायण नहीं होनेसे केवल शुष्कज्ञान द्वारा भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके मकरन्दका आस्वादन और

उनके माधुर्यकी उपलब्धि नहीं हो सकती। वे श्रीकृष्णके प्रेमसे रहित थे, इसलिए उन्होंने श्रीकृष्णके परम सुकुमार अङ्गोंमें कवच भेदी और मर्मभेदी सुदृढ़ अस्त्रोंके द्वारा प्रहार किया था तथा भगवान्ने भी उन प्रहारोंको स्वीकार किया था। अथवा जगतमें भक्तवात्सल्य रसको प्रकट करनेके लिए श्रीकृष्णने अपने श्रीअङ्गों पर उन अस्त्रोंके प्रहारको स्वीकार कर पसीनेकी धाराके छलसे रक्त धाराको प्रवाहित कराया था। वास्तवमें उसे जगतमें भक्तवात्सलताके प्रदर्शनका कारण ही समझना चाहिए।

यदि कहो कि श्रीभगवान्का वह भक्त-वात्सल्य किस प्रकारका था? इसके लिए कह रहे हैं—मेरे द्वारा रोकने पर भी अर्थात् मैंने कहा था, 'हे भगवन्! आपने प्रतिज्ञाकी है कि आप महाभारत युद्धमें अस्त्र धारण करके युद्ध नहीं करेंगें, अतः ऐसी प्रतिज्ञा करके भी आप भीष्म आदि योद्धाओंका विनाश करनेके लिए अग्रसर क्यों हो रहे हैं? विशेषकर मेरे रहते हुए क्यों आप भगदत्त आदिके अस्त्रोंके प्रहारको सहन कर रहे हैं?' इत्यादि वचनों द्वारा बारम्बार अनुनय विनयपूर्वक श्रीचरणोंको पकड़कर रोकने पर भी, केवल मेरे लिए ही उन चक्रपाणि श्रीकृष्णने अपने श्रीअङ्गों पर भीष्म आदि द्वारा किये गये प्रहारको अंगीकार किया था। यहाँ पर 'चक्रपाणि' कहनेका उद्देश्य यह है कि यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं सुदर्शनचक्र द्वारा सब प्रकारके प्रहारको रोकने और भीष्म आदि विपक्षके लोगोंको अनायास ही विनाश करनेमें समर्थ थे, तथापि केवल मेरे यशकी वृद्धिके लिए स्वयं युद्ध न करके भी उन सभी अस्त्रप्रहारोंको स्वीकार किया था। अन्यथा भीष्म आदि भी उनके श्रीअङ्गोंमें इस प्रकार अस्त्रप्रहारके सुखसे वञ्चित रह जाते॥६२-६३॥

तन्मे चिन्तयतोऽद्यापि हृदयान्नापसर्पति।
दुःखशल्यमतो ब्रह्मन् सुखं मे जायतां कथम्॥६४॥

श्लोकानुवाद—हे ब्रह्मन्! उन प्रहारोंका स्मरण करनेसे आज तक भी वह दुःखरूपी शूल मेरे हृदयसे नहीं निकला है। अतएव मेरे सुखकी सम्भावना ही कहाँ है?॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्प्रहारसहनं चिन्तयतः स्मरतो मम हृदयाद्दुःखमेव शल्यं मर्मपीड़ाहेतुत्वात् नापसर्पति नापैति, यथा हृदयलग्नशल्यस्य विषयभोगादिना न किञ्चित् सुखं स्यात्तथेति भावः॥६४॥

भावानुवाद—हे ब्रह्मन्! श्रीकृष्ण द्वारा उन प्रहारोंको सहन करनेकी पीड़ाके स्मरणसे आज तक भी वह दुःखरूपी शूल मेरे हृदयसे नहीं निकला है। वह स्मरण मर्मभेदी पीड़ाका कारण बन गया है। यदि हृदयसे शूल न निकले तो क्या विषयभोग आदिसे सुख प्राप्त हो सकता है? अतएव मेरे सुखकी सम्भावना ही कहाँ है?॥६४॥

कर्मणा येन दुःखं स्यान्निजप्रियजनस्य हि।
न तस्याचरणं प्रीतेः कारुण्यस्यापि लक्षणम्॥६५॥

श्लोकानुवाद—जिन कार्यों द्वारा अपने प्रिय व्यक्तियोंको दुःख होता हो, उनको करना कभी भी प्रीति या कृपाका लक्षण नहीं है॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेतदेव महतः सख्यस्य कारुण्यस्य च लक्षणं, तत्राह—कर्मणेति तस्य कर्मणः आचरणं विधानम्। अस्तु तावत् प्रीतेः प्रेम्णः, कारुण्यस्यापि कस्यचिदनुग्रहस्यापि न लक्षणं भवतीत्यर्थः॥६५॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीकृष्णका वैसा आचरण क्या सख्य-भावको प्रकट करनेवाली करुणाका लक्षण नहीं है? उसीके उत्तरमें कह रहे हैं कि जिस कार्यको करनेसे प्रिय व्यक्तियोंको दुःख होता है, वैसा आचरण करना कभी भी करुणा या कृपाका लक्षण नहीं है, प्रीतिके लक्षणकी बात तो फिर बहुत दूर है॥६५॥

भीष्मद्रोणादिहननान्निवृत्तं मां प्रवर्त्तयन्।
महाज्ञानिवरः कृष्णो यत्किञ्चिदुपदिष्टवान्॥६६॥

श्लोकानुवाद—जब मैं रणभूमिमें भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनोंको मारनेसे पीछे हट गया था, उस समय महाज्ञानीवर श्रीकृष्णने मुझे उस कार्यमें प्रवृत्त (प्रेरित) करनेके लिए कुछ उपदेश दिया था॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं चेत्तर्हि सर्वोपनिषत्सारोऽनेन त्वयि कथं गीतः स्यात्तत्राह—भीष्मेति पञ्चभिः। प्रवर्त्तयन् तत्र प्रवर्त्तयितुम्, हेतौ शतृङ्॥६६॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आपके प्रति यदि श्रीकृष्णकी कृपा नहीं है, तो फिर उन्होंने आपको सभी उपनिषदोंके सारस्वरूप गीताका उपदेश क्यों दिया? इसीके उत्तरमें 'भीष्म' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। मुझे श्रीभीष्म-द्रोण आदिको मारनेमें प्रेरित करनेके लिए ही श्रीकृष्णने कुछ उपदेश दिया था॥६६॥

यथा श्रुतार्थश्रवणाच्छुष्कज्ञानिसुखप्रदम्।
महादुःखकृदस्माकं भक्तिमाहात्म्यजीविनाम्॥६७॥

श्लोकानुवाद—गीताके यथाश्रुत अर्थका श्रवण केवल शुष्कज्ञानियोंको ही सुख देनेवाला है; मेरे लिए तो वे उपदेश अत्यधिक दुःख दायक है, क्योंकि भक्तिकी महिमा श्रवणकर जीवित रहनेवाले भक्तोंको ऐसे उपदेशसे सुख नहीं होता है॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यथाश्रुतस्य साक्षाद्वृत्त्या प्रतिपाद्यमानस्य अर्थस्य श्रवणात्; तत् शुष्कज्ञानिनां आत्मानात्मविवेकपराणां मुमुक्षुणां वा सुखप्रदमप्यस्माकं महादुःखकरं भवति। कुतः? भक्तिमाहात्म्यमेव जीवो जीवनं तद्वताम्; यद्वा, तेनैव जीवितुं शीलमेषामिति तेषाम्॥६७॥

भावानुवाद—गीताके यथाश्रुत (ज्योंके त्यों) अर्थात् साक्षात् वृत्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थके श्रवणके कारण वह उपदेश शुष्कज्ञानियोंको अर्थात् आत्म-अनात्मके विवेकमें रत मुमुक्षु व्यक्तियोंको सुख देनेवाला है, किन्तु मेरे जैसे भक्तिमें आसक्त व्यक्तिके लिए अत्यधिक दुःखदायक है। क्यों? क्योंकि भक्तिका माहात्म्य श्रवण करना ही हमारा जीवन है और वैसे भक्ति-माहात्म्यमें आसक्त भक्तोंको उस उपदेशको सुनकर सुख नहीं होता है॥६७॥

तात्पर्यस्य विचारेण कृतेनापि न तत्सुखम्।
किञ्चित् करोत्युतामुष्य वञ्चनां किल बोधनात्॥६८॥

श्लोकानुवाद—उन उपदेशोंका तात्पर्य विचार करने पर भी वे उपदेश हमें तनिक भी सुख प्रदान नहीं करते, बल्कि वे हमें श्रीकृष्णकी वञ्चनाका ही बोध कराते हैं॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तात्पर्यार्थ एव श्रेयान्, स च भक्तिमाहात्म्यपर एवेति। भक्तानां भवादृशां सुखं कुर्यादेव, तत्राह—तात्पर्यस्येति। तत् प्रत्युत अमुष्य श्रीकृष्णस्य वञ्चनां तत्कर्त्तृकां मादृग्विषयकां प्रतारणाम्, किल निश्चितम्॥६८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि इन उपदेशोंके तात्पर्यका अर्थ विचार करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि ये उपदेश भक्तिके माहात्म्यको स्थापन करते हैं, अतएव आपके जैसे भक्तोंके लिए सुखदायक हैं। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि ये उपदेश हमें सुखी नहीं कर सकते, बल्कि वे श्रीकृष्णकी वञ्चनामें ही पर्यवसित होते हैं। अर्थात् गीताके तात्पर्यका अर्थ विचार करने पर भी वह उपदेश हमारे सुखका कारण नहीं होते, बल्कि श्रीकृष्णकी वञ्चनाका ही बोध कराते हैं॥६८॥

यत्सदा सर्वदा शुद्धनिरुपाधिकृपाकरे।
तस्मिन् सत्यप्रतिज्ञे सन्मित्रवर्ये महाप्रभौ॥६९॥
विश्वस्तस्य दृढ़ं साक्षात् प्राप्तात्तस्मान्मम प्रियम्।
महामनोहराकारान्न परब्रह्मणः परम्॥७०॥

श्लोकानुवाद—सर्वदा सब प्रकारसे शुद्ध निरुपाधिक कृपाके समुद्र, सत्यप्रतिज्ञ तथा परमहितकारी बन्धुओंमें श्रेष्ठबन्धु उन श्रीकृष्णमें ही हमारा दृढ़ विश्वास है। साक्षात्‌रूपमें प्राप्त उन परममनोहर नराकृति परब्रह्मके अलावा कोई भी वस्तु हमें प्रिय नहीं है॥६९–७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—यदिति द्वाभ्याम्। तस्मात् श्रीकृष्णात् परमन्यन्मम प्रियं साध्यं फलं नास्तीति द्वयोरन्वयः। कथम्भूतस्य? तस्मिन् श्रीकृष्णे दृढ़ं विश्वस्तस्य; विश्वासहेतुत्वेन विशेषणचतुष्कं शुद्धेत्यादि; सदा सर्वदेति यथायथं सर्वत्रापि योजनीयम्। सत्या प्रतिज्ञा *'न मे भक्तः प्रणश्यति'* (श्रीगीता ९/३१) इत्यादिरूपा यस्य। सन्मित्रेषु परमोत्कृष्ट हितकारिषु वर्ये श्रेष्ठे महाप्रभौ सर्व-सामर्थ्यभवतीत्यर्थः। कथम्भूतात्? तस्मात् महामनोहर आकारः श्रीमूर्त्तिर्यस्य तथाभूतात् परब्रह्मणः श्रीदेवकीनन्दनस्वरूपादित्यर्थः। तत्रापि साक्षादपरोक्षतया प्रकर्षेण सख्यादिना प्राप्तान्न व्यवहितात्; अतस्तस्य तथात्वान्मम च तस्मिन्नेव परमविश्वासदन्यत् किमपि साध्यं तं विना न सम्भवतीति तादृशोपदेशो वैयर्थ्यापत्त्या प्रतारण एव पर्यवस्यति; तच्च भीष्मद्रोणादि-घातनार्थमिति साधूक्तं श्रीयुधिष्ठिरेण तद्भूमिभार-क्षपणायेति भावः॥६९–७०॥

भावानुवाद—'श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त गीताके उपदेश हमारे सुखका कारण नहीं हैं'—'यत्' इत्यादि दो श्लोकोंमें उसका कारण बतला रहे हैं। उन श्रीकृष्णकी परम मनोहर श्रीमूर्त्तिके अलावा मेरी कोई भी दूसरी साध्यवस्तु नहीं है और उन महाप्रभु श्रीकृष्णमें मेरा सुदृढ़ विश्वास भी है। इस विश्वासके कारणको प्रदर्शित करनेके लिए 'शुद्ध' इत्यादि चार विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। 'सदा-सर्वदा' इन दो शब्दोंका यथायथ सर्वत्र ही प्रयोग करना होगा। जैसे, वे सदा-सर्वदा सत्य प्रतिज्ञ हैं—'मेरे भक्तोंका कभी भी विनाश नहीं होता' इत्यादि जिनकी प्रतिज्ञा कभी भी असत्य नहीं होती। 'सन्मित्रवर्य' अर्थात् परमहितकारी बन्धुओंमें सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं, क्योंकि महाप्रभु (श्रीकृष्ण) सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। वे महाप्रभु कैसे हैं? वे परममनोहर हैं—यद्यपि वे नराकार अर्थात् परममनोहर मूर्त्तिधारी परब्रह्म श्रीदेवकीनन्दन-स्वरूप हैं, तथापि मैंने उनको अपने प्रियसखाके रूपमें प्राप्त किया है। अर्थात् अपरोक्ष रूपमें नहीं अपितु प्रत्यक्षरूपमें प्रियसखाके रूपमें प्राप्त किया है, अतएव कोई भी व्यवधान नहीं है। उनके प्रति मेरा दृढ़ विश्वास स्वतः विद्यमान है तथा उनके अलावा मेरी कोई दूसरी साध्यवस्तु भी नहीं है। अतएव व्यतिरेकरूपमें अर्थात् मेरी वञ्चनाके अलावा वे मुझे अन्य किसी साध्यवस्तुका उपदेश नहीं कर सकते। अर्थात् मेरे प्रति उनका गीताका सार स्वरूप उपदेश (जो भगवद् विश्वास मूलक प्रपत्ति या शरणागतिका उपदेश है) व्यर्थ ही है। अतएव उसको वञ्चनाके अलावा और क्या कहा जा सकता है? परन्तु वह उपदेश केवल भीष्म-द्रोण आदिके वधके लिए ही प्रदान किया गया था। अतएव महाराज श्रीयुधिष्ठिरने जो कहा है—'पृथ्वीके भारका हरण करना तथा पाप नाशके द्वारा धर्म-संरक्षण करना ही उनके ऐसे आचरणका उद्देश्य है', इसे सत्य उक्ति ही समझेंगे॥६९-७०॥

श्रीनकुल-सहदेवावूचतुः—

यद्विपद्गणतो धैर्यं वैरिवर्गविनाशनम्।
अश्मेधादि चास्माकं श्रीकृष्णः समपादयत्॥७१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनकुल-सहदेवने कहा—हे भगवन्! श्रीकृष्णने हमारी विपत्तियोंमें हमको जो धैर्य बँधाया, शत्रुओंका विनाश किया और अश्वमेध आदि यज्ञोंको सम्पूर्ण करवाया— ॥७१ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—अश्वमेध आदिर्यस्य सत्कर्मणस्तच्च॥७१ ॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥७१ ॥

यच्च तेन यशोराज्यं पुण्याद्यप्यन्यदुर्लभम्।
व्यतनोद्भगवंस्तेन नास्य मन्यामहे कृपाम्॥७२॥

श्लोकानुवाद—अथवा हमारे यश, राज्य तथा दुर्लभ पुण्यादिको बढ़ाया, उसे हम उनकी कृपा नहीं मानते हैं॥७२ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन धैर्यादिसम्पादनेन अन्यैर्दुर्लभमपि क्रमेण यशादि व्यतनोत् श्रीकृष्णः। भगवन्! हे श्रीनारद! तेन यशादिविस्तारेण अस्य श्रीकृष्णस्य कृपां न मन्यामहे वयम्, परम-फलरूपस्य तदीय-सन्दर्शनस्य चिरमसद्भावात्॥७२ ॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने विपत्तियोंमें जो हमें धैर्य बँधाया है और अन्य व्यक्तियोंके लिए दुर्लभ पुण्य आदि सत्कर्मोंमें लगाकर हमारा यश बढ़ाया है, उसको हम श्रीकृष्णकी विशेष कृपा नहीं मानते हैं। परन्तु उनका दर्शन ही हमारे लिए परमफलस्वरूप है, किन्तु बहुत समयसे हम उनके दर्शनोंसे भी वञ्चित हो गये हैं॥७२ ॥

किन्त्वनेकमहायज्ञोत्सवं सम्पादयन्नसौ।
स्वीकारेणाग्रपूजाया हर्षयेन्नः कृपा हि सा॥७३॥

श्लोकानुवाद—किन्तु अनेक महायज्ञोत्सव पूर्ण कराकर उन्होंने जो हमारी अग्रपूजाकी प्रार्थनाको स्वीकार करके हमें आनन्दित किया है, उसे ही हम उनकी कृपा मानते हैं॥७३ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—सम्पादयन्निति—सदा सन्दर्शनमभिप्रैति। हि यतः सैव कृपा तस्य॥७३ ॥

भावानुवाद—अनेक राजसूय आदि महायज्ञोत्सवोंको पूर्ण करानेके छलसे हमें सदा ही उनका दर्शन प्राप्त होता था। इसे ही हम उनकी कृपा मानते हैं॥७३ ॥

अधुना वञ्चितास्तेन वयं जीवाम तत् कथम्।
तद्दर्शनमपि ब्रह्मन् यन्नोऽभूदतिदुर्घटम्॥७४॥

श्लोकानुवाद—हे ब्रह्मन् (श्रीनारद)! अब हम उनके द्वारा वञ्चित होकर किस प्रकार अपना जीवन धारण करें? अब तो उनके दर्शन भी हमारे लिए अति दुर्लभ हो गये हैं॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन श्रीकृष्णेन वञ्चिता उपेक्षिताः सन्तः कथं जीवामः जीवितुं शक्नुम इत्यर्थः। यद्यस्मात्तस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनमप्यस्तु तावदग्रपूजा-स्वीकारेण महोत्सव-सम्पादनं नोऽस्माकं परमदुर्घटमभूत्॥७४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षित होकर हम किस प्रकार जीवित रह सकेंगे? अब तो उनके दर्शन ही हमारे लिए अति दुर्लभ हो गए हैं, तो फिर उनके द्वारा अग्रपूजा अर्थात् सर्वप्रथम अपनी पूजा स्वीकार कर राजसूय यज्ञरूपी महोत्सवको पूर्ण करानेके विषयमें क्या कहें?॥७४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तच्छ्रुत्वा वचनं तेषां द्रौपदी शोकविह्वला।
संस्तभ्य यत्नादात्मानं क्रन्दन्त्याह सगद्गदम्॥७५॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! उन सबकी वार्त्तालापको सुनकर श्रीद्रौपदी शोकसे विह्वल होकर क्रन्दन करने लगीं, फिर यत्नपूर्वक कुछ धीरज धारणकर गदगद् वाणीसे कहने लगीं॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां श्रीयुधिष्ठिरादीनां तत् पूर्वोक्तं वचनं श्रुत्वेति कथञ्चित् सम्वृतशोकादपि पुनस्तेषाः तादृशवचःश्रवणात् शोकेन विह्वला सती पश्चादात्मानं यत्नात् संस्तभ्य स्थिरीकृत्येत्यर्थः॥७५॥

भावानुवाद—यद्यपि श्रीद्रौपदीने अभी तक किसी प्रकारसे अपने शोकको छिपा रखा था, परन्तु महाराज श्रीयुधिष्ठिर आदि सबकी बातोंको सुनकर शोकसे अत्यन्त विह्वल हो उठीं और फिर यत्नपूर्वक धैर्य धारण करके रोते-रोते कहने लगीं॥७५॥

श्रीकृष्णोवाच—

श्रीकृष्णेन मम प्राणसखेन बहुधा त्रपा।
निवारणीया दुष्टाश्च मारणीयाः किलेदृशः॥७६॥

कर्त्तव्योऽनुग्रहस्तेन सदेत्यासीन्मतिर्मम।
अधुना पतितास्तातभ्रातृपुत्रादयोऽखिलाः ॥७७ ॥
तत्रापि विदधे शोकं न तदिच्छानुसारिणी।
किन्त्वैच्छं प्राप्नुमात्मेष्टं किञ्चित्तत्तच्छलात् फलम् ॥७८ ॥

श्लोकानुवाद—श्रीद्रौपदीने कहा—मैं यह आशा करती थी कि मेरे प्राणसखा श्रीकृष्णने जिस प्रकार पहले बहुत बार मेरी लज्जा बचायी है तथा महादोषी दुर्योधन-दुःशासन जैसे दुष्टोंका विनाश करके सदैव हमारे प्रति अनुग्रह किया है, अतः पहलेकी भाँति वे अब भी अनुग्रह करते रहेंगे तथा यही उनका कर्त्तव्य भी है। यद्यपि अब मेरे पिता द्रुपद, भाई धृष्टद्युम्नादि, पुत्र प्रतिविन्ध्यादि सब एक-एक करके युद्ध भूमिमें मारे गये हैं, तथापि मैंने 'सब कृष्णकी इच्छा है' तथा 'प्रियतमकी इच्छा पूर्ण होना ही परम सुखप्रद होता है' ऐसा जानकर तनिक भी शोक नहीं किया। किन्तु उस समस्त शोकके छलसे मैं अपने अभीष्ट किसी एक फलको प्राप्त करनेकी आशा पोषण कर रही थी॥७६-७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—यतः ईदृशः अनिर्वचनीय-महादोषकारिण इत्यर्थः। यद्वा दुर्योधन-दुःशासनादयस्तत्सदृशाश्च तदनुगा इत्यर्थः; एवमनुग्रहस्तेन श्रीकृष्णेन सदा कर्त्तव्य इत्येषा मम मतिरासीत्। ईदृश इत्यस्यात्रैव वान्वयः। ततश्च लज्जानिवारणादि-सदृशोऽनुग्रह इत्यर्थः। तातो द्रुपदः; भ्रातरो धृष्टद्युम्नाद्याः; पुत्राः प्रतिविन्ध्यादयः। तच्चाहं न शोचामि, प्रत्युत निजाभीष्ट सिद्ध्याशया साधेववामंसीत्याशयेनाह—तत्रेति, तातादिघातनेऽपि; यतस्तस्य श्रीकृष्णस्य या इच्छा तामेवानुसर्तुं शीलमस्या इति तथाभूतास्मि। प्रियतमस्येष्टसिद्धिरेव परमसुखप्रदेति न्यायात्। तस्य तस्य तातादि-घातनस्य तदर्थशोकादेर्वा छलात् आत्मनो मम इष्टं प्रियं किञ्चिन्निरूपमं फलं प्राप्तुमैच्छम् ॥७६-७८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥७६-७८॥

तेन सान्त्वयितव्याहं हतबन्धुजना स्वयम्।
श्रीकृष्णेनोपविश्यात्र मत्पार्श्वे युक्तिपाटवैः ॥७९ ॥

श्लोकानुवाद—मैंने आशा की थी कि श्रीकृष्ण हमारे साथ रहकर तथा स्वयं मेरे पासमें बैठकर अपने युक्तिपूर्ण सुमधुर वचनोंके द्वारा

मुझे सुखी करेंगे तथा मरे हुए बन्धु-बान्धवोंके वियोगके लिए मुझे सान्त्वना प्रदान करेंगे॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—तेनेति द्वाभ्याम्। स्वयमेव तेनाहं सान्त्वयितव्या, मधुरवचनेनाप्याययितव्या॥७९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥७९॥

तानि तानि ततस्तस्य पातव्यानि मया सदा।
मधुराणि मनोज्ञानि स्मितवाक्यामृतानि हि॥८०॥

श्लोकानुवाद—अतः मेरी ऐसी आशा थी कि मैं सदैव उनके उन मधुर हास्ययुक्त वचनामृतका पान करूँगी॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माद्धेतोः, तस्य श्रीकृष्णस्य; स्मितयुक्तानि वाक्यान्येवा-मृतानि॥८०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥८०॥

तदस्तु दूरे दौर्भाग्यान्मम पूर्ववदप्यसौ।
नायात्यतो दया कास्य मन्तव्या मयका मुने॥८१॥

श्लोकानुवाद—हाय! उस आशाके पूर्ण होनेकी बात तो दूर रहे, मेरा दुर्भाग्य ही है कि अब तो वे पहलेकी भाँति हमारे पास आते भी नहीं हैं। अतएव देवर्षि श्रीनारद! मैं इसको कैसे श्रीकृष्णकी कृपा समझ सकती हूँ॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् स्मितवाक्यामृतपानम्; असौ श्रीकृष्णः; अतोऽस्माद्धेतोः; अस्य श्रीकृष्णस्य का दया मन्तव्या, अपि तु न कापि मन्यत इत्यर्थः॥८१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥८१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

शोकार्तेव ततः कुन्ती कृष्णदर्शनजीवना।
सास्त्रं सकरुणं प्राह स्मरन्ती तत्कृपाकृपे॥८२॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—तब श्रीकृष्णके दर्शनसे ही जीवन धारण करनेवाली श्रीकुन्तीदेवी, श्रीकृष्णकी कृपा तथा

उपेक्षाको स्मरण कर शोकसे आतुर होकर अश्रु बहाती हुई करुण स्वरसे कहने लगीं॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इवेत्यनेन श्रीकृष्णकृपाभर–पात्रतया शोकासम्भवेऽपि शोकार्त्तान्या स्त्री यथा तथैवेत्यनेन शोकोद्रेक एव बोध्यते। कृष्णस्य दर्शनमेव जीवनं यस्याः; तस्य कृष्णस्य कृपामकृपाञ्च उपेक्षां स्मरन्ती चिन्तयन्ती॥८२॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णका दर्शन ही जिनका जीवन है, वे श्रीकुन्तीदेवी शोकातुरकी भाँति रोते–रोते कहने लगीं। यहाँ पर 'इव'कार अर्थात् 'शोकातुरकी भाँति'का तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीकृष्णके कृपापात्रोंके लिए शोक आदि दुःख असम्भव है, तथापि स्त्रियोंमें स्वभाव सुलभ शोकके उत्पन्न होनेके कारण श्रीकुन्तीदेवीका शोक भी शोकाकुल व्यक्तिके समान समझना चाहिए। उस शोकका कारण है—श्रीकृष्णकी कृपा तथा अकृपा अर्थात् उपेक्षाके स्मरणके कारण हुई चिन्ता॥८२॥

श्रीपृथोवाच—

अनाथायाः सपुत्राया ममापद्गणतोऽसकृत्।
त्वरया मोचनात् सम्यग्देवकीमातृतोऽपि यः
कृपाविशेषः कृष्णस्य स्वस्यामनुमितो मया॥८३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकुन्तीदेवीने कहा—मैं अपने पुत्रोंके साथ अनाथिनीकी भाँति विपत्तियोंके सागरमें डूबी हुई थी, परन्तु श्रीकृष्णने मुझे बारम्बार उन सभी विपत्तियोंसे मुक्त किया था। इसलिए मेरा ऐसा अनुमान था कि श्रीकृष्णने अपनी माता श्रीदेवकीसे भी अधिक मुझ पर विशेष कृपा की है॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपामाह—अनाथाया इति सार्धेन। त्वरयासकृत् बारंबारं सम्यग् यथा स्यात्तथा मोचनाद्धेतोः। देवकीनाम्नी या माता तस्या अपि सकाशात् यः कृष्णस्य कृपाविशेषः स्वस्यां मयि अनुमितः ज्ञातः। यथोक्तमेतयैव प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/८/२३–२४)—*'यथा हृषीकेश! खलेन देवकी, कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता। विमोचिताहञ्च सहात्मजा विभो, त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥ विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः। मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो, द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः॥'* इति। अनयोरर्थः—मातृतोऽपि मय्यधिका तव प्रीतिः। तथाहि हे हृषीकेश! यथा देवकी कंसेन रुद्धा त्वया विमोचिता, अहं किं

तथैवेति काक्वा महान् विशेष उक्तः। तं दर्शयति, सा अतिचिरं रुद्धा सती तस्मादेव सकृद् विमोचिता तथा शुचार्पिता च सती; न च तस्याः पुत्रा रक्षिताः। अस्ति चान्यो नाथस्तस्याः; अहन्तु विपद्गणात् तत्रापि मुहुः शीघ्रञ्च सात्मजा च त्वयैव नाथेन; विपद्गणमेव दर्शयति—विषात् भीमस्य विषमोदकदानात्, महाग्नेः जतुगृहदाहात्, पुरुषादा हिड़िम्बादयो राक्षसाः तेषां दर्शनात्, असत्सभाया द्युतस्थानादिति; एवं पूर्वोक्तस्य आपद्गणस्य विवरणञ्च ज्ञेयम्॥८३॥

भावानुवाद—अब 'अनाथाया' इत्यादि डेढ़ (एक और आधे) श्लोकमें श्रीकुन्तीदेवी अपने प्रति श्रीकृष्णकी कृपाका लक्षण बतला रही हैं। मैं अपने पुत्रोंके साथ अनाथिनी जैसी बारम्बार विपत्तियोंके सागरमें डूब रही थी और श्रीकृष्ण मुझे बार-बार उन सभी विपत्तियोंसे मुक्त किया करते थे। अतः मेरा ऐसा अनुमान था कि श्रीकृष्णने अपनी माता श्रीदेवकीसे भी अधिक मुझ पर विशेष कृपा की है। उनकी इस उक्तिके समर्थनमें प्रथम-स्कन्धमें कहे गये वचनोंको उद्धृत किया जा रहा है। श्रीकुन्तीदेवी कह रही हैं—"हे हृषीकेश! तुमने शोकसे सन्तप्त अपनी माता देवकीको दुष्टस्वभावसे युक्त कंसके कारागारसे मुक्त किया है और पुत्रों सहित मेरी बारम्बार अनेक प्रकारकी विपत्तियोंसे रक्षा की है। हे विभो! इस प्रकार तुमने अपनी माताकी तुलनामें मुझ पर अधिक कृपा की है। अनेक सहायक रहते हुए भी उनको दीर्घकाल तक कारागारकी यन्त्रणाका भोग करना पड़ा था, तुमने उनका उद्धार बहुत देरसे किया था। किन्तु मेरा कोई भी दूसरा आश्रय नहीं था, इसलिए मेरे बार-बार विपत्तियोंमें पड़ने पर तुमने शीघ्रतापूर्वक उन सब विपत्तियोंसे मेरे पुत्रोंके साथ मेरी रक्षा करके मुझ पर अपनी कृपाकी चरमसीमाका दर्शन कराया है। पुनः विष प्रयोग, लक्षागृह-दाह और राक्षसोंके चंगुलसे भी मेरे पुत्रोंकी रक्षा की है। इस प्रकार दुष्ट लोगोंकी सभामें जुआ खेलना, वनवासके कष्टों और युद्धभूमिमें अस्त्रोंके भयरूप विपत्तियोंसे भी रक्षा की है तथा अभी तुमने अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे भी हमारी रक्षा की है।"

इस प्रकार श्रीकुन्तीदेवी, श्रीदेवकीकी तुलनामें अपने प्रति श्रीकृष्णकी विशेष कृपाके विषयमें बता रही हैं। अर्थात् श्रीदेवकी कंसके कारागारमें बहुत समय तक कैद रहीं तथा उनको श्रीकृष्णने केवल

एकबार ही विपत्तिसे मुक्त किया था, किन्तु मुझे बारम्बार विपत्तियोंसे मुक्त किया है। देवकीको बहुत शोक हुआ था, किन्तु मुझे उतना शोक नहीं हुआ था; अर्थात् श्रीदेवकीके पुत्रोंकी रक्षा नहीं हुई, किन्तु मेरे सभी पुत्र सुरक्षित हैं। श्रीदेवकी सनाथ होने पर भी बहुत देरसे मुक्त हुई थीं और मैं अनाथ होनेके कारण शीघ्रतासे अपने पुत्रों सहित मुक्त हुई हूँ। वे विपत्तियाँ कैसी हैं? भीमको विष मिश्रित लड्डू खिलाना, लक्षागृहमें जलना, हिडिम्बा जैसे राक्षसोंके चंगुलमें पड़ना, दुष्टोंकी सभामें जुआ खेलना आदि। इन समस्त विपत्तियोंमें हमारी रक्षा करनेके कारण मुझे ऐसी आशा थी कि श्रीकृष्णने मेरे प्रति अपनी पूर्ण कृपाका प्रकाश किया है और भविष्यमें भी ऐसा ही करेंगे॥८३॥

स चाधुनात्मनोऽन्येषामपि गेहेषु सर्वतः।
स्त्रीणां निहतबन्धूनां महारोदनसंश्रुतेः।
मनस्यपि पदं जातु न प्राप्नोति कियन्मम॥८४॥

श्लोकानुवाद—उनकी उस विशेष कृपाको पानेकी आशा तो दूर रहे, मेरे प्रति श्रीकृष्णकी किञ्चित् मात्र भी कृपा है—अब मैं ऐसा सोच भी नहीं सकती हूँ, क्योंकि इस समय बन्धु-बान्धवोंके मर जानेके कारण अपने और दूसरोंके घरोंसे केवल हाहाकारकी ध्वनि अर्थात् स्त्रियोंके रोनेकी आवाज ही सुनाई पड़ती है॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अकृपामाह—स चेति सार्द्धेन; स कृपाविशेषश्चाधुना मम मनस्यपि अस्तु, तावद्वाक्-स्वीकारादौ कियत् स्वल्पमपि पदं न प्राप्नोतीत्यन्वयः। तत्र हेतुः—आत्मन इत्यादि॥८४॥

भावानुवाद—अब 'स चेति' इत्यादि डेढ़ श्लोकमें श्रीकुन्तीदेवी श्रीकृष्णकी उपेक्षाका लक्षण बता रही हैं। श्रीकृष्णकी विशेष कृपाको पानेकी आशा तो दूर रहे, मेरे प्रति उनकी किञ्चित् मात्र भी कृपा है—इसको अब मैं न तो वाक्यों द्वारा स्वीकार कर सकती हूँ और न ही मनमें ऐसा सोच भी सकती हूँ। इसका कारण है कि अभी चारों ओर केवल हाहाकारकी ध्वनि अर्थात् युद्धमें बन्धु-बान्धवोंके मर जानेसे स्त्रियोंका महाविलाप और रोनेकी आवाज ही सुनाई दे रही है॥८४॥

अतस्तद्दर्शनत्यक्ताः सम्पदः परिहृत्य वै।
आपदः प्रार्थितास्तस्मिन्मया तद्दर्शनापिकाः॥८५॥

श्लोकानुवाद—अतएव मैं उनके दर्शनोंसे वञ्चित हो गयी हूँ, इसलिए उनके दर्शनसे रहित सम्पत्ति (सुखों)की कामनाको त्यागकर मैंने केवल उनके दर्शनोंको प्राप्त करानेवाली विपत्तियोंकी प्रार्थना की थी॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—न चैवं राज्य-सम्पत्प्राप्त्यास्माकं किञ्चित् सुखं स्यादिति मन्तव्यम् तत्सन्दर्शनाभावादित्यभिप्रेत्याह—अत इति। यस्मात् सम्पत्सु दुःखम् अस्मादेव हेतोरित्यर्थः। वै स्मरणे प्रसिद्धौ वा; तस्मिन् श्रीकृष्णे, यतस्तस्य कृष्णस्य दर्शनमापयन्ति लम्भयन्तीति तथा ताः। तदुक्तं तथा तत्रैव, *'विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १/८/२५) इति। अस्यार्थः—यत् यासु आपत्सु न पुनर्भवस्य संसारदुःखस्य दर्शनं यस्मात्तत्, यद्वा, अपुर्नभवं मोक्षं दर्शयति तुच्छतया ज्ञापयतीति तथा तत्। महतोऽपि सरसो महासमुद्र इव मोक्षसुखस्यापि भगवद्दर्शनानन्दस्तुच्छतां दर्शयतीति न्यायात्॥८५॥

भावानुवाद—मैं समझ गयी हूँ कि राज्य-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें कुछ भी सुख नहीं है, क्योंकि इसी सम्पत्तिके कारण ही हम श्रीकृष्णके दर्शनोंसे वञ्चित हो गये हैं। इसी अभिप्रायसे 'अत' इत्यादि पद कहे गये हैं। अतएव मैंने उनके दर्शन रहित सम्पत्तिकी कामनाको परित्यागकर केवल उनके दर्शन प्राप्त करानेवाली विपत्तियोंकी प्रार्थना की थी। यथा, श्रीमद्भागवतमें श्रीकुन्तीदेवीके वचन हैं—"हे जगद्गुरो! मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि हम लोगों पर नित्यप्रति ही विपत्तियाँ आएँ, क्योंकि विपत्तियाँ आने पर ही हमें आपके दर्शन होंगे। आपके दर्शन होने पर जीवको फिर जन्म-मृत्युरूपी यन्त्रणाको भोगना नहीं पड़ता।" तात्पर्य यह है कि आपका दर्शन होनेसे पुनः संसार-दुःख भोगना नहीं पड़ता, अथवा आपका दर्शन होनेसे अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष भी अत्यधिक तुच्छ प्रतीत होता है। जैसे, महासागरके दर्शन होने पर सरोवर तुच्छ प्रतीत होता है, उसी प्रकार भगवान्‌के दर्शनसे उत्पन्न आनन्दकी तुलनामें मोक्षका सुख अति तुच्छ प्रतीत होता है॥८५॥

दत्त्वा निष्कण्टकं राज्यं पाण्डवाः सुखिता इति।
मत्वाधुना विहायास्मान् द्वारकायामवस्थितम्॥८६॥

श्लोकानुवाद—'मैंने पाण्डवोंको निष्कण्टक राज्य प्रदान किया है, अतएव वे अत्यन्त सुखपूर्वक वास कर रहे हैं!' यह सोचकर श्रीकृष्ण अब हमें त्यागकर द्वारकापुरीमें विराजमान हो रहे हैं॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु किमिति शोचसि पुनरसावत्रागतप्रायः, तत्राह—दत्त्वेति सार्धेन। अवस्थितं श्रीकृष्णेन नैश्चल्येन स्थितिः कृता, इदानीमस्मदापद-भावात्॥८६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि शोक क्यों कर रही हो? श्रीकृष्णको पुनः यहाँ आया ही समझो। इसके लिए ही कह रहीं हैं कि श्रीकृष्ण हमें निष्कण्टक राज्य प्रदान करके अब निश्चिन्तभावसे द्वारकामें वास कर रहे हैं। इसका कारण है कि अब हम पर किसी प्रकारकी विपत्ति नहीं है॥८६॥

अतोऽत्र तस्यागमनेऽप्याशा मेऽपगता वत।
मन्येऽधुनात्मनः शीघ्रं मरणं तदनुग्रहम्॥८७॥

श्लोकानुवाद—इसलिए अब मैंने उनके यहाँ आनेकी आशा छोड़ दी है। परन्तु अब यदि मेरी शीघ्र ही मृत्यु हो जाए तो उनकी विशेष कृपा समझूँगी॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—वत कष्टम्; आशाप्यपगता; कुतस्तद्दर्शन प्राप्तिः। अतः इतःपरं जीवनमत्यन्तानुचितमित्याह—मन्य इति। आत्मनो मम शीघ्रं यन्मरणम्, तदेव तस्य श्रीकृष्णस्यानुग्रहं मन्ये, न तु दर्शनादिकमपि, परमोपेक्षणादित्यर्थः॥८७॥

भावानुवाद—हाय! कैसे दुःखकी बात है! इसीलिए उनके दर्शनकी तो बात दूर रहे, मैंने उनके यहाँ आनेकी आशा तक भी छोड़ दी है। अब यदि मेरी शीघ्र ही मृत्यु हो जाए तो उनकी विशेष कृपा समझूँगी। उनकी इतनी उपेक्षा देखकर मैं अब उनके दर्शनकी आशा भी नहीं करती हूँ॥८७॥

बन्धुवत्सल इत्याशातन्तुर्यश्चावलम्ब्यते।
स त्रुट्येद्यदुभिस्तस्य गाढ़सम्बन्धमर्शनात्॥८८॥

श्लोकानुवाद—'श्रीकृष्ण बन्धु-वत्सल हैं', ऐसा सोचकर मैंने जिस आशाका सहारा लिया था, अब उनके यादवोंके साथ प्रगाढ़ सम्बन्धको देखकर वह आशा भी टूट गयी है॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—आशापगमहेतुत्वेनैवात्मनः सकाशाद् यादवानां भगवत्कृपा-विशेषपात्रतां युधिष्ठिरवद् वदन्नुपसंहरति—बन्धिवति द्वाभ्याम्। बन्धुषु बान्धवेषु वत्सलः परमस्निग्ध इत्यनेन य आशातन्तुः सः त्रुट्येत छिद्येत। कुतः? तस्य कृष्णस्य यदुभिः सह दृढ़स्तत्कुलजातत्वादच्छेद्यो यः सम्बन्धः पुत्रत्वभातृत्वादि-रूपस्तस्य; यद्वा; दृढ़ः परस्परं प्रीतिविशेषेण दुर्भेद्यो यः सेव्यसेवकतादिलक्षणः सम्बन्धस्तस्य दर्शनाद् विचारणात्, गुरुतर-सम्बन्धिनामपेक्षया लघुतर-सम्बन्धिना-मुपेक्षा सम्भवेदेवेति भावः॥८८॥

भावानुवाद—महाराज श्रीयुधिष्ठिरने जिस प्रकार यादवोंको भगवान्की विशेष कृपाका पात्र बताकर अपने वक्तव्यका उपसंहार किया था, श्रीकुन्तीदेवी भी उसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्त करनेकी आशाको त्यागकर, यादवोंको ही अपनेसे अधिक श्रीकृष्णकी कृपाका पात्र निर्देश करके अपने वक्तव्यका उपसंहार कर रही हैं। 'श्रीकृष्ण अत्यन्त बन्धु-वत्सल अर्थात् परमस्निग्ध हैं', ऐसा सोचकर मैंने जिस आशा-तन्तुका सहारा लिया था, अब वह आशासूत्र भी टूटा हुआ सा दिखाई देता है। क्यों? अब यादवोंके साथ श्रीकृष्णका प्रगाढ़ सम्बन्ध है अर्थात् श्रीकृष्णका यदुकुलमें जन्म होनेके कारण उनके साथ श्रीकृष्णका पुत्र, भाई आदि रूपमें अटूट सम्बन्ध है। अथवा यादवोंके साथ उनका सेव्य-सेवक लक्षणरूप परस्पर विशेष प्रीति युक्त दुर्भेद्य सम्बन्धको दर्शन कर, अर्थात् उन सम्बन्धोंका विचार करके मैंने यह जान लिया है कि गुरुतर (श्रेष्ठ) सम्बन्धियोंकी तुलनामें लघुतर (निम्न) सम्बन्धियोंके प्रति उनकी स्वाभाविक उपेक्षा सम्भव है॥८८॥

तद्याहि तस्य परमप्रियवर्गमुख्यान् श्रीयादवान्निरुपमप्रमदाब्धिमग्नान्।
तेषां महत्त्वमतुलं भगवंस्त्वमेव जानासि तद्वयमहो किमु वर्णयेम्॥८९॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे भगवन् (श्रीनारद)! आप उन यादवोंके ही निकट पधारिये, क्योंकि वे श्रीकृष्णके सबसे अधिक प्रियपात्र होनेसे अनिर्वचनीय अनुपम आनन्दके सागरमें निमग्न हैं। उनकी

अतुलनीय महिमाको आप भी अच्छी तरहसे जानते हैं। अहो! मैं उनका और क्या वर्णन करूँ?॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात् श्रीयादवान् त्वं याहि अनुवर्त्तस्व प्राप्नुहीति वा; यतस्तस्य श्रीकृष्णस्य ये परमप्रियवर्गा ब्रह्मादयो गरुड़ादय श्रीप्रह्लाद-हनूमदादयोऽस्मदादयश्च तेषु मुख्यान्; अतएव निरुपमः सर्वविलक्षणः प्रमदः आनन्द एवाब्धिः अपरिच्छिन्नत्वादिना तस्मिन्निमग्नान्। एवं तेषामेव दर्शनेन तवाप्यानन्दविशेषो भावी, अस्माकं तु दीनानां सङ्गत्या दुःखमेवेति। सत्त्वरं तानेव गत्वा पश्येति भावः। तर्हि तेषां माहात्म्यमेव विशेषेण वर्ण्यता, तत्राह—तेषामिति। महत्त्वं श्रीकृष्णप्रीतिविशेषविषयतालक्षणम्, अतुलम् असाधारणम्, अन्येषां तादृशत्वाभावात्। भगवन् हे सर्वज्ञ! सततद्वारकावासादि-परमभाग्ययुक्तेति वा अतस्त्वं जानास्येव। तत् तस्मात्; अहो! खेदे विस्मये वा, यद्वा, त्वमेव जानासि नान्यः। अतो वयं दीनाः कथं तद् वर्णयितुं शक्नुम् इत्यर्थः॥८९॥

भावानुवाद—अतएव आप उन यादवोंके समीप पधारिए और उनका अनुगमन कीजिए, क्योंकि वे श्रीकृष्णके अत्यधिक प्रिय श्रीब्रह्मादि देवताओं, गरुड़ आदि पार्षदों तथा श्रीप्रह्लाद, श्रीहनुमान आदि भक्तोंसे भी श्रेष्ठ हैं। अतएव वे उपमारहित अगाध, अथाह और अनन्त आनन्दके सागरमें निमग्न हैं। श्रीकृष्णके प्रियभक्तोंमें श्रेष्ठ उन यादवोंका दर्शन करनेसे आप भी अत्यधिक आनन्दित होंगे। परन्तु हम तो अत्यन्त दीन-हीन हैं, हमारे संगसे आपको केवल दुःख ही प्राप्त होगा।

यदि कहो कि श्रीकृष्णके प्रियभक्तोंमें श्रेष्ठ उन यादवोंकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन करें। उसके उत्तरमें कहते हैं कि उनकी महिमा अतुलनीय है, विशेषतः श्रीकृष्णके प्रति उनकी प्रीति अतुलनीय और असाधारण है। वैसी प्रीति और कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। हे भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं तथा सदैव द्वारकामें वास करनेके कारण यादवोंके समान परम सौभाग्यशाली भी हैं। अतएव आप ही उनकी अतुलनीय महिमाको जानते हैं। अहो! (खेद या विस्मयपूर्वक) हम अत्यन्त दीन-हीन हैं, उनकी अतुलनीय महिमाका वर्णन करनेमें हम कैसे समर्थ हो सकते हैं?॥८९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

भो यादवेन्द्रभगिनीसुतपत्नी मातः श्रीद्वारकां मुनिवरस्त्वरयागतोऽसौ।
दण्डप्रणामनिकरैः प्रविशन् पुरान्तर्दूराद्ददर्श सुभगान् यदुपुङ्गवांस्तान्॥९०॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा, हे माता! आप भी उन्हीं श्रीकृष्णकी बहनके पुत्रकी पत्नी हैं, अतएव आप भी परम सौभाग्यशाली हैं। इसके पश्चात् देवर्षि श्रीनारदने उसी समय द्वारकापुरीके लिए प्रस्थान किया और शीघ्र ही उस द्वारकापुरीमें पहुँचकर बार-बार दण्डवत् प्रणाम करते हुए उस पुरीके भीतर प्रवेश किया तथा दूरसे ही सौभाग्यशाली यादवोंका दर्शन किया॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यादवेन्द्रभगिनी श्रीसुभद्रा, तस्याः सुतोऽभिमन्युस्तस्य पत्नीत्येवं सम्बोधनेन त्वमपि तादृशपरमभाग्यवतीति सूच्यते। श्रीयुधिष्ठिरादिभिः श्रीकृष्णस्य परमप्रियतया वर्णितास्तान् अनिर्वचनीयान् इति वा॥९०॥

भावानुवाद—हे माता! आप यादवेन्द्र श्रीकृष्णकी बहन श्रीसुभद्रादेवीके पुत्र अभिमन्युकी पत्नी हैं। ऐसे सम्बोधन द्वारा श्रीपरीक्षित यह कहना चाहते हैं कि श्रीउत्तरादेवी भी यादवोंके सम्बन्धसे परम सौभाग्यवती हैं। श्रीयुधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने जिन द्वारकावासियोंके उद्देश्यसे श्रीकृष्णकी परम प्रियताका अर्थात् उनकी अनुपम महिमाका निर्देश किया था, श्रीनारदने तुरन्त द्वारकापुरीमें पहुँचकर बारम्बार दण्डवत् प्रणाम करते हुए उस पुरीमें प्रवेश किया और दूरसे ही उन्होंने उन यादवोंका दर्शन किया॥९०॥

सभायां श्रीसुधर्मायां सुखासीनान् यथाक्रमम्।
निजसौन्दर्यभूषाढ्यान् पारिजातस्रगाचितान्॥९१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने देखा कि यादवगण श्रीसुधर्मा नामक सभामें क्रमानुसार सुखपूर्वक अपने-अपने आसनों पर बैठे हुए थे तथा अपने-अपने सौन्दर्य, अलङ्कार और पारिजात पुष्पोंकी माला आदि द्वारा विभूषित होकर सुशोभित हो रहे थे॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानेव वर्णयति—सभायामिति षड्भिः। श्रीमत्यां यादवकुल-उपवेशेन परमशोभायुक्तायां सुधर्मानाम्न्यां देवसभायाम्; यथाक्रमं ज्येष्ठकनिष्ठादिक्रमेण

सुखेन आसीनान् उपविष्टान्; निजं सहजं सौन्दर्यमेव भूषा भूषणं तद्युक्तान्; पारिजातानां दिव्यतरुपुष्पाणां स्रग्भिराचितान् व्याप्तान्॥९१॥

भावानुवाद—'सभायां' इत्यादि छह श्लोकोंमें श्रीनारद द्वारा किये गये यादवोंके दर्शनका वर्णन कर रहे हैं। श्रीसुधर्मा नामक सभामें परम शोभासे युक्त यादवगण अपने-अपने आसनों पर विराजमान हैं। कैसे? यथायोग्य अर्थात् ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि क्रमसे सुखपूर्वक विराजमान हैं और अपने-अपने सौन्दर्य, भूषण और पारिजात नामक दिव्य वृक्षके पुष्पोंकी मालासे सुशोभित हैं॥९१॥

दिव्यातिदिव्यसंगीतनृत्यादिपरमोत्सवैः ।
सेव्यमानान् विचित्रोक्त्या स्तूयमानांश्च वन्दिभिः॥९२॥

श्लोकानुवाद—वहाँ दिव्यसे भी अतिदिव्य संगीत और नृत्य आदिके महोत्सव हो रहे थे तथा बन्दीजन (दास) विचित्र-विचित्र वचनोंके द्वारा यादवोंकी स्तुति कर रहे थे॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—दिव्यानि स्वर्गादिवर्त्तीनि अतिदिव्यानि च श्रीवैकुण्ठस्थितानि। यद्वा, दिव्येभ्यः परमोत्कृष्टेभ्योऽप्यतिदिव्यानि यानि सम्यञ्चि समीचीनानि गीतानि नृत्यानि च, आदिशब्दाद् वाद्याभिनयादीनि तान्येव तैर्वा ये परमोत्सवास्तैः सेव्यमानान् नित्यमुपास्यमानान्। सर्वाभिर्महासिद्धिभिरपि दासीभिरिव तेषां सेवनात्॥९२॥

भावानुवाद—यहाँ 'दिव्य'का अर्थ है स्वर्ग आदिमें और 'अतिदिव्य'का अर्थ है स्वर्गसे अतीत श्रीवैकुण्ठलोकमें स्थित। अथवा यादवोंको 'दिव्य' अर्थात् परमोत्कृष्ट तथा 'अतिदिव्य' अर्थात् स्वर्गसे अतीत वैकुण्ठ लोकके उचित संगीत, नृत्य आदि महोत्सवसे दिन-रात परिसेवित समझना चाहिए। 'आदि' शब्दसे वाद्य और अभिनय आदिके द्वारा वे नित्य ही उपासित हो रहे हैं, ऐसा समझना होगा। सब प्रकारकी सिद्धियाँ भी मूर्त्तिमान रूपमें दासी जैसी उनकी सेवा कर रही हैं॥९२॥

अन्योऽन्यं चित्रनर्मोक्तिकेलिभिर्हसतो मुदा।
सूर्यमाक्रामतः स्वाभिः प्रभाभिर्माधुरीमयान्॥९३॥

श्लोकानुवाद—वे परस्पर विचित्र हास-परिहास करते हुए आनन्द प्रकाश कर रहे थे। यद्यपि उनकी अङ्गकान्ति सूर्यकी प्रभाको भी तुच्छ करनेवाली थी, तथापि उस स्निग्धकान्तिकी माधुरीसे किसीको चक्षुपीड़ा नहीं हो रही थी॥९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—चित्रा अद्भुता विविधा वा नर्मोक्तय एव केलयस्ताभिः; स्वाभिः स्वकीयाभिः प्रभाभिस्तेजोभिः सूर्यमपि आक्रामतः आच्छादयतः। तादृश-तेजस्वितायामपि न कस्यापि चक्षुषः पीड़ादिकं, किन्तु सुखमेव स्यादित्याह—माधुरीमयान् सर्वलोकाहलादकानित्यर्थः॥९३॥

भावानुवाद—वे लोग परस्पर अद्भुत परिहासपूर्ण वचनोंसे वार्त्तालाप करते हुए आनन्दसे हँसी-मजाक कर रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्यकी प्रभाको भी पराजित कर रही थी। उनकी वह अङ्गकान्ति प्रदीप्त होने पर भी स्निग्ध थी जिसके कारण उससे किसीको नेत्र-पीड़ा नहीं होती थी, अपितु उस स्निग्ध-कान्तिसे सभीको सुख ही होता था, क्योंकि उनकी अङ्गकान्ति परम मधुर होनेसे सबको उल्लसित कर रही थी॥९३॥

नानाविधमहादिव्यविभूषणविचित्रतान्।
कांश्चित् प्रवयसोऽप्येषु नवयौवनमापितान्।
श्रीकृष्णवदनाम्भोजसुधातृप्तानभीक्ष्णशः॥९४॥

श्लोकानुवाद—वे सभी लोग नाना-प्रकारके महादिव्य आभूषणोंसे अलंकृत थे। उनमें जो-जो वृद्ध थे, वे भी निरन्तर श्रीकृष्णके मुख-कमलकी सुधापानसे तृप्त होकर नवयौवन अवस्थाको प्राप्त हो रहे थे॥९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वेऽपि ते नवयुवान् एवेति वक्तुं वृद्धानामपि नवयौवनं साधयति—कांश्चिदिति। ये केचिदेषु यादवेषु मध्ये प्रवयसो वृद्धास्तानपि भगवता भक्तिविशेषमहिम्ना वा। नवयौवनं प्रापितानित्यर्थः। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा० १०/४५/१९)—*'तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिवलौजसः। पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्भोज सुधां मुहुः॥'*॥९४॥

भावानुवाद—'वे सभी यादव नवयुवक हैं', इस वचनके द्वारा उनमें जो वयोवृद्ध थे, उनका भी नवयौवन होना प्रमाणित हुआ है, क्योंकि

जो वयोवृद्ध थे, वे भी निरन्तर अपने नयनोंके द्वारा श्रीकृष्णके मुखकमलके अमृतको निरन्तर पान करनेसे तृप्त रहते थे; अथवा भक्तिकी विशेष महिमासे नवयौवनको प्राप्त हुए थे। दशम-स्कन्धमें भी कहा गया है—"उस द्वारकापुरीमें वृद्ध भी निरन्तर अपने नेत्रों द्वारा श्रीकृष्णके मुखकमलकी सुधाका पान करके युवा और अत्यधिक बलशाली अथवा तेजशाली हो गये थे"॥९४॥

उग्रसेनं महाराजं परिवृत्य चकासतः।
प्रतीक्षमाणान् श्रीकृष्णदेवागमनमादरात्॥९५॥

श्लोकानुवाद—वे सभी महाराज उग्रसेनके चारों ओर सुशोभित होकर श्रीकृष्णके शुभ आगमनकी आदर सहित प्रतीक्षा कर रहे थे॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाराजमिति, श्वेतातपत्र-चामरादि-महाराजचिह्नैर्युक्तम् सिंहासनवरे सर्वमध्ये समुपविष्टमित्यर्थः। अतः परितः आवृत्य स्थितान् अतएव चकाशतः शोभमानान्; एतादृश-परमैश्वर्यसुखसम्पत्तावपि श्रीभगवदेकापेक्षकतामाह—प्रतीति सपादेन। श्रीकृष्ण एव देवः परमोपास्यः परमप्रियत्वात् तस्य सभायामागमनं प्रत्येकमभिलषतः॥९५॥

भावानुवाद—'महाराज' अर्थात् श्वेत-छत्र, श्वेत-चामर आदि महाराजके चिह्नोंसे विभूषित होकर यदुराज उग्रसेन सिंहासन पर विराजमान थे तथा यादवगण उनके चारों ओर सुशोभित हो रहे थे। किन्तु ऐसे परम ऐश्वर्ययुक्त सुख-सम्पत्तिके द्वारा सेवित होने पर भी वे लोग भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, क्योंकि श्रीकृष्ण ही उन सभीके परम उपास्य और परमप्रिय थे। अतएव सभी लोग उस सभागृहमें उनके शुभागमनकी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे॥९५॥

तदन्तःपुरवर्त्मेक्षाव्यग्रमानसलोचनान्।
तत्कथाकथनासक्तान् असंख्यान् कोटिकोटिशः॥९६॥

श्लोकानुवाद—वास्तवमें उन सबके नेत्र तथा मन बड़े व्याकुल होकर श्रीकृष्णके अन्तःपुरके पथकी ओर ही लगे हुए थे तथा वे असंख्य यादवगण परस्पर श्रीकृष्ण-कथाके कथन और श्रवणमें ही आसक्त थे॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तस्य यदन्तःपुरं तस्य वर्त्म, तस्येक्षायां व्यग्राणि मानसानि लोचनानि च येषां तान्; तस्य श्रीकृष्णदेवस्य कथा पूर्वकृतलीलादिवार्त्ता तदानीन्तन-सभागमनप्रकार-प्रबन्धो वा। तस्याः कथने आसक्तान्। एवं ततोऽन्यत्र सर्वत्र तेषामौदासीन्यमुक्तम्। असंख्यान् संख्यातीतानित्यर्थः। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/९०/४०-४१)—*'यदुवंश प्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम्। संख्या न शक्यते कर्त्तुमपि वर्षशतैर्नृप॥ तिस्रः कोट्यः सहस्राणाम् अष्टाशीतिशतानि च। आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम्॥'* इति॥ व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—'सहस्राणामपरिमितानां कुमाराणामित्यन्वयः। यदा प्रत्येकं बहून् अध्यापयतामाचार्याणामियं संख्या, तदपि श्रुतमात्रं, न तु सम्यग् ज्ञायते। तदा कुमाराणामेव संख्यानां कर्त्तुं न शक्यते; कुतः पुनः सर्वयादवानाम्?' इति॥९६॥

भावानुवाद—अतएव उन यादवोंके नयन और मन व्याकुलतापूर्वक श्रीकृष्णके अन्तःपुरके पथकी ओर ही लगे हुए थे और वे सभी श्रीकृष्ण-कथा अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा पहले की गयी लीलाओंकी कथा तथा उनके सभामें आगमन आदिकी वार्त्तालापमें ही आसक्त थे। इस प्रकार उनके नयन, मन और वाक्य श्रीकृष्णमें ही आसक्त थे। इससे उनकी अन्य विषयोंमें उदासीनता स्वतः ही सूचित होती है। वह यादवगण संख्यामें अगणित थे; यथा, दशम-स्कन्धमें कथित है—"यदुवंशमें उत्पन्न सुविख्यात पुरुषोंकी संख्याको एक सौ वर्ष तक गिनने पर भी उस गणनाको समाप्त नहीं किया जा सकता। हे राजन्! मैंने सुना है कि उन असंख्य यादवकुमारोंको पढ़ानेके लिए तीन करोड़ एक सौ अट्ठासी यदुकुल आचार्यों (अध्यापकों)को नियुक्त किया गया था। अतएव उन यादवोंकी संख्याकी गणना कौन कर सकता है?" इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधरस्वामीपादने भी ऐसे ही मतको प्रकाशित किया है। उन्होंने कहा है कि—'सहस्र-सहस्र (हजारों-हजारों) कहनेसे अगणित यादवोंको समझना चाहिए तथा उसी प्रकार यादवकुमारोंकी संख्याको भी असीम ही समझना चाहिए। तब उनके आचार्यों और अध्यापकोंकी जो संख्या सुनी जाती है, वह सम्पूर्णरूपसे ठीक है-एसा भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार जब यादवकुमारोंकी ही संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, तो फिर यादवोंकी संख्या किस प्रकार निर्धारित की जा सकती है?'॥९६॥

ज्ञात्वा तं यदवोऽभ्येत्य धावन्तः सम्भ्रमाकुलाः।
उत्थाप्य प्रसभं पाणौ धृत्वा निन्युः सभान्तरम्॥९७॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त जैसे ही यादवोंने श्रीनारदके आगमनके विषयमें श्रवण किया, उसी क्षण वे आदरपूर्वक उनके स्वागतके लिए दौड़ पड़े। श्रीनारद द्वारा उनको दण्डवत् प्रणाम करनेके लिए भूमितल पर पतित होते ही यादवोंने उन्हें शीघ्रता पूर्वक उठाया तथा उनका हाथ पकड़कर सभामें ले आये॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं मुनिवरं ज्ञात्वा तथा समागच्छन्तं स्वतो द्वारपालाद्वा साक्षाद्दर्शनाद्वा विदित्वा। अतएव सम्भ्रमेणाकुलाः सन्तो धावन्तोऽभ्येत्य अभिमुख-मागत्य प्रसभं बलादुत्थाप्य दण्डप्रणामपरम्परया भूमौ पतितत्वात् प्रसभमित्यस्य यथायोग्यं सर्वत्रापि सम्बन्धः। सभाया अन्तरमन्तः॥९७॥

भावानुवाद—उस समय वे यादवगण स्वयं ही श्रीनारदके साक्षात् दर्शन करके अथवा द्वारपालके मुखसे उनके आगमनकी वार्त्ताको सुनकर आदर सहित उनका स्वागत करनेके लिए दौड़कर उनके पास गये। किन्तु श्रीनारद उन लोगोंको दण्डवत् प्रणाम करते हुए भूमि पर पड़े हुए थे, इसलिए उन्होंने श्रीनारदका हाथ पकड़कर आदरपूर्वक उन्हें सभामें लाकर दिव्य आसन प्रदान किया॥९७॥

महादिव्यासने दत्तेऽनुपविष्टं तदिच्छया।
भूमावेवोपवेश्यामुं परितः स्वयमासत्॥९८॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीनारद उस दिव्य आसन पर नहीं बैठे, बल्कि स्वेच्छासे भूमि पर ही बैठ गये। उनको भूमि पर बैठा हुआ देखकर सभी यादव भी उनके चारों ओर भूमि पर ही बैठ गये॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अमूष्य मुनिवरस्य इच्छया मनःप्रीत्या हेतुना अमुं मुनिवरं भूमावेवोपवेश्य परितस्तस्य चतुर्दिक्षु, स्वयं यदव आसत उपाविशन्॥९८॥

भावानुवाद—श्रीनारद अपनी इच्छा अर्थात् मनकी प्रीतिके कारण भूमि पर बैठ गये, तब समस्त यादवगण भी उनके चारों ओर भूमि पर ही बैठ गये॥९८॥

देवर्षिप्रवरोऽमीभिः पूजाद्रव्यं समाहृतम्।
नत्वा साञ्जलिरुत्थाय विनीतो मुहुराह तान्॥९९॥

श्लोकानुवाद—यादवगण देवर्षि श्रीनारदकी पूजाके लिए विविध प्रकारके द्रव्य ले आये, किन्तु श्रीनारदने उन सामग्रियोंको प्रणाम किया और खड़े होकर नम्र भावसे हाथ जोड़कर बार-बार कहने लगे॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अमीभिर्यदुभिः, समाहृतमुपनीतं पूजाद्रव्यमेव नत्वा नमस्कृत्य परमभक्तिभरावेशात्; तान् यदून्॥९९॥

भावानुवाद—श्रीनारदने यादवों द्वारा पूजाके लिए लाये गये विविध द्रव्योंको देखकर भक्तिके परम आवेशवशतः उन सामग्रियोंको प्रणाम किया॥९९॥

श्रीनारद उवाच—

भोः कृष्णपादाब्जमहानुकम्पिता लोकोत्तरा मामधुना दयधवम्।
युष्माकमेवाविरतं यथाहं कीर्तिं प्रगायन् जगति भ्रमेयम्॥१००॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे यादवों! आप इस जगतसे अतीत हैं, आप लोगों पर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी विशेष कृपा है। अब आप लोग मेरे प्रति ऐसी कृपा कीजिए जिसके द्वारा मैं सम्पूर्ण जगतमें केवल आप लोगोंका ही निरन्तर यशगान करता रहूँ॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—भो लोकोत्तराः सर्वलोकश्रेष्ठा लोकातीता वा; दयधवं दयां कुरुत। कथं? तदाह—युष्माकमिति एवकारेण अन्यनिरपेक्षता बोध्यते॥१००॥

भावानुवाद—मूल श्लोकके 'लोकोत्तरा' पदका अर्थ है समस्त लोगोंमें श्रेष्ठ अथवा इस जगतसे अतीत। 'युष्माकमेव' पदके 'एव'कार द्वारा श्रीनारदकी दूसरोंके प्रति निरपेक्षता सूचित हो रही है॥१००॥

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं
चकास्ति वैकुण्ठनिवासितोऽपि यत्।
मनुष्यलोको यदनुग्रहादयं
विलङ्घ्य वैकुण्ठमतीव राजते॥१०१॥

श्लोकानुवाद—अहो! यह यदुकुल अत्यन्त प्रशंसनीय है तथा इसकी शोभा वैकुण्ठके पार्षदोंसे भी अधिक है। आप लोगोंकी कृपासे यह मनुष्यलोक भी वैकुण्ठको अतिक्रमणकर सुशोभित हो रहा है॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्धेतुत्वेन तेषां माहात्म्यभरं वर्णयन् परमगौरवेण साक्षादपि परोक्षमिवाह—अहो इति आश्चर्ये। अलमतिशयेन श्लाघ्यतमं बभूव। यद् यदोः कुलं वैकुण्ठलोक निवासिभ्यः श्रीगरुड़ादिपार्षदेभ्यः अपि सकाशात् चकास्ति शोभते। यस्य यदुकुलस्यानुग्रहात् सर्वत्र भगवद्भक्ति-विशेषविस्तारणरूपात्। अयं मरणधर्मादियुक्तोऽपि मनुष्यलोकः वैकुण्ठलोकमप्यतिक्रम्य अत्यन्तं शोभते। तत्रत्येषु श्रीकृष्णेस्येदृशकारुण्याभावात्॥१०१॥

भावानुवाद—'जिससे मैं सम्पूर्ण जगतमें आपका गुणगान करते हुए भ्रमण कर सकूँ'—इस कथनका कारण प्रदर्शन करनेके लिए श्रीनारद द्वारकावासियोंके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। परन्तु गौरववशतः साक्षात् उपस्थित रहने पर भी परोक्षकी भाँति कह रहे हैं—अहो! (आश्चर्यपूर्वक) यह यदुकुल अत्यन्त प्रशंसनीय है, क्योंकि यह वैकुण्ठलोकके निवासी गरुड़ आदि पार्षदोंसे भी अधिक शोभायमान हैं। यदुकुलके अनुग्रहसे सर्वत्र भगवद्भक्तिके प्रचारके रूपमें भगवान्‌की कृपाका विकास भी दिखाई दे रहा है। अतएव जन्म-मृत्यु आदिसे परिपूर्ण यह मनुष्यलोक अब वैकुण्ठलोकको भी अतिक्रम करके अर्थात् उससे भी बढ़कर अत्यधिक सुशोभित हो रहा है। इस यदुकुलके प्रति श्रीकृष्णकी जैसी करुणा दृष्टिगोचर हो रही है, वैसी करुणा वैकुण्ठनिवासी पार्षदोंके प्रति भी नहीं देखी जाती है॥१०१॥

वृत्ता धरित्रि भवती सफलप्रयासा
यस्यां जनुर्वसति केलिचयः किलैषाम्।
येषां महाहरिरयं निवसन् गृहेषु
कुत्रापि पूर्वमकृतै रमते विहारैः॥१०२॥

श्लोकानुवाद—हे पृथ्वी! तुम्हारा भी परिश्रम सफल हुआ, क्योंकि तुम्हारी गोदमें ही इन यादवोंने जन्म लिया है। वे तुम पर निवास करते हैं तथा अनेक प्रकारसे विहार करते हैं; भगवान् श्रीकृष्ण भी

इन यादवोंके घरमें निवासकर अनेक प्रकारकी अद्भुत लीलाएँ करते हुए विराजमान हैं॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं संकीर्त्तयन् परमानन्दावेशेन तान् विहाय पृथिवीमेव सम्बोध्याह—वृत्तेति पञ्चभिः। यस्यां भवत्यां; एषां यादवानाम्। जनुर्जन्म वसतिर्वासः, केलिश्च क्रीड़ा तेषाञ्च यः समूहः। किल निश्चये। येषां यादवानां गृहेषु निवसन् महाहरिः श्रीदेवकीनन्दनोऽयं रमते। कैः? कुत्रापि श्रीवैकुण्ठेऽयोध्यादावपि पूर्वं न कृता ये विहारास्तैरित्यर्थः॥१०२॥

भावानुवाद—इस प्रकार यादवोंका गुणगान करते-करते श्रीनारद, परमानन्दके आवेशमें यादवोंका गुणगान छोड़कर पृथ्वीदेवीको सम्बोधन करके कहने लगे, अहो पृथ्वी! तुम्हारा परिश्रम सफल हुआ, क्योंकि तुम्हारे वक्षस्थल पर इन यादवोंका जन्म, वास और लीला आदि सम्पन्न हो रहे हैं। 'किल' शब्दका निश्चयके अर्थमें प्रयोग हुआ है। श्रीदेवकीनन्दनके रूपमें भगवान् इन्हीं यादवोंके घरमें निश्चय ही वास कर रहे हैं। किस प्रकारसे वास कर रहे हैं? भगवान् श्रीहरिने वैकुण्ठ और अयोध्या आदिमें भी जिन लीलाओंका प्रकाश नहीं किया, अब उन्हीं अपूर्व लीलाओंको करते हुए यहाँ पर निरन्तर विराजमान हैं॥१०२॥

येषां दर्शनसम्भाषा स्पर्शानुगमनासनैः।
भोजनोद्वाहशयनैस्तथान्यैर्दैहिकैर्दृढैः ॥१०३॥
दुश्छेदैः प्रेमसम्बन्धैरात्मसम्बन्धतोऽधिकैः।
बद्धः स्वर्गापवर्गेच्छां छित्वा भक्तिं विवर्द्धयन्॥१०४॥
कृष्णो विस्मृतवैकुण्ठो विलासैः स्वैरनुक्षणम्।
नवं नवमनिर्वाच्यं वितनोति सुखं महत्॥१०५॥

श्लोकानुवाद—हे यादवगण! आप लोग श्रीकृष्णके साथ उनके दर्शन, स्पर्शन, सम्भाषण, अनुगमन, उपवेशन, भोजन, शयन और विवाह आदि दैहिक सुदृढ़ सम्बन्धोंसे भी श्रेष्ठ प्रेम-सम्बन्धके द्वारा बँधे हुए हो। इसीलिए श्रीकृष्ण वैकुण्ठवासको भूलकर निरन्तर विविध प्रकारके विलासके साथ अपनी भक्तिका विस्तार करते हुए आप लोगोंको अनेक प्रकारसे अनिर्वचनीय सुख प्रदान कर रहे हैं॥१०३-१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च स्वयमेव केवलं रमते, एतान् अपि नितरां रमयतीत्याह—येषामिति त्रिभिः। येषां यादवानां दर्शनादिभिः दैहिकैर्देहसम्बन्धिभिः प्रेम सम्बन्धैर्बद्धः सन् कृष्णः स्वैरसाधारणैर्विलासैः सुखं वितनोतीति त्रयाणामन्वयः। किं कुर्वन्? भक्तिं प्रेमलक्षणां विशेषेण वर्धयन्। किं कृत्वा? स्वर्गापवर्गयोरिच्छां;—स्वर्गे गत्वा भगवता सह विहरामेत्यतद्रूपां स्वर्गेच्छां छित्त्वा निरस्य, सुधर्मापारिजातादीनां द्वारकायामेव प्राप्तेः; अपवर्गे जन्माद्यभावे च इच्छां छित्त्वा तथा सती पुनः पुर्नभगवता सहात्रावतरणाद्यसम्भवात्। तथेत्युक्तसमुच्चये। तादृशैरिति वा; अन्यैश्च आतिथ्यादिभिः। दैहिक सम्बन्धानामनित्यत्वादिकमाशङ्कयाह—आत्मना यः सम्बन्धः। धारणया समाधिना वा संयोगस्ततोऽप्यधिकैरुत्कृष्टैः; अतो दृढ़ैरचलैः; अतएव दुःश्छेदैः कथञ्चित् कदाचित् केनचिदपि छेत्तुमशक्यैरित्यर्थः। कथम्भूतं सुखम्? अनुक्षणं क्षणे क्षणे नवं नवम्; अतो महत् अतएव अनिर्वाच्यं निर्वक्तुमशक्यम्। अयं भावः यादवाः किल एते सच्चिदानन्दविग्रहा एवेत्यनित्यत्वाद्याशंकापि नास्त्येव; प्रत्युत समाध्यादिद्वारा एकरूपस्येवाल्पस्य सुखस्य भोगः। देहावयवैस्तु तत् सम्बन्धिभिरिन्द्रियवर्गैश्च बहुधा विचित्रमहासुखलाभः स्यादिति। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰१०/८२/२९–३०)—*'यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति, पादाबनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम्। भूः काल भर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म, स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान्॥ तद्दर्शनस्पर्शनानु-पथप्रजल्प,-शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः। येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्त्ततां वः, स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः॥'* इति कुरुक्षेत्रयात्रायां युधिष्ठिरादीनां राज्ञां वचनमिदम्। अयमर्थः—यदिति पृथक् पदं यस्येत्यर्थः। विश्रुतिः कीर्त्तिः श्रुतिभिर्नुतास्तुता। इदं विश्वमलमत्यर्थं पुनाति। यस्य पादाबनेजनपयो गंगा च; यस्य वचो वाक्यरूपं शास्त्रञ्च वेदाख्यं विश्वं पुनाति। किञ्च, कालेन भर्जितं दग्धं भगं माहात्म्यं यस्यास्तथाविधापि यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन उत्था आविर्भूता शक्तिर्यस्याः सा नोऽस्माकमखिलार्थान् अभितो वर्षति। तदिति स एवार्थः। स विष्णुः स्वयं येषां वो निरयवर्त्मनि संसारकारणे गृहे वर्त्तमानानामपि; बध्यते सम्बध्यते इति बन्धः; दर्शनादिभि; सम्बन्धः सन्। स्वर्गापवर्गविरमः स्वर्गापवर्गाभ्यां सकाशात् विरमयति वितृष्णां करोतीति तथाभूत आस। परमसुखप्रदो बभूवेत्यर्थः। अनुपथोऽनुगतिः; प्रजल्पो गोष्ठी सयौनं विवाहसम्बन्धः; सपिण्डं दैहिकसम्बन्धः इति॥१०३–१०५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण केवल स्वयं ही आनन्दित हैं, ऐसी बात नहीं है, बल्कि यादवोंको भी अत्यधिक आनन्द प्रदान कर रहे हैं। यही 'येषां' इत्यादि तीन श्लोकोंमें कहा गया है। यादवोंके साथ दर्शन आदि दैहिक-सम्बन्ध और प्रेम-सम्बन्धके द्वारा आबद्ध होकर श्रीकृष्ण अनेक प्रकारके विलास द्वारा उनको असाधारण सुख प्रदान कर रहे

हैं। श्रीकृष्ण कैसे विलास कर रहे हैं? प्रेमाभक्तिको वर्धित करते हुए विलास कर रहे हैं। प्रेमभक्तिको कैसे वर्धित कर रहे हैं? स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष)की अभिलाषाका छेदन करके अर्थात् 'हम स्वर्गमें जाकर भगवान्‌के साथ विहार करेंगे', ऐसी इच्छाको दूर कर रहे हैं, क्योंकि स्वर्गकी श्रेष्ठ सम्पत्ति सुधर्मा सभा और पारिजात वृक्ष, इन दोनोंके द्वारकामें ही प्राप्त होनेसे यादवोंकी स्वर्ग जानेकी इच्छा नहीं रही। यादवोंकी अपवर्ग (मोक्ष)की अभिलाषाका भी छेदन हुआ है। अर्थात् यद्यपि यादवोंका जन्म-मरण आदि नहीं है, तथापि वे भगवान्‌के साथ पुनः-पुनः पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, इसलिए उनकी अपवर्गकी इच्छा स्वतः ही नष्ट हो गयी है। श्रीकृष्णके साथ उनका जो सम्बन्ध है, वह भी दुश्छेद्य है, अर्थात् शयन, भोजन और विहार आदि समस्त सम्बन्ध लौकिक जैसे दिखलायी देने पर भी अनित्य नहीं हैं, बल्कि आत्मिक सम्बन्धसे भी अधिक उत्कृष्ट प्रेमसम्बन्ध हैं। यहाँ पर आत्मिक सम्बन्धसे भी अधिक कहनेका तात्पर्य यह है कि ध्यान, धारणा और समाधि द्वारा आत्माके साथ परमात्माका जो सम्बन्ध अथवा संयोग है, उससे भी अधिक उत्कृष्ट होनेके कारण यादवोंका यह सम्बन्ध स्थिर और दुश्छेद्य प्रेम द्वारा आबद्ध है।

यदि प्रश्न हो कि उस प्रेमसम्बन्धका सुख कैसा है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि वह सुख क्षण-क्षणमें नव-नवायमान है। अतएव अत्यधिक सुख होनेके कारण अनिर्वचनीय है, अतः मैं उस सुखका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ। यहाँ पर आशंका हो सकती है कि वह सुख यदि देह सम्बन्धीय प्रेमबन्धनसे उत्पन्न हुआ है तो उसे अनित्य क्यों नहीं कहेंगे? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि सभी यादव सच्चिदानन्दमय हैं, अतएव उस सुखमें अनित्यताकी आशंका नहीं है, बल्कि वह सुख देह सम्बन्धीय होने पर भी आत्माके समाधि सुखकी तुलनामें भी अधिक उत्कृष्ट है। समाधि द्वारा जिस प्रकारके सुखका अनुभव होता है, वह अति अल्प है, परन्तु श्रीकृष्णके साथ यादवोंका देह सम्बन्धीय सुख अत्यधिक महान है। जिस प्रकार देहके अवयव (अंगों) तथा उनसे सम्बन्धित इन्द्रियोंके होनेसे उनके द्वारा अनेक प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार यादवोंके अप्राकृत

सच्चिदानन्दमय शरीर और इन्द्रियोंसे भी वैसा ही सुख प्राप्त होता है। यथा, दशम–स्कन्धमें कुरुक्षेत्र यात्राके समय महाराज श्रीयुधिष्ठिरके यादवोंके प्रति वचन हैं—"सभी श्रुतियाँ जिनकी कीर्त्तिका गान करती हैं, उन्हीं भगवान्‌का पाद–प्रक्षालन (चरणामृत) जल गंगादेवी तथा वचनरूप वेद शास्त्र इस विश्वको अत्यधिक पवित्र कर रहे हैं। कालवशतः पृथ्वीका भाग्य दग्ध होने पर भी जिनके श्रीचरणकमलोंकी शक्तिके प्रभावसे पृथ्वी पुनः हमें सब प्रकारका अर्थ प्रदान कर रही है, उन स्वयं भगवान्‌ने संसारके कारणस्वरूप गृहमें निवास कर आप लोगोंके साथ दर्शन, स्पर्शन, अनुगमन, उपवेशन (साथमें बैठना), भोजन, शयन और अन्य–अन्य दैहिक सम्बन्धों द्वारा आपकी भक्तिका वर्द्धनकर तथा स्वर्ग और अपवर्गकी अभिलाषाका छेदन करके आप लोगोंको सब प्रकारके विषयोंकी तृष्णासे रहित कर दिया है।"

इन दो श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीकृष्णका चरणामृत जल गंगादेवी तथा उनके मुख निःसृत वाणी वेद शास्त्र, ये दोनों ही विश्वको पवित्र कर रहें हैं, तथापि कालके प्रभावसे पृथ्वीका महात्म्य (शक्ति) क्षीण हो गया है। अतः श्रीकृष्णके आविर्भाववशतः उनके श्रीचरणकमलोंके स्पर्शसे पृथ्वी पुनः सब प्रकारके अर्थ प्रदान कर रही है। वे श्रीकृष्ण आप यादवोंके साथ विवाह–सम्बन्ध (सयौन) तथा देह–सम्बन्धों (सपिण्ड)में बन्धकर संसारके कारण स्वरूप गृहमें वास कर रहे हैं। वे दर्शन, स्पर्शन आदि प्रजल्परूप गोष्ठी द्वारा आप लोगोंकी स्वर्ग और मोक्षकी कामनाओंको दूरकर आप लोगोंको परमसुख प्रदानकर रहे हैं, अर्थात् आप लोगोंका भक्ति सुख वर्द्धन कर रहे हैं॥१०३–१०५॥

शय्यासनाटनालाप–क्रीड़ास्नानाशनादिषु ।
वर्त्तमाना अपि स्वान् ये कृष्णप्रेम्णा स्मरन्ति न॥१०६॥

श्लोकानुवाद—आपलोग भी शयन, भोजन, उपवेशन, भ्रमण, परस्पर वार्त्ता, विहार, स्नान आदि व्यवहारमें श्रीकृष्णके प्रेमसे बँधकर अपने पुत्र–पत्नी आदि परिवारका भी स्मरण नहीं करते हैं॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव शय्यादिषु वर्त्तमाना अपि कृष्णप्रेम्णा हेतुना स्वान् स्वकीयान् तत्तदर्थान् पुत्रकलत्रादीन् वा। यद्वा, आत्मनोऽपि न स्मरन्ति—कुत्र तिष्ठामः किम्वा कुर्मः इत्यादिकं किमपि नानुसन्दधत इत्यर्थः। तत्र तत्र सर्वदैव श्रीकृष्णाविष्ट चित्तत्वात्। एवं तेषां परमविषयभोग-सम्पत्तावपि श्रीकृष्णप्रेमपूरनिमग्नत्वं दर्शितम्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा० १०/९०/४६)—*'शय्यासनाटनालाप क्रीड़ास्नानाशनादिषु। न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः॥'* इति। अतएव पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीकृष्णसत्यासंवादे—*'एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि। सर्वदा मत्प्रिया देवि मत्तुल्यगुणशालिनः॥'* इति॥१०६॥

भावानुवाद—अतएव ये यादवगण शयन, भोजन आदि क्रियाओंको करते हुए श्रीकृष्ण-प्रेमके कारण अपनी-अपनी देह और देह-सम्बन्धीय पुत्र-पत्नी आदि परिवारका भी स्मरण नहीं करते हैं। अथवा वे ऐसे आत्मविस्मृत हो गये हैं कि उनको 'कहाँ जाना है, क्या करना है'—इसका भी स्मरण नहीं रहता, क्योंकि इन सब कार्योंको करने पर भी उनका चित्त सर्वदा श्रीकृष्णमें ही आविष्ट रहता है। इस प्रकार अत्यधिक विषय-सम्पत्तिका भोग करनेके समयमें भी श्रीकृष्ण-प्रेमरसमें यादवोंकी निमग्नताका प्रदर्शन किया गया है। इस विषयमें दशम-स्कन्धमें भी कहा गया है—"श्रीकृष्णमें आविष्ट-चित्त यादवोंको शयन, उपवेशन, भ्रमण, वार्त्तालाप, क्रीड़ा, स्नान और भोजन आदि विषयोंमें भी अपने-अपने दैहिक सम्बन्ध विस्मृत रहते हैं।" पद्मपुराणके कार्त्तिक-माहात्म्यमें श्रीकृष्ण और सत्यभामाके बीच हुए संवादमें भी कहा गया है—"हे भामिनि! मैं ब्रह्मा आदि देवताओंकी प्रार्थनासे इस पृथ्वी पर अपने परिकरोंके साथ अवतीर्ण हुआ हूँ, अतः ये यादव भी मेरे साथ अवतीर्ण हुए हैं। हे देवी! ये सभी मेरे निज जन हैं, सदैव मेरे प्रिय और मेरे समान ही गुणशाली हैं"॥१०६॥

महाराजाधिराजायमुग्रसेन-महाद्भुतः ।
महासौभाग्यमहिमा भवतः केन वर्ण्यताम्॥१०७॥

श्लोकानुवाद—हे महाराजाधिराज उग्रसेन! आप भी जगतमें श्रीकृष्णके कृपापात्रके रूपमें प्रसिद्ध हैं। आपके अद्भुत सौभाग्यकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है?॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येनोक्त्वा अधुना तेष्वेव राजत्वेन भगवत्कृपा-विशेषविषयत्वेन वा श्रेष्ठमुग्रसेनं सम्बोध्य तस्यैव माहात्म्यमाह—महाराजेति सार्द्धत्रयेण। हे महाराजानां श्रीयुधिष्ठिरादीनामपि अधिराज! अयमिति सुप्रसिद्धः। सर्वैः साक्षादनुभूयमानो वेत्यर्थः। केन वर्ण्यताम्? अपि तु न केनचिदपि वर्णयितुं शक्य इत्यर्थः॥१०७॥

भावानुवाद—इस प्रकार साधारणरूपसे यादवोंकी महिमाको बतलाकर अब उनके महाराजा श्रीउग्रसेनको जगतमें श्रीकृष्णकी विशेष कृपाका पात्र निर्धारित करते हुए उनके लिए उचित गौरवपूर्ण सम्बोधन द्वारा उनके माहात्म्यका कीर्त्तन कर रहे हैं। हे महाराजाधिराज उग्रसेन! आप महाराज श्रीयुधिष्ठिर आदिके भी अधिराज हैं, अतएव इस जगतमें सुप्रसिद्ध तथा सभी लोगोंके द्वारा साक्षात् अनुभवकी जाने-वाली आपकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है॥१०७॥

अहो महाश्चर्यतरं चमत्कारभराकरम्।
पश्य प्रियजनप्रीतिपारवश्यं महाहरेः॥१०८॥

श्लोकानुवाद—अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! अब साक्षात् भगवान् श्रीहरिकी अपने प्रेमीजनोंके प्रति चमत्कारजनक प्रीतिकी अधीनताको तो देखिए॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव दर्शयितुं श्रीकृष्णस्य भक्तवात्सल्यविशेषमाह—अहो इति सार्द्धद्वयेन। चमत्कारस्य विस्मयविशेषस्य आकरं जन्मक्षेत्रम्। प्रियजनेषु या प्रीतिः प्रेमा तदधीनत्वम्॥१०८॥

भावानुवाद—अब उक्त सौभाग्यकी महिमाका प्रदर्शन करनेके लिए श्रीकृष्णकी भक्तवत्सलताका वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्ण अपने प्रियजनोंके प्रेममें कितने वशीभूत हैं, इस चमत्कारजनक महिमाका दर्शन कीजिए; अर्थात् प्रियजनोंके प्रेम द्वारा श्रीकृष्णकी अधीनताका दर्शन कीजिए॥१०८॥

यदुराज भवन्तं स निषण्णं परमासने।
अग्रे सेवकवत्तिष्ठन् सम्बोधयति सादरम्॥१०९॥

श्लोकानुवाद—हे यदुराज! जब आप इस महाराजोचित उच्च सिंहासन पर विराजते हैं, तब आपके सामने श्रीकृष्ण सेवककी भाँति खड़े होकर आदर सहित इस प्रकार कहते हैं— ॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—यदुराजेति सार्धेन। परमासने महाराजोचित सिंहासनवरे निषण्णमुपविष्टम्; अग्रे अभिमुखे॥१०९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१०९॥

भो निधारय देवेति भृत्यं मामादिशेति च।
तद्भवद्भ्यो नमोऽभीक्षणं भवत्सम्बन्धिने नमः॥११०॥

श्लोकानुवाद—"हे देव! कृपया श्रवण करें। मैं आपका सेवक हूँ, मुझे यथायोग्य आदेश प्रदान करें।" इसलिए मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ तथा जिनके साथ आपका सम्बन्ध है, उनको भी प्रणाम करता हूँ॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथं तदाह—भो इति। भो देव। निधारय अवधानप्रसादं विधेहि। भृत्यं सेवकं अवश्यभरणीयं वा। तदुक्तं श्रीभगवतैव दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४५/१४)—*'मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः। बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः॥'* इति। उद्धवेनापि तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ३/२/२२)—*'तत्तस्य कैंकर्यमलं भृतान्नो विग्लापयत्यङ्ग, यदुग्रसेनम्। तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्णो, न्यबोधयद्देव! निधारयेति॥'* भृतान् भृत्यान्नोऽस्मान्; तत्तस्माद्भवद्भ्य इति। बहुत्वं गौरवेण सर्वयादवापेक्षया वा। भवतां सम्बन्धिनेऽपि कस्मैचिन्नमः अस्तु तावद्भवद्भ्यो नमः इत्यर्थः। यद्वा, इत्थं सर्वथा पर्यवसितं श्रीभगवतो महिमविशेषमामृग्य उपसंहारे तमेव प्रणमति भवत् सम्बन्धिन इति॥११०॥

भावानुवाद—महाराज उग्रसेनके सौभाग्यकी महिमा कैसी है? इसे 'भो' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं—हे देव! कृपा कीजिए, मेरे प्रति प्रसन्न होकर श्रवण कीजिए, मैं आपका सेवक और भृत्य (अवश्य पालनीय जन) हूँ—ऐसा श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें कथित है—"हे देव! मेरे द्वारा आपके समीप रहनेके कारण राजाओंकी तो बात ही क्या, देवता भी आपको पूजाके उपहार प्रदान करेंगे।" श्रीउद्धवने कहा है, "हे विदुर! श्रीकृष्णने स्वयं भगवान् होकर

भी जिस प्रकार महाराज उग्रसेनकी दासता स्वीकार की थी, उसको स्मरण करके मेरे जैसे दासोंका मन भी दुःखित होता है। हाय! क्या यह सामान्य दुःखकी बात है? उग्रसेन राजसिंहासन पर विराजमान हैं और श्रीकृष्ण उनके सामने खड़े हुए हैं! केवल यही नहीं, 'महाराज, कृपया ध्यान दें', श्रीकृष्ण इस प्रकार सम्बोधन करके निवेदन करते हैं।" यहाँ पर श्रीनारदने भी 'भवद्भ्यो' पदका प्रयोग किया है। अर्थात् वे केवल उग्रसेनकी महिमाका वर्णन कर रहे हैं, किन्तु बहुवचनका प्रयोग कर रहे हैं। क्यों? उनके प्रति गौरव बुद्धिके कारण या फिर सभी यादवोंके लिए ऐसा कह रहे हैं। अतएव आपको प्रणाम करनेकी तो बात ही क्या, जिनके साथ आपका सम्बन्ध है, उन सभी महात्माओंको भी मेरा प्रणाम है। अथवा यह उक्ति सर्वथा भगवान्‌की महिमामें ही पर्यवसित हो रही है। अतएव श्रीनारद उपसंहार करते हुए 'भवत् सम्बन्धिने नमः' कहकर श्रीकृष्णको ही प्रणाम कर रहे हैं॥११०॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ततो ब्रह्मण्यदेवानुवर्त्तिनो यदवोऽखिलाः।
सपादग्रहणं नत्वा मातरूचुर्महामुनिम्॥१११॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! तदुपरान्त ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले वे सब यादवगण श्रीनारदके चरणकमलोंको स्पर्श कर उनको नमस्कार करते हुए इस प्रकार कहने लगे॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तद्वाक्यानन्तरं ब्रह्मण्यदेवस्य श्रीकृष्णस्यानुवर्त्तिनः। अतएव सपादग्रहणं नत्वा भक्त्या तस्य पादौ धृत्वा तयोः प्रणम्येत्यर्थः। हे मातरुत्तरे!॥१११॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१११॥

श्रीयादवा ऊचुः—

श्रीकृष्णस्यापि पूज्यस्त्वमस्मदीयमहाप्रभोः।
कथमस्मान्महानीचान्नीचवन्नमसि प्रभो॥११२॥

श्लोकानुवाद—श्रीयादवगण बोले—हे परमाराध्य देवर्षि श्रीनारद! आप हमारे पूज्य श्रीकृष्णके भी पूजनीय हैं। अतएव किसलिए आप नीच व्यक्तियोंमें भी महानीच हम लोगोंको बार-बार प्रणाम कर रहे हैं?॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रभो! हे परमाराध्यपाद॥११२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११२॥

जितवाक्पतिनैपुण्य यदिदं नस्त्वयोदितम्।
तदसम्भावितं न स्याद्यादवेन्द्र-प्रभावतः॥११३॥

श्लोकानुवाद—आपने वाक्चातुर्यमें वाक्पतिको भी पराजित किया है; अतएव आपने हम लोगोंका जो माहात्म्य वर्णन किया है, वह यादवेन्द्र श्रीकृष्णके प्रभावसे असम्भव नहीं है॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—जितं वाक्पतेर्ब्रह्मणोऽपि नैपुण्यं वाक्चातुर्यं येन तस्य सम्बोधनम्: अनेन वाक्चातुर्येणैव त्वयोच्यते, न तु तत्त्वविचारेणेति भावः। तथापि नोऽस्माकं यदिदं पूर्वोक्तं माहात्म्यमुदितमुक्तं, तत् त्वदुक्तं सर्वं श्रीयादवेन्द्रस्य प्रभावतः असम्भावितं न स्यात् किन्तु घटत एवेत्यर्थः॥११३॥

भावानुवाद—'हे वाक्पतिको जीतनेवाले!' इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि आपने वाक्पति श्रीब्रह्माके वाक्चातुर्यको भी पराजित किया है। अतएव आपने वाक्चातुर्य द्वारा हमारा जो कुछ माहात्म्य कीर्त्तन किया है, वह आपकी वाक्चातुरीमात्र ही है, किन्तु तत्त्व-विचारसे यथार्थ नहीं है। तथापि आपने हमारा जो माहात्म्य वर्णन किया है, वह यादवेन्द्र श्रीकृष्णके प्रभावसे असम्भव नहीं है तथा वैसा सौभाग्य हमें प्राप्त भी है॥११३॥

तस्य केनापि गन्धेन किं वा कस्य न सिद्ध्यति।
महादयाकरो योऽयं निरुपाधिसुहृत्तमः॥११४॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके साथ किसी प्रकारके सम्बन्धकी गन्ध होनेसे ही सभीको सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, क्योंकि वे दयाके सागर और अहैतुक श्रेष्ठ बन्धु हैं॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुं वदन्तस्तस्य परममाहात्म्यं वर्णयन्ति—तस्येति द्वाभ्याम् यादवेन्द्रस्य गन्धेन दूरसम्बन्धेनापि। तत्रैव हेतुमाहुः—महेत्यादिना। यो यादवेन्द्रोऽयं महादयाया आकर उत्पत्तिस्थानम्। महादयापि न किञ्चित् प्रत्युपकारापेक्षयेत्याहुः—निरुपाधीति। अहैतुकपरमोपकारिश्रेष्ठ इत्यर्थः॥११४॥

भावानुवाद—अब उक्त महिमाके मूल कारण-स्वरूप यादवेन्द्र श्रीकृष्णके परम माहात्म्यका वर्णन 'तस्य' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा कर रहे हैं। यादवेन्द्र श्रीकृष्णके साथ दूरका सम्बन्ध होने पर भी सभीका सब कुछ सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वे महादयाके उत्पत्तिस्थान हैं। यदि कहो कि वे दयाके उत्पत्तिस्थान हैं, यह सत्य है, किन्तु यदि उनकी वह दया बदलेमें किञ्चित् उपकारकी आशाके साथ हो तो उस दयाकी सार्थकता ही क्या है? इसीलिए कह रहे हैं कि श्रीकृष्णकी दया निरुपाधिक है अर्थात् वे अहैतुक परम-उपकारी श्रेष्ठ-सुहृद हैं॥११४॥

महामहिमपाथोधिः स्मृतमात्रोऽखिलार्थदः।
दीननाथैकशरणं हीनार्थाधिकसाधकः॥११५॥

श्लोकानुवाद—वे महामहिमाके सागर हैं, उनका स्मरण करने मात्रसे ही वे समस्त फल प्रदान करते हैं और वे दीननाथ हैं अर्थात् अनाथोंके एकमात्र आश्रय हैं। विशेषतः वे दीन-हीन व्यक्तियों पर विशेष कृपा करते हैं॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रापि न वाञ्छानुसारेण किन्तु वाञ्छातीतमपि सम्पादयतीत्याहुः—महेति। वाञ्छातीतफलप्रदत्वादिरूपो महामहिमा तस्य पाथोधिः समुद्रः गभीरापारस्थिराश्रयः। तच्च न चिरेण न चाधिकार्यपेक्षया इत्याहुः—स्मृतमात्रः सन्। पाठान्तरे स्मृतिमात्रेण मनसि चिन्तामात्रेणैव अखिलानामेव अर्थान् पुरुषार्थान् ददातीति तथा सः। तत्रापि ये दीना अकिञ्चना आर्त्ता वा अनाथाश्चान-आश्रयास्तेषामेकमद्वितीयं शरणं रक्षिता आश्रयो वा। तत्रापि ये हीना परमनीचा धर्मज्ञानभक्त्यादिरहिता वा तेषामर्थान् सर्वेभ्योऽधिकं यथा स्यात्तथा साधयतीति तथा सः। एवं तस्य महादयाकरत्वादि महिमविशेषादस्माकञ्च परमदीनहीनत्वात्तस्य कारुण्यभरोऽस्मासु युक्त एवेति तत्प्रभावात्। सर्वमस्माकं घटत एव; तथापि सर्वं तत्तस्मिन्नेव विचारेण पर्यवस्यति न त्वस्मासु। अतः केवलमस्मानालक्ष्य तथा वर्णनं वाक्चातुर्यादेवेति भावः॥११५॥

भावानुवाद—श्रीनारद कुछ और भी कह रहे हैं कि श्रीकृष्ण केवल भक्तोंकी इच्छानुसार ही फल प्रदान करते हैं, ऐसी बात नहीं है, बल्कि वाञ्छातीत फल भी प्रदान करते हैं। इसलिए 'महामहिम' इत्यादि कहा गया है। श्रीकृष्ण वाञ्छातीत फल प्रदानकारी महामहिमाके सागर हैं। सागर जिस प्रकार गम्भीर, अपार, स्थिर और अगाध जलका आश्रय है, श्रीकृष्ण भी वैसे ही महामहिमाके अपार, स्थिर, गम्भीर और अगाध आश्रयस्थल हैं। साधकोंकी वाञ्छापूर्ण करनेके विषयमें भी वे दीर्घकाल या योग्यता-अयोग्यता, उत्तम-अधम आदिका भी विचार नहीं करते, बल्कि स्मरण करने मात्रसे ही वे समस्त पुरुषार्थ प्रदान करते हैं। वे दीन, अकिञ्चन और अनाथोंके एकमात्र आश्रय भी हैं। अर्थात् जो दीन, अकिञ्चन, आर्त्त (दुखी) और अनाथ हैं, जिनका और कोई आश्रय नहीं है, उनके लिए वे एकमात्र आश्रय और रक्षक हैं। इस पर भी जो हीन अर्थात् अत्यन्त नीच, धर्म-ज्ञान और भक्तिसे हीन होता है, वे उसकी अभिलाषाको भी सर्वाधिक रूपमें पूर्ण करनेवाले हैं। इस प्रकार उनकी इस महान दयालुता आदि महिमासे ही हमारे जैसे अत्यन्त दीन-हीन व्यक्तियों पर भी उनकी करुणा होती है। अतएव आपने हमारा जो माहात्म्य वर्णन किया है वह यादवेन्द्र श्रीकृष्णके प्रभावसे असम्भव नहीं है। हम अधिक क्या कहें, वैसा सौभाग्य भी हमे सदैव प्राप्त हो रहा है। किन्तु तत्त्वतः विचार करने पर यह माहात्म्य उनकी महिमामें ही पर्यवसित होता है, इसमें हमारी कुछ भी महिमा नहीं है। अतएव आपने हमको लक्ष्य करके जिस माहात्म्यका वर्णन किया है, वह केवल आपकी वाक्चातुरी ही है॥११५॥

किन्त्वस्मासूद्धवः श्रीमान् परमानुग्रहास्पदम्।
यादवेन्द्रस्य यो मन्त्री शिष्यो भृत्यः प्रियो महान्॥११६॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीनारद! यह सब सत्य है, किन्तु हम सबमें श्रीउद्धव ही यादवेन्द्र श्रीकृष्णके परम कृपापात्र हैं। वे उनके मन्त्री, शिष्य, भृत्य (सेवक) और अत्यन्त प्रिय हैं॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं तदुक्तमशेषमङ्गीकृत्यापि भक्तिस्वाभाविकातृप्तात्मनो लघुतां वक्तुमुद्धवस्य भगवत्कृपाविशेषपात्रता माहात्म्यमाहुः—किन्त्विति दशभिः। अस्मासु मध्ये यादवेन्द्रस्य श्रीकृष्णस्य यः परमोऽनुग्रहस्तस्य पात्रम् अतएव श्रीमान् सर्वसम्पत्तियुक्तः। महानित्यस्य मन्त्रीत्यादिपदचतुष्केनैव सम्बन्धः। य उद्धवः यादवेन्द्रस्य महामन्त्रीति दिक्। एवमस्माकं मन्त्रित्वादौ सत्यपि महत्त्वाभावात्ततो निकृष्टत्वमेवेति भावः॥११६॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीनारदने यादवोंकी जिस महिमाका वर्णन किया, यादवोंने उसको अङ्गीकार करके भी भक्तिके अतृप्तता और मृदु स्वभाववशतः (जहाँ पर जितनी अधिक कृपा या भक्ति विद्यमान रहती है, वहाँ पर उतनी ही अधिक अतृप्तता और लघुता (मृदुता)का भाव विद्यमान होता है, इसलिए यादवोंने भक्तिके स्वाभाविक धर्मानुसार) अपनी तुलनामें श्रीउद्धवके प्रति श्रीभगवान्की विशेष कृपाको लक्ष्य करके, उनको ही भगवान्का अधिक कृपापात्र बतलाया तथा उनकी महिमाका कीर्त्तन करनेके लिए 'किन्तु' इत्यादि दस श्लोक कह रहे हैं। हम सबमें श्रीउद्धव ही यादवेन्द्र श्रीकृष्णके परम कृपापात्र हैं, अतएव वे सर्वसम्पत्तिसे युक्त हैं। वे श्रीकृष्णके महामन्त्री, महाशिष्य, महासेवक और परमप्रिय इत्यादि चारों सम्बन्धोंसे सुशोभित हैं। यद्यपि हमलोग भी श्रीकृष्णके मन्त्री, शिष्य, सेवक और प्रिय हैं, तथापि श्रीमान् उद्धव ही श्रेष्ठ हैं और उनके जैसा महत्व न होनेके कारण हमलोग निकृष्ट हैं॥११६॥

अस्मान् विहाय कुत्रापि यात्रां स कुरुते प्रभुः।
न हि तद्दुःखमस्माकं दृष्टे तस्मिन्नपव्रजेत्॥११७॥

श्लोकानुवाद—प्रभु श्रीकृष्ण यदि हमको छोड़कर कहीं ओर चले जाते हैं, तब हमारे द्वारा अनुभव उनके विरहका दुःख उनके लौटकर आ जाने पर भी दूर नहीं होता॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—अस्मानिति द्वाभ्याम। तत् परित्यागजं दुःखम् अस्मिन् प्रभौ॥११७॥

भावानुवाद—यादवगण श्रीउद्धवके अधिक महत्वको 'अस्मनिति' दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं॥११७॥

न जानीमः कदा कुत्र पुनरेष व्रजेदिति।
उद्धवो नित्यमभ्यर्णे निवसन् सेवते प्रभुम्॥११८॥

श्लोकानुवाद—हमारे प्रभु श्रीकृष्ण न जाने फिर कब कहाँ चले जायें, इसी चिन्तासे हमारा दुःख कभी भी दूर नहीं होता अर्थात् भविष्यमें विच्छेदके भयसे भगवान्‌का दर्शन होने पर भी हमें सम्पूर्णरूपसे सुख नहीं होता। किन्तु श्रीउद्धव निरन्तर श्रीकृष्णके समीप रहकर उनकी सेवा द्वारा सुखी रहते हैं॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुः—नेति भाविविच्छेदाशंकया दर्शनेऽपि सम्यक् सुखं न स्यादित्यर्थः। उद्धवश्च सदा सुखीत्याहुः—उद्धव इति॥११८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११८॥

स्वगम्य एव विषये प्रेषयेद्भगवानमुम्।
कौरवावृतसाम्बीयमोचनादिकृते क्वचित्॥११९॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा विशेष कार्योंके लिए जिन स्थानों पर स्वयं जाना होता है, उन स्थानों पर भी वे श्रीउद्धवको अपने प्रतिनिधिके रूपमें भेज देते हैं। जैसे एक बार साम्बको कौरवोंसे मुक्त करानेके लिए श्रीउद्धवको ही भेजा था॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कदाचिद् गोकुले, कदापि हस्तिनापुरादौ प्रेषणात्तस्यापि भगवद्विच्छेददुःखं स्यादेव, तत्राहुः—स्वगम्य इति। स्वस्य भगवतो गम्ये गमनयोग्ये क्वचित् कस्मिन्नपि विषये स्थान एव नान्यत्र। अमुमुद्धवम्; कौरवैर्भीष्मदुर्योधनादिभिरावृतः दुर्योधनकन्याहरणान्निरुद्धो यः साम्बो जाम्बवतीसुतस्तदीय मोचनादि निमित्तमेव। आदिशब्देन श्रीनन्दब्रजजनाश्वासनादि; तच्च परमरहस्यत्वान्न प्रकाशयन्ति। अतो भगवत् प्रियजनमोच-नाश्वासनादिना भगवत् सङ्गमसुखादप्यधिकं तस्य सुखं फलतीति भावः॥११९॥

भावानुवाद—यदि कहो कि भगवान् श्रीकृष्ण श्रीउद्धवको कभी गोकुल, कभी हस्तिनापुर आदि स्थानोंमें भेजते हैं, अतएव उनको भी भगवान्‌से विच्छेद होने पर दुःख होता होगा। इसीके लिए 'स्वगम्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। श्रीभगवान् उनको अपने जाने योग्य स्थानों पर कभी-कभी भेजते हैं—यह सत्य है, परन्तु किसी और दूसरे स्थान पर नहीं भेजते हैं। जिस प्रकार दुर्योधनकी कन्याका हरण करनेके

कारण जाम्बवतीके पुत्र साम्बको भीष्म–दुर्योधन आदि कौरवोंके द्वारा बन्दी बनाने पर उसकी मुक्तिके लिए श्रीउद्धवको ही भेजा था। 'आदि' शब्द द्वारा श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंको आश्वासन देना भी ग्रहण करना होगा, क्योंकि इस विषयके परम रहस्यपूर्ण होनेके कारण उसको यहाँ प्रकाश नहीं किया गया है। अतएव अपने प्रियजनोंकी मुक्ति और उनको आश्वासन प्रदान आदि विशेष कार्योंके लिए श्रीकृष्ण एकमात्र श्रीउद्धवको ही अपने प्रतिनिधिके रूपमें भेजते हैं। इस प्रकार यद्यपि उनको भगवान्‌से विच्छेदका दुःख होता है, तथापि भगवान्‌के प्रियभक्तोंके मोचन और उनको आश्वासन प्रदान आदि कार्योंमें भगवान्‌के संगकी तुलनामें श्रीउद्धवको अधिक आनन्द प्राप्त होता है॥११९॥

यस्तिष्ठन् भोजनक्रीड़ा–कौतुकावसरे हरेः।
महाप्रसादमुच्छिष्टं लभते नित्यमेकलः॥१२०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके भोजन, क्रीड़ा, विहार आदिके समय भी श्रीउद्धव उनके साथ ही रहते हैं और वे अकेले ही श्रीकृष्णके उच्छिष्ट महाप्रसादका आस्वादन किया करते हैं॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—उक्तामेव तस्य सदा निकटवर्त्तितया सेवां प्रपञ्चयन्ति—य इत्यादिना प्रापयतीत्यन्तेन। हरेर्भोजनक्रीड़ैव कौतुकं तत्समये महाप्रसादरूपं उच्छिष्टं भोजनोच्छेषमन्नादि॥१२०॥

भावानुवाद—उपरोक्त प्रकारसे वे सदैव श्रीकृष्णके समीप रहकर उनकी सेवा किया करते हैं। श्रीउद्धवकी सेवाके विषयमें 'यस्तिष्ठन' इत्यादि श्लोकसे प्रारम्भ करके 'प्रापयति' (श्लोक संख्या १२२) तक कुछ श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्णके भोजन, क्रीड़ा, विहार आदिके समय भी श्रीउद्धव उनके साथ रहकर उनका उच्छिष्ट महाप्रसाद प्राप्त करते हैं॥१२०॥

पादारविन्दद्वन्द्वं यः प्रभोः सम्वाहयन् मुदा।
ततो निद्रासुखाविष्टः शेते स्वाङ्के निधाय तत्॥१२१॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके चरणकमलोंका प्रसन्नचित्त होकर सम्वाहन करते-करते कभी निद्रा आ जाने पर भी श्रीउद्धव प्रभुके श्रीचरणयुगल अपनी गोदमें ही रखकर सुखपूर्वक सो जाते हैं॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः सम्वाहनात् निद्रापि सुखं अङ्के प्रभुपादारविन्दार्पणात् तेनाविष्टः सन्; तत् पादारविन्दद्वन्दम्; एवं शयनेप्यविच्छेदो दर्शित्:॥१२१॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीउद्धव भगवान् श्रीकृष्णके पाद-सम्वाहन द्वारा भी निद्रा सुखका अनुभव करते हैं, अर्थात् निद्राके आवेशमें भी प्रभुके श्रीचरणकमलोंको अपनी गोदमें रखकर सुखपूर्वक सो जाते हैं। इस प्रकार शयन कालमें भी उनका श्रीभगवान्से विच्छेद नहीं होता है—ऐसा भी प्रदर्शित हुआ है॥१२१॥

रहः क्रीड़ायाञ्च क्वचिदपि स सङ्गे भगवतः
प्रयात्यत्रामात्यः परिषदि महामन्त्रमणिभिः।
विचित्रैर्नर्मौघैरपि हरिकृतश्लाघनभरै-
र्मनोज्ञैः सर्वान्नः सुखयति वरान् प्रापयति च॥१२२॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णकी केलि-क्रीड़ाके समयमें भी कभी-कभी श्रीउद्धव उनके साथ जाते हैं। श्रीउद्धव महासभामें प्रधान-मन्त्री भी हैं तथा वे अपनी मनोहर मन्त्रणासे तथा विचित्र हास-परिहाससे हम सबको सुख प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भी उनके इन परिहासमय वचनोंकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—क्वचित् श्रीकुब्जादिगृहे वा रहःक्रीड़ा तस्यामपि। यद्वा, क्वचिदिति कस्याञ्चित् कदाचिदिति वा। स उद्धवः प्रयात्यपि। न चैवं रहःसेवक एव, सभामध्येऽपि स एव श्रेष्ठतरोऽस्माकमपि सुखप्रदाता स एवेत्याहुः—अत्रेति, महानमात्यः सचिवः; विचित्रैर्मन्त्रमणिभिः मन्त्ररत्नैः परमोत्तममन्त्रणाभिरित्यर्थः। विचित्रैर्नर्मणां परिहासोक्तीनामौघैः समूहैरपि। कथम्भूतैस्तैस्तैः? हरिणा श्रीकृष्णेन कृतः श्लाघनानां प्रशंसानां भरो येषु तैः। वरान् मनोऽभीष्टान् कामान् भगवद्-उच्छिष्टादीन्॥१२२॥

भावानुवाद—कभी कुब्जाके घर तथा कभी निगूढ़-क्रीड़ाके समय भी श्रीउद्धव भगवान् श्रीकृष्णके साथ जाते हैं। वे केवल केलि-लीलाके

समय ही सेवक हैं, ऐसी बात नहीं है, वे महासभामें भी श्रेष्ठतर सेवक हैं तथा हमें भी सुख प्रदान करनेवाले हैं। सभामें वे प्रधान मन्त्री हैं, मणि-मन्त्रकी भाँति उपयुक्त मन्त्रणा प्रदान करनेमें भी वे अग्रणी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जिन मनोहर परिहासपूर्ण वचनोंकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं, वे वैसे मनोहर वचनोंके द्वारा हम सभीको सुख प्रदान करते हैं और कभी-कभी भगवान्का उच्छिट महाप्रसाद प्रदानकर हमारे मनोऽभीष्टको भी पूर्ण करते हैं॥१२२॥

किं तस्य सौभाग्यकुलं हि वाच्यं वातुलतां प्राप किलायमेवं।
आशैशवाद्यः प्रभुपादपद्म सेवारसाविष्टयोच्यतेऽज्ञैः॥१२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवके सौभाग्यका हमलोग और अधिक क्या वर्णन करें? वे बचपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवामें इस प्रकार आविष्ट रहते हैं कि मूढ़लोग उनके उस आवेशको वातुलता (पागलपन)का कार्य समझते हैं॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं बाल्यततस्यासाधारण-सेवारसावेशमहात्म्यमाहुः—किमिति। अयमुद्धवः वातुलतां वातरोगाभिभूततां प्राप। एवमेतद्यः उद्धवः। अज्ञैस्तु तत्त्वानभिज्ञैर्जनै-रुच्यते। केन हेतुना? शैशवमभिव्याप्य प्रभुपादपद्मयोः सेवारसे आविष्टतया परमासक्त्या तदावेशेनेति वा। बहिरनुसन्धानाभावेन भूताविष्टस्येवासम्बन्धप्रलापादिना वातुलसादृश्यादित्यर्थः॥१२३॥

भावानुवाद—अब श्रीउद्धवके बचपनसे ही उनके असाधारण सेवारसमें आवेशके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। श्रीउद्धवके माहात्म्यकी बात और क्या कहें? मूढ़लोग उनके इस सेवारसमें आवेशको वातुलता समझते हैं, उनका मानना है कि वे वायुरोगसे पीड़ित हैं। इसका कारण है कि वे बचपनसे ही भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी सेवामें परमाविष्ट रहते हैं, अथवा भगवान्की सेवामें परमावेशवशतः शरीर आदिकी सुध-बुध खो जानेके कारण भूत द्वारा आविष्ट व्यक्तिके समान अर्थहीन प्रलाप करते हैं, इसीलिए मूढ़ व्यक्ति उनको वाचाल कहते हैं॥१२३॥

अहो! सदा माधवपादपद्मयोः प्रवृत्तिलाम्पट्यमहत्त्वमद्भुतम्।
इहैव मानुष्यवपुष्यवापस्वरूप-मुत्सृज्य हरेः स्वरूपताम्॥१२४॥

श्लोकानुवाद—अहो! निरन्तर श्रीमाधवके चरणकमलोंके सेवारसमें जो अद्भुत रसिकता तथा महत्व है, वह केवल श्रीउद्धवसे ही जगतमें प्रकाशित हुआ है। और अधिक क्या कहूँ, वे इस मनुष्य देहमें ही श्रीकृष्णके सारूप्यको प्राप्त हुए हैं अर्थात् अपने स्वाभाविक गौरवर्णको परित्याग करके श्रीकृष्णके समान वर्णको प्राप्त हो गये हैं॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्तु तावत्तस्य तत्तद्गुणमहिमा, रूपमहिमापि परमाद्भुतः। सर्वलोकानान्दक इति द्वाभ्यां वदन्तस्तत्राद्येन सेवारसावेशस्य स्वाभाविकावान्तर फलमाहुः—अहो इति। प्रपत्तिः सेवा, तस्यां लाम्पट्यं रसिकत्वं, तस्य महत्त्वं महिमा। यत इह अमुष्मिन् लोक एव जन्मनि इति वा, तत्रापि मानुष्यवपुष्येव। यद्वा, वर्त्तमाने मानुष्यवपुष्वपि इत्यर्थः। स्वस्य रूपं मध्य देशीयानां क्षत्रियाणां सहजगौरत्वादिकं विहाय हरेः समानरूपतां श्यामसुन्दरतादिकमवाप प्राप्तः उद्धवः॥१२४॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवकी सभी व्यक्तियोंको आनन्द देनेवाली गुण-महिमाकी बात तो दूर रहे, उनके रूपकी भी अद्भुत महिमा है। इस प्रकार उनके सेवारसके स्वाभाविक और गौण फलका उल्लेख कर रहे हैं। अहो! श्रीउद्धवकी प्रपत्ति अर्थात् सेवा कैसी है? सदा भगवान् श्रीमाधवके चरणकमलोंकी सेवारसमें जो लोभ या रसिकता है, उसकी महिमा केवल श्रीउद्धवमें ही प्रकाशित हुई है। कारण, केवल श्रीउद्धवने ही इस लोकमें तथा इसी जन्ममें ही मानव देहके स्वाभाविक रूप अर्थात् मध्यदेशमें रहनेवाले क्षत्रियोंके सहज गौरवर्णको परित्याग करके श्रीहरिके समान रूपताको (श्यामसुन्दररूपताको) प्राप्त किया है॥१२४॥

प्रद्युम्नाद्रम्यरूपः प्रभुदयिततरोऽप्येष कृष्णोपभुक्तै-
र्वन्यस्त्रक्पीतपट्टांशुकमणिमकरोत्तसंहारादिभिस्तैः ।
नेपाथ्यैर्भूषितोऽस्मान् सुखयति सततं देवकीनन्दनस्य
भ्रान्त्या सन्दर्शनेन प्रियजनहृदयाकर्षणोत्कर्षभाजा॥१२५॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धव, श्रीप्रद्युम्नसे भी अधिक सुन्दर तथा श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय हैं। वे भगवान्‌की प्रसादी वनमाला, पीताम्बर, मणि, मकर-कुण्डल और हार आदि द्वारा विभूषित होकर हम सबको निरन्तर सुख प्रदान करते हैं। अर्थात् उनको हठात् दूरसे दर्शन करनेसे लगता है कि यही हमारे श्रीदेवकीनन्दन हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णकी भ्रान्ति उत्पन्नकर वे हमारे हृदयमें एक विशेष आकर्षण उत्पन्न करते हैं॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृण्वन्ति—प्रद्युम्नादिति। एषः उद्धवः प्रद्युम्नात् परमसुन्दरादपि रम्यं रूपं सौन्दर्यं यस्य सः। प्रद्युम्नादपि प्रभोः श्रीकृष्णस्य दयिततरः परमप्रियश्च। अतः कृष्णेन उपभुक्तैस्तैरसाधारणैर्वन्यस्रगादिभिर्नेपथ्यैरलंकारैः भूषितः सन् सततं भगवत् सन्दर्शन रहितावसरेऽपि अस्मान् सुखयति। वन्यस्रक् वनमाला; *'पत्रपुष्पमयी (पादपर्यन्तलम्बिता) माला वनमाला प्रकीर्त्तिता।'* इत्येवं रूपा। मणिः कौस्तुभः; मकरोत्तंसौ मकराकृतिकुण्डले; हारो मुक्तावली; आदिशब्देन अनुलेप-शिरोभूषणादि। कथं सुखयति? देवकीनन्दनस्य भ्रान्त्या देवकीनन्दनोऽयमिति तस्य सादृश्यभ्रमेण यत् सन्दर्शनं विज्ञानं रूपग्रहणं वा तेन। कथम्भूतेन? तस्य प्रियजनानां हृदयस्याकर्षणे य उत्कर्षस्तं भजते आश्रयतीति तथा तेन। अयमर्थः—भगवद् दर्शनसमये उद्धवे दूरतो दृष्टे श्रीदेवकीनन्दनबुद्धिर्भवति, सा च भ्रान्त्यैव। तथापि तस्य दर्शनेन अस्माकं सुखं स्यात्, यतस्तत् परममनोहरतरमिति। यद्वा, भ्रान्त्या इतस्ततो भगवत् सेवार्थं भ्रमणेन यत् सततं सन्दर्शनं तेन सुखयति। यतो देवकी-नन्दनस्य प्रियजनहृदयाकर्षणोत्कर्ष भाजेति प्राप्ततत्सारूप्यत्वात्। यद्वा, संदृश्यत इति सन्दर्शनं परमसुन्दररूपं ततश्चायमर्थः—भगवत्-साक्षादुद्धवत्वेन ज्ञातोऽपि तत् सदृशरूपेण तत्र चेतस्ततो भ्रमणेन सर्वत्रापि दृश्यमानेन सततमस्मान् सुखयति। तत्र हेतुः—प्रियजनेति॥१२५॥

भावानुवाद—श्रीहरिके समान प्रतीत होनेवाले श्रीउद्धवके रूपका विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे हैं। श्रीउद्धव परमसुन्दर प्रद्युम्नसे भी अधिक सौन्दर्यशाली तथा भगवान् श्रीकृष्णके परमप्रिय हैं। वे श्रीकृष्णकी धारण की हुई असाधारण वनमाला इत्यादि अलङ्कारोंसे भूषित होकर श्रीकृष्णकी अनुपस्थितिके समयमें भी हमें सुख प्रदान करते हैं। यह वनमाला अर्थात् पत्र-पुष्प द्वारा गूथित माला चरणों तक लम्बी होती है। मणि अर्थात् कौस्तुभमणि, मकरोत्तंस—मकराकृतिवाले कुण्डल, हार—मुक्ता द्वारा रचित हार आदि। 'आदि' शब्दसे अनुलेपन

और सिरके आभूषण आदि भी ग्रहणीय हैं। वे इन सभी आभूषणों द्वारा विभूषित होकर हमें निरन्तर सुख प्रदान करते हैं। कैसे? श्रीदेवकीनन्दनकी भ्रान्ति उत्पन्न कराकर अर्थात् दूरसे श्रीदेवकीनन्दनके समान वेशभूषा-दर्शन करनेसे हमें लगता है कि ये ही श्रीदेवकीनन्दन हैं। यद्यपि यह भ्रान्ति है, तथापि इस प्रकार भ्रान्तिपूर्वक उनका दर्शन करके अथवा उनको (उद्धवके रूपमें) पहचान कर भी हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके दर्शनसे होनेवाले आनन्दकी प्राप्ति होती है। वह भ्रम कैसा है? भगवान्‌की अनुपस्थितिके समय भी उनके समान परम मनोहर वेशभूषा धारण करनेवाले श्रीउद्धवको देखनेसे ही श्रीकृष्णकी भ्रान्ति द्वारा हमारे हृदयमें एक विशेष आकर्षण उत्पन्न होता है। भावार्थ यह है कि भगवान्‌के अदर्शनके समय दूरसे उनके जैसे वेशभूषायुक्त श्रीउद्धवको देखनेसे 'यही देवकीनन्दन हैं' ऐसा भ्रम होता है। यद्यपि यह भ्रम है, तथापि उनके दर्शनसे हमें सुख प्राप्त होता है, क्योंकि वे भगवान् श्रीकृष्णके समान ही रमणीय रूपशाली हैं। विशेषकर श्रीकृष्णका रूप उनके प्रिय व्यक्तियोंके हृदयको आकर्षित करता है, अतः श्रीउद्धव श्रीकृष्णके समान रूपवाले होनेके कारण भी हमें सुखी करते हैं। अथवा वे भगवान्‌की सेवाके लिए सदैव इधर-उधर भ्रमण करते हैं, इसलिए हम उनके दर्शनसे सुख प्राप्त करते हैं। कारण, उनका रूप श्रीदेवकीनन्दन जैसा है, अतएव प्रिय व्यक्तियोंके हृदयको आकर्षण करनेका सामर्थ्य उनमें है, इसलिए हम उनके दर्शनसे सुखी होते हैं। अथवा सन्दर्शन कहनेसे श्रीकृष्णके परम मनोहर रूपके समान होनेके कारण वे हमें अपने दर्शन द्वारा प्रसन्न करते हैं, अर्थात् यद्यपि हमलोग उनको साक्षात् श्रीउद्धव ही मानते हैं, तथापि उन्होंने भगवान्‌के समान रूपको प्राप्त किया है, इसलिए इधर-उधर भ्रमण द्वारा हमें दर्शन देकर सुख प्रदान करते हैं, क्योंकि हम उनके प्रियजन हैं॥१२५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

मातरित्यादिकं श्रुत्वा महासौभाग्यमुत्तमम्।
उद्धवस्य मुनिर्गेहं गन्तुं हर्षप्रकर्षतः॥१२६॥

उत्थाय तस्य दिग्भागवर्त्मादातुं समुद्यतः।
ज्ञात्वोक्तो यदुराजेन चित्रप्रेमविकारभाक्॥१२७॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! इस प्रकार श्रीउद्धवके महासौभाग्यकी बातको सुनकर श्रीनारद बड़े आनन्दित हुए तथा विविध प्रेमविकारोंसे विभूषित होकर श्रीउद्धवके भवनकी ओर जानेके लिए उठ खड़े हुए। ऐसा देखकर यदुराज श्रीउग्रसेन कहने लगे॥१२६–१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इति एतदुक्तमार्दियस्य तत्, उद्धवस्य महासौभाग्यं श्रुत्वा। आदिशब्दादनुक्तमप्यन्यद्बोद्धव्यम्; तच्चाग्रे नारदोक्तौ व्यक्तं भावि। हर्षप्रकर्षतः परमानन्दभरेण उद्धवस्य गेहमेव गन्तुं सभात उत्थाय। तस्य गेहस्य यो दिग्भागस्तस्य वर्त्म आदातुं ग्रहीतुं सम्यक् निश्चयेन उद्यतो मुनिर्ज्ञात्वा लक्षयित्वा यदुराजेन उग्रसेनेनोक्त इति द्वाभ्यामन्वयः। चित्राः परमाद्भुताः नानाविधा वा ये प्रेमविकाराः स्वेदकम्पपुलकाश्रुपातादयः तान् भजतीति तथाभूतः सन्॥१२६–१२७॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवके इस प्रकार वर्णित और अवर्णित सौभाग्यकी बातको सुनकर ('आदि' शब्दका अर्थ है अवर्णित अर्थात् जो बादमें श्रीनारदकी उक्ति द्वारा व्यक्त होगा) श्रीनारद परमान्दित होकर श्रीउद्धवके घर जानेके लिए सभामें उठ खड़े हुए तथा जिस दिशामें उनका घर था, उस दिशाकी ओर जानेके लिए अग्रसर हुए। ऐसा देखकर यदुराज श्रीउग्रसेन, परम अद्भुत स्वेद-कम्प-पुलक-अश्रु आदि प्रेम-विकारोंसे विभूषित अङ्गोंवाले श्रीनारदसे कहने लगे॥१२६–१२७॥

श्रीमदुग्रसेन उवाच—

भगवन्नुक्तमेवासौ क्षणमेकमपि क्वचित्।
नान्यत्र तिष्ठतीशस्य कृष्णस्यादेशतो विना॥१२८॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीउग्रसेनने कहा—हे भगवन्! हमने पहले भी कहा है कि श्रीकृष्णकी आज्ञाके बिना श्रीउद्धव एक क्षणकाल भी उनको छोड़कर किसी अन्य स्थान पर नहीं रहते हैं॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—उक्तमेवास्माभिः—'उद्धवो नित्यमभ्यवर्णें' इत्यादिना। तदेवाभिव्यञ्जयति—असावित्यादिना। आदेशतो विनेति यदि कदाचित् प्रभोराज्ञा

भवति, तदैवान्यत्र तिष्ठति। ईशस्येति ईश्वराज्ञालङ्घनाशक्तेरित्यर्थः। एतदपि पूर्वमेव विवृतमस्ति॥१२८॥

भावानुवाद—उक्त विषयको हमने पहले भी कहा है—'केवल श्रीउद्धव ही भगवान्‌के साथ सब समय रहते हैं।' तथा अब भी यही प्रकाशित हो रहा है कि श्रीउद्धव भगवान्‌की आज्ञाके बिना एकक्षण भी किसी अन्य स्थान पर नहीं जाते हैं और न ही कहीं रहते हैं। यदि कभी भगवान्‌की आज्ञासे किसी अन्य स्थान पर गमन और वास करते भी हैं, तो केवल श्रीकृष्णकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें असमर्थताके कारण ही करते हैं॥१२८॥

यथाहं प्रार्थ्य तत्सङ्गस्थितिं नाप्नोमि कर्हिचित्।
तन्महालाभतो हीनोऽसत्यया राज्यरक्षया॥१२९॥

श्लोकानुवाद—किन्तु मैं प्रार्थना करके भी श्रीकृष्णका संग प्राप्त नहीं कर पाता। इस तुच्छ राजकार्यके कारण मैं प्रभुके संगरूप महान लाभसे वञ्चित हो रहा हूँ॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुद्धवस्य भगवत्पार्श्वेऽवस्थित्युक्त्या तद्गृहागमनं निवार्य नारदोक्तमात्ममाहात्म्यं परिहरन्नुद्धवस्यैव माहात्म्यभरमाह—यथाहमित्यादिना यावत्समाप्तिः। तस्य कृष्णस्य सङ्गे स्थितिं प्रार्थ्य तमेव याचित्वा यथा तां कर्हिचित् कदाचिदपि न प्राप्नोमि। यथा च वञ्चितः कृष्णेनाहं भवामि, तथा न कश्चिदपीत्युत्तरेणान्वयः। अतएव सः तत्सङ्गावस्थानरूपो यो महालाभः तस्माद्धीनश्च यथा भवामि। केन हेतुना? राजस्य रक्षया। असत्ययेति, भगवत् प्रसादप्राप्तस्य राज्यस्य वैरिवर्गकृताभि-भवादिशङ्कयास्तत्त्वतोऽसम्भवात्। यद्वा, असत्यया कपटरूपयेत्यर्थः। भगवदधिष्ठितस्य राज्यस्य कथञ्चिदपि वैकल्याद्यसम्भवेन *'अहमन्यत्र यामि, त्वं तावद्राज्यं रक्ष।'* इत्यादिरूपायास्तदाज्ञायाः कापट्यापत्ते राज्यरक्षायामपि कापट्यप्रसक्तेः। तथा च हरिवंशे रुक्मिणीस्वयंवरप्रसङ्गे—*'तिष्ठ त्वं नृपशार्दुल! भ्रात्रा मे सहितो नृप। क्षत्रिया निकृतप्रज्ञाः शास्त्रनिश्चितदर्शनाः॥ पुरी शून्यामिमां वीर! जघन्य मास्म पीड़यन्।'* इत्यादि। भगवदाज्ञानन्तरमुग्रसेनवाक्यम्—*'त्वया विहीनाः सर्वे स्म न शक्ताः सुखमासितुम्। पुरेऽस्मिन् विषयान्ते च पतिहीना यथा स्त्रियः॥ त्वत्सनाथा वरं तात! तद्बाहुबलमाश्रिताः। विभीमो न नरेन्द्राणां सेन्द्राणामपि मानद॥ विजयाय यदुश्रेष्ठ! यत्र यत्र गमिष्यामि। यत्र त्वं सहितोऽस्माभिर्गच्छेथा यादवर्षभ॥'* इति॥१२९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीउद्धवके सदैव भगवान्‌के साथ रहनेकी बात कहकर तथा श्रीनारदको उनके घर जानेसे रोककर, श्रीउग्रसेन श्रीनारद द्वारा कहे गये अपने माहात्म्यका खण्डन करनेके लिए श्रीउद्धवके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। मैं प्रार्थना करके भी कभी श्रीकृष्णके संगको प्राप्त नहीं कर पाता हूँ। वास्तवमें मैं जिस प्रकार भगवान्‌के संगसे वञ्चित हूँ, उस प्रकारसे भगवान्‌ने किसीको भी वञ्चित नहीं किया है। उनके संगसे जो महान लाभ है, मैं उससे वञ्चित हूँ। क्यों? असत्य अर्थात् नश्वर राजकार्य संभालनेके कारण ही मैं उनके महान संगसे वञ्चित हूँ। यद्यपि यहाँ पर राजकार्यको 'असत्य' कहा गया है, परन्तु भगवान्‌की कृपासे प्राप्त राज्यमें शत्रुओंके द्वारा पराजयकी आशंका तत्त्वतः असम्भव है। अथवा असत्य कहनेका अर्थ है कपटरूप, किन्तु भगवान् द्वारा अधिष्ठित राज्यमें किसी भी प्रकारका दोष या त्रुटि रहनेकी सम्भावना नहीं है। फिर भी श्रीकृष्ण मुझे जो आदेश करते हैं—"मैं जब तक दूसरे स्थानसे आ नहीं जाता, तब तक आप इस राज्यकी रक्षा कीजिए।" ऐसी आज्ञा ही कपटता है अर्थात् इस प्रकार राज्यकी रक्षाके लिए दी गयी आज्ञामें ही प्रभुकी कपटता सूचित होती है। इस विषयका वर्णन हरिवंश नामक ग्रंथमें श्रीरुक्मिणी-हरणके प्रसंगमें किया गया है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीउग्रसेनसे कहा था—"हे नृपशार्द्दुल! (नृपकेशरी!) आप मेरे भाईके साथ इस पुरीमें रहिए। क्षत्रिय राजा शास्त्रमें विश्वास रखनेवाले होकर भी स्वभावसे ही दुष्ट प्रवृत्तिके होते हैं। अतएव हे वीर! इस पुरीकी रक्षाके लिए आप जघन्य लोगोंको दण्डित करते हुए इस शून्य पुरीमें वास कीजिए।" इत्यादि भगवान्‌की आज्ञा श्रवण कर श्रीउग्रसेनने कहा, "हे कृष्ण! पतिहीना स्त्रीकी भाँति हमलोग आपके बिना इस पुरीमें वास करनेमें अक्षम हैं, क्योंकि आप हमारे नाथ हैं। हे तात! आपको पाकर हम सनाथ हुए हैं तथा आपके बाहुबलके आश्रयमें पृथ्वीके राजाओंका तो कहना ही क्या, इन्द्रकी भृकुटिसे भी भय नहीं करते। हे यदुश्रेष्ठ! आप जहाँ पर जायेंगे, हम भी आपके साथ उसी स्थान पर ही जायेंगे"॥१२९॥

आज्ञापालनमात्रैकसेवादरकृतोत्सवः　　।
यथा च वञ्चितो नीत्वा मिथ्यागौरवयन्त्रणाम्॥१३०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैं केवल प्रभुकी आज्ञा पालन करनेके लिए ही इस राजकार्यको कर रहा हूँ और इसीको आदरपूर्वक उनकी सेवा समझकर यत्किञ्चित् सुख प्राप्त कर रहा हूँ, तथापि प्रभुके द्वारा मुझे प्रदानकी गयी गौरवरूप पीड़ासे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मुझे वञ्चित ही किया है॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथं तत्र त्वं प्रवर्त्तसे? तदाज्ञालङ्घने महादोषादिति चेत्तर्हि पुनः कथं शोचसि? परमानन्दविशेषायोगादित्याह—आज्ञेति। आज्ञापालनमात्रं या एका सेवा तस्यामादरः श्रद्धा तेन कृतः उत्सवः तत्सङ्गस्थित्यादि परमानन्दो यस्य सः। यथा चैवम्भूतो भवामि। किं कृत्वा वञ्चितः? मिथ्या व्यर्थेनैव गौरवेण भवानार्यो मातामहो यदुकुलराजः सिंहासने समुपविश्यास्मानाज्ञापयतु प्रत्युद्गमनादिकं च मम विदधात्वित्यादिरूपेण सम्माननेन यन्त्रणां परमसङ्कोचपीड़ां प्रापय। तथा च हरिवंशे राजराजेश्वरताभिषेकानन्तरं द्वारकाप्रवेशेऽर्घोद्यत-भुजं रथादवतीर्य भूमौ स्थितमुग्रसेनं दृष्टवा भगवानुवाच—*'यन्मया स्वभिषिक्तस्त्वं मथुरेशो भवानिति। न युक्तमन्यथा कर्त्तुं मथुराधिपते! स्वयम्॥ अर्घ्यमाचमनञ्चैव पाद्यञ्चाथ निवेदितम्। न दातुमर्हसे राजन्नेष मे मनसः प्रियः॥'* इत्यादि। एतादृशैस्तदीयवचन व्यवहारैर्वञ्चनान्मम परमदुःखमेव पर्यवस्यति। कुतो महासौभाग्यमिति भावः॥१३०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तो फिर आप राजकार्यमें प्रवृत्त क्यों हुए तथा यदि प्रभुकी आज्ञा उल्लंघन करनेसे दोष होता है, तो फिर अब शोक क्यों कर रहे हैं? इसके उत्तरमें परमानिन्दत होकर श्रीउग्रसेन कह रहे हैं कि केवल प्रभुकी आज्ञा पालन करनेके लिए मैं इस राजकार्यको कर रहा हूँ तथा इसको उनकी सेवा जानकर परम आदरपूर्वक उक्त सेवा-कार्य करके उनके आज्ञारूपी सङ्गमें अवस्थानकर परमानन्दको किञ्चित् मात्र अनुभव भी कर रहा हूँ। किन्तु उनके साक्षात् संगरूप महान फलसे वञ्चित हूँ। कैसे वञ्चित हुए? श्रीकृष्णने मिथ्या गौरवमयी पीड़ा प्रदान करके मुझे वञ्चित किया है। वह गौरवमयी पीड़ा कैसी है? वे मुझे, 'हे आर्य! हे मातामह! हे यदुकुल राज!' इत्यादि अत्यन्त गौरवसूचक सम्बोधन करते हैं और कभी कहते हैं, 'आप सिंहासन पर बैठकर मुझे आदेश प्रदान कीजिए।'

कभी-कभी राजसभामें मेरे आगमन करने पर वे खड़े होकर मेरा सम्मान भी करते हैं। इस प्रकार वे मुझे मिथ्या सम्मान और अत्यधिक लज्जारूपी पीड़ा प्रदान करते हैं। अतएव मैं अत्यन्त दुर्भागा हूँ। इस विषयमें हरिवंशमें कहा गया है—राजराजेश्वरके रूपमें अभिषेकके बाद द्वारकापुरीमें प्रवेशके समय जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने रथसे उतरे, तब उग्रसेन अर्घ्य लेकर उनकी पूजा करनेके लिए अग्रसर हुए। किन्तु उन्हें देखकर श्रीकृष्णने कहा—"हे मथुराधिपति उग्रसेन! मैंने आपको मथुराकी राजगद्दी पर मथुरेश्वरके रूपमें अभिषिक्त किया है, मैं स्वयं ही इसके विपरीत कार्य अर्थात् आपसे पूजा ग्रहण नहीं कर सकता हूँ। अतएव हे राजन्! मुझे अर्घ्य, पाद्य और आचमन आदि निवेदन करना उचित नहीं है, यही मेरा अभिप्राय है।" अतएव हे देवर्षि श्रीनारद! मेरे प्रति श्रीकृष्णके ऐसे वचन और व्यवहार मेरे लिए परमदुःखमें ही पर्यवसित हो रहे हैं। अतएव मेरा सौभाग्य कहाँ हैं? ॥१३०॥

कृष्णेन न तथा कश्चिदुद्धवस्य महासुखी।
तत्पार्श्वसेवासौभाग्याद्वंचितः स्यात् कदापि न ॥१३१॥

श्लोकानुवाद—वास्तवमें श्रीकृष्णने किसीको भी मेरे समान वञ्चित नहीं किया है। श्रीउद्धव तो बहुत सुखी हैं, क्योंकि भगवान् उनको सदैव अपने साथ रखकर सेवासुख प्रदान करते हैं तथा उस सेवाके सौभाग्यसे कभी भी उनको वञ्चित नहीं करते हैं॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथा उक्तप्रकारेण कश्चिदन्यो न वञ्च्यत इत्यर्थः। एवं श्रीसात्यक्यादिवदपि मम सौभाग्यं नास्ति। कुतश्चोद्धव सदृश महासौभाग्यं स्यात्। अतः स एवैको महाभाग्यविशेषवानित्याह—उद्धवश्चेति। यतस्तस्य कृष्णस्य पार्श्वे सेवैव सौभाग्यं तस्मात् कदापि वञ्चितो न स्यात्। सदैव निकटवर्त्तितया तं सेवत इत्यर्थः॥१३१॥

भावानुवाद—उक्त प्रकारसे श्रीकृष्णने किसीकी भी मेरी जैसी वञ्चना नहीं की है। अधिक क्या कहूँ, सात्यकि आदि जैसा भी सौभाग्य मेरा नहीं है, फिर श्रीउद्धवका तो कहना ही क्या? वे तो बहुत सुखी हैं, अतएव उनके जैसा महासौभाग्यशाली भला और कौन

हो सकता है? अतएव केवल श्रीउद्धव ही महासौभाग्यशाली हैं। विशेषकर श्रीकृष्ण कभी भी उनको अपनी सेवासुखसे वञ्चित नहीं करते हैं तथा वे सदैव भगवान्‌के साथ रहकर उनकी सेवा करते हैं॥१३१॥

तत्तत्र गत्वा भवताशु मादृशां सन्देशमेतं स निवेदनीयः।
अद्यात्यगादागमनस्य बेला स्वनाथमादाय सभां सनाथय॥१३२॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपाभर निर्द्धारखण्डे
प्रियो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—इसलिए आप भगवान्‌के अन्तःपुरमें जाकर श्रीउद्धवका दर्शन कीजिए तथा साथ ही उन्हें हमारी ओर से यह निवेदन भी कीजिए कि आज सभामें भगवान्‌के आनेका समय बीता जा रहा है, अतः वे शीघ्रतापूर्वक अपने प्रभुको साथ लेकर सभाको सनाथ करें॥१३२॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके पञ्चम अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—अद्य तु तत्कृपयैव वयं सुखिनः स्यामेत्याशयेनाह—तदिति। यस्मादेवम्भूत उद्धवस्तस्मात्। तत्र भगवदन्तःपुरे; स उद्धवः; आगमनस्य बेला भवतो भगवतो वा सभायामागमन कालः अद्य अत्यगादतिक्रान्ता। अतः स्वनाथं श्रीयादवेन्द्रम् आदाय सङ्गे गृहीत्वा। आश्वित्यस्यात्राप्यनुषङ्गः। सभां सुधर्मामेताम्। सनाथयेति तद्दर्शनं विना वयं सर्वे अनाथ एवेत्यर्थः। एवं त्वमप्यस्मत्तोऽधिक सौभाग्यवान् स्वच्छन्देन निकटगमनादिति भावः॥१३२॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे पञ्चमोऽध्यायः।

भावानुवाद—अतएव श्रीउद्धवकी कृपासे ही हमलोग आज सुखी होंगे। इस भावसे 'तत्तत्र' इत्यादि पद कह रहे हैं। जिन श्रीउद्धवका ऐसा सौभाग्य है, उन्हीं श्रीउद्धवको आप शीघ्रतापूर्वक भगवान्‌के अन्तःपुरमें जाकर हमारा संवाद दीजिए—"आज सभामें भगवान्‌के आनेका समय बीता जा रहा है, अतएव वे शीघ्रतापूर्वक अपने प्रभु यादवेन्द्र श्रीकृष्णको साथ लेकर सुधर्मा

सभाको सनाथ बनाएँ। उनके दर्शनके बिना हम अनाथोंकी भाँति उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" इसलिए हम लोगोंकी तुलनामें आप भी अधिक सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि आप स्वतन्त्र रूपमें प्रभुके निकट जानेमें समर्थ हैं॥१३२॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके पञ्चम अध्यायकी दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः (प्रियतमः)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तच्छ्रुत्वार्ये महाप्रेमरसावेशेन यन्त्रितः।
महाविष्णुप्रियो वीणाहस्तोऽसौ विस्मृताखिलः॥१॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! श्रीउद्धवके माहात्म्यको श्रवणकर भगवान्‌के परमप्रिय श्रीनारद प्रेमरसमें निमग्न हो गये। अतएव समस्त विषयोंको भूल जानेके कारण हाथमें वीणा होने पर भी उसको बजानेका सामर्थ्य उनमें नहीं रहा॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

षष्ठे मुन्युक्तितोऽन्योन्यं कृतायामुद्धवादिभिः।
चित्रायां व्रजवार्त्तायां मोहः प्रेम्णोच्यते प्रभोः॥

हे आर्ये मातः। तत् उद्धवमाहात्म्यं श्रुत्वा असौ मुनिः श्रीनारदः प्रासादस्य श्रीभगवदालयस्य अभ्यासं समीपं गत इति त्रिभिरन्वयः। वीणा हस्ते यस्य स इति हस्त एव केवलं सा वर्त्तते न तु वाद्यत इत्यर्थः। यतः विस्मृतमखिलं देहदैहिकादिकं येन सः॥१॥

टीकाका भावानुवाद

इस छठे अध्यायमें मुनिवर श्रीनारदके वचनोंसे प्रेरित होकर श्रीउद्धवादि यादवोंके द्वारा की गयी व्रज-सम्बन्धी वार्त्तालापको सुनकर उदित हुई श्रीकृष्णकी विचित्र प्रेम-मुग्धता तथा उस प्रेमका विषय वर्णित हुआ है।

हे माता! श्रीउद्धवका माहात्म्य सुनकर श्रीनारद मुनि पूर्व अभ्यासवशतः भगवान्‌के महलके निकट गये, इस विषयका प्रथम तीन श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। मुनिवर वीणाको अपने हाथमें ही धारण किये रहे, उनमें बजानेका सामर्थ्य नहीं था, क्योंकि वे

महाप्रेमरसमें निमग्न होनेके कारण देह–दैहिक आदि समस्त विषयोंको भूल गये थे॥१॥

सदा द्वारवतीवासाभ्यस्तान्तःपुरवर्त्मना।
प्रभुप्रासाददेशान्तःप्रवेशाश्चर्यवाहिना ॥२॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारद सदैव द्वारकामें निवास करते थे। अतः अन्तःपुरका मार्ग गुप्त, अद्भुत, चित्र–विचित्र होने पर भी पूर्व–अभ्यासवशतः वे भगवान्‌के महलमें उपस्थित हुए॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथं तर्हि प्रासादाभ्यासं गतः? पूर्वाभ्यासबलादित्याह—सदेति। सर्वदा यो द्वारवत्यां वासस्तेनाभ्यस्तं यदन्तःपुरस्य वर्त्म तेन। कथम्भूतेन? प्रभोः श्रीकृष्णस्य यः प्रासादस्य देशः प्रदेशः तस्यान्तःप्रवेशे आश्चर्यं परमकौतुकं विविधगतिभङ्गीभिः परमदुर्लक्ष्यत्वादिवैचित्रीभिर्वोढुं प्रापयितुं शीलमस्येति तथा तेन॥२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि प्रेमरसमें निमग्न होकर सब कुछ भूल जाने पर भी श्रीनारद भगवान्‌के महल तक कैसे पहुँचे? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि पूर्व अभ्यासके बल पर पहुँचे। अर्थात् वे सदैव द्वारकापुरीमें वास करते थे, इसलिए पथसे परिचित होनेके कारण भगवान्‌के राजमहलमें प्रविष्ट हुए। वह पथ कैसा था? श्रीकृष्णके महलमें अर्थात् अन्तःपुरमें प्रवेश करनेका जो पथ था, वह परम आश्चर्यजनक, अद्भुत, विचित्र भङ्गीमा युक्त और अत्यधिक कठिनतासे लक्ष्य किया जानेवाला था, तथापि देवर्षि श्रीनारदको किसी प्रकारका भ्रम नहीं हुआ॥२॥

पूर्वाभ्यासादिवाभ्यासं प्रासादस्य गतो मुनिः।
भूताविष्टो महोन्मादगृहीतश्च यथेतरः॥३॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रीनारदने पूर्व–अभ्यासवशतः महलमें प्रवेश तो किया, परन्तु उस समय उनको देखकर ऐसा लग रहा था जैसे किसी भूत द्वारा आविष्ट अथवा उन्मादग्रस्त मनुष्यकी दशा होती है॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः पूर्वकृतादभ्यासात् पुनः पुर्नगमनावृत्तेरेव। इवेति परमप्रेमवैवश्योदयेऽपि तत्त्वतो भगवन्मार्ग विस्मरणायोगात्। लौकिकरीत्या वा

नाधिकार्थम्। यथा इतरः प्राकृतो जनो भूताविष्टः सन्। वार्थे चकारः। यथा वा महोन्मादेन गृहीतः वशीकृतः सन् याति तथा गतः। यद्वा, स यथा भवति तथायं बभूवेति॥३॥

भावानुवाद—अतएव पूर्व अभ्यासवशतः अर्थात् पहले वे पुनः–पुनः भगवान्के महलमें आते–जाते रहते थे, इसलिए अभ्यासवशतः उन्होंने परम प्रेम–विवशताकी दशामें भी भगवान्के महलके आन्तरिक भागमें प्रवेश किया। तत्त्वतः विचार करने पर भी ऐसा देखा जाता है कि भक्तोंको परम प्रेमविवशताकी दशामें भी भगवान्की प्राप्तिका मार्ग विस्मरण नहीं होता है। परन्तु उस समय लौकिक दृष्टिसे श्रीनारद देखनेमें ऐसे लगते थे, जैसे किसी भूत द्वारा आविष्ट अथवा उन्मादग्रस्त मनुष्यकी दशा होती है॥३॥

भूमौ क्वापि स्खलति पतति क्वापि तिष्ठत्यचेष्टः
क्वाप्युत्कम्पं भजति लुठति क्वापि रोदित्यथार्त्तः।
क्वाप्याक्रोशन्प्लुतिभिरयते गायते क्वापि नृत्यन्
सर्वं क्वापि श्रयति युगपत् प्रेमसम्पद्विकारम्॥४॥

श्लोकानुवाद—वे कभी तो लड़खड़ा जाते, कभी भूमि पर गिर पड़ते, कभी चेष्टा रहित होकर खड़े रहते, कभी भूमि पर लोटपोट खाते, कभी आर्त्त स्वरसे रोने लगते, कभी चीत्कार करते, कभी छलांग लगाकर दौड़ते, कभी–कभी गान और नृत्य करने लगते और कभी–कभी कम्प, स्वेद, पुलक, रोदनादि समस्त प्रेम–विकार एक साथ ही उनके शरीरमें उदित होते थे॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—भूमाविति। प्लुतिभिः कूर्दनैः अयते चलति। क्वापि कुत्रापि कदाचिद्वा युगपत् समकालमेव प्रेमसम्पदो विकारं कम्पस्वेदपुलकरोदनादिकं भजते॥४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४॥

हे मन्मातरिदानीं त्वं सावधानतरा भव।
स्थिरतां प्रापयन्ती मां सधैर्यं शृण्विदं स्वयम्॥५॥

श्लोकानुवाद—हे माता! अब आप पहलेसे भी अधिक सावधान हो जाएँ। यदि आप मुझे अस्थिर देखें तो मुझे भी स्थिर कराएँ तथा स्वयं धैर्यपूर्वक मेरे द्वारा कहे जानेवाले इस विषयको श्रवण करें॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—मम मातरिति सम्बोधनम् वक्ष्यमाण परमाद्भुतभगवच्चरितस्य मनसि प्रवेशेन प्रेमविशेषोदयात्। इदानीमिति अग्रे परममोहनभगवच्चेष्टितविशेषस्य प्रस्तोतव्यत्वात्। किमर्थं? तदाह—ममापि स्थिरतां प्रेमवैवश्याद् धैर्यं स्वस्थतां वा प्रापयन्ती सती स्वयमपि त्वं धैर्येण सहितं यथा स्यात्तथा इदं वक्ष्यमाणं शृणु॥५॥

भावानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—'हे मेरी माता!' ऐसे सम्बोधनका कारण यह है कि अब भगवान्‌के परम अद्भुत चरित्रका वर्णन होगा। श्रीभगवान्‌की ऐसी कथाके मनमें आते ही विशेष प्रेमके उदय होनेके कारण श्रीपरीक्षित कहने लगे—'अब भगवान्‌की परम मनोहर चेष्टाओंका वर्णन होगा, अतः अब आप सावधान हो जाएँ।' किसलिए? इस प्रसंगको वर्णन करते समय प्रेमकी विवशताके कारण मुझे अस्थिर देखने पर आप मुझे धैर्य बँधाना तथा स्वयं भी उसे धैर्यपूर्वक श्रवण करना॥५॥

तस्मिन्नहनि केनापि वैमनस्येन वेश्मनः।
अन्तःप्रकोष्ठे सुप्तस्य प्रभोः पार्श्वं विहाय सः॥६॥
अदूराद्देहलीप्रान्ते निविष्टः श्रीमदुद्धवः।
बलदेवो देवकी च रोहिणी रुक्मिणी तथा॥७॥
सत्यभामादयोऽन्याश्च देव्यः पद्मावती च सा।
प्रवृत्तिहारिणी कंस–माता दास्यस्तथा पराः॥८॥

श्लोकानुवाद—उस दिन भगवान किसी कारणवश उदास होकर अपने भवनके भीतरी भागमें शयन कर रहे थे तथा श्रीउद्धव उन्हें अकेले छोड़कर थोड़ी दूरी पर ही देहलीजके पास बैठे थे। उनके साथ श्रीबलदेव, श्रीदेवकी, श्रीरोहिणी, श्रीरुक्मिणी, श्रीसत्यभामा आदि महिषीगण तथा भगवान्‌की सेवासे विमुख करनेवाली कंसकी माता पद्मावती और अन्य दासियाँ भी वहाँ उपस्थित थीं॥६–८॥

दिग्दर्शिनी टीका—केनापीत्यनिर्धारोऽग्रे तद्विस्तारणोचित्यादधुना मोहशङ्कातो वा। वैमनस्येन अन्यमनस्त्वेन मनोदुःखेन वा हेतुना वेश्मनः निजप्रासादस्य

अन्तःप्रकोष्ठे मध्यस्थानविशेषे सुप्तस्य प्रभोः पार्श्वमन्तिकं त्यक्त्वा देहलीप्रान्ते स उक्तमाहात्म्यो नारदोद्देश्यो वा उद्धवो निविष्टोऽस्ति, बलदेवादयश्च निविष्टाः सन्तीति त्रयाणामन्वयः। सा प्रसिद्धा उग्रसेनरूपधारिणा द्रुमिलदैत्येन छलितत्वात्। प्रवृत्तिर्भगवद्वार्त्ता तस्या हारिणी बहिःप्रकाशकारिणी। अतएव तस्यास्तत्र सदावस्थितिरित्यर्थः ॥६–८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके मनोदुःखका कारण आगे निश्चित किया जाएगा, अभी उसको विस्तारपूर्वक कहना अनुचित जानकर अथवा उस कारणके वर्णनमें अपने मोह आदिकी आशंका करके श्रीपरीक्षित महाराज 'केनापि' पदका प्रयोग कर रहे हैं। अतएव मानसिक दुःखवशतः महलके आन्तरिक प्रकोष्ठमें शयनकर रहे प्रभुको अकेले छोड़कर श्रीउद्धव थोड़ी दूर देहली पर अर्थात् द्वारके पास मौन होकर बैठे थे। श्रीबलदेव आदि भी वहाँ पर चिन्तामग्न होकर बैठे थे। 'सा' अर्थात् प्रसिद्धा पद्मावती भी थी। प्रसिद्धा कहनेका अभिप्राय है कि वही कंसकी माता पद्मापती, जिसका उग्रसेनका रूपधारणकर द्रुमिलदैत्यने छलपूर्वक सतीत्व भंग किया गया था। विशेषतः वह भगवत्प्रवृत्ति हरण करनेवाली थी, अर्थात् भगवान्‌की वार्त्तालाप (कथा)में तर्क–वितर्क द्वारा उसके बाह्य (अर्थात् विपरीत) भावको प्रकाश करनेवाली है, अतः उसकी (ऐसे लोगोंकी) भगवान्‌की कथामें सदैव अवस्थिति समझनी चाहिए॥६–८॥

तूष्णींभूताश्च ते सर्वे वर्त्तमानाः सविस्मयम्।
तत्र श्रीनारदं प्राप्तमैक्षन्तापूर्वचेष्टितम्॥९॥

श्लोकानुवाद—वे सभी वहाँ विस्मित होकर मौनावस्थामें बैठे थे। उसी समय उन्होंने श्रीनारदको अपूर्व प्रेम–चेष्टाएँ प्रकाश करते हुए उस स्थान पर उपस्थित होते देखा॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—विस्मयोऽसमये भगवच्छयनात् तेन सहितं यथा स्यात्तथा वर्त्तमानास्ते उद्धवादयः तत्र भगवत्प्रासादसमीपे प्राप्तं श्रीः प्रेमविशेषसम्पत्तिस्तत्कृतशोभा वा तद्युक्तं नारदमपश्यन्। कथम्भूतम्? अपूर्वमद्भुतं पूर्वविलक्षणं वा चेष्टितं यस्य तम्॥९॥

भावानुवाद—विस्मयका कारण था कि भगवान् असमयमें भी शयन कर रहे थे। इसलिए उद्धवादि सभी भगवान्‌के भवनके निकट मौनावस्थामें बैठे हुए थे। उस समय उन्होंने श्रीनारदको वहाँ पर उपस्थित होते देखा। वे कैसे थे? 'श्री' अर्थात् प्रेमसम्पत्तिसे सुशोभित होकर अपूर्व और अद्भुत चेष्टाएँ कर रहे थे॥९॥

उत्थाय यत्नादानीय स्वास्थ्यं नीत्वा क्षणेन तम्।
प्रेमाश्रुक्लिन्नवदनं प्रक्षाल्याहुः शनैर्लघु॥१०॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदको ऐसी अवस्थामें वहाँ उपस्थित देखकर उन सबने उठकर बड़े आदरपूर्वक उनको अपने निकट लाकर थोड़ी देरमें ही उन्हें स्वस्थ किया और फिर उनके अश्रुपूर्ण मुखमण्डलको धोकर धीर-धीरे कहने लगे—॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—आनीयेति दूरतः स्थितं बलान्निजसमीपं प्रापयेत्यर्थः। तं श्रीनारदं प्रेमाश्रुभिः क्लिन्नमार्द्रं नारदस्य वदनं प्रक्षाल्य शनैरल्पशः तत्रापि लघु अनुच्चैर्भगवतो निद्राभङ्गं मनोदुःखं वा किमप्याशंक्य तद्भयात्। आहुस्त एव॥१०॥

भावानुवाद—वे दूर खड़े हुए श्रीनारदको बलपूर्वक अपने निकट ले आये। स्वस्थ करनेके लिए उनके अश्रुपूर्ण मुखमण्डलको धो दिया तथा फिर श्रीभगवान्‌के निद्राभंगकी अथवा उनके किसी मानसिक दुःखकी आशंकाके भयसे धीरे-धीरे कहने लगे॥१०॥

अदृष्टपूर्वमस्माभिः कीदृशं तेऽद्य चेष्टितम्।
आकस्मिकमिदं ब्रह्मंस्तूष्णीमुपविश क्षणम्॥११॥

श्लोकानुवाद—हे ब्रह्मन्! आज हम आपकी कैसी अपूर्व चेष्टा देख रहे हैं? परमप्रेमकी विवशताके कारण स्खलन आदि आपकी इन सब चेष्टाओंको तो हमने पहले कभी भी नहीं देखा है। जैसा भी हो, आप थोड़ी देर शान्त होकर बैठिये॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदं महाप्रेमविवशतया स्खलनादिरूपम्। तूष्णीमित्यत्रापि पूर्ववदेवाभिप्रायः॥११॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

सगद्गदमुवाचाश्रुधारामीलित लोचने।
यत्नादुन्मीलयन्नत्वा सकम्पपुलकाचितः॥१२॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीनारदने अश्रुधारा द्वारा बन्द अपने दोनों नयनोंको यत्नपूर्वक खोलकर उन सबको प्रणाम किया और पुलकसे भरे हुए कम्पित-कलेवर द्वारा गद्गद स्वरसे कहने लगे॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अश्रुणां धाराभिर्मीलीते मुद्रिते लोचने उन्मीलयन्। नत्वा नमस्कृत्य तानेव॥१२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२॥

श्रीनारद उवाच—

मनोज्ञ-सौभाग्यभरैकभाजनं
मया समं सङ्गमयध्वमुद्धवम्।
तदीयपादैकरजोऽथवा भवे-
त्तदैव शान्तिर्वत मेऽन्तरात्मनः॥१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—आपलोग उन मनोहर सौभाग्यके पात्र श्रीउद्धवसे मेरा मिलन करा दीजिये। अथवा आपलोग मुझ पर कृपा कीजिये जिससे मैं उनकी पदधूलि प्राप्त कर पाऊँ। उनकी पदधूलिको पाकर ही मेरी अन्तरात्माको शान्ति प्राप्त हो सकती है॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र च समीप एव साक्षाद्वर्त्तमानं सम्भाषणमप्युद्धवं प्रेमवैवश्येनालक्षयन् सन् उद्धवं मया समं सङ्गमयधवमित्याहेति ज्ञेयम्। ततश्च तस्य सङ्गमे स्वस्यायोग्यतां मत्वाह—तदीयेति। अन्तरात्मनः मनसः; तदप्राप्त्यैव ममाद्येदृशं चेष्टितमित्येवं प्रत्युत्तरमुन्नेयम्॥१३॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव परम सौभाग्यशाली हैं। यद्यपि वहाँ पर श्रीउद्धव साक्षात्‌रूपमें विराजमान थे, तथापि प्रेममें विवश होनेके कारण श्रीनारद उनसे वार्त्तालाप न कर पाए, अतः उन सबसे कहने लगे 'आपलोग श्रीउद्धवके साथ मेरा मिलन करा दीजिये।' तदुपरान्त

अपनेको उनके संगके अयोग्य समझकर कहने लगे—आपलोग यदि मुझ पर कृपा करें, तभी मैं उनकी पदधूलिको प्राप्त कर सकता हूँ। अथवा उनके चरणकमलोंकी रजका एक कणमात्र ही मुझे दिला दीजिये, तभी मेरे मनको शान्ति प्राप्त हो सकती है। उनकी चरणधूलिको प्राप्त न करनेसे ही मेरी ऐसी दशा हो रही है॥१३॥

पुरातनैराधुनिकैश्च सेवकै-
रलब्धमाप्तोऽलमनुग्रहं प्रभोः।
महत्तमो भागवतेषु यस्ततो
महाविभूतिः स्वयमुच्यते च यः॥१४॥

श्लोकानुवाद—प्राचीन अथवा नवीन भक्तोंको भी श्रीकृष्णकी जिस कृपाकी प्राप्ति नहीं हुई है, श्रीउद्धवने प्रचुर परिमाणमें उस कृपाको प्राप्त किया है। इसलिए स्वयं श्रीभगवान्‌ने इनको अपनी महाविभूति बताया है, अतः ये भगवद्भक्तोंमें सर्वोत्तम हैं॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्धेतुत्वेन तन्माहात्म्यमेवाह—पुरेति षड्भिः। य उद्धवः प्रभोः श्रीकृष्णस्य अनुग्रहमलमत्यर्थं प्राप्तः। ततस्तस्मादेव हेतोर्भागवतेषु भगवद्भक्तेषु मध्ये महत्तमः परमश्रेष्ठ; अतएव यश्च उद्धवः स्वयं भगवता महाविभूतिरित्युच्यते, स्वसदृशेषु श्रेष्ठस्येव सर्वस्य भगवद्विभूतित्वेनोक्तेः। तथा च एकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा० ११/१६/२९) विभूत्यध्याये—*'त्वन्तु भागवतेष्वहम्'* इति॥१४॥

भावानुवाद—'पुरातनै' इत्यादि छह श्लोकोंके द्वारा श्रीउद्धवके माहात्म्यका कारण बता रहे हैं। श्रीउद्धवने भगवान्‌की प्रचुर परिमाणमें कृपा प्राप्त की है, क्योंकि वे भगवान्‌के भक्तों अथवा भागवतोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अतएव श्रीभगवान्‌ने स्वयं इनको अपनी महाविभूति कहकर निर्देश किया है अर्थात् भगवद्भक्त होने पर भी अपने समान सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण इनको भगवद्विभूतिके रूपमें वर्णित किया है। श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्धमें विभूतियोग अध्यायमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—"भगवद्भक्तोंमें मैं उद्धव हूँ"॥१४॥

पूर्वे परे च तनयाः कमलासनाद्याः
सङ्कर्षणादिसहजाः सुहृदः शिवाद्याः।

भार्या रमादय उतानुपमा स्वमूर्ति–
र्नस्युः प्रभोः प्रियतमा यदपेक्षयाहो॥१५॥

श्लोकानुवाद—अहो! श्रीकृष्णको अपने पूर्ववर्ती पुत्र ब्रह्मा और परवर्ती पुत्र श्रीप्रद्युम्न आदि, संकर्षण आदि भ्राता, श्रीशिव आदि सुहृद, श्रीलक्ष्मी आदि पत्नियाँ और अपना अनुपम मङ्गल–श्रीविग्रह भी इतने प्रिय नहीं हैं, जितने उन्हें श्रीउद्धव प्रिय हैं॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो किं वक्तव्यमस्य सेवकगणेभ्यो महामहिमातिशय इति। पुत्रादिभ्योऽपीत्याह—पूर्व इति। सङ्कर्षणो बलरामस्तदादयः सहजा भ्रातरः, सुहृदः सखायः, उत अपि असाधारणा भगवतः श्रीमूर्त्तिरपि, अहो विस्मये, यस्य उद्धवस्यापेक्षया प्रभोः प्रियतमा न भवेयुः; स एव तेभ्यः सर्वेभ्यः सकाशात् प्रियतम इत्यर्थः। तथा चैकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१५)—'*न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥*' इति। पूर्वं भक्त इति वक्तव्ये भवानिति श्रीधरस्वामिव्याख्यानुसारेण श्रीप्रह्लादमाहात्म्येऽयं श्लोक उदाहृतः। इदानीञ्च भवानिति साक्षादुद्धवं प्रत्येवोक्तत्वादेवेति ज्ञेयम्॥१५॥

भावानुवाद—अहो! (विस्मयपूर्वक) और अधिक क्या कहूँ? प्राचीन और आधुनिक समस्त भक्तोंकी तुलनामें श्रीउद्धवकी बहुत अधिक महिमा है। पूर्ववर्ती पुत्र श्रीब्रह्मा, श्रीबलराम आदि भ्राता, श्रीशिव आदि सुहृद, श्रीलक्ष्मी आदि पत्नियाँ और यहाँ तक कि अपना असाधारण श्रीविग्रह भी भगवान्‌को श्रीउद्धवसे अधिक प्रिय नहीं है। यह उन्होंने स्वयं ही कहा है—"हे उद्धव! तुम भक्त होनेके कारण मुझे जैसे प्रिय हो, पुत्र ब्रह्मा, स्वरूपभूत शंकर, भ्राता संकर्षण, पत्नी लक्ष्मीदेवी, यहाँ तक कि मुझे अपना स्वरूप भी वैसा प्रिय नहीं है।" श्रीश्रीधर गोस्वामीकी व्याख्यानुसार, यद्यपि समस्त प्राचीन भक्तोंके सम्बन्धमें भगवान्‌का ऐसा वक्तव्य है, किन्तु अत्यधिक हर्षके कारण कह रहे हैं 'भवान्' अर्थात् जैसे तुम हो। यद्यपि यह श्लोक श्रीप्रह्लादके माहात्म्यको स्थापित करनेके लिए पहले उद्धृत किया गया है, तथापि अब 'भवान्' पदसे साक्षात् श्रीउद्धवके सम्बन्धमें ही उद्धृत किया जा रहा है, ऐसा जानना होगा॥१५॥

भगवद्वचनान्येव प्रथितानि पुराणतः।
तस्य सौभाग्यसन्दोहमहिम्नां व्यञ्जकान्यलम्॥१६॥

तस्मिन् प्रसादजातानि श्रीकृष्णस्याद्भुतान्यपि।
जगद्विलक्षनान्यद्य गीतानि यदुपुङ्गवैः ॥१७॥
प्रविश्य कर्णद्वारेण ममाक्रम्य हृदालयम्।
मदीयं सकलं धैर्यधनं लुण्ठन्ति हा हठात्॥१८॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवके सौभाग्यकी महिमाको प्रकाश करनेवाले श्रीभगवान्‌के मुखनिःसृत वचन पुराणोंमें यत्र-तत्र सर्वत्र भरे पड़े हैं तथा वह वचन श्रीउद्धवके प्रति भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत कृपाका ही प्रदर्शन करते है। उस जगत-विलक्षण कृपाके सम्बन्धमें यादवोंमें श्रेष्ठजनोंने आज भी मुझे बतलाया है। हाय! उस कृपाकी बातें मेरे कर्ण-कुहरों (कानों) द्वारा हृदयमन्दिरमें प्रवेश करके अकस्मात् मेरे धैर्यरूपी धनको बलपूर्वक लूट रही हैं॥१६-१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र च भगवद्वचनानि तदनुरूपफलानि एव च प्रमाणमिति वदन् तन्माहात्म्यमेव दर्शयन् 'कीदृशं तेऽद्य चेष्टितम्' इत्यस्योत्तरमिवाह—कस्मात् कथमीदृशं ते चेष्टितमिति यत् पृष्टं, तत्र स्पष्टमुत्तरं वदन्निव तन्माहात्म्यभरमेव निष्पादयति—भगवदिति त्रिभिः। *'त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा'* इति, *'नोद्धवोऽण्वपि मत् न्यूनः'* (श्रीमद्भा॰ ३/४/३१) इत्यादीनि भगवतो वचनानि। तस्मिन् उद्धवे श्रीकृष्णस्य प्रसादजातान्यपि यदुपुङ्गवैरुग्रसेनादिभिरद्य सभामध्ये गीतानि परमहर्षेण सुस्वरं कीर्त्तितानि सन्ति। मम कर्णद्वारेण हृदेव आलयं प्रविश्य आक्रम्य बलाद्व्याप्य धैर्यमेव धनं हा कष्टं हठात् बलाल्लुन्ठन्ति अपहरन्तीति त्रयाणामन्वयः। कथम्भूतानि वचनानि? पुराणतः श्रीभागवतादिभ्यः प्रथितानि प्रसिद्धानि। पुनः कीदृशानि? तस्य उद्धवस्य सौभाग्य-सन्दोहेन तद्रूपा वा ये महिमानस्तेषामलमतिशयेन प्रकाशकानि। कीदृशानि प्रसादजातानि? अद्भुतानि चित्तचमत्कारीणि; यतः जगतो विलक्षणानि असाधारणानि इत्यर्थः। यथा धूर्त्तचौरा लोकान् मोहयित्वा गृहं प्रविश्यावृत्य सर्वस्वं हरन्तीति दृष्टान्तोऽयं वितर्कः॥१६-१८॥

भावानुवाद—इस विषयमें भगवान्‌के वचन तथा उसके अनुरूप फल ही प्रमाण हैं, ऐसा कहकर श्रीनारद, श्रीउद्धवका माहात्म्य प्रदर्शन करनेके छलसे उनके प्रश्न 'आज हमलोग आपकी कैसी अद्भुत चेष्टाएँ देख रहे हैं'के उत्तरमें श्रीउद्धवके माहात्म्यको स्थापित करते हुए 'भगवत्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी उद्धवके प्रति उक्ति है—"तुम मेरे सेवक, सुहृद और सखा हो" तथा "उद्धव मुझसे किञ्चित् मात्र भी कम नहीं हैं।" इत्यादि सभी उक्तियाँ

प्रसिद्ध हैं। आज यदुश्रेष्ठ श्रीउग्रसेन आदि सभासदोंने भी श्रीउद्धवके प्रति भगवान् श्रीकृष्णकी कृपारूप सौभाग्यका माहात्म्य परम हर्षपूर्वक राजसभामें ही वर्णन किया है। उस माहात्म्यने मेरे कर्ण-कुहरोंके माध्यमसे हृदय-मन्दिरमें प्रवेश करके अकस्मात् मेरे धैर्यरूप धनको लूट लिया है। वे सब वचन कैसे हैं? वे वचन श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। अर्थात् श्रीउद्धवके सौभाग्य या उस सौभाग्यके अनुरूप माहात्म्यको स्थापित करनेवाले वचन अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। यदि कहो कि श्रीउद्धवके प्रति श्रीकृष्णकी कृपा कैसी है? इसके लिए कहते हैं, वह कृपा अतिद्भुत अर्थात् जगत-विलक्षण और चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाली अर्थात् असाधारण है। इस विषयमें दृष्टान्त है—जैसे कोई धूर्त्त चोर किसीको मोहित करके उसका सारा धन हरण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार उस कृपाकी महिमा मुझे मोहितकर मेरे धैर्यको लूट रही है॥१६-१८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

उद्धवोऽत्यन्तसम्भ्रान्तो द्रुतमुत्थाय तत्पदौ।
विधायाङ्के समालिंग्य तस्याभिप्रेत्य हृद्गतम्॥१९॥
हृत्प्राप्तभगवत्तत्तत्प्रसाद-भरभाग्जनः।
तदीयप्रेमसम्पत्तिविभवस्मृतियन्त्रितः॥२०॥
रोदनैर्विवशो दीनो यत्नाद्धैर्यं श्रितो मुनिम्।
अवधाप्याह मात्सर्यात् सात्त्विकात् प्रमुदं गतः॥२१॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! श्रीनारदकी इन बातोंको सुनकर श्रीउद्धव अत्यन्त आदरके साथ शीघ्रतापूर्वक उठकर उनके चरणकमलोंको अपनी गोदमें रखकर आलिङ्गन करने लगे तथा उनके हृदयके अभिप्रायको जानकर श्रीकृष्णके अत्यधिक कृपापात्र भक्तों तथा उनकी प्रेमसम्पत्तिके वैभवको स्मरणकर व्याकुल और विवश होकर दीनभावसे रोने लगे। तत्पश्चात् श्रीबलराम आदिके प्रयाससे धैर्य धारणकर प्रेमसे उत्पन्न सात्त्विक-मात्सर्यके कारण आनन्दित होकर वे श्रीनारदको सावधान करते हुए इस प्रकार कहने लगे॥१९-२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—उद्धवो मुनिं श्रीनारदम् अवधाप्य सावधानं कृत्वाहेति त्रिभिरन्वयः। उत्थायेति, उपविश क्षणमित्युक्तेः नारदेन सह सर्वैरुपविष्टत्वात्। तस्य नारदस्य पादौ चरणौ स्वाङ्के निधाय सम्यगालिङ्ग्य च; तस्य नारदस्य हृद्गतं भगवत्कृपाभरपात्रनिर्द्धारणरूपमभिप्रायमभिप्रेत्य अनुमानेन ज्ञात्वा; तत एव हृत्प्राप्ता मनस्यागता भगवतस्तं तं परमानिर्वचनीयं प्रसादभरं भजन्तीति तथाभूताः; यद्वा, ते ते परमप्रसिद्धाः प्रसादभरभाजो भगवतो जनाः श्रीराधिकाद्या यस्य सः; अतएव तदीयः तेषां जनानां सम्बन्धी यः प्रेमा तस्य सम्पत्तिः सम्पन्नता; यद्वा, सैव सम्पत्तिर्लक्ष्मीस्तस्या विभवः आर्त्तिरोदनाद्युदयः; यद्वा सम्पत्तिः स्वेद-कम्प-पुलकादिरूपा तस्या विभवो विस्तारस्तस्य स्मृत्वा यन्त्रितः पीड़ितः, प्रेमभराविर्भावात्; अतो दीनः। यत्नादिति स्वस्य नारदस्य बलरामादीनां वा प्रयासेन पश्चाद्धैर्यं शान्तिं प्राप्तः सन्। मात्सर्यं परशुभद्वेषस्तस्मात्; कथम्भूतात्? सात्त्विकात् सत्वगुणोद्भूतात्, न तु राजसात्त्वामसाद्वा; तस्मिन् तत्तत्प्रसङ्गाभावात्; अतएव प्रकृष्टां मुदमानन्दं गतः। अयमर्थः—शुद्धसात्त्विकत्वेन द्वेषाद्यसम्भवात् मनोदुःखाद्यनुत्पत्तेः, प्रत्युत सापत्न्ययुक्तवत् परमावेशेन तथा वर्णनात् परमानन्दमेव प्राप्तः सन्निति॥१९-२१॥

भावानुवाद—'उद्धवो'से लेकर 'मुनिम अवधाप्य' तक तीन श्लोकोंमें श्रीउद्धव द्वारा श्रीनारदको सावधान किया गया है। श्रीनारदकी बातोंको सुनकर श्रीउद्धवने कहा—'क्षणभर शान्त होकर बैठें।' यद्यपि श्रीनारद आदि सभी लोग बैठे हुए थे, तथापि वे ऐसा कहकर सम्भ्रमपूर्वक उठ खड़े हुए तथा श्रीनारदके चरणकमलोंको अपनी गोदमें रखकर आलिङ्गन करने लगे। तदनन्तर श्रीनारदके हृदयके (भगवत्कृपा-पात्र निर्द्धारणरूप) अभिप्रायको जानने मात्रसे ही भगवान् श्रीकृष्ण और उनके कृपापात्र भक्तोंकी महिमा उनकी स्मृति-पटल पर आ गयी। अथवा अनुमान द्वारा भगवान्के अनिर्वचनीय और परम प्रसिद्ध कृपापात्र श्रीमती राधिका आदि व्रजगोपियोंकी कथा स्मृति-पटल पर उदित हो गयी, अतएव श्रीकृष्णकी प्रेमसम्पत्तिके वैभवको स्मरणकर अर्थात् उन व्रजगोपियोंसे सम्बन्धी प्रेममें व्याकुल और विवश होकर श्रीउद्धव दीनभावसे क्रन्दन करने लगे। भक्तोंमें आर्त्ति-क्रन्दन आदिका उदय होना ही उनकी प्रेमरूप सम्पत्तिका वैभव है। अथवा स्वेद-कम्प-पुलकादि सात्त्विक विकाररूप प्रेमसम्पत्ति तथा उसके विस्ताररूप वैभवके स्मरणसे पीड़ित अर्थात् श्रीराधिका आदिकी स्मृतिसे श्रीउद्धवके हृदयमें प्रेम आविर्भूत हुआ, इसलिए वे दीनभावसे

क्रन्दन करने लगे। क्षणकालमें ही श्रीबलराम और श्रीनारदके प्रयत्नसे उन्होंने धैर्य धारण किया। तत्पश्चात् मात्सर्यवशतः श्रीनारदको सावधान करके कहने लगे। वह मात्सर्य कैसा था? सात्त्विक अर्थात् केवल सत्त्वगुणसे उत्पन्न, अतएव रजोगुण और तमोगुणसे रहित था। यद्यपि मात्सर्य कहनेसे दूसरेके शुभको देखकर द्वेष करना होता है, तथापि यह मात्सर्य सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेके कारण सम्पूर्णरूपमें आनन्द ही प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि शुद्ध सत्त्वसे उत्पन्न मात्सर्यमें द्वेषादि वशतः दुःख प्राप्त होना असम्भव है, अतएव उससे किसीका मन दुःखी नहीं हो सकता है। अपितु, जिस प्रकार मधुररसमें एक प्रेमिका अन्य प्रेमिकाके प्रति मात्सर्यवशतः या सौतभाववशतः परम आवेशपूर्वक उसके विषयमें वर्णनकर परमानन्दित होती है, उसी प्रकार श्रीउद्धव भी सौतेले (प्रतिद्वंद्वी) भावकी भाँति परम आवेशपूर्वक अपनेसे श्रेष्ठ भक्तोंकी महिमाका वर्णनकर परमानन्दित हुए॥१९–२१॥

श्रीमदुद्धव उवाच—

सर्वज्ञ सत्यवाक् श्रेष्ठ महामुनिवर प्रभो।
भगवद्भक्तिमार्गादि गुरुनोक्तं त्वयेह यत्॥२२॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—हे सर्वज्ञ! सत्यवादी तथा श्रेष्ठ महामुनिवर! हे प्रभो! आप भगवद्भक्तिमार्गके आदि (मूल) गुरु हैं॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे सर्वज्ञेति भगवत्कृपाभरविषयाः श्रीराधिकादयस्त्वया ज्ञायन्त एवेत्यर्थः। सत्यवाक्षु श्रीयुधिष्ठिरादिषु श्रेष्ठेति यत्त्वया मामालक्ष्योक्तं, तत् सर्वं सत्यमेवेत्यर्थः। महामुनिषु श्रीव्यासादिषु वरेति त्वमेव तन्माहात्म्यं वर्णयितुं शक्नोषि, नान्य इत्यर्थः। प्रभो ईश्वरेति तथापि त्वदिच्छावश्यमेव प्रतिपाल्येति भावः। भगवद्भक्तिमार्गे आदिगुरुणेति भगवतो भक्त्यैव तत्कृपाभरः स्यात्; सा च त्वदुपवेशादेव सर्वत्र प्रवृत्तास्तीति भगवत्कृपाभरपात्रं त्वमेवेति भावः; यद्वा, प्रेमभरोदयेन बहुधा सस्तुतिसम्बोधनमिति दिक्॥२२॥

भावानुवाद—हे सर्वज्ञ! आप भगवान्के सर्वश्रेष्ठ कृपापात्र श्रीराधिका आदिके विषयमें जानते हैं। हे सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ! आप श्रीयुधिष्ठिर आदि सत्यवादियोंसे भी सर्वश्रेष्ठ हैं। आपने मुझे लक्ष्य करके जो

कुछ कहा है, वह पूर्णरूपसे सत्य है। हे महामुनिवर! आप व्यास आदि मुनियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ हैं। आप ही उनकी महिमाका वर्णन करनेमें समर्थ हैं। हे प्रभो! यद्यपि आप ईश्वर हैं, तथापि उनकी इच्छाको पालन करनेके लिए इस प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे हैं। आप भगवद्भक्तिमार्गके आदि गुरु हैं। अर्थात् भगवद्भक्ति द्वारा ही श्रीभगवान्‌की कृपा प्राप्त की जाती है और आपके उपदेशसे ही वह भक्ति सर्वत्र प्रवर्त्तित होती है। अतएव आप ही भगवान्‌के पूर्ण कृपापात्र हैं। अथवा प्रेमके उदय होनेके कारण श्रीउद्धव स्तुति करते हुए अनेक प्रकारके सम्बोधनोंका प्रयोग कर रहे हैं॥२२॥

तत् सर्वमधिकं चास्मात् सत्यमेव मयि स्फुटम्।
वर्त्ततेति मया ज्ञातमासीदन्यैरपि ध्रुवम्॥२३॥

श्लोकानुवाद—आपने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह तथा उससे भी कहीं अधिक सचमुच मुझमें परिस्फुटरूपमें विद्यमान है—इसे मैं भी निश्चितरूपसे जानता हूँ और श्रीउग्रसेन आदि भी जानते हैं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्मात् त्वदुक्तादधिकञ्च; अन्यैरुग्रसेनादिभिरपि ज्ञातमासीत्॥२३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२३॥

इदानीं यद्व्रजे गत्वा किमप्यन्वभवं ततः।
महासौभाग्यमानो मे स सद्यश्चूर्णतां गतः॥२४॥

श्लोकानुवाद—किन्तु अभी मैंने व्रजमें जाकर जो अनुभव प्राप्त किया है, उसके द्वारा तत्क्षणात् महान सौभाग्यशाली होनेका मेरा गर्व चूर्ण-विचूर्ण हो गया है॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—यत् किमपि अनिर्वचनीयमनुभूतवानस्मि ततस्तदनुभवात्। सः त्वयोक्तो मादृशैर्ज्ञातश्च; यद्वा, अनिर्वचनीयो महासौभाग्याभिमानः। सद्यस्तक्षण एव, चूर्ण्यतामित्यनेन महासौभाग्याभिमानस्य सुमेरुतुल्यत्वं ध्वनितम्॥२४॥

भावानुवाद—मैंने व्रजमें जाकर जिस अनिर्वचनीय विषयको अनुभव किया है, उससे मेरा सौभाग्यशाली होनेका गर्व चूर-चूर हो गया है।

अर्थात् आपके द्वारा वर्णित और मेरे द्वारा अपनेको अनिर्वचनीय सौभाग्यशाली समझनेवाला अभिमान तत्क्षणात् चूर-चूर हो गया है। यद्यपि इससे श्रीउद्धवके महान सौभाग्यकी महिमा सुमेरु पर्वतके समान ध्वनित हुई है, तथापि वह सुमेरु पर्वत भी चूर-चूर हो गया है—ऐसा समझना होगा॥२४॥

तत एव ही कृष्णस्य तत्प्रसादस्य चाद्भुता।
तत्प्रेम्णोऽपि मया ज्ञाता माधुरी तद्वतां तथा॥२५॥

श्लोकानुवाद—और उस अनुभवसे ही मुझे श्रीकृष्णकी, उनकी कृपाकी, उनके प्रेमकी तथा उस प्रेमके पात्रोंकी अद्भुत माधुरीका ज्ञान हुआ है॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तदनुभवादेव, तद्वतां कृष्णप्रेमवतां जनानाम्॥२५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२५॥

तद्दर्शनेनैव गतोऽतिधन्यतां
तर्ह्येव सम्यक् प्रभुणानुकम्पितम्।
तस्य प्रसादातिशयास्पदं तथा
मत्वा स्वामानन्दभराप्लुतोऽभवम्॥२६॥

श्लोकानुवाद—मैं उन व्रजवासियोंके दर्शनसे ही धन्य हो गया हूँ तथा मैं समझता हूँ कि भगवान्‌ने मुझे व्रजमें भेजकर मेरे प्रति सम्पूर्णरूपसे कृपाकी है। इसलिए अपनेको प्रभुका कृपापात्र मानकर आनन्दसागरमें निमग्न हो रहा हूँ॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां व्रजवासिनां दर्शनेनैवः यद्वा, तेन दर्शनेन अनुभवेनैवः; तर्हि तदानीमेव प्रभुणा श्रीकृष्णेन सम्यग् यथा स्यात्तथानुकम्पितं स्वमात्मानं मत्वा; तथेत्युक्तसमुच्चये; तर्ह्येव तस्य प्रभोः प्रसादातिशयपात्रं स्वं मत्वा आनन्दभरेण आप्लुतो व्याप्तोऽभवं, परमानन्दसागरे न्यमज्जम् इत्यर्थः॥२६॥

भावानुवाद—मैं उन व्रजवासियोंके दर्शनसे अथवा दर्शन द्वारा प्राप्त अनुभवसे यह समझ रहा हूँ कि भगवान्‌ने मुझे व्रजमें भेजकर ही मुझ पर पूर्णरूपसे अपनी कृपा की है। इसीलिए मैं अपने आपको भगवान्‌की विशेष कृपाका पात्र मानकर आनन्दसागरमें निमग्न हो रहा हूँ॥२६॥

गायं गायं यदभिलषता यत्ततोऽनुष्ठितं य–
त्तत् सर्वेषां सुविदितमितः शक्यतेऽन्यन्न वक्तुम।
नत्वा नत्वा मुनिवर मया प्रार्थ्यसे काकुभिस्त्वम्
तत्तद्वृत्तश्रवणरसतः संश्रयेथा विरामम्॥२७॥

श्लोकानुवाद—व्रजमें जानेसे ही मैं आनन्दसागरमें निमग्न हो गया था तथा उस समय मैंने बारम्बार जिस उत्कर्षका गान किया था अथवा जैसी अभिलाषा की थी तथा जैसा आचरण किया था, वह सब जानते हैं। किन्तु इससे अधिक बोलनेका सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है। हे मुनिवर! मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ तथा विनीत-भावसे प्रार्थना करता हूँ कि आप उस वृत्तान्तको श्रवण करनेके लिए अपने आग्रहका परित्याग करें॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मादानन्दभराप्लवात्; तस्मिन् व्रज इति वा; यत् *'एताः परं तनुभृतो भूवि गोपवध्वः'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५८) इत्यादिकम् गायं गायम्; *'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१) इत्यादिना। यद्गोपीपादरजःसेवि किञ्चिद्गुल्मादिजन्म अभिलषता *'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६३) इति यत् तद्वन्दनमनुष्ठितमाचरितं, तत् मदीय गीताभिलषितानुष्ठितं सर्वैरेव सुष्ठु ज्ञायत इत्यर्थः। अतो मत्तोऽधिकाकाधिक-श्रीभगवदनुग्रहविषयाः श्रीराधिकादयः इति निगूढ़ं न स्यादपि तु सर्वत्र सुप्रसिद्धमेवेति भावः। इतः अस्मात्तात्पर्य वृत्तोक्तादन्यतः अस्मिन् स्थान इति वा वक्तुं न शक्यते। श्रीसत्यभामादीनां सापत्न्यभयात् गोपीनां माहात्म्य-कथने सत्यभामाया दुःखं स्यादित्यर्थः। किंवा स्वस्य भगवतो वा परमप्रेम-पीड़ाद्याविर्भावशङ्कया। ननु तद्विवरणश्रवणेनैव श्रीभगवत्कृपाभरपात्रनिर्द्धारः स्यात्तदर्थमेवाहं परमनिर्बन्धेनायं प्रवृत्तोऽस्मि इति तदेव विवृत्य कथयेति चेत्तत्राह—नत्वेति। प्रार्थ्यमानमेवाहं—तत्तदिति। तस्य तस्य वृत्तस्य; यद्वा, तासां गोपीनां तस्या वार्त्ताया श्रवणे यो रसो लाम्पटयं तस्माद्विराममुपरतिं भजस्व आश्रय; अन्यथा परमानर्थापत्तेरिति भावः॥२७॥

भावानुवाद—व्रजमें जाने मात्रसे ही आनन्दसागरमें निमग्न होकर मैंने उन व्रजगोपियोंको प्रणामकर यह गान किया था—"पृथ्वी पर इन गोपियोंने ही यथार्थमें देह धारणकी है।" इस प्रकार गान करते-करते 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्' इत्यादि पदोंमें मैंने उन्हीं गोपियोंकी चरणरजकी सेवा करनेवाले गुल्म, लता अथवा औषधि आदिमें से किसी एक रूपमें जन्म ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी और उसकी

प्राप्तिके उपाय-स्वरूप मैंने व्रजाङ्गनाओंके श्रीचरणकमलोंकी केवलमात्र एक धूलिकणकी बारम्बार वन्दना की थी। इस प्रकार गोपियोंके वैशिष्ट्यके विषयमें मैंने जो गान किया था, गोपियोंकी चरणरेणु प्राप्तिके लिए जो अभिलाषा की थी तथा गोपियोंकी चरणरेणुकी वन्दना आदि जो सब आचरण किया था, वह सभीको भली-भाँति ज्ञात है। अतएव मेरी तुलनामें श्रीमती राधिका आदि गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी अधिक कृपापात्री हैं, यह केवल निगूढ़ सिद्धान्त ही नहीं है, बल्कि सर्वत्र सुप्रसिद्ध है। तो भी केवल यही कहा जा सकता है कि उन व्रजगोपियोंकी महिमा केवल तात्पर्यवृत्ति अर्थात् इङ्गित द्वारा ही ज्ञातव्य है, क्योंकि इस स्थान पर इससे अधिक कुछ भी कहनेमें असमर्थ हूँ। अतः आप इस वृत्तान्तको सुननेकी उत्सुकताका परित्याग करें। विशेषतः उन व्रजगोपियोंके माहात्म्यको श्रवण करनेसे श्रीसत्यभामा आदि महषियोंको दुःख हो सकता है, अतएव उनमें सापत्न्य अर्थात् सौत या प्रतिद्वंद्वी भावके उत्पन्न होनेके भयसे गोपियोंके माहात्म्यके विषयमें कुछ न बोलना ही कर्त्तव्य है। अथवा उनके माहात्म्यका कीर्त्तन करनेसे श्रीभगवान्में परमप्रेममयी पीड़ा उत्पन्न होनेकी भी आशंका है। अतएव मैं इससे अधिक कुछ भी नहीं कह सकता हूँ।

यदि कहो कि उस वृत्तान्तको श्रवण करनेसे भगवान्के सर्वश्रेष्ठ कृपापात्रका निर्धारण होगा तथा उसी प्रयोजनकी प्राप्तिमें ही मेरा विशेष आग्रह है और मैं उसीमें प्रवृत्त हुआ हूँ। अतएव आप यह सब वृत्तान्त कहिये। इसके उत्तरमें ही कह रहे हैं, हे मुनिवर! मैं आपके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम करके विनीत भावसे प्रार्थना करता हूँ कि आप उस वृत्तान्तको श्रवण करनेका अपना आग्रह छोड़ दीजिए अर्थात् व्रजवासियोंकी कथाको श्रवण करनेमें आपका जो रस-लाम्पट्य (लोभ) है, उसे विराम दीजिए, अन्यथा किसी विशेष अनर्थ होनेकी सम्भावना है॥२७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तद्वाक्यतत्त्वं विज्ञाय रोहिणी सास्रमब्रवीत्।
चिरगोकुलवासेन तत्रत्यजनसम्मता॥२८॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीउद्धवके वचनोंके अभिप्रायको जानकर श्रीरोहिणीजी, जो बहुत समय तक गोकुलमें रहनेके कारण वहाँके निवासियोंको अत्यन्त प्रिय थीं, प्रेमाश्रु बहाती हुई इस प्रकार कहने लगीं॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तदेकप्रियाणां प्रसङ्ग–सङ्गत्या तद्वृत्तेः सम्वरणं न स्यादिति दर्शयन्निवाह—तद्वाक्येति। तस्योद्धववाक्यस्य; तत्त्वं तात्पर्यम्; श्रीनन्दव्रजजनेषु तेष्वेव श्रीकृष्णकृपाभरो नान्येष्वित्येतद्रूपम्। तत्रत्यानां श्रीगोकुलसम्बन्धिनां जनानां लोकानां सम्मता परमप्रियेत्यर्थः। अतएव वा सम्मता यस्याः सा॥२८॥

भावानुवाद—तथापि श्रीकृष्णके ऐकान्तिक प्रियजनोंके प्रसङ्गके सङ्गके कारण व्रजके वृत्तान्तको वर्णन करनेके वेगको श्रीरोहिणीदेवी रोक नहीं पायीं, इसीको दिखलानेके लिए ही 'तद्वाक्येति' श्लोक कह रहे हैं। श्रीउद्धवके वचनोंके इस अभिप्रायको जानकर कि व्रजवासियों पर ही श्रीकृष्णकी पूर्ण कृपा है, दूसरों पर नहीं है; दीर्घकाल तक गोकुलमें वास करनेके कारण गोकुलवासियोंकी परमप्रिय अथवा गोकुलवासी जिनके प्रिय हैं, वही श्रीरोहिणीदेवी प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगीं॥२८॥

श्रीरोहिण्युवाच—

आस्तान् श्रीहरिदास त्वं महादुर्दैवमारितान्।
सौभाग्यगन्धरहितान्निमग्नान् दैन्यसागरे॥२९॥
तत्तद्बाड़ववह्न्यर्चिस्ताप्यमानान् विषाकुलान्।
क्षणाचिन्तासुखिन्या मे मा स्मृतेः पदवीं नय॥३०॥

श्लोकानुवाद—श्रीरोहिणीदेवीने कहा—हे श्रीहरिदास उद्धव! तुम शान्त हो जाओ। मैं जिन लोगोंकी चिन्ताको छोड़कर कुछ सुखी हुई हूँ, उन महादुर्दैवके मारे हुए, सौभाग्यकी गन्धसे रहित, दैन्य–सागरमें निमग्न, भीषण शोकरूपी बड़वानल ज्वालासे संतप्त तथा विरहके विषसे जर्जरित व्रजवासियोंकी याद मुझे मत दिलाओ॥२९–३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—आ इति परमखेदे। हे श्रीहरिदास उद्धव! तान् व्रजजनान् त्वं मे स्मृतेः पदवीं स्मरणपथं मा नय, न प्रापय मा स्मारयेत्यर्थः। तत्र हेतवः—महत्दुर्वितर्क्यतयातिगरिष्ठं यद्दुर्दैवं दुरदृष्टं तेन मारितान् हतान्

परमाक्रान्तानित्यर्थः। अतएव सौभाग्यं श्रीकृष्णप्रेष्ठत्वं तस्य गन्धेनापि रहितान्, किञ्चित् सौभाग्य सम्बन्धेनाप्यस्पृष्टानित्यर्थः। दैन्यसागरनिमग्नत्वादेव सा सा परमानिर्वचनीया या बाड़ववह्नेरिवार्च्चिः शोकज्वाला तया ताप्यमानान्। किञ्च विषेण तत्तुल्येन विरहवर्द्धितप्रेमविशेषेण व्याकुलान्। कथम्भूताया? मे क्षणं या अचिन्ता तेषामननुसन्धानं तयैव सुखिन्याः। अतस्तेषां स्मरणेन ममापि तादृशं दुःखं न देहीति भावः। यद्यपि गायं गायमित्यादि वदतोद्धवेन श्रीगोप्यएवाभिप्रेताः, अतस्तानिति पुंस्त्वनिर्देशोऽत्र न घटते। तथापि सर्वजनप्रियत्वेनानया तत्रत्याखिलजनार्त्ति-विवक्षया तथा निर्द्दिष्टम्। ततश्चार्त्तिविशेषेण श्रीयशोदायाः स्वयमेव तथा वक्तव्या इत्युह्यम्॥२९-३०॥

भावानुवाद—आः! (परम खेदपूर्वक) हे श्रीहरिदास उद्धव! तुम शान्त हो जाओ। उन व्रजवासियोंका न तो स्मरण करना और न ही कराना। उसका कारण यह है कि वे महादुर्दैवके मारे हुए हैं। अतएव श्रीकृष्णकी प्रियतारूप सौभाग्यके गन्धसे रहित तथा दैन्यसागरमें निमग्न रहनेके कारण वे व्रजवासी अनिर्वचनीय अर्थात् भीषण शोकरूपी बड़वानलकी ज्वालासे सन्तप्त हैं और विरह द्वारा वर्धित प्रेमरूपी विषसे व्याकुल हैं। इसलिए उनके विषयमें स्मरण करना छोड़कर ही मैं कुछ सुखी हुई हूँ और अब भी क्षणकाल तक उनकी चिन्ता छोड़कर ही सुखी हो सकूँगी। विशेषकर उनकी विरहकी पीड़ाका स्मरण होनेसे वैसा ही दुःख होता है, अतएव उनकी विरहकी पीड़ाका स्मरण दिलाकर मुझे और दुःखी मत करो।

यद्यपि श्लोक २७में 'गायं गायं' वाक्यमें श्रीउद्धव द्वारा गोपियोंको ही लक्षित किया गया है, अतः यहाँ पर 'तान' शब्दसे पुलिङ्गका निर्देश नहीं हो सकता; तथापि श्रीरोहिणीदेवी सभीकी प्रिय हैं, इसलिए सभी व्रजवासियोंके दुखको प्रदर्शन करनेके लिए 'तान' शब्दका प्रयोग हुआ है। उन व्रजवासियोंमें भी श्रीमती यशोदाजीका दुख ही विशेष-रूपसे द्रष्टव्य है। यद्यपि उसे इस स्थान पर गुप्त रखा गया है, परन्तु बादमें स्वयं ही कहेंगी॥२९-३०॥

अहं श्रीवसुदेवेन समानीता ततो यदा।
यशोदाया महार्त्तायास्तदानीन्तनरोदनैः॥३१॥

ग्रावोऽपि रोदित्यशनेरप्यन्तर्दलति ध्रुवम्।
जीवन्मृतानामन्यासां वार्त्ता कोऽपि मुखं नयेत्॥३२॥

श्लोकानुवाद—जिस समय श्रीवसुदेव मुझे व्रजसे यहाँ ला रहे थे, उस समय श्रीयशोदाके महान रोदनको सुनकर कठिन पाषाण भी रोने लगे और निश्चय ही वज्र भी विदीर्ण हो गये। अन्य गोपियाँ जीवित हैं अथवा मृत हैं, उनके विषयमें कौन मुखसे वर्णन कर सकता है?॥३१-३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्यसहिष्णुतया तद्वृत्तमेव विवृणोति—अहमिति द्वाभ्याम्। ततो गोकुलात्; ग्रावः परमकठिनोऽपि रोदिति परमार्द्रतां यातीत्यर्थः। तथा परम-कठिनतरस्यु वज्रस्यापि अन्तर्मध्यं दलति विदीर्यते। केवलं तस्मात्तस्मादपि महाकठिनतरं कस्याप्येकस्य हृदयं तैरार्द्रं न भवतीति भावः। अन्यासां श्रीराधिकादीनां गोपीनाम्। को जनः स्त्री पुरुषोऽपि वा मुखं नयेत् उच्चारयेत्॥३१-३२॥

भावानुवाद—तथापि असहिष्णुतावशतः श्रीरोहिणीदेवी उस वृत्तान्तको 'अहं' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा वर्णन कर रहीं हैं। जिस समय आर्यपुत्र श्रीवसुदेव मुझे गोकुलसे ला रहे थे, उस समय दुःखसे महाकातर श्रीयशोदाके महान रोदनको सुनकर अत्यन्त कठोर पाषाण भी रोने लगे अर्थात् अत्यधिक द्रवित हो गये। तथा उनसे भी कठोर वज्र भी विदीर्ण हो गये। किन्तु पाषाण और वज्रसे भी अधिक महाकठोर केवल एक व्यक्तिका हृदय नहीं पिघला था। श्रीराधा आदि अन्य गोपियोंके विषयमें कौन वर्णन कर सकता है? अर्थात् क्या स्त्री, क्या पुरुष, कोई भी उनकी विरह-दशाका वर्णन अपने मुखसे नहीं कर सकता। मैं नहीं कह सकती कि वे अब जीवित हैं या नहीं?॥३१-३२॥

अथागतं गुरुगृहात् त्वत्प्रभुं प्रति किञ्चन।
संक्षेपेणैव तद्वृत्तं दुखादकथयं कुधीः॥३३॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीमान् उद्धव! तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्ण जब गुरु श्रीसान्दीपनिमुनिके घरसे पढ़कर मथुरा लौटे, तब मुझ कुबुद्धिनीने दुःखपूर्वक उनको व्रजका यह करुण वृत्तान्त संक्षेपमें सुनाया था॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ मदानयनानन्तरं गुरोः सान्दीपनेर्गृहान्मथुरायामागतं किञ्चिदेव तत्रापि संक्षेपेणैव, तदीय शोकादिशङ्कया। यद्यपि जानाम्येव फलं मे न सेत्स्यतीति, तथाप्यकथयमित्यभिप्रायेण स्वयमेव हेतुमाह—दुःखादिति। *'निवेद्य दुःखं सुखिनो भवन्ति'* इति न्यायेनाकथनान्मर्मसु पीड़ोत्पत्तेरित्यर्थः तथाप्यस्थाने कथनमत्ययोग्यमित्याशङ्कयाह—कुधीरिति। यतोऽहं निन्दितबुद्धिरित्यर्थः॥३३॥

भावानुवाद—मेरे मथुरामें आनेके उपरान्त जब तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्ण गुरु श्रीसान्दीपनि मुनिके घरसे मथुरामें लौटे, तब मैंने तुम्हारे प्रभुको, उनके शोक आदिकी आशंकाके भयसे, अति संक्षेपमें श्रीवृन्दावनका करुण वृत्तान्त सुनाया था। यद्यपि मैं जानती थी कि इसका कुछ भी परिणाम नहीं होगा, तथापि मैंने दुःखी होकर ही कहा था। विशेषकर 'दुःखकी बात कह देनेसे दुःखके दूर होने पर सुखी हुआ जाता है', इस न्यायानुसार दुःखकी बात नहीं कहनेसे मर्म (हृदय)में पीड़ा उत्पन्न हो सकती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी अयोग्य स्थान पर भी अपने दुःखको कह दिया जाए। किन्तु मैं कुबुद्धिनी होनेके कारण इसे समझ नहीं पायी, इसीलिए मैंने उन्हें श्रीवृन्दावनका किञ्चित् करुण वृत्तान्त सुनाया था॥३३॥

न हि कोमलितं चित्तं तेनाप्यस्य यतो भवान्।
सन्देशचातुरीविद्याप्रगल्भः प्रेषितं परम्॥३४॥

श्लोकानुवाद—किन्तु मेरी बातको सुनकर निश्चय ही तुम्हारे प्रभुका हृदय नहीं पिघला, क्योंकि स्वयं व्रजमें न जाकर उन्होंने चतुरतापूर्वक संदेश देनेकी विद्यामें कुशल तुम्हें व्रजमें भेज दिया॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन तादृशमत्कथनेनापि तस्य तत्प्रभोश्चित्तं नार्द्रितम्। हि निश्चितम्; तत्र लिङ्गमाह—यत इति। यस्मात् परं केवलं भवानेव प्रेषितोऽनेन, न तु स्वयं गतः। तथापि मङ्गलं मन्यस्वेति चेत्तत्राह—सन्देशेति। सन्देशो वाचिकं तस्मिन्। चातुर्येव विद्या कलाविशेषः; यद्वा, सन्देश चातुर्यां विद्यां ज्ञानविशेषः, तस्यां प्रगल्भः। तादृश सन्देशेन तेषां दुःखमेव वर्द्धितम् न तु किञ्चिदाश्वासनमभूदिति भावः॥३४॥

भावानुवाद—मेरी बातको सुनकर भी तुम्हारे प्रभुका चित्त द्रवीभूत नहीं हुआ। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने तुम्हें गोकुल भेजा था,

किन्तु विरहसे पीड़ित व्रजवासियोंको सान्त्वना देने स्वयं नहीं गये। तथापि व्रजवासियोंके कल्याणकी आशासे तुम्हारे प्रभुने जो संदेश (वाक्‌चातुरीयुक्त वार्त्ता या संदेश-चातुरी विद्यासे युक्त उपदेशात्मक ज्ञान) भेजा था, उस संदेशसे व्रजवासियोंका विरह-दुःख और भी अधिक बढ़ गया, उनको किञ्चित् मात्र भी सान्त्वना नहीं मिल पायी॥३४॥

अयमेव हि किं तेषु त्वत्प्रभोः परमो महान्।
अनुग्रहप्रसादो यस्तात्पर्येणोच्यते त्वया॥३५॥

श्लोकानुवाद—तुम जिस अभिप्रायसे व्रजवासियोंके प्रति अपने प्रभुकी परमकृपाके विषयमें वर्णन करने जा रहे हो, क्या उस कृपाका यही लक्षण है?॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अनुग्रहयुक्तः प्रसादः अनुग्रहलक्षण-व्यवहारः। यद्वा, अनुग्रहेण प्रसादः प्रसन्नता तात्पर्येणेति साक्षादनुक्तेः॥३५॥

भावानुवाद—अनुग्रहयुक्त प्रसादका अर्थ है अनुग्रहलक्षणसे युक्त व्यवहार। अथवा अनुग्रह-प्रसादका तात्पर्य है प्रसन्नता, क्या तुम्हारी उक्तिका यही अभिप्राय है कि व्रजवासी बहुत प्रसन्न हैं? यहाँ साक्षात् रूपमें न कहकर गूढ़ अर्थ प्रकाश कर रहे हैं॥३५॥

मम प्रत्यक्षमेवेदं यदा कृष्णो व्रजेऽव्रजत्।
ततो हि पूतनादिभ्यः केश्यन्तेभ्यो मुहुर्मुहुः॥३६॥
दैत्येभ्यो वरुणेन्द्रादिदेवेभ्योऽजगरादितः।
तथा चिरन्तनस्वीयशकटार्जुनभङ्गतः।
को वा नोपद्रवस्तत्र जातो व्रजविनाशकः॥३७॥
तत्रत्यास्तु जनाः किञ्चित्तेऽनुसन्दधते न तत्॥३८॥

श्लोकानुवाद—मैंने जो कुछ स्वयं साक्षात्‌रूपमें देखा है, उसे श्रवण करो। तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्णके व्रजमें आने पर पूतनासे आरम्भ कर केशी दैत्य तक अनेक असुरोंने बारम्बार अनेकानेक उपद्रव किये थे। कभी वरुण आदि देवताओं द्वारा और कभी अजगर आदि द्वारा भी

अनेक प्रकारसे व्रजको नष्ट कर देनेवाले उपद्रव हुए थे। कभी प्राचीन शकटके भंग होनेसे और यमुलार्जुन वृक्षके गिरनेसे तुम्हारे प्रभुके देह पर भी उपद्रव हुए थे। तथापि व्रजवासियोंने कभी भी उन उपद्रवों पर ध्यान नहीं दिया और न ही उन्होंने अपने दुःखके प्रतिशोध लेनेकी ही चेष्टा की॥३६-३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—यदा वा कृष्णस्तत्रासीत्तदानीमपि तेषां न किमपि सुखमकरोदिति परमदुःखिता सत्याह—ममेति सार्धद्वाभ्याम्। प्रत्यक्षमिति व्रजे श्रीकृष्णस्य गमनात् पूर्वमपि तत्र चिरवासेन तत्तदनुभवात्। ततस्तत्कालमारभ्येत्यर्थः। पूतनादिभ्यो दैत्येभ्यः; वरुणादिभ्यो देवेभ्योऽपि नन्दहरणमहावृष्टयादिना। अजगरः सरस्वतीतीरे नन्दग्रसनोद्यतः; तदादिभ्यस्तिर्यग्-योनिभ्योऽपि, आदिशब्देन कालियादयः, कंसाज्ञया तदानीं तैरपि यमुनाजलादेरधिकदूषणात्। चिरन्तना बहुकालीनाः स्वीया निजयानात-पत्रादिरूपाः; शकटमर्जुनौ च वृक्षौ तेषां भङ्गतः भञ्जनात्। तथापि व्रजजनानां कृष्णे प्रीतिर्नजातुक्षीणा, अपि तु विवृद्धैवेत्याह—तत्रत्या इति सार्धद्वयेन। तदुपद्रवजन्म, तदिति तस्मिन्नुपद्रव इति वा। कथमेवमिदानीमभूत्? 'अहो वतास्माकं दुःखमुपस्थितम्, अस्य प्रतिकुर्मः' इत्यादिकं किञ्चिदपि नानुसन्दधते, न विचारयन्ति॥३६-३८॥

भावानुवाद—जब तक तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्ण व्रजमें थे, तब भी उन व्रजवासियोंके लिए उन्होंने सुखका कोई भी कार्य नहीं किया, इसीको श्रीरोहिणीदेवी परम दुःख सहित 'मम' इत्यादि ढाई श्लोकों द्वारा कह रही हैं। श्रीकृष्णके व्रजमें आनेके पहलेसे ही मैंने वहाँ पर दीर्घकाल तक निवास करके सबकुछ साक्षात्‌रूपमें अनुभव किया है और श्रीकृष्णके व्रजमें आने पर पूतनासे आरम्भकर केशी दैत्य तक जिन सब असुरोंने बारम्बार उपद्रव मचाया था, मैंने उन सबको प्रत्यक्ष देखा है। केवल दैत्यों द्वारा ही उपद्रव हुए हों, ऐसा नहीं, बल्कि वरुण-इन्द्र आदि देवताओंने भी क्रमशः श्रीनन्द महाराजका हरण और मुसलाधार वर्षा करके व्रजका विनाश करनेके लिए उपद्रव मचाया था।

अजगर आदि तिर्यग् योनिके भयंकर प्राणियोंसे भी महान अनर्थ उत्पन्न हुआ था जैसे, सरस्वती नदीके तट पर एक अजगर द्वारा श्रीनन्दबाबाको निगलना। 'आदि' शब्दसे कालिय नाग आदिको भी समझना चाहिए, क्योंकि कंसके आदेशसे दुष्ट कालिय नागने उस

समय यमुनाके जलको दूषित कर दिया था। बहुत पुराना शकट और यमलार्जुन वृक्षोंके गिरनेसे तुम्हारे प्रभुके देह पर भी अनेक प्रकारके उपद्रव हुए थे। परन्तु बारम्बार उपद्रव होने पर भी व्रजवासियोंने कभी भी अपने दुःखको दूर करनेकी चेष्टा नहीं की। ऐसे घोर दुःखके समय भी उनकी श्रीकृष्णके प्रति प्रीति क्षीण नहीं हुई, बल्कि उन सब उपद्रवोंसे कृष्णके प्रति उनकी प्रीति और भी वर्द्धित हुई थी। तुम्हारे प्रभुके व्रजमें आगमनसे पूर्व वहाँ ऐसे उपद्रव नहीं होते थे। उनके आनेके बाद ही क्यों हुए? व्रजवासियोंने उस दुःखके निवारणकी कोई चेष्टा नहीं की और न ही किसी प्रकारका कोई विचार किया कि 'अहो! हमारे सामने दुःख उपस्थित हुआ है, इस समय हमलोग इसका कैसे निवारण करें?'॥३६–३८॥

मोहिता इव कृष्णस्य मङ्गलं तत्र तत्र हि।
इच्छन्ति सर्वदा स्वीयं नापेक्षन्ते च कर्हिचित्॥३९॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासी श्रीकृष्णके माधुर्यसे मोहित होकर केवल उनके कल्याणकी ही कामना करते थे, कभी भी अपने कल्याणकी चिन्ता नहीं करते थे॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—मोहिता इति। कृष्णेनापहृतविवेकाः; इवेति तत्त्वतो मोहासम्भवात्। यद्वा, ऐन्द्रजालिकादिभिर्मोहं प्रापिता इतरे जना यथा तथेत्यर्थः। हि यस्मात् तत्र तत्रोपद्रवे कृष्णस्यैव मङ्गलं क्षेमं सर्वदा इच्छन्ति। स्वकीयञ्च मङ्गलं कदाचिदपि नापेक्षन्ते॥३९॥

भावानुवाद—व्रजवासी केवल श्रीकृष्णके कल्याणकी ही चेष्टा करते थे, अपने दुःखोंको दूर करनेकी चेष्टा नहीं करते थे। इसका कारण 'मोहिता' इत्यादि श्लोक द्वारा कहा जा रहा है। श्रीकृष्णने व्रजवासियोंके विवेकको हर लिया था। 'इव'कार का तात्पर्य यह है कि तत्त्वतः उनका मोहित होना असम्भव है। अथवा जादूगर द्वारा जैसे दूसरे लोग मोहित हो जाते हैं, उसी प्रकार व्रजवासी भी श्रीकृष्णकी माया द्वारा मोहित होकर सदैव उन्हींके कल्याणकी कामना करते थे। इसलिए उन सब विपत्तियोंमें भी वे श्रीकृष्णके कल्याणकी कामना करते थे, कभी भी अपने मंगलकी आशा नहीं करते थे॥३९॥

स्वभावसौहृदेनैव　यत्किञ्चित्सर्वमात्मनः।
अस्योपकल्पयन्ते स्म नन्दसूनोः सुखाय तत्॥४०॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजवासियोंने स्वाभाविक सौहृद-प्रेमसे अपना सबकुछ नन्दनन्दन श्रीकृष्णके सुखके लिए ही अर्पण कर दिया था॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च स्वभावेन न तु केनापि हेतुना यत् सौहृदं प्रेम तेनैव अस्य कृष्णस्य सुखाय तत्सर्वमुपकल्पयन्ते स्म। अस्मिन्नेव समर्पयन्नित्यर्थः। सम्पादयामासुरिति वा। नन्दसूनोरिति सर्वदैवते नन्दनन्दनत्वे नैवेमं विदन्ति, न तु परमेश्वरत्वेन यदुनन्दनत्वादिना वा। अतएव परमप्रेमविशेषोदयेन तथा व्यवहरन्तीति भावः॥४०॥

भावानुवाद—श्रीरोहिणीदेवी कुछ और भी बतला रही हैं—व्रजवासियोंने स्वाभाविक प्रेमसे अपना सबकुछ श्रीकृष्णके सुखके लिए ही समर्पण कर दिया था। अथवा वे लोग श्रीकृष्णके लिए ही सब कुछ करते थे, अपने किसी स्वार्थकी पूर्तिके लिए कुछ भी नहीं करते थे। वे तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्णको नन्दनन्दन ही समझते थे, परमेश्वर या यदुनन्दन नहीं। इसलिए श्रीकृष्णके प्रति व्रजवासियोंके वैसे स्वाभाविक परम प्रेमके उदय होनेके कारण वे (व्रजवासी) उस प्रेमके अनुरूप ही व्यवहार करते थे॥४०॥

तदानीमपि नामीषां किञ्चित्त्वत्प्रभुणा कृतम्।
इदानीं साधितस्वार्थो यच्चक्रेऽयं क्व वच्मि तत्॥४१॥

श्लोकानुवाद—जिस समय तुम्हारे प्रभु अपने स्वार्थके लिए व्रजमें वास कर रहे थे, उस समय भी उन्होंने व्रजवासियोंके लिए कुछ नहीं किया। किन्तु अब जब उनके सभी स्वार्थ पूर्ण हो गये हैं, वे जो कुछ कर रहे हैं, उस विषयमें मैं किससे क्या कहूँ?॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—फलितं वदन्त्युपसंहरति—तदानीमिति। अमीषां व्रजजनानां साधितः स्वानां ज्ञातीनामेवार्थो मथुरासुखवासादिः। किम्वा प्रच्छन्नव्रजवासादिना साधितः स्वस्यार्थः कंसहननादि प्रयोजनं येन तथाभूतोऽपि सन्। अयं त्वत्प्रभुर्यत् परित्यागादिरूपं कर्म चक्रे। क्व कस्मिन् वच्मि, अपि न कस्मिन्नपि तदुक्तं युज्यत इत्यर्थः, तद्योग्यजनस्यात्राभावात्, कृष्णस्यापकीर्त्तिभयाद्वा॥४१॥

भावानुवाद—श्रीरोहिणीदेवी यहाँ सारार्थ कहकर उपसंहार कर रही हैं। तुम्हारे प्रभुने अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिए जिस समय व्रजमें वास किया था, उस समय भी उन्होंने व्रजवासियोंका कुछ भी उपकार नहीं किया और अब तो उनका स्वार्थ पूर्ण हो गया है। अतः वे अब अपने आत्मीय-स्वजनोंके साथ सुखपूर्वक मथुरामें वास कर रहे हैं। अथवा तात्कालिक स्वार्थ सिद्धिके लिए प्रच्छन्नरूपसे अर्थात् छिपकर व्रजमें वास द्वारा उन्होंने कंसके वधादिरूप अपने प्रयोजनको पूर्ण किया है। इस प्रकार तुम्हारे प्रभुने व्रजवासियोंका परित्याग आदि जो सब कर्म किया है, वह किससे कहूँ? अपितु वह किसीको बतलाने योग्य भी नहीं है और यहाँ पर वैसा अर्थात् उसे सुनने योग्य कोई व्यक्ति भी नहीं है। अथवा श्रीकृष्णकी अपकीर्त्तिकी बात किसीको कहना भी उचित नहीं है। इसी भयसे श्रीरोहिणीदेवीने संक्षेपमें अपने वक्तव्यका उपसंहार किया॥४१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तच्छ्रुत्वा दुष्टकंसस्य जननी धृष्टचेष्टिता।
जराहतविचारा सा सशिरःकम्पमब्रवीत्॥४२॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—हे माता! श्रीरोहिणीदेवीके वचनोंको सुनकर बुढ़ापेके कारण विचार विहीना, निर्लज्जा, दुष्ट कंसकी माता पद्मावती सिरको हिलाती हुई इस प्रकार कहने लगी॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—धृष्टं द्रुमिलदैत्येन पुत्रोत्पादनाल्लज्जारहितं चेष्टितं यस्याः सा। एवं दोषोद्गारकं तस्या विशेषणत्रयं तादृगुक्तौ कारणं दर्शितम्। सा दुष्पुत्रमरणेऽपि महाविलापादिना दुर्बुद्धितया प्रसिद्धा। शिरःकम्पश्च जरातिभरेण श्रीरोहिण्युक्त्याक्षेपपाटवेन वा॥४२॥

भावानुवाद—श्रीरोहिणीदेवीके वचनोंको सुनकर निर्लज्ज चेष्टा करनेवाली कंसकी माता पद्मावती कहने लगी। निर्लज्ज आचरण करनेवाली कहनेका उद्देश्य यह है कि इसी पद्मावतीने द्रुमिल दैत्य द्वारा पुत्र उत्पन्न किया था। इस प्रकार दोष उद्गारक तीन विशेषणोंके द्वारा पद्मावतीके स्वभावके अनुरूप अगले तीन श्लोकोंमें उसके

द्वाराकी जानेवाली उक्तिका कारण प्रदर्शित किया गया है। कंस जैसे दुष्ट पुत्रके मरने पर भी इस पद्माने क्रन्दन और महाविलाप किया था, अतएव वह कुबुद्धिमतीके रूपमें प्रसिद्ध है। बुढ़ापेके कारण विचारहीन है, इसलिए अपने सिरको कँपाती हुई कहने लगी अथवा श्रीरोहिणीदेवी द्वारा श्रीकृष्णके प्रति किये गये आक्षेप (लाँछन)की चतुरताके कारण वे सिरको कँपाती हुई कहने लगी॥४२॥

पद्मावत्युवाच—

अहो वताच्युतस्तेषां गोपानामकृपावताम्।
आबाल्यात् कण्टकारण्ये पालयामास गोगणान्॥४३॥

श्लोकानुवाद—पद्मावतीने कहा—अहो! बड़े दुःखकी बात है, बचपनसे ही श्रीकृष्ण काँटोंके वनमें उन निर्दयी-गोपोंकी गायें चराते रहे॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो वत महाकष्टम्; अकृपावतां कारुण्यरहितानाम्; अच्युत इति तादृशदुःखेऽपि तत्रैव स्थिरतया वर्त्तमान इत्यर्थः॥४३॥

भावानुवाद—अहो! बड़े दुःखकी बात है। बचपनसे ही श्रीकृष्ण काँटोंके वनमें उन निष्ठुर गोपोंकी गायें चराते रहे और वैसा दुःख सहकर भी वे व्रजमें स्थिर होकर रहे। यही मूल श्लोकके 'अच्युत' शब्दसे ध्वनित हो रहा है॥४३॥

पादुके न ददुस्तेऽस्मै कदाचिच्च क्षुधातुरः।
गोरसं भक्षयेत् किञ्चिदिमं बध्नन्ति तत्स्त्रियः॥४४॥

श्लोकानुवाद—उन काँटोंके वनोंमें भ्रमण करते समय उन्होंने श्रीकृष्णको पादुका तक भी नहीं पहनाई। बल्कि कभी भूख लगने पर श्रीकृष्ण द्वारा थोड़ासा दुग्धपान कर लेने पर गोपियाँ उनको बाँध देती था॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अकृपामेवाह—पादुके इत्यादिना क्रोशन्तीत्यन्तेन। ते गोपाश्च तस्मै अच्युताय; क्षुधया आतुरो विकलः सन् गोरसं तक्रादिकं भक्षयेदच्युतः; सम्भावनायां सप्तमी। इममच्युतं तेषां गोपानां स्त्रियो यशोदाद्या

बध्नन्ति गोपाशैः; एतच्च दामोदरत्वाधुपाख्यानानुसारेण। आक्रोशन्तीति च *'वत्सान् मुञ्चन् क्वचिद्समये क्रोशसंजातहासः, स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि परः कल्पितैः स्तेययोगैः।'* (श्रीमद्भा॰ १०/८/२९) इत्यादि गोपीगणोक्तानुसारेण॥४४॥

भावानुवाद—पद्मावती गोप-गोपियोंकी निष्ठुरताके लक्षण 'पादुके' इत्यादि श्लोकसे आरम्भकर अगले श्लोकके 'आक्रोशन्ति' पद तक बतला रही हैं। काँटोंसे भरे हुए वनमें भ्रमण करते समय उन्होंने श्रीकृष्णको पादुका तक भी प्रदान नहीं की थी। कभी भूखसे आतुर होकर वे थोड़ासा मक्खन खा लिया करते अथवा छाछ या दुग्धपान कर लेते, तो यशोदा आदि गोपियाँ उनको गाय बाँधनेवाली रस्सीसे बाँध देती थी, (यह दामोदरोपाख्यानके अनुसार कहा गया) और फिर उसके लिए श्रीकृष्णको डाँटती-डपटती जिससे श्रीकृष्ण अत्यन्त रोदन करते। यह कथा (श्रीमद्भागवतमें) प्रसिद्ध है, "हे यशोदे! तुम्हारा यह पुत्र असमयमें ही बछड़ोको खोल देता है और फिर डाँटने-डपटने पर भी हँसता रहता है। कभी चोरी करके दही-दूध आदिको खा लेता है तथा बन्दरोंमें भी बाँट देता है।" इस प्रकार गोपियोंकी उक्तिके अनुसार ही पद्मावतीने 'आक्रोशन्ति' पदका प्रयोग किया है॥४४॥

आक्रोशन्ति च तद्दुःखं कालगत्यैव कृत्स्नशः।
कृष्णेन सोढ़मधुना किं कर्त्तव्यं वतापरम्॥४५॥

श्लोकानुवाद—पुनः वे गोपियाँ ही चिल्ला-चिल्लाकर उसका सर्वत्र प्रचार करती थीं; परन्तु श्रीकृष्णने यह सब दुःख कालकी गति जानकर सहन कर लिया, इसके अलावा वे कर भी क्या सकते थे? तुम्हीं बताओ कि अब उन व्रजवासियोंके लिए वे क्या करें?॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् गोगणपालनादिरूपं दुःखं कालगत्यैवेति बाल्ये तद्दुःखाननुसन्धानात्। यद्वा, कंसवञ्चनाय निगूढ़वासार्थं तदानीं तद्दुःखसहनस्य योग्यत्वादित्यर्थः। वत खेदे; अधुना अपरमन्यत्तेषां किं कर्त्तव्यं कृष्णेन॥४५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण क्या करते? कालकी कुटिल गति जानकर उन्होंने गोपालन आदिके दुःखको भी सहन किया है अथवा अबोध बालक होनेसे ऐसे भीषण दुःखको सहन किया है। अथवा कालकी गति कहनेसे कंसकी वञ्चनाके लिए छिपकर वास करनेके लिए ही

उन्होंने उन दुःखोंको सहन किया था। अतएव अब श्रीकृष्ण उन व्रजवासियोंके लिए क्या करें? अर्थात् श्रीकृष्णने अपने स्वार्थ सिद्धिके लिए वैसे दुःखको सहन किया है तथा व्रजवासियोंका भी यथेष्ट उपकार किया है। अब और अधिक क्या उपकार करें?॥४५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

प्रज्ञागाम्भीर्यसम्पूर्णा रोहिणी व्रजवल्लभा।
तस्या वाक्यमनादृत्य प्रस्तुतं संश‍ृणोति तत्॥४६॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीरोहिणीदेवी बड़ी बुद्धिमती और गम्भीर-स्वभावकी थीं तथा समस्त व्रजवासियोंकी प्रिय थीं। अतः वे पद्मावतीके वचनोंको अनसुनाकर अपनी बातको आगे कहने लगीं॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—रोहिणी चावज्ञया तस्या विमूढ़ाया वाक्यमश‍ृन्वतीव निजवाक्यार्थं समापयतीत्याह—प्रज्ञेति। प्रज्ञया गाम्भीर्येण त्वाभ्यां वा सम्पूर्णा; तस्याः पद्मावत्याः॥४६॥

भावानुवाद—श्रीरोहिणीदेवी उस विमूढ़ा पद्मावतीके वचनोंको अनसुनाकर अपने वक्तव्यका समापन करने लगीं। इसका कारण था कि वे बुद्धिमती और गम्भीर थीं अथवा परम बुद्धिमती होनेके कारण अत्यधिक गम्भीर थीं, विशेषकर सभी व्रजवासियोंमें अनुरक्त होनेके कारण वे विषयका यथार्थरूपमें वर्णन करने लगीं॥४६॥

श्रीरोहिण्युवाच—

राजधानीं यदुनाञ्च प्राप्तः श्रीमथुरामयम्।
हतारिवर्गो विश्रान्तो राजराजेश्वरोऽभवत्॥४७॥

श्लोकानुवाद—श्रीरोहिणीदेवीने कहा—शत्रुओंका विनाश करके श्रीकृष्णने यादवोंकी राजधानी मथुराको प्राप्त किया तथा अब राजराजेश्वरके रूपमें वे विश्राम-सुखका उपभोग कर रहे हैं॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अत्रत्यनिजज्ञातिवर्गस्यावशिष्टमर्थं समाधायाद्य श्वो वा तत्रागमिष्यतीति चेत्तत्राह—राजेति द्वाभ्याम्। अयं श्रीकृष्णः श्रीमतीं मथुरां प्राप्तो भोग्यत्वेन विश्रान्तः विगतयुद्धादिश्रमः। यद्वा, द्वारकायां कृतसुखवास इत्यर्थः॥४७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीकृष्ण यहाँ पर अपने ज्ञाति (आत्मीय–स्वजनों) यादवोंकी कुछ बची हुई इच्छाओंको पूर्ण करके आज या कल पुनः व्रजमें जायेंगे। इसीके लिए श्रीरोहिणीदेवी 'राजधानी' इत्यादि दो श्लोक कह रही हैं। श्रीकृष्णने भोग्या श्रीमथुराको प्राप्तकर राजराजेश्वररूपमें अपने युद्धके श्रमको दूर कर दिया है। अथवा अब द्वारकामें आकर विश्राम–सुखका उपभोग कर रहे हैं॥४७॥

निर्जितोपकृताशेष–देवतावृन्द–वन्दितः ।
अहो स्मरति चित्तेऽपि न तेषां भवदीश्वरः ॥४८॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीमान् उद्धव! तुम्हारे प्रभुने सभी देवताओंको पराजित किया है तथा उनका उपकार भी किया है, इसलिए कृतज्ञ देवता उनके चरणोंकी वन्दना कर रहे हैं। हाय! अब तो वे व्रजवासियोंका स्मरण भी नहीं करते॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—निर्जितं पारिजातहरणादिना, उपकृतञ्च नरकवधादिना यदशेषदेवतावृन्दं तेन वन्दितः सन्नपि। अहो खेदे; तेषामिति स्मृत्यर्थकर्मणि षष्ठी; न स्मरत्यपि अस्तु तावद् गमिष्यतीति॥४८॥

भावानुवाद—तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्णने पारिजात वृक्षके हरणके समय जिनको पराजित किया था, वे सब देवता तथा नरकासुर वध द्वारा जो राजा उपकृत हुए थे, वे सब राजा उनके श्रीचरणोंकी वन्दना करते हैं। उनके व्रजमें जानेकी बात तो दूर रहे, अब तो वे व्रजवासियोंका स्मरण भी क्यों करेंगे? अहो! बड़े दुःखकी बात है। यहाँ 'अहो' शब्द खेदके अर्थमें प्रयोग हुआ है॥४८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तद्वचोऽसहमानाह देवी कृष्णस्य वल्लभा।
सदा कृतनिवासास्य हृदये भीष्मनन्दिनी॥४९॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीरोहिणीदेवीके वचनोंको सहन न कर पानेके कारण श्रीकृष्णके हृदयमें सदैव वास करनेवाली श्रीकृष्णकी प्रिया भीष्मकनन्दिनी श्रीरुक्मिणीदेवी इस प्रकार कहने लगीं॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य कृष्णस्य हृदये वक्षसि कृतनिवासेति तदीयहृदयवार्त्तां तत्त्वतो जानातीति भावः॥४९॥

भावानुवाद—'कृत-निवास' अर्थात् सदैव श्रीकृष्णके हृदयमें (वक्षस्थलमें) वास करनेवाली अर्थात् उनके हृदयकी बातको तत्त्वतः जाननेवाली॥४९॥

श्रीरुक्मिण्युवाच—

भो मातर्नवनीतातिमृदुस्वान्तस्य तस्य हि।
अविज्ञायान्तरं किञ्चित् कथमेवं त्वयोच्यते॥५०॥
(यूयं शृणुत वृत्तानि तर्हि तर्हि श्रुतानि मे।)

श्लोकानुवाद—श्रीरुक्मिणीदेवीने कहा—हे माता! नवनीतसे भी अधिक कोमल हृदयवाले प्रभुके आन्तरिक भावोंके विषयमें किञ्चित् मात्र भी न जानकर आप ऐसी बातें क्यों कह रही हैं?॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—नवनीतादपि अतिमृदु परमकोमलं स्वान्तं हृदयं यस्य तस्य श्रीकृष्णदेवस्य आन्तरं अन्तःस्थितं भावमित्यर्थः। जानासि चेदेवं न कदापि वक्ष्यसीति भावः॥५०॥

भावानुवाद—नवनीतसे भी अधिक मृदुल अथवा अत्यधिक कोमल जिनका हृदय है, उन श्रीकृष्णके आन्तरिक भावोंको न जानकर आप ऐसी बातें क्यों कह रही हैं? यदि आप जानतीं तो ऐसी बातें कभी न कहतीं। (मैंने स्वयं उन प्रभुके मुखारविन्दसे श्रीवृन्दावनके सम्बन्धमें जो-जो वृत्तान्त श्रवण किये हैं, आप भी उन सबको श्रवण कीजिए।)॥५०॥

किमपि किमपि ब्रूते रात्रौ स्वपन्नपि नामभि–
र्मधुर-मधुरं प्रीत्या धेनूरिवाह्वयति क्वचित्।
उत सखिगणान् कांश्चिद्गोपानिवाथ मनोहरां
समभिनयते वंशीवक्त्रां त्रिभङ्गिपराकृतिम्॥५१॥

श्लोकानुवाद—प्रभु रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी व्रजकी न जाने क्या-क्या बातें करते रहते हैं। कभी प्रेमयुक्त मधुर स्वरसे नाम ले-लेकर मानों गौओंको पुकारते हैं, कभी सखाओंको और कभी मानों दूसरे गोपोंको बुलाते हैं। कभी-कभी तो उस निद्रावस्थामें ही मनोहर

ललित त्रिभंग रूप धारणकर मधुर वंशीवादनका अभिनय करते हैं॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृणोति—किमपीति चतुर्भिः। स्वपन्नपि, किमुत जाग्रत्? नामभिः गङ्गायमुनाधवलाकालिन्दीत्यादि धेनुसंज्ञाभिः; मधुरादपि मधुरं यथा स्यात्तथा; इवद्वयमुत्प्रेक्षायाम्। क्वचित् कदाचित्; अस्य परत्राप्यनुषङ्गः। उतेत्युक्तसमुच्चये। प्रीत्या मधुरमधुरं नामभिर्गोपानाह्वयतीव। वंशीवक्त्रमिति वक्त्रेण वंशीधारण मुद्रानुकरणात्। त्रयो भङ्गा श्रीपादहस्तमुखानां तिर्यग्विन्यासविशेषाः; तत् परां तदाश्रितां आकृतिं श्रीमूर्त्तिमभिनयति अनुकरोति, श्रीकृष्ण एव प्रसङ्गबलात् सर्वत्र कर्त्तोह्यः॥५१॥

भावानुवाद—श्रीरुक्मिणी द्वारा श्रीकृष्णके आन्तरिक भावोंका वर्णन 'किमपि' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा किया जा रहा है। हे माता! जाग्रत अवस्थाका तो कहना ही क्या, प्रभु तो रात्रिकालमें स्वप्नमें भी वृन्दावनकी न जाने क्या-क्या बातें करते हैं। कभी प्रीतिपूर्वक मधुरसे भी मधुर स्वर द्वारा गंगा, यमुना, धवला, कालिन्दी इत्यादि नाम ले-लेकर गौओंको पुकारते हैं। इस 'मधुरादपि मधुरं' पदके साथ अगले वाक्योंका भी सम्बन्ध है; किन्तु दो 'इव'कार केवल उत्प्रेक्षा अर्थात् सादृश्यता या अनुमान मात्र है। इसी प्रकार कभी तो प्रीतिपूर्वक मधुरसे भी मधुर स्वरसे सखाओंको और कभी अन्य गोपोंको बुलाते हैं। कभी मनोहर वंशीवदन अर्थात् वंशी धारण मुद्राका अनुकरण करके ललित त्रिभंग आकृतिका अभिनय करते हैं। 'त्रिभंग' अर्थात् श्रीचरण, हस्त और मुखकमल तीनोंको टेढ़ा कर विराजित होना॥५१॥

कदाचिन्मातर्मे वितर नवनीतन्त्विति वदेत्
कदाचिच्छ्रीराधे ललिते इति सम्बोधयति माम्।
कदापीदं चन्द्रावलि किमिति मे कर्षति पटं
कदाप्यस्त्रासारैर्मृदुलयति तूलीं शयनतः॥५२॥

श्लोकानुवाद—उस निद्रावस्थामें ही कभी कहते हैं, 'मैया री! मुझे माखन दो'। कभी मुझे 'हे राधे! हे ललिते!' इत्यादि वचनों द्वारा सम्बोधन करते हैं और कभी 'हे चन्द्रावलि! यह क्या कर रही हो?' ऐसा कहकर मेरे वस्त्रोंको खींच लेते हैं। कभी शयन करते हुए प्रेमाश्रुओंकी धारासे अपने तकियेको भी भिगो देते हैं॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—मामिति—तस्या वस्त्रहरणादिना तां लक्ष्यीकृत्य सम्बोधनात्। इदं मद्वञ्चनादिरूपं त्वदीयचेष्टितं किं कीदृशमित्येवं वदन् मम पटं शाटीं कदाप्याकर्षतीत्यर्थः। मृदुलयति आर्द्रयति; शयनतः; शय्यायां या तूली ताम्; यद्वा, शयनसमय इत्यर्थः॥५२॥

भावानुवाद—कभी 'हे चन्द्रावलि! तुम यह कर क्या रही हो? क्या तुम मुझे वञ्चित कर रही हो?' ऐसा कहकर मुझे चन्द्रावली समझकर मेरे वस्त्रोंको खींचते हैं और कभी सोते समय प्रेमाश्रुओंकी धारासे तकियेको भी भिगो देते हैं॥५२॥

स्वाप्नादुत्थाय सद्योऽथ रोदित्यार्त्तस्वरैस्तथा।
वयं येन निमज्जामो दुःखशोकमहार्णवे॥५३॥

श्लोकानुवाद—और कभी तो निद्रा भंग होनेके उपरान्त सहसा शय्यासे उठकर आर्त्त स्वरसे क्रन्दन करने लगते हैं। हम सभी उनके क्रन्दनकी ध्वनिको सुनकर दुःख और शोकरूपी महासागरमें डूब जाती हैं॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्लोकद्वयेन स्वाप्निकं चरित मुक्त्वेदानीं जागरणिकमाह—स्वप्नादिति द्वाभ्याम्। अथ अनन्तरं स्वप्नादुत्थाय जागरित्वेत्यर्थः। वयमिति—सर्वासामेव महिषीणामपेक्षया; सा च भगवद्भक्तिविशेषेण सापत्न्याभावात्॥५३॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीरुक्मिणीदेवी उक्त दो श्लोकों द्वारा स्वप्नके विषयमें कहकर अब जाग्रत अवस्थामें प्रभुकी चेष्टाओंका वर्णन कर रही हैं। कभी-कभी प्रभु निद्रा भंग होनेके उपरान्त शय्यासे उठकर आर्त्त स्वरसे क्रन्दन करने लगते हैं। 'वयम्' अर्थात् हम सब महिषियाँ उनके क्रन्दनको सुनकर दुःख और शोकरूपी महासागरमें डूब जाती हैं। इस प्रकार श्रीरुक्मिणीदेवीमें अत्यधिक भगवद्भक्ति होनेसे उनमें सापत्न्य अर्थात् सौत भावका अभाव सूचित हो रहा है, इसलिए उनके द्वारा कथित 'वयम्' शब्द द्वारा समस्त महिषियोंको ग्रहण किया गया है॥५३॥

अद्यापि दृष्ट्वा किमपि स्वपन्निशि
क्रन्दन् शुचासौ विमनस्कातुरः।

दत्त्वाम्बरं मूर्द्धनि सुप्तवत् स्थितो
नित्यानि कृत्यान्यपि नाचरद्वत् ॥५४॥

श्लोकानुवाद—आज भी प्रभुने रात्रिकालमें सोते-सोते न जाने कोई एक स्वप्न देखा है। उसके शोकसे बड़े आतुर होकर वे रोते-रोते अधीर हो रहे हैं और अपने उत्तरीय वस्त्रसे मुखकमलको ढककर अभी तक निद्रितकी भाँति शय्या पर शयन कर रहे हैं। हाय! इन्होंने अभी तक स्नान आदि नित्यक्रिया कुछ भी नहीं किया है॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्तु तावद्दूरेऽन्यदातनी वार्त्ता अद्यापीत्यपि शब्दार्थः। निशि स्वपन् सन् किमपि दृष्टवा शुचा क्रन्दन् दिवसे जाग्रदपि शोकेन वदन् सन्नित्यर्थः। असौ श्रीकृष्णः; मूर्द्धनि अम्बरं निजपीतकौशेयवस्त्रं दत्त्वा तेनात्मानमाच्छाद्येत्यर्थः। एतच्च परमशोकार्त्तिलक्षणम्; सुप्तवदिति परममनोदुःखेन निद्राराहित्यात्; स्थितः पर्यङ्के वर्त्तमानः; क्रियापदमिदं वा अतिष्ठदित्यर्थः। कृत्यानि स्नानादीनि वत खेदे॥५४॥

भावानुवाद—अन्य दिनोंकी तो बात ही क्या, अभी आज ही उन्होंने रात्रिकालमें कोई एक स्वप्न देखा है, जिसके शोकसे वे अत्यन्त आतुर होकर रोते-रोते बड़े अधीर हो रहे हैं। अब दिन निकल आने पर जाग्रत होकर भी अपने पीताम्बर द्वारा मुखकमलको ढककर निद्रित व्यक्ति जैसे शय्या पर लेटे हुए हैं। (इसके द्वारा अत्यधिक शोक सूचित हो रहा है।) 'सुप्तवत्' कहनेका अर्थ है अत्यधिक दुःखके कारण निद्रारहित होने पर भी निद्रित व्यक्तिकी भाँति शय्या पर शयन कर रहे हैं। हाय! बड़े दुःखकी बात है! इन्होंने अभी तक स्नान आदि नित्यक्रिया भी नहीं की हैं॥५४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ससपत्नीगणा सेर्ष्यं सत्यभामाह भामिनी।
हे श्रीरुक्मिणि निद्रायामिति किं त्वं प्रजल्पसि ॥५५॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—यह सब सुनकर श्रीसत्यभामादेवी ईर्ष्यासे भरकर अथवा क्षुब्ध होकर अन्य महिषियोंके

साथ कहने लगीं—हे श्रीरुक्मिणी! आप ऐसा प्रलाप क्यों कर रही हैं? क्या केवल निद्रामें ही प्रभु ऐसा करते हैं?॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ईर्ष्या अक्षान्तिः, तया सहितं यथा स्यात् निद्रायां तथा करोतीत्येतत् किं प्रलपसि॥५५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५५॥

किमपि किमपि कुर्वन् जाग्रदप्यात्मचित्ते
शयित इव विधत्ते तादृशं तादृशञ्च।
वयमिह किल भार्या नामतो वस्तुतः स्युः
पशुपयुवतिदास्योऽप्यस्मदस्य प्रियास्ताः॥५६॥

श्लोकानुवाद—वे जाग्रत अवस्थामें भी अपने मनमें कभी-कभी किसी विषयका स्मरण करके निद्रितकी भाँति वैसा आचरण करते हैं। हम तो केवल प्रभुकी नाममात्रकी पत्नियाँ हैं, वास्तवमें उन व्रजरमणियोंकी दासियाँ भी प्रभुको हमसे अधिक प्रिय हैं॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—जाग्रदपि आत्मनश्चित्ते किमपि किमपि कुर्वन् चिन्तयन्नित्यर्थः। शयित इवेति यथा सुप्तः सन् करोति तथैवेत्यर्थः। तादृशं तदुक्तसदृशं धेन्वाह्वानादि करोति, वीप्सा च पौनः पुन्यापेक्ष्या; स्वाप्नजागरणिकयोरत्यन्ता-भेदविवक्षया वा; अतो नाम्नैव वयं भार्याः स्मः। वस्तुतः परमार्थतस्तु ताः श्रीनन्दव्रजवर्त्तिन्यः पशुपयुवतीनां दास्योऽपि अस्मत्तः सकाशादस्य श्रीकृष्णस्य प्रियाः स्युर्भवन्ति॥५६॥

भावानुवाद—प्रभु तो जाग्रत अवस्थामें भी मन-ही-मनमें किसी बातकी चिन्ता करते-करते निद्रितकी भाँति वही सब आचरण करने लग जाते हैं। अर्थात् निद्रित अवस्थामें स्वप्नमें जिस प्रकार नाम ले-लेकर गौओंको पुकारते हैं, जाग्रत अवस्थामें भी पुनः-पुनः वैसा ही करते हैं। यहाँ पर पुनः-पुनः कहनेके लिए ही 'तादृश' शब्दको दो बार कहा गया है या फिर स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओंमें ही अभेदकी दृष्टिसे पुनरुक्ति हुई है। अर्थात् स्वप्न और जागरण दोनों अवस्थाओंमें पुनः-पुनः वैसा ही आचरण करते हैं। हम तो इनकी नाममात्रकी पत्नियाँ हैं, वास्तवमें (पारमार्थिक दृष्टिसे) श्रीनन्दव्रजकी

गोपरमणियोंकी दासियाँ भी प्रभु श्रीकृष्णको हमलोगोंसे कहीं अधिक प्रिय हैं॥५६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अशक्तस्तद्वचः सोढुं गोकुलप्राणबान्धवः।
रोहिणीनन्दनः श्रीमान् बलदेवो रुषाब्रवीत्॥५७॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—महिषियोंकी इन बातोंको सुनकर गोकुल और गोकुलवासियोंके प्राणोंके बन्धु रोहिणीनन्दन श्रीमान् बलदेवजी रोषपूर्वक इस प्रकार कहने लगे॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तासां श्रीरुक्मिण्यादीनां वचः; गोकुलं तद्वासिजना एव प्राणबान्धवाः परमप्रियतमा यस्य सः; रोहिणीनन्दन इति वक्ष्यमाणनिजवचनेन तां हर्षयन्नित्यर्थः। रुषेति च तासां वचसो मिथ्यात्वमननात्, कृष्णस्य कापट्यानुसन्धानाद्वा॥५७॥

भावानुवाद—श्रीरुक्मिणी आदि महिषियोंकी बातोंको सहन न कर पानेके कारण गोकुल और गोकुलवासी जिनके प्राणोंके बन्धु और परमप्रिय हैं, उन्हीं श्रीरोहिणीनन्दनने अपने कहे जानेवाले वचनोंके द्वारा सभीको प्रसन्न किया तथा महिषियोंके द्वारा कही गयी बातोंको झूठ मानकर अथवा श्रीकृष्णकी कपटताको समझकर रोषपूर्वक कहने लगे॥५७॥

श्रीबलदेव उवाच—

वध्वः सहजतत्रत्यदैन्यवार्त्ताकथापरान्।
अस्मान् वञ्चयतो भ्रातुरिदं कपटपाटवम्॥५८॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलदेवजीने कहा—अयि वधुओं! हमलोग व्रजवासियोंके सहज दुःखपूर्ण वृत्तान्तके सम्बन्धमें वार्त्तालाप कर रहे हैं, इसलिए मेरे भ्राता श्रीकृष्णने हमारी वञ्चनाके लिए इस प्रकार स्वप्न-चरित्ररूप कपट-चातुरीका प्रकाश किया है॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे वध्वः भ्रातुः श्रीकृष्णस्य इदं स्वाप्नचरितादिकं कपटपाटवमेव। किं कुर्वतः? अस्मान् वञ्चयतः; अस्मत् प्रतारणार्थमेव तत् सर्वमित्यर्थः। कथम्भूतान्? सहजा अकृत्रिमा या तत्रत्यानां दैन्यस्य वार्त्ता वृत्तान्तस्तस्याः कथा

कथनं तत्परान्। सहजेत्ययं भावः—यद्यपि सा वार्त्ता सत्यैव, तथापि केवलं कपटेनैव रममाणानां क आयास इति निजकापट्यानुमानेन भ्राता मे मन्यते। अतोऽस्मत्सन्तोषार्थमेव तत्तत् कापट्यं विस्तारयति। यद्वा, सहजकथने वाक्पाटवेन वञ्चनं न सम्भवेदिति। व्यवहारचातुर्यास्मान् वञ्चयितुं तथा करोतीति दिक्॥५८॥

भावानुवाद—हे वधुओं! मेरे भ्राता श्रीकृष्णका स्वप्न-चरित्रादि उनकी कपट-चातुरीमात्र है। किसलिए कपट-चातुरी प्रकाश कर रहे हैं? हमारी वञ्चनाके लिए। वे हमें वञ्चित क्यों कर रहे हैं? हमें व्रजवासियोंके सहज दुःखपूर्ण वृत्तान्तके सम्बन्धमें वार्त्तालाप करते हुए देखकर। 'सहज' कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह सब वृत्तान्त सत्य है, तथापि हमलोग केवल झूठमूठ ही इस वार्त्तालापमें संलग्न हैं—भ्राता श्रीकृष्ण अपने कपटतापूर्ण अनुमानके द्वारा ऐसा सोच रहे हैं। अतएव हमें सन्तुष्ट करनेके लिए ही वे स्वप्न-चरितादि रूप कपटताका प्रकाश कर रहे हैं। अथवा 'सहज' कहनेका अर्थ है कि वाक्पटुता द्वारा वञ्चित करना सम्भव नहीं है, इसलिए व्यवहार-चातुरी द्वारा हमें वञ्चित करनेके लिए स्वप्न-चरितादिरूप कपटताका प्रकाश कर रहे हैं॥५८॥

तत्र मासद्वयं स्थित्वा तेषां स्वास्थ्यं चिकीर्षता।
तन्न शक्तं मया कर्त्तुं वाग्भिराचरितैरपि॥५९॥

श्लोकानुवाद—मैं उन व्रजवासियोंको सान्त्वना देनेके लिए दो मास तक व्रजमें जाकर रहा, परन्तु विविध प्रकारके सान्त्वनापूर्ण वचनों तथा वैसे आचरणोंके द्वारा भी उनको संतुष्ट नहीं कर सका॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—तत्रेति चतुर्भिः। तेषां व्रजजनानां स्वास्थ्यं कर्त्तुमिच्छता मया तत्र गोकुले मासद्वयं स्थित्वापि तत्स्वास्थ्यं कर्त्तुं न शक्तम्। कैः? वाग्भिः, युष्मद्विरहव्याकुलः कृष्णो युष्माकं सान्त्वनार्थमादौ त्वरया मामत्र प्राहिणोत्, स्वयं वैरिवर्गं निरस्याद्य श्वो वा समागन्तेत्यादिभिः; आचरितैश्च कर्मभिः। यमुनाजलविहारादिभिः, वृन्दावनान्तः स्थाने स्थाने कृष्णक्रीड़ागृह निर्माणादिभिर्वा॥५९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी व्यवहार-चातुरीरूप कपटताको 'तत्र' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा बता रहे हैं। मैं व्रजवासियोंको सान्त्वना देनेके लिए

दो माह तक व्रजमें रहा, किन्तु उनको स्वस्थ्य (संतुष्ट) नहीं कर सका। मैंने उनसे कहा—'आप लोगोंके विरहमें व्याकुल होकर श्रीकृष्णने मुझे आप लोगोंको सान्त्वना देनेके लिए ही यहाँ भेजा है और वे भी शीघ्र ही आनेवाले हैं अर्थात् शत्रुओंका विनाश करके आज या कलमें आने ही वाले हैं, ऐसा समझिये।' इस प्रकार अनेक सान्त्वनापूर्ण वचनों तथा आचरण अर्थात् यमुनाजलमें विहार और स्थान-स्थान पर श्रीकृष्णकी क्रीड़ाके लिए गृह आदिके निर्माण द्वारा भी मैं उनको सान्त्वना नहीं दे पाया हूँ॥५९॥

अनन्यसाध्यं तद्वीक्ष्य विविधैः शपथैः शतैः।
तान् यत्नादीषदाश्वास्य त्वरयात्रागतं बलात्॥६०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि मैंने भलीभाँति यह अनुभव किया कि श्रीकृष्णके अलावा उनको सन्तुष्ट करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, तथापि मैं अनेकों प्रकारकी सैकड़ों शपथ खाकर यत्नपूर्वक उनको कुछ आश्वासन प्रदानकर उनकी सहमति न होने पर भी बड़ी कठिनाईसे शीघ्र ही द्वारकामें लौट आया हूँ॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् स्वास्थ्यं अन्येन कृष्णव्यतिरिक्तेन साधयितुमशक्यं वीक्ष्य पर्यालोच्य शपथैर्दिव्यैः अवश्यमेव कृष्णोऽत्रायास्यति; अयमहं तत्र गत्वा तमादायागन्तास्मीत्यादि-वचनप्रतीतये। तान् व्रजजनान्, अत्र द्वारकायाम्, बलादिति तेषामसम्मत्यैवेत्यर्थः॥६०॥

भावानुवाद—मैंने व्रजमें जाकर अनुभव किया कि श्रीकृष्णके अलावा कोई भी व्रजवासियोंको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं है, इसलिए मैंने सैकड़ों वाक्यों अर्थात् 'श्रीकृष्ण अवश्य आएँगे' तथा 'मैं द्वारका जाकर शीघ्र ही उन्हें लेकर आता हूँ'—इन वचनों द्वारा यत्नपूर्वक उन्हें कुछ आश्वासन प्रदान किया तथा उनकी सम्मति न होने पर भी बड़ी कठिनाईसे शीघ्र ही द्वारकामें लौट आया॥६०॥

कातर्याद्गदितं कृष्ण सकृद्गोष्ठं कयापि तत्।
गत्वा प्रसङ्गसङ्गत्या रक्ष तत्रत्यजीवनम्॥६१॥

श्लोकानुवाद—मैंने यहाँ आकर दुःखसे व्याकुल होकर इनसे कहा, हे भैया कृष्ण! तुम एकबार किसी प्रकार व्रजमें जाकर उन व्रजवासियोंके प्राणोंकी रक्षा करो॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तन्निजबाल्यक्रीड़ास्पदं परमदुःखार्णवनिमग्नमिति वा। कयापि प्रसङ्गस्य प्रस्तावस्य सम्बन्धस्य वा सङ्गत्या योगेनापि गत्वा तत्रत्यानां श्रीनन्दादीनां जीवनं रक्षेति मया गदितम्; तच्च कातर्यादेवेति पूर्वोक्तदुःखादितिवत्॥६१॥

भावानुवाद—हे कृष्ण! तुम अपने बाल्यक्रीड़ाके स्थलमें अत्यधिक दुःखके सागरमें निमग्न श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंके जीवनकी रक्षाके लिए एकबार किसी भी बहानेसे व्रजमें जाओ, इस प्रकार मैंने दुःखसे व्यथित होकर उनसे कहा था। इससे पहलेकी उक्तिमें भी दुःख ही सूचित हुआ॥६१॥

गन्तास्मीति मुखे ब्रूते हृदयञ्च न तादृशम्।
मानसस्य च भावस्य भवेत् साक्षि प्रयोजनम्॥६२॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीकृष्ण अपने मुखसे तो कहते हैं, 'मैं जाऊँगा', परन्तु उनके हृदयका अभिप्राय वैसा नहीं है, क्योंकि कार्यके द्वारा ही हृदयके भाव अभिव्यक्त होते हैं॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तादृशं वचनसदृशं तद्धृदयं न भवति हि। हि यस्मात् प्रयोजनं व्यवहार एव मानसस्य भावस्याभिप्रायस्य साक्षि बोधकं भवति। अतस्तत्र गमनाभावेन वचनादन्यादृशमेव हृदयमित्यर्थः। अतो *'वचस्यन्यन्मनस्यन्यत्'* इति कपटपाटवमेव सिध्यतीति भावः॥६२॥

भावानुवाद—परन्तु श्रीकृष्णका हृदय उनके वचनोंके अनुरूप नहीं है, क्योंकि उनका व्यवहार ही उनके मन और आन्तरिक अभिप्रायका साक्षी है। अतएव व्रजमें न जानेके कारण उनके वचन और हृदयके भाव विपरीत दिखाई देते हैं। अर्थात् मुखसे तो कहते हैं, 'मैं जाऊँगा', किन्तु व्यवहार विपरीत करते हैं। अतएव इसके द्वारा उनकी कपटता ही प्रकाशित होती है॥६२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इदमाकर्ण्य भगवानुत्थाय शय्यनाद्द्रुतम्।
प्रियप्रेमपराधीनो रुदन्नुच्चैर्बहिर्गतः ॥६३ ॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण शय्यासे शीघ्रतापूर्वक उठकर अपने प्रेमियोंके प्रेमके पराधीन होकर उच्च स्वरसे रोते हुए अपने घरसे बाहर निकल आये॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदं श्रीबलदेवोक्तम्, बहिः प्रकोष्ठाद्गतः सन् उच्चैररुदत्। ननु भगवत एवं कथं सम्भवेत्? तत्राह—प्रियेतिः तदेव भगवत्त्वमिति भावः॥६३॥

भावानुवाद—श्रीबलदेवजीकी बातोंको सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण उच्च स्वरसे रोते हुए बाहरी प्रकोष्ठमें आ गये। यदि आपत्ति हो कि वे भगवान् हैं, अतः उनका इस प्रकार रोना कैसे सम्भव है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि अपने प्रेमियोंके प्रेमके पराधीन होनेके कारण वे इस प्रकार रोने लगे। अपने प्रियजनोंके प्रेमके पराधीन होना ही भगवान्की भगवत्ताका लक्षण है॥६३॥

प्रफुल्लपद्मनेत्राभ्यां वर्षन्नश्रूणि धारया।
सगद्गदं जगादेदं परानुग्रहकातरः ॥६४ ॥

श्लोकानुवाद—जो सदैव कृपा करनेके लिए व्याकुल रहते हैं, वे श्रीकृष्ण अपने कमलके समान खिले हुए नेत्रोंसे निरन्तर प्रेमाश्रुकी धारा बहाते हुए गद्गद स्वरसे इस प्रकार कहने लगे॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—परमानुग्रहः परमकारुण्यं, तेन कातरो विवशः; यद्वा, परेषु द्वेष्टृष्वपि अनुग्रहेण कातरः; एवं तस्य प्रियजनार्थं तथाविधत्वमुचितमेवेति भावः॥६४॥

भावानुवाद—वे अत्यधिक कृपा करनेके लिए कातर रहते हैं अर्थात् अत्यधिक करुणा करनेके लिए विवश हैं। अथवा विद्वेषियोंके प्रति भी अनुग्रहवशतः कातर अर्थात् दुःखसे व्याकुल हैं, अतएव ऐसे भगवान् श्रीकृष्णका अपने प्रियजनोंके लिए उच्च स्वरसे रोना उचित ही है॥६४॥

श्रीभगवानुवाच—

सत्यमेव महावज्रसारेण घटितं मम।
इदं हृदयमद्यापि द्विधा यन्न विदीर्यति॥६५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—सचमुच ही मेरा यह हृदय महा-वज्रसारके द्वारा गठित है, क्योंकि यह हृदय अभी तक भी दो भागोंमें विदीर्ण नहीं हो रहा है॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—न विदीर्यति स्वयमेव विदारं न लभते॥६५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६५॥

बाल्यादारभ्य तैर्यत्तत् पालनं विहितं चिरम्।
अप्यसाधारणं प्रेम सर्वं तद्विस्मृतं मया॥६६॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजवासियोंने बाल्यकालसे लेकर दीर्घकाल तक जिस प्रकार मेरा लालन-पालन किया है, उनके उस असाधारण प्रेमको मैंने भुला दिया है॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—विदारहेतुमाह—बाल्यादिति द्वाभ्याम्। तैर्व्रजजनैः; तदनिर्वचनीयं सुप्रसिद्धं वा, प्रेमापि विस्मृतम्॥६६॥

भावानुवाद—'मेरा हृदय दो भागोंमें विदीर्ण नहीं हो रहा है'—अपनी इस उक्तिका कारण 'बाल्यादिति' दो श्लोकोंमें बता रहा है। उन व्रजवासियोंके अनिर्वचनीय अर्थात् सुप्रसिद्ध प्रेमको मैंने भुला दिया है॥६६॥

अस्तु तावद्धितं तेषां कार्यं किञ्चित् कथञ्चन।
उतात्यन्तं कृतं दुःखं क्रूरेण मृदुलात्मनाम्॥६७॥

श्लोकानुवाद—उनका किञ्चित् मात्र भी हित करना तो दूर रहे, बल्कि निष्ठुर होकर मैंने उन कोमल स्वभाववाले व्रजवासियोंको अत्यन्त दुःख ही दिया है॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथञ्चन् केनापि प्रकारेण ईषत्प्रत्युपकारादिना किञ्चिद्धितं मया कर्त्तव्यमिति तावदस्तु, उत प्रत्युत मृदुलात्मनां कोमलस्वभावानां तेषां दुःखमेवात्यन्तं कृतं मया; यतः क्रूरेण॥६७॥

भावानुवाद—उन व्रजवासियोंके उपकारके बदलेमें किसी प्रकारसे उनका किञ्चित् मात्र हित करना तो दूर रहे, बल्कि मैंने निष्ठुर होकर उन कोमल स्वभाववाले व्रजवासियोंके मनको अत्यन्त दुःख पहुँचाया है। अतएव मुझ जैसा क्रूर और कौन हो सकता है? ॥६७॥

भ्रातरुद्धव सर्वज्ञ प्रेष्ठश्रेष्ठ वद द्रुतम्।
करवाणि किमित्यस्माच्छोकाब्धेर्मां समुद्धर॥६८॥

श्लोकानुवाद—हे भ्राता उद्धव! तुम सर्वज्ञ हो तथा मेरे भी अत्यन्त प्रिय हो। जल्दीसे कहो, अब मैं क्या करूँ? इस शोकसागरसे मेरा उद्धार करो॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं शोकवेगोदयात् कर्त्तव्यमजानन्निबोद्धवं पृच्छति—भ्रातरिति हे प्रेष्ठेषु श्रेष्ठ! किं करवाणि इत्येतद्वद। अस्मात् व्रजनिमित्तात्॥६८॥

भावानुवाद—इस प्रकार शोकका वेग उदित होनेके कारण भगवान् अपने कर्त्तव्यको न जाननेवाले व्यक्तिकी भाँति श्रीउद्धवसे जिज्ञासा कर रहे हैं। 'हे भ्राता उद्धव! तुम मेरे प्रिय भक्तोंमें भी श्रेष्ठ हो। जल्दीसे कहो, अब मैं क्या करूँ? इस शोकसागरसे मेरा उद्धार करो'॥६८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

नन्दपत्नी-प्रियसखी देवकी पुत्रवत्सला।
आहेदं दीयतां यद्यदिष्यते तैः सुहृत्तमैः॥६९॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—इसके पश्चात् श्रीनन्द महाराजकी पत्नी श्रीयशोदाजीकी प्रियसखी पुत्रवत्सला श्रीदेवकीजीने कहा, 'वे सुहृत व्रजवासी जो-जो अभिलाषा करें, तुम उनकी उन सभी अभिलाषाओंको पूर्ण करो और वे जो कुछ भी चाहें, उन्हें प्रदान करो'॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च गोकुले पुनर्भगवतो गमनापादकमुद्धवस्योत्तरमाशंक्य पुत्रविच्छेदशङ्कया तदुत्तरात् प्रागेव तन्मातावदित्याह—नन्देति; नन्दपत्न्याः श्रीयशोदायाः प्रियसख्यपि इदं दीयतामित्यादिकमाह—यतः पुत्रवत्सलाः; सुहृत्तमैः परमोपकारिभिस्तैर्-व्रजजनैर्यदयदिष्यते तत्तदेव त्वया तेभ्यो दीयताम्॥६९॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव श्रीकृष्णको कहीं फिरसे गोकुल जानेके लिए न कह दें, इस प्रकार अपने पुत्रके बिछुड़नेकी आशंकासे श्रीउद्धवके उत्तर देनेसे पहले ही माता देवकीने जो कुछ कहा उसे 'नन्दपत्नी' इत्यादि श्लोकके माध्यमसे कह रहे हैं। अर्थात् श्रीदेवकी श्रीनन्दपत्नी यशोदाजीकी प्रियसखी होने पर भी पुत्रवात्सल्यके कारण कहने लगीं, 'हे कृष्ण! परम उपकारक व्रजवासीजन जो कुछ भी चाहें, उन्हें सब कुछ प्रदान करो अर्थात् तुम उन सबकी इच्छाओंको पूर्ण करो।' (परन्तु व्रजमें मत जाओ—यह माता देवकीके हृदयका भाव है।) ॥६९॥

ततः पद्मावती राज्यदानभीता विमूढ़धीः।
महिषी यदुराज्यस्य वृद्धा मातामही प्रभोः ॥७०॥
अप्युक्ताश्रवणात् पूर्वं राममात्रावहेलिता।
स्वभर्त्तू रक्षितुं राज्यं चातुर्यात् परिहासवत् ॥७१॥
व्याहारपरिपाट्यान्यचित्ततापादनेन तम्।
यदुवंश्यैकशरणं विधातुं स्वस्थमब्रवीत् ॥७२॥

श्लोकानुवाद—यह सुनकर श्रीउग्रसेनकी महिषी, श्रीकृष्णकी मातामही, मूढ़मति वृद्धा पद्मावती, जो पहले श्रीबलरामकी माता श्रीरोहिणीदेवीके द्वारा उपेक्षित होने पर भी, इस भयसे कि कहीं श्रीकृष्ण व्रजवासियोंको सारा राज्य न दे दें, अपने पति श्रीउग्रसेनके राज्यकी रक्षाके लिए और यह समझकर कि ऐसा करनेसे यदुवंशियोंके एकमात्र आश्रय श्रीकृष्णका चित्त दूसरी ओर लगकर स्वस्थ हो जायेगा, परिहास करती हुई चतुरतापूर्वक इस प्रकार कहने लगी ॥७०-७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तदनन्तरम्ः यद्वा, तेन देवकीवाक्येन राज्यदानाद्भीता पद्मावती वृद्धा परिहासवदब्रवीदिति त्रिभिरन्वयः। यदुराजस्य उग्रसेनस्य महिषी; अतएव प्रभोः श्रीकृष्णस्य मातामही। 'अहो! वताच्युतस्तेषाम' इत्यादिकं तया यदुक्तं तस्याः श्रवणाद्धेतोः पूर्वं राममात्रा रोहिण्या अवहेलिता अवज्ञातापि। तथाप्युक्तौ हेतुः—स्वेति सार्धेन। स्वभर्त्तुरुग्रसेनस्य राज्यं रक्षितुं चातुर्यात् दुर्बुद्धित्वेन परिहासादौ कौशलात्। यद्वा, परिहासवद् यदब्रवीत् तत्तु चातुर्यादेवेत्यर्थः। ननु महाशोक समयेऽस्मिन् तथोक्तिर्न युज्यते, तत्राह—व्याहारस्योक्तेः। परिपाट्या भङ्गीविशेषेण कृत्वा यत् शोकादन्यस्मिन् परिहासादौ चित्तं यस्य तस्य भावः। अन्यचित्तता

तस्यापादनं विधानं तेन कृत्वा; तत्प्रभुं स्वस्थं प्रकृतिस्थितं कर्त्तुम्। कुतः? यदुवंश्यानामुग्रसेनादीनामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयः। तस्यास्वास्थ्येन सर्वे यादवा नश्येयुरित्यर्थ॥७०–७२॥

भावानुवाद—श्रीदेवकीकी बातोंमें आकर श्रीकृष्ण कहीं व्रजवासियोंको राज्य-दान न कर दें, इस भयसे भयभीत होकर वृद्धा पद्मावती परिहास करती हुई तीन श्लोकोंमें कहने लगी। यह पद्मावती यदुराज श्रीउग्रसेनकी महिषी (रानी) है, अतएव श्रीकृष्णकी नानी है। 'अहो! बड़े दुःखकी बात है! कृष्णने बचपनसे ही उन निर्दयी गोपोंकी गौओंको चराया है।' इत्यादि अपनी इन बातोंको सुनकर भी अनसुना करनेवाली श्रीबलदेवजीकी माता श्रीरोहिणीदेवी द्वारा उपेक्षित (अवहेलित) होने पर भी पद्मावती अपने पति श्रीउग्रसेनके राज्यकी रक्षाके लिए दुर्बुद्धिवशतः चतुरता सहित परिहास करती हुई कहने लगी। अथवा परिहास जैसा लगनेवाला जो कुछ कहा, वही उसकी चतुरता है। यदि कहो कि ऐसे शोकके समयमें इस प्रकार परिहास करना उचित नहीं है। इसीके लिए कह रहे हैं कि वचनोंकी परिपाटी और भंगिमा द्वारा परिहास करके श्रीकृष्णके चित्तको दूसरी ओर लगाकर उन्हें स्वस्थ्य करनेके अभिप्रायसे ऐसा कह रही है। क्यों? क्योंकि श्रीकृष्ण यदुवंशियोंके एकमात्र आश्रय हैं, अर्थात् श्रीउग्रसेन आदि यादवोंके एकमात्र आश्रय होनेके कारण श्रीकृष्णके अस्वस्थ रहनेसे सभी यादवोंका भी नाश हो जायेगा॥७०–७२॥

श्रीपद्मावत्युवाच—

त्वयानुतप्यते कृष्ण कथं मन्मन्त्रितं शृणु।
यदेकादशभिर्वर्षैर्नन्दगोपस्य मन्दिरे॥७३॥
द्वाभ्यां युवाभ्यां भ्रातृभ्यामुपभुक्तं हि वर्त्तते।
तत्र दद्यान्न दद्याद्वा गोरक्षाजीवनं स ते॥७४॥
सर्वं तद्गर्गहस्तेन गणयित्वा कणाणुशः।
द्विगुणीकृत्य मद्भर्त्रा तस्मै देयं शपे स्वयम्॥७५॥

श्लोकानुवाद—पद्मावतीने कहा—हे कृष्ण! तुम अनुताप क्यों कर रहे हो? मेरी मन्त्रणा सुनो। तुम दोनों भाइयोंने ग्यारह वर्ष तक व्रजमें

नन्दगोपके घर पर रहकर जो कुछ खाया–पीया, पहना है अथवा जो कुछ उपभोग किया है, उसमें से वे गोचारण और गोरक्षणके लिए तुम्हें प्राप्त होनेवाला (वेतन स्वरूप) कुछ दें अथवा न दें, (उसके लिए मेरा आग्रह नहीं है) किन्तु यदुराज तुम्हारे पालन आदि कार्यों द्वारा उनको जो कुछ प्राप्त होना चाहिए श्रीगर्गाचार्यके द्वारा पाई–पाई तक हिसाब करवाकर उसका दुगुना कर गोपराजको प्रदान कर देंगे—मैं यह शपथ खाकर कह रही हूँ॥७३–७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथमनुतप्यते? एकादशभिर्वर्षैर्नन्दगोपस्य मन्दिरे युवाभ्यां यदुपभुक्तमस्ति तत् सर्वं मदभर्त्ता उग्रसेनेन द्विगुणीकृत्य तस्मै नन्दगोपाय देयमिति सार्द्धद्वाभ्यामन्वयः। तत्रोपभुक्तमध्ये गवां रक्षायां यज्जीवनं जीविका तत् स नन्दस्ते तुभ्यं ददातु न ददातु वा। तद्व्यतिरिक्तं नन्दो न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि तत्र मया त्वया च नाग्रहः कर्त्तव्य इत्यर्थः। कणशोऽणुशश्चेति निजभर्त्तुरौदार्यविख्यापनम्। तथा गर्गहस्तेनेति ज्योतिर्वित्तमस्य तस्य गणनभ्रान्त्यभावादखिलमेव नन्दः प्राप्स्यतीति भावः। वस्तुतस्तद्धस्तगणनयोपभुक्ताधिकदानं न भावीति गूढोऽभिप्रायः। गोपस्येति गोरसातिरिक्तं बहुमूल्यं तस्यान्यद्भोग्यद्रव्यं नास्तीति भावः। द्वाभ्यां भातृभ्यामिति स्ववचनानादरादिना रोहिण्यां क्रोधेन तया निजदास्यादिपरिजनसहितया यदुपभुक्तमस्ति तन्न दातव्यमित्यर्थः। एकादशभिरिति *'एकादश समास्तत्र गूढ़ार्चिः सबलोऽवसत्'* (श्रीमद्भा॰ ३/२/२६) इति तृतीयस्कन्धोक्तेः न च मन्तव्यमिदं गूढ़ार्चिः प्रच्छन्नप्रभावः सन्नेकादश ततःपरञ्च प्रकटः सन् चिरमवसदिति। गोकुलमागतेनाक्रूरेण तत्र कैशोरस्यैव दृष्टत्वात्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/३८/२९) *'किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ'* इति। तथा रङ्गभूमौ मल्लयुद्धे पुरस्त्रीभिरपि किशोरत्वेनैव वर्णितत्वाच्च। तथा च तत्रैव (श्रीमद्भा॰ १०/४४/८) *'क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ'* इति, कैशोरे ऽप्येकादशैव वर्षाणि ज्ञेयानि। एकादशे वर्षे क्षत्रियस्य उपनयनविधानेन कंसवधानन्तरमेव तत्कालं यज्ञोपवीतग्रहणात्। यच्चोक्तं श्रीभगवता रङ्गभूमौ श्रीवसुदेव–देवक्यौ प्रति तत्रैव (श्रीमद्भा॰ १०/४५/३) *'नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि। बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित्॥'* इति। अस्यार्थः—आवाभ्यां सकाशात् बाल्यपौगण्डकैशोरावस्थानुभवसुखानि युवयोर्नाभवन्निति। तत्र च कैशोरलीलानुभव सुखं नाभवदिति तदानीं तत्र परमऐश्वर्याविष्कारेण तादृशकैशोर–लीलामाधुरीणां सम्यक् प्रकटनासम्भवात् प्रायस्तदनुभवसुखाभावापत्तेः। यच्च तत्रापि तारुण्यवदाचरिताकारादि श्रूयते तेन च बाल्यतुल्यकैशोरेऽपि प्रौढ़भावेन सौन्दर्यविशेष एव सम्पद्यते, न च वयोऽधिकत्वम्, वयसः कैशोरत्वाङ्गीकारात्। अथवा कैशोरान्त्यसीमगे पञ्चदशे वर्ष एव भगवान्

गोकुलान् मधुपुरीमागत इति ज्ञेयम्। श्रीबिल्वमङ्गलादिभिः व्रजे यौवनोद्भेदवर्णनात्ः तथा तत्र प्रौढ़लीलादि-श्रवणाच्च। तत्र यद्यपि बाल्येऽपि बलोद्रेकादि प्रकाशनात् प्रौढ़भावो नासम्भावितो भवेत्, तथापि प्रौढ़ाकाररसविशेषोदयादिना परममनोहर त्वापेक्षया पञ्चदशवर्षीयत्वमेव परमादृतं स्यात्। तच्च सहजपरमसौकुमार्यादिना कैशोरप्रवेशतुल्यमेवेति न किञ्चिदनिष्टशंका स्यात्। एवं पञ्चदश वर्षाणि व्रजेऽवसदिति स्यात्। ततश्चाद्यं बाल्यवर्षचतुष्टयं यावन्मातृस्तन्यपानाद्यभिप्रायेण तत्त्यागादेकादशभिर्वर्षैरित्य-उक्तमित्यूह्यम्॥७३-७५॥

भावानुवाद—श्रीपद्मावतीने कहा—हे कृष्ण! तुम अनुताप क्यों कर रहे हो? तुम दोनों भाइयोंने ग्यारह वर्ष तक श्रीनन्दगोपके घर पर रहकर जो कुछ उपभोग किया है—खाया-पीया और पहना है, मेरे पति श्रीउग्रसेन उसका दुगुना गोपराज श्रीनन्दको दे देंगे। परन्तु तुमने उनके घरमें रहकर जो उपभोग किया है, उसमें से गोपराज तुम दोनों भाइयोंके गोचारण और गोरक्षणके लिए वेतन-स्वरूप कुछ दें या न दें, तथा यदि उसके अतिरिक्त नन्द कुछ अधिक न माँगें, तो हमारा उस विषयमें आग्रह प्रकाश करना कर्त्तव्य नहीं है। यदुराज श्रीउग्रसेन स्वयं ही गर्गाचार्यके द्वारा हिसाब लगवाकर खर्चेकी पाई-पाई उनको दे देंगे। इसके द्वारा पद्मावतीने अपने पतिकी उदारताका परिचय दिया है। गर्गाचार्य ज्योतिर्विदोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः उनके द्वारा किया गया हिसाब बिलकुल ठीक होगा, पाई-पाई भी इधर-उधर नहीं होगी। अतएव गोपराज नन्द सब कुछ पायेंगे।

वास्तवमें पद्मावतीका गूढ़ अभिप्राय यह है कि गर्गाचार्यके द्वारा ठीक-ठीक हिसाब लगवानेसे श्रीनन्दमहाराजको कुछ अधिक प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है। 'गोपराज' कहनेका उद्देश्य यह है कि उनके घरमें गोदुग्धको छोड़कर कुछ भी बहुमूल्य वस्तु नहीं है, अतएव अधिक क्या पा सकते हैं? 'दोनों भाइयोंने जो उपभोग किया है' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीरोहिणीदेवीने श्रीनन्दके घरमें वास करके अपनी दासियों सहित जो कुछ उपभोग किया है, उसके लिए कुछ भी देना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। इससे पहले श्रीरोहिणीने पद्मावतीकी बातोंका अनादर किया था, इसलिए पद्मावतीने क्रोधपूर्वक श्रीरोहिणीके उपभोगके बदलेमें कुछ भी न देना ही स्थिर किया। 'ग्यारह वर्ष तक

श्रीनन्दके घरमें वास किया है' ऐसी उक्ति श्रीमद्भागवतमें भी देखी जाती है। यथा, "श्रीकृष्ण अपने भाई श्रीबलदेवके साथ ग्यारह वर्ष तक गूढ़रूपमें श्रीनन्दके भवनमें रहे थे।" उद्धृत श्लोकके 'गूढ़ार्चि' पदसे प्रच्छन्नभावसे (गुप्तरूपमें) ग्यारह वर्ष वास किया था, किन्तु इसके बाद प्रकाश्यरूपसे दीर्घकाल तक वास किया था—ऐसा मन्तव्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब अक्रूर श्रीकृष्ण-बलरामको ले जानेके लिए गोकुल आये थे, तब उन्होंने श्रीकृष्ण-बलरामका किशोर-स्वरूपमें दर्शन किया था। इसका वर्णन दशम-स्कन्धमें आता है—"श्रीकृष्ण-बलराम किशोर आयुके हैं, उनका वर्ण क्रमशः श्यामल और श्वेत है, वे सौन्दर्यके मूर्त्तिमान विग्रह हैं, उनकी दोनों भुजाएँ सुदीर्घ अर्थात् आजानुलम्बित हैं।" रंगभूमिमें मल्ल-युद्धके समय भी मथुरापुरीकी स्त्रियोंने उनके किशोर-स्वरूपका ही दर्शन किया था, इसका भी श्रीमद्भागवतमें वर्णन है—"इन दोनों बालकोंका अत्यन्त सुकुमार कैशोर कलेवर है, अभी भी इन्होंने यौवनावस्थामें प्रवेश नहीं किया है।" 'कैशोर' कहनेसे ग्यारह वर्षका ही बोध होता है। विशेषकर ग्यारह वर्षकी आयुमें ही क्षत्रियोंका उपनयन-संस्कार होता है, इसलिए श्रीकृष्ण-बलरामने कंस-वधके पश्चात् यज्ञोपवीत धारण किया था। तथा श्रीकृष्ण-बलरामने रंगभूमिमें श्रीवसुदेव और देवकीसे कहा था, "हम आपके पुत्र हैं, यद्यपि आप हमारे लिए अत्यन्त उत्कंठित थे, तथापि आप हमारी बाल्य, पौगण्ड और कैशोर आयुकी लीलाओंका अनुभव करके सुखी नहीं हो पाये।" तात्पर्य यह है कि हम दोनों आपके पुत्र हैं, तथापि आप हमारे बाल्यकाल, पौगण्ड और कैशोर अवस्थाकी लीलाओंका दर्शन करके सुख अनुभव नहीं कर सके। श्रीवसुदेव-देवकी उनकी कैशोर-लीलाके अनुभवसे भी सुख प्राप्त नहीं कर पाये, क्योंकि मथुरा रंगभुमिमें श्रीकृष्ण-बलरामका परम ऐश्वर्य प्रकटित हुआ था, अतएव उस समय वैसी कैशोरलीलाकी माधुरीका सम्पूर्णरूपमें प्रकटित होना असम्भव था। इसलिए कह रहे हैं, 'कैशोरलीलाके अनुभवसे सुख प्राप्त नहीं कर पाये।' यद्यपि उस अवस्थामें भी तारुण्य अवस्था जैसे आचरणकी बात सुनी जाती है, तथापि बाल-तुल्य कैशोर अवस्थामें ही वैसे प्रौढ़भावका सौन्दर्य

दिखाई देता है, अतएव रंगभूमिमें उपस्थितिके समय उनकी आयुका आधिक्य नहीं कहा जा सकता। विशेषकर श्रीकृष्णने नित्य कैशोर स्वरूपको ही अङ्गीकार किया है, इसलिए उनको नित्य कैशोर अवस्थामें ही अवस्थित समझना चाहिए। अथवा कैशोर अवस्थाके अन्तिम वर्ष अर्थात् पन्द्रह वर्षकी आयुमें भगवान् गोकुलसे मधुपुरीमें आये थे, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेसे भी समाधान हो सकता है, क्योंकि पन्द्रह वर्ष तक कैशोर अवस्थाकी अन्तिम सीमा है।

श्रीबिल्वमंगल आदि महाजन भी व्रजमें ही श्रीकृष्णके यौवन-उद्गमकी बात स्वीकार करते हैं और व्रजमें ही उनकी कैशोर अवस्थाकी प्रौढ़भाव लीला आदिको भी सुना जाता है। यद्यपि बाल्य अवस्थामें भी शारीरिक-बल आदिके प्रकाश होनेके कारण प्रौढ़भाव असम्भव नहीं है, तथापि प्रौढ़ अवस्थामें शृंगार आदि रसोंके उदय होनेसे परम मनोहरताकी आशासे पन्द्रह वर्षीय स्वरूपका ही परम आदर होता है। विशेषतः सहज-परम सौकुमार्य अवस्था कैशोर अवस्थाके प्रवेशके समान ही दिखाई देती है। अतएव पन्द्रह वर्ष सिद्धान्त करने पर भी किसी प्रकारके अनिष्टकी शंका नहीं देखी जाती है। इस प्रकार श्रीकृष्ण-बलरामने पन्द्रह वर्ष तक व्रजमें वास किया था, यह भी स्थिर हुआ। उसमें से प्रथम चार वर्ष तक माताके स्तनोंका पान किया था और अन्तिम ग्यारह वर्ष तक श्रीनन्दमहाराज द्वारा दिये गये गोदुग्ध आदिका उपभोग किया था। इसी अभिप्रायसे ही ग्यारह वर्ष तक गोपराज श्रीनन्दके घरमें गोदुग्ध आदि उपभोगके विषयमें पद्मावतीने कहा है॥७३-७५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तच्च श्रीभगवान् कृत्वा श्रुतमप्यश्रुतं यथा।
अजानन्निव पप्रच्छ शोकवेगादथोद्धवम्॥७६॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण इस बातको सुनकर भी अनुसनाकर शोकसे व्यथित होकर अनजानकी

भाँति श्रीउद्धवसे पूछने लगे, 'व्रजवासियोंके प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है?' ॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् पद्मावत्युक्तम्। यद्यपि सर्वावधानतया श्रुतमेव तथाप्यश्रुतं यथा तथा कृत्वा अनाकर्ण्येत्यर्थः, कथञ्चिदप्यननुमोदनात्। निजकृत्यं व्रजजनानामभीष्टं च जानन्नपि शोकवेगादजानन्निव। अथ शोकवेगानन्तरमुद्धवं प्रपच्छ॥७६॥

भावानुवाद—यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णने पद्मावतीकी बातको मनोयोगके साथ श्रवण किया, तथापि उसे अनसुना कर दिया, अर्थात् नानीकी बातोंका बिल्कुल भी अनुमोदन नहीं किया। अतएव व्रजवासियोंके प्रति उनका क्या कर्त्तव्य है अथवा व्रजवासियोंको क्या अभीष्ट है, इस विषयमें वे मानो सम्पूर्णरूपसे अनजान हैं, इस प्रकार भाव प्रकाश कर शोकातुर होकर श्रीउद्धवसे पूछने लगे॥७६॥

श्रीभगवानुवाच—

भो विद्वद्वर तत्रत्याखिलाभिप्रायविद् भवान्।
तेषामभीष्टं किं तन्मे कथयत्वविलम्बितम्॥७७॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्रीउद्धव! तुम व्रजवासियोंके समस्त अभिप्रायोंको जानते हो। उन लोगोंके अभीष्ट क्या-क्या है, शीघ्र ही मुझे बतलाओ॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रत्यानां व्रजवासिनामखिलमभिप्रायं मनोभावं वेत्तीति तथा सः, सम्बोधनं वा, अभित इष्टं वाञ्छितं किं कतरत् तद्भवान् कथयतु। एष च प्रश्नः श्रीदेवक्युक्तव्रजेष्टदानाभिप्रायेणेति ज्ञेयम्। तत्र यद्यपि न केनापि दानादिना तत्रत्येच्छापूर्त्तिः स्यात्, केवलं निजविजयेनैव सिध्यतीति स्वयं जानात्येव, तथापि मन्त्रिप्रवरस्यास्य युक्तिवचनमादाय तत्र गच्छन् सन्नहं केनाप्यत्रत्येन कथञ्चिदपि वारयितुं न शक्य इत्यभिप्रायेणैव तं प्रति प्रश्नः; पूर्वञ्च केवलं शोकवेगेनैव॥७७॥

भावानुवाद—हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्रीउद्धव! इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि तुम व्रजवासियोंकी समस्त अभिलाषाओंको जानते हो। अतएव उनका क्या अभीष्ट है, शीघ्र मुझे बतलाओ। श्रीदेवकीकी उक्तिके अनुसार व्रजवासियोंको उनकी अभीष्ट वस्तु देनेके उद्देश्यसे ही श्रीकृष्ण, श्रीउद्धवसे ऐसा पूछ रहे हैं। यद्यपि अन्य कुछ भी देनेसे

उन व्रजवासियोंकी इच्छा पूर्ण नहीं होगी, केवल श्रीकृष्णके व्रज जाने पर ही उनकी अभिलाषा पूर्ण होगी—इसको भगवान् स्वयं भी जानते हैं, तथापि मन्त्री-प्रवर श्रीउद्धवके युक्तिपूर्ण वचनोंको श्रवण करके ही व्रज जाना कर्त्तव्य है, क्योंकि ऐसा होनेसे मुझे यहाँ पर कोई भी किसी प्रकारसे भी रोक पानेमें समर्थ नहीं होगा—इसी अभिप्रायसे ही ऐसा प्रश्न कर रहे हैं। किन्तु पूर्वोक्त अर्थात् श्लोक संख्या ६८में किया गया प्रश्न केवल शोकातुर होनेके कारण ही कर रहे थे॥७७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तत्श्रुत्वा भगवद्वाक्यमुद्धवो हृदि दुःखितः।
क्षणं निश्वस्य विस्मेरः सानुतापं जगाद तम्॥७८॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—भगवान् श्रीकृष्णकी बातको सुनकर श्रीउद्धव मन-ही-मन बड़े दुःखित और चिन्तित हो गये। किन्तु, क्षणभरके बाद दीर्घ निःश्वास छोड़कर अनुताप सहित इस प्रकार कहने लगे—॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—उद्धवोऽपि प्रेमभरवैवश्येन भगवद्वाक्यतात्पर्यमनावधारयन् यथाश्रुतार्थमेवाकलय सीदन्नाहेत्याह—तदिति। तादृशं भगवतः सर्वज्ञस्यापि परम-दयालुसिंहस्यापि वा वाक्यं श्रुत्वा, हृद्यन्तर्दुःखितः वञ्चनामननात्। विस्मेरः तादृशेष्वपि प्रियजनेषु तथाव्यवहारानुमानाद्विस्मयं प्राप्तःसन्, अतः क्षणं निश्वस्य उच्चैः श्वासं मुक्त्वा; तं भगवन्तम्, अनुतापेन सहितं यथा स्यात्, तमित्यस्य विशेषणं वा॥७८॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव अत्यधिक प्रेमसे विवश हो गये, अतः भगवान्के वचनोंके तात्पर्य पर ध्यान न देकर केवल उन वचनोंके बाह्य अर्थका विचारकर मन-ही-मन दुःखी होकर अत्यन्त शोक सहित कहने लगे। यही 'तच्छ्रुत्वा' इत्यादि श्लोक द्वारा कहा जा रहा है। उन सर्वज्ञ और परम दयालु श्रीभगवान्के वचनोंको सुनकर श्रीउद्धव आन्तरिकरूपसे बड़े दुःखी हुए और उक्त वचनोंको वञ्चनामात्र मानकर अर्थात् प्रियजनोंके प्रति भगवान्का ऐसा व्यवहार अनुमान कर विस्मित हो गये। इसीलिए क्षणभरके बाद दीर्घ निःश्वास छोड़कर अनुताप सहित इस प्रकार कहने लगे॥७८॥

श्रीमदुद्धव उवाच—

न राजराजेश्वरताविभूतीर्न दिव्यवस्तूनि च ते भवत्तः।
न कामयन्तेऽन्यदपीह किञ्चिदमुत्र च प्राप्यमृते भवन्तम्॥७९॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—वे व्रजवासी न तो चक्रवर्त्ती राजराजेश्वरता चाहते हैं और न विभूतियाँ, वे न तो स्वर्गकी सम्पत्ति चाहते हैं और न ही इस लोककी किसी सम्पत्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं; वे तो केवल आपको ही चाहते हैं॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते श्रीनन्दादयः भवतः सकाशाद्राजराजेश्वरताया विभूतीर्वैभवानि न कामयन्ते नेच्छन्ति। दिव्यवस्तूनि पारिजातादीनि, अन्यत् उक्तव्यतिरिक्तमपि इह अस्मिल्लोके अमुत्र परलोके च प्राप्यं किञ्चिन्न कामयन्ते, भवन्तम् ऋते विनेति भगवन्तमेव कामयन्त इत्यर्थः॥७९॥

भावानुवाद—वे श्रीनन्द आदि व्रजवासी आपसे न तो चक्रवर्त्ती राजराजेश्वरता चाहते हैं, न विभूतियाँ चाहते हैं और न ही पारिजात आदि स्वर्गकी दिव्य वस्तुओंकी इच्छा करते हैं। इसके अलावा उन्हें इस लोक और परलोककी किसी भी भोग्य वस्तुकी भी कामना नहीं है। वे व्रजवासीजन आपके अलावा और कुछ भी प्राप्त करनेकी अभिलाषा नहीं रखते हैं॥७९॥

अवधानप्रसादोऽत्र क्रियतां ज्ञापयामि यत्।
पश्चाद्विचार्य कर्त्तव्यं स्वयमेव यथोचितम्॥८०॥

श्लोकानुवाद—मैं जो कुछ निवेदन कर रहा हूँ, आप कृपया सावधानीपूर्वक श्रवण कीजिए। फिर स्वयं विचार करके देखिए कि क्या करना उचित है तथा वही कीजिए॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव सप्रसङ्गं विवृत्य बोधयितुमाह—अवेति, यदहं ज्ञापयामि, अवधानं मनोऽभिनिवेश एव प्रसादः क्रियतां भवता। स्वयमेवेति अधुना मया तत् किं ज्ञाप्यतामित्यर्थः॥८०॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव द्वारा श्रीकृष्णको व्रजवासियोंकी अभिलाषाका बोध प्रसंगके साथ वर्णन किया जा रहा है। मैं जो कुछ निवेदन कर रहा हूँ, आप कृपया उसे सावधानीपूर्वक श्रवण करें। फिर स्वयं विचार करके जो करना उचित हो, वही कीजिए॥८०॥

पूर्वं नन्दस्य सङ्गत्या भवता प्रेषितानि ते।
भूषणादीनि दृष्ट्वोचुर्मिथो मग्नाः शुगम्बुधौ ॥८१॥

श्लोकानुवाद—आपने पहले श्रीनन्दमहाराजके माध्यमसे जो अलङ्कार आदि भेजे थे, व्रजवासी उन वस्तुओंको देखकर शोकसागरमें निमग्न होकर परस्पर एक दूसरेसे कहने लगे— ॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्वं कंसवधानन्तरम्; ते व्रजवासिनो जनाः श्रीयशोदाद्याः श्रीराधिकाद्या वा, स्त्रीत्वेनाप्रयोगाश्च परमरहस्यतयात्यन्त-गोपनीयत्वात्। शोकसागरे मग्नाः सन्तः परस्परमुचुः ॥८१॥

भावानुवाद—आपने पहले अर्थात् कंस-वधके पश्चात् जो समस्त अलङ्कार आदि व्रजवासीयोंको भेजे थे, श्रीयशोदा आदि अथवा श्रीराधिका आदि व्रजवासी उन सब वस्तुओंको देखकर परस्पर शोकसागरमें निमग्न होकर एक-दूसरेसे कहने लगे। श्रीराधिका, श्रीयशोदा आदि स्त्रियाँ हैं, इसलिए श्रीउद्धवने उनके नामका उल्लेख नहीं किया, क्योंकि उनका प्रेम परमरहस्यपूर्ण अथवा अत्यन्त गोपनीय है ॥८१॥

अहो वत! महत् कष्टं वयमेतदभीप्सवः।
एतत्प्रसादयोग्याश्च ज्ञाताः कृष्णेन सम्प्रति ॥८२॥

श्लोकानुवाद—अहो! बड़े दुःखकी बात है! श्रीकृष्णने यही समझा है कि अब हमलोग इन्हीं वस्तुओंको चाहते हैं और हम ऐसी ही कृपाके योग्य हैं ॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं तदाह—अहो इति द्वाभ्याम्। एतानि भूषणादीन्येवाभीप्सन्ति प्राप्तमिच्छन्तीत्येवम्भूता वयं ज्ञाताः, एष तद्दानरूपो यः प्रसादोऽनुग्रहस्तस्यैव योग्याश्च ज्ञाताः; अन्यथैतत् प्रेषणानुपपत्तेः। सम्प्रतीत्यस्य पूर्वेण परेणापि यथेष्टमन्वयः। पूर्वमेवं नासीदधुनैव जातमहो दौर्भाग्यमित्यर्थः ॥८२॥

भावानुवाद—उस समय उन्होंने परस्पर क्या कहा था? इसे 'अहो' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा बतला रहे हैं। अहो! कितने दुःखकी बात है! श्रीकृष्णने यही समझा है कि अब हम इन्हीं सब अलङ्कार आदि वस्तुओंको चाहते हैं तथा हम ऐसे ही प्रसाद (कृपा)के योग्य हैं, अन्यथा वे इन सब अलङ्कार आदि वस्तुओंको क्यों भेजते? किन्तु

इससे पहले श्रीकृष्ण हमें ऐसे प्रसाद (कृपा)के योग्य नहीं समझते थे, परन्तु अब हमें इसके ही योग्य समझ रहे हैं। अतएव अब ऐसा कहना होगा कि हमारा दुर्भाग्य उदित हो गया है॥८२॥

तदस्मज्जीवनं धिक् धिक् तिष्ठेत् कण्ठेऽधुनापि यत्।
नन्दगोपांश्च धिक् धिक् ये तं त्यक्त्वैतान्युपानयन्॥८३॥

श्लोकानुवाद—अतः हमारे जीवनको धिक्कार है! धिक्कार है! हमारे प्राण अभी तक निकले नहीं हैं, कण्ठमें ही अटक रहे हैं, उनको भी धिक्कार है! जो श्रीकृष्णको मथुरामें छोड़कर इन सब वस्त्र-भूषण आदिको उपहारमें लाये हैं, उन नन्द आदि गोपोंको भी धिक्कार है! धिक्कार है!॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात् अस्माकं जीवनं धिग्धिक् परमनिन्द्यमित्यर्थः। यत् जीवनमधुनापि कण्ठे तिष्ठेत्; कण्ठ इत्यनेन केवलं कण्ठगत्-प्राणतयैव जीवन्तीत्यर्थः। ये गोपा इति कथञ्चिदपि नन्देन स्वपुत्रस्य तस्य त्यागासम्भवमनेन गौरवेण वा; यद्वा, ये नन्दादयः, तं कृष्णं, एतानि भूषणादीनि उपानयन् अस्माकमुपानयनरूपेणानीतवन्तः॥८३॥

भावानुवाद—अतएव हमारे जीवनको धिक्कार है, धिक्कार है अर्थात् हमारा जीवन परम निन्दनीय है। (श्रीकृष्णके बिना) हमारे जो प्राण अभी तक निकले नहीं, कण्ठमें ही अटक रहे हैं, उन्हीं कण्ठमें अटके प्राणोंसे ही हम अभी तक किसी प्रकारसे जीवित हैं। और जो श्रीकृष्णको मथुरामें ही त्यागकर इन सब अलङ्कार आदिको लाये हैं, उन नन्दादि गोपोंको भी धिक्कार है। किन्तु यहाँ पर सामान्यरूपसे श्रीनन्दको लक्ष्य किया गया है, क्योंकि श्रीनन्दमहाराज अपने पुत्रको त्यागकर इन अलङ्कारोंको लायेंगे, ऐसा असम्भव था। अतएव उक्त वचनमें श्रीनन्दमहाराजके प्रति गौरव वशतः 'वे नन्द आदि गोप' कहा गया है। अथवा जो गोप श्रीकृष्णको त्यागकर ये सब उपहार लाये हैं, उन गोपको धिक्कार है॥८३॥

ततस्त्वद्गमनाशाञ्च हित्वा सह यशोदया।
मृतप्राया भवन्मात्रारेभिरेऽनशनं महत्॥८४॥

श्लोकानुवाद—आपकी माता श्रीयशोदाके साथ सभी व्रजवासियोंने आपके व्रजमें लौटनेकी आशाका परित्यागकर मृततुल्य होकर महा–अनशन व्रत धारण कर लिया है॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मादेवोक्ताद्धेतोस्तव व्रजगमनाशामपि त्यक्त्वा मृततुल्याः सन्तः भवन्मात्रा श्रीयशोदया सह महत् जल वर्जनादिना मरणपर्यवसायि अनशनमारेभिरे एवं त्वां विना त्वत् प्रसादद्रव्येष्वपि तेषामभीप्सा नास्तीति भावः॥८४॥

भावानुवाद—इसी कारण व्रजवासियोंने आपकी माता श्रीयशोदा सहित आपके व्रज आनेकी आशाको त्याग करके मृतप्राय होकर महा–अनशन व्रत अर्थात् मृत्यु तक जल त्यागादि रूप व्रत आरम्भ किया है। इस प्रकार वे व्रजवासी आपके अलावा आपकी किसी भी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करते हैं॥८४॥

कृतापराधवन्नन्दो वक्तुं किञ्चिद्दिनत्रयम्।
अशक्तोऽत्यन्तशोकार्त्तो व्रजप्राणानवन् गतान्॥८५॥
भवतस्तत्र यानोक्तिं ग्राहयन् शपथोत्करैः।
दर्शयन् युक्तिचातुर्यममूनेवमसान्त्वयत्॥८६॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्द महाराज अपनेको अपराधी समझकर तीन दिन तक कुछ भी बोल नहीं पाये। फिर शोकके कारण विह्वल व्रजवासियोंके प्राणोंको निकलता देखकर उनकी रक्षाके लिए अनेक प्रकारकी सौगन्ध खाकर 'कृष्ण व्रजमें आयेंगे' उनको ऐसा विश्वास दिलाया है तथा अनेक प्रकारकी युक्ति–चातुरीके द्वारा उन्होंने किसी प्रकार उनको सान्त्वना दी है॥८५–८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि किञ्चिदनिष्टं तत्र न वृत्तमिति व्यग्रचित्तं भगवन्त–माश्वासयन् आह—कृतेति द्वाभ्याम्। कृतापराध इव दिनत्रयं यावत् किञ्चिद्वक्तुमशक्तो नन्दः पश्चाद्गतान् गतप्रायान् व्रजजनप्राणान् अवन् अवितुं भवतस्तत्र व्रजे यानं गमनं, तस्मिन् या उक्तिः *'ज्ञातीन वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्।'* (श्रीमद्भा॰ १०/४५/२३) इत्यादिरूपा तां शपथसमूहैरमून् व्रजवासिजनान् ग्राहयन्, एवं वक्ष्यमाण–प्रकारेणासान्त्वयदित्यन्वयः। अत्यन्तेन शोकेनार्त्तोऽपि भवद्विच्छेदेन भवत्प्रियजनानां दृढ़मुमूर्षादिना च, युक्तीनां चातुर्यं कौशलं दर्शयन् उत्तमा युक्तीर्बोधयन्नित्यर्थः; यद्वा, युक्तिषु यदात्मनश्चातुर्यं नैपुण्यं तत् प्रकाशयन्॥८५–८६॥

भावानुवाद—फिर भी कुछ अनिष्ट नहीं हुआ, ऐसा कहकर श्रीउद्धव व्यग्रचित्त भगवान् श्रीकृष्णको आश्वासन देनेके लिए 'कृत' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। गोपराज श्रीनन्द व्रजमें लौटकर अपनेको अपराधी समझकर तीन दिन तक कुछ भी बोल नहीं पाये। किन्तु मृत्युकी ओर अग्रसर और अत्यन्त शोकग्रस्त व्रजवासियोंके कण्ठ तक आये प्राणोंकी रक्षाके लिए आपके व्रजमें आनेकी आशाको प्रकाश करनेवाली उक्तियोंको उद्धृत कर कि 'हम यहाँके आत्मीय स्वजनोंका सुख विधानकर बहुत शीघ्र ही स्नेहसे दुःखी ज्ञातियोंके साथ आपसे मिलने व्रज आयेंगे' इत्यादि प्रकारसे अनेक सौगन्ध खाकर श्रीनन्द महाराजने आपके व्रज आनेके विषयमें उनको विश्वास दिलाया है। यद्यपि इस प्रकार आपके सभी प्रियजन आपके विच्छेदसे अत्यन्त शोकार्त्त हैं, तथापि आगे कही जानेवाली युक्ति-चातुरीसे गोपराज श्रीनन्दने उनको सान्त्वना प्रदान की है॥८५-८६॥

श्रीनन्द उवाच—

द्रव्याण्यादौ प्रेमचिह्नानि पुत्र एतान्यत्र प्राहिणोत् सत्यवाक्यः।
शीघ्रं पश्चादागमिष्यत्यवश्यं तत्रत्यं स्वप्रस्तुतार्थं समाप्य॥८७॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीनन्दने कहा—मेरा पुत्र कृष्ण सत्यवादी है, व्रजमें आनेसे पहले ही उसने प्रेमके चिह्नके रूपमें इन वस्तुओंको भेजा है। वहाँका आवश्यक कार्य शीघ्र समाप्त करके वह अवश्य ही व्रजमें आयेगा॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेम्णश्चिह्नानि बोधकानि, एतेन प्रेम्णैव प्राहिणोन्न तु युस्मदभीप्साज्ञानेन प्रसादरूपत्वादिनेति भावः। पुत्रः श्रीकृष्णः, एतच्च स्वहृदयाभ्यासेन वसुदेवादिसम्बन्धदाढ्य-निवारणाभिप्रायेण वा; पश्चादत्रावश्यं शीघ्रमागमिष्यति। कुतः? सत्यं वाक्यं यस्य सः। तर्हि कथमधुना नायातः? कदा वा सम्यग मिष्यतीत्य-पेक्षायामाह—स्वस्य स्वानां वा भक्तानां प्रस्तुतं सम्प्रतिप्राप्तमर्थं जरासन्धनिरसनादि-प्रयोजनं तत्रत्यं मथुरावास-सम्बन्धिनमेव न त्वन्यत्रत्यं समाप्य॥८७॥

भावानुवाद—प्रेमके चिह्न अर्थात् प्रेमके बोधक स्वरूप इन वस्तुओंके द्वारा मानो उसने अपने प्रेमको ही भेजा है, तुम्हारी वाञ्छनीय वस्तु समझकर नहीं भेजा है, अतएव इनको उसका प्रसाद स्वरूप समझो।

मेरे पुत्रने व्रजमें आनेसे पहले प्रेम-चिह्न स्वरूप इन सभी वस्तुओंको भेजा है तथा बादमें वह स्वयं शीघ्र ही व्रजमें अवश्य आयेगा, क्योंकि मेरा पुत्र सत्यवादी है। यहाँ पर श्रीनन्द महाराज द्वारा 'पुत्र' शब्दका प्रयोग श्रीकृष्णके प्रति अपने स्वाभाविक पुत्र भावके कारण अथवा श्रीवसुदेव आदिके पितृ-सम्बन्धका दृढ़तापूर्वक खण्डन करनेके अभिप्रायसे किया गया है। यदि कहो कि तो फिर अभी तक क्यों नहीं आया है, अथवा कब आयेगा? इस प्रश्नकी आशासे कह रहे हैं कि अभी मथुरामें सम्बन्धियों या भक्तोंका जो प्रयोजन है, अर्थात् जरासन्ध आदिको नाशकर वह शीघ्र ही आ जायेगा। परन्तु जरासन्ध आदिको दण्ड देना तो मथुराके सम्बन्धियोंका प्रयोजन है, व्रजवासियोंका प्रयोजन नहीं है॥८७॥

श्रुत्वा ते तत्र विश्वस्य सर्वे सरलमानसाः।
भवत्प्रीतिं समालोच्यालङ्करान् दधुरात्मसु॥८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—सरलचित्तवाले व्रजवासियोंने श्रीनन्दकी बात पर विश्वास कर लिया तथा आपकी प्रीतिकी बातको विचार करके उन्होंने उन आभूषणोंको भी अपने अङ्गमें धारण कर लिया॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र तस्मिन् श्रीनन्दवचने विश्वस्य प्रतीतिं कृत्वा; यतः सरलं कौटिल्यहीनं मानसं येषां ते; निजहृदयानुसारेण सर्वेष्वपि तेषां तथा प्रतीतेः। भगवत्प्रीतिं समालोच्येति—एतदलङ्कारधारणेन कृष्णस्य हर्षो भविष्यतीति पर्यालोच्येत्यर्थः। आत्मसु देहेषु दधुरेव, न त्वन्तर्हृदि सुखं प्रापुरित्यर्थः॥८८॥

भावानुवाद—उन व्रजवासियोंने महाराज श्रीनन्दके वचनों पर विश्वास कर लिया, क्योंकि वे कुटिल न होकर सरल स्वभावके हैं। अर्थात् सरल स्वभाववाले व्रजवासी अपने समान ही सभीको सरल समझते हैं। फिर श्रीकृष्णकी प्रीतिकी बातको विचार करके अर्थात् इन सब आभूषणोंको धारण करनेसे श्रीकृष्ण सुखी होंगे, इसलिए उन्होंने अलङ्कारोंको अपने अंगों पर धारण तो किया, किन्तु हृदयमें उनको सुख प्राप्त नहीं हुआ॥८८॥

श्रीकृष्णोऽत्र समागत्य प्रसादद्रव्यसंग्रहात्।
वीक्ष्याज्ञापालकानस्मान्नितरां कृपयिष्यति॥८९॥

श्लोकानुवाद—उनको यह विश्वास था कि जब श्रीकृष्ण व्रजमें आयेंगे, तब हमलोगोंको अपने द्वारा भेजे गये वस्त्र-भूषणादिको धारण किये हुए देखकर अपना आज्ञाकारी मानेंगे तथा हम पर अधिक कृपा करेंगे॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदभिप्रायमेव विवृणोति—श्रीकृष्ण इति। तदीयप्रसादरूपाणां द्रव्याणामेतेषामलंकारादीनां संग्रहात् परिग्रहेण अस्मान् स्वस्याज्ञापालकान् वीक्ष्य आलोच्य नितरां पूर्वतोऽप्याधिक्येनानुग्रहिष्यति। महाशोकार्त्तिसमयेऽपि निजाज्ञापालनेन हृष्टव्यवहारात्॥८९॥

भावानुवाद—अब सरल व्रजवासियों द्वारा वस्त्र-भूषणादि धारण करनेका अभिप्राय वर्णन कर रहे हैं। व्रजवासियोंकी धारणा यह थी कि श्रीकृष्ण व्रजमें आकर उन लोगोंको अपने द्वारा भेजे गये अलङ्कार आदिको धारण किया हुआ देखकर उन्हें अपना आज्ञाकारी जानकर पहलेकी तुलनामें अधिक कृपा करेंगे। विशेषतः वैसे शोकके समयमें भी श्रीकृष्णकी आज्ञाके पालनसे वे हम व्रजवासियों पर अधिक कृपा करेंगे॥८९॥

भवान् स्वयमगत्वा तु यं सन्देशं समर्प्य माम्।
प्राहिणोत्तेन ते सर्वे बभूवुर्निहता इव॥९०॥

श्लोकानुवाद—किन्तु आपने स्वयं वहाँ न जाकर मेरे द्वारा संदेश भेजा, इसलिए वे सब व्रजवासी मृतप्राय हो गये हैं॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषामीदृशो व्यवहारः, भवतश्चान्यादृश एवेत्याह—भवानिति। सन्देशं अन्तर्यामीत्वेन सर्वत्रैवाहं वर्त्त इति ज्ञानदृष्टया तत्र तत्र मां पश्यतेत्यादिरूपं वाचिकम्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४७/२९) *'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्। यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निजलं मही। तथा चाहं मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः॥'* इत्यादि। अस्यार्थः—भवतीनां मे मया सह वियोगो नास्ति। कुतः? सर्वात्मना सर्वस्योपादानकारणेन; अतएव सर्वेषु मनादिषु कार्येषु अहमनुगतत्वेन स्थित इति सदृष्टान्तमाह—यथेति। भूतेषु चराचरेषु, भूतानि महाभूतानि; यथा वाय्वग्निः वायुश्चाग्निश्च तथाहञ्च मन-आदीनां कार्याणां गुणानां

च कारणानामाश्रयत्वेनानुगत इति। तेन सन्देशेन हता मारिता इव बभूवुः, पुनर्व्रजे भवद्गमनाशानिरसनात्। इवेत्यनेन प्राणावशेषमात्रता तेषां बोध्यते॥९०॥

भावानुवाद—उन व्रजवासियोंका ऐसा व्यवहार और दूसरी ओर आपका विपरीत व्यवहार—इसे कहनेके लिए 'भवान्' इत्यादि श्लोकको अवतारणा की गयी है। मेरे द्वारा भेजा गया आपका सन्देश, 'मैं अन्तर्यामी होनेके कारण सर्वत्र विराजमान हूँ, तुम सभी अपनी-अपनी ज्ञान दृष्टिके द्वारा सभी स्थानों पर मेरा दर्शन करो।'—इस प्रकारका वाचिक सम्वाद था। यथा, दशम-स्कन्धमें उक्त है—"तुमलोगोंके साथ मेरा कभी भी वियोग नहीं हो सकता, क्योंकि मैं सभीकी आत्मा हूँ। जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, ये पञ्च महाभूत समस्त प्राणियोंमें अवस्थित हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुणोंका आश्रय हूँ।" तात्पर्य यह है कि तुम्हारे साथ मेरा कभी भी वियोग नहीं हो सकता। कैसे? मैं सभीकी आत्मा हूँ अर्थात् सभीका उपादान कारण हूँ, अतएव मन आदि सभी कार्योंमें अनुगत-रूपसे अवस्थित हूँ। इसके अनुरूप दृष्टान्त यह है कि जैसे चराचर सभी प्राणियोंके कारण स्वरूप पञ्च महाभूत हैं, उसी प्रकार मैं भी मन आदि सभी कार्यों और कारणोंके आश्रय रूपमें ग्रथित हूँ।

आपके इस सन्देशको पाकर सभी व्रजवासी मृतप्राय हो गये हैं अर्थात् इस सन्देशसे आपके व्रजमें आगमनकी रही-सही आशा भी टूट गयी, अतः वे मृतप्राय हो गये हैं। इससे यह सूचित होता है कि अब उनके केवल प्राणमात्र ही बाकी रह गये हैं॥९०॥

तथा दृष्ट्या मया तत्र भवतो गमनं ध्रुवम्।
प्रतिज्ञाय प्रयत्नात्तान् जीवयित्वा समागतम्॥९१॥

श्लोकानुवाद—उनकी वैसी अवस्था देखकर, 'मेरे प्रभु श्रीकृष्ण अवश्य ही व्रजमें आयेंगे'—उनसे यह प्रतिज्ञा करके तथा ऐसी प्रतिज्ञाके द्वारा उन लोगोंको यत्नपूर्वक सचेतन करके मैं यहाँ आया हूँ॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथा तेषां तादृक्त्वं दृष्ट्या साक्षादनुभूय; तत्र व्रजे भवतो गमनं ध्रुवं निश्चितं प्रतिज्ञाय मयावश्यमेव भगवानत्रानेतव्य इति प्रतिज्ञां कृत्वा॥९१॥

भावानुवाद—वहाँ उनकी वैसी दशा देखकर अथवा साक्षात् अनुभवकर 'प्रभु श्रीकृष्ण निश्चितरूपसे व्रजमें आयेंगे' (अर्थात् मैं अवश्य ही उन्हें लेकर आऊँगा)—ऐसी प्रतिज्ञा करके मैं यहाँ आया हूँ॥९१॥

त्वत्प्राप्तयेऽथ संन्यस्तसमस्तविषयाश्रयाः।
प्रापुर्यादृगवस्थां ते तां पृच्छैतं निजाग्रजम्॥९२॥

श्लोकानुवाद—वे व्रजवासी आपको पानेके लिए समस्त भोग्य पदार्थोंका त्याग करके जिस दशामें हैं, उसको अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलदेवजीसे ही पूछिए॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि भवता स्वयं तत्र न गतम्; निजाग्रजो बलदेव एव प्रेषितः। ततश्च यादृशी तेषामवस्था जाता सा मया वर्णयितुं न शक्यते, परमशोकदुःखभरापादकत्वादित्याशयेनाह—त्वदिति। अथ मदागमनानन्तरं सम्यक् न्यस्ताः परित्यक्ताः समस्तविषयाश्रया निखिलविषयभोगाः यद्वा, समस्ता विषया इन्द्रियभोग्यानि आश्रयाश्च गृहाः कृष्णक्रीड़ास्थानदर्शनादिना सदा वनान्तरवस्थानात् यैः। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/६५/६) श्रीबलरामगोकुल यात्रा प्रसङ्गे—*'कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः'* इति। अस्यार्थः—कृष्णप्राप्यर्थं त्यक्त सर्वविषया इति। पूर्वं चोद्धवेन गत्वैतादृशावस्थाभाजः श्रीराधिकादयो न दृष्टाः; किन्तु भूषणभूषिताङ्गा हृष्टा इव दृष्टाः, श्रीनन्दकृताश्वासन विश्वासात्। अतएव दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४६/४५-४६) श्रीमदुद्धवयाने—*'ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू, रज्जूर्विकर्षद् भुजकङ्कणस्रजः। चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विषत् कपोलारुणकुंकुमाननाः॥ उद्गायतीनामरविन्दलोचनं, व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः। दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो, निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥'* इति, अन्यथा तादृशशोकसमये तासामेतादृक्त्वासम्भवात्। इदानीं चोद्धवसन्देशेनाशाच्छेदात् पूर्वतोऽप्यधिकदुखस्थायुक्तैवेति दिक्। निजाग्रजमेतं साक्षाद्वर्त्तमानं तामवस्थां पृच्छति, तेन तत्र गत्वा साक्षादनुभूतत्वात्। यद्वा, मद्वाक्ये तव प्रतीतिर्मा भवतु नाम, निजज्येष्ठवचने च सा युज्यत एवेति भावः॥९२॥

भावानुवाद—फिर भी आपने स्वयं व्रज न जाकर अपने बड़े भाई श्रीबलदेवजीको भेजा। उससे उन व्रजवासियोंकी जो दशा हुई थी, वह अत्यधिक शोकपूर्ण थी, अतः मैं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ। उसके विषयमें आप अपने भाई श्रीबलदेवजीसे ही पूछिये। विशेषतः मेरे लौट आनेके पश्चात् वे व्रजवासी आपको पानेकी रही-सही

आशाको छोड़कर मृतप्राय हो गये हैं अर्थात् वे समस्त प्रकारके विषय भोगोंको त्याग करके किसी एक दयनीय अवस्थाको प्राप्त किये हैं। यहाँ पर 'समस्त विषय' कहनेसे इन्द्रियोंकी भोग्य वस्तुएँ और उनके आश्रय स्वरूप घर आदिको भी उन्होंने त्याग दिया है, केवल श्रीकृष्णकी लीला-स्थलियोंके दर्शन आदि द्वारा निरन्तर वनमें ही निवास कर रहे हैं। इसे दशम-स्कन्धमें श्रीबलदेवजीकी गोकुल यात्राके प्रसंगमें कहा गया है—"कमललोचन श्रीकृष्णमें ही उन्होंने समस्त विषयोंका सन्निवेश कर दिया है।" अर्थात् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए समस्त विषयोंको त्याग दिया है। किन्तु इससे पहले जब श्रीउद्धव गोकुलमें गये थे, उस समय श्रीराधिका आदि गोपियोंकी ऐसी अवस्था नहीं थी। वे भूषणोंसे विभूषित तथा हृष्ट जैसी ही दिखाई दी थी, क्योंकि श्रीनन्दमहाराज द्वारा दिये गये आश्वासन पर उनका दृढ़ विश्वास हो गया था। अतएव दशम-स्कन्धमें श्रीउद्धवके व्रज आगमनके प्रसंगमें कहा गया है, "निशान्त कालमें गोपियाँ उठकर प्रदीप जलाकर दधि-मन्थन कर रही थीं। उनका मुखमण्डल अरुण-वर्णके कुंकुमसे लिप्त था तथा उनके कपोल कुण्डलकी दीप्तिसे देदीप्यमान हो रहे थे। उनकी काञ्चि (करधनी) पर जड़ित मणियों पर दीपोंकी रोशनी प्रतिबिम्बित होकर उन्हें अत्यधिक दीप्त कर रही थी। वे गोपियाँ कंगन और वलयों द्वारा अलंकृत भुजाओंसे दधि-मन्थन कर रही थीं, जिससे उनके नितम्ब, स्तन, हार आदि हिलडुल रहे थे और उससे उनकी अत्यधिक शोभा हो रही थी। वे सब व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णको उद्देश्य करके गान कर रहीं थीं, उनके गीतकी ध्वनि दधि-मन्थनके शब्दसे मिलकर आकाशमें सर्वत्र व्याप्त हो रही थी तथा उस ध्वनिसे सभी दिशाओंका अमंगल नष्ट हो रहा था।" अन्यथा वैसे शोकके समयमें व्रजगोपियोंके सम्बन्धमें ऐसी उक्ति असम्भव है। किन्तु अब मेरे (श्रीउद्धवके) द्वारा भेजे गये संदेशसे उनकी आशाका रहा-सहा सूत्र भी टूट गया। इसलिए वे पहलेसे भी अधिक दुःखी हैं, यह सब आप अपने अग्रज श्रीबलदेवजीसे पूछ लीजिए। वे यहाँ पर साक्षात् विराजमान हैं तथा इन्होंने व्रजमें जाकर साक्षात्‌रूपसे उन व्रजवासियोंकी वैसी दशाको देखा और अनुभव

किया है। अर्थात् यदि आपको मेरी बातों पर विश्वास न हो, तो अपने ज्येष्ठ भ्राताके वचनोंसे तो विश्वास होगा ही—यही तात्पर्य है॥९२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तद्विच्छेदमहादुःखाशङ्कया म्लापितानि सः।
देवकीभीष्मजादीनां मुखान्यवनतान्यधः॥९३॥
क्षरदस्राणि सस्नेहं विलोक्य मृदुलाशयः।
मसीकर्परपत्राणि व्यग्रोऽयाचत संज्ञया॥९४॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीकृष्णके विच्छेदसे उत्पन्न महादुःखकी आशंकासे श्रीदेवकी और श्रीरुक्मिणी आदिका मुख मलिन हो गया और वे नीचेकी ओर मस्तक झुकाकर अपने नेत्रोंसे अश्रु बहाने लगीं। यह देखकर कोमल हृदयवाले श्रीकृष्णने स्नेहसे व्याकुल होकर, संकेतपूर्वक कुछ लिखनेके लिए स्याही-कागज आदिको मँगवाया॥९३-९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः श्रीगोपगोपीजनैकप्रियो भगवान् किमकरोत्तदाह—तदिति चतुर्भिः। स भगवान् श्रीकृष्णो देवक्यादीनां मुखानि सस्नेहं विलोक्य संज्ञया लिखनमुद्रानुकरणसंकेतेनैव मसीकर्परपत्राण्ययाचत प्रार्थयामासेति द्वाभ्यामन्वयः। कथम्भूतानि मुखानि? तस्य भगवतो विच्छेदे यन्महादुःखं तस्याशङ्कया म्लापितानि म्लानिकृतानि, अतएवाधोऽवनतानि क्षरदस्राणि च; संज्ञयैवायाचतेत्यत्र हेतुः—व्यग्र सन्निति। तादृशोद्धवोक्ति-श्रवणात् परमवैयग्र्येण वाचा याचितुमशक्तः केवलं संज्ञयैवायाचतेत्यर्थः। तर्हि कथं सद्य एव व्रजे न गतस्तत्राह—मृदुलः परमकोमलः आशयश्चित्तं यस्येति परदुःखासहिष्णुतया साक्षाद्वर्त्तमानाः परमदीना देवक्याद्याः सद्यस्त्यक्तुमशक्तः इत्यर्थः॥९३-९४॥

भावानुवाद—तदुपरान्त गोप और गोपियोंके परमप्रिय भगवान्ने क्या कहा? इसे 'तद्विच्छेद' इत्यादि चार श्लोकोंके द्वारा बतला रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्नेहपूर्वक श्रीदेवकी आदिके मलिन मुखको देखकर व्याकुलतापूर्वक संकेतसे (लिखनेकी मुद्राका अनुकरण करके) कागज, कलम-दवात आदि लानेके लिए प्रार्थना की। श्रीदेवकी आदिका मुख मलिन क्यों हो गया था? भगवान् श्रीकृष्णके भावी

विच्छेदमें दुःखकी आशंकासे उनका मुख मलिन हो गया था और उनके नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। संकेतसे कागज, कलम-दवात आदि लानेकी प्रार्थनाका कारण क्या था? व्याकुलता, अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण श्रीउद्धवकी बातोंको सुनकर अत्यधिक व्याकुल हो उठे और इसी कारण वे अपने मनके भावोंको वचनों द्वारा प्रकाश नहीं कर पाये, केवल संकेत द्वारा ही प्रार्थना करने लगे। यदि कहो कि तो फिर उन्होंने शीघ्रतापूर्वक व्रजकी ओर गमन क्यों नहीं किया? इसके लिए कह रहे है कि उनका हृदय कोमल है अर्थात् श्रीकृष्ण दूसरोंके दुःखको सहन नहीं कर पाते हैं, इसलिए साक्षात् उपस्थित दीन-हीन श्रीदेवकी और श्रीरुक्मिणी आदिको शीघ्र छोड़नेमें समर्थ नहीं हुए॥९३-९४॥

प्रस्तुतार्थं समाधायात्रत्यानाश्वास्य बान्धवान्।
एषोऽहमागतप्राय इति जानीत मत्प्रियाः॥९५॥
एवमाश्वासनं प्रेमपत्रं प्रेषयितुं व्रजे।
स्वहस्तेनैव लिखितं तच्च गाढ़प्रतीयते॥९६॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासियोंके प्रति प्रगाढ़ प्रीति होनेके कारण श्रीकृष्णने स्वयं अपने करकमलसे ही आश्वासन देनेवाला प्रेम-पत्र व्रजमें भेजनेके लिए लिखा—"प्रिय व्रजवासियों! यहाँ पर आरम्भ किये गये कार्यको समाप्त करके और बन्धुओंको आश्वासन देकर आप मुझे व्रजमें आया ही समझें"॥९५-९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—किमर्थं तान्ययाचत इत्याह—प्रस्तुतेति द्वाभ्याम्। व्रजे प्रेमपत्रं प्रेषयितुम्; तच्च पत्रं दृढ़विश्वासार्थं निजश्रीहस्तेनैव लिखितम्। कीदृशम्? हे मत्प्रियाः! व्रजवासिजनाः! एवं सम्बोधनेन प्रीतिभरं बोधयति। प्रस्तुतमुपस्थितं प्रयोजनां समाधाय कथञ्चित् समाधानमात्रं कृत्वा तेन अत्रत्यान् श्रीद्वारकावासिनो यादवादीन् आश्वास्य 'अहमेष आगत इव' इति जानीत प्रतीत। एवमेतत्प्रकारकमाश्वासनं यस्मिन् तत्; यद्वा, एवमुक्तप्रकारेणाश्वासयतीति तथा तत्॥९५-९६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने किसलिए कागज, कलम, दवात लानेके लिए प्रार्थना की? इसे 'प्रस्तुतार्थं' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा बतला रहे हैं। व्रजमें प्रेम-पत्र भेजनेके लिए ही उन्होंने कागज, कलम, दवात

लानेके लिए प्रार्थना की। व्रजवासियोंको दृढ़ प्रतीति दिलानेके लिए श्रीकृष्णने स्वयं अपने करकमलके द्वारा उस पत्रको लिखा। पत्रमें क्या लिखा? "हे मेरे प्राणप्रिय व्रजवासियों! (ऐसे सम्बोधन द्वारा उनके प्रति श्रीकृष्णकी अत्यधिक प्रीति सूचित हुई है) आरम्भ किये गये कार्यको संपूर्ण करके और द्वारकावासी यादवोंको आश्वासन देकर मुझे व्रजमें आया ही समझो।" इस प्रकार आश्वासन देनेवाला प्रेम-पत्र लिखा गया, अथवा जिसके द्वारा ऐसा विश्वास हो वैसा प्रेम-पत्र लिखा गया॥९५–९६॥

तस्येहितमभिप्रेत्य प्राप्तोऽत्यन्तार्त्तिमुद्धवः।
व्रजवासिमनोऽभिज्ञोऽब्रवीत् सशपथं रुदन्॥९७॥

श्लोकानुवाद—व्रजमें पत्र भेजनेमात्रको ही श्रीकृष्णका अभिप्राय समझकर श्रीउद्धव अत्यन्त दुःखपूर्वक रोने लगे। वे व्रजवासियोंके मनके भावोंको जानते थे, इसलिए शपथ खाकर इस प्रकार कहने लगे— ॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवत ईहितं पत्रप्रस्थापनमात्रम् अभिप्रायेण ज्ञात्वा अत्यन्तामार्त्तिं प्राप्तः सन्, अतएव रुदन् शपथैः सहितं यथा स्यात्तथाब्रवीत्। तादृशोक्तौ हेतुः—व्रजवासिनां मनोऽभिहतो जानातीति तथा सः॥९७॥

भावानुवाद—उस पत्रको भेजनामात्र ही श्रीकृष्णका अभिप्राय समझकर श्रीउद्धव अत्यन्त दुःखित होकर रोने लगे। वे व्रजवासियोंके मनोभावको जानते थे, इसलिए शपथपूर्वक कहने लगे॥९७॥

श्रीमदुद्धव उवाच—

प्रभो सुनिर्णीतमिदं प्रतीहि त्वदीयपादाब्जयुगस्य तत्र।
शुभप्रयाणं न विनास्य जीवेद् व्रजः कथञ्चिन्न च किञ्चिदिच्छेत्॥९८॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—हे प्रभो! मैंने यह निश्चित किया है कि व्रजमें आपके श्रीचरणकमलोंके पधारे बिना वे व्रजवासी किसी भी प्रकारसे अपने प्राणोंको धारण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे व्रजवासी आपके अलावा और किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं रखते हैं॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य परममधुरमनोहरस्य त्वत्पादाब्जयुगलस्य तत्र व्रजे शुभं मङ्गलरूपं प्रयाणं विना कथञ्चिदन्येन केनापि प्रकारेण प्रेमपत्रादिना व्रजः व्रजवासिजनो न जीवेत्, न च किञ्चित् प्रेमसन्देशपत्रादिकमपीच्छेत्। इदं मया सुनिर्णीतं त्वं प्रतीहि। अस्येत्यनेन अन्तर्यामीरूपतान्यरूपतापि सर्वा निराकृता॥९८॥

भावानुवाद—हे प्रभो! व्रजमें आपके परम मधुर और मनोहर श्रीचरणकमलोंके शुभागमनके बिना अन्य किसी भी प्रकारसे व्रजवासियोंके जीवनकी रक्षा नहीं हो पायेगी। वे आपके प्रेम-सन्देश-पत्र आदि अन्य किसी भी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करते हैं। मैंने ऐसा निश्चितरूपसे जान लिया है और आप भी ऐसा ही विश्वास कीजिए। इसके द्वारा श्रीकृष्णके अन्तर्यामी होने और सर्वज्ञ आदि होनेका भी खण्डन हुआ है॥९८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

कुमतिः कंसमाताह सहासं धुन्वती शिरः।
हुँ हुँ देवकि निर्बुद्धे बुद्धं बुद्धं मयाऽधुना॥९९॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—ऐसा सुनकर दुष्ट-बुद्धि युक्त कंसकी माता पद्मावती हँसकर सिर हिलाती हुई इस प्रकार कहने लगी, "अरे बुद्धिहीन देवकी! हुँ, हुँ, अब मैं समझ गयी, अच्छी तरहसे समझ गयी"॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—हासश्चोद्धववाक्यस्य लाघवार्थः; तेन सहितं यथा स्यात्। हूँ हूँमिति निजज्ञानगाम्भीर्यस्य परमदुःखस्य वा बोधनार्थम्। हे निर्बुद्धे! विचारहीने वीप्साबोधदार्ढ्यसूचने॥९९॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवकी बातोंको तुच्छ दिखलानेके लिए कंसकी माता पद्मावती सिर हिलाती हुई हँसकर इस प्रकार कहने लगी—हुँ हुँ, अब मैं सब समझ गयी। अपने गंभीर ज्ञान अथवा अत्यधिक दुःखको सूचित करनेके लिए उसने हुँ हुँ किया, अरे निर्बुद्धे! विचारहीन देवकी! दृढ़ता सूचित करनेके लिए यहाँ 'बुद्धं' दो बार प्रयोग हुआ है॥९९॥

चिरं गोरसदानेन यन्त्रितस्योद्धवस्य ते।
साहायात्त्वत्सुतं गोपा नाययित्वा पुनर्वने॥१००॥

भीषणे दुर्गमे दुष्टसत्त्वजुष्टे सकण्टके।
संरक्षयितुमिच्छन्ति धूर्त्ताः पशुगणान्निजान्॥१०१॥

श्लोकानुवाद—उद्धवने अनेक दिनों तक व्रजमें वास किया था और उन धूर्त्त व्रजवासियोंने गोरस दे-देकर इसको अपने वशीभूत कर लिया है। अब वे उद्धवकी सहायतासे तुम्हारे पुत्रको पुनः व्रजमें ले जाकर फिर उसी भयंकर, दुर्गम, हिंसक जीव-जन्तुओंवाले तथा काँटोंसे भरे वनमें उससे अपने पशुओंकी रक्षा करानेकी अभिलाषा कर रहे हैं॥१००-१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं तदाह—चिरमिति द्वाभ्याम्। ते श्रीनन्दाद्या गोपा उद्धवस्य साहायेन त्वत्सुतं श्रीकृष्णं पुर्नवने नाययित्वा निजान् पशुगणान् संरक्षयितुमिच्छन्तीति द्वयोरन्वयः। चिरमिति *'उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः।'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५४) इति दशमस्कन्धोक्तेर्बहुकालं गोकुले निवासात्। गोरसस्तक्रादिस्तस्य दानेन यन्त्रितस्य वशीकृतस्य; नण्विममेव किं नाययन्ति, स्वयं कथं न रक्षन्ति? व्याघ्रादिशङ्कयेत्याह—भीषण इति। दुष्टसत्त्वैर्व्याघ्र-सिंहादिभिः सेविते, यतो धूर्त्ताः तादृशवने परपुत्रेणैव निजपशुगणसंरक्षणकामात्॥१००-१०१॥

भावानुवाद—पद्मावतीने क्या समझा? इसे 'चिरं' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा बतला रहे हैं। वे श्रीनन्दादि गोप उद्धवकी सहायतासे तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्णको पुनः दुर्गम और काँटोंसे भरे वनमें ले जाकर उसके द्वारा अपने पशुओंकी रक्षाकी अभिलाषा कर रहे हैं। "उद्धव कुछ महीनों तक गोकुलमें रहे और श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंका गान करके उन गोकुलवासियोंको आनन्दित करते रहे।" इत्यादि दशम-स्कन्धकी उक्तिसे उद्धवके बहुत दिनों तक व्रजमें वास करनेकी बात सुनी जाती है। अतएव व्रजवासियोंने इसको गोदुग्ध और छाछ आदि पान कराकर अपने वशीभूत कर लिया है। वे सिंह-बाघ आदि हिंसक प्राणियोंसे भरे हुए वनमें भयके कारण स्वयं न जाकर अपने पशुओंकी रक्षा नहीं कर पाते। वे अत्यन्त धूर्त्त हैं, अतएव उस दुर्गम वनमें दूसरेके पुत्रके द्वारा अपने पशुओंकी रक्षा करवाना चाहते हैं॥१००-१०१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तत् श्रुत्वा कुत्सितं वाक्यमशक्ता सोढुमञ्जसा।
यशोदायाः प्रियसखी राममाताह कोपिता॥१०२॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—कंसकी माताके इन घृणित वचनोंको सहन न कर पानेके कारण श्रीयशोदाकी प्रियसखी तथा श्रीबलरामकी माता श्रीरोहिणीदेवी कुपित होकर इस प्रकार कहने लगीं— ॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—कुत्सितमिति तादृशप्रेमभरेऽपि तथोक्तेः। अतः कोपिता तद्वाक्येन तयैव वा कोपं कारिता सती॥१०२॥

भावानुवाद—पद्मावतीके ऐसे वचन घृणित हैं, क्योंकि उसकी वैसी (तथाकथित) प्रेमभरी उक्ति होने पर भी उसको सहन न कर पानेके कारण श्रीरोहिणीदेवी कुपित हो गयीं अथवा उसके प्रति क्रोधित होकर कहने लगीं॥१०२॥

श्रीरोहिण्युवाच—

आः कंसमातः किमयं गोरक्षायां नियुज्यते।
क्षणमात्रञ्च तत्रत्यैरदृष्टेऽस्मिन् न जीव्यते॥१०३॥

श्लोकानुवाद—श्रीरोहिणीदेवीने कहा—अरी कंसजननि! क्या व्रजवासी श्रीकृष्णको गौएँ चरानेके कार्यमें नियुक्त कर सकते हैं? वे तो क्षणभर भी इनको देखे बिना जीवन धारण नहीं कर सकते हैं॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—आ इति सक्रोधसम्बोधने, कंसमातरिति दुष्टबुद्धियोग्यत्वमुक्तम्; अयं श्रीकृष्णः, तत्रत्यैर्व्रजजनैः किं नियुज्यते? अपि तु नैव। कुतः क्षणमात्रमपि अस्मिन् श्रीकृष्णे अदृष्टे सति जीव्यते जीवितुं न शक्यत इत्यर्थः॥१०३॥

भावानुवाद—अरी! (क्रोधपूर्वक सम्बोधन) कंसजननि! (कंसजननि कहनेका उद्देश्य यह है कि कंस जिस प्रकार दुष्टबुद्धिवाला था, उसकी माता तुम भी उसी प्रकार दुष्टबुद्धिवाली हो) वे व्रजवासी क्या श्रीकृष्णको अपनी गौओंके चरानेमें नियुक्त कर सकते हैं? कदापि नहीं, क्योंकि श्रीकृष्णको एक क्षण भी न देखनेसे उनके प्राण ही नहीं रह सकते हैं॥१०३॥

वृक्षादिभिस्त्वन्तरिते कदाचिदस्मिन् सति स्यात् सहचारिणां भृशम्।
श्रीकृष्णकृष्णेति महाप्लुतस्वरै–राह्वान भङ्ग्याकुलता सरोदना॥१०४॥
व्रजस्थितानान्त्वहरेव काल–रात्रिर्भवेदेकलवो युगञ्च।
रविं रजोवर्त्म च पश्यतां मुहु–र्दशा च काचिन्मुरलीञ्च शृण्वताम्॥१०५॥

श्लोकानुवाद—हे सति! जब कभी श्रीकृष्ण वृक्षोंकी ओटमें चले जानेसे सखाओंके दृष्टिगोचर नहीं होते थे, तब इनके सखा इनको न देखकर, 'हे कृष्ण! हे कृष्ण! तुम कहाँ हो? शीघ्र ही आकर हमें दर्शन दो' इस प्रकार जोर-जोरसे पुकारते हुए बड़े व्याकुल होकर रोदन करते थे। श्रीकृष्णके दर्शनके बिना एक दिन भी व्रजवासियोंके लिए प्रलयकी रात्रिके समान होता और एक लवमात्रका समय भी उनके लिए चतुर्युगके समान प्रतीत होता। श्रीकृष्णके गोचारणसे लौट आनेके समयको जाननेके लिए वे क्षण-क्षणमें सूर्य, गोधूलि और उनके आनेवाले मार्गकी ओर निगाहें लगाये रहते और सन्ध्या कालमें उनकी मुरलीकी मधुर ध्वनि सुनकर प्रेमवशतः उन्माद दशाको प्राप्त हो जाते॥१०४-१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव प्रपञ्चयति—वृक्षेति द्वाभ्याम्। हे सतीति विपरीतलक्षणया क्रोधेन सम्बोधनम्, द्रुमिलदैत्येन सतीत्वभञ्जनात्। कदाचित् श्रीवृन्दावनादि-शोभा-दर्शनावसरे वृक्षादिभिरस्मिन् श्रीकृष्णेऽन्तरिते आच्छादिते सति सहचारिणां श्रीदामादि-गोपानां रोदनसहिता व्याकुलता स्यात्। कथं? श्रीकृष्णेत्येवं ये महान्तः प्लुतेन उच्चैरुच्चारणेन स्वरास्तैर्या अज्ञानस्य भङ्गी मुद्राविशेषपरम्परा तया; व्रजे स्थितानां जनानां श्रीराधिकादीनान्तु दिनमपि कालरात्रिः प्रलयकालीना रात्रिः। एकलवमात्रः कालो युगं चर्तुयुगं भवेदिति स्वल्पस्यापि बाहुल्यमुक्तम्; पूर्वञ्च सुखहेतोरपि दुःखहेतुत्वमिति विशेषः। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१५) गोपिकागीते—'*अटति यद्भवानह्नि काननं, त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्*' इति। ततश्च रविं कृष्णागमकालज्ञानार्थं पश्यतां मुहुर्वहिर्भूय निरीक्षमाणानाम्, रजः गोधूलिं कृष्णगमन-लक्षणम्, तथा तस्य वर्त्म च पश्यताम्; अथ विकाले कृष्णस्य मुरलीं तन्नादं शृण्वतां च तेषां काचिद्दशावस्था महाप्रेमसम्पत्त्योन्मत्ततादिमयी भवेत्। एवमयं वने गत्वा गा रक्षत्विवतीदृशीच्छापि तत्रत्येषु कस्यचिदपि न घटत इति भावः॥१०४-१०५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णको देखे बिना व्रजवासी कैसे अधीर हो जाते, उसीका श्रीरोहिणीदेवी 'वृक्ष' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रही हैं।

हे सति! (क्रोधपूर्वक उपहास करते हुए सम्बोधन तथा विपरीत लक्षणावृत्तिसे सम्बोधन इसका अर्थ है, 'असती', क्योंकि द्रुमिल दैत्य द्वारा तुम्हारा सतीत्व भंग हुआ है) श्रीकृष्ण यदि कभी श्रीवृन्दावन आदिकी निराली शोभा दर्शन करनेके लिए वृक्षोंकी ओटमें चले जाते, अथवा किसी कारणवशतः दिखाई नहीं पड़ते, तो उनके सखा श्रीदाम आदि ग्वालबाल व्याकुलता सहित रोते–रोते 'हे कृष्ण! तुम कहाँ हो, शीघ्रतापूर्वक आओ,' कहकर भंगिमापूर्वक उच्च स्वरसे उन्हें पुकारते। श्रीकृष्णके अदर्शनमें व्रजकी श्रीमती राधिकाादि गोपरमणियोंके लिए एक दिन भी प्रलयकी रात्रिके समान और एक क्षणकाल भी चतुर्युगके समान बोध होता। अर्थात् श्रीकृष्णके विरहमें उन्हें क्षण भरका समय भी बहुत दीर्घ लगता। पहले जो मिलनमें सुखका कारण होता था, विरहमें वही दुःखका कारण हो जाता। जैसे वसंत ऋतु, कोयलकी कुहू–कुहू ध्वनि, यमुना पुलिन आदि उनके मिलनके समय सुखदायक होते और वही विरहके समय बड़े दुःखदायक हो जाते। अतएव क्षणकालके लिए श्रीकृष्णको न देखकर दुःख होता और उनको देखनेसे ही असीम सुखकी प्राप्ति होती, इसलिए गोपियाँ गृह–कार्यादि सब कुछ छोड़कर श्रीकृष्णके दर्शनके लिए उनके आगमनके पथकी ओर देखती रहती। यथा, दशम–स्कन्धके गोपीगीतमें वर्णन है—"जब तुम दिनके समय वनमें प्रवेश करते हो, तब तुम्हें न देख पानेके कारण व्रजवासियों अथवा गोपियोंको एक त्रुटि अर्थात् पलक झपकने मात्रका काल भी सुदीर्घ युगके समान लगता है और सायंकाल जब अत्यधिक उत्सुकतापूर्वक श्रीकृष्णका मुखकमल दर्शन करती हैं तो पलकोंके गिरने पर उसके निर्माता विधाताको अनभिज्ञ कहकर धिक्कार देती हैं।" पुनः श्रीकृष्णके वनसे लौटनेका समय जाननेके लिए पुनः–पुनः वे सूर्य, गोधूलि और उनके आनेके मार्गकी ओर देखती रहती। यहाँ पर 'गोधूलि' कहनेका अर्थ है, गौओंके खुरोंसे उठनेवाली रज, इसके द्वारा श्रीकृष्णके आनेके लक्षण सूचित होते हैं। सन्ध्या कालमें श्रीकृष्णकी मुरलीकी मधुर ध्वनि सुनकर गोपियाँ महाप्रेमके सारस्वरूप उन्माद दशाको प्राप्त हो जाती। ऐसी गोपियाँ क्या कभी श्रीकृष्णको गौओंकी रक्षा करनेमें नियुक्त करनेकी

अभिलाषा कर सकती हैं? क्या ऐसा सम्भव है? अर्थात् उनमें ऐसी अभिलाषा कभी भी संभव नहीं है॥१०४-१०५॥

अयं हि तत्तद्विपिनेषु कौतुकाद्-विहर्त्तुकामः पशुसङ्घसङ्गतः।
वयस्यवर्गैः सह सर्वतोऽटितुं प्रयाति नित्यं स्वयमग्रजान्वितः॥१०६॥

श्लोकानुवाद—वास्तवमें श्रीकृष्ण स्वयं ही परम रमणीय वृन्दावनमें सर्वत्र भ्रमण और विहार करनेके लिए गोचारणके छलसे अपने भैया बलराम और ग्वालबालोंके साथ नित्यप्रति वनमें जाते थे॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथमयं गास्तत्रारक्षत्तत्राह—अयमिति पञ्चभिः। अयं श्रीकृष्णः तेषु तेषु परमानिर्वचनीयेषु विपिनेषु श्रीवृन्दावनादिषु विहर्तुकामः; अतएव पशुसंघसङ्गतगवादिचारणेन दूरे परितः प्रसर्पनात्, सर्वत्र अटितुं भ्रमितुं वयस्यवर्गैः सह स्वयमेव नित्यं प्रयाति। कौतुकात् परमोत्सुकतया, परमाद्भुतदर्शनतो विस्मयेन वा अग्रजेन श्रीबलरामेण अन्वितः॥१०६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्ण वनमें गौओंकी रक्षा क्यों करते हैं? इसके उत्तरमें 'अयम्' इत्यादि पाँच श्लोक कहे जा रहे हैं। ये श्रीकृष्ण परम अनिर्वचनीय शोभासम्पन्न श्रीवृन्दावनमें विहारकी अभिलाषासे ही जाते हैं। अतएव गौओं आदि पशुओंके चरानेके छलसे वनमें सर्वत्र भ्रमण करनेके लिए वे अपने बड़े भैया श्रीबलदेव और गोपबालकोंके साथ स्वेच्छापूर्वक प्रतिदिन ही वनमें भ्रमण करते हैं तथा परम रमणीय वनोंकी परम अद्भुत शोभाका दर्शन करते हैं॥१०६॥

यत्रातिमत्ताम्बुविहङ्गमाला-कुलीकृताल्यावलीविभ्रमेण।
विचालितानां कमलोत्पलानां सरांसि गन्धैर्विलसज्जलानि॥१०७॥

श्लोकानुवाद—उस वृन्दावनमें अनेक सरोवर हैं तथा उन सरोवरोंका जल उत्पल, कमल आदि पुष्पोंकी सुगन्धसे सुवासित रहता है। वे पुष्प भ्रमरोंकी गुञ्जन तथा मदमत जल-पक्षियोंके विहारसे हिलते-डुलते रहते हैं॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्धेतुत्वेन विपिनान्येव वर्णयति—यत्रेति चतुर्भिः। येषु विपिनेषु सरांसि सन्ति; कथम्भूतानि? कमलानामुत्पलानाञ्च गन्धैर्विलसन्ति जलानि

येषाम्। कथम्भूतानाम्? अत्यन्तमत्तानामम्बु विहङ्गानां सारस-चक्रवाकादिजल-पक्षिणां मालाभिः पंक्तिभिराकुलीकृतानामलीनामावल्याः श्रेण्या विभ्रमेण क्रीड़या विचालितानाम्॥१०७॥

भावानुवाद—श्रीवृन्दावनकी शोभा अत्यन्त निराली है, उसीका वर्णन 'यत्रेति' चार श्लोकोंमें किया जा रहा है। उस श्रीवृन्दावनमें सैकड़ों सरोवर हैं। वे कैसे हैं? उन सरोवरोंका जल, कमल और उत्पल आदि पुष्पोंके द्वारा सुशोभित है तथा उन सभी पुष्पोंके सौरभसे सुवासित है। किस प्रकार? अत्यन्त मदमत्त सारस, हंस और चक्रवाक आदि जलचर पक्षियोंके विहारसे तथा चञ्चल भ्रमरोंकी क्रीड़ावशतः हिलते-डुलते कमल आदि पुष्पोंके सुगन्धसे सुवासित है॥१०७॥

तथा महाश्चर्यविचित्रतामयी कलिन्दजा सा व्रजभूमिसङ्गिनी।
तथाविधा विन्ध्यनगादिसम्भवाः पराश्च नद्यो विलसन्ति यत्र च॥१०८॥

श्लोकानुवाद—उन श्रीवृन्दावनकी सखी श्रीयमुना भी चित्तको चमत्कृत कर देनेवाली अद्भुत शोभासे युक्त हैं। यही नहीं बल्कि विन्ध्याचल आदि पर्वतोंसे निकलनेवाली छोटी-छोटी नदियाँ भी इस वृन्दावनकी शोभाको और भी अधिक वर्द्धित करती हैं॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथेत्युक्तसमुच्चये, तादृशीति वा। वर्णितसरःसदृशी कलिन्दजा श्रीयमुना यत्र विपिनेषु वर्त्तते, विलसतीति वा। वक्ष्यमाणस्य विलसन्तीत्यस्य वचनविपरिणामात्। महाश्चर्याणां पुलिनतटादिविषयकानां चित्तचमत्कारहेतूनां विचित्रता विविधत्वं तन्मयी; सा अनिर्वचनीय-परमशोभावती, यतः व्रजभूमेस्तस्याः सङ्गिनी सम्बन्धवती। येषु च विपिनेषु पराश्च मानसगङ्गाद्या नद्यो विलसन्ति शोभन्ते क्रीड़न्ति वा। कीदृश्यः? तथाविधाः कलिन्दजासदृश्य एव॥१०८॥

भावानुवाद—पूर्वोक्त सरोवरोंके समान कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुना भी श्रीवृन्दावनमें विलास करती हैं। श्रीयमुनाके पुलिन आदि चित्तको चमत्कृत कर देनेवाली विचित्रताओंसे युक्त हैं तथा अनिर्वचनीय शोभासम्पन्न हैं, क्योंकि श्रीयमुना व्रजभूमिकी सहेली हैं। उस व्रजभूमिकी शोभाकी वृद्धिके लिए अनेक छोटी-छोटी मानसी-गंगा जैसी नदियाँ भी सुशोभित हो रही हैं तथा वे भी श्रीयमुनाके समान ही शोभायमान हैं॥१०८॥

तत्तत्तटं कोमलबालुकाचितं रम्यं सदा नूतनशाद्वलावृतम्।
स्वाभाविकद्वेषविसर्जनोल्लसन्मनोज्ञनानामृगपक्षिसंकुलम् ॥१०९॥

श्लोकानुवाद—उन नदियोंके दोनों तट स्वच्छ कोमल बालु द्वारा परिपूर्ण हैं तथा नित्य नवीन घासोंसे मण्डित हैं। स्वाभाविक द्वेषसे रहित होनेके कारण सदैव उल्लसित तथा परम मनोहर नाना-प्रकारके मृग तथा पक्षी उन तटों पर विहार करते हैं॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यत्र च तत्तत्परमानिर्वचनीयं तटं सरसां यमुनादिनदीनां च तीरभूमिर्वर्त्तते; यद्वा, तेषां सरसां तासाञ्च कलिन्दजादीनां तटं रम्यं भवति। कोमलाभिर्बालुकाभिराचितमिति दुगर्मत्वं परिहृतम्। रम्यमिति भयानकत्वं, सदेत्यस्य यथेष्टं सर्वत्राप्यनुषङ्गः। नूतनैः शद्वलैः हरित तृणैरावृतमिति गवां पालनदुःखम्, स्वाभाविकः सहजो यो द्वेषः अहिनकुल-मृगव्याघ्रादीनां वैरं तस्य विसर्जनेन त्यागेन उल्लसन्तः उच्चैरधिकं शोभमानाः; यद्वा, अन्योऽन्यं क्रीड़न्तो मनोज्ञा नानाविधा मृगा पक्षिणश्च तै संकूलं व्याप्तमिति। दुष्टसत्त्वजुष्टत्वं च परिहृतम्; एतैर्विहार-सुखकौतुकहेतुत्वञ्च दर्शितम्॥१०९॥

भावानुवाद—श्रीवृन्दावनमें वे सब सरोवर और यमुना आदि नदियाँ तथा परम अनिर्वचनीय उनकी तटभूमि विद्यमान हैं। अथवा उन सभी सरोवरों और कालिन्दीके परम रमणीय तट कोमल बालु द्वारा परिव्याप्त हैं। 'कोमल बालु' पद द्वारा तटभूमिकी दुर्गमता और 'रमणीय' पदसे उनकी भयानकताका खण्डन हुआ है। 'सदा' शब्द आवश्यकताके अनुसार व्यवहृत होगा। अतएव वह तटभूमि सदैव नवीन घासोंसे हरी-भरी रहती है। इस वाक्यके द्वारा गौओंके पालनकार्यमें दुःख भोग करनेका अभाव सूचित हुआ है। स्वाभाविक विद्वेषसे युक्त सर्प-नेवला, मृग-व्याघ्र आदि अपने-अपने स्वभावगत द्वेषको भूलकर उल्लसित होकर उन तटों पर विहार करते हैं, अतः वे तट अत्यधिक सुशोभित हो रहे हैं तथा परम मनोहर नाना-प्रकारके मृगों और पक्षियोंसे परिपूर्ण हैं। इसके द्वारा 'दुष्टसत्त्व-सेवित' वाक्य आदिका भी खण्डन हुआ है। अतः ये सब तटप्रदेश श्रीकृष्णके विहार-सुखके कारण रूपमें भी प्रदर्शित हुए हैं॥१०९॥

दिव्यपुष्प–फल–पल्लवावलीभारनम्रितलता–तरु–गुल्मैः ।
भूषितं मदकलापि–कोकिल–श्रेणिनादितमजस्तुतिपात्रम् ॥११० ॥

श्लोकानुवाद—उन तटों पर गुल्म, लताएँ तथा वृक्ष दिव्य पुष्पों, फलों तथा पल्लवोंके भारसे झुके होनेके कारण तटोंकी शोभा वर्द्धित कर रहे हैं। मदमत्त मयूरों तथा कोकिल आदि पक्षियोंके मधुर कलरवसे वृन्दावन मुखरित हो रहा है। इस प्रकार परम रमणीय होनेके कारण श्रीब्रह्मा आदि देवताओंने भी वृन्दावनकी स्तुति की है॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च दिव्यानां परमाद्भुतानां पुष्पफलपल्लवानामावल्याः श्रेण्या भारेण नमितानि नम्रीकृतानि यानि लतातरुगुल्मानि तैर्भूषितं तटम्, मदयुक्तानां कलापिनां मयूराणां कोकिलानाञ्च श्रेणिभिर्नादितम्, एवम् अजस्य ब्रह्मणोऽपि स्तुतेः पात्रं विषयः। यथोक्तं ब्रह्मणैव दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३४) *'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्याम्'* इत्यादि॥११०॥

भावानुवाद—श्रीरोहिणीदेवी और भी कह रही हैं—वह तटप्रदेश परम अद्भुत पुष्प–फल–नवपल्लवों आदिके भारसे झुके हुए विविध प्रकारके वृक्ष–लताओं तथा गुल्मों आदि द्वारा सुशोभित हैं। मदमत्त मयूर तथा कोकिल आदि पक्षियोंके कलरवसे मुखरित हैं, इसलिए वह तट–प्रदेश ब्रह्मा आदि देवताओंका भी वन्दनीय है। श्रीब्रह्माने स्वयं ही कहा है कि इस वृन्दावनमें वृक्ष, गुल्म, लता आदि किसी भी योनिमें जन्म ग्रहण करना बड़े सौभाग्यकी बात है॥११०॥

वृन्दारण्ये व्रजभुवि गवां तत्र गोवर्द्धने
वा नास्ते हिंसाहरणरहिते रक्षकस्याप्यपेक्षा।
गावो गत्वोषसि विपिनतस्ता महिष्यादियुक्ताः
स्वैरं भुक्त्वा सजलयवसं सायमायान्ति वासम् ॥१११ ॥

श्लोकानुवाद—श्रीव्रजमण्डलके वृन्दावन और गोवर्द्धनमें हिंसा तथा पशुओंके चोरी होनेकी कोई आशंका नहीं है, अतएव उन स्थानोंमें गौओंकी रक्षा करनेके लिए रक्षकोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। गाय, भैंस आदि पशु अपने आप ही प्रातःकाल वनमें चले जाते हैं

तथा स्वछन्दरूपसे तृण और जल आदि भक्षण कर सायंकालको अपने-अपने स्थानों पर लौट आते हैं॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि गवां रक्षणेन दुःख दुष्परिहरमेव, तत्राह—वृन्देति। व्रजभूवि नन्दीश्वरादौ; यद्वा, व्रजभूव एव विशेषणं वृन्दारण्य इति गोवर्द्धन इति च। तत्र तस्याम्, गवां रक्षकस्याप्यपेक्षा नास्ते। कुतः? हिंस्रव्याघ्रादिभिः हरणञ्च चौरादिभिः ताभ्यां रहिते। कथं तर्हि बुद्धिहीनाः पशवो जीवन्तु नाम? तत्राह—गाव इति। ताः श्रीनन्दव्रजसम्बन्धिन्यः अनिर्वचनीयमाहात्म्या वा गावः ऊषसि प्रातर्वने गत्वा तत्र स्वैरं स्वाच्छन्देन सजलं सरसमित्यर्थः। यद्वा, जलसहितं यवसं घासं भुक्त्वा सन्ध्यायां वनाद्वासं व्रजमायान्ति। आदिशब्देन अजाः; तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/१९/२) *'अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद्वनम्'* इति। ततो गोरक्षणदुःखं तत्र नास्त्येवेति भावः॥१११॥

भावानुवाद—तथापि पशुओं आदिकी रक्षामें दुःख होता ही है। 'वृन्देति' श्लोक द्वारा उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि नन्दीश्वर आदि व्रजभूमिमें अथवा व्रजभूमिके वृन्दावन और गोवर्द्धनमें गौओं आदिके रक्षणकार्यके लिए रक्षकोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। किसलिए? वहाँ व्याघ्र आदि हिंसक जीव-जन्तुओंसे गौओं आदिके प्रति हिंसाकी कोई आशंका अथवा चोरों द्वारा गोधनके अपहरणका कोई भय नहीं है।

यदि प्रश्न हो कि वहाँ पर बुद्धिहीन गौएँ और अन्य पशु किस प्रकार जीवित रहते हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि श्रीनन्दव्रजका माहात्म्य अनिर्वचनीय है, अर्थात् गायें, भैंसें, बकरियाँ आदि पशु अपने आप ही प्रातःकाल वनको चले जाते हैं और स्वच्छन्दरूपमें घास चरकर तथा जल पानकर सायंकाल फिरसे अपने-अपने स्थान पर लौट आते हैं। यथा, दशम-स्कन्धमें कथित है—"बकरी, गायें और भैंसे एक वनसे दूसरे वनमें विचरण करते हुए इच्छानुसार तृण और जल आदि भक्षण कर रहे थे।" अतएव श्रीवृन्दावनमें गायोंकी रक्षा करनेमें कोई दुःख नहीं है॥१११॥

वृद्धोवाच—

अरे बालेऽतिवाचाले तत् कथं ते गवादयः।
अधुना रक्षकाभावान्नष्टा इति निशम्यते॥११२॥

श्लोकानुवाद—कंसकी वृद्धा माताने कहा—अरी वाचाले! तुम बालिका जैसी बातें कर रही हो। यदि वैसा ही होता तो फिर क्यों ऐसा सुना जा रहा है कि अब रक्षकके अभावमें वे सब गाय आदि पशु नष्टप्राय हो गये हैं॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्त्तहि कथं ते पशवः रक्षकस्यास्य श्रीकृष्णस्याभावाद् विच्छेदादधुना नष्टाः? न चैतन्मिथ्येत्याह—इत्येतत् सर्वत्रैव श्रूयते; अतो रक्षकापेक्षा नास्तीति त्वया यदुक्तं तदसिद्धम्, तत् त्वमज्ञा वाचाला च सत्यमेवासीति भावः॥११२॥

भावानुवाद—यदि व्रजके पशुओंकी रक्षा हो रही है, तब फिर सर्वत्र ऐसा क्यों सुना जा रहा है कि रक्षकके (श्रीकृष्णके) बिना वहाँकी गाय आदि पशु नष्ट हो रहे हैं। अतएव तुम जो कह रही हो कि व्रजवासियोंको अपने पशुओंकी रक्षाके लिए रक्षककी आवश्यकता नहीं है, यह असत्य है। सचमुच तुम वाचाल और बालिकाके समान अल्प बुद्धिवाली हो॥११२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

श्रीमद्गोपालदेवस्तच्छ्रुत्वा सम्भ्रान्तियन्त्रितः।
जातान्तस्तापतः शुष्यन्मुखाब्जः शङ्कयाकुलः॥११३॥
प्रथमापरकालीनव्रजवृत्तान्तवेदिनः।
मुखमालोकयामास बलदेवस्य साश्रुकम्॥११४॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—वृद्धाकी बातोंको सुनकर श्रीमद्गोपालदेव अत्यन्त चिन्तित और शंकासे व्याकुल हो गये, फल-स्वरूप उनको अत्यधिक सन्ताप हुआ जिससे उनका मुखकमल सूख गया। तब वे व्रजके पहलेके और वर्त्तमानके सारे वृत्तान्तोंको जाननेवाले श्रीबलरामके अश्रुपूर्ण मुखकमलकी ओर देखने लगे॥११३–११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्वृद्धावाक्यं श्रुत्वा संभ्रान्त्या संभ्रमेण यन्त्रितः पीड़ितः सन् बलदेवस्य मुखमालोकयामासेति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र हेतुः—प्रथमः मधुपूर्यागमनात् प्राचीनः, अपरश्च ततोऽर्वाचीनो यः कालस्तत्सम्बन्धिनं व्रजस्य वृत्तान्तं वेदितुं शीलमस्येति तथा तस्य। कथम्भूतः? जातो योऽन्तस्तापस्तस्मात् शुष्यन्मुखाब्जं यस्य, शङ्कया प्रियजनापवार्त्ताभीत्या व्याकुलः, साश्रुकं मुखं क्रियाविशेषणं वा॥११३–११४॥

भावानुवाद—वृद्धाकी इन सब बातोंको सुनकर श्रीमद्गोपालदेव अत्यधिक घबड़ाकर श्रीबलदेवके मुखकमलका अवलोकन करने लगे। उसका कारण यह है कि श्रीबलदेवजी व्रजके पहले और अबके सभी वृत्तान्तोंको जानते थे, अर्थात् वे श्रीकृष्णके मथुरा आगमनके पहले और आगमनके बादके व्रजके सम्पूर्ण वृत्तान्तको जानते थे। इस प्रकार श्रीकृष्णके हृदयमें अत्यधिक सन्ताप उत्पन्न होनेसे उनका श्रीमुखमण्डल सूख गया, क्योंकि वे प्रियजनोंके दुःसंवादकी शंकासे व्याकुल हो गये थे। तब वे अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले श्रीबलदेवके मुखकमलका अवलोकन करने लगे॥११३-११४॥

रोहिणीनन्दनो भ्रातुर्भावं बुद्ध्वा स्मरन् व्रजम्।
स्वधैर्यरक्षणाशक्तः प्ररुदन्नब्रवीत् स्फुटम्॥११५॥

श्लोकानुवाद—ऐसा देखकर रोहिणीनन्दन श्रीबलदेव अपने भाईके अभिप्रायको समझ गये तथा व्रजभूमिके स्मरणसे स्वयं धैर्य धारण करनेमें असमर्थ होकर उच्च स्वरसे रोते हुए वहाँके समस्त वृत्तान्तको स्पष्ट वचनों द्वारा कहने लगे॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—भावमभिप्रायं बुद्ध्वा, तेनैव व्रजं स्मरण् सन् स्वस्य धैर्यरक्षणेऽशक्तः सन् प्रकर्षेण सुस्वरमुच्चैः रुदन् स्फुटं व्यक्तं यथा स्यात्तथाब्रवीत्॥११५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११५॥

श्रीबलदेव उवाच—

गवां केव कथा कृष्ण ते तेऽपि भवतः प्रियाः।
मृगा विहङ्गा भाण्डीरकदम्बाद्याश्च पादपाः॥११६॥
लतानि कुञ्जपुञ्जानि शाद्वलान्यपि जीवनम्।
भवत्येवार्पयामासुः क्षीणाश्च सरितोऽद्रयः॥११७॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलदेवने कहा—हे कृष्ण! गौओंका तो कहना ही क्या, तुम्हारे प्रिय मृग, विहंग, भाण्डीरवनके कदम्ब आदि वृक्ष, लताएँ, कुञ्ज, तृण-मण्डित हरे-भरे मैदान आदि सभीने तुम पर अपना जीवन न्योछावर कर दिया है। सरोवर शुष्क हो गये हैं तथा पर्वत आदि भी दिन-प्रतिदिन क्षीण होते जा रहे हैं॥११६-११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—गवामित्यनेन महिष्यादयोऽप्युलक्ष्यन्ते, ग्राम्यपशुषु गवां प्राधान्यात्। इवेति लोकोक्तौ, का कथा, का वार्त्ता कथनीयेत्यर्थः। यदारण्यमृगादीनां मरणमभूत्, तदा त्वत्कृतपालनैकजीवनानां गवादीनां मरणं किं चित्रमित्येवं कैमुतिकन्यायावतारो वितर्क्यः। मृगाः कृष्णसारादयः, विहङ्गा मयूरादयः। सरितो यमुनाद्याः, अद्रयश्च गोवर्द्धनाद्याः, क्षीणाः कृशतां प्राप्ताः॥११६-११७॥

भावानुवाद—'गवां' शब्दके उपलक्षणसे भैंस आदि समस्त पशुओंको समझना चाहिए। गाँवके सभी पशुओंमें गाय प्रधान है, इसलिए मुख्य भावसे 'गवादि' शब्द प्रयोग हुआ है। हे कृष्ण! गायोंकी बात क्या कहूँ? जंगलमें विचरण करनेवाले हिरनोंने ही जब अपना जीवन न्योछावर कर दिया है, तब तुम्हारे द्वारा पालित अर्थात् तुम्हारे द्वारा किया गया पालन ही जिनका जीवन है, उन सब गौओं और भैसों आदिका मरना क्या कोई आश्चर्य है? अर्थात् कैमुतिक न्याय द्वारा ऐसा सिद्ध होता है। मृग अर्थात् कृष्णसार आदि मृगकुल, विहङ्ग अर्थात् मयूर आदि पक्षी, सरित अर्थात् यमुना आदि नदियाँ और सरोवर, अद्रि अर्थात् गोवर्द्धन आदि सभी पर्वत दिन-प्रतिदिन क्षीण होते जा रहे हैं॥११६-११७॥

मनुष्याः कतिचिद्भ्रातः परं ते सत्यवाक्यतः।
जाताशयैव जीवन्ति नेच्छ श्रोतुमतःपरम्॥११८॥

श्लोकानुवाद—हे भैया कृष्ण! वहाँके कुछ मनुष्य ही तुम्हारे सत्य वचनों पर विश्वास करके तुम्हारे दर्शनोंकी आशासे किसी प्रकार जीवन धारण कर रहे हैं। अतएव इससे अधिक और श्रवण करनेकी इच्छा मत करो॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि तासां वतः! का वार्त्तेत्यपेक्षयामाह—मनुष्या इति। कतिचिदित्यनेन बहवो मृता एवेति ध्वन्यते। ते तव यत् सत्यं वाक्यं गोकुलान्मधुपुर्यागमनसमये *'आयास्ये'* (श्रीमद्भा॰ १०/४१/१७) इति, रङ्गभूमौ च नन्दं प्रति *'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः'* (श्रीमद्भा॰ १०/४५/२३) इति। तस्माद् या जाता आशा भवत्सन्दर्शनादि लाभविषयका, तयैव परं केवलं जीवन्ति। अतः परमन्यत् प्रत्येकं विशेषवृत्तान्तं श्रोतुं नेच्छ, तच्छ्रवणेच्छामपि न कुरु; प्रियजनदुर्वार्त्ता-श्रवणेन महानर्थापत्तेरित्यर्थः॥११८॥

भावानुवाद—अच्छा, तो फिर व्रजके मनुष्योंके विषयमें बतलाओ, उनके विषयमें और अधिक क्या कहूँ? इसी आशंकासे ही 'मनुष्याः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वहाँके कुछ मनुष्य तुम्हारे वचनोंकी सत्यता पर विश्वास करके किसी प्रकार जीवन धारण कर रहे हैं। यहाँ पर 'कुछ' कहनेका उद्देश्य यह है कि उनमेंसे अधिकांशने ही तुम पर अपना जीवन न्योछावर कर रखा है। 'सत्यवाक्य' कहनेका अर्थ है कि गोकुलसे मधुपुरी आते समय श्रीकृष्णने कहा था—'आयास्ये' अर्थात् 'मैं आ ही रहा हूँ' तथा रंगभूमिमें श्रीनन्द बाबाको कहा था—'हम शीघ्र ही आत्मीय स्वजनोंके साथ आपसे मिलने जायेंगे।' तुम्हारे इन वचनों पर विश्वास करके अर्थात् तुम्हारे दर्शन प्राप्तिकी आशासे ही व्रजके मनुष्य किसी प्रकार जीवन धारण कर रहे हैं। अतएव अन्य विशेष वृत्तान्तोंको श्रवण करनेकी इच्छा मत करो, क्योंकि प्रियजनोंके विषयमें दुःसंवाद सुनकर महान अनर्थकी उत्पत्ति हो सकती है॥११८॥

किन्त्विदानीमपि भवान् यदि तान्नानुकम्पते।
यम एव तदा सर्वान् वेगेनानुग्रहीष्यति॥११९॥

श्लोकानुवाद—किन्तु यदि तुम अभी भी उन बचे हुए मनुष्यों पर कृपा नहीं करोगे तो यमराज ही यथाशीघ्र उन पर कृपा करेंगे, क्योंकि यमकी कृपासे ही बन्धुओंके वियोगसे उत्पन्न उनके दुःख और शोक शान्त होंगे॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तान् अवशिष्टान् व्रजवासिनः, यम् एवानुग्रहीष्यतीति मरणेन बन्धुवियोगशोकदुःखापगमात्॥११९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११९॥

यत्तत्र च त्वयाकारि निर्विषः कालियो ह्रदः।
शोकोऽयं विपुलस्तेषां शोकेऽन्यत् कारणं शृणु॥१२०॥

श्लोकानुवाद—व्रजकी विषम दशाके विषयमें और अधिक क्या कहूँ? तुमने व्रजमें जिस कालिय ह्रदको विषसे रहित कर दिया है,

वही उनके अत्यधिक शोकका कारण बन गया है। उनके शोकके और भी कारण हैं, उनको भी श्रवण करो॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि शीघ्रस्वैरमरणोपायाप्राप्त्या तेषां शोको नितरां वर्द्धत एवेत्याह—यदिति सार्धद्वाभ्याम्। तत्र यमानुग्रहे मरणे चेत्यर्थः। निर्विषोऽकारि कृत इति यत्, अयं विपुलो महान् शोकः, विषाभावेन तत्र सद्यो मरणासम्भवात्; न च जल-प्रवेशादिना मरणं स्यादिति वक्तुमाह—शोक इति॥१२०॥

भावानुवाद—तथापि स्वेच्छापूर्वक और शीघ्र ही मरनेके उपायके अभाववशतः उनका शोक अत्यधिक रूपमें बढ़ गया है। जिस कालिय ह्रदका विषसे पूर्ण जल उनके मरनेका एकमात्र उपाय था, उस ह्रदको भी तुमने विष रहित कर दिया है, यही उनके महान शोकका कारण बन गया है, अर्थात् विषके अभावमें उनका क्षणमात्रमें मरना असम्भव हो गया है। और फिर जलमें प्रवेश करनेसे भी मृत्यु नहीं हो रही है, क्योंकि समस्त जलाश्योंमें जल भी थोड़ा ही रह गया है। इसके अलावा उनके शोकके और भी दूसरे कारण हैं, उनको श्रवण करो॥१२०॥

तत्रत्य यमुना स्वल्पजला शुष्केव साऽजनि।
गोवर्द्धनोऽभून्नीचोऽसौ स्वर्गाप्तो यो धृतस्त्वया॥१२१॥

श्लोकानुवाद—वहाँ श्रीयमुनामें भी बहुत कम जल रह गया है अर्थात् वे लगभग सूख गयी हैं। जो श्रीगोवर्द्धन तुम्हारे करकमल पर चढ़कर स्वर्ग तक पहुँच गये थे, अब वही गिरिराज नीचे भूतलमें चले गये हैं॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—पूर्वोक्तं क्षीणत्वं विवृण्वन् शोककारणतामेवाह—तत्रत्येति। व्रज-भूमि-सम्बन्धिनी, सा विपुलतरङ्गावली परमगाम्भीर्यादियुक्ता भवदीयतत्तत्क्रीड़ा-भूमिर्यमुना स्वल्पजला सती शुष्कप्रायाभूत्, भवद्वियोगात्तापात्; अतस्तस्यां प्रवेशेन मरणं न घटत इति भावः। भृगुपातेनापि मरणं न स्यादित्यभिप्रायेणाह—गोवर्द्धन इति। त्वया करे धृतः सन् यो गोवद्धनः स्वर्गं प्राप्त इति परमोच्चता दर्शिता। तथा च हरिवंशे—*'शिखरैर्घूर्णमानैश्च सीदमानैश्च पादपैः। विधृतश्चोद्धतैः श्रृङ्गैरगमः खगमोऽभवत्॥'* इति। तथा च तत्रैव—*'आप्ल्युतोऽयं गिरिः पक्षैरिति विद्याधरोरगाः। गन्धर्वाप्सरसश्चैव वाचो मुञ्चन्ति सर्वशः॥'* इत्यादि। असौ नीचोऽभूत, भवद्विरहदुःखेन भूम्यन्तःप्रवेशात्, श्रृङ्गावलीशिलाचयस्खलनाच्च॥१२१॥

भावानुवाद—पूर्वोक्त सभी नदियोंकी क्षीणताका वर्णन करते हुए व्रजके मनुष्योंके शोकका कारण 'तत्रत्य' इत्यादि पदों द्वारा बता रहे हैं। व्रजभूमिसे सम्बन्धित श्रीयमुना जो पहले विपुल तरङ्गोंसे हिलोरें लेती थीं, अत्यन्त गहरी थीं तथा तुम्हारे विभिन्न लीलाओंकी स्थली थीं, अब वही श्रीयमुना तुम्हारे विरहमें अति अल्प जलवाली तथा लगभग शुष्क हो गयी है। अतएव उसके जलमें प्रवेश करनेसे भी मृत्यु नहीं हो रही है। भृगुपात अर्थात् ऊँचे स्थानसे कूदकर मरना भी असम्भव हो गया है; इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं कि जो गिरिराज गोवर्धन तुम्हारे द्वारा उठाये जाने पर स्वर्गको छू रहे थे, (इसके द्वारा श्रीगोवर्द्धनकी अत्यधिक ऊँचाईका प्रदर्शन हुआ है) वे गिरिराज भी इस समय तुम्हारे विरहके दुःखसे नीचे भूतलमें प्रवेश कर गये हैं तथा उनके शिखरसे शिलाएँ टूट-टूटकर गिर रही हैं। अतः उनकी चोटीसे कूदकर मरना भी असम्भव है। इस विषयका श्रीहरिवंशमें वर्णन किया गया है—"श्रीकृष्णने जब श्रीगोवर्द्धन धारण किया, उस समय उसकी चोटियाँ आगे और पीछे झुलने लगी, उसपर उगे वृक्ष काँपने लगे तथा उसके अत्यन्त ऊँचे शिखर बाह्य-आकाश (स्वर्ग)को छूने लगे।" तथा श्रीहरिवंशमें ही वर्णन है—"समस्त दिशाओंसे विद्याधर, उरगा, गन्धर्व और अप्सराएँ पीड़ित होकर जोरसे कहने लगे कि इस पर्वतकी चोटियाँ उनके पँखोंमें चुभ रही हैं"॥१२१॥

न यान्त्यनशनात् प्राणास्त्वन्नामामृतसेविनाम्।
परं शुष्कमहारण्यदावाग्निर्भविता गतिः॥१२२॥

श्लोकानुवाद—व्रजकी दशाके सम्बन्धमें और अधिक क्या कहूँ? जो जीवित रह गये हैं, उन्होंने भी स्नान, पान और भोजन आदिका त्याग कर दिया है। उनके प्राण केवल तुम्हारे नामामृतके सेवनके कारण ही बाहर नहीं निकल रहे हैं। अतएव अब सूखे हुए महावनकी दावाग्नि ही उनकी अन्तिम गति होगी॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तन्नामैवामृतं मधुरमङ्गलत्वादिना, तत् हा कृष्ण! हा हा! कृष्णेत्यादिरूपेण सेविनां सदा पिबताम्; किन्तु मयेदमनुमीयत इत्याह—परमिति। शुष्कं भाण्डीरादीनां तद्वियोगेन मरणात् शुष्कतां प्राप्तं यन्महारण्यं तस्मिन् यो दावाग्निः स एव गतिराश्रयो भावी॥१२२॥

भावानुवाद—तुम्हारा नाम ही अमृत और मधुर मंगलस्वरूप है। वे निरन्तर हा कृष्ण! हा हा कृष्ण! इत्यादि कहते हुए निरन्तर तुम्हारे नामामृतका पान कर रहे हैं, अतएव अनशन द्वारा भी उनके प्राण बाहर नहीं निकल रहे हैं। किन्तु मेरा ऐसा अनुमान है कि तुम्हारे वियोगमें सूखे हुए महावनमें लगी दावाग्नि ही अब उनकी अन्तिम गति बनेगी॥१२२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

शृण्वन्नसौ तत् परदुःखकातरः कण्ठे गृहीत्वा मृदुलस्वभावकः।
रामं महादीनवदश्रुधारया धौताङ्गरागोऽरुदुच्चसुस्वरम्॥१२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—इन वेदनापूर्ण बातोंको सुनकर परदुःखकातर तथा कोमल स्वभाववाले श्रीकृष्णने, श्रीबलरामके कंठको पकड़कर अत्यधिक दीनकी भाँति उच्च स्वरसे क्रन्दन करनी आरम्भ कर दिया तथा उनकी अश्रुधारासे उनका अङ्गराग धुलने लगा॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् श्रीबलदेवोक्तं शृण्वन्नेव, असौ भगवान्, परेषामन्येषाम्; यद्वा, पराणां शत्रुणामपि दुःखेन कातरो विवशः; यतो मृदुलः स्वभावः प्रकृतिर्यस्य, बहुब्रीहौ कः। राममग्रजं कण्ठे गृहीत्वा बलदेवस्य गलं धृत्वेत्यर्थः; उच्चः सुशोभनः स्वरो यथा स्यात्तथारुदत्। अश्रुणां धारया धौतः क्षालितः अङ्गरागोऽङ्गविलेपनं यस्येति रोदनबाहुल्यमुक्तम्॥१२३॥

भावानुवाद—श्रीबलदेवकी इन वेदनाभरी बातोंको सुनकर परदुःखकातर अर्थात् शत्रुके दुःखमें भी कातर होनेवाले तथा अति कोमल स्वभाववाले श्रीकृष्ण अपने बड़े भाईका कंठ पकड़कर अत्यधिक दीन व्यक्तिकी भाँति उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगे। अश्रु धाराओंसे उनका अंगराग धुल गया। इसके द्वारा उनका अत्यधिक क्रन्दन करना वर्णित हुआ है॥१२३॥

पश्चाद्भूमितले लुलोठ सबलो मातर्मुमोह क्षणा–
त्तादृग्रोदनदुःस्थतानुभवतश्चापूर्ववृत्तात्तयोः।
रोहिण्युद्धवदेवकी मदनसुश्रीसत्यभामादयः
सर्वेऽन्तःपुरवासिनो विकलतां भेजू रुदन्तो मुहुः॥१२४॥

श्लोकानुवाद—हे माता! तदुपरान्त श्रीकृष्ण श्रीबलरामके साथ भूमि पर लोटने लगे तथा क्षणभरमें ही मूर्छित हो गये। उनकी वैसी अवस्थाको देखकर और उनके दुःखको अनुभव करके माता रोहिणी, श्रीउद्धव, श्रीदेवकी, मदन-जननी श्रीरुक्मिणी, श्रीसत्यभामा और अन्तःपुरवासी, सभी इस अपूर्व घटनाको देखकर बारम्बार क्रन्दन करते-करते विकल हो गये॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—पश्चादुच्चसुस्वररोदनानन्तरम्, सबलः श्रीबलभद्रेण सहितः, तयोर्भ्रात्रोर्यत्तादृक् रोदनं दुःस्थता च भूलुठनादिरूपा, तयोरनुभवात् साक्षाद्दर्शनात्। कथम्भूतात्? अपूर्ववृत्तात् पूर्वं कदाचिदप्यजातादित्यर्थः। मदनं कामदेवं, सुत इति प्रद्युम्नमाता श्रीरुक्मिणी, एवमुक्तिश्च महिषीवर्गेषु तस्या मुख्यत्वेन परमगौरवात्; सर्वे जनाः॥१२४॥

भावानुवाद—उच्च स्वरसे क्रन्दन करते-करते श्रीकृष्ण, श्रीबलरामके साथ भूमि पर लोटपोट खाने लगे तथा क्षणभरमें ही मूर्छित हो गये। उनके वैसे क्रन्दन और भूमि पर लुंठन आदि दुःखको साक्षात्‌रूपमें देखकर रोहिणी माता, उद्धव आदि भी क्रन्दन करते हुए विकल हो गये। वह मोह किस प्रकारका था? अपूर्व अर्थात् पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ था। यहाँ पर 'मदनसु' कहनेका तात्पर्य है मदन (कामदेव) जिनके पुत्र हैं, अर्थात् प्रद्युम्नकी माता श्रीरुक्मिणीदेवी। ये महिषियोंमें मुख्य महिषी हैं, इसलिए गौरववशतः उनका नाम उल्लेख न करके 'मदन-जननी' कहा गया है॥१२४॥

श्रुत्वान्तःपुरतोऽपुराकलितमाक्रन्दं महार्त्तस्वरै-
र्धावन्तो यदवो जवेन वसुदेवेनोग्रसेनादयः।
तत्रागत्य तथाविधं प्रभुवरं दृष्ट्वारुदन् विह्वला
विप्रा गर्गमुखास्तथा पुरजनाश्चापूर्वदृष्टेक्षया॥१२५॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपासार निर्द्धारखण्डे
प्रियतमोनाम षष्ठोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—अन्तःपुरसे अपूर्व क्रन्दनकी ध्वनि सुनकर श्रीउग्रसेन आदि यादवगण श्रीवसुदेवके साथ अतिशीघ्र उस रोदन स्थल पर उपस्थित हुए तथा प्रभुवर श्रीकृष्णको वैसी अवस्थामें देखा। इस

प्रकार सभी पुरवासी और गर्ग आदि विप्र भी उपस्थित हो गये तथा जिस घटनाको आजसे पहले कभी भी देखा नहीं था, उसे देखकर सभी विह्वल होकर क्रन्दन करने लगे॥१२५॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके छठे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—अन्तःपुरे अन्तःपुरात् सकाशाद्वा आक्रन्दमुच्चैः क्रन्दनशब्दं श्रुत्वा। कीदृशम्? अपुराकलितं पूर्वमननुभूतम्, वसुदेवेन सहेति पितृत्वेन तस्य धारणाद्याधिक्यात्। तत्र अन्तःपुरे तथाविधं महारोदनादिना प्राप्तमोहमित्यर्थः। अरुदन् रुरुदुः, गर्गः पुरोहितः, मुखशब्देन सान्दीपनिप्रभृतयो ब्राह्मणाः सान्त्वनार्थमागताश्चारुदन्, पुरजनाः द्वारकावासिलोकाश्च। तत्र हेतुः—न पूर्वं दृष्टं यद्भगवद्रोदनादि तस्येक्षया साक्षादनुभवेन॥१२५॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे षष्ठोऽध्यायः।

भावानुवाद—अन्तःपुरसे आ रही उस उच्च क्रन्दनकी ध्वनिको सुनकर श्रीवसुदेव सहित सभी यादवगण अतिशीघ्र गतिसे दौड़कर उस महारोदन-स्थल पर उपस्थित हुए। वह क्रन्दन ध्वनि कैसी थी? जिस क्रन्दनको पहले कभी भी सुना नहीं गया अर्थात् जिसको पहले कभी भी अनुभव नहीं किया गया। यहाँ पर 'वसुदेव सहित' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीवसुदेव श्रीकृष्णके पिता हैं, अतः उनकी प्रेम-विह्वलता सर्वाधिक समझनी चाहिए। इस प्रकार श्रीगर्ग आदि प्रमुख पुरोहित और श्रीसान्दीपनी जैसे ब्राह्मणगण सान्त्वना देनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए, किन्तु श्रीकृष्ण-बलरामकी वैसी अवस्थाको देखकर वे स्वयं ही क्रन्दन करने लगे। समस्त द्वारकावासी भी प्रभुकी वैसी अवस्थाको देखकर क्रन्दन करने लगे। इसका कारण था कि ऐसी अवस्था उन्होंने पहले कभी भी नहीं देखी थी, अर्थात् श्रीकृष्णके ऐसे क्रन्दनका साक्षात् अनुभव करके सभी विह्वल होकर क्रन्दन करने लगे॥१२५॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके छठे अध्यायकी दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः (पूर्णः)

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इत्थं सपरिवारस्य मातस्तस्यार्त्तिरोदनैः।
ब्रहाण्डं व्याप्य सञ्जातो महोत्पातचयः क्षणात्॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—हे माता! इस प्रकार जब श्रीकृष्ण सपरिवार आर्त्तस्वरसे रोदन करने लगे, तब उनके इस क्रन्दनकी ध्वनि क्षणमात्रमें ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो गयी। उस समय नाना-प्रकारके भयानक उत्पात अर्थात् उल्कापात आदि आरम्भ हो गये॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

सप्तमे ब्रह्मणो युक्त्या मोहे शान्ते स्वयं प्रभुः।
गोपीनां परमोत्कर्षमाहाथाहर्षयन्मुनिम्॥

तस्य श्रीभगवतः, महोत्पाता निर्घातोल्कापातादयस्तेषां चयः समूहः॥१॥

टीकाका भावानुवाद

इस सप्तम अध्यायमें श्रीब्रह्माकी युक्तिसे भगवान्‌के मोहकी शान्ति, तदनन्तर गोपियोंके परमोत्कर्षकी चरमसीमा तक की महिमा जिसे भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीनारदको सुनाया था इत्यादि विषयोंका वर्णन किया गया है।

भगवान्‌का क्रन्दन क्षणभरमें ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो गया तथा नाना-प्रकारके उत्पात अर्थात् वज्र और उल्कापात इत्यादि आरम्भ हो गये॥१॥

तत्रान्यबोधकाभावात् स्वयमागाच्चतुर्मुखः।
वृतो वेदपुराणाद्यैः परिवारैः सुरैरपि॥२॥

श्लोकानुवाद—वहाँ पर सान्त्वना देनेवाला भी कोई नहीं था, सभी लोग स्वयं ही मोहित थे। अतएव चतुर्मुख ब्रह्मा स्वयं वेद-पुराणादि परिवार और देवगणोंसे परिवृत होकर उस स्थान पर उपस्थित हुए॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्यस्य बोधकस्य प्रबोधकारकस्याभावात्, गुरु पुरोहितादीनामपि मोहप्राप्तेः; तत्र द्वारकान्तःपुरे स्वयमेवागादागतः। वेद-पुराणाद्या एव परिवाराः परिजनास्तैर्वृत इति तस्य ज्ञानाधिक्यमुक्तम्॥२॥

भावानुवाद—द्वारकाके अन्तःपुरमें गुरु-पुरोहित आदि सभी मोहित थे तथा सान्त्वना देनेवाला भी कोई नहीं था। अतएव उस समय श्रीब्रह्मा स्वयं ही वेद-पुराणादि अपने परिवारसे परिवृत होकर उस स्थान पर उपस्थित हुए। वेद-पुराणादि श्रीब्रह्माका परिवार है, अतः उनमें ज्ञानकी अधिकता लक्षित होती है॥२॥

तमपूर्वदशाभाजं प्रेष्ठप्रणयकातरम्।
निगूढनिजमाहात्म्यभर प्रकटनोद्धतम्॥३॥
महानारायणं ब्रह्मा पितरं गुरुमात्मनः।
सचमत्कारमालोक्य ध्वस्तधैर्योऽरुदत् क्षणम्॥४॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने विस्मयपूर्वक देखा कि उनके पिता और गुरुस्वरूप महानारायण श्रीकृष्ण अपूर्व मोहदशाको प्राप्त हुए हैं। तत्पश्चात् प्रभुको अपने प्रियतमजनोंके प्रणयमें अत्यन्त कातर तथा अपने निगूढ़ प्रेमकी मधुरिमाको प्रकाशित करनेमें उद्यत देखकर वे धैर्य धारण न कर सके और थोड़ी देर तक क्रन्दन करते रहें॥३-४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं श्रीभगवन्तं ब्रह्मा सचमत्कारं परमविस्मयसहितं यथा स्यात्तथा आलोक्य तेन ध्वस्तं नष्टं धैर्यं यस्य तथाभूतः सन् क्षणमरुददिति द्वाभ्यामन्वयः। कथम्भूतम्? अपूर्वापूर्वमजाता परमाद्भुता वा या दशा मोहादिरूपा तां भजतीति तथा तम्। कुतः? प्रेष्ठानां प्रेष्ठेषु वा यः प्रेमा तेन कातरं विवशम्; यतः निगूढ़ः परमरहस्यो यो निज माहात्म्यभरस्तस्य प्रकटनेऽभिव्यञ्जने उद्धतं निरर्गलम्, तदर्थमेव तथावतीर्णत्वात्। अतएव महानारायणं वैकुण्ठेऽपीदृशमाहात्म्य प्रकटनात्। तादृशज्ञानवतः सान्त्वनार्थमागतस्यापि ब्रह्मणो रोदने हेतुः—आत्मनो ब्रह्मणः पितरं जनकं गुरुञ्च वेदाद्युपदेशकम्, अतो भक्तिविशेषेण प्रेम-भरो-दयाद्धैर्यापगमेन रोदनं सम्भवेदेवेत्यर्थः॥३-४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌को देखकर ब्रह्माजी अत्यधिक विस्मित हो गये तथा अपना धैर्य खो बैठे और क्षणमात्रके लिए क्रन्दन करने लगे। उन्होंने भगवान्‌को किस दशामें देखा? भगवान् अपूर्व मोहदशासे ग्रस्त थे अर्थात् ऐसी परम अद्भुत दशाको वे पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे। भगवान् ऐसी मोहदशाको क्यों प्राप्त हुए? अपने प्रियजनोंके प्रेममें विवश होकर, क्योंकि वे अपने परम रहस्यमय माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए सम्पूर्णरूपमें चेष्टा परायण थे। अर्थात् वे अपने परम रहस्यपूर्ण माहात्म्यको बिना किसी रोक-टोकसे प्रकट करनेके लिए आविर्भूत हुए थे, इसलिए ऐसी मोहदशाको प्राप्त हुए थे। अतएव ये श्रीमहानारायण हैं, क्योंकि श्रीनारायण स्वरूपमें उन्होंने वैकुण्ठमें भी ऐसे माहात्म्यको प्रकट नहीं किया है। यद्यपि श्रीब्रह्मा ऐसे असीम ज्ञानी महानारायणको सान्त्वना देनेके लिए उपस्थित हुए थे, तथापि उनके क्रन्दनका कारण यह था कि श्रीभगवान् उनके अपने पिता थे तथा वेद आदि शास्त्रोंके उपदेशक होनेके कारण गुरु भी थे। अतएव वे अत्यधिक भक्तिके उदय होनेके कारण प्रेमके वशीभूत होकर रोने लगे, ऐसा जानना चाहिए। श्रीब्रह्माके लिए धैर्यसे च्युत होकर उस प्रकार क्रन्दन करना असम्भव था॥३-४॥

संस्तभ्य यत्नादात्मानं स्वास्थ्यं जनयितुं प्रभोः।
उपायं चिन्तयामास प्राप चानन्तरं हृदि॥५॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर श्रीब्रह्मा यत्नपूर्वक स्वयं धैर्य धारणकर प्रभुको स्वस्थ करनेके लिए उपायकी चिन्ता करने लगे तथा क्षण भरमें मन-ही-मन उन्होंने उस उपायको निश्चित कर लिया॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—संस्तभ्य धैर्ययुक्तं कृत्वा चिन्तानन्तरमुपायं हृदि प्राप च॥५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५॥

तत्रैव भगवत्पार्श्वे रुदन्तं विनतासुतम्।
उच्चैः सम्बोध्य यत्नेन सबोधीकृत्य सोऽवदत्॥६॥

श्लोकानुवाद—उस स्थान पर भगवान्‌के निकट ही खड़े हुए विनतापुत्र श्रीगरुड़ भी रोदन कर रहे थे। श्रीब्रह्माने उनको उच्च स्वरसे सम्बोधन किया और यत्नपूर्वक उनको सचेत कराकर कहने लगे॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सबोधीकृत्य भगवन्मोहेन मोहितमिव सन्तं संज्ञां प्रापयेत्यर्थः। स चतुर्मुखः॥६॥

भावानुवाद—भगवान्‌की मोहदशाको देखकर गरुड़जी भी मूर्च्छित हो गये थे। इसलिए श्रीब्रह्मा सर्वप्रथम उनको सचेत कराकर कहने लगे॥६॥

श्रीब्रह्मोवाच—

यच्छ्रीवृन्दावनं मध्ये रैवताद्रि–समुद्रयोः।
श्रीमन्नन्दयशोदादिप्रतिमालंकृतान्तरम् ॥७॥
गोयूथैस्तादृशैर्युक्तं रचितं विश्वकर्मणा।
राजते माथुरं साक्षाद्वृन्दावनमिवागतम्॥८॥
तत्रेमं साग्रजं यत्नाद्यथावस्थं शनैर्नय।
केवलं यातु तत्रैषा रोहिण्यन्यो न कश्चन॥९॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने कहा—लवणसमुद्र और रैवतक पर्वतके बीचमें विश्वकर्मा द्वारा निर्मित श्रीनन्द, श्रीयशोदा और गायोंके यूथोंकी प्रतिमाओंके द्वारा अलंकृत वृन्दावन नामक एक स्थान है। वह मथुरामण्डलके अन्तर्गत साक्षात् श्रीवृन्दावनकी भाँति ही विराजमान है। अतः तुम श्रीकृष्णको उनके ज्येष्ठ–भ्राताके साथ इसी अवस्थामें यत्नपूर्वक धीरे–धीरे उसी वृन्दावनमें ले जाओ। केवल श्रीरोहिणीदेवी ही उस स्थान पर जाएँ और कोई भी नहीं जाए॥७–९॥

दिग्दर्शिनी टीका—रैवतपर्वत–लवणसमुद्रयोर्मध्ये श्रीवृन्दावनं यद्राजते, तत्र इमं श्रीभगवन्तं साग्रजं बलरामसहितं यथावस्थं मोहावस्थामनतिक्रम्य अतएव यत्नात् छलैर्नयेति सार्धद्वयेनान्वयः। कीदृशं तत्? श्रीमतां श्रीमतीभिर्वा नन्दादीनां प्रतिमाभिः प्रतिकृतिभिरलङ्कृतमन्तरं मध्यं यस्य। आदिशब्देन श्रीराधिकादयो गोप्यः, श्रीदामादयो गोपाश्च; तादृशैः प्रतिमारूपैः; यद्वा, भगवत्पालित–माथुरव्रजवर्त्तिसदृशैः कथमेवं सम्भवतीत्यत्राह—विश्वकर्मणा रचितमिति। अनेन प्रतिमास्वपि साक्षाच्छ्रीनन्दादि–

बुद्धिः स्यादिति ध्वनितम्। अतएव माथुरं मथुरामण्डलसम्बन्धि वृन्दावनं साक्षादागतमिव। एवं तत्तन्मृगपक्षिवृक्षादयोऽपि तत्र रचिता वर्त्तन्त इति ज्ञेयम्। तत्र रचितवृन्दावने एषा परमसुबुद्धिमती केवलमेकाकिनी रोहिणी यातु, तस्याः पूर्वं व्रजेऽपि वासात्; अन्यश्च कश्चन कोऽपि जनो न यातु॥७-९॥

भावानुवाद—लवण समुद्र और रैवतक पर्वतके बीचके स्थलमें श्रीवृन्दावन नामक एक स्थान है। भगवान् श्रीकृष्णको उनके ज्येष्ठ-भ्राता श्रीबलराम सहित इसी प्रकार मूर्च्छित अवस्थामें ही यत्नपूर्वक वहीं ले जाओ। वह स्थान कैसा है? श्रीनन्द महाराज और श्रीमती यशोदादेवी आदिकी प्रतिमाओं द्वारा सुन्दर रूपसे अलंकृत है। 'आदि' शब्दसे श्रीराधिका आदि गोपियों और श्रीदाम आदि सखाओंकी प्रतिमाओं द्वारा भी सुन्दर रूपसे अलंकृत है, ऐसा भी सूचित होता है। अथवा भगवान् द्वारा पालित माथुर-मण्डलके अन्तर्गत श्रीवृन्दावन जैसा ही वह स्थान है। ऐसा किस प्रकार सम्भव हुआ? विश्वकर्माने इसका निर्माण किया है, इसलिए ऐसा सम्भव हुआ है। इसके द्वारा प्रतिमाएँ भी साक्षात् श्रीनन्द आदि जैसी ही दीख पड़ती हैं—यह भी सूचित हो रहा है। अतएव यह स्थान ठीक श्रीमथुरामण्डलके अन्तर्गत श्रीवृन्दावनके समान ही प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार गौओंके यूथ, मृगों, पक्षियों, और वृक्ष आदिकी प्रतिमाओंकी भी रचना की गयी है, अर्थात् वे भी ठीक-ठीक मृग, पक्षी आदि जैसे ही दिखलायी पड़ते हैं—ऐसा समझना चाहिए। उस नवनिर्मित वृन्दावनमें केवल परम सुबुद्धिमती श्रीमती रोहिणीदेवी ही गमन करें, क्योंकि उन्होंने पहले व्रजमें वास किया है और वे व्रजकी रीति-नीतिसे भलीभाँति अवगत हैं। दूसरा कोई भी व्यक्ति वहाँ न जाए॥७-९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

प्रयत्नात् स्वस्थतां नीतो ब्रह्मणा स खगेश्वरः।
विशारदवरः पृष्ठे मन्दं मन्दं न्यधत्त तौ॥१०॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीब्रह्मा द्वारा यत्नपूर्वक सचेत किये जाने पर पक्षिराज गरुड़ने श्रीकृष्ण और श्रीबलरामको धीरे-धीरे अपनी पीठ पर बैठाया॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—विशारदवर इति एवं प्रकारेण भगवतो मोहापगमो भवेदित्यादिकं विचारयन्नित्यर्थः। अतएव पृष्ठे निजपक्षोपरि तौ रामकृष्णौ शनैः शनैरर्पयामास॥१०॥

भावानुवाद—भगवान्‌की मूर्च्छाको दूर करनेके लिए श्रीबह्माके अभिप्रायको भलीभाँति समझकर उसीके अनुरूप कार्य करनेमें निपुण होनेके कारण श्रीगरुड़को 'विशारदवर' कहा गया है। अतएव परम विशारद श्रीगरुड़ने श्रीकृष्ण और श्रीबलरामको धीरे-धीरे अपनी पीठ पर बैठाया॥१०॥

स्वस्थानं भेजिरे सर्वे चतुर्वक्त्रेण बोधिताः।
संज्ञामिवाप्तो रामस्तु नीयमानो गरुत्मता॥११॥

श्लोकानुवाद—श्रीवसुदेव आदि यादवगण श्रीब्रह्मा द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर अपने-अपने स्थानों पर चले गये। जब श्रीगरुड़ दोनों भाइयोंको उस स्थान पर ले जाने लगे, उसी समय श्रीबलरामको कुछ होश आ गया॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वे वसुदेवादयश्च ब्रह्मणा प्रबोधिताः सन्तः निजनिजस्थानं गताः। इवेति तदानीमपि सम्यक् संज्ञाप्राप्तिं निरस्यति॥११॥

भावानुवाद—इसके बाद श्रीवसुदेव आदि सभी यादव श्रीब्रह्माके द्वारा सान्त्वना प्राप्त होने पर अपने-अपने भवनोंमें लौट गये। 'संज्ञामिव' पदमें 'इव'के प्रयोगसे श्रीबलरामके सम्पूर्ण सचेत होनेका खण्डन कर रहे हैं। अर्थात् वे किञ्चित् सचेत हुए, ऐसा समझना चाहिए॥११॥

श्रीनन्दनन्दनस्तत्र पर्यङ्के स्थापितः शनैः।
साक्षादिवावतिष्ठन्ते यत्र तद्गोपगोपिकाः॥१२॥

श्लोकानुवाद—उस नवनिर्मित वृन्दावनमें जिस स्थान पर गोप-गोपियोंकी प्रतिमाएँ साक्षात्‌की भाँति विराजमान थीं, वहीं पर श्रीगरुड़ने श्रीनन्दनन्दनको धीरे-धीरे अपनी पीठसे उतारकर पलङ्क पर लेटा दिया॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र रचितवृन्दावने तत्र च पर्यङ्के धृतः। तत्रापि स्थानविशेषमाह—साक्षादिति। तेषु प्रसिद्धा गोपाः श्रीनन्दादयः ता गोप्यश्च श्रीयशोदादयो यत्र तत्रैव॥१२॥

भावानुवाद—उस निर्मित वृन्दावनमें पहुँचकर श्रीगरुड़ने श्रीकृष्णको पलङ्क पर सुला दिया। किस स्थान पर? वहीं जहाँ पर सुप्रसिद्ध श्रीनन्द आदि गोपों तथा श्रीयशोदा आदि गोपियोंकी प्रतिमाएँ साक्षात्‌की भाँति विराजमान थीं॥१२॥

उद्धवेन सहागत्य देवकी पुत्रवत्सला।
रुक्मिणीसत्यभामाद्या देव्यः पद्मावती च सा॥१३॥
तादृग्दशागतं कृष्णमशक्तास्त्यक्तुमञ्जसा।
दूराद्दृष्टिपथेऽतिष्ठन्निलीय ब्रह्मयाच्ञया॥१४॥

श्लोकानुवाद—पुत्रवत्सला श्रीदेवकी, श्रीरुक्मिणी-सत्यभामा आदि महिषियाँ तथा पद्मावती भी श्रीकृष्णकी ऐसी दशाको देखकर उन्हें सहसा त्याग न कर सकी और श्रीउद्धवके साथ उस नव-वृन्दावनमें आ गयीं। किन्तु श्रीब्रह्माकी प्रार्थनासे वे सभी कुछ दूरी पर छिपकर ही घटनाओंका दर्शन करने लगीं॥१३-१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उद्धवेन सह तत्रैवागत्य देवक्यादयो दूरादतिष्ठन्निति द्वाभ्यामन्वयः। सा भगवन्मातामही। दृष्टिपथ इति यत्र स्थित्वा कृष्णं द्रष्टुं शक्नुवन्ति तत्रेत्यर्थः। तत्रापि ब्रह्मणो याच्ञया प्रार्थनया निलीय नितरां लीना वृक्षादभ्यन्तरिता भूत्वेत्यर्थः॥१३-१४॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव सहित श्रीदेवकी आदि उस नवनिर्मित वृन्दावनमें आयीं तथा भगवान्‌की मातामही पद्मावती भी उनके साथ आयीं। किन्तु श्रीब्रह्माकी प्रार्थनाके अनुसार वे सब श्रीकृष्णके निकट नहीं गये, परन्तु कुछ दूरी पर अर्थात् जिस स्थानसे श्रीकृष्णको देखा जा सके, ऐसे एक स्थान पर वृक्षोंके पीछे छिपकर देखने लगे॥१३-१४॥

नारदस्तु कृतागस्कमिवात्मानममन्यत।
देवानां यादवानाञ्च सङ्गेऽगान्न कुतूहलात्॥१५॥
वियत्यन्तर्हितो भूत्वा बद्धैकं योगपट्टकम्।
निविष्टो भगवच्चेष्टामाधुर्यानुभवाय सः॥१६॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारद अपनेको मानो अपराधी समझकर न तो देवताओंके साथ वहाँ गये और न ही यादवोंके साथ, परन्तु कौतूहलवशतः भगवान्‌की लीला-चरित्रके माधुर्यका अनुभव करनेके लिए आकाशमें ही योगासन स्थापित कर अलक्षितकी भाँति विराजित हो गये॥१५-१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृतमागोऽपराधो येन तं भगवन्मोहापादककारणविशेषोत्थापनात्। इवेति तत्त्वतोऽपराधाभावात्। स चाग्रे भगवदुक्त्या व्यक्तो भावी। तथा मननाच्च ब्रह्मादीनां वसुदेवादीनाञ्च सङ्गेन गतः कुतूहलादित्यस्य परेणान्वयः॥१५॥

कौतुकेन वियत्येव सः। नारदो निविष्टः उपविष्टः। किमर्थं? भगवतश्चेष्टायाश्‌-चरितस्य माधुर्यं तस्यानुभवाय साक्षात्काराय॥१६॥

भावानुवाद—श्रीनारद भगवान्‌के मूर्च्छित हो जानेके कारण अपने आपको अपराधी समझने लगे। किन्तु 'इव' कारके द्वारा तत्त्वतः अपराधका अभाव ही सूचित होता है। यद्यपि यह विषय बादमें भगवान्‌की उक्तिके द्वारा ही स्पष्ट होगा, तथापि श्रीनारद अपनेको अपराधी जैसा समझकर श्रीवसुदेव आदि यादवों अथवा श्रीब्रह्मा आदि देवताओंके साथ भी उस नव-वृन्दावनमें नहीं गये। 'कुतूहलात' (कौतूहलवशतः) इस शब्दका श्लोक संख्या १६के साथ अन्वय होगा॥१५॥

श्रीनारद कौतूहलवशतः आकाशमें योगासन स्थापित करके अलक्षितकी भाँति विराजित हो गये। किसलिए? श्रीभगवान्‌के माधुर्यमय चरित्रको अनुभव अथवा साक्षात् दर्शन करनेके लिए॥१६॥

गरुड़श्चोपरि व्योम्नः स्थित्वाऽप्रत्यक्षमात्मनः।
पक्षाभ्यामाचरंश्छायामन्ववर्त्तत तं प्रभुम्॥१७॥

श्लोकानुवाद—श्रीगरुड़ भी अलक्षितरूपसे आकाशमें रहकर अपने दोनों पंखोंके द्वारा छायाका विस्तार करते हुए प्रभुकी सेवा करने लगे॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अप्रत्यक्षं यथा स्यात्। केनापि यथा न लक्ष्यते तथाकाशोपरि स्थित्वा प्रभुं निजस्वामिनं तं भगवन्तम् अन्ववर्त्तत असेवत लक्षीकृत्य स्थित इति वा॥१७॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीगरुड भी अप्रत्यक्षरूपसे आकाशमें रहकर अर्थात् जिस प्रकार रहनेसे कोई भी उनको देख न सके, परन्तु वे अपने प्रभुको देख सके, ऐसे स्थान पर अवस्थित होकर अपने प्रभुकी सेवा करने लगे॥१७॥

अथ कृष्णाग्रजः प्राप्तः क्षणेन स्वस्थतामिव।
तं सर्वार्थमभिप्रेत्य विचक्षण–शिरोमणिः॥१८॥
क्षिप्रं स्वस्यानुजस्यापि सम्मार्ज्य वदनाम्बुजम्।
वस्त्रोदरान्तरे वंशी शृङ्गवेत्रे च हस्तयोः॥१९॥
कण्ठे कदम्बमालाञ्च बर्हापीड़ञ्च मूर्द्धनि।
नवं गुञ्जावतंसञ्च कर्णयोर्निदधे शनैः॥२०॥

श्लोकानुवाद—तब बुद्धिमान–शिरोमणि श्रीबलराम क्षणभरमें ही सचेतन होकर श्रीब्रह्माके अभिप्रेत अर्थको समझ गये तथा शीघ्रतापूर्वक सर्वप्रथम अपने मुखकमलको और फिर अपने अनुज श्रीकृष्णके मुखकमलको भी धो दिया। इसके बाद उन्होंने धीरे–धीरे श्रीकृष्णकी कमरमें बँधे हुए वस्त्रमें वंशीको खोंस दिया, दाएँ और बाएँ हाथोंमें क्रमशः शृंग और वेत्र, कंठमें कदम्ब पुष्पोंकी माला, मस्तक पर मयूरपूच्छका चूड़ा तथा दोनों कानोंमें नवगुञ्जासे निर्मित कर्णभूषण अर्पण किये॥१८–२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इवेति अनुजस्यास्वास्थ्येन सम्यक्स्वास्थ्याभावात्। तं ब्रह्ममन्त्रणया प्राप्तं सर्वं अर्थं श्रीकृष्ण–स्वस्थताहेतुः प्रयोजनम् अभिप्रायेण ज्ञात्वा। स्वस्य आत्मनः अनुजस्यापि श्रीकृष्णस्य वदनाम्बुजं, सम्मार्ज्य क्षालनादिना रजआद्यपसार्य वस्त्रोदरयोरन्तरे मध्ये वंशीं शनैर्निदधे अर्पितवानित्युत्तरेणान्वयः। यतः विचक्षणानामभिज्ञानां शिरोमणिर्मूर्धन्यः। नवमित्यस्य पूर्वेणान्वयः॥१८–२०॥

भावानुवाद—'स्वस्थतामिव' पदके 'इव' कारका तात्पर्य यह है कि अपने अनुजकी अस्वस्थताके कारण श्रीबलराम पूर्णता स्वस्थ नहीं थे, तथापि श्रीब्रह्माके श्रीकृष्णको स्वस्थ करनेके अभिप्रायको समझकर सर्वप्रथम उन्होंने अपना मुखकमल धोया और फिर अपने अनुज श्रीकृष्णके मुखकमलको धोकर उनके मुख पर लगी हुई रज आदिको साफ कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने धीरे–धीरे श्रीकृष्णकी कमरमें बंधे

हुए वस्त्रमें वंशीको खोंस दिया, क्योंकि वे विचक्षण-शिरोमणि थे॥१८-२०॥

रचयित्वा वन्यवेशं त्वष्टृकल्पितवस्तुभिः।
बलादुत्थापयन् धृत्वाब्रवीदुच्चतरस्वरैः॥२१॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीबलरामने विश्वकर्मा द्वारा कल्पित (निर्मित) सामग्रियोंसे श्रीकृष्णको वन्यवेश धारण करा दिया तथा बलपूर्वक उनको शय्यासे उठाकर उच्च स्वरसे कहने लगे॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमात्मनः श्रीकृष्णस्यापि वन्यवेशं रचयित्वा इत्यनेनानुक्त-गुञ्जाहारादिकमपि परामृश्यते। नन्वत्र तादृशवन्यवेशरचना कथं सिध्यति तत्तद्द्रव्याभावात्? तत्राह—त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा कल्पितैर्निर्मितैर्वस्तुभिर्वंश्यादिद्रव्यैः। यादृशानि वंश्यादिद्रव्याणि वृन्दावने पूर्वमासन्, अत्रापि तादृशान्येव देवशिल्पिशक्तिविशेषेण सन्तीत्यर्थः। बलादुत्थापयन्निति स्वकराभ्यां श्रीकृष्णं धृत्वा निजबलेन शयनादुत्थापयन्नित्यर्थः॥२१॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीबलरामने अपनेको और श्रीकृष्णको वन्यवेश धारण कराया। यहाँ पर यद्यपि वन्यवेश धारणमें वस्त्रोंके अन्तर्गत गुञ्जाहारका उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि गुञ्जाहार भी विद्यमान था, ऐसा समझना चाहिए। यदि कहो कि उस स्थान पर वन्यवेश धारण किस प्रकार हो सकता था, क्योंकि वहाँ पर तो वन्यवेशके उपयोगी वस्तुओंका अभाव था। इसके उत्तरमें कहते हैं कि विश्वकर्मा द्वारा निर्मित नव-वृन्दावनमें वंशी आदि समस्त वस्तुएँ विद्यमान थीं। अर्थात् जिस प्रकार श्रीवृन्दावनमें वन्यवेश-रचनाके उपयोगी द्रव्यादि समस्त वस्तुएँ सदा विद्यमान रहती थीं, उसी प्रकार यहाँ पर भी देवशिल्पी विश्वकर्मा द्वारा वैसे द्रव्योंकी रचना की गयी थी। देवशिल्पी होनेके कारण विश्वकर्मामें वैसे द्रव्यादिको निर्माण करनेकी शक्ति है, इसको अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसके उपरान्त श्रीबलरामने अपने हस्तकमलोंके द्वारा श्रीकृष्णको शय्यासे बलपूर्वक उठाया और उच्च स्वरसे कहने लगे॥२१॥

श्रीबलदेवोवाच—

श्रीकृष्ण कृष्ण भो भ्रातरुत्तिष्ठोत्तिष्ठ जागृहि।
पश्याद्य वेलातिक्रान्ता विशन्ति पशवो वनम्॥२२॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलदेवने कहा—श्रीकृष्ण! कृष्ण! भैया! उठो, उठो, जागो, देखो! आज बहुत देर हो गयी है, इसलिए सभी गायें वनमें प्रवेश कर रहीं हैं॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—वेला शयनादुत्थानस्य पशूत्थापनस्य वा कालः अद्य अतिक्रान्ता अत्यगात्। अतः स्वयमेव पशवः गवाद्या वनं प्रविशन्तीति पश्य॥२२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२२॥

श्रीदामाद्या वयस्याश्च स्थिता भवदपेक्षया।
स्नेहेन पितरौ किञ्चिन्न शक्तौ भाषितुं त्वयि॥२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीदाम आदि सखागण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, माता और पिता स्नेहवशतः तुम्हें कुछ भी कह नहीं पा रहे हैं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च तेषां सङ्गे अन्ये रक्षकाः केचिद्यान्ति, त्वदेकप्रेमाकृष्टत्वादित्याह—श्रीदामाद्या इति। ननु सत्यं, तथा सति माता पिता च मामुत्थाप्य तत्र न्ययोजयिष्यताम्। तत्राह—स्नेहेनेति। पितरौ यशोदा-नन्दौ त्वयि त्वां प्रति किञ्चिदपि शयनादुत्थानं पशुरक्षणं वा भाषितुं वक्तुं न शक्तौ न समर्थौ भवतः॥२३॥

भावानुवाद—गौओंके साथ श्रीदाम आदि उनका कोई भी रक्षक वनमें नहीं गया, क्योंकि श्रीदाम आदि सभी सखा तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होकर यहीं पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि कहो कि यह बात तो सत्य है, किन्तु माता-पिता भी तो मुझे जगाकर इस कार्यमें नियुक्त कर सकते थे? इसीलिए कह रहे हैं कि पिता नन्द और माता यशोदा स्नेहवशतः तुम्हें निद्रित अवस्थासे उठाकर पशुओंकी रक्षा हेतु वनमें जानेके लिए कुछ भी कह नहीं पा रहे हैं॥२३॥

पश्यन्तस्ते मुखाम्भोजमिमा गोप्यः परस्परम्।
कर्णाकर्णितया किञ्चिद्वदन्त्यस्त्वां हसन्ति हि॥२४॥

श्लोकानुवाद—और देखो, ये गोपियाँ भी तुम्हारे श्रीमुखकमलको देखकर परस्पर एक-दूसरेसे काना-फूसी करती हुईं न जाने क्या कह रही हैं, निश्चय ही तुम्हारा उपहास कर रही हैं॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इमाः साक्षाद् वर्त्तमानाः किञ्चिद्रात्रिजागरणेन कृष्णस्य निद्राधुनापि नापयातीत्येवं रूपं परस्परं कर्णाकर्णितया वदन्त्यः मुखाम्भोजे रतिचिह्न-दर्शनात्; हि निश्चितम्॥२४॥

भावानुवाद—और भी देखो, यहाँ पर सब गोपियाँ साक्षात्‌रूपसे उपस्थित हैं तथा वे निश्चय ही एक दूसरेके कानोंमें कुछ कह रही हैं। क्या कह रही हैं? रात्रिमें जागरणके कारण अभी तक भी श्रीकृष्णकी निद्रा भंग नहीं हुई है। वे तुम्हारे श्रीमुखकमलका दर्शन करके उपहास भी कर रही हैं, अर्थात् तुम्हारे श्रीमुखकमल पर रतिके चिह्न देखकर परस्पर हँस रही हैं॥२४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इत्थं प्रजल्पताभीक्ष्णं नामभिश्च सलालनम्।
आहूयमानो हस्ताभ्यां चाल्यमानो बलेन च॥२५॥
रामेणोत्थाप्यमानोऽसौ संज्ञामिव चिराद्गतः।
वदन् शिवशिवेति द्रागुदतिष्ठत् सविस्मयम्॥२६॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—इस प्रकार श्रीबलदेव बार-बार प्रीतिपूर्वक श्रीकृष्णको नाम ले-लेकर उनको पुकारने लगे और फिर बलपूर्वक अपने करकमलोंके द्वारा उन्हें उठाकर बैठा दिया। इस प्रकार श्रीबलराम द्वारा उठाये जाने पर श्रीकृष्ण बहुत देरके पश्चात् चेतनता प्राप्त करके विस्मयपूर्वक 'शिव शिव' कहते हुए अपनी शय्यासे उठ खड़े हुए॥२५-२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—लालनं मुखचुम्बनादिकम्; स्नेहकोमलमधुरोक्ति प्रशंसनादिकञ्च तेन सहितं यथा स्यात्तथा नामभिः कृष्ण-श्रीकृष्णगोपालगोविन्देत्यादिभिः कृत्वा रामेणाहूयमानः तथापि व्युन्थानाभावाद् बलेन स्वशक्तया हस्ताभ्यां चाल्यमानः उत्थाप्यमानश्च सन् आदौ भगवान् चिरात् संज्ञां गतः प्राप्तः सन् सविस्मयं द्राक् शीघ्रमुदतिष्ठदिति द्वाभ्यामन्वयः। इवेत्यनेन तदानीमपि समग्रतया मोहानपगमो बोध्यते। तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। किं कुर्वन्? विस्मयात् शिवशिवेति वदन्॥२५-२६॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीबलदेव लालन अर्थात् बार-बार श्रीकृष्णके मुखको चुम्बन आदि द्वारा प्रीतिपूर्वक स्नेह भरे मधुर स्वरसे प्रशंसा करते हुए उन्हें 'कृष्ण' 'श्रीकृष्णगोपाल' 'गोविन्द' इत्यादि नामों द्वारा

पुकारने लगे। तब भी श्रीकृष्ण जाग्रत नहीं हुए अथवा अपनी शय्यासे नहीं उठे। फिर श्रीबलदेवने बलपूर्वक अपने दोनों हाथोंसे उनको उठाकर बैठाया, तब भगवान् बहुत देरके बाद चेतनता प्राप्त करके विस्मयपूर्वक शय्यासे उठ खड़े हुए। मूल श्लोकमें 'संज्ञामिव' पदमें 'इव' शब्दका तात्पर्य यह है कि तब भी श्रीकृष्णकी मूर्च्छा सम्पूर्णरूपसे दूर नहीं हुई, ऐसा समझना चाहिए। इस विषय पर बादमें चर्चा होगी। फिर श्रीकृष्णने क्या किया? विस्मयपूर्वक 'शिव' 'शिव' कहने लगे॥२५-२६॥

उन्मील्य नेत्रकमले संपश्यन् परितो भृशम्।
स्मयमानः पुरो नन्दं दृष्ट्वा ह्रीणो ननाम तम्॥२७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण अपने नेत्रकमल खोलकर बार-बार चारों ओर देखने लगे तथा श्रीनन्दको अपने सम्मुख देखकर लज्जापूर्वक उनको प्रणाम किया॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्मयमानः स्वकीयचिरनिद्रादिना ईषद्धसन्। पुर अभिमुखे दृष्ट्वा ह्रीणो लज्जितः सन् तं नन्दं ननामेत्यनेन पूर्वमपि नित्यं प्रातरुन्थाय पितुरभिवन्दनं क्रियत इति बोध्यते॥२७॥

भावानुवाद—बहुत देरके पश्चात् निद्रा भंग होने पर श्रीकृष्णने अपने सम्मुख जब श्रीनन्दको देखा तो मधुर हास्य करते हुए लज्जापूर्वक उनको प्रणाम किया। वे पहले भी व्रजमें प्रतिदिन प्रातः पिताको इसी प्रकार प्रणाम करते थे, यही समझना चाहिए॥२७॥

अब्रवीत् पार्श्वतो वीक्ष्य यशोदाञ्च हसन्मुदा।
स्नेहात्तदाननन्यस्तनिर्निमेषेक्षणामिव ॥२८॥

श्लोकानुवाद—निकट ही खड़ी हुई माता यशोदा स्नेहवशतः मानो श्रीकृष्णके मुखकमल पर बिना पलकें झपकाये दृष्टि डाल रही थीं, उनको देखकर श्रीकृष्ण आनन्दपूर्वक हँसते-हँसते कहने लगे॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवत आनने विषये न्यस्ते अर्पिते निर्निमेषे ईक्षणे यया ताम्। इवेत्युत्प्रेक्षायां वस्तुतः प्रतिमाया निर्निमेषदृष्टित्वात्। भगवतस्तु पूर्ववत् स्नेहादेवनिर्निमेष-दृष्टित्व भानम्। इत्यादिकञ्च सम्यङ्मोहानपगमलक्षणमेव ज्ञेयम्॥२८॥

भावानुवाद—माता यशोदा मानो श्रीकृष्णके मुखकमलको एकटक रूपसे देख रही थीं। यहाँ पर 'इव' शब्दका उत्प्रेक्षा (अनुमान) अर्थमें प्रयोग हुआ है, अर्थात् स्वाभाविक रूपसे प्रतिमाके नेत्र निर्निमेष अर्थात् एकटक थे। किन्तु श्रीकृष्णने उसीको पूर्ववत् स्नेहवशतः निर्निमेष दृष्टि समझा, परन्तु वह तो उनकी दृष्टिका भानमात्र था। अतएव इससे यह समझना चाहिए कि अभी भी भगवान्‌की मूर्च्छा सम्पूर्णरूपसे दूर नहीं हुई थी॥२८॥

श्रीभगवानुवाच—

अद्य प्रभाते भो मातरस्मिन्नेव क्षणे मया।
चित्राः कति कति स्वप्ना जाग्रतेव न वीक्षिताः॥२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने कहा—माता! आज मैंने अभी प्रातःकालमें ही जाग्रत अवस्था जैसे न जाने कितने विचित्र स्वप्न देखे हैं॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं यथापूर्वमात्मनो व्रज एव वासं सत्यम्। मथुरागमनादिकञ्च मिथ्येति मन्यमानस्तत्सर्वं स्वप्नानुभूतत्वेन स्वमातरि स्नेहात् प्रतिपादयति—अद्येति त्रिभिः। स्वप्नाः स्वप्नदृश्यार्थाः कति कति न वीक्षिताः, अपि तु बहवो वीक्षिताः। जाग्रतेवेति जाग्रत्समये यथानुभूयन्ते तथैवेत्यर्थः॥२९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण पहले जैसे व्रजमें थे, अभी भी वे व्रजमें ही हैं, इस प्रकार निश्चय करके वे व्रजवासको ही सत्य तथा मथुरा गमनादिको मिथ्या मानकर अर्थात् मथुरागमनादि सभीको स्वप्नवत् समझकर उस स्वप्नका अपनी माता यशोदाके निकट 'अद्येति' तीन श्लोकोंके द्वारा वर्णन कर रहे हैं। हे माता! आज मैंने प्रातःकालमें न जाने कितने ही आश्चर्यमय स्वप्न देखे हैं और फिर जाग्रत अवस्थामें जैसे विषयोंका अनुभव होता है, स्वप्नमें भी ठीक वैसा ही अनुभव हुआ है॥२९॥

मधुपुर्यामितो गत्वा दुष्टाः कंसादयो हताः।
जरासन्धादयो भूपा निर्जिताः सुखिताः सुराः॥३०॥

श्लोकानुवाद—मैंने यह स्वप्न देखा है कि यहाँसे मधुपुरी जाकर मैंने दुष्ट कंस आदिका वध किया, जरासन्ध आदि

राजाओंको पराजित किया तथा नरकासुरका वधकर देवताओंको सुखी किया॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानेव संक्षेपेण कथयति—मध्विति सार्धेन। सुराः सुखीकृताः नरकवधादिना॥३०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३०॥

निर्मिताम्भोनिधेस्तीरे द्वारकाख्या महापुरी।
नान्यवृत्तानि शक्यन्तेऽधुना कथयितुं जवात्॥३१॥

श्लोकानुवाद—और फिर मैंने महासागरके तट पर द्वारका नामकी महापुरी (महानगर)का निर्माण किया है, इत्यादि बहुत कुछ स्वप्नमें देखा। किन्तु उन सबको मैं इस समय गोचारण जानेकी शीघ्रताके कारण बतला नहीं सकता॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अम्भोनिधेर्लवणसमुद्रस्य तीरे। तद्वृत्तानि सर्वाण्येव विवृत्य कथयेति चेत्तत्राह—नेति। अधुना गोसङ्गत्या वनगमनसमये। अतएव जवाद्वेगेन॥३१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१॥

अनेन स्वप्नविघ्नेन दीर्घेण स्वान्तहारिणा।
अन्यवासरवत् काले शयनान्नोत्थितं मया॥३२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार बहुत देर तक मनोहर स्वप्न द्वारा विघ्न उपस्थित होनेके कारण मैं आज अन्य दिनोंकी भाँति यथा-समय पर शय्यासे उठ नहीं पाया हूँ॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि चिरमनिमेषावलोकां तां पश्यन् निजनिद्राबाहुल्येन किञ्चिदस्वास्थ्यशङ्कया मातुर्मनोदुःखं सम्भाव्य तां सान्त्वयति—अनेनेति स्वप्नरूपेण विघ्नेन। स्वान्तं मनोहर्तुं शीलमस्येति तथा तेन। काले ऊषसि; नोत्थितम् उत्थातुं न शक्तम्॥३२॥

भावानुवाद—यद्यपि श्रीकृष्णने स्वप्नके वृत्तान्तको कह सुनाया, तथापि माता यशोदा बहुत देर तक निर्निमेष नयनोंसे ही देख रही थीं। ऐसा देखकर श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि मुझे अधिक देर तक सोते हुए देखकर माता मेरे अस्वस्थ होनेकी शंका

करके दुःखी हो सकती है, ऐसा विचारकर वे माताको सान्त्वना देते हुए बोले, माँ! बहुत देर तक इस मनोहर स्वप्नरूप विघ्नके उपस्थित होनेके कारण मैं उषाकालमें शय्यासे उठ नहीं पाया हूँ॥३२॥

भो आर्य तन्महाश्चर्यमसम्भाव्यं न मन्यते।
भवता चेत्तदारण्ये गत्वा वक्ष्यामि विस्तरात्॥३३॥

श्लोकानुवाद—हे आर्य! (हे श्रीबलराम!) आप यदि उस महाश्चर्य-जनक स्वप्नके वृत्तान्तको असम्भव न समझें तो मैं वनमें जाकर आपको उसे विस्तारपूर्वक सुनाऊँगा॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहुकालाचरितान्येतानि विचित्राणि कर्माणि प्रातःकालीन-क्षणिकस्वप्नमध्ये कथमनुभूतान्येवमसम्भावयन्तमिव मत्वा श्रीबलदेवमाह—भो इति। तत् स्वप्नदृष्टम्॥३३॥

भावानुवाद—श्रीबलदेव उस स्वप्नको असम्भव समझ सकते हैं, क्योंकि बहुत समय पहले हुई जो कंस-वधादिकी घटनाएँ हैं, वे सहसा किस प्रकार प्रातःकालके क्षणिक स्वप्नमें अनुभूत हुईं? बल्कि उनका असम्भव प्रतीत होना ही स्वाभाविक है। इसलिए श्रीकृष्णने कहा, हे आर्य! आप यदि उसको असम्भव न समझें, तो मैं वनमें आपको विस्तारपूर्वक सुनाऊँगा॥३३॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एवं सम्भाष्य जननीमभिवन्द्य स सादरम्।
वनभोग्येप्सुरालक्ष्य रोहिण्योक्तोऽत्यभिज्ञया॥३४॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने भ्राता श्रीबलदेवके साथ आदरपूर्वक सम्भाषण और माताको अभिवादन किया। फिर श्रीकृष्ण द्वारा वन्य भोजनके उपयोगी खाद्य-सामग्रीकी अभिलाषासे हाथ फैलाने पर परम बुद्धिमती श्रीरोहिणीदेवी कहने लगीं॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वने यद्भोग्यं दध्योदनादि तत्प्राप्तुमिच्छुः स भगवान् आलक्ष्य श्रीहस्तप्रसारणमुद्रादिलक्षणेन ज्ञात्वोक्तः। अत्यभिज्ञया परमविचक्षणयेत्यस्यायमर्थः—एषा यशोदा प्रतिमा किञ्चिद्दातुं प्रतिवक्तुञ्च स्वत एवाशक्ता, तद्यदि अस्याः

सकाशात् भोगस्य प्रतिवचनस्य चाप्राप्तया कृष्णस्य प्रतिमेयमिति बुद्धिः स्यात्तदा पूर्ववत् पुनरपि महानर्थापत्तिः स्यादिति तत्सम्वरणाय चातुर्यमकरोदिति॥३४॥

भावानुवाद—वनमें जाकर भगवान् जो दही-भात भोजन करेंगे, उस भोजनके उपयोगी वस्तुओंकी अभिलाषासे ही उन्होंने श्रीयशोदाके सामने दोनों हाथोंको फैला दिया। इस प्रकार श्रीयशोदाके सामने हस्त प्रसारण आदि चिह्नको देखकर परमबुद्धिमती श्रीरोहिणीदेवीने विचार किया कि यह तो श्रीयशोदाकी प्रतिमा है, अतएव किसी वस्तुको देनेमें या उत्तर प्रदान करनेमें स्वभावतः अक्षम है। किन्तु यदि श्रीकृष्णको इनसे भोज्य वस्तुएँ और प्रत्युत्तर प्राप्त न होने पर इनमें प्रतिमा बुद्धि हो गई तो पूर्ववत् ही बड़ा अनर्थ हो जायेगा। अतएव उस अनर्थको रोकनेके लिए ही चतुरतापूर्वक श्रीरोहिणीदेवी कहने लगीं॥३४॥

श्रीरोहिण्युवाच—

भो वत्स तव माताद्य तन्निद्राधिक्यचिन्तया।
त्वदेकपुत्रा दुःस्थेव तदलं बहुवार्त्तया॥३५॥

श्लोकानुवाद—श्रीरोहिणीदेवीने कहा, हे पुत्र! तुम्हारी माता आज तुम्हारी अधिक निद्राके कारण चिन्तित होकर कुछ अस्वस्थ हो गयी हैं, क्योंकि तुम्हीं उसके एकमात्र पुत्र हो। अतएव और अधिक वार्त्तालापकी कोई आवश्यकता नहीं है॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अद्य यत्तदीयनिद्राया आधिक्यं बाहुल्यं तस्य चिन्तयाऽनुसन्धानेन शरीरास्वास्थ्यादिशङ्कयेत्यर्थः। दुःस्था दुःखिनी अस्वस्था वाभूत्। यतस्त्वमेवैकः पुत्रो यस्याः सा। इवेत्यनेन मातृवत्सलस्य तस्य मातृदौस्थ्यसम्भावनया मनोदुःखं वारयति। तत्तस्मात् बहव्या वार्त्तया गोष्ठ्या अलं प्रयोजनं नास्ति॥३५॥

भावानुवाद—पुत्र! तुम्हारी माता आज तुम्हारी अधिक निद्राके कारण चिन्तित होकर अस्वस्थ हो गयी हैं। अर्थात् तुम्हारे अस्वस्थ होनेकी आशंका करके वे स्वयं ही अस्वस्थ हो गयी हैं, क्योंकि तुम ही उनके एकमात्र पुत्र हो। यहाँ पर माताको दुःखी देखकर मातृवत्सल श्रीकृष्णके मनमें भी दुःख उत्पन्न हो सकता है, इसलिए मूल श्लोकके 'दुःस्थेव' पदमें 'इव' शब्द द्वारा उस दुःखको निषेध किया गया है। अतएव और अधिक वार्त्तालापकी आवश्यकता नहीं है॥३५॥

अग्रतो निःसृता गास्त्वं गोपांश्चानुसर द्रुतम्।
मयोपस्कृत्य सद्भोग्यं वनमध्ये प्रहेष्यते॥३६॥

श्लोकानुवाद—गौएँ और गोपबालक पहले ही बाहर निकल गये हैं, तुम भी शीघ्र ही उनके पीछे जाओ। मैं उत्तम खाद्य-सामग्री बनाकर वनमें भेज दूँगी॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि मयाप्यत्रैव स्थातव्यम्, वने गत्वा च किं भोक्तव्यमिति बाल्यलीलां प्रकाशयन्तमाह—अग्रत इति। सत् उत्कृष्टं द्रुतं प्रहेष्यते॥३६॥

भावानुवाद—श्रीयशोदा माता द्वारा कुछ उत्तर न दिए जाने पर यदि श्रीकृष्ण उन्हें कहें कि तो क्या मैं यहीं पर रहूँ? अर्थात् वन जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्या और यदि वनमें गया भी तो वहाँ पर खाऊँगा क्या? इसकी आशंकासे श्रीरोहिणीदेवी उनकी बाल्यलीलाका वर्णन करने लगीं—सभी गौएँ और गोपबालकगण पहले ही वनको चले गये हैं, तुम शीघ्र ही उनका अनुगमन करो। मैं सुन्दर-सुन्दर खाद्य-सामग्री तैयारकर वनमें ही भेज दूँगी॥३६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

तथा वदन्तीं सुस्निग्धां रोहिणीञ्चाभिवाद्य सः।
स्थितं करतले मातुर्नवनीतं शनैर्हसन्॥३७॥
चौर्येणैव समादाय निजज्येष्ठं समाह्वयन्।
अप्राप्याग्रे गवां सङ्गे गतं न बुभुजे घृणी॥३८॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—स्नेहमयी श्रीरोहिणीदेवीकी इस बातको सुनकर श्रीकृष्णने उनका अभिवादन किया और फिर मृदु हास्य सहित (प्रतिमारूपा) माता यशोदाके हाथोंसे नवनीतको धीरेसे चोरी करके अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलदेवको पुकारने लगे। किन्तु वे पहले ही गौओंके साथ चले गये थे, उनको न देखकर कोमल हृदयवाले श्रीकृष्णने स्वयं भी उस नवनीतको नहीं खाया॥३७-३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सुस्निग्धामिति। यशोदातुल्यत्वेन तस्या वचने तस्य विश्वासं ध्वनयति। अभिवाद्य पादयोर्नमामीति वाचा नत्वा स भगवान् कृष्णः मातुः प्रतिमारूपाया यशोदाया करतले स्थितं नवनीतं चौर्येणैव यथा यशोदया न ज्ञायते

तथेत्यर्थः। शनैः समादाय गवां सङ्घे अग्रे गतं निजज्येष्ठं बलरामं सहभोजनार्थं समाह्वयन्नपि तमप्राप्य न बुभूजे तदिति द्वाभ्यामन्वयः। यतो घृणी दयालुः। तस्याः करतले नवनीतस्थितिश्च नवनीतप्रियस्य पुत्रस्य निमित्तं श्रीयशोदाया हस्ते सदा नवनीतावस्थित्या विश्वकर्मणापि तथैव तत्प्रतिमारचनात्। अग्रे गतमिति च निजानुजस्य स्वास्थ्यमिवालक्ष्य तस्य वन्यभोग्येप्सायाः पूर्वमेव रामोऽग्रतो गत इति ज्ञेयम्। तच्च कृष्णस्य गोपीभिः सह स्वैरसम्भाषणेऽसङ्कोचाय पूर्वमपि व्रजे तथैव वृत्तिरिति दिक्॥३७–३८॥

भावानुवाद—सुस्निग्धा श्रीरोहिणीदेवीकी बात सुनकर श्रीकृष्णने उस प्रतिमारूपा यशोदाको ही अपनी जननी समझा, अर्थात् वे श्रीयशोदादेवीके समान ही माता श्रीरोहिणीके वचनों पर विश्वास करते हैं, ऐसा ध्वनित होता है। तब श्रीकृष्णने श्रीरोहिणीदेवीका अभिवादन किया अर्थात् उनके चरणकमलोंमें प्रणाम किया और प्रतिमारूपा माता श्रीयशोदाके हाथोंसे नवनीतको धीरे-धीरे चोरी करके अर्थात् इस प्रकार हँसते-हँसते उस नवनीतको चोरी किया जिससे माँ यशोदा जान न पाये तथा फिर ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलदेवके साथ भोजन करनेके लिए उनको पुकारने लगे। किन्तु श्रीबलदेव गौओंके साथ पहले ही चले गये थे, अतः उनको न पाकर दयालु श्रीकृष्णने स्वयं भी भोजन नहीं किया। नवनीत-प्रिय पुत्रके लिए माता श्रीयशोदाके हाथोंमें सदैव नवनीत रहता था, इसलिए विश्वकर्माने उस प्रतिमारूपा श्रीयशोदाके हाथोंमें भी नवनीत रख दिया था। अपने अनुज श्रीकृष्णको अस्वस्थ जानकर श्रीबलदेव भोजन करनेसे पहले ही वनको चले गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। सारार्थ यह है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्ण बिना किसी संकोचके सम्भाषण आदि कर पाएँ, इसीलिए श्रीबलदेव पहले ही गौओंके साथ वनमें चले गये हैं; व्रजमें पहले भी यही रीति थी, यही इस विचारका दिग्दर्शन है॥३७–३८॥

भोग्यं माध्याह्निकं चाटुपाटवेन स्वमातरौ।
सम्प्रार्थ्य पुरतो गत्वा गोपीः सम्भाष्य नर्मभिः॥३९॥
रुन्धानो वेणुनादैर्गा वर्त्तमानां सहालिभिः।
राधिकामग्रतो लब्ध्वा सनर्मस्मितमब्रवीत्॥४०॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार विनयपूर्वक दोनों माताओंसे भोजन–सामग्रीकी प्रार्थना कर श्रीकृष्ण कुछ दूर अग्रसर होकर सर्वप्रथम गोपियोंके साथ परिहास करते हुए वार्त्तालाप करने लगे। फिर वेणुनाद द्वारा सभी गौओंको रोककर तथा कुछ आगेकी ओर सखियोंके साथ उपस्थित श्रीमती राधिकाका दर्शन करके मृदुहास्य और परिहासपूर्वक कहने लगे॥३९–४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वमातरौ यशोदा–रोहिण्यौ भोग्यं संप्रार्थ्य मातृ–सन्तोषार्थं सम्यक् काकुवादादिना याचित्वा ततः पुरतोऽग्रे गत्वा गोपीः चन्द्रावल्याद्या नर्मभिः सम्भाष्य ततोऽग्रतः आलिभिः सखीभिः सह वर्त्तमानां राधिकां लब्ध्वा सङ्गम्य नर्मणा स्मितेन च सहितं यथा स्यात्तथाब्रवीदिति द्वाभ्यामन्वयः। किं कुर्वन्? वेणुनादैः गोनिरोधनसङ्केतितवेणुवाद्यैः गाः रुन्धानः अग्रे निःसृता गा आवृण्वन् स्थगयन्नित्यर्थः। एवं पूर्वमपि वने गच्छतो भगवतो दर्शनाद्यर्थं श्रीगोपिकागृहेभ्यो निःसृत्य दूरं गताः स्थाने स्थाने संघशोऽतिष्ठन्नितिज्ञेयम्। यथोक्तं पुरस्त्रीभिर्दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१६)—*'प्रातर्व्रजात् व्रजत आविशतश्च सायं, गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्। निर्गत्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः, पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥'* इति॥३९–४०॥

भावानुवाद—इस प्रकार अपनी माता श्रीयशोदा तथा श्रीरोहिणीके सन्तोषके लिए श्रीकृष्णने विनयपूर्वक नम्र वचनों द्वारा दोपहरके लिए भोजन–सामग्रीकी प्रार्थना की। तत्पश्चात कुछ दूर अग्रसर होने पर प्रथमतः चन्द्रावली आदि गोपियोंके साथ परिहास करते हुए सम्भाषण किया तथा फिर कुछ और दूर अग्रसर होने पर सखियों सहित खड़ी हुईं श्रीमती राधिकाको देखा तथा मृदु–हास्य सहित परिहासपूर्वक कहने लगे। किस प्रकार? गौओंको रोकनेके लिए संकेतिक वेणुवाद्य द्वारा आगे जानेवाली सभी गौओंको रोककर श्रीराधिका आदिसे स्वच्छन्दरूपमें सम्भाषण करने लगे। इस प्रकार पहले भी व्रजमें वन जाते समय श्रीकृष्णके दर्शनके लिए गोपियाँ अपने घरसे बाहर आकर मार्गमें स्थान–स्थान पर एकत्रित होकर खड़ी रहती थीं, ऐसा समझना चाहिए। इस विषयमें दशम–स्कन्धमें मथुरापुरीकी स्त्रियोंका कथन इस प्रकार है—"वेणुवादन करते–करते गौओंके सहित जब श्रीकृष्ण प्रातःकाल वनको गमन करते थे और सायंकाल व्रजमें लौटते थे, तब

इनके वेणुकी ध्वनि श्रवण करके प्रचुर पुण्यशाली सभी अबलाएँ (व्रजगोपियाँ) घरसे बाहर आकर मार्गके एक ओर खड़ी रहती थीं तथा सदय दृष्टिपूर्ण मृदु-मधुर हास्ययुक्त इनके मुखकमलको निहारती थीं"॥३९-४०॥

श्रीनन्दनन्दन उवाच—

प्राणेश्वरि रहःप्राप्तं भक्तमेकाकिनञ्च माम्।
सम्भाषसे कथं नाद्य तत् किं वृत्तासि मानिनी॥४१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दनन्दनने कहा, प्राणेश्वरि! मैं तुम्हारा एकान्तिक भक्त हूँ, मुझे निर्जन स्थान पर देखकर भी मुझसे बातचीत क्यों नहीं कर रही हो? क्या तुम मानिनी हो गई हो?॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अप्यर्थे चकारः। सर्वत्रैव यथेष्टं सम्बन्धनीयः। ततश्च रहः प्राप्तमपीत्यादि ज्ञेयम्॥४१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४१॥

अपराद्धं मया किन्ते नूनं ज्ञातमहो त्वया।
सर्वज्ञेऽद्यतनस्वप्नवृत्तं तत्तन्ममाखिलम्॥४२॥

श्लोकानुवाद—क्या मैंने तुम्हारे प्रति कोई अपराध किया है? हाँ-हाँ, मैं समझ गया, तुम सर्वज्ञ हो, इसीलिए मेरे द्वारा देखे गये स्वप्नको बिना बताये ही जान गयी हो॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्या माने च प्रकटं कारणान्तरमनाकलयन् निजं तत्स्वाप्निकमेव तन्निदानत्वेनोद्भावयति—अपेति। नूनं वितर्के; अहो आश्चर्यम्; हे सर्वज्ञे! मम योऽद्यतनः स्वप्नस्तस्य वृत्तं तत्तत् पूर्वोद्दिष्टं वक्ष्यमाणं चाखिलमेव त्वया ज्ञातम्। एवं मदीय-स्वाप्निकापराधादेव त्वया मानः कृतोऽस्ति, ततश्च परजनस्वप्नवृत्तज्ञानात् सत्यमेव त्वं सर्वज्ञासीति भावः। एतादृश्युक्तिपरिपाटी च मानभञ्जनार्था। न च मन्तव्यं प्रतिमासु भगवत एतादृशं वचनादिकं कथं घटेतेति यतः पूर्वमपि व्रजे श्रीभगवतीनामासं निरन्तरप्रेमवैवश्येन जड़तापत्तेः प्रतिमातुल्यत्वमेव। कदाचिद्वा कृष्णस्य वैदग्धीप्रभावेण नर्मक्रीड़ादिकं यद्वृत्तम्, तत्र चाधुना भावविशेषप्राप्त्या स्वस्मिन् मानानुमानेन मौनाद्यनुसन्धानात्तस्य तादृशवचनादिकं सर्वं सङ्गच्छत एवेति दिक्॥४२॥

भावानुवाद—श्रीमती राधिकाजीके मान करनेका कोई प्रकट कारण न देखकर श्रीकृष्ण अपने स्वप्नके वृत्तान्तको ही उनके मानका कारण स्थिर कर रहे हैं। इसलिए 'अपराद्ध' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं कि क्या मैंने तुम्हारे प्रति कोई अपराध किया है? यहाँ पर 'नून' शब्द वितर्कके अर्थमें है। अहो! कैसा आश्चर्य है! हे सर्वज्ञे! लगता है कि तुम मेरे द्वारा देखे गये स्वप्नके वृत्तान्तको (जो पहले भी बताया गया है तथा यहाँ पर भी बतलाया जायेगा) सम्पूर्णरूपसे जान गयी हो। मेरे द्वारा ऐसे स्वप्न देखनेके अपराधके कारण ही क्या तुम मानिनी हो गयी हो? किन्तु उस स्वप्नके वृत्तान्तको दूसरा कोई भी नहीं जानता है। अतएव तुम सचमुच ही सर्वज्ञा हो। श्रीकृष्णकी ऐसी वचन-परिपाटी केवल मान भञ्जनके लिए ही समझनी चाहिए।

इस प्रकारका मन्तव्य नहीं किया जा सकता कि प्रतिमारूपा श्रीमती राधिकाके प्रति श्रीकृष्णने ऐसे वचन क्यों कहे? इसका कारण है कि पहले भी व्रजमें यह भगवती श्रीराधिका प्रेमकी विवशताके कारण निरन्तर जड़ अवस्थाको प्राप्त कर प्रतिमातुल्य हो जाया करती थीं, अथवा कभी-कभी श्रीकृष्णकी वैदग्धीके प्रभावसे नर्म-क्रीड़ा आदिमें भी उनका इसी प्रकारका जाड्यभाव देखा जाता था। विशेषतः इस समय श्रीकृष्ण कोई एक ऐसी भावावस्थाको प्राप्त हुए हैं तथा उसी अवस्थामें वह श्रीराधिकाके मौन होनेके कारणको जाननेके लिए अपने प्रति उनके मानके उदय होनेका अनुमान करके इस प्रकारके वचनोंका प्रयोगकर रहे हैं, इसलिए यह सब सुसंगत ही है। यही इस सिद्धान्तका दिग्दर्शन है॥४२॥

त्वां विहायान्यतो गत्वा विवाहा बहवः कृताः।
तासां क्षितिपपुत्रीणामुद्यतानां मृतिं प्रति।
पुत्रपौत्रादयस्तत्र जनिता दूरवर्त्तिना॥४३॥

श्लोकानुवाद—हे प्रियतमे! मैंने स्वप्नमें देखा है कि मानो मैं तुम्हें छोड़कर दूर द्वारकामें चला गया हूँ तथा वहाँ पर मैंने बहुतसे विवाह किये हैं। विवाहका कारण सुनो, मेरे लिए मरनेको भी जो तैयार थीं,

उन राजकन्याओंसे मैंने विवाह किया तथा उनके गर्भसे अनेक पुत्रोंको उत्पन्न किया और फिर उन पुत्रोंके भी बहुतसे पुत्र उत्पन्न हुए॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वप्नवृत्तमेवाह—त्वामिति। अन्यतो मथुरादौ दूरे द्वारकादौ वर्त्तिना मया॥४३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण प्रतिमारूपा श्रीमती राधाको अपने स्वप्नका वृत्तान्त सुना रहे हैं। हे देवि! मैंने स्वप्नमें देखा है कि मैं तुम्हें छोड़कर मधुपुरी (मथुरा) तथा फिर मधुपुरीसे दूरस्थित द्वारकापुरीको चला गया हूँ॥४३॥

अस्तु तावदिदानीं तद्गम्यते त्वरया वने।
सन्तोषदे प्रदोषेऽद्य मया त्वं मोदयिष्यसे॥४४॥

श्लोकानुवाद—अभी इन सभी बातोंको यहीं रहने दो, अब मैं शीघ्र ही वनको जा रहा हूँ। हे सन्तोषदायिनी! मैं आज सायंकालमें तुम्हें आनन्दित करूँगा॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् स्वप्नवृत्तं तदीयमानिनीत्वं वा इदानीमस्तु। यत इदानीं त्वरया वने गम्यते मया॥४४॥

भावानुवाद—जो भी हो, अब इस समय उस स्वप्नकी बात तथा तुम्हारे मानको यहीं रहने दो, क्योंकि मैं अभी शीघ्रतासे वनको जा रहा हूँ। हे सन्तोषदायिनी! मैं आज सायंकाल तुम्हें आनन्द प्रदान करूँगा॥४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

इत्थं सपुष्पविक्षेपं वदन् दृष्ट्वा दिशोऽखिलाः।
तां सचुम्बनमालिङ्ग्य गोगोपैः सङ्गतोऽग्रतः॥४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा—इस प्रकार स्वप्नके वृत्तान्तको सुनाकर श्रीनन्दनन्दनने श्रीमती राधिकाके दिव्य अङ्गों पर पुष्प निक्षेप किये (फैंके) और फिर इधर-उधर दृष्टिपात कर उनको चुम्बन सहित आलिङ्गन करके आगे जा रही गौओं और गोपबालकोंके साथ जा मिले॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुष्पाणां विक्षेपः श्रीराधायां प्रक्षेपस्तेन सहितं यथा स्यात्तथा इत्थमुक्तप्रकारकं वदन्। गोभिर्गोपैश्च सहाग्रतो गत्वा मिलित इत्यर्थः॥४५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४५॥

अदृष्टपूर्वं व्रजवेशमद्भुत महामनोज्ञं मुरलीरवान्वितम्।
यदान्वभूत् स्नेहभरेण देवकी, तदैव वृद्धाप्यजनि स्नुतस्तनी॥४६॥

श्लोकानुवाद—जब श्रीदेवकीने श्रीकृष्णके पहले कभी न देखे हुए अत्यधिक मनोहर मुरलीवादनमें रत उस अद्भुत व्रजवेशका दर्शन किया, तब वृद्धा होने पर भी स्नेहपूर्वक उनके स्तनोंसे दूध बहने लगा॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं व्रजजनेषु भगवतो भावविशेषमुक्त्वेदानीमेतत् प्राक्तनमन्येषामपि वृत्तं यथाप्रसङ्गं कथयन् तेषामेव माहात्म्यविशेषसिद्धये तदीयवन्यवेशाद्यनुभवेन देवक्यादीनां भावविशेषाविर्भावमाह—अदृष्टेति चतुर्भिः। वृद्धा गतवया इति स्तन्यप्रस्नवासम्भव उक्तः। तथापि स्नेहभरेण स्नुतौ प्रस्नुतक्षीरौ स्तनौ यस्यास्तथाभूता जाता॥४५॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजवासियोंके प्रति श्रीकृष्णके विशेष भावको बतलाकर अब पूर्वकालमें हुए उनके विभिन्न वृत्तान्तोंको प्रसंगके साथ उत्थापन कर रहे हैं तथा व्रजवासियोंके विशेष माहात्म्यको स्थापित करनेके लिए श्रीकृष्णके वन्यवेश आदिके अनुभव द्वारा श्रीदेवकी आदिमें जिन विशेष-विशेष भावोंका आविर्भाव हुआ था, उसे 'अदृष्टपूर्व' इत्यादि चार श्लोकोंके माध्यमसे बतला रहे हैं। यद्यपि श्रीदेवकी वृद्धा थीं अर्थात् उनके स्तनोंमें से दूध आनेकी आयु बीत चुकी थी अथवा उनके स्तनोंसे दूध बहना असम्भव था, तथापि अत्यधिक स्नेहके कारण उनके स्तनोंसे दूध प्रवाहित होने लगा॥४६॥

रुक्मिणी–जाम्बवत्याद्याः पुरानुत्थेन कर्हिचित्।
महाप्रेम्णा गता मोहं धैर्यहान्यापतन् क्षितौ॥४७॥

श्लोकानुवाद—श्रीरुक्मिणी-जाम्बवती जैसी कुछ महिषियाँ पहले कभी न अनुभव किये गये उस महाप्रेमके उदय होनेसे धैर्यको खो बैठीं तथा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ीं॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—सहजमहाधैर्यगाम्भीर्यादियुक्ता अपि श्रीरुक्मिण्यादयः कामविशेषोदयेनामुह्यन्नित्याह—रुक्मिणीति। आद्य-शब्देन मित्रविन्दा-सत्या-भद्रा-लक्ष्मणादयः। कर्हिचित् कदाचिदपि पुरानुत्थेन पूर्वमजातेन महाप्रेम्णा या धैर्यस्य हानिस्तया मोहं गताः सत्यः क्षितावपतन्॥४७॥

भावानुवाद—यद्यपि श्रीरुक्मिणी आदि महिषियाँ स्वभावसे ही महाधैर्यशील और महागम्भीर थीं, तथापि श्रीकृष्णके अद्भुत गोपवेशका दर्शन करके अत्यधिक कामवशतः अर्थात् महाप्रेमके उदित होनेके कारण वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। 'आदि' शब्द द्वारा मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा, लक्ष्मणा आदि महिषियोंको समझना चाहिए। उनमें से कुछ महिषियाँ अभूतपूर्व महाप्रेमके प्रभावसे अधीरतावश मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ीं॥४७॥

वृद्धा च मत्ता सह सत्यभामया, कामस्य वेगादनुकुर्वती मुहुः।
आलिङ्गनं चुम्बनमप्यधावद्धर्तुं हरिं बाहुयुगं प्रसार्य॥४८॥

श्लोकानुवाद—वृद्धा पद्मावती भी श्रीसत्यभामाके साथ कामवेगसे मत्त होकर बार-बार अपने हाथोंको फैलाकर आलिङ्गनका अभिनय तथा अधर-चालन आदिकी मुद्रा द्वारा चुम्बनका अनुकरण करते-करते श्रीहरिको पकड़नेके लिए दौड़ीं॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीसत्यभामा-पद्मावत्योश्च महोन्मादो बभूवेत्याह—वृद्धा चेति। आलिङ्गनमनुकुर्वती बाहुप्रसारणादिनाभिनयन्ती कुर्वतीवेति वा। चुम्बनमप्यधरचालन-मुद्रादिनानुकुर्वती हरिं श्रीकृष्णं धर्तुमधावत्॥४८॥

भावानुवाद—श्रीसत्यभामाके साथ वृद्धा पद्मावती भी महा-उन्मादकी दशाको प्राप्त हुई, अर्थात् कामवेगके वशीभूत होकर पुनः-पुनः हाथोंको फैलाकर आलिङ्गनका अनुकरण और ओष्ठ-चालनकी मुद्रा द्वारा चुम्बनका अनुकरण करते-करते श्रीहरिको पकड़नेके लिए दौड़ीं॥४८॥

पुरा तदर्थानुभवादिवासौ, कथञ्चिदादित्यसुतावलम्ब्य।
शमं समं प्राज्ञवरोद्धवेन, बलाद्विकृष्यावरुरोध ते द्वे॥४९॥

श्लोकानुवाद—पहले व्रजभूमिमें श्रीकृष्णके वनवेश आदिके साक्षात् अनुभवके कारण बुद्धिमती सूर्यपुत्री श्रीकालिन्दीदेवीने अत्यधिक कष्टपूर्वक धैर्य धारण किया तथा श्रीउद्धवकी सहायतासे बलपूर्वक उन दोनोंको पकड़कर रास्तेमें ही रोक लिया॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुरा पूर्वं व्रजभूमौ तस्यार्थस्य वन्यवेशादेरनुभवाद्धेतोः इवेत्यूत्प्रेक्षायां वस्तुतो भगवन्मोहापगमार्थं ब्रह्मकृतोपायरक्षार्थमेव परमयत्नेन शान्त्यवलम्बनात्। असौ तत्तद्व्रजक्रीड़ासम्बन्धसौभाग्यवती आदित्यसुता श्रीकालिन्दी कथञ्चिच्छममवलम्ब्य। यतः प्राज्ञवरा; एतच्च अत्यभिज्ञयेति पूर्वोक्तवदूह्यम्। उद्धवेन समं सहिता। ते सत्यभामा-पद्मावत्यौ द्वे इति द्वयोरावरणं द्वाभ्यामेव घटत इति बोधयति। तत्र च सत्यभामां कालिन्दीवृद्धां चोद्धव इति अभियुक्तिः॥४९॥

भावानुवाद—द्वारकापुरीमें आनेसे पहले व्रजभूमिमें ही श्रीकृष्णके वन्यवेश आदिके अनुभवके कारण सूर्यपुत्री श्रीकालिन्दीदेवीने कुछ धैर्य धारण किया। यद्यपि यह अनुमान है, तथापि श्रीकालिन्दीदेवीने श्रीकृष्णकी मूर्च्छा दूर करनेके लिए तथा श्रीब्रह्मा द्वारा किये गये उपायकी रक्षाके लिए यत्नपूर्वक कुछ शान्त भावका अवलम्बन किया, क्योंकि पहलेसे ही व्रजक्रीड़ासे सम्बन्धित होनेके कारण वे परम सौभाग्यवती और परम बुद्धिमती थीं। इसलिए श्रीउद्धवकी सहायतासे उन्होंने बलपूर्वक दोनोंको रोक दिया। अर्थात् उन्होंने श्रीसत्यभामाको तथा श्रीउद्धवने पद्मावतीको रोक दिया॥४९॥

गोविन्ददेवस्त्वनुचारयन् गा, गतः पुरस्तादुदधिं निरीक्ष्य।
तं मन्यमानो यमुनां प्रमोदात्, सखान् विहाराय समाजुहाव॥५०॥

श्लोकानुवाद—इधर श्रीगोविन्ददेव गोचारण करते-करते कुछ दूरी पर अपने सम्मुख समुद्रको देखकर यमुनाके भ्रमसे आनन्दित होकर जलविहारके लिए अपने सखाओंको पुकारने लगे॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुतं श्रीभगवदाचरितमेवाह— गोविन्देति। पुरस्तादग्रे गतः सन्; उदधिं द्वारकापुरीं परिखारूपं लवणसमुद्रं; तमुदधिञ्च श्यामकान्त्यादिना यमुनासादृश्यात् यमुनामेव मन्यमानः; विहाराय तत्र विहर्तुकामः; सखान् श्रीदामादिगोपान् सम्यक् तत्तन्नामभिरुच्चमधुरस्वरेणाह्वयत्॥५०॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रासङ्गिक विषयको समाप्त करके प्रस्तुत विषयका अनुसरण कर रहे हैं अर्थात् नव-वृन्दावनमें श्रीकृष्णके द्वारा किये गये आचरणको 'गोविन्द' इत्यादि श्लोकके माध्यमसे बतला रहे हैं। श्रीगोविन्द गोचारण करते-करते कुछ दूर अग्रसर हुए तथा सामने द्वारकापुरीके समुद्रको देखकर श्रीयमुनाके भ्रमसे अर्थात् समुद्रकी श्याम कान्तिके साथ श्रीयमुनाकी सादृश्यताके कारण उसीको यमुना मानकर उसमें जलविहार करनेकी अभिलाषासे श्रीदाम आदि सखाओंका नाम ले-लेकर मधुर अथवा उच्च स्वरसे उनको पुकारने लगे॥५०॥

गताः कुत्र वयस्याः स्थ श्रीदामन् सुबलार्ज्जुन।
सर्वे भवन्तो धावन्तो वेगेनायान्तु हर्षतः॥५१॥
कृष्णायां पाययित्वा गा विहराम यथासुखम्।
मधुरामलशीताम्बुवाहिन्यामवगाह्य च॥५२॥
एवमग्रे सरन् गोभिरम्बुधेर्निकटं गतः।
महाकल्लोलमालाभिः कोलाहलवतोऽच्युतः॥५३॥

श्लोकानुवाद—"हे श्रीदाम, हे सुबल, हे अर्जुन, हे सखागण! तुम सब कहाँ गये हो? तुम सभी प्रसन्नतापूर्वक यहाँ पर आओ। यथाशीघ्र आओ, हम सभी गौओंको जलपान कराकर इस मधुर-स्वच्छ-शीतल-जलको वहन करनेवाली श्रीयमुनामें अवगाहन करके सुखपूर्वक विहार करें।" इस प्रकार श्रीअच्युत सभी गौओंके साथ अग्रसर होकर कोलाहलयुक्त महातरङ्गायमान समुद्रके निकट उपस्थित हुए॥५१-५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् प्रकारमेवाह—गता इति द्वाभ्याम् । भो वयस्याः! कुत्र गताःस्थ। किमर्थम्? तदाह—कृष्णायामिति। अवगाह्य निमज्ज्य॥५१-५२॥

एवमुक्तप्रकारेण गोभिः सहाग्रे सरन् गच्छन्। कथम्भूतस्य? महतां कल्लोलानां तरङ्गाणां मालाभिः श्रेणीभिः कृत्वा कलकलशब्दयुक्तस्य। अनेन यमुनावैलक्षण्यम-उक्तम्॥५३॥

भावानुवाद—'गता' इत्यादि दो श्लोकोंमें जल विहारका वर्णन कर रहे हैं। हे सखाओं! तुम कहाँ चले गये हो? सभी यहाँ पर आओ। किसलिए? यमुनामें अवगाहन करके सुखपूर्वक विहार करेंगे। इस

प्रकार सभी गौओंके साथ चलते-चलते श्रीकृष्ण उच्च तरंगोंसे सुशोभित तथा कोलाहलयुक्त समुद्रके निकट उपस्थित हुए। यहाँ पर श्रीयमुनाके साथ समुद्रका अंतर कथित हुआ है॥५१-५३॥

सर्वतो वीक्ष्य तत्तीरे प्रकटां स्वां महापुरीम्।
आलक्ष्य किमिदं क्वाहं कोऽहमित्याह विस्मितः॥५४॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्ण चारों ओर निरीक्षण करते हुए उस महासागरके तीर पर सुशोभित अपनी द्वारकापुरीको देखकर बड़े ही विस्मित हुए तथा कहने लगे, "अहो! यह क्या है? मैं कहाँ पर हूँ? मैं कौन हूँ?"॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च सर्वतः इतस्ततो वीक्ष्य निरीक्षणं कृत्वा। तस्य अम्बुधेस्तीरे प्रकटां वनाद्बहिर्गमनेनावरणाभावाद् व्यक्तीभूतां स्वकीयां महतीं बृहत्तरां पुरीं द्वारकामालक्ष्य विस्मितः सन् स्वस्मिन्नेवाह—किमिदं समुद्रादिकं, किं व्रजभूमावस्यां, कथमेतदभूदित्यर्थः। तर्हि सा व्रजभूमिरेवेयं न भवेदित्याह—क्व कुत्राहं वर्त्तेऽस्मि? द्वारकायामिति चेत्तर्हि श्रीनन्दनन्दनस्य मम तद्व्रजभूमेरन्यत्र वृत्तिर्न सम्भवेदेव। अतोऽन्य एव कोऽपि स्यामित्याह—कोऽहमिति। यद्वा, तर्हि द्वारकायां परम राजराजेश्वरतायाः परमविलक्षणवेशादिकमिदं न सम्भवतीत्येव-मात्मानमेवानवधारयन्नाह—कोऽहमित्येषा दिक्। अलमतिविस्तरेण॥५४॥

भावानुवाद—तब श्रीकृष्ण चारों ओर निरीक्षण करते-करते उस समुद्रतट पर सुरम्य वन आदिके आवरणसे रहित प्रकाशमान अपनी विराट द्वारकापुरीको देखकर विस्मयपूर्वक कहने लगे, "अहो! यह क्या? इस व्रजभूमिमें समुद्र कहाँसे आया? तो क्या यह व्रजभूमि नहीं है? मैं कहाँ पर हूँ? क्या सचमुच यह द्वारकापुरी है? अच्छा, तो फिर मैं नन्दनन्दन कैसे हुआ? नन्दनन्दनका तो व्रजभूमिके अलावा अन्य किसी स्थान पर भी वास असम्भव है, तो क्या मैं नन्दनन्दन नहीं हूँ? मैं कौन हूँ? अथवा यदि मैं द्वारकामें हूँ तो फिर मेरे परम राजराजेश्वर स्वरूप और वेशसे अत्यन्त विलक्षण यह व्रजवेश किस प्रकार सम्भव हुआ? अतएव मैं कौन हूँ?"॥५४॥

इत्येवं सचमत्कारं मुहुर्जल्पन् महार्णवम्।
पुरीञ्चालोचयन् प्रोक्तः श्रीमत्सङ्कर्षणेन सः॥५५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार आश्चर्यचकित होकर श्रीकृष्ण जब बार-बार जल्पना करने लगे तथा समुद्र और द्वारकापुरीको पुनः-पुनः देखने लगे, तब श्रीसंकर्षण (श्रीबलदेव)ने कहा— ॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—मुहुरालोचयन् अवलोकयन्। यद्वा, सत्यं मिथ्या वेत्यादि-प्रकारेण विचारयन् सन्; स भगवान्॥५५॥

भावानुवाद—इस प्रकार विस्मित होकर भगवान् बार-बार जल्पना करने लगे तथा समुद्र और द्वारकापुरीको पुनः-पुनः उत्सुकतापूर्वक देखने लगे; अथवा जो दर्शन कर रहा हूँ, वह सत्य है अथवा मिथ्या—इस प्रकारसे बार-बार विचार करने लगे॥५५॥

श्रीबलदेव उवाच—

आत्मानमनुसन्धेहि वैकुण्ठेश्वर मत्प्रभो।
अवतीर्णोऽसि भूभारहाराय ज्ञापितोऽमरैः॥५६॥
दुष्टान् संहार तच्छिष्टान् प्रतिपालय सम्प्रति।
यज्ञं पैतृस्वसेयस्य धर्मराजस्य सन्तनु॥५७॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलदेवने कहा—हे प्रभो वैकुण्ठेश्वर! अपने आपको समझिये, आप देवताओंके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भूभार हरणके लिए इस धराधाममें अवतीर्ण हुए हैं। अतएव अब दुष्टोंका संहार और शिष्टजनोंका परिपालन कीजिए तथा अपनी बुआके पुत्र धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञका विस्तार कीजिए॥५६-५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—आत्मानं भगवन्तम् अनुसन्धेहि प्रत्यभिजानीहि। कथं तदाह—हे वैकुण्ठेश्वरेति। किञ्च मम शेषस्य प्रभो! स्वामिन्! तर्हि कथमत्रास्मि? तत्राह—अमरैर्ब्रह्मादिभिर्ज्ञापितः सन् भुवो भारस्य हाराय संहरणायावतीर्णोऽसि। वैकुण्ठेश्वरत्वादिना आत्मानमनुसन्धेहीत्यर्थः। यद्वा, अनुसन्धेहि अनुस्मर। ननु श्रीनन्दनन्दनमात्मानमनुस्मराम्येव? तत्राह—वैकुण्ठेश्वरत्वादि। अयमर्थः—सत्यमेव श्रीनन्दनन्दनस्त्वमसि; तथापि वैकुण्ठान्मया सह यदर्थमवतीर्णोऽसि, तत् सम्पादयेति। तदेवाह—दुष्टानिति। यद्यपि श्रीगोलोकादेवावतीर्णोऽसि, तथापि तस्य बहुधा वैकुण्ठेन सहाभेदात्। यद्वा, श्रीवैकुण्ठेश्वरादिभिः सर्वैरेव निजरूपैरेकीभूयावतरणेन वैकुण्ठादप्यव-अतीर्णताप्राप्तेस्तथोक्तमिति दिक्। तत्र च यद्यपि श्रीवृन्दावनविहारादिना निजचरणारविन्द-प्रेम विशेष-विस्तारणमेव मुख्यं प्रयोजनम्, तथापि तदत्र न प्रकाशयति। तेन पुनर्मोहापत्तिशङ्कया; अतएव श्रीगोलोकेश्वरेति च नोक्तमिति ज्ञेयम्। यद्वा,

दुष्टसंहरणशिष्ट–प्रतिपालनरूप–भूभारहरण प्रयोजने सम्पादिते सत्येव स्वयं क्रमशः तन्मुख्यप्रयोजनमपि निर्विघ्नं सुष्टु सेत्स्यत्येवेत्यभिप्रायेणेति दिक्। तत्तस्मात् अतएवोपसन्नं निजप्रियतम–जनार्थं सम्पादयेत्याह—सम्प्रतीति। धर्मराजस्य श्रीयुधिष्ठिरस्य यज्ञं सम्प्रति सन्तनु सम्यग्विस्तारय॥५६–५७॥

भावानुवाद—आत्मानुसन्धान कीजिए अर्थात् अपनेको श्रीभगवान्के रूपमें पहचानिए। इसीलिए श्रीबलदेवने 'हे वैकुण्ठेश्वर' कहकर उनको सम्बोधन किया और कहने लगे, हे प्रभु! मैं शेष (अनन्तदेव) हूँ और आप मेरे प्रभु हो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं यहाँ पर क्यों हूँ? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि आप ब्रह्मा आदि देवताओंके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भूभार हरण करनेके लिए इस धराधाममें अवतीर्ण हुए हैं। अतएव अपनेको वैकुण्ठेश्वर जानिये अर्थात् अपनेको वैकुण्ठेश्वरके रूपमें स्मरण कीजिए। यदि कहो कि मैं तो केवल श्रीनन्दनन्दनके स्वरूपमें ही अपनेको जानता हूँ। इसके लिए कह रहे हैं—हे प्रभो! यद्यपि आप सचमुच ही श्रीनन्दनन्दन हैं, तथापि आप वैकुण्ठसे मेरे साथ यहाँ पर आये हैं तथा जिस कार्यके लिए अवतीर्ण हुए हैं, उस कार्यको पूर्ण कीजिए—दुष्टोंका संहार और शिष्टोंका पालन करना ही आपका कर्त्तव्य है।

यद्यपि आप श्रीगोलोकसे अवतीर्ण हुए हैं, तथापि मैंने आपके वैकुण्ठसे अवतीर्ण होनेकी जो बात कही है, उसका अभिप्राय यह है कि श्रीगोलोकके साथ वैकुण्ठका बहुत प्रकारसे अभेद है। अथवा आपको 'वैकुण्ठेश्वर' आदि सम्बोधन करनेका और भी कारण है, उसको भी सुनिए। श्रीवैकुण्ठेश्वर आदि सभी भगवत्स्वरूप ही आपके इस श्रीनन्दनन्दन स्वरूपके साथ एकीभूत होकर वैकुण्ठसे अवतीर्ण होते हैं, अतएव आपके इस श्रीनन्दनन्दन स्वरूपके लिए वैकुण्ठेश्वर आदि नाम दिये जानेसे भी कुछ दोष नहीं होता। इस समय यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं श्रीनन्दनन्दन–स्वरूपसे श्रीवृन्दावनमें विहार कर अपने श्रीचरणकमलोंके विशेष प्रेमका विस्तार करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं तथा यही उनके अवतरणका मुख्य प्रयोजन है, तथापि व्रजसे सम्बन्धित लीलाकथाके श्रवणसे उन्हें पुनः मूर्च्छा हो सकती है, इसी आशंकासे श्रीबलदेवने उसको प्रकाशित नहीं किया। अर्थात् गोलोकेश्वर

इत्यादि सम्बोधन नहीं किया—ऐसा समझना चाहिए। अथवा दुष्ट–संहार और शिष्ट–पालन आदि भूभार–हरणरूप प्रयोजनके पूर्ण होने पर स्वयं भगवत्स्वरूपसे किये जानेवाला वह मुख्य प्रयोजन स्वतः ही निर्विघ्नरूपसे पूर्ण होगा। अतएव उसको यहाँ पर बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, इसीलिए उक्त प्रकारसे वाक्योंको व्यवस्थित किया गया है। अतएव अपने प्रियतम व्यक्तियोंका मंगल कीजिए अर्थात् इस समय धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञका सम्पूर्णरूपसे विस्तार कीजिए॥५६–५७॥

प्रतिष्ठितस्त्वयैवासौ चक्रवर्त्ती युधिष्ठिरः।
अनुशाल्वादिदुष्टानां विभेति वरविक्रमात्॥५८॥

श्लोकानुवाद—आपने ही धर्मराज युधिष्ठिरको चक्रवर्त्ती राजाके पद पर प्रतिष्ठित किया है। किन्तु इस समय वे अनुशाल्व आदि दुष्टोंके बल–विक्रमको देखकर भयभीत हैं॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तच्च तवावश्यकर्त्तव्यमेवेत्याह—प्रतीति। तथापि त्वां विना यज्ञेऽसौ न शक्त इत्याशयेनाह—अनुशाल्वः शाल्वस्य कनीयान् तदादीनां, यो वरो महान् विक्रमस्तस्माद्विभेति॥५८॥

भावानुवाद—दुष्टोंका संहार और शिष्टोंका पालन करना आपका आवश्यक कर्त्तव्य है, इसे 'प्रतिष्ठित' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहें हैं। यद्यपि आपने ही धर्मराज युधिष्ठिरको चक्रवर्त्ती राजाके पद पर प्रतिष्ठित किया है, तथापि आपके बिना वे यज्ञ करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि शाल्व राजाके छोटे भाई अनुशाल्वके महान विक्रमको देखकर वे अत्यन्त भयभीत हैं॥५८॥

तत्तत्र गत्वा तान् हन्तुं यतस्व यदुभिः सह।
तवैव वैरतस्ते हि तावकान् पीड़यन्ति तान्॥५९॥

श्लोकानुवाद—अतएव अब आप यादवोंके साथ श्रीयुधिष्ठिरके पास जाकर सभी दुष्टोंका संहार कीजिए। आपके साथ उन दुष्टोंका वैरभाव ही उनके द्वारा आपके प्रिय श्रीयुधिष्ठिरको पीड़ा देनेका विशेष कारण है॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परममधुरकोमलप्रेम-महारसत्याजनाय तत्प्रतिकूल-रौद्रक्रोधरसमुत्थापयितुमाह—तदिति। यदुभिः सह यतस्वेति। एकाकिनानायासेन तद्धननमशक्यमिति भावः। एतच्च क्रोधजननार्थमेव; एवं तवेत्यादि च; वैरतः शल्वादिवधात्। तवैवेति, अजातशत्रोर्धर्मराजस्य तस्य स्वतो द्वेषाभावात्। ते अनुशाल्वादयः; तान् युधिष्ठिरादीन्॥५९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके परममधुर कोमल महाप्रेमरसके आवेशको शान्त करनेके लिए श्रीबलराम उसके प्रतिकूल रौद्र-रसको उत्थापित करके कहने लगे कि इस समय आप यादवोंके साथ इन्द्रप्रस्थ जाकर अनुशाल्व आदि दुष्टोंका संहार करनेके लिए प्रयत्न कीजिए। यहाँ पर श्रीबलदेव द्वारा 'यादवगणोंके साथ' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण अकेले उनका संहार नहीं कर पायेंगे, यादवोंके साथ ही कर पायेंगे। किन्तु ऐसी उक्ति केवल श्रीकृष्णको क्रोधित करनेके लिए ही है—ऐसा समझना चाहिए। श्रीबलदेवने कुछ और भी कहा, अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर किसीके प्रति भी द्वेष अथवा वैरभाव नहीं रखते हैं, इसलिए स्वभावतः उनका कोई भी शत्रु नहीं है। किन्तु आपके साथ वैर होनेके कारण ही अनुशाल्व आदि दुष्ट आपके आश्रित श्रीयुधिष्ठिरको पीड़ा दे रहे हैं, क्योंकि आपने ही उसके बड़े भाई शाल्वका वध किया है॥५९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एवं रसान्तरं नीत्वानुजं स्वस्थयितुं वचः।
यदुक्तं बलरामेण श्रुत्वा भावान्तरं गतः॥६०॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—श्रीबलरामने श्रीकृष्णको इस प्रकार रसान्तरमें ले जाकर स्वस्थ करनेके लिए जो कुछ भी कहा, उसे सुनकर श्रीकृष्ण एक अन्य भावावस्थाको प्राप्त हुए॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—नीत्वा प्रापय, तत् श्रुत्वा; भावो मनोवृत्तिविशेषः। पूर्वमशेषरससारभूतः-प्रेमरससंप्लुत आसीत्, इदानीञ्च वीररसमभजदित्यर्थः। अत्र परश्लोकस्थं भगवानिति कर्त्तृपदं ज्ञेयम्; किम्वा द्वाभ्याम् श्लोकाभ्यामेवान्वयः॥६०॥

भावानुवाद—इससे पूर्व श्रीकृष्ण असीम रसोंके सारसे उत्पन्न-प्रेमरसमें निमग्न थे, किन्तु अब श्रीबलदेवने उनको उस प्रेमरससे वीररसमें

लाकर स्वस्थ करनेके लिए जो कुछ भी कहा, श्रीकृष्ण उसको सुनकर भावान्तर अर्थात् वीररसमें विभावित हो गये। अगले श्लोकके 'भगवान्' शब्दको इस श्लोकका भी कर्त्तृपद (कर्त्ता) जानना होगा। अथवा दोनों श्लोकोंका एक साथ ही अन्वय होगा॥६०॥

जगाद भगवान् क्रुद्धो भ्रातः शाल्वानुजादयः।
के ते वराका हन्तव्या गत्वैकेन मयाधुना॥६१॥

श्लोकानुवाद—भगवान्ने क्रोधित होकर कहा—भैया! उस शाल्वके अनुज आदि कौन हैं? वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं, मैं अकेला ही उनका संहार कर दूँगा॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव क्रुद्धःसन् जगाद। किं तदाह—भ्रातः इत्यादिपादैः पञ्चभिः। ते के कतमे भवन्ति, अपि तु न केऽपि। केष्वपि मध्ये न गण्यन्त इत्यर्थः। यतो वराकाः अतितुच्छाः। यद्वा, ते के वराका भवन्ति, अपितु वराकेष्वपि न गण्यन्त इत्यर्थः, परमाधमत्वात्। अतोऽधुनैव एकाकिना मया गत्वा ते हन्तव्याः॥६१॥

भावानुवाद—अतएव भगवान् क्रोधित होकर कहने लगे। क्या कहा? इसे 'भ्रातः' इत्यादि पदसे आरम्भ करके पाँच श्लोकोंमें कह रहे हैं। वे कौन हैं? मैं उनकी किसीमें भी गणना नहीं करता हूँ, क्योंकि वे अत्यन्त तुच्छ हैं। अथवा वे न केवल तुच्छ हैं, अपितु मैं उनकी तुच्छमें भी गणना नहीं करता हूँ, क्योंकि वे परम अधम हैं; अतएव अभी मैं अकेला ही जाकर उनका संहार करता हूँ॥६१॥

भवान् प्रत्येतु सत्यं मे सम्प्रतिज्ञमिदं वचः।
इत्थं प्रसङ्गसङ्गत्या मुग्धभावं जहौ प्रभुः॥६२॥

श्लोकानुवाद—आप मेरे इन प्रतिज्ञापूर्ण सत्य वचनों पर सम्पूर्णरूपसे विश्वास रखिये। इस प्रकार प्रभु श्रीकृष्णने प्रसङ्ग-क्रमसे अपने प्रेममें निमग्न मुग्धभावका परित्याग किया॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रत्येतु प्रतीतिं करोतु। मुग्धं सुन्दरं भावं प्रेमरसनिमग्नतामित्यर्थः। यद्वा, मुग्धस्य मोहं प्राप्तस्येव भावं चेष्टां जहौ सम्यक् संज्ञां प्राप्तः पूर्ववत् स्वस्थोऽभूदित्यर्थः॥६२॥

भावानुवाद—आप मेरे वचनोंमें विश्वास कीजिये। इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने प्रेमरसमें निमग्न मुग्धभावका परित्याग किया। अथवा मुग्धभाव कहनेसे मोह जैसे भाव और चेष्टा आदिको परित्याग करके सम्पूर्णरूपसे पहलेकी भाँति स्वस्थ हो गये॥६२॥

परितो मुहुरालोक्य श्रीमद्द्वारवतीश्वरम्।
श्रीयादवेन्द्रमात्मानं प्रत्यभिज्ञातवांस्तदा॥६३॥

श्लोकानुवाद—इसके उपरान्त श्रीकृष्ण बार-बार चारों ओर देखकर अपनेको द्वारकाधीश श्रीयादवेन्द्रके रूपमें पहचानने लगे॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—आलोक्य दृष्टिं प्रसार्य तदेत्यस्य परेणापि सम्बन्धः॥६३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६३॥

प्रासादाभ्यन्तरे सुप्तं सस्माराथ करे स्थिताम्।
वंशीं स्वस्याग्रजस्यापि वन्यवेशञ्च दृष्टवान्॥६४॥

श्लोकानुवाद—और उनको यह भी स्मरण हुआ कि वे अपने राजभवनके भीतरी भागमें (अन्तःपुरमें) सो रहे थे। किन्तु बादमें उन्होंने अपने हाथमें वंशी और श्रीबलरामके वन्यवेशको देखा॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रासादस्य अन्तःपुरवर्त्तिनिजालयवरस्याभ्यन्तरे सुप्तमप्यात्मानं सस्मार प्रत्यभिज्ञातवान्। अथ प्रत्यभिज्ञानानन्तरम्॥६४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥६४॥

पुर्या बहिःप्रयाणेन गोपालनमवेक्ष्य च।
विस्मयं संशयञ्चाप्तो जहास हृदि भावयन्॥६५॥

श्लोकानुवाद—तथा उन्होंने यह भी देखा कि वे द्वारकापुरीके बाहरी भागमें समुद्रतीर पर गोचारण कर रहे हैं। इस प्रकार उस विषयकी चिन्ता करते-करते वे विस्मित और संशययुक्त होकर हँसने लगे॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुर्याः द्वारकायाः बहिःसमुद्रतीरे प्रयाणेन कृत्वा यद् गोपालनं स्वयं क्रियमाणं गवां रक्षणञ्च आवेक्ष्य आलोक्य। कदा कुतो वा

ममैतद्वन्यभूषणादिकं वृत्तमिति विस्मयं प्राप्तः। एतन्नाम सत्यं स्वप्नवदसत्यं वेति संशयञ्च प्राप्तः सन् हृदि भावयन् तन्निदानादिकं विचारयन् सन् जहास, सद्यस्तदज्ञानात् चिरनिजवैचित्त्यानु-भवानुसन्धानाद्वा॥६५॥

भावानुवाद—फिर द्वारकापुरीके बाहरी भागमें समुद्रतट पर गमन करके गोचारण अर्थात् अपने द्वारा किये जानेवाला गोरक्षा कार्य कर रहे हैं—ऐसा देखकर श्रीकृष्ण उस विषयमें सोचने लगे, मैंने किस समय और कहाँ पर इस वन्यवेशकी रचना की है? क्या यह सत्य है या फिर स्वप्नकी भाँति केवल प्रतीतिमात्र है? इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे विस्मित हुए और फिर उसके मूलकारणका विचार कर हँसने लगे। अर्थात् उसके कारणको न समझते हुए संशयग्रस्त हो गये तथा पहले जैसे दीर्घकाल तक उनका प्रेमवैचित्त्य भाव होता था, अब भी उसी भावको स्मरणकर संशयग्रस्त होकर हँसने लगे॥६५॥

ततो हलधरः स्मित्वा तदीयहृदयङ्गमः।
सर्वं ब्रह्मकृतं तस्याकथयत्तत् सहेतुकम्॥६६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णको हँसता देखकर उनके हृदयको जाननेवाले श्रीहलधरने मुस्कराते हुए श्रीब्रह्माके द्वारा रचित सारी घटना तथा उसके मूल वृत्तान्तको उन्हें समझा दिया॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततो हासानन्तरं हासेन तस्य हृदयप्रसादं ज्ञात्वेत्यर्थः। तस्य तं कृष्णं प्रतीत्यर्थः। तद्बहिःप्रयाणादि सर्वं ब्रह्मणा कृतमुपायेन गरुड़ादिद्वारा निष्पादितमित्यकथयत्। हेतुः प्रेममोहादिस्तत्सहितम्॥६६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णको हँसता देखकर श्रीहलधर भी मुस्कराने लगे अर्थात् श्रीकृष्णकी हँसीको देखकर वे उनके हृदयकी प्रसन्नताको समझ गये तथा उनकी प्रतीतिके लिए उनकी प्रेममूर्च्छा और उस प्रेममूर्च्छाके कारण श्रीब्रह्माके द्वारा रचित उपायको कह सुनाया। अर्थात् श्रीब्रह्माके द्वारा किये गये उपायके अनुसार श्रीकृष्णको पुरीसे बाहर लाया गया तथा श्रीगरुड़ आदि द्वारा उक्त क्रिया सम्पूर्ण हुई—यह सारा विषय समझा दिया॥६६॥

ततो ह्रीण इव ज्येष्ठमुखं पश्यन् स्मितं श्रितः।
रामेणोद्वर्त्त्य तत्राब्धौ स्नापितो धूलिधूसरः॥६७॥

श्लोकानुवाद—यह सब सुनकर श्रीकृष्ण अपने ज्येष्ठ भ्राताके मुखकी ओर देखकर कुछ लज्जित जैसे हुए तथा मन्द-मन्द हँसने लगे। तब श्रीबलदेवने और कुछ भी नहीं कहा और श्रीकृष्णके धूलि-धूसरित अंगोंका मार्ज्जन करके उनको समुद्रमें स्नान कराया॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ह्रीणो लज्जितः सन् इवेति परमश्लाघ्ये सत्कर्मणि प्रवृत्तेस्तत्त्वतो लज्जाराहित्यात्। यतो भगवतैवोक्तमेकादशस्कन्धे (श्रीद्भा॰ ११/१९/४०)—'*जुगुप्साह्रीरकर्मसु*' इति। अस्यार्थः—अकर्मसु विकर्मसु जुगुप्सा निन्द्यतया हेयत्वालोचनं यत् सा ह्रीरुच्यते, न तु लज्जामात्रमिति। ज्येष्ठस्य श्रीबलरामस्य मुखं पश्यन् स्मितं श्रितः ईषद्धास्यमविच्छेदेन कुर्वन्नित्यर्थः। धूलिभिर्धूसरः पूर्वमन्तःपुरमध्ये प्रेमवैवश्येन भूमिलुठनात् रचितवृन्दावने गोसङ्गे गोपादधूलिव्याप्तत्वाद्वा। अतएव उद्वर्त्य धूल्याद्युद्वर्त्तनं कृत्वा स्नापितः॥६७॥

भावानुवाद—इन बातोंको सुनकर श्रीकृष्ण अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलदेवके मुखकी ओर देखकर कुछ लज्जितसे हुए तथा मन्द-मन्द हँसने लगे। यहाँ पर 'ह्रीण इव' (लज्जित जैसे) कहनेका गूढ़ तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण परम प्रशंसनीय सत्कर्ममें ही प्रवृत्त हुए थे, इसलिए तत्त्वतः उनका लज्जारहित होना ही सूचित हुआ है, क्योंकि दशम-स्कन्धमें कहा गया है—"पाप कर्ममें हेय-दर्शन ही लज्जा है।" अर्थात् अकर्म और विकर्मसे घृणा होना या लोकनिन्दाके कारण उसे हेय समझकर उक्त कार्यमें प्रवृत्त न होना ही 'ह्री' है, वह केवल लज्जामात्र नहीं है। अतएव लज्जामात्रको ही 'ह्री' नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए श्रीकृष्ण श्रीबलरामके मुखकी ओर दृष्टिपात कर मन्द-मन्द हँसने लगे, किन्तु श्रीबलरामने और कुछ भी नहीं कहा। फिर धूल-धूसरित श्रीकृष्णको समुद्रमें स्नान कराया। अर्थात् पहले अन्तःपुरमें प्रेमकी विवशताके कारण भूमि पर लोटनेसे अथवा विश्वकर्मा द्वारा रचित वृन्दावनमें गोचारणके समय गायोंके खुरोंसे उड़ती धूलसे धूसरित अङ्गोंवाले श्रीकृष्णको समुद्रमें स्नान कराया॥६७॥

तदानीमेव संप्राप्तं भगवद्भावकोविदम्।
आरुह्यालक्षितस्ताक्ष्र्यं निजप्रासादमागतः ॥६८ ॥

श्लोकानुवाद—उसी समय भगवान्‌के भावोंको (मनको) जाननेमें निपुण श्रीगरुड़ भी वहाँ पर उपस्थित हुए तथा श्रीकृष्ण उन पर चढ़कर अलक्षितरूपसे अपने राजभवनमें पधारे॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदानीं स्नानकाले एवागतम्। यतो भगवतो भावः अन्तःपुरगमनादिरूपा मनोवृत्तिस्तस्मिन् कोविदम्। केनाप्यन्येनालक्षितः सन् ताक्ष्र्यं गरुड़म्॥६८॥

भावानुवाद—स्नानके समय ही श्रीगरुड़ उस स्थान पर आ गये, क्योंकि वे भगवान्‌के अन्तःपुर-गमनरूप मनोभावसे भलीभाँति अवगत थे। भगवान् उनकी पीठ पर चढ़कर अलक्षितरूपसे अपने राजभवनमें पधारे॥६८॥

सर्वज्ञेनोद्धवेनाथ देवकीरुक्मिणीमुखाः।
प्रबोध्यान्तःपुरे देव्यो भगवत्पार्श्वमापिताः ॥६९ ॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त सर्वज्ञ श्रीउद्धवने माता श्रीदेवकी और श्रीरुक्मिणी आदि प्रमुख महिषियोंको सान्त्वना देकर अन्तःपुरमें भगवान् श्रीकृष्णके पास भेजा॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वं भगवन्मौग्ध्यलीलापगमप्रासादागमनादिकं जानातीति तथा तेन। प्रबोध्य संज्ञां प्रापय भगवदागमनादिवृत्तं प्रकर्षेण ज्ञापयित्वा वा। आपिता नीताः। देव्य इति, वार्त्ताहारिणी सा वृद्धा तेनैव प्रेरिता कुत्रापि गतेति ज्ञेयम्। वक्ष्यमाणप्रसङ्गे तस्याः परमायोग्यत्वात्॥६९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त सर्वज्ञ श्रीउद्धव जो श्रीकृष्णकी मुग्धताके दूर होने तथा अन्तःपुरमें उनके आगमन इत्यादि विषयसे अवगत थे, माता श्रीदेवकी और श्रीरुक्मिणी आदि महिषियोंको सचेतन करवाकर अथवा भगवान्‌के अन्तःपुरमें आगमन इत्यादिके वृत्तान्तको भलीभाँति सुनाकर उनको भगवान्‌के पास ले आये। किन्तु उस वृद्धा पद्मावतीको उन्होंने पहले ही किसी दूसरे स्थान पर भिजवा दिया, क्योंकि आगे कहे जानेवाले प्रसंगमें उस वृद्धाकी उपस्थिति पूर्णता अनुचित थी॥६९॥

माता च देवकी पुत्रमाशीर्भिरभिनन्द्य तम्।
भोगसम्पादनायास्य कालाभिज्ञा द्रुतं गता॥७०॥

श्लोकानुवाद—समयानुसार क्या करणीय है, इसे भलीभाँति जाननेवाली माता श्रीदेवकी अपने पुत्रको आशीर्वादपूर्ण वचनोंसे अभिनन्दित कर उनके लिए भोजन तैयार करनेके लिए शीघ्र ही वहाँसे चली गयीं॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीमेतदुपाख्यानतात्पर्यभूतं श्रीगोपिकानां सर्वतोऽधिकोत्कर्ष-विशेषं श्रीभगवन्मुखेनैव श्रीमहिषीवर्गेष्वसङ्कोचं निरूपयितुं गौरवविशेषेण तच्छ्रवणानर्हाया इव श्रीदेवक्या निःसरणमाह—'मातेति'। तं तथाभूतं पुत्रं श्रीकृष्णम्। अस्य पुत्रस्य कालस्य भोजनावसरस्याभिज्ञा। यद्वा, तदानीं तत्र स्थातुं न युज्यत इत्यभिजानातीत्यर्थः॥७०॥

भावानुवाद—अब इस उपाख्यानके तात्पर्यरूपमें श्रीगोपियोंके सर्वाधिक उत्कर्षको स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे महिषियोंके सम्मुख वर्णन करेंगे तथा उसके द्वारा गोपियोंका असंकोच प्रेम भी निरूपित होगा। अतएव यह उपाख्यान माता श्रीदेवकीके श्रवण करने योग्य नहीं है, इसलिए सम्मानपूर्वक उस स्थानसे बाहर जाने हेतु उनके लिए 'कालाभिज्ञा' शब्द द्वारा उक्त अभिप्रायको ही व्यक्त किया गया है। 'कालाभिज्ञा' अर्थात् समयके अनुसार कार्य करनेवाली माता श्रीदेवकी पुत्रको आशीर्वादयुक्त वचनोंसे अभिनन्दित कर उनके लिए भोजन तैयार करनेके लिए शीघ्र ही उस स्थानसे चली गयी, क्योंकि वे अपने पुत्रके भोजनके समयको तथा खान-पानके विषयमें विशेषरूपसे जानती थीं॥७०॥

स्तम्भाद्यन्तरिताः सत्यो देव्योऽतिष्ठन् प्रभुप्रियाः।
सत्यभामा न तत्रागात्तां कृष्णोऽपृच्छदुद्धवम्॥७१॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी प्रिया श्रीरुक्मिणी आदि सभी महिषियाँ पहलेसे ही स्तम्भ (खम्बें) आदिके पीछे छिपकर वहींपर उपस्थित थीं, केवल श्रीसत्यभामा ही उस स्थान पर नहीं आयी थीं, इसलिए श्रीकृष्णने श्रीउद्धवसे उनके विषयमें पूछा॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—देव्यः श्रीरुक्मिण्याद्याः सर्वा महिष्यस्तु स्तम्भादिभिरन्तरिता आच्छादिताः सत्योऽतिष्ठन्। यतः प्रभुर्भगवानेव प्रियो यासां ताः प्रभोः प्रिया इति वा। तत्र भगवत्पार्श्वे नागात्। तां सत्यभामां अपृच्छत् 'क्व सा वर्त्तत' इति प्रश्नं चकार॥७१॥

भावानुवाद—श्रीरुक्मिणी आदि सभी महिषियाँ स्तम्भ आदिके पीछे छिपकर उसी स्थान पर खड़ी थीं, क्योंकि वे भगवान्‌की प्रिया हैं अथवा भगवान् उनके प्रिय हैं। किन्तु श्रीसत्यभामादेवीको वहाँ नहीं आया देखकर भगवान्‌ने श्रीउद्धवसे उनके विषयमें पूछा, "सत्यभामा कहाँ है?"॥७१॥

श्रीहरिदास उवाच—

वृन्दावने यदा जातो विजयो रैवतार्चिते।
प्रभोस्तदातनं भावमबुधभ्रामकं परम्॥७२॥
कमप्यालोक्य देवीभिः सह तत्रैव दूरतः।
स्थिता निलीय दुर्बुद्धिरूचे पद्मावती खला॥७३॥

श्लोकानुवाद—श्रीहरिदास उद्धवने कहा—हे प्रभो! रैवतक पर्वतके बीचमें स्थित नव-वृन्दावनमें जब आप पधारे थे, उसी समय अबोध व्यक्तियोंको भ्रमित करनेवाले आपके विचित्र भावको देखनेके लिए खल-स्वभाववाली कंस-माता पद्मावती भी महिषियोंके साथ उस स्थानसे कुछ ही दूरी पर अलक्षित भावसे खड़ी थी। वह दुर्बुद्धि पद्मा आपके उस अपूर्व भावका दर्शन कर महिषियोंसे कहने लगी—॥७२-७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीहरिदासः श्रीमदुद्धवः। *'कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५६) इति दशमस्कन्धोक्तेः। रैवतेन पर्वतेनार्चिते सेविते वृन्दावने यदा प्रभोर्भगवतो विजयः शुभगमनं जातो बभूव, तत्कालीनं कमप्यनिर्वचनीयं प्रभोर्भावं श्रीनन्दप्रतिमादिविषयकं प्रेमविशेषमालोक्य पद्मावती ऊचेः—उवाचेति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशं परं केवलमबुधानां प्रेमरसतत्त्वानभिज्ञानां भ्रामकं दुर्वितर्क्यमित्यर्थः। परमिति सर्वोत्कृष्टमिति वा देवीभिः श्रीदेवकी-रुक्मिण्यादिभिः सह तत्र वृन्दावन एव निलीय दूरतः स्थिता। दुष्टा बुद्धिर्यस्याः सा भेदोत्पादनात्। यतः खला पिशुना॥७२-७३॥

भावानुवाद—यहाँ श्रीहरिदास कहनेका अभिप्राय श्रीउद्धवसे है। "हरिदास श्रीउद्धव व्रजवासियोंको श्रीकृष्णका स्मरण कराते हुए आनन्दपूर्वक कालयापन करने लगे।" इत्यादि श्रीमद्भागवतकी उक्तियोंके अनुसार श्रीउद्धव ही हरिदास हैं। श्रीउद्धवने कहा—हे प्रभु! जब आपने रैवतक पर्वतके द्वारा सेवित उस नव-वृन्दावनमें शुभागमन किया था, तब आपके तत्कालीन किसी एक अनिर्वचनीय भाव अर्थात् श्रीनन्द आदिकी प्रतिमाके प्रति उदित प्रेमको दर्शन करनेके लिए पद्मावती भी उस स्थान पर गयी थी तथा श्रीदेवकी, श्रीरुक्मिणी आदि देवियोंके साथ उस स्थानसे कुछ दूरी पर अलक्षितभावसे खड़ी हुई थी। किस प्रकार? सर्वोत्कृष्ट प्रेमरस-तत्त्वके ज्ञानसे हीन होनेके कारण भ्रमित व्यक्तिकी भाँति वहाँ पर खड़ी थी। इसीलिए उस अपूर्व भावका दर्शन करके भी खल-स्वभाववाली पद्मावती कहने लगी। अर्थात् खल-स्वभाववाली होनेके कारण ही वह भेद उत्पन्न कर रही थी, क्योंकि खल-व्यक्तिमात्र ही चुगलखोर और नीच होता है॥७२-७३॥

देवक्यरे पुण्यहीने रे रे रुक्मिणि दुर्भगे।
सत्यभामेऽवरे हन्त जाम्बवत्यादयोऽवराः॥७४॥
पश्यतेदमितोऽर्वाक् स्वमभिमानं विमुञ्चत।
आभीरीणां हि दास्याय तपस्यां कुरुतोत्तमाम्॥७५॥

श्लोकानुवाद—अरी पुण्यहीन देवकी! अरी दुर्भागी रुक्मिणि! अरी नीच सत्यभामा! अरी हीन जाम्बवती इत्यादि रमणियों! हाय! क्या तुमलोग श्रीकृष्णकी इन चेष्टाओंको नहीं देख रही हो? अब अपने-अपने अभिमानको त्यागकर गोपियोंकी दासी बननेके लिए कठोर तपस्या करो॥७४-७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं तदाह—देवकीति द्वाभ्याम्। हन्तेति खेदसम्बोधने; हे अवरा नीचाः; इदं श्रीकृष्णचेष्टादिकं पश्यत। इतः अस्मात् कालादर्वाक् पश्चात्। स्वं स्वकीयम् अभिमानं वयं सुभगा गृहीतपाण्यो वेत्यादिगर्वं विमुञ्चत परित्यजत, बल्लवीष्वेव तदीयपरमप्रेमदर्शनात्। अतः आभीरीणां श्रीयशोदाराधिकादीनां दास्याय दासीत्वप्राप्तये उत्तमां तपस्यां कुरुत। यद्यपि श्रीनन्दादयो गोवृत्तिकवैश्यजातयो द्विजान्तर्गताः परमोत्तमाः। आभीराश्चान्त्यजजातयः। तथा च द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा० २/४/१८)—*'किरातहूणान्ध्रपुलिन्द पुक्कशा, आभीरकङ्का यवनाः खशादयः। येऽन्ये*

च पापा यदपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥' इति। तथापि गोपालनेनाभीरसा-दृश्यात्तेऽप्याभीरा इति। किंवा दुर्बुद्धिवृद्धया पैशुन्येनाभीरीणामित्य-उक्तम्॥७४-७५॥

भावानुवाद—पद्मावती क्या कहने लगी? इसे 'देवक्यरे' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहें हैं। यहाँ पर 'हन्त' शब्दसे खेदसूचक सम्बोधन समझना चाहिए। अरी नीच सत्यभामे! श्रीकृष्णकी इन चेष्टाओंका दर्शन करो। पहले तुम सब अपनेको सौभाग्यशाली होनेका अभिमान करती थी, अर्थात् 'हमलोग ही सौभाग्यवती हैं, क्योंकि श्रीकृष्णने हमारा पाणिग्रहण किया है', अपने इस गर्वका परित्याग करो। इन आभीर (अहीर) जातिकी स्त्रियोंके प्रति श्रीकृष्णके परम प्रेमका दर्शन करो। अतएव श्रीयशोदा और श्रीराधिका आदि आभीरियोंकी दासी बननेके लिए कठोर तपस्या करो। यद्यपि श्रीनन्द आदि गोप, गोपालन-वृत्तिमें रत वैश्य जातिके होनेसे द्विजवर्णके अन्तर्गत परम उत्तम जातिके हैं, तथापि आभीरियोंको अन्त्यज जाति माना गया है। यथा, द्वितीय-स्कन्धमें कहा गया है—"किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, यवन, खश और अन्यान्य पाप जातियाँ भी भगवान्के भक्तोंके आश्रयमें शुद्ध होती हैं, अतएव मैं उन प्रभु श्रीविष्णुको नमस्कार करता हूँ।" तथापि श्रीनन्द आदि गोपोंकी गोपालन-वृत्तिको देखकर उनके आभीर (अहीर) सादृश्य होनेके कारण गोपरमणियोंको भी आभीरी कहा गया है। अथवा दुर्बुद्धि वृद्धाने अपने खल स्वभाववशतः उनको आभीरी कहा है॥७४-७५॥

तद्दुर्वचो निशम्यादौ देवक्योक्तमभिज्ञया।
समस्तजगदाधारभवदाधारभूतया　　॥७६॥

श्लोकानुवाद—पद्मावतीके ऐसे दुर्वचनोंको सुनकर समस्त जगतकी आधार तथा आपको भी धारण करनेवाली परम बुद्धिमती माता देवकीने कहा— ॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्या दुष्टं वचः। तस्याः परमधैर्येण तादृश्युक्तिरुचितैवेत्याशयेन तां विशिनष्टि। समस्तस्य जगतः प्रपञ्चस्य आधार आश्रयो यो भवान् तस्याधारभूतया अतएव अभिज्ञया परम पण्डितया॥७६॥

भावानुवाद—उस वृद्धाके इस प्रकारके दुर्वचनोंको सुनकर परम धैर्यपूर्वक श्रीदेवकीने जो कहा वह उचित ही है, क्योंकि वे जगतके आधार आपकी (भगवान्‌की) भी आधार-स्वरूपा हैं। अतएव परम बुद्धिमती हैं॥७६॥

आश्चर्यमत्र किं मूर्खे पूर्वजन्मनि यत्तपः।
समं श्रीवसुदेवेन मयाकारि सुताय तत्॥७७॥
अतोऽयमावयोः प्राप्तः पुत्रतां वरदेश्वरः।
अस्मिन्नन्दयशोदाभ्यां भक्तिः सम्प्रार्थिता विधिम्॥७८॥

श्लोकानुवाद—अरी मूर्खे! इसमें आश्चर्य क्या है? मैंने पूर्वजन्ममें श्रीवसुदेवजीके साथ श्रीकृष्णको पुत्र रूपमें पानेके लिए तपस्या की थी तथा उसी तपस्याके फलस्वरूप वर देनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्णने हमारा पुत्र होना अंगीकार किया है। परन्तु श्रीनन्द-यशोदाने केवल श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त करनेके लिए ही श्रीब्रह्मासे प्रार्थना की थी॥७७-७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं तदाह—आश्चर्यमिति चतुर्भिः। हे मूर्खे बुद्धिहीने! अत्र श्रीनन्दादिविषयक-श्रीकृष्णभावविशेषे किमाश्चर्यं विस्मयः? अपितु न किमपि, असम्भावनाद्यभावात्। तद्धेतुमेवाह—पूर्वेत्यादिना युक्त इत्यन्तेन। तत् तपस्तु सुताय भगवत्सदृशो नौ पुत्रो जायतामित्येतदर्थमेव। यथोक्तं तौ प्रति श्रीभगवतैव दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/३/३८)—*'व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः।'* इति। वरदानामीश्वरः तेषु परमश्रेष्ठ इत्यर्थः। अनेन सकृद्वरदानेनापि पुनः पुनः पुत्रताप्राप्तिस्तथोत्तरोत्तरतत्फलाधिक्यञ्च सम्भावितम्॥७७॥

नन्दयशोदाभ्याञ्च अस्मिन् श्रीकृष्णे भक्तिः प्रेमलक्षणा विधिं ब्रह्माणं प्रार्थिता। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/८/४९) नन्दवाक्यं ब्रह्माणं प्रति—*'जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ। भक्तिःस्यात् परमा लोको ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत्॥'* इति। अस्यार्थः—ययामद्भक्त्या तच्छ्रवणादिनान्योऽपि लोकः सुखेन संसारं तरतीति॥७८॥

भावानुवाद—श्रीदेवकीने क्या कहा? इसे 'आश्चर्य' इत्यादि चार श्लोकोंके माध्यमसे बता रहे हैं। अरी बुद्धिहीने (पद्मावती)! श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंके सम्बन्धसे श्रीकृष्णमें तुम जो विशेष भावको देख रही हो, उसमें आश्चर्य अथवा विस्मय होनेवाली कौन सी बात है?

अर्थात् उसमें किसी प्रकारकी भी असम्भावनाकी बात नहीं है, क्योंकि मैंने पूर्वजन्ममें आर्यपुत्र (श्रीवसुदेवजी) सहित भगवान्‌के समान पुत्र प्राप्तिकी अभिलाषासे कठोर तपस्या की थी और वर प्रदान करने-वाले श्रीकृष्णने हमारी उस तपस्यासे सन्तुष्ट होकर हमारा पुत्र होना स्वीकार किया है। इस विषयमें दशम-स्कन्धमें स्वयं भगवान्‌की उक्ति है—"वर प्रार्थना करो, मेरी इस वाणीको सुनकर तुमने मेरे समान पुत्रके लिए प्रार्थना की थी।" इसका कारण है कि भगवान् कृष्ण 'वरदेश्वर' हैं अर्थात् वर प्रदान करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इस सम्बोधनके द्वारा एक बार वरदानके बाद भी पुनः-पुनः पुत्ररूपमें उनकी प्राप्ति और उत्तरोत्तर उस फलकी अधिकरूपमें प्राप्तिकी ही सम्भावना होती है। परन्तु श्रीनन्द-यशोदाने तो पुत्र-प्राप्तिके लिए प्रार्थना नहीं की थी, उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-भक्तिके लिए श्रीब्रह्मासे प्रार्थना की थी। यथा, दशम-स्कन्धमें श्रीब्रह्माके प्रति श्रीनन्द महाराजकी प्रार्थना है—"हमलोग पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करनेके बाद सम्पूर्ण जगतके ईश्वर श्रीहरिके प्रति उस परमाभक्तिको प्राप्त करें, जिस भक्तिके द्वारा लोग दुर्गतिसे रक्षा पाते हैं।" परमाभक्ति अर्थात् जिस (वात्सल्यमयी) भक्तिमें श्रवण-कीर्त्तनके द्वारा भविष्यमें अन्य जीव भी अनायास ही सुखपूर्वक संसाररूपी समुद्रको पार कर सकें, हमारी वैसी भक्ति हो॥७७-७८॥

तस्यैतद्भक्तवर्यस्य तादृशेन वरेण तौ।
आवाभ्यामपि माहात्म्यं प्राप्तौ सपरिवारकौ॥७९॥

श्लोकानुवाद—अतएव श्रीब्रह्माके वरसे श्रीनन्द और श्रीयशोदाको भक्तिकी ही प्राप्ति हुई है, क्योंकि श्रीब्रह्मा श्रीकृष्णके श्रेष्ठ भक्त हैं। अतएव उस भक्तिके प्रभावसे श्रीनन्द-यशोदा अपने समस्त परिवार सहित हमसे अधिक महिमाशाली हुए हैं॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः तस्य विधेस्तादृशेन तत्प्रार्थनानुरूपेण वरेण आशीर्वादेन तौ यशोदानन्दौ नौ आवाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्यामपि सकाशात् माहात्म्यं प्राप्तौ। तत्र च सपरिवारौ निखिलनिजव्रजजनसहितौ। कीदृशस्य? एतस्य कृष्णस्य भक्तेषु मध्ये वर्यस्य श्रेष्ठस्य। *'भजतां परो गुरुः'* इति (श्रीमद्भा॰ २/९/५) द्वितीयस्कन्धोक्तेः। एवं

भक्तिप्रार्थनात्तत्राप्यास्य परमभक्तं प्रति प्रार्थनेन स्वदत्तवरादपि निजभक्तवात्सल्यस्वभावेन स्वभक्तवरदत्तवरस्याधिक्येन सम्पादनादावाभ्यां सकाशादधिकस्तयोर्महिमा युज्यत एवेति भावः ॥७९॥

भावानुवाद—अतएव विधाता द्वारा श्रीनन्द और श्रीयशोदाको उनकी प्रार्थनाके अनुसार आशीर्वाद देनेसे उनको अपनी अभिलषित भक्तिकी प्राप्ति हुई है। उस भक्तिके प्रभावसे श्रीनन्द और श्रीयशोदाका हमसे अधिक माहात्म्य हुआ है, अर्थात् उन्होंने सपरिवार अर्थात् समस्त व्रजवासियों सहित उस प्रेमभक्तिको प्राप्त किया है। ये विधाता कैसे हैं? श्रीकृष्णके भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। विशेषरूपसे 'विधाता भक्तोंके परमगुरु हैं' ऐसा द्वितीय-स्कन्धमें भी कहा गया है। प्रथमतः श्रीनन्द-यशोदाकी प्रार्थना, और फिर वह प्रार्थना भी परमभक्तके निकट, अतएव श्रीकृष्णने अपने भक्त वात्सल्य स्वभावके कारण अपने द्वारा प्रदत्त वरकी तुलनामें अपने भक्त द्वारा प्रदान किये गये वरकी अधिक उत्कर्षता स्थापित की है। अतएव हमारी तुलनामें श्रीनन्द और श्रीयशोदाका अधिक माहात्म्य युक्ति-संगत ही है॥७९॥

ताभ्यां स्नेहभरेणास्य पालनं तत्तदीहितम्।
अतोऽस्यैतादृशो भावस्तयोर्युक्तो हि मे प्रियः॥८०॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्द और श्रीयशोदाने स्नेहपूर्वक जिस प्रकार श्रीकृष्णका लालन-पालन किया है, उससे श्रीकृष्णका उनलोगोंके प्रति वैसा भाव उपयुक्त ही है तथा वह भाव मुझे भी प्रिय लग रहा है॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्लक्षणञ्च सुव्यक्तमेवेत्याह—ताभ्यामिति, नन्दयशोदाभ्याम्। अस्य कृष्णस्य तत्तद्बहुविधं सुप्रसिद्धं वा अनिर्वाच्यमिति वा ईहितं कृतम्। अतोऽस्मादेवोक्ताद्धेतोः; अस्य कृष्णस्य; तयोर्नन्दयशोदयोर्विषये तादृशः प्रत्यक्षमनुभूतोऽयं भावो युक्त एव। स च मम प्रिय एव भवतीत्यर्थः। अन्यथा कृष्णस्याकृतज्ञतापत्तेः॥८०॥

भावानुवाद—श्रीनन्द और श्रीयशोदाके अधिक माहात्म्यके लक्षण को 'ताभ्यामिति' श्लोक द्वारा स्पष्टरूपमें व्यक्त कर रहे हैं। श्रीनन्द और श्रीयशोदाने स्नेहपूर्वक जिस प्रकार श्रीकृष्णका लालन-पालन किया है, उस अनिर्वचनीय लालन-पालनकी बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

अतएव श्रीकृष्णका श्रीनन्द-यशोदाके प्रति वैसा भाव उपयुक्त ही है। अर्थात् जो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, वह उपयुक्त ही है और यह भाव मुझे भी प्रिय लग रहा है। अन्यथा श्रीकृष्णको अकृतज्ञतारूपी दोष लगता॥८०॥

अथ श्रीरुक्मिणी देवी सहर्षमिदमब्रवीत्।
यद्वाक्यश्रवणात् सर्वभक्तानां प्रेम वर्द्धते ॥८१॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीरुक्मिणीदेवीने हर्षपूर्वक जो वचन कहे, उनको श्रवण करके सभी भक्तोंका भगवान्‌के प्रति प्रेम वर्द्धित होगा॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदं या भर्तृपुत्रादीत्यादि श्लोकत्रयात्मकं वाक्यम्। यस्य वाक्यस्य श्रवणात् सर्वेषां भगवद्भक्तानां भगवति प्रेम वर्द्धते। भगवत्प्रेमविशेषवतां जनानां सर्वतोऽधिकमाहात्म्यावकलनात्॥८१॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीरुक्मिणीदेवीने हर्षपूर्वक जो कुछ कहा, उसीका 'या भर्तृपुत्रादीत्यादि' तीन श्लोकोंमें (८२-८४में) अन्वय हुआ है। वास्तवमें उन बातोंको श्रवण करनेसे सभी भक्तोंका भगवान्‌के प्रति प्रेम वर्द्धित होगा, क्योंकि श्रीरुक्मिणिदेवीने ही उन भगवान्‌के प्रेमीजनोंका सर्वाधिक माहात्म्य कीर्त्तन किया है॥८१॥

या भर्त्तृपुत्रादि विहाय सर्वं, लोकद्वयार्थाननपेक्ष्यमाणाः।
रासादिभिस्तादृशविभ्रमै,-स्तद्रीत्याऽभजंस्तत्र तमेनमार्त्ताः ॥८२॥

श्लोकानुवाद—श्रीरुक्मिणीकी उक्ति इस प्रकार है—व्रजगोपियोंने लौकिक और पारलौकिक समस्त प्रकारके साध्य-साधनोंको जलाञ्जलि देकर तथा पति-पुत्र आदिका परित्याग करके श्रीवृन्दावनमें रासलीला आदि विलास-श्रेणी द्वारा किसी एक अत्यन्त निगूढ़ रीतिसे प्रेमातुर होकर श्रीकृष्णकी सेवा की है॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—या गोप्यो भर्त्तृपुत्रादिकं रासक्रीड़ादिरूपैस्तादृशैर-अनिर्वचनीयैर्विभ्रमैर्विलासैः तया अनिर्वचनीय-माहात्म्यया। यद्वा, परमरहस्यत्वेनात्र प्रकाशयितुमयोग्यया रीत्या प्रकारेण औपपत्यकृतस्वैरिणीवन्मधुरभावविशेषपरिपाट्येत्यर्थः। तत्र वृन्दावने निकुञ्जादौ तं तादृशवेशादिविभूषितं एवं भगवन्तं आर्ताः परमव्यग्राः

परमतृष्णातुरा वा सत्योऽभजन् असेवन्त। तासु विषये तस्य भगवतो भाववरः परमप्रेमविशेषः अस्मत्तः सकाशादधिको युक्त एव भवेदित्युत्तरेणान्वयः। कथम्भूताः? लोकद्वयस्य अर्थान् साध्य-साधनानि अनपेक्ष्यमाणाः॥८२॥

भावानुवाद—जिन गोपियोंने पति-पुत्र आदिका परित्याग करके श्रीवृन्दावनमें रासलीला आदि विलास-श्रेणी अथवा वैसे अनिर्वचनीय विशेष विलास द्वारा किसी एक सुगोप्य रीतिसे प्रेमातुर होकर श्रीकृष्णकी सेवा की थी, उन गोपियोंका माहात्म्य अनिर्वचनीय है। अथवा परम रहस्यमय अर्थात् यहाँ पर प्रकाश करनेके अयोग्य किसी एक सुगोप्य रीतिसे प्रेमातुर होकर उन गोपियोंने श्रीकृष्णकी सेवा की थी। यहाँ पर 'सुगोप्य रीति'का तात्पर्य है कि व्यभिचारिणी स्त्रीके उपपतिभावके समान गोपियोंने मधुरभावकी विशेष रीति सहित अत्यधिक उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्णकी सेवाकी है। भगवान्‌ने भी श्रीवृन्दावनके निकुञ्जोंमें वैसे वेश आदिसे विभूषित नायकरूपसे परम तृष्णातुर होकर उनकी सेवाको अङ्गीकार किया था। अतएव गोपियोंके प्रति भगवान्‌का विशेष-प्रेम उपयुक्त ही है, अर्थात् उनकी महिमा हमसे कहीं अधिक है। कैसे? उन्होंने लौकिक और पारलौकिक समस्त प्रकारके साध्य-साधनोंकी आशासे रहित होकर अनुरागपूर्वक श्रीकृष्णकी सेवा की है॥८२॥

अतो हि या नौ बहुसाधनोत्तमैः,साध्यस्य चिन्त्यस्य च भावयोगतः।
महाप्रभोः प्रेमविशेषपालिभिः, सत्साधनध्यानपदत्वमागताः॥८३॥

श्लोकानुवाद—अतएव जिन श्रीकृष्णको हम बहुत प्रकारके उत्तम-उत्तम साधनोंसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करती हैं तथा अनेक प्रकारसे अपनी चित्तवृत्तियोंको रोककर जिनका ध्यान करती हैं, किन्तु गोपियोंने उन्हीं श्रीकृष्णको अपने विशेष प्रेम द्वारा प्राप्त किया है। इसलिए गोपियोंका उत्कृष्ट साधन हम सबके लिए परम ध्येय हुआ है॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः एतादृशभजनादेव हेतोः महाप्रभोः श्रीकृष्णस्य प्रेम-विशेषाणां असाधारणप्रेम्णां पालिभिः श्रेणीभिः कृत्वा स्वतोरुत्कृष्टयोः साधनध्यानयोः पदत्वं विषयतां परमसाध्यत्वं परमध्येयत्वञ्चेत्यर्थः। आगताः सम्यक्प्राप्ताः। तथा च प्रसिद्धमुद्धववाक्यं गोपीः प्रत्येव—*'वियोगिनीनामपि पद्धतिं वो, न योगिनो*

गन्तुमपि क्षमन्ते। यद्ध्येयरूपस्य परस्य पुंसो, यूयं गता ध्येयपदं दुरापम्॥' इति। कथम्भूतस्य? महाप्रभोः। नोऽस्माकं बहुभिः साधनोत्तमैरुत्कृष्ट साधनैः परिचर्यादिभिः साध्यस्य, न तु स्वाच्छन्द्येन प्राप्यस्य; किञ्च, भावयोगतः प्रेमसम्पत्त्या चित्तैकाग्रतया वा चिन्त्यस्य ध्येयस्यैव, न तु साक्षाल्लभ्यस्य॥८३॥

भावानुवाद—अतः ऐसे उत्कृष्ट भजनके कारण ही गोपियाँ महान प्रभु श्रीकृष्णके असाधारण प्रेमकी पात्री हुई हैं। अर्थात् स्वतः ही वे उत्कृष्ट साधन या ध्यानकी पदवीको प्राप्त हुई हैं, यही नहीं, बल्कि परम साध्य या परम ध्येयका भी विषय हुई हैं। इस विषयमें गोपियोंके प्रति श्रीउद्धवके प्रसिद्ध वचन इस प्रकार हैं—"इन वियोगिनी गोपियोंकी साधन पद्धतिको योगीगण अपने ध्यानमें भी अनुसरण करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि जो सभीके ध्यानके विषय हैं, वे परम पुरुष भगवान् भी उन गोपियोंका ही ध्यान करते हैं।" यह कैसे सम्भव हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—गोपियाँ अपने विशेष प्रेमके द्वारा महान प्रभु श्रीकृष्णके लिए भी ध्येय विषय बन गयीं हैं। भावयोग अर्थात् गोपियोंने प्रेमरूपी सम्पत्ति द्वारा चित्तकी जैसी एकाग्रता प्राप्त की है, वैसी एकाग्रता हमें परिचर्या आदि बहुत प्रकारके उत्कृष्ट साधनों द्वारा भी प्राप्त नहीं है, अर्थात् हम गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णको स्वच्छन्दरूपसे प्राप्त नहीं कर पाती। इसलिए गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति वह प्रेम हम सबके लिए ध्यानका विषय बन गया है, किन्तु हम उसे साक्षात्‌रूपमें प्राप्त करनेके योग्य नहीं हैं॥८३॥

तास्वेतस्य हि धर्म-कर्म-सुत-पौत्रागार-कृत्यादिषु
व्यग्राभ्योऽस्मदथादरैः पतितया सेवाकरीभ्योऽधिकः।
युक्तो भाववरो न मत्सरपदं चोद्वाहभाग्भ्यो भवेत्
संश्लाघ्योऽथ च यत् प्रभोः प्रियजनाधीनत्वमाहात्म्यकृत्॥८४॥

श्लोकानुवाद—इसीलिए हमारी तुलनामें उन गोपियोंके प्रति श्रीकृष्ण द्वारा अधिक प्रेमका प्रकाश करना उपयुक्त ही है, क्योंकि हमलोग प्रभुकी विवाहित पत्नियाँ हैं और सदैव धर्म, कर्म, पुत्र-पौत्र, गृह आदि कार्योंमें ही व्यस्त रहती हैं तथा पतिभावके गौरवसे युक्त होकर प्रभुकी सेवा करती हैं। किन्तु गोपियाँ उक्त धर्म-कर्म आदि विषयोंमें आकांक्षा

रहित होकर शुद्ध भावसे प्रभुकी सेवा करती हैं। अतएव गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णका भाव हमारी तुलनामें अधिक तथा उत्कृष्ट होना युक्तिसंगत ही है। परन्तु गोपियोंका यह भाव हमारे लिए मात्सर्यका विषय नहीं, बल्कि प्रशंसनीय है, क्योंकि वैसा भाव ही हमारे प्रभुको प्रिय है। अतएव इसके द्वारा प्रभुका अपने प्रिय-व्यक्तियोंकी अधीनता स्वीकाररूप माहात्म्य ही प्रकाशित हो रहा है॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथम्भूताभ्योऽस्मद्धर्मकर्मादिषु व्यग्राभ्यः तत्तदासक्ताभ्य इत्यर्थः। अथ अतः; पतितया स्वामित्वेन हेतुना, आदरैर्गौरवैः, सेवाकरीभ्यः परिचर्याकर्त्रीभ्यः; यतः उद्वाहग्भागभ्यः कृतविवाहाभ्य इत्यर्थः। एवं गोपीभ्य आत्मनो वैपरीत्यमुक्तमित्यूह्यम्। तथाहि—तत्रैहिकामुष्मिकाशेषार्थापेक्षारहिता वयञ्च तेषु व्यग्राः। ताः रासक्रीड़ाद्यनिर्वचनीय-विभ्रमैर्भेजुः, वयन्तु सेवामात्रकारिण्यस्तत्रापि पतितया गौरवैः, न तु विशुद्धपरमप्रेमविशेषेण। ताः कदाचित् निशि गृहकोणे निभृतमागत्य लीनस्य अस्य विचित्रसङ्केतशब्दभङ्गिं निशम्य शयनादुत्थाय श्वश्र्वादिशङ्कया शनैः शनैर्द्वारार्गलमीषन्मोचयित्वा गृहान्निःसृत्याभिमुखे मिलितमेतमुपलभ्य गाढ़ालिङ्गन-चुम्बनादिना सुखयन्ति स्म, कदाचिद्दिवापि सङ्केतितयमुनानिकुञ्जादिगतं कोमलपल्लवपुष्पशय्यां रचयन्तं पत्रनिपातादिशब्देनापि प्रियतमा-समागममाशंक्यमानं तद्वर्त्मनिहितदृष्टिं कालिन्दीजलाहरणादिव्याजेन गत्वैनमरमयन्। कदाचित् प्रदोषे वेणुनादसङ्केतेनोन्मादिता मुहुर्भ्रश्यद्दुकूलकेशा विपर्यय धृतभूषणा वेगेन धावित्वा गत्या अवहित्थापरस्यास्य शाठ्यवचनपरिपाट्या महाशोकार्त्ताः; काकुभिर्निजेष्टं स्पष्टं याचमानाः पश्चादबहित्था-भङ्गान्नर्मत्व-ज्ञानेन परमदृष्टाः। पीतवस्त्राञ्चलादौ धृत्वा बलादेनं निकुञ्जकुहरे समाकृष्य समतर्पयन्नित्येवं विविधरीत्या स्वच्छन्दमौपपत्येनाभजन्; वयन्तु विधिवद्गृहीतपाणयो लोकधर्मादिपरतन्त्रा गार्हस्थ्यधर्मेणैव भजाम इत्यादि। अतएवास्माकं मत्सरपदं मात्सर्यविषयश्च न भवति; परमोत्कृष्टैर्जनैः सह निकृष्टानां सापत्न्ययोगात्; यथा स्वामिनीभिः सह दासीनाम्। अथच प्रत्युत संश्लाघ्यः सम्यक्श्लाघायोग्य एव। यद्यस्मात् प्रभोः स्वभर्त्तुः प्रियजनानामधीनत्वेन वश्यत्वेन तद्रूपं वा यन्माहात्म्यं कीर्त्तिविशेषस्तन् करोतीति तथा सः भाववरः। तथा सत्येवास्मादृशीनामपि तत्राशा भवेदिति गूढ़ोऽभिप्रायः। यद्यप्यासामपि धर्मकर्मादिष्वासक्तिर्नास्त्येव, सत्यामपि तेषां, सर्वेषामेव भगवदर्थकतया न कोऽपि च दोषो घटते, प्रत्युत भजनवैचित्रीहेतुत्वाद्गुण एव; तथापि निजसहजविनयभरेण गोपीसदृशभजनसौभाग्याभावेन वा तथोक्तं भगवत्येति बोद्धव्यम्, एवमन्यदप्यूह्यम्॥८४॥

भावानुवाद—अतएव गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णका भाव हमारी तुलनामें अधिक उत्कृष्ट होना ही उचित है। इसका कारण है कि

श्रीकृष्णकी विवाहिता पत्नी होनेके कारण हम धर्म-कर्म आदिमें व्यस्त हैं और गौरव सहित पतिभावसे प्रभुकी सेवा या परिचर्या करती हैं, क्योंकि हमलोग विवाह-विधिके अनुसार ग्रहण की गयी हैं। इस प्रकार श्रीरुक्मिणीदेवीने अपनेमें और गोपियोंमें विपरीत भावका प्रदर्शन किया है। जैसे, गोपियाँ लौकिक और पारलौकिक समस्त प्रकारके साध्य-साधनोंकी आकांक्षासे रहित हैं, किन्तु हमलोग उसी साध्य-साधनोंमें व्यस्त हैं। गोपियाँ श्रीकृष्णकी रासलीला आदि अनिर्वचनीय विलास क्रीड़ाओंमें विशुद्ध परम प्रेमके साथ उनकी सेवा करती हैं, किन्तु हम पति भावके गौरवसे युक्त होकर उनकी सेवामात्र करती हैं और वह सेवा भी विशुद्ध परम प्रेमपूर्वक नहीं होती।

यहाँ पर गोपियोंके विशुद्ध प्रेमकी बात कही गयी है। कभी-कभी जब श्रीकृष्ण अर्धरात्रिमें गोपियोंके घरके समीप आकर एकान्तमें छिपकर संकेतिक शब्द करते हैं, तब गोपियाँ उन संकेतिक-शब्दोंको सुनकर शय्यासे उठ खड़ी होती हैं। अपनी सास आदिके भयवशतः बिना कोई शब्द किये धीरे-धीरे किवाड़ खोलकर वे घरसे बाहर आकर श्रीकृष्णसे मिलती हैं और प्रगाढ़ आलिङ्गन और चुम्बन आदि द्वारा उनको सुख प्रदान करती हैं। कभी दिनमें श्रीकृष्ण यमुना-पुलिनके संकेतिक निकुञ्जोंमें पहलेसे ही अभिसार कर कोमल पल्लव और पुष्पोंसे शय्या तैयार कर गोपियोंकी प्रतीक्षा करते हुए उनके आगमनके पथकी ओर देखते रहते हैं तथा वृक्षोंके सूखे पत्तोंके गिरनेके शब्द सुनकर प्रियतमाके आगमनकी आशंकासे चौंक उठते हैं। गोपियाँ भी यमुनासे जल भरने आदिकी छलनासे घरसे निकलकर संकेतिक कुञ्जोंमें श्रीकृष्णसे मिलती हैं। कभी प्रदोष कालमें श्रीकृष्णके वेणुनादका संकेत पाकर उन्मादिनी होकर अभिसारके लिए जाते समय बार-बार उनके वस्त्र स्खलित हो जाते हैं, वेणी बिखर जाती है और उलटे-पुलटे आभूषणोंको धारणकर वे वेगपूर्वक श्रीकृष्णके निकट उपस्थित होती हैं। किन्तु जब रसिकशेखर श्रीकृष्ण अवहित्था प्रकाश करके अर्थात् अपने भावको गोपन करके शठ व्यक्तिके समान वाक्-चातुरी प्रकाशित करते हैं, तब गोपियाँ महा शोकसे कातर होकर अत्यधिक विनयपूर्वक नम्र वचनोंसे अपनी मनोभीष्ट प्रार्थना

करती हैं, अर्थात् स्पष्टरूपसे सुरत-क्रीड़ाकी (काम-क्रीड़ाकी) याचना करती हैं। किन्तु बादमें श्रीकृष्ण द्वारा अवहित्था त्याग देने पर वे उसको नर्म परिहास मानकर परमानन्दित हो जाती हैं तथा उनके पीताम्बरको पकड़कर बलपूर्वक उन्हें निकुञ्जमें ले जाकर अनेक प्रकारसे आनन्दित करती हैं। इस प्रकार गोपियाँ अनेक प्रकारसे अर्थात् स्वच्छन्दरूपसे उपपति रीतिके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। किन्तु हम विधिपूर्वक पाणिग्रहण (विवाह) करके लोकधर्म आदिके परतन्त्र गृहस्थ-धर्मके अनुसार उनका भजन करती हैं। अतएव गोपियोंका उक्त भाव हमारे मात्सर्यका विषय नहीं है, बल्कि वैसा भाव विशेष प्रशंसनीय है अर्थात् उनके प्रति मत्सरता करना हमारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि परम उत्कृष्ट व्यक्तिके साथ निकृष्ट व्यक्तिका सापत्न्य-भाव अर्थात् प्रतिद्वंदी भाव उसी प्रकार सर्वथा अनुचित है, जिस प्रकार स्वामिनीके साथ दासियोंका सौत भाव। अतएव यह श्रेष्ठ भाव हमारे प्रभुकी अपने प्रियजनोंके प्रति अधीनता स्वीकाररूप महिमाको ही प्रकाश कर रहा है। अथवा वे हमारे स्वामीकी प्रियाएँ हैं, इसलिए वे उनके प्रेमकी पराधीनतारूप माहात्म्यको ही बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार स्वच्छन्दभावसे इस भावको प्रकाश करनेके कारण मुझ जैसी रमणियाँ भी उसको प्राप्त करनेकी आशा कर सकती हैं—श्रीरुक्मिणीदेवीके वाक्योंका यही गूढ़ अभिप्राय है।

यथार्थतः श्रीरुक्मिणीदेवी तथा अन्य महिषियोंकी धर्म-कर्म आदि विषयोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं है। यद्यपि उन सब विषयोंमें उनकी किञ्चित् आसक्ति हो भी, तथापि वह सब विषय भगवान्‌की सेवाके सहायकरूपमें स्वीकृत होने पर उससे कोई दोष नहीं लगता, बल्कि वह भजनकी विचित्रताका कारण बनकर महागुणमें ही पर्यवसित होते हैं। किन्तु श्रीरुक्मिणीदेवी गोपियोंके समान भजनके सौभाग्यको प्राप्त न कर पानेसे अथवा अपनी स्वाभाविक नम्रतासे आक्षेपपूर्वक इस प्रकार कह रही हैं, ऐसा समझना चाहिए॥८४॥

ततोऽन्याभिश्च देवीभिरेतदेवानुमोदितम्।
सात्राजिती परं मानगेहं तदसहाविशत्॥८५॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त अन्य महिषियोंने भी श्रीरुक्मिणीदेवीके विचारोंका अनुमोदन किया, किन्तु सत्राजितकी पुत्री श्रीसत्यभामादेवी उसको सहन न कर पायी और मान-गृहमें प्रवेश कर गयी॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्याभिः श्रीजाम्बवतीप्रभृतिभिः। एतत् श्रीरुक्मिण्युक्तमेव अनुमोदितं साधु साध्वित्यनुमोदनं कृतम्; परं केवलमेकेत्यर्थः। तं व्रजजनविषयक-भवदीयभावविशेषं न सहत इति तथाभूता सती; मानस्य गेहं माने सति यद्गृहं प्रविश्यते तत् प्रविवेश॥८५॥

भावानुवाद—श्रीजाम्बवती इत्यादि अन्य महिषियोंने श्रीरुक्मिणीदेवीके वचनोंका 'साधु साधु' कहकर अनुमोदन किया। केवल सत्राजितकी पुत्री श्रीसत्यभामादेवी व्रजवासियोंके प्रति श्रीरुक्मिणीके भावोंको सहन न कर पानेके कारण मान गृहमें चली गयी॥८५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

श्रीमद्गोपीजन-प्राणनाथः सक्रोधमादिशत्।
सा समानीयतामत्र मूर्खराजसुता द्रुतम्॥८६॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा, श्रीउद्धवकी बात सुनकर श्रीमद्गोपियोंके प्राणनाथ श्रीकृष्णने क्रोधपूर्वक आदेश दिया कि उस महामूढ़ सत्राजितकी पुत्री सत्यभामाको शीघ्र ही यहाँ ले आओ॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीमन्तः परमप्रेमसम्पत्तियुक्ता निखिलशोभावत्यो वा गोपीजनाः श्रीराधाद्याः प्राणनाथाश्च स्वामिन्यः, यद्वा, प्राणेश्वर्यो यस्य सः। अतएव तद्विषयक-मात्सर्यासहिष्णुतया तथादिशदिति भावः। मूर्खराजो महामूढ़ः सत्राजित् भगवति स्यमन्तकमणिहरणमिथ्यापवादजल्पनात्। तस्य सुतेति क्रोधेन तस्यामपि तादृक्त्वमावर्जयति सम्यक् त्यजति अर्पयतीत्यर्थः॥८६॥

भावानुवाद—श्रीमन्त अर्थात् परमप्रेम सम्पत्तिसे युक्त अथवा समस्त प्रकारसे शोभायमान। गोपियोंके प्राणनाथ अर्थात् श्रीराधा आदि गोपियोंके प्राणेश्वर अथवा श्रीराधा आदि गोपियाँ जिनकी प्राणेश्वरी हैं, वही श्रीकृष्ण। अतएव गोपियोंके प्रति मात्सर्यको सहन करनेमें असमर्थ होकर श्रीकृष्णने क्रोधपूर्वक आदेश दिया, "महामूढ़ सत्राजितकी पुत्रीको यहाँ ले आओ।" 'महामूढ़' कहनेका उद्देश्य यह है कि इसी मूर्ख राजा सत्राजितने स्यमन्तकमणि चोरी होने पर श्रीकृष्णपर मिथ्या आरोप

लगाया था। इसलिए श्रीकृष्णने क्रोधावेशमें कहा कि उस महामूढ़ सत्राजितकी कन्याको ले आओ, अर्थात् वैसे महामूढ़की कन्या होनेके कारण वह भी उसके (मूढ़ता) जैसे गुणोंसे युक्त है, ऐसा कहकर श्रीसत्यभामादेवीकी भर्त्सना की॥८६॥

श्रेष्ठा विदग्धा स्वभिमानसेवा–चातुर्यतो नन्दयितुं प्रवृत्ता।
गोपालनारी–रतिलम्पटं तं, भर्त्तारमत्यन्तविदग्धताढ्यम्॥८७॥
दासीभ्यस्तादृशीमाज्ञां तस्याकर्ण्य विचक्षणा।
उत्थाय मार्जयन्त्यङ्गं त्वरया तत्र सागता॥८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीसत्यभामादेवी विदग्धा रमणियोंमें सर्वश्रेष्ठ थीं, इसलिए गोपियोंकी रतिके प्रति लम्पट विदग्धशिरोमणि अपने पतिको मान–सेवा–चातुर्य द्वारा सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करने लगीं। किन्तु जब उन्होंने दासियोंके मुखसे श्रीकृष्णके उस आदेशको सुना, तब भूमि–शय्याको परित्याग कर अंग–मार्जन करते–करते शीघ्र ही प्रभुके निकट आ गयीं॥८७–८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सा श्रीकृष्णस्य परमप्रियतमा; कथं तस्य मनः–प्रतिकूलं व्यवजह्रे? सत्यम्; तस्यैव नागरशेखरस्य मानिनी–मानभञ्जनेन संरम्भात्, प्रियजन–परमोत्कर्षवर्णनेन वा सुखविशेषं सम्पादयितुमित्याह—श्रेष्ठेति। विदग्धासु मध्ये श्रेष्ठा; अतः अभिमानः सम्यङ्मानिनीत्वं तद्रूपं यत्सेवाचातुर्यं तेन कृत्वा; तृतीयायां तस्। तं भर्त्तारं श्रीकृष्णचन्द्रं नन्दयितुं हर्षयितुं प्रवृत्ता सा सत्यभामा च तस्य भर्त्तुस्तादृशीं क्रोधेन कृतामाज्ञां *'सा समानीयताम्'* इत्यादिरूपां दासीभ्य आकर्ण्य त्वरया तत्र पार्श्वे आगतेति द्वाभ्यामन्वयः। यद्वा, प्रवृत्तेत्येव क्रियापदम्; ततश्च तस्या माने प्रवृत्त्यभिप्रायकथनाय पूर्ववृत्तमाद्यश्लोकेनोक्तमिति ज्ञेयम्। ननु स्त्रीजनमानभञ्जनेन स्वगौरवादिहान्या कुतो हर्षः सम्भवेत्तत्राह—अत्यन्तया निःसीमकया विदग्धतया वैदग्ध्या आढयं युक्तम्; परमविदग्धचूड़ामणेः स एवानन्दविशेषहेतुरिति भावः। यतः गोपालनारीषु श्रीचन्द्रावल्यादिषु या रतिः, परमप्रेमनिष्ठापरिपाकविशेषलक्षणं सौरतं तस्यां लम्पटं रसिकम्। एवं परममहावैदग्ध्यं तथा परममहाविदग्धानां तासां मानभञ्जनेन सुखममुनानुभूतमस्तीति चोक्तम्। विचक्षणा मानसमयाद्यभिज्ञा; भूमि–शयनादुत्थाय अङ्गं स्वगात्रं मार्जयन्ती भूमिशयनादिना लग्नं रजआद्यपसारयन्ती॥८७–८८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीमती सत्यभामादेवीने श्रीकृष्णकी परम प्रियतमा होने पर भी किसलिए श्रीकृष्णके मनके प्रतिकूल

व्यवहार किया? यह सत्य है कि श्रीसत्यभामादेवी श्रीकृष्णकी परम प्रियतमा हैं, किन्तु नागरशेखर श्रीकृष्णने प्रियजनोंके प्रेमोत्कर्षका वर्णन करके ही मानिनीका मान-भञ्जन किया। अथवा श्रीकृष्णके सुखके लिए ही श्रीसत्यभामादेवी पतिको मान-सेवासे सन्तुष्ट करनेमें तत्पर हुईं, इसलिए उनको विदग्धा रमणियोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अर्थात् सम्पूर्णरूपसे मानिनी होकर वे विदग्ध-शिरोमणि पतिको (श्रीकृष्णको) मान-सेवा-चातुर्य द्वारा प्रसन्न करनेका प्रयास करने लगीं। विशेषतः सत्यभामादेवी दासियोंके मुखसे अपने पति श्रीकृष्णके क्रोधपूर्वक वचन 'सत्यभामाको शीघ्र यहाँ ले आओ'को सुनते ही भूमि-शय्याका परित्याग करके अंग-मार्जन करते-करते शीघ्र ही अपने पतिके निकट उपस्थित हुई। उनके मानिनी होनेका अभिप्राय पूर्वश्लोकमें कहा गया है।

यदि कहो कि स्त्रियोंके मान-भञ्जन द्वारा अपने गौरवकी (मर्यादाकी) हानि होने पर प्रभुकी प्रसन्नता किस प्रकार सम्भव होगी? इसीलिए कह रहे हैं कि श्रीकृष्ण अत्यधिक विदग्धतासे युक्त या परम विदग्ध-चूड़ामणि होनेके कारण प्रेमनिष्ठासे युक्त मानिनियोंके मान-भञ्जनमें ही परमानन्दित होते हैं। इसका कारण है कि श्रीकृष्ण गोपललना श्रीचन्द्रावली इत्यादिकी रति अर्थात् परमप्रेम निष्ठाका परिपाक लक्षण जो सुरत है, उस सुरतके विषयमें अत्यन्त रसिक हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णकी परम विदग्धता तथा परमविदग्ध व्यक्तिको स्त्रियोंके मानभञ्जन द्वारा जो सुख होता है, जिसका श्रीकृष्णको अनुभव है—इन विषयोंको कहा गया है। श्रीसत्यभामादेवी भी विचक्षणा हैं अर्थात् मानके काल आदि विषयको जाननेवाली हैं, इसीलिए श्रीकृष्णके आदेशको सुनते ही भूमि-शय्याका परित्याग करके अंग-मार्ज्जन करते-करते अर्थात् भूमि-शय्याके कारण शरीरसे लगी धूल आदिको झाड़ते हुए अपने पतिके निकट पहुँच गयीं॥८७-८८॥

स्तम्भेऽन्तर्धाप्य देहं स्वं स्थिता लज्जाभयान्विता।
संलक्ष्य प्रभुणा प्रोक्ता संरम्भावेशतः स्फुटम्॥८९॥

श्लोकानुवाद—असमयमें मान करनेके कारण लज्जित और भगवान्‌के क्रोधसे भयभीत होकर श्रीसत्याभामादेवी स्तम्भके पीछे ही अपनेको छुपाकर खड़ी रहीं, किन्तु प्रभु श्रीकृष्ण उनके अंग आदिकी सुगन्धसे उनके आनेके विषयमें जानकर क्रोधपूर्वक स्पष्टरूपसे कहने लगे॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा च स्वं स्वकीयं देहं स्तम्भे अन्तर्धाप्य लीनं कृत्वा स्थिता सती प्रभुणा श्रीकृष्णेन संलक्ष्य सौरभ्यादिविशेषलक्षणेन ज्ञात्वा संरम्भस्य क्रोधस्यावेशतः प्रवेशतः स्फुटं यथा स्यात्तथा प्रोक्ता। कथम्भूता? लज्जा असमये माने प्रवृत्त्या विकर्मणा भयञ्च भगवत्क्रोधादेः ताभ्यामन्विता॥८९॥

भावानुवाद—यद्यपि श्रीसत्यभामा अपनेको स्तम्भके पीछे छुपाकर खड़ी थीं, तथापि श्रीकृष्ण उनके अंगकी सुगन्ध आदि लक्षणोंसे उनके आनेके विषयमें जानकर क्रोधपूर्वक स्पष्टरूपसे कहने लगे। श्रीसत्यभामा छिपकर क्यों खड़ी थीं? लज्जा अर्थात असमयमें मान करके भगवान्‌को असंतुष्ट करनेके कारण लज्जित होकर तथा भय अर्थात् भगवान्‌के क्रोधके भयसे—ऐसा समझना होगा॥८९॥

श्रीभगवानुवाच—

अरे सात्राजिति क्षीणचित्ते मानो यथा त्वया।
क्रियते रुक्मिणीप्राप्तपारिजातादिहेतुकः॥९०॥
तथा व्रजजनेष्वस्मन्निर्भरप्रणयादपि।
अवरे किं न जानासि मां तदिच्छानुसारिणम्॥९१॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—अरी संकीर्णचित्तवाली सात्राजिति (सत्राजितकी कन्या)! तुमने पहले रुक्मिणीके पारिजात प्राप्त करनेके समय जिस प्रकार मान किया था, आज भी व्रजवासियोंके प्रति मेरे चरम प्रेमको देखकर उसी प्रकार मान किया है? अरी बुद्धिहीने! मैं तो व्रजवासियोंकी इच्छाके वशीभूत हूँ, क्या तुम इसको नहीं जानती हो?॥९०–९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अरे सत्राजितस्य दुर्बुद्धेः कन्येति क्रोधसम्बोधनम्; तथा रे क्षीणचित्ते इति च। रुक्मिण्या प्राप्तं मत्तो लब्धं यत् पारिजातं नारदानीतं सुरतरुपुष्पमेकं तदादिर्हेतुर्यस्य स मानो यथा त्वया क्रियते, तथा व्रजजनेषु

श्रीराधिकादिषु योऽस्माकं निर्भरः सर्वातिशायी प्रणयः प्रेमा तस्मादपि हेतोः। तथा तादृशो मानः क्रियते त्वयेति सार्धश्लोकेनान्वयः॥९०॥

अस्मदिति बहुत्वं श्रीबलराम-रोहिण्याद्यपेक्षया व्रजजनविषयकनिजप्रेमभरादात्मनो बहुमानेन वा। अवर इत्यतिक्रोधसम्बोधने; तेषां व्रजजनानामिच्छानुसरणशीलम्॥९१॥

भावानुवाद—अरी दुर्बुद्धे सत्राजितकी कन्या! (यह क्रोध प्रकाशक सम्बोधन है) अरी संकीर्ण चित्तवाली! तुमने पूर्वकालमें रुक्मिणीको पारिजात पुष्प प्राप्त होनेके समय जैसा मान किया था अर्थात् श्रीनारद द्वारा स्वर्गसे लाये गये पारिजात पुष्पको मेरे द्वारा रुक्मिणीको दिये जाने पर तुमने जैसा मान किया था, आज श्रीराधिका आदि व्रज-वासियोंको हमारा सबसे अधिक प्रेमपात्र देखकर वैसा ही मान कर रही हो? यहाँ पर 'हमारा' बहुवचन प्रयोग करनेका उद्देश्य यह है कि श्रीबलराम, श्रीरोहिणी आदि हम सबका ही व्रजवासियोंके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रेम है। अथवा उनके प्रति अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रेम होनेके कारण ऐसा कथन समझना चाहिए। 'अवर' अर्थात् हीन, यह अत्यधिक क्रोध प्रकाशक सम्बोधन है। मैं व्रजवासियोंकी इच्छानुसार ही समस्त कार्य करता हूँ, क्या तुम इसको जानती नहीं हो?॥९०-९१॥

कृते सर्व-परित्यागे तैर्भद्रं यदि मन्यते।
शपे तेऽस्मिन् क्षणे सत्यं तथैव क्रियते मया॥९२॥

श्लोकानुवाद—यदि मेरे द्वारा तुम सबको परित्याग करनेमें व्रजवासी अपना मंगल समझते हैं, तो मैं तुम्हारी शपथ ग्रहण करता हूँ कि मैं सचमुच इसी समय वैसा ही करूँगा॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—कृत इति। सर्वस्य त्वदादिदारपुत्रादेः परित्यागे मया कृतेऽपि सति तैर्व्रजजनैरेवं भद्रं न मन्यत एव, यदि तु भद्रं मन्यते, तदा अस्मिन्नेव क्षणे तथैव क्रियते, सर्वं परित्यज्यत इत्यर्थः। एतच्च सत्यमेव। अतस्ते तुभ्यं शपे, तव शपथं करोमीत्यर्थः। अनेन तस्यामपि प्रेमविशेषो व्यञ्जितः, लोके परमप्रियजनस्यैव शपथाचरणात्॥९२॥

भावानुवाद—'मैं तो व्रजवासियोंकी इच्छाका पालन करता हूँ' यही 'कृते' इत्यादि श्लोकमें कहा जा रहा है। मेरे द्वारा सर्वस्व त्याग देनेसे अर्थात् पुत्र आदि तुम सभीका परित्याग कर देनेसे व्रजवासी इसमें

अपना मंगल नहीं मानते। किन्तु, यदि इसमें वे अपना मंगल समझते हैं, तो मैं अभी इसी समय वैसा करनेके लिए तैयार हूँ। यह सत्य है, मैं तुम्हारी शपथ ग्रहण करके कहता हूँ। इस वाक्यसे श्रीसत्यभामादेवीके प्रति श्रीकृष्णका प्रेम प्रकाशित हुआ है, क्योंकि व्यक्ति अपने परमप्रियकी ही शपथ ग्रहण करता है॥९२॥

स्तुवता ब्रह्मणोक्तं यद्वृद्धवाक्यं न तन्मृषा।
तेषां प्रत्युपकारेऽहमशक्तोऽतो महाऋणी॥९३॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्माने स्तव करते-करते जो कुछ कहा है, वह कभी भी असत्य नहीं हो सकता, क्योंकि उनके वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः मैं व्रजवासियोंके उपकारका ऋण चुकानेमें असमर्थ हूँ, अतएव मैं उनका अत्यधिक ऋणी हूँ॥९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि तेषां प्रियं कथं न सम्पादयसि? निजशक्त्या कथमपि असाध्यत्वादित्याशयेनाह—स्तुवतेति। मत्स्तुतिं कुर्वता सता यदुक्तं तन्मृषा न भवति; यतः वृद्धस्य प्रामाणिकस्य वाक्यम्। किमुक्तम्? तदाह—तेषामिति, व्रजजनानां प्रत्युपकारे प्रत्युपकारं कर्त्तुमहं परमेश्वरोऽप्यशक्तः; अतस्तस्माद्धेतोस्तेषां महाऋणिविशेषवत् परमवश्यः। कथमपि किञ्चित्प्रत्युपकारेच्छया नित्यपरमव्यग्रश्चेत्यर्थः। स्तुवता इत्युक्त्या परमोत्कर्षवर्णनरूपा स्तुतिर्मम सैवेति ध्वनितम्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा० १०/१४/३५) *'एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति। सद्वेशादिव पूतनाऽपि सकुला त्वामेव देवापिता, यद्धामार्थ-सुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥'* इत्यादि। अस्यार्थश्चाग्रे विवरिष्यते॥९३॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि तो फिर आप व्रजवासियोंके प्रियकार्यको क्यों नहीं करते हैं? आपकी शक्तिके द्वारा क्या असाध्य है? इसी अभिप्रायसे 'स्तुवता' इत्यादि पद कह रहे हैं। ब्रह्माजीने स्तव करते-करते जो कहा था, वह कभी भी झूठ नहीं हो सकता, क्योंकि उनके वचन प्रामाणिक हैं। श्रीब्रह्माने क्या कहा है? मैं उसे बतला रहा हूँ श्रवण करो। परमेश्वर होने पर भी मैं (श्रीकृष्ण) व्रजवासियोंके उपकारका ऋण चुकानेमें असमर्थ हूँ। अतएव मैं उनका महाऋणी हूँ, अर्थात् महाऋणी होनेके कारण उनके अत्यधिक वशीभूत हूँ?

इसीलिए 'मैं किस प्रकार उनका थोड़ासा भी प्रत्युपकार कर सकता हूँ' इसी अभिलाषासे सदैव अत्यधिक व्यग्र रहता हूँ। मूल-श्लोकके 'स्तुवता' पदमें श्रीकृष्णके परमोत्कर्षका वर्णनरूपी स्तुति ही ध्वनित हुई है। इस स्तवका तात्पर्य यह है—"हे देव! आप इन व्रजवासियोंको समस्त फलोंके सार अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठ और कौनसा फल प्रदान करेंगे? हमारा चित्त इसका विचार करनेमें असमर्थ है। और सर्वफलमय आपके अलावा उनका चित्त भी अन्य किसी फलके प्रति मोहित नहीं होता। किन्तु आपके भक्तों जैसे वेशका अनुकरण करने मात्रसे ही पूतना अपने परिवार सहित आपको प्राप्त हुई है। आप ही इन भक्तश्रेष्ठ व्रजवासियोंके गृह, अर्थ, बन्धु, प्रियजन, पुत्र और प्राण हैं। उनका सर्वस्व आपके सुखके लिए समर्पित है। अतएव उनको उससे श्रेष्ठ कौनसा फल देंगे?" इसका विशेष अर्थ आगे विस्तारसे दिया जायेगा॥९३॥

यदि च प्रीतये तेषां तत्र यामि वसामि च।
तथापि किमपि स्वास्थ्यं भाव्यं नालोचयाम्यहम्॥९४॥

श्लोकानुवाद—यदि उनकी प्रीतिके लिए मैं व्रजमें जाकर वास भी करूँ, तो भी वे स्वस्थ (संतुष्ट) नहीं होंगे, यही मेरी धारणा है॥९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु त्वयि तत्र गत्वा स्थिते सति तेषां सन्तोषः स्यात्? नेत्याह—यदीति पञ्चभिः। गमनमात्रेण प्रीतिर्न सम्पद्यत इति स्वयमेवाशङ्क्याह—वसामि चेति। तेषां स्वास्थ्यं सुखं मद्वियोगजदौःस्थ्योपशमं वा भाव्यं भविष्यतीति। यद्वा, भावयितुं सम्पादयितुं शक्यमिति नालोचयामि विचारणेनावगच्छामि॥९४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि आपके व्रजमें वास करनेसे ही तो उनको सन्तोष होगा? इसके खण्डनमें 'यदि' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। यदि मैं व्रजमें जाता भी हूँ, तो केवल मेरे जानेमात्रसे ही वे प्रसन्न नहीं होंगे और इस आशंकासे यदि मैं वहाँ पर वास भी करूँ तो भी उनको सुखकी प्राप्ति अथवा मेरे वियोगसे उत्पन्न दुःखकी निवृत्ति होगी या नहीं, यह भी मैं विचार करके समझ नहीं पा रहा हूँ॥९४॥

मदीक्षणादेव विगाढ़भावोदयेन, लब्धा विकला विमोहम्।
न दैहिकं किञ्चन ते न देहं, विदुर्न चात्मानमहो किमन्यत्॥९५॥

श्लोकानुवाद—वे मेरे दर्शन करनेमात्रसे ही प्रगाढ़भावके उदय होनेके कारण व्याकुल और मोहित होकर देह-दैहिक इत्यादि समस्त विषयोंको भूल जाते हैं। अधिक क्या, उस अवस्थामें वे अपनेको ही नहीं जान पाते, दूसरोंके विषयमें तो फिर कहना ही क्या?॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—मदिति। मम दर्शनमात्रत एव विगाढ़स्य सुदृढ़स्य परमगम्भीरस्य वा भावस्य प्रेम्ण उद्येण आविर्भावेन प्रथमं विकलाः परमसम्भ्रमेण स्वेदकम्पादिसात्त्विकविकारेण च विह्वलाः, पश्चाद्विमोहं विशिष्टं मोहं सपरिकरस्य श्रीभगवतस्तत्रापि स्फूर्त्तेः, न तु समाधिवत् सर्वशून्यतापादनादपकृष्टम्। यद्वा, परमास्वास्थ्यकरत्वात् महामूर्च्छां लब्धाः प्राप्ताः सन्तः; ते व्रजजनाः। यद्वा, ते गोपास्ताश्च गोप्य इत्येकशेषत्वेन ते इति। यद्वा, ते गोपीजना एव, ततस्तासां नामाद्यग्रहणं ता इति स्त्रीत्वेनानुक्तिश्च परमगोप्यतमत्वात्। दैहिकं देहसम्बन्धि पतिपुत्रादिकं कृत्यादिकञ्च किञ्चिदपि न विदुर्न जानन्ति। अहो विस्मये खेदे वा, अप्यर्थे चकारः, आत्मानमपि न विदुः। तत्सम्बन्धि अन्यत् ऐहिकामुष्मिकार्थादिकं किञ्चिदपि न विदुरिति किं वक्तव्यमित्यर्थः। अतः किञ्चिदनुसन्धानाभावान्न किञ्चिदपि तेषां बहिःस्वास्थ्यमापादयितुं मया शक्यं स्यात्, प्रत्युत मदीक्षणादेव परमप्रेमविशेषोदयेन ते वैकल्यं मूर्च्छां लभन्त इति तेषां तद्दूरवस्थादर्शनाद् वरं मे तत्रागमनादिकमिवेति भावः॥९५॥

भावानुवाद—अपने (श्रीकृष्णके) व्रजमें जाने पर भी उनके दुःख दूर न होनेका कारण 'मदिति' श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। मेरा दर्शन होने पर भी उनका विरहसे उत्पन्न दुःख दूर नहीं होता, क्योंकि मुझे देखने मात्रसे ही परम गम्भीर भावके उदय होनेके कारण प्रथमतः तो वे परम सम्भ्रमके साथ स्वेद-कम्प आदि सात्त्विक विकारोंसे विह्वल हो जाते हैं और अन्तमें विशेषरूपसे मोहग्रस्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण-प्रेमवशतः गोप-गोपियोंका जो मोह है, वह योगियों जैसा तुच्छ मोह नहीं है, क्योंकि योगियोंकी निर्विकल्प समाधि समस्त प्रकारसे शून्यमें ही पर्यवसित होती है। गोप-गोपियोंका मोह सांसारिक व्यक्तियों जैसा परम दुःखदायक भी नहीं होता, क्योंकि वह प्रेमके विकारसे उत्पन्न होता है। अतएव उनके मोह या मूर्च्छित अवस्थामें भी उन्हें भीतर-ही-भीतर सपरिकर भगवान्की स्फूर्ति होती है।

यहाँ पर 'ते' शब्दसे गोप-गोपी इत्यादि सभी व्रजवासियोंको लक्ष्य किया गया है। अथवा केवल गोपियोंको ही लक्ष्य किया गया है, क्योंकि स्त्री होनेके कारण उनका नाम आदि परम गोपनीय है, अतएव स्पष्टरूपसे नाम ग्रहण न कर केवल 'ते' शब्दसे उद्दिष्ट हुआ है। परन्तु वे उस मोह दशामें देह-दैहिक समस्त विषयोंको ही भूल जाते हैं। यहाँ पर 'दैहिक'का अर्थ है—देह सम्बन्धी पति-पुत्र आदि और स्नान-भोजन आदि क्रियाओंको भी भूल जाते हैं। इस विषयको सूचित करनेके लिए ही विस्मय या खेदपूर्वक 'अहो' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं। अहो! उस अवस्थामें वे अपनेको भी भूल जाते हैं। अतएव देह-सम्बन्धी अन्य विषयों अर्थात् लौकिक और पारलौकिक अथवा जगतका अन्य कुछ भी नहीं जानते, इस विषयमें और क्या कहूँ? अतएव उनको बाह्यज्ञान न रहने पर मैं उनको बाह्यरूपसे स्वस्थ करनेमें असमर्थ रहता हूँ। मेरे दर्शनमात्रसे ही परमप्रेमके उदय होनेके कारण वे व्याकुल और मूर्च्छित हो जाते हैं। इसीलिए मैं व्रजमें नहीं जाता हूँ अथवा वहाँ पर वास भी नहीं करता हूँ। अर्थात् उनकी वैसी दुरावस्था देखनेकी बजाय वहाँ नहीं जाना ही अच्छा है, यही मेरी धारणा है॥९५॥

दृष्टेऽपि शाम्येन्मयि तन्न दुःखं, विच्छेदचिन्ताकुलितात्मनां वै।
हर्षाय तेषां क्रियते विधिर्यो, दुःखं स सद्यो द्विगुणीकरोति॥९६॥

श्लोकानुवाद—अतएव मुझे देखने पर भी मेरे विरहसे उत्पन्न उनका दुःख कदापि दूर नहीं होगा और यदि उनकी प्रसन्नताके लिए मैं उनके साथ मधुर विहार आदि भी करूँ, तो भी मेरे भावी विच्छेदकी चिन्तासे आकुल होकर वैसा विहार आदि भी उनके दुःखको दो गुणा अधिक बढ़ा देगा॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मास्तु मोहेऽन्यज्ञानम्? अन्तस्तव सपरिकरस्य स्फूर्त्या बहिरपि त्वत्सन्दर्शनं घटत एव, विगाढ़भावोदयस्यैव तत्स्वभावकत्वात्। अतएवेदृशप्रेमा-भावाच्छ्रीध्रुवस्य श्रीभगवद्ध्यानाविष्टचेतसोऽपि साक्षाद्बहिर्वर्त्तमान-श्रीभगवद्दर्शनं न वृत्तम्; केवलं श्रीभगवतैव कृपया तदन्तःस्फुरन्निजरूपमन्तर्धाप्य स्वस्य साक्षाद्दर्शनं कारितम्। तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ ४/९/२) *'स वै धिया*

योगविपाकतीव्रया, हृत्पद्मकोषे स्फुरितं तड़ित्प्रभम्। तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य, बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श॥' इति, एवं सकलफलाधिकतरे साक्षात्त्वद्दर्शने सति स्वास्थ्यं सम्भवेदेवेति चेत् सत्यम्; तथापि दुःखविशेषवतां सद्यः स्वास्थ्यापादनं न किल सिध्येत्; यद्वा, तत्रापि भाविविरहशङ्कया पुनरस्वास्थ्यं जायत एवेत्याह—दृष्टेति। तत् मद्विरहकृतम्। तत्र हेतुः—विच्छेदेन या चिन्ता शोकस्तया आकुलितो विकलीकृत आत्मा चित्तं देहो वा स्वभावो वा येषाम् तेषाम्। आकुलितशब्द-प्रयोगस्यायमभिप्रायः—यथा बहुलोपवासक्षीणाशेषधातोः परमक्षुधातुरस्यान्नप्राप्त्यापि अस्वास्थ्यं नापयाति, किन्तु तदुपभोगेनैव; तत्रापि न सद्यः किन्तु सुरीत्या चिरेणैव; तथा तत्रापि न खलु दर्शनमात्रेणैव किन्तु क्रीड़ादिनैव; तत्र च तत्तदिच्छया सम्यक्तयैव बहुकालेन चेति। तच्चावश्यकविविधकृत्य-समुच्चयव्यग्रान्मत्तो न सिध्यतीति कुतस्तेषां स्वास्थ्यं घटतामिति भावः। यद्वा, विच्छेदस्य भाविनश्चिन्तया चिन्तनेन आकुलितात्मनाम्। अतस्तत्स्वभावकत्वात्तेषां साक्षाद्दर्शनादपि स्वास्थ्यं न भवेदिति भावः। वै स्मरणे, एतन्मया तत्रानुभूतं स्मर्यत एवेत्यर्थः; यद्वा, युष्माभिरेतत् स्मर्यतामित्यर्थः। तच्च दशमस्कन्धे शेषे (श्रीमद्भा॰ १०/९०/१५) जलविहारानन्तरम्—*'कुररि! विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे, स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः। वयमिव सखि! क्वच्चिद्गाढ़निर्भिन्नचेता, नलिननयन- हासोदारलीलेक्षितेन॥'* इत्यादिदशश्लोक्या श्रीशुकेनैवोक्तमस्ति। न च तद्विरहकालीनं स्वपिति *'रात्र्यामीश्वरः'* इत्युक्तेः तत्र च दिन एव; तत्रापि जलक्रीड़ायामेव। अतएव तत्र तेनैवोक्तम्—*'ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जड़म्। चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/९०/१४) इति। अस्यार्थः—मुकुन्दैकधियः समाहिता इव क्षणमगिरः सत्यः पुनस्तमेवारविन्दाक्षं चिन्तयन्त्यः। जड़ं यथा स्यात्तथा यानि वाक्यानि ऊचुः तानि मे मत्तो गदतः शृण्विति। ननु भवान् परमविदग्धशेखरोऽशेषशक्तिमान् तथा तान् रमयतु, यथा क्वचिद्विच्छेदेऽपि सति ते सुखिन एव वर्त्तेरन्, तत्राह—हर्षायेति। तेषामिति पूर्ववदेव व्रजजनानां गोपीजनानामेवेति वा। अस्य पदस्य प्रथमार्धे चान्त्यपादेऽप्यनुषङ्गः। विधिर्मधुरमधुरविहारादिप्रकारः। सद्यस्तत्करणक्षण एव, अस्तु तावत् पश्चात्। यथा तापशान्तये प्रतप्ततैले प्रक्षिप्तं जलं वह्निमेव सपदि साक्षात्तनोतीत्येष दृष्टान्तोऽत्र द्रष्टव्यः। अयं भावः—अहो एतादृशस्य श्रीकृष्णस्यास्य कथं विरहं सोढ़ुं शक्ष्यामः? किंवा चिरं तथा वर्त्तमानेऽपि मयि एतादृशोऽयमधुनैव कुत्रापि गतप्राय एवेति चिन्तया विरहदुःखस्यैवोदयान्मधुर-मधुरविहारविशेषादिना तद्दुःखमधिकमेव स्यादिति। एवं मया विहितोऽग्नेरुष्णस्वभावो यथा कथमपि नापयाति, तथा तेषामपि मयैवासाधारण-निजमहाप्रसादतथा प्रदत्तस्तत्स्वभावो मयापि किञ्चिन्निराकर्त्तुं न शक्यते; यतस्तयैव तेषां सर्वतोऽधिकमाहात्म्यविशेषसिद्धिरिति दिक्। यद्यपि परममधुरमहानन्दघनमूर्त्तेः श्रीनन्दनन्दनस्य साक्षादालिङ्गनादिना वस्तुस्वभावतस्तदनुरूप-परमानन्दविशेषोऽपि कदाचित्तासामाविर्भवति, तथापि तदीयविरहजप्रेमविशेषस्यैव

परममहत्त्वाच्चरमकाष्ठाप्राप्त-परमसुखविशेषमयत्वात्तन्महाप्रसादविशेषपात्रभूतासु तासु प्रायस्तथैवासबुदेतीत्यूह्यम्। तत्र यद्यपि प्रायः सर्वेषामेव भगवत्प्राप्त्याभावात्तद्विरहो वर्त्तत एव, तथापि तादृशप्रेमाभावाद्विरहार्त्तेः सम्यगनुदयेन तादृश महासुखविशेषो न किल सम्पद्यते। तादृशप्रेमा च केवलं श्रीकृष्णस्य महाकृपाविशेषेण प्रायस्तत्सन्दर्शनादिनैव सिध्यतीति दिक्। एवं सर्वथैव तेषामाविर्भवत्परमप्रेमवैकल्यसन्तानं साक्षाद्द्रष्टुमशक्तस्तत्राहं न वसामि न यामि चेति तात्पर्यम्॥९६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि सचमुच प्रेम-रूपी मोहके कारण अन्य किसी प्रकारका भी ज्ञान नहीं रहता, किन्तु भीतरमें सपरिकर भगवानकी स्फूर्ति होनेके कारण बाहर भी उनका दर्शन होता है। इसका कारण है कि ऐसे प्रगाढ़ भावके उदय होने पर स्वाभाविकरूपसे ही भगवान्का दर्शन होता है। अतएव ऐसे प्रगाढ़ प्रेमके अभावके कारण ध्रुवके ध्यान-आविष्ट चित्तमें भगवानकी स्फूर्ति होने पर भी बाहरमें उनको साक्षात् भगवान्का दर्शन नहीं हुआ, परन्तु भगवान्ने ही कृपा करके उनको साक्षात् दर्शन दिया था। भगवान्ने जब ध्रुवके हृदयमें स्फुरित अपने रूपको अन्तर्ध्यान कर दिया, तब उनके द्वारा दोनों नेत्र खोलने मात्रसे ही उन्हें भगवान्के उसी रूपका दर्शन हुआ, जिसका उन्होंने अन्तरमें दर्शन किया था। यह प्रसंग चतुर्थ-स्कन्धमें कहा गया है—"प्रगाढ़ ध्यानयोगसे श्रीध्रुवका चित्त निश्चल हो गया था, इसलिए उनको अपने हृदय-कमलमें विद्युतप्रभासे सुशोभित भगवान्का रूप स्फुरित हो रहा था। परन्तु जब भगवान्ने उसके हृदयसे अपने रूपको अन्तर्हित कर लिया, तब सहसा उस रूपके अप्रकट होनेसे ध्यान भंग होने पर नेत्रोंको खोलते ही ध्रुवने भगवान्के उसी रूपके दर्शन किये, जिस रूपको वे अपने हृदयमें दर्शन कर रहे थे।" अतएव इस प्रकारसे भगवान्का साक्षात् दर्शन ही समस्त प्रकारके साध्यफलोंकी तुलनामें भी अधिक श्रेष्ठ फल है, इसीलिए आपका साक्षाद् दर्शन होने पर ही व्रजवासियोंका स्वस्थ होना सम्भव है।

यह सत्य है, किन्तु विरहके कारण विशेष दुःखित व्यक्तिको केवल दर्शन द्वारा स्वस्थ करना असम्भव है, अथवा भावी विरहकी आशंकासे उसमें पुनः अधिक दुःख उत्पन्न हो सकता है, यही समझानेके लिए भगवान 'दृष्टेऽपि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मुझे

देखने पर भी मेरे विरहके कारण होनेवाला दुःख दूर नहीं होगा। इसका कारण है—विच्छेदकी चिन्तासे अथवा विच्छेद-दशामें सदैव आकुल-व्याकुल होना ही व्रजवासियोंकी चित्तवृति अथवा स्वभाव है। जिस प्रकार बहुत समय तक उपवास द्वारा शरीरकी समस्त धातुओंके क्षीण होने पर अत्यन्त भूखा व्यक्ति भी अन्न प्राप्ति मात्रसे ही स्वस्थ नहीं हो सकता अर्थात् भूखसे उत्पन्न पीड़ासे मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि उस अन्नके भोजनसे भूख मिट जाती है और स्वस्थ भी ठीक हो जाता है, किन्तु वह तत्क्षणात् नहीं हो जाता—नियमितरूपसे उपभोग करने पर ही बहुत दिनोंसे चल रही अस्वस्थता दूर होती है। उसी प्रकार दीर्घकालसे विरहमें कातर व्रजवासियोंका दुःख केवल मेरे दर्शनसे ही दूर नहीं हो सकता। यदि मैं दीर्घकाल तक उनके साथ मधुरक्रीड़ा आदि करूँ, तभी उनका विरहरूपी दुःख दूर हो सकता है। अतएव वैसी क्रीड़ाका अनुष्ठान करना अवश्य कर्त्तव्य है, किन्तु मैं अभी अनेक प्रकारके कार्योंमें व्यस्त हूँ, इसलिए व्रजमें जाकर या वहाँ दीर्घकाल तक वास करके क्रीड़ा आदिके द्वारा भी उनको स्वस्थ (संतुष्ट) नहीं कर पाऊँगा।

अथवा भावी विच्छेदकी चिन्तामें आकुल होना ही जिनका स्वभाव है, व्रजवासियोंके उस स्वभावके कारण मेरे साक्षात् दर्शनसे भी उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा—यह मेरा अनुभव तथा स्मरणीय विषय भी है। यहाँपर मूल श्लोकके 'वै' शब्दका अर्थ है स्मरण, अतएव तुमलोग भी इसको स्मरण करके देखो कि मेरा अनुभव सत्य है या नहीं। इस विषयमें दशम-स्कन्धके अन्तमें जलविहारमें तत्पर महिषियोंकी उक्ति ही प्रमाण है। यथा—"हे सखि कुररि! अभी रात्रिका समय है और भगवान् श्रीकृष्ण गाढ़ी निद्रामें शयन कर रहे हैं। तुम्हें नींद नहीं आनेके कारण तुम सो नहीं रही हो, परन्तु अपने विलाप द्वारा प्रभुकी निद्राभंग कर रही हैं—यह उचित नहीं है। अथवा नलिन-लोचन श्रीकृष्णकी उदार-लीलाके दर्शनसे उनके मधुर हास्ययुक्त कटाक्षरूपी बाणोंसे हमारे समान क्या तुम्हारा भी चित्त गंभीररूपसे विद्ध तो नहीं हो गया है? अहो सखि! तुम रात्रिकालमें अपने

कान्तका दर्शन प्राप्त न करनेके कारण नेत्रोंको बन्द नहीं कर रही हो, अपितु करुण स्वरसे क्रन्दन कर रही हो। अथवा क्या तुम दासीभाव प्राप्त कर हमारे समान अच्युतकी चरणसेवित-मालाको कवरी पर धारण करनेके लिए क्रन्दन कर रही हो?" इस प्रकार दस श्लोकोंमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने महिषियोंकी प्रेम-चेष्टाका वर्णन किया है। किन्तु यह सब उक्तियाँ महिषियोंके विरहकालकी नहीं है, बल्कि दिनके समय श्रीकृष्णके साथ जल-क्रीड़ामें निमग्न महिषियोंमें अत्यधिक अनुराग होनेसे वियोग-रूपी स्फूर्तिमें प्रेम-वैचित्र्य उपस्थित हुआ था, अर्थात् मिलनमें भी विरहसे उदित आकुलताकी स्फूर्ति हुई थी। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण महिषियोंके साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे तथा अपनी गति (गमन), आलाप, मृदुहास्य, नर्म दृष्टि-भंगी और आलिङ्गन आदि द्वारा वे महिषियोंकी बुद्धिका अपहरण कर रहे थे। यहाँ तक वर्णन करनेके उपरान्त श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा, "एकमात्र श्रीमुकुन्दमें ही जिनकी बुद्धि निविष्ट थी, वे महिषियाँ समाधि प्राप्त मुनियोंके समान कुछ समय तक जड़वत् मौन हो गईं और फिर श्रीकृष्णकी चिन्ता करते-करते उन्मत्तके समान विचार रहित होकर उन्होंने जिन वचनोंको कहा था, उसीकी पुनरुक्ति कर रहा हूँ, श्रवण करो।" तदुपरान्त विरह-स्पर्शी उन्माद वचन पूर्वोक्त कुररि इत्यादि दस श्लोकोंमें कह रहे हैं।

यदि कहो कि आप परम विदग्धशेखर और अशेष शक्तिमान हो, अतएव व्रजवासी जिस प्रकार सुखी हो सकते हैं, अर्थात् विच्छेदके समयमें भी जिस प्रकारसे उन्हें आपके विच्छेदका दुःख न हो, उसी प्रकार रमण कीजिए। इसीलिए 'हर्षाय' इत्यादि कह रहे हैं। व्रज-वासियोंके सुखके लिए यदि मैं पूर्ववत् मधुर-मधुर विहार आदि करता हूँ, तो उससे उनका दुःख तत्क्षणात् दो गुणा बढ़ जाएगा—बादमें क्या होगा इस विषयमें और क्या कहूँ। अर्थात् मेरे विहारके साथ ही साथ उनका दुःख दोगुणा हो जाएगा तथा बादमें उससे भी कहीं अधिक हो जायेगा, इसमें क्या सन्देह है? जिस प्रकार अत्यधिक गरम तेलके तापको शान्त करनेके लिए उसपर थोड़ासा जल देने पर अग्निका

ताप कम होनेकी बजाय साथ ही साथ और अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार मेरे साक्षात् दर्शनसे भी व्रजवासियोंका विरहताप दूर नहीं होगा, बल्कि और भी अधिक बढ़ जायेगा। तात्पर्य यह है कि व्रजवासी सोचते हैं, "अहो! ऐसा श्रीकृष्णविरह हम किस प्रकार सहन कर पायेंगे?" या फिर मेरे दीर्घकाल तक वहाँ रहने पर भी "अब कृष्ण कहाँ चले गये?"—इस प्रकारकी चिन्तासे विरह दुःखका उदय होने पर मेरे मधुर-मधुर विहार आदि द्वारा भी उनका दुःख और भी अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार मेरे द्वारा अनुष्ठित लीला भी उनके लिए अग्निके उष्ण स्वभावके समान होती हैं। अर्थात् अग्निका उष्ण स्वभाव जैसे किसी भी प्रकारसे दूर नहीं होता, उसी प्रकार उनको मेरे द्वारा असाधारण महाप्रसाद (विशेष कृपा) प्रदान किये जाने पर भी उनके स्वभावके कारण मैं किसी भी प्रकारसे उनके उस विरह दुःखको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो पाऊँगा। अतएव इसी प्रकारसे ही उनका सर्वाधिक माहात्म्य स्थापित होता है।

यद्यपि परम मधुर महा आनन्दघनमूर्त्ति श्रीनन्दनन्दनके साक्षात् आलिङ्गन आदि द्वारा वस्तु-स्वभावके अनुरूप परमानन्द भी कभी-कभी उनके हृदयमें आविर्भूत होता है, तथापि उनके (श्रीकृष्णके) विरहसे उदित विशेष प्रेमकी परम महिमा अर्थात् चरम सीमाको प्राप्त परमसुखरूप महाप्रसाद प्रेमकी परम पात्री गोपियोंमें ही उदित होता है। यद्यपि सभी भगवद्भक्तोंमें ही भगवद् प्राप्तिके अभावमें विरह-दशा उदित होती है, तथापि अन भक्तोंमें ऐसे प्रेमके अभावके कारण उनमें व्रजवासियोंके समान विरह और आर्त्ति सम्पूर्णरूपसे उदित नहीं होती, इसीलिए उनको वैसा महानसुख प्राप्त नहीं होता। वैसा प्रेम केवल श्रीकृष्णकी अत्यधिक कृपासे उनके सन्दर्शन आदि द्वारा सिद्ध होता है। यही इस विचारका दिग्दर्शन है। इस प्रकार सदैव उन व्रज-वासियोंमें अत्यधिक प्रेम विह्वलताके आविर्भावके कारण मैं साक्षात्‌रूपसे उनकी प्रेम-व्याकुलताका दर्शन करनेमें असमर्थ हूँ, इसलिए मैं व्रजमें वास नहीं करता और न ही वहाँ जाता हूँ, यही तात्पर्य है॥९६॥

अदृश्यमाने च मयि प्रदीप्त, वियोगवह्नेर्विकलाः कदाचित्।
मृता इवोन्मादहताः कदाचिद्,–विचित्रभावं मधुरं भजन्ते॥९७॥

श्लोकानुवाद—मेरे दर्शन न प्राप्त करने पर कभी वे प्रदीप्त विरहानलसे व्याकुल हो जाते हैं, कभी मृतप्राय हो जाते हैं और कभी-कभी उन्मादग्रस्त होकर अनेक मधुर भावोंका आश्रय ग्रहण करते हैं॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि ते त्वया कदाचिदपि परित्यक्तुं नोपयुज्यन्ते, तवैवाकृतज्ञत्वादिदोषापत्तेः। तत्राह—अदृश्येति द्वयेन। प्रदीप्तो वियोगेन मद्विच्छेदेन यो वह्निः साक्षाद्वह्निवत् परमघनसन्तापः। यद्वा, वियोगरूपो वह्निस्तस्माद्धेतोर्विकलाः विह्वलाः सन्तः; कदाचिन्मृता इव भवन्ति, परममोहावाप्त्या बहिश्चेष्टादिराहित्यात्। कदाचिच्च उन्मादेन हता अभिभूता इव सन्तः विचित्रं बहुविधं भावं चेष्टां भजन्ते आश्रयन्ति, प्रकरणबलात्ते व्रजजना एवेति ज्ञेयम्॥९७॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि तथापि उनको परित्याग करके यहाँ पर वास करना कभी भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उससे अकृतज्ञता आदिके दोष आ जायेंगे। इसके उत्तरमें 'अदृश्यमाने' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। मेरे दर्शन प्राप्त न होने पर मेरे विच्छेदसे उत्पन्न प्रदीप्त ज्वाला उनके लिए साक्षात् ज्वालासे भी अधिक सन्तापमय होती है। अथवा वियोगरूपी प्रदीप्त ज्वाला द्वारा वे विह्वल हो जाती हैं, कभी-कभी मृतवत् हो जाती हैं अर्थात् अत्यधिक मोहित होकर बाह्य-चेष्टा आदिसे रहित मृतवत् हो जाती हैं। कभी-कभी तो उन्माद आदि सात्विकभावोंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारकी विचित्र भाव-चेष्टाएँ करने लगती हैं। प्रकरण बलसे 'ते' शब्द केवल व्रजवासियोंका ही द्योतक है॥९७॥

तमिस्रपुञ्जादि यदेव किञ्चिन्,–मदीयवर्णोपममीक्ष्यते तैः।
सचुम्बनं तत् परिरभ्यते मद्धिया, परं तत् क्व नु वर्णनीयम्॥९८॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासी मेरी श्याम-अङ्गकान्तिके समान घने अन्धकार तथा तमाल आदिका दर्शन कर उन्हींको मेरा स्वरूप समझकर चुम्बन

और आलिङ्गन आदि करते हैं। यह सब वृत्तान्त मैं किसको बताऊँ? ॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—तमिस्रेति। मदीयो यो वर्णः परमस्निग्धामश्यामल-कान्तिस्तत्तुल्यं तमिस्रपुञ्जादिकं निविड़ान्धकारादिकं यत्किञ्चिदेव तैर्व्रजजनैर्गोपीजनैर्वा वीक्ष्यते; चुम्बनेन सहितं यथा स्यात्, मद्धिया श्रीकृष्णोऽयमिति बुद्ध्यालिङ्ग्यते। अहो परमाश्चर्यमेतदतोऽन्यदपि तद्वृत्तं वर्ण्यतामिति चेत्तत्राह—परमिति। मल्लीलानुकरण-भङ्ग्यादिकं क्व कस्मिन् जने वर्णनीयम्? अपि तु न क्वापि तद्वर्णयितुं युज्यत इत्यर्थं, सर्वेषां तच्छ्रवणेऽनधिकारात्। यद्वा, तच्छ्रवणेनापि सर्वेषामेव तादृशशोकदुःखापत्तेः। एवमहं तत्र स्थित्वापि तेषां किमपि सुखमधिकं दातुं भाविविरहचिन्तादुःखञ्च निवारयितुं न शक्नोमि। मद्विरहेऽपि तैर्मत्सन्दर्शनादि-सम्भोगसुखं कदाचिदनुभूयत एवेति तेषां किमपि प्रत्युपकारं कथञ्चिदपि कर्त्तुं न प्रभवामीति पूर्वोक्तमात्मनो महाऋणित्वमेव साधितम्। इत्थमशक्त्याऽकृतज्ञत्वादिकञ्च परिहृतमित्यूह्यम्॥९८॥

भावानुवाद—व्रजवासियोंमें सात्त्विक भावोंके कारण होनेवाली चेष्टाओंको 'तमिस्र' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। व्रजवासी विशेषतः गोपियाँ मेरे वर्णके समान अर्थात् परमस्निग्ध श्यामल कान्तिके समान घनघोर अन्धकार, तमाल वृक्ष आदि जो कुछ भी देखते हैं, उसीको मेरा स्वरूप समझकर चुम्बन सहित आलिङ्गन आदि करते हैं। अहो! परम आश्चर्यका विषय यह है कि उनके अन्य वृत्तान्त अर्थात् मेरी लीला-अनुकरणकी भङ्गिमा आदि चेष्टाएँ मैं किससे कहूँ? अपितु वे वृत्तान्त किसीको कहने योग्य भी नहीं हैं, क्योंकि उस वृत्तान्तको श्रवण करनेके अधिकारी सभी नहीं हैं; अथवा उसका वर्णन करनेसे सभीको वैसा ही दुःख होगा, सचमुच वह वर्णन योग्य नहीं है। अतएव मैं व्रजमें वास करके भी उनको अधिक सुख देकर उनके भावी विरहसे उत्पन्न दुःखको दूर नहीं कर पाऊँगा। इस प्रकारके (वर्त्तमानके) विरहमें भी वे कभी-कभी मेरे सन्दर्शन आदि द्वारा सम्भोग सुखका अनुभव करती हैं, क्या उससे अधिक सुख उन्हें मेरे व्रजमें वास करनेसे प्राप्त होगा? अर्थात् मैं व्रजमें वास करने पर भी उनका प्रत्युपकार करनेमें सक्षम नहीं हो पाऊँगा। अतएव पूर्वोक्त विचार अर्थात् भगवान्का उनके प्रति अत्यधिक ऋणी होना ही सिद्ध होता है। इस प्रकार श्रीकृष्णने अपनी अक्षमताकी बात कहकर अकृतज्ञतारूपी दोषका निवारण किया है॥९८॥

अतएव मया स्वस्य स्थितिमप्यस्थितेः समाम्।
दृष्ट्वा न गम्यते तत्र शृण्वर्थं युष्मदुद्वहे॥९९॥

श्लोकानुवाद—अतएव मेरा व्रजमें वास करना और न करना, दोनोंको एक समान देखकर ही मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ। तथापि मैंने तुम सबसे जो विवाह आदि किया है, उसका भी कारण बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यत एवम्, अतोऽस्मादेव हेतोः स्वस्य मम तत्र व्रजे स्थितिं वासमस्थितेरेव समां तुल्यां दृष्ट्वा विज्ञाय न गम्यते। अयं भावः—सन्दर्शनेन वैकल्यमण्वीक्ष्यान्तर्हितो भवामि। अन्तर्धानेन च वैकल्यमाकलय साक्षाद्भवामीत्थं केनापि प्रकारेण तेषां स्वास्थ्यं कर्त्तुमशक्नुवन्नहमपि सदा व्यग्रोऽस्वस्थ एवेति। अतो युक्तमुक्तम्—स्वास्थ्यं नालोचयामीति। *'एवं महाऋणी'* इति, *'मदीक्षणादेव'* इति, *'हर्षायतेषां क्रियते विधिर्यः'* इत्यादिना निरन्तरं तेषामानन्दनार्थं तद्व्रजे निजगमननिवास-विहारादिकं श्रीभगवता किल सूचितमेव। तच्च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १/११/९) आनर्त्तानां स्तुतौ—*'कुरून्मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया'* इत्यनेन, तथा कौरवपुरस्त्रीणामुक्तौ—*'अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं, अहो अलं श्लाघ्यतमं मधोर्वनम्।'* (श्रीमद्भा॰ १/१०/२६) इत्यादिना। तथा दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१३) माथुरपुरस्त्रीणामुक्तौ—*'पुण्या वत व्रजभूवः'* इत्यादिना च व्यक्तं भूतमेव। विशेषतश्च पद्मपुराणोत्तरखण्डे श्रीदेवीं प्रति श्रीमहादेवकथितेन श्रीभगवतो व्रजगमनादिवृत्तेन नितरामभिव्यञ्जितमेव। तथा अस्मिन्नेव ग्रन्थेऽग्रे द्वितीयखण्डे श्रीगोलोकमाहात्म्यान्ते श्रीभगवतो गोकुले निरन्तरनिर्भरविहारविशेषः प्रतिपादयिष्यत एव। तथाप्यत्र श्रीसत्यभामादि-महिषीषु स्वयं भगवता निजगोकुलगमनादिकं विशेषतो व्यक्ततया यन्न प्रतिपादितं, तच्च श्रीमहिषीणां मनोदुःख-विशेषाशङ्कया परदुःखासहिष्णुत्वादित्येवमूह्यम्। कथं तर्हि वह्वीनामस्माकं विवाहमकरोरित्याशङ्क्याह-शृण्विति। युष्माकमुद्वहे पाणिग्रहणेऽर्थं निमित्तं हेतुमिति यावत्॥९९॥

भावानुवाद—अतएव मेरा व्रजमें वास करना और वास न करना दोनोंको एक समान देखकर ही मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ। अर्थात् यद्यपि प्रत्यक्षरूपसे वहाँ नहीं जा रहा हूँ, किन्तु व्रजमें (अप्रकटभावसे) मेरा नित्य अवस्थान प्रसिद्ध है। इसीलिए मैंने पहले ही कहा है कि यदि मैं उनकी प्रीतिके लिए व्रजमें जाकर वास भी करूँ, तो भी वे स्वस्थ नहीं होंगी, क्योंकि मेरे दर्शन करने पर भी वे सदैव प्रेम विकलता आदि भावोंसे अभिभूत हो जाती हैं तथा वैसा देखकर यदि

मैं वहाँसे अन्तर्ध्यान भी हो जाऊँ, तो भी वे विकल हो जाती हैं। इस प्रकार मैं किसी भी तरहसे उनको स्वस्थ (संतुष्ट) नहीं कर पाता हूँ, अपितु उनको सुखी करनेके लिए मुझे सदैव ही व्यग्र रहना पड़ता है। अतएव 'मैं उनका महाऋणी हूँ' (श्लोक ९३) 'मेरे दर्शनमात्रसे' (श्लोक ९५) तथा 'व्रजवासियोंकी प्रसन्नताके लिए मधुर विहार' (श्लोक ९६) इत्यादि उक्तियों द्वारा व्रजवासियोंको निरन्तर आनन्द प्रदान करनेके लिए भगवान्का व्रजमें गमन, नित्य अवस्थान और विहार आदि सूचित होता है।

श्रीकृष्ण द्वारा हस्तिनापुर और मथुरा-मण्डलमें गमनके विषयमें श्रीमद्भा॰ (१/११/९)में द्वारकावासियोंकी स्तुति भी प्रमाण है। इसी प्रकार कौरव-स्त्रियोंने भी व्रजमें श्रीकृष्णके नित्य अवस्थानके विषयमें वर्त्तमान कालका प्रयोग करते हुए कहा है—"अहो! पुरुषश्रेष्ठ श्रीपति जिस यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं, वह यदुकुल धन्य है और श्रीवृन्दावनका भी कैसा महान सौभाग्य है! श्रीकृष्णकी परम पवित्र पदरेणुके स्पर्शसे वह स्थान परम गौरवयुक्त हो गया है। द्वारकाके भी माहात्म्यकी सीमा नहीं है—पृथ्वी उसको अपने वक्षःस्थलपर धारण करके धन्य हो गयी है।" तथा दशम-स्कन्धमें मथुराकी स्त्रियों द्वारा कहा गया है—"व्रजभूमि कितनी पुण्यवती है! शिव और लक्ष्मी जिनके श्रीचरणकमलोंकी पूजा करते हैं, वही पुराण-पुरुष मनुष्य जैसे रूपको धारणकर गुप्तरूपसे, मनोहर वनमालाको धारण करके वेणुवादन करते-करते वहाँ सदैव विहार करते हैं।" इत्यादि प्रमाणोंसे व्रजमें श्रीकृष्णके नित्य विहार आदिके कारण व्रजका सर्वाधिक माहात्म्य व्यक्त हुआ है। पद्मपुराणके उत्तर-खण्डमें श्रीशिव और पार्वतीके संवादमें भगवान्के व्रजमें आगमन आदिका वृत्तान्त स्पष्टरूपसे लिखा गया है। इस ग्रन्थके द्वितीय-खण्डमें श्रीगोलोक माहात्म्य-वर्णनके अन्तमें गोकुलमें भगवान्के निरन्तर विहार आदिका प्रतिपादन किया जायेगा।

यहाँ पर श्रीसत्यभामा आदि महिषियोंके प्रति श्रीकृष्णने अपने पुनः व्रजगमन आदि वृत्तान्तको विशेषरूपसे प्रतिपादित अथवा व्यक्त नहीं किया। इससे महिषियोंके मनमें अत्यधिक दुःख होनेकी आशंका है

तथा उनके दुःखको देखकर श्रीकृष्णको भी दुःख होगा, क्योंकि वे किसीके भी दुःखको सहन नहीं कर पाते। यदि महिषियाँ यहाँ प्रश्न करे कि तो फिर आपने हमसे विवाह क्यों किया? इस प्रकारके प्रश्नकी आशंका करके कह रहे हैं—इसका कारण बता रहा हूँ, श्रवण करो॥९९॥

तासामभावे पूर्वं मे वसतो मथुरापुरे।
विवाहकरणे काचिदिच्छाप्यासीन्न मानिनि॥१००॥

श्लोकानुवाद—हे मानिनि! गोपियोंसे विच्छेद होने पर जब मैं मथुरामें वास कर रहा था, उस समय भी मेरी विवाह करनेकी बिल्कुल इच्छा नहीं थी॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेवाह—तासामिति षड्भिः। श्रीराधिकादीनां गोपीनामभावे विच्छेदे सति। अधुना तासामिति स्त्रीत्वेनैव निर्द्देशस्तत्तद्वर्णनेन तास्वेव मनोऽभिनिवेशात् प्रस्तावौचित्याद्वा। हे मानिनि॥१००॥

भावानुवाद—विवाह करनेका कारण 'तासाम्' इत्यादि छह श्लोकोंमें बतला रहे हैं। श्रीराधिका आदि गोपियोंसे विच्छेद होने पर मथुरामें वास करते समय मेरी विवाह करनेकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। किन्तु अब महिषियोंको पत्नीके रूपमें अङ्गीकार करनेके प्रसङ्गमें श्रीसत्यभामादेवीके प्रति (अपने) मनोनिवेशवशतः अथवा जिसका वर्णन करने जा रहे हैं, उस प्रस्तावित विषयके औचित्यके कारण श्रीसत्यभामाको 'अयि मानिनि!' कहकर सम्बोधन कर रहे हैं॥१००॥

मदनाप्त्या तु रुक्मिण्या वाञ्छन्त्याः प्राणमोचनम्।
श्रुत्वास्या विप्रवदनादार्तिविज्ञप्तिपत्रिकाम्॥१०१॥
महादुष्टनृपश्रेणिदर्पं संहरता मया।
पाणिर्गृहीतः संग्रामे हत्वा राज्ञां प्रपश्यताम्॥१०२॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीरुक्मिणीदेवी मुझे प्राप्त न करने पर प्राण त्याग करनेका संकल्प कर चुकी थी, इस संवादको उसने एक आर्त्तिसूचक प्रार्थना पत्र द्वारा भेजा था। पत्र-वाहक विप्रके मुखसे भी उस वृत्तान्तको श्रवण करके मैंने अत्यन्त दुष्ट राजाओंके दर्पको नष्ट

करनेके लिए युद्धमें रत उन राजाओंके समक्ष ही श्रीरुक्मिणीदेवीका हरण कर उसके साथ विवाह किया था॥१०१–१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—कथं तर्हि परमव्यग्रः सन् स्वयम्वरे भीष्मनन्दिनी-मेतां हृत्वानीयोदवहस्तत्राह—मदिति द्वाभ्याम्। मम अनाप्त्या अप्राप्त्या, मदनस्य कामस्याप्त्येति श्लेषेण परिहासः। प्राणानां मोचनं त्यागमिच्छन्त्या। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/५२/४३) श्रीरुक्मिणीप्रेषितपत्रान्ते—*'यर्ह्यम्बुजाक्ष! न लभेय भवत्प्रसादं, जह्यामसून् व्रतकृशा शतजन्मभिः स्यात्।'* इति। आर्त्तेर्निजदैन्यस्य विज्ञप्तिः—*'श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर! शृण्वतां ते, निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्। रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थ-लाभं, त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/५२/३७) इत्यादिसप्तश्लोक्या निवेदनम्। यस्यां पत्रिकायां ताम्, विप्रस्य रुक्मिणीप्रेषितपुरोहितपुत्रस्य वदनात् श्रुत्वा मदाज्ञया तेनैव तत्पत्रिकावाचनात्। अस्या इति एतस्याः; साक्षादेव कथ्यमानेऽस्मिन् वृत्ते किमप्यन्यथा न मन्तव्यमिति भावः॥१०१॥

महादुष्टा ये नृपा जरासन्ध-शिशुपालादयस्तेषां श्रेणी तस्या दर्पमभिमानं संहरता; हेतौ शतृङ्; संहर्त्तुमित्यर्थः। राज्ञां प्रपश्यताम् सताम्, अनादरे षष्ठी। संग्रामे रुक्मिप्रभृतिकृतयुद्धमध्ये हृत्वा रुक्मिणीं बलाद् गृहीत्वा कुण्डिनपुराद् द्वारकायामस्यामानीयास्या एव पाणिर्गृहीतः विवाहः कृत इत्यर्थः। एवमावश्यक-कृत्यगत्यैवास्या विवाहो मयाकारि, न च निजमनःप्रीत्येति भावः॥१०२॥

भावानुवाद—अच्छा, यदि आपकी विवाह करनेकी इच्छा नहीं थी तो फिर आपने अत्यधिक व्यग्रतापूर्वक स्वयम्वरमें भीष्मकनन्दिनी इस श्रीरुक्मिणीका हरण करके उसका पाणिग्रहण क्यों किया? इस आशंकाके समाधानके लिए 'मदनाप्त्या' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। यह श्रीरुक्मिणी मुझको प्राप्त न कर पाने पर प्राण त्याग करनेका संकल्प कर चुकी थी। यहाँ पर 'मदनाप्त्या' कहनेसे (मदन-आप्त्या) मदन अर्थात् कामवेगको प्राप्त रुक्मिणी मुझको प्राप्त न कर पाने पर प्राण त्यागनेका संकल्प कर चुकी थी। (यह श्लेष अर्थको प्रकाश करनेवाली परिहास उक्ति है)। इस विषयमें दशम-स्कन्धमें श्रीरुक्मिणीके द्वारा भेजे गये पत्रके अंतमें लिखा था—"हे कमललोचन! यदि मैं आपका दुर्लभ प्रसाद (कृपा) प्राप्त न कर पायी, तो मैं व्रत द्वारा शरीरको क्षीण करके प्राण त्याग दूँगी तथा सौ जन्मों तक कठोर व्रतका पालन करके भी आपकी कृपा प्राप्त करूँगी।" दीनतापूर्वक उसने कुछ और भी लिखा था, "हे भुवनसुन्दर! आपके जो सब गुण

कानोंमें प्रवेश करके श्रोताओंके तापका हरण करते हैं, (आपके) वे सभी गुण तथा हे अच्युत! आपके जिस रूपका दर्शन करनेसे दर्शन-कारियोंको समस्त प्रकारके फल प्राप्त होते हैं, उस रूपके विषयमें श्रवण करके मेरा चित्त निर्लज्जभावसे आपमें आसक्त हो गया है।" इस प्रकार उसने अपनी दीनताका निवेदन किया था। पुरोहित-पुत्रके माध्यमसे भेजे गये उस पत्रको प्राप्त करके और उसके मुखसे पत्रमें लिखित वृत्तान्तको सुनकर ही मैंने इन रुक्मिणीका हरण करके इनका पाणिग्रहण किया है। ये साक्षात् विद्यमान हैं, अतएव कहे गये वृत्तान्तको झूठ नहीं मानना, यही 'अस्या' शब्दका तात्पर्य है।

उक्त पत्रमें लिखित वृत्तान्तको श्रवण करके मैंने जरासन्ध-शिशुपाल आदि राजाओंके दर्पको चूर्ण करनेके लिए युद्ध करते-करते राजाओंके समक्ष ही श्रीरुक्मिणीदेवीका हरण किया। 'दर्पं संहरता' अर्थात् उनके दर्पको चूर्ण करनेके लिए ही और 'राज्ञा प्रपश्यताम्' अर्थात् उन राजाओंका अनादर करके अर्थात् रुक्मी आदि शत्रुओंके द्वारा किये गये संग्राममें सबके सामने इनको बलपूर्वक हरणकर कुण्डिनपुरसे द्वारका लाकर पाणिग्रहण किया है। इस प्रकार आवश्यक कार्य उपस्थित होने पर मैंने बाध्य होकर इनसे विवाह किया है, किन्तु अपनी इच्छासे नहीं॥१०१-१०२॥

अस्याः सन्दर्शनात्तासामाधिक्येन स्मृतेर्भवात्।
महाशोकार्त्तिजनकात् परमाकुलतामगाम्॥१०३॥

श्लोकानुवाद—किन्तु, इन श्रीरुक्मिणीके दर्शनसे मुझे गोपियोंका स्मरण और भी अधिक होने लगा तथा वह स्मरण महाशोक और आर्त्तिजनक होनेके कारण मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि कथमन्यासामपि मादृशीनां विवाहः कृतः? तत्राह—अस्या इति त्रिभिः। रुक्मिण्याः सन्दर्शनात् यस्तासां गोपीनामाधिक्येनातिशयेन स्मृतेरनुस्मरणस्य भव उत्पत्तिस्तस्माद्धेतोः परमाकुलतां प्राप्तोऽहम्। कथम्भूतात्? महत्योः शोकार्त्त्योर्जनकात्। अयमर्थः—रुक्मिण्यां गोपीनां किञ्चित् सादृश्यदर्शनेन तासां स्मृतिविशेषे जाते सति कथञ्चित्तिरोहितस्यापि तद्विरहशोकदुःखस्य विवृद्ध्या परमाकुलोऽहमभवमिति॥१०३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीरुक्मिणीसे विवाह करनेकी तो आपकी बाध्यता थी, किन्तु आपने मुझ जैसी दूसरी राजकन्याओंसे विवाह क्यों किया? इसके उत्तरमें 'अस्या' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। इन श्रीरुक्मिणीके दर्शनसे गोपियोंकी स्मृति और भी अधिक बढ़ जानेके कारण मैं अत्यधिक व्याकुल हो गया। वह व्याकुलता कैसी थी? अत्यधिक शोक और आर्त्तिजनक अर्थात् उन गोपियोंके साथ श्रीरुक्मिणीका कुछ सादृश्य है, इसलिए इनके दर्शनसे मुझे गोपियोंका स्मरण होता है। उस स्मरणसे विरहजनित शोक और दुःख वर्द्धित होकर मुझे अत्यन्त व्याकुल कर देता अर्थात् अन्य समयमें उन गोपियोंका कुछ विस्मरण होने पर भी इनके दर्शनसे वह स्मरण अत्यधिक बढ़ जाता है॥१०३॥

षोड़शानां सहस्राणां सशतानां मदाप्तये।
कृतकात्यायनीपूजाव्रतानां गोपयोषिताम्॥१०४॥
निदर्शनादिव स्वीयं किञ्चित् स्वस्थयितुं मनः।
तावत्य एव यूयं वै मयात्रैता विवाहिताः॥१०५॥
अहो भामिनि जानीहि तत्तन्मम महासुखम्।
महिमापि स मां हित्वा तस्थौ तत्रोचितास्पदे॥१०६॥

श्लोकानुवाद—मेरी प्राप्तिकी कामनासे कात्यायनी व्रत करनेवाली सोलह हजार एक सौ गोपकुमारियोंके साथ तुम्हारी संख्याके सादृश्यको देखकर और उस दर्शन द्वारा अपने मनको कुछ स्वस्थ करनेके लिए मैंने यहाँ पर तुमलोगोंसे विवाह किया है। अहो भामिनि! तुम निश्चयपूर्वक जान लो कि मेरे वे सब महासुख तथा मेरी महिमाएँ भी मुझे परित्यागकर व्रजमें ही रह गई है, यथार्थमें वही स्थान उनके रहने योग्य भी है॥१०४-१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—शताधिकषोड़शसहस्रसंख्यानां गोपयोषितां श्रीनन्दव्रज-कुमारीणामित्यर्थः। तथा च श्रीमथुरामाहात्म्ये गोपीतीर्थप्रसङ्गे—*'गोप्यो गायन्ति नृत्यन्ति सहस्राणि च षोड़श।'* इति। अत्र चकारेणानुक्तं किञ्चिदधिकशतं समुच्चीयते इति ज्ञेयम्। यद्यपि सर्वा एव श्रीनन्दव्रजरमण्यः श्रीकृष्णरता इति अन्या अपि बहव्यः सन्ति। तथापि *'कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधिश्वरि।*

नन्दगोपसुतं देवि! पतिं मे कुरु ते नमः॥' (श्रीमद्भा॰ १०/२२/४) इति मन्त्रेण संकल्पपूर्वकं परमप्रेमतृष्णया व्रतकरणप्रयासात् पतित्वेन प्रार्थनाच्च ता एव कुमार्यो नितरामनुरक्ता इति ता एवात्र विशेषेण प्रस्तूयन्ते। अतएवोक्तं मदाप्तये पतित्वेन मम प्राप्त्यर्थं कृतं कात्यायन्या देव्याः पूजाव्रतमाराधननियमो याभिस्तासामिति॥१०४॥

नितरां दृश्यते साक्षादिवानुभूयते येन तन्निदर्शनं चिह्नविशेष इत्यर्थः। तस्माद्धेतोः; इवेति सर्वथातासां सादृश्याभावेन सम्यङ्निदर्शनताऽनुपपत्तेः। तावत्यः शताधिक-षोड़शसहस्रपरिमिता अष्टोत्तरा इति ज्ञेयम्; एवं पूर्वत्रापि। बह्वीषु संख्यासु अनुक्ताया अत्यल्पसंख्यायाः स्वत एवान्तर्भावसम्भवात्। वै प्रसिद्धौ; एतच्च सर्वत्र सुप्रसिद्ध-मेवेत्यर्थः॥१०५॥

तथापि ममात्र किञ्चित् सुखं तादृशं न जातमेव, विशेषतश्च तासां वियोगेन तादृशो महिमापि किलापगत इत्याह—अहो इति। स व्रजभूमिसम्बन्धिपरमानिर्वचनीयः, तत्र व्रजे; कुतः? उचितं स्थितियोग्यमास्पदं स्थानं तस्मिन्॥१०६॥

भावानुवाद—व्रजमें रहनेवाली सोलह हजार एक सौ आठ गोप-कुमारियोंने मुझे प्राप्त करनेके लिए कात्यायनी व्रत आरम्भ किया था। यद्यपि श्रीमथुरा-माहात्म्यके गोपीतीर्थ-प्रसंगमें सोलह हजार गोपकुमारियोंके व्रत और नृत्य-गीत आदिकी बात कही गयी है, किन्तु मूल श्लोकके 'च' कारसे इससे भी अधिक कात्यायनीव्रत परायण गोपकुमारियोंकी संख्या सूचित होती है। यद्यपि व्रजस्थित समस्त रमणियाँ ही श्रीकृष्णमें अनुरक्त थीं, अर्थात् उक्त संख्याके अलावा भी दूसरी-दूसरी अनेक व्रजरमणियाँ थीं, तथापि "हे कात्यायनि! हे महामाये! हे महायोगिनि! हे अधीश्वरि! हे देवि! महाराजनन्द-गोपके पुत्रको हमारा पति बना दो—हमलोग आपको प्रणाम करती हैं।" इस मन्त्रपाठके द्वारा संकल्पपूर्वक अर्थात् श्रीकृष्ण ही हमारे पति हों, इसी उद्देश्यसे मुझमें चित्त समर्पित करके अत्यधिक तृष्णाके साथ जिन्होंने व्रताचरण किया था, (कात्यायनी-व्रतमें तत्पर) वे समस्त गोपकुमारियाँ मुझमें अत्यधिक अनुरक्त थीं, इसलिए यहाँपर उनकी विशेषरूपसे प्रशंसा कर रहे हैं। अतएव जिन सब गोपियोंने मुझे पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिए कात्यायनी-देवीका अर्चनरूप व्रत आरम्भ किया था, उन सब गोपकुमारियोंके साथ तुम्हारी संख्याके सादृश्यको देखकर और उसी चिह्नका साक्षात्रूपसे अनुभव करके तथा उसके द्वारा अपने मनको कुछ परिमाणमें स्वस्थ करनेके लिए मैंने यहाँ पर तुम

सबसे विवाह किया है। मूल श्लोकके 'निदर्शनादिव' पदके 'इव' कारका तात्पर्य यह है कि उन सभी गोपकुमारियोंके साथ महिषियोंकी समानताके अभावमें सम्पूर्णरूपसे यह दृष्टान्त लागू नहीं हो रहा है, केवल संख्याका सादृश्य अर्थात् सोलह हजार एक सौ आठकी ही समानता थी, ऐसा समझना चाहिए।

इसी प्रकार पूर्वोक्त बहुसंख्यक अनुरक्त महिषियोंमें अनुक्त (न कही गयी) एकसौ आठ संख्यक महिषियाँ स्वतः ही अन्तर्भुक्त हो रही हैं, यह विषय सर्वत्र प्रसिद्ध है। अहो भामिनि! यह सत्य है कि मैंने यहाँ पर तुम सबसे विवाह किया है, किन्तु मुझको इससे लेशमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। विशेषतः उन व्रजगोपियोंके विरहमें मेरे सुख और मेरी महिमाने भी मुझे त्याग दिया है। अर्थात् मेरी व्रजभूमि सम्बन्धीय परम अनिर्वचनीय महिमा भी लुप्त हो गयी है। अथवा वह महिमा मुझे त्यागकर अपने योग्य स्थान उसी व्रजभूमिमें ही चली गयी है॥१०४–१०६॥

चित्रातिचित्रै रुचिरैर्विहारै,–रानन्दपाथोधि–तरङ्गमग्नः।
नाज्ञासिषं रात्रिदिनानि तानि, तत्तन्महामोहनलोकसङ्गात्॥१०७॥

श्लोकानुवाद—मैं उन सभी महामोहनकारी व्रजवासियोंके साथ चित्र–विचित्र, मनोहर विहाररूप आनन्दसागरकी तरंगोंमें निमग्न होकर यह भी नहीं जान पाता था कि कब रात होती और कब दिन॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव चित्रेत्यादिषड्भिः प्रपञ्चयन् आदौ व्रजे स्वयमनुभूतं महासुखमाह—चित्रेति त्रिभिः। चित्रेभ्योऽद्भुतेभ्योऽप्यतिविचित्रैः, जगच्चित्तचमत्कार–भरकारिभिरित्यर्थः। तानि तत्कालीनानि व्रजभूसम्बन्धीनि वा; ते ते परमानिर्वचनीयप्रभावा महामोहना ये लोकाः श्रीनन्दव्रजजनास्तेषां सङ्गाद्धेतोः, अस्य पदस्योत्तरत्रापि सम्बन्धः कार्यः॥१०७॥

भावानुवाद—व्रजके उन समस्त सुखों और महामहिमाके विषयमें 'चित्रातिचित्र' इत्यादि छह श्लोकोंके द्वारा वर्णन करते हुए सर्वप्रथम व्रजमें स्वयं अनुभव किये गये महान सुखोंको 'चित्रेति' तीन श्लोकोंमें कह रहे हैं। मैं उस व्रजमें 'चित्रातिचित्र' अर्थात् अद्भुतसे भी अति

अद्भुत तथा जगतवासियोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले लीलाविलास आदि द्वारा आनन्दसागरमें निमग्न होकर रात-दिनको भी नहीं जान पाता था। अर्थात् व्रजभूमि-सम्बन्धी उस काल अथवा परम अनिर्वचनीय प्रभावयुक्त महामोहनकारी उन व्रजवासियोंके संगके कारणमें आनन्दसागरमें निमग्न हो जाता था ॥१०७॥

बाल्यक्रीडाकौतुकेनैव ते ते, दैत्यश्रेष्ठा मारिताः कालियोऽपि।
दुष्टो निर्दम्याशु निःसारितोऽसौ, पाणौ सव्येऽधारि गोवर्द्धनः सः ॥१०८॥

श्लोकानुवाद—व्रजमें मैंने बाल्यलीलारूप खेल-खेलमें ही बड़े-बड़े दैत्योंका विनाश किया, दुष्ट कालियका दमन करके उसको व्रजसे दूर भेज दिया तथा बाएँ हाथसे गिरिराज गोवर्द्धनको धारण कर लिया था॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्रापि दुष्टदैत्यवधादिश्रमेण दुःखं सम्भाव्यत एवेति चेन्न; बाल्यलीलयैव पुत्रिकावत् तेषां मारणादेवेत्याह—बाल्येति। ते ते षट्क्रोशव्या-पिशिलाकठिनशरीर-पूतनादयः; अतो दैत्येषु श्रेष्ठाः कामरूपधरत्वादिना साक्षान्महा-दैत्यत्वेनैव स्थितत्वात्, न तु मनुष्यताप्राप्तशाल्वादिवत्। असौ परमभयानककालियोऽपि बाल्यक्रीड़ाकौतुकेनैव निर्दम्य निःशेषेणैव दमित्वा सर्वस्वग्रहणात् फणाभञ्जनादिना शरीरदण्डनाच्च निःसारितः यमुनाह्रदान्निष्काषितः स परमस्थूलोच्चतरः सव्ये वामे पाणौ अधारि धृतः; एतच्च सर्वं बाल्यक्रीड़ाकौतुकेनैवेति। अस्तु तावद् भयदुःखादि, प्रत्युत महासुखमेव जातमिति भावः॥१०८॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि फिर भी व्रजमें दुष्ट दैत्योंके वध आदिमें हुए परिश्रमसे आपको दुःख होनेकी सम्भावना हो रही है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं, नहीं, उन सब दुष्ट दैत्योंके वधमें मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ, बल्कि मैंने बाल्यलीला द्वारा खेलते-खेलते ही बड़े-बड़े दैत्योंका वध कर दिया। जैसे पूतनाकी गोदमें बैठकर ही मैंने पुतलीकी भाँति उसका वध कर दिया। उस पूतनाका विशाल शरीर छह क्रोस तक लम्बा और शिलाके समान कठोर था। अतएव यह पूतना दैत्योंमें श्रेष्ठ थी, विशेषतः इच्छानुसार रूप धारण करनेके कारण वह साक्षात् महादैत्य स्वरूप ही थी; शाल्व आदिके समान मनुष्यता प्राप्त दैत्य नहीं थी। परम भयानक दुष्ट कालियको भी मैंने

बाल्यलीलामें खेलते-खेलते ही पूर्णता दमन किया था। अर्थात उसका सर्वस्व ग्रहणकर, उसके फणोंको भंग करके उसको शारीरिक दण्ड दिया तथा उसको यमुनाह्रदसे निकाल दिया था। व्रजमें मैंने बाएँ हाथसे ही अत्यधिक स्थूल और उच्च गिरिराज गोवर्द्धनको धारण किया था। वास्तवमें मैंने यह सब कार्य बाल्यलीलामें खेलते-खेलत ही किये थे। उन सब कार्योंमें किसी प्रकारके भय-दुःख आदि होनेकी बात तो दूर रहे, बल्कि उनसे मुझे परमसुखकी ही प्राप्ति हुई थी॥१०८॥

तादृक्सन्तोषार्णवेऽहं निमग्नो, येन स्तोत्रं कुर्वतां वन्दनञ्च।
ब्रह्मादीनां भाषणे दर्शने च, मन्वानोऽघं व्यस्मरं देवकृत्यम्॥१०९॥

श्लोकानुवाद—मैं व्रजमें ऐसे आनन्दसागरमें निमग्न था कि ब्रह्मा आदि देवताओंके द्वारा मेरी स्तव और स्तुतियाँ करने पर भी मैं उनके दर्शन और उनके साथ सम्भाषणको दुःखजनक जानकर समस्त देवकार्योंको ही भूल गया था॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—कीदृशं तत् सुखमित्यपेक्षयामाह—तादृगिति। येन सन्तोषार्णव-मज्जनेन, आदिशब्देन इन्द्र-नारदादयः। भाषणे सम्भाषणे, अघं दुःखं मन्वानः; देवकृत्यं कंसवधादिकं विस्मृतवानहम्॥१०९॥

भावानुवाद—व्रजमें कैसा सुख था? इस प्रश्नकी आशंकासे 'तादृक्' इत्यादि पद कह रहे हैं। मैं व्रजमें ऐसे आनन्दसागरमें निमग्न था कि ब्रह्मा, इन्द्र और नारद आदि देवताओं द्वारा मेरी स्तव और स्तुति करने पर भी मैं उनके दर्शन और उनके साथ सम्भाषण आदिको दुःखजनक समझता था। इसलिए कंस-वध आदि देवकार्यको भी भूल गया था॥१०९॥

रूपेण वेषेण रवामृतेन, वंश्याश्च पूर्वानुदितेन विश्वम्।
सम्मोहितं प्रेमभरेण कृत्स्नं, तिष्ठन्तु दूरे व्रजवासिनस्ते॥११०॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासियोंकी बात तो दूर रहे, उस समय मैंने अपने अपूर्व रूप, वेष और वंशी-ध्वनिरूप अमृतके द्वारा विश्वके समस्त चराचर प्राणियोंको ही प्रेमसे सम्मोहित कर दिया था॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तत्रत्यपरममहिमानमाह—रूपेणेति त्रिभिः। सौन्दर्येण, एतच्च केवलमनुतापेनैवोक्तम्, कदापि तत्सौन्दर्यस्यान्यथात्वासम्भवात्। वेषेण च बर्हापीड़गुञ्जावतंसादिभूषणेन। वंश्या रवो नाद एवामृतं परममधुरानन्दरसस्तेन च कृत्वा। कथम्भूतेन रूपादिना? पूर्वं कदाप्यनुदितेन अप्रकटीभूतेन कृत्स्नं विश्वं सम्यक् मोहितं मया रूपादिना एव वा। कर्त्तृणा। केन? प्रेमभरेण ब्रह्मानन्दाधिकतरेण महारसविशेषेण, न तु मायया समाधिसुखादिना वा। ते निरन्तरमदनुरागरसास्वादवेदिनो व्रजवासिनः गोपगोपिकादयः दूरे तिष्ठन्तु। ते यद्रूपादिना प्रेमभरेण सम्मोहिता भवन्ति, तदुचितमेव; यद्वा, किं तद्वाच्यमित्यर्थः॥११०॥

भावानुवाद—अब 'रूपेण' इत्यादि तीन श्लोकोंके द्वारा व्रजकी अत्यधिक महिमाका वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्णके सौन्दर्यका बदलना (कम होना) असम्भव है चाहे वे कहीं भी रहे, तथापि केवल अनुतापके कारण वे ऐसा कह रहे हैं। मैंने व्रजमें अपने अपूर्व रूप, मोर-मुकुट और नवगुञ्जादि भूषणोंसे विभूषित मनोहरवेष और परममधुर आनन्द-रस अर्थात् वंशी-ध्वनिरूप अमृतसे विश्वके चराचर प्राणियोंको विमोहित कर दिया था। वह अपूर्व रूप आदि कैसा था? जो रूप जगतमें पहले कभी भी प्रकट नहीं हुआ, अपने उस रूप आदिके द्वारा मैंने समस्त विश्वको विमोहित किया था। किस प्रकार विमोहित किया था? प्रेमपूर्वक अर्थात् प्रेमके महारसको प्रदानकर और वह प्रेमसुख भी मायिकसुख अथवा समाधिसुख जैसा नहीं है, बल्कि वह ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रसस्वरूप है। उस प्रेमसुखको केवल व्रजवासियोंने ही अर्थात् अनुरागपूर्वक निरन्तर रसास्वादनमें निपुण गोप-गोपियोंने ही अनुभव किया, ऐसा नहीं, अपितु समस्त जगत् ही उस प्रेमसे सम्मोहित हो गया। व्रजवासी तो निरन्तर मेरे उस रूप, वेष और वंशी-ध्वनिरूप अमृतके द्वारा सम्मोहित होते थे तथा स्वभावतः ऐसा उचित ही है, अथवा इस विषयमें और अधिक क्या कहूँ?॥११०॥

आकाशयाना विधि-रुद्र-शक्राः, सिद्धाः शशी देवगणास्तथान्ये।
अगावो वृषा वत्सगणा मृगाश्च, वृक्षाः खगा गुल्मलतास्तृणानि॥१११॥
नद्योऽथ मेघाः सचराः स्थिराश्च, सचेतनाचेतनकाः प्रपञ्चाः।
प्रेमप्रवाहोत्थविकाररुद्धाः, स्वस्वस्वभावात् परिवृत्तिमापुः॥११२॥

श्लोकानुवाद—जिसके फलस्वरूप आकाश-यान स्थित ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, चन्द्र आदि समस्त देवता, सिद्धगण तथा गाय, बैल, बछड़े, हिरन, समस्त वृक्ष, पक्षी, तृण-गुल्म-लता, नदी, मेघ, स्थावर-जङ्गम, चेतन-अचेतन समस्त विश्व ही मेरे प्रेम प्रवाहसे उत्पन्न सात्विक-विकारों द्वारा व्याप्त होकर अपने-अपने स्वभावके विपरीत कार्य करने लगे थे॥१११-११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव प्रपञ्चयति—आकाशेति द्वाभ्याम्। अन्ये मुनिगन्धर्व-विद्याधरादयः; प्रेमप्रवाहेण प्रेमरसपुरेण उत्थमाविर्भूतं विकाराणां स्वेदकम्पपुलकादीनां जातं समुहो येषु तथाभूता सन्तः। स्वकीय-स्वकीयात् स्वभावात् प्रकृतेः परिवृत्तिं विपर्ययं प्राप्ताः। तत्र आकाशगतयोऽपि भूमिं स्पृशन्ति स्म; ब्रह्मादयः परमज्ञानवन्तोऽपि अनिश्चिततत्वतया मोहं प्रापुः। गवादयः पशुयोनयो जङ्गमाश्च परमज्ञानिभावं समाधिं प्राप्ता इव गत्यादिहान्या स्थावरतां, वृक्षगुल्मादयः स्थावराः कम्पादिना जङ्गमभावम्, अचेतनजलवाहिन्यो निम्नगाः कदाचित् स्तब्धप्रवाहता कदाचिदुत्स्रोतस्त्वम्। अस्तु तावद्व्रजभूमिवर्त्तिनः, एते तत्रत्याकाशसम्बन्धिनो वायुवशगा मेघा अपि स्थिरातपत्रादिभाव- मित्येवमूह्यम्। तत्र च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा० १०/३५/१४-१५) पञ्चत्रिंशैकविंशाध्यायोक्ता *'विविधगोपचरणेषु विदग्धो, वेणुवाद्य ऊरुधा निजशिक्षाः। तव सूतः सति! यदाधरबिम्बे, दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः॥ सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः, शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः। कवय आनतकन्धरचित्ताः, कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥'* इत्यादयः श्लोका अनुसर्त्तव्याः; ते च सव्याख्यानमग्रे लेख्याः॥१११-११२॥

भावानुवाद—मेरे उस रूपादिकी माधुरीवशतः समस्त जगत प्रेम द्वारा सम्मोहित हुआ, इसे 'आकाश' इत्यादि दो श्लोकोंके माध्यमसे विस्तारपूर्वक कह रहे हैं। आकाशमें विचरण करनेवाले ब्रह्मा, रुद्रादि देवता और अन्यान्य मुनि, गन्धर्व, विद्याधर इत्यादि सिद्धपुरुष प्रेम-रसके प्रवाहसे उदित हुए स्वेद-कम्प-पुलक आदि सात्विक-विकारोंसे व्याप्त होकर अपने-अपने स्वभावके विपरीत कार्य करने लगते थे। ब्रह्मा आदि देवता परमज्ञानी होने पर भी तत्त्वका निर्णय करनेमें असमर्थताके कारण मोहित हो जाते थे। गाय आदि सभी जङ्गम अर्थात् चर प्राणी स्वभावतः अज्ञानी होने पर भी परमज्ञानी व्यक्तियोंकी भाँति समाधि दशाको प्राप्त हो जाते थे। अर्थात् चर प्राणी प्रेमसे गतिहीन होकर स्थावर अर्थात अचर धर्मको प्राप्त होते थे और स्थावर वृक्ष-गुल्म आदि प्रेमसे कम्पित और विचलित होकर जङ्गम

धर्मको प्राप्त होते थे। अचेतन नदियाँ स्वभावसे निम्नगामि होने पर भी कभी-कभी स्तब्ध प्रवाहवाली और कभी-कभी ऊर्ध्वगामी हो जाती थी, अर्थात् स्वभावके विपरीत कार्य करती थी।

व्रजभूमि स्थित इन सभी स्थावर-जङ्गम आदिकी बात तो दूर रहे, वहाँ पर आकाशमें वायुके वशीभूत रहनेवाले मेघ भी स्थिरभावसे छतरीकी भाँति शोभा पाते थे। यहाँ पर आगे-पीछेके विषय उक्त नहीं हुए हैं, तथापि दशम-स्कन्धके बीसवें और पैतीसवें अध्यायमें किञ्चित् वर्णन हुआ है, जो इस प्रकार है—"हे यशोदे! तुम्हारा पुत्र अनेक प्रकारकी गोपक्रीड़ाओंमें अत्यन्त निपुण है तथा उसने वेणु-वादनके विषयमें विभिन्न स्वरोंकी शिक्षा भी स्वयं ही प्राप्त की है। जब वह अपने बिम्बके समान अधरों पर वेणु धारण करके उन स्वरोंका आलाप करता है, तब इन्द्र, महादेव और ब्रह्मा आदि देवता भी ह्रस्व (छोटे), मध्य, दीर्घके क्रमभेदसे उन गीतोंका आलाप सुनकर पण्डित होनेपर भी उन स्वरोंके आलापमें भेद न कर पानेके कारण मोहित हो जाते हैं। अतएव उस समय उनका मस्तक और चित्त झुक जाता है।" इत्यादि श्लोक स्मरणीय है। इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना बादमें होगी॥१११-११२॥

एतत् सत्यमसत्यं वा कालिन्दी पृच्छ्यतामियम्।
या तु व्रजजनस्वैरविहारानन्दसाक्षिणी॥११३॥

श्लोकानुवाद—यह सब सत्य है या झूठ है, इसे कालिन्दीसे पूछ लो, क्योंकि यही कालिन्दी व्रजवासियोंके साथ हुए मेरे स्वछन्द विहारकी साक्षिणी है—इसने सब कुछ प्रत्यक्ष दर्शन किया है॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एषा च प्रेमभरेण स्तुतिर्मया क्रियत इति मा मन्यस्व। यतोऽत्र धर्मराज-भगिनी परमपुण्या श्रीयमुनैव प्रमाणमित्याह—एतदिति। चित्राति-चित्रैरित्यादिना मयोक्तं यत्; या कालिन्दी; तैः स वा अनिर्वचनीयो यो व्रजजनैः कृत्वा हेतुभिर्वा स्वैरविहारः मम स्वच्छन्दविलासः। यद्वा, व्रजजनानां मया सह स्वैरविहारस्तस्य साक्षिणी साक्षाद्द्रष्टी॥११३॥

भावानुवाद—अपने मनमें ऐसा नहीं सोचना कि मैं प्रेमके वशीभूत होकर व्रजवासियोंकी ऐसी स्तुति कर रहा हूँ, क्योंकि धर्मराजकी बहन

परमपुण्या श्रीयमुना ही इसका प्रमाण है। मैंने पहले भी कहा है कि अत्यधिक अद्भुत मनोहार विहार आदि द्वारा मैं आनन्दसागरमें ऐसा निमग्न था कि मुझे दिन-रातका भी ज्ञान नहीं रहता था। यह सब सत्य है या मिथ्या, इसे इन कालिन्दीसे ही पूछ लो, क्योंकि इन्होंने उन व्रजवासियोंके साथ हुई मेरे अनिर्वचनीय स्वच्छन्द विलासका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। अथवा ये व्रजवासियोंके साथ हुए मेरे स्वच्छन्द विहारकी साक्षिणी हैं॥११३॥

अधुना तु स एवाहं स्वज्ञातीन् यादवानपि।
नेतुं नार्हामि तं भावं नर्मक्रीड़ाकुतूहलैः॥११४॥

श्लोकानुवाद—किन्तु इस समय वही मैं, अपने आत्मीय-स्वजन यादवोंको नर्मक्रीड़ा-कौतूहल द्वारा भी उस भावकी प्राप्ति करानेमें असमर्थ हूँ॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्तन्निजाक्रीड़जनादिविच्छेदेन तव तादृशविहारादिसुखमत्र न सम्पद्यतां नाम। महिमा तु सदैव निर्विकारत्वात्तादृश एवात्रापि वर्त्तत इति चेन्न, तत्तदशक्तेरित्याह—अधुनेति सार्धेन। स अविकारोऽप्रच्युतस्वभाव एवाहं स्वस्य मम ज्ञातीरपीत्यनेन देहसम्बन्धविशेषः सूचितः। तं पूर्वोक्तं भावं प्रेम। यद्वा, तेषां व्रजवासिनामिव भावं नेतुं प्रापयितुं नार्हामि न शक्नोमीत्यर्थः। नर्माणि परिहासवाक्यानि, क्रीड़ाः समुद्रजलविहारादयः, कुतूहलानि विवाहाद्युत्सवाः, तैरपि कृत्वा॥११४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि उन व्रजवासियोंके विच्छेदमें क्या यहाँ पर आपको वैसा विहार आदिका सुख प्राप्त नहीं हो सकता? आपकी महिमा तो सदैव नित्य निर्विकार (नित्य एकरूप) है और आपका स्वभाव भी च्युत होनेवाला नहीं है, अतएव यहाँ पर वैसी महिमा क्यों नहीं प्रकट करते? इसके उत्तरमें 'अधुना' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि मैं वही हूँ, किन्तु अब वैसी महिमाको प्रकट करनेमें असमर्थ हूँ। अर्थात् मैं वही अविकारी और अच्युत स्वभावयुक्त हूँ, परन्तु अब अपने ज्ञाति अर्थात् देह-सम्बन्धीय आत्मीय स्वजन यादवोंको वह व्रजभाव प्रदान करनेमें सक्षम नहीं हो पा रहा हूँ। नर्म अर्थात् परिहास वाक्यों द्वारा क्रीड़ा अर्थात् समुद्रमें जल-विहार आदि द्वारा तथा कुतूहल अर्थात् विवाह आदि

उत्सवों द्वारा भी उन्हें उस व्रजभावको प्रदान नहीं कर पा रहा हूँ॥११४॥

दुष्करं मे बभूवात्र त्वादृशां मानभञ्जनम्।
अतोऽत्र मुरली त्यक्ता लज्जयैव मया प्रिया॥११५॥

श्लोकानुवाद—हे सत्यभामे! इस समय तुम जैसी मानिनीका मान-भञ्जन करना भी मेरे लिए दुष्कर हो गया है। इसलिए लज्जावशतः मैंने अपनी प्रिय मुरलीको भी त्याग दिया है॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—त्वादृशां तत्सदृशीनां महिषीणाम्; तत्त्वतस्तस्या भगवच्चित्त-प्रतिकूलमानाग्रहाभावात्तन्मानभञ्जनन्तु सुकरमेवेत्यर्थः। तर्हि जगन्मोहन-लीलां मुरलीमत्रापि गृहाणेति चेत्तत्राह—अत इति। अस्मादेवोक्ताद्धेतोः प्रिया मुरली मया त्यक्ता, इव उत्प्रेक्षायाम्; तच्च लज्जयेव राजराजेश्वरतादौ गोपाक्रीड़नकस्वीकारेण लोकलज्जा स्यात्तयेव; वस्तुतस्तु तादृशत्वद्वादनवैदग्धिमहिम्नोऽत्र सम्वरणेनैव। यद्वा, लोकोक्तौ, अत्र तादृशवादनाशक्त्या लज्जा स्यादित्यनेन हेतुना त्यक्तेत्यर्थः। यथास्थानमेव मम महिमाप्याविर्भवतीति भावः॥११५॥

भावानुवाद—यहाँ पर तुम जैसी महिषीका मान-भञ्जन करना भी मेरे लिए दुष्कर हो गया है। अच्छा, तो फिर जगतको मोहित करनेवाली अपनी मुरलीको यहाँ भी ग्रहण (प्रयोग) करो। इसलिए 'अतो' इत्यादि कह रहे हैं। मैं तुम जैसी मानिनीका मान-भञ्जन नहीं कर पाऊँगा, ऐसा देखकर लज्जापूर्वक मैंने अपनी प्रिय मुरलीको भी त्याग दिया है। मूल श्लोकके 'लज्जयैव' पदमें 'इव' कारका अर्थ उदासीनतासे है। इसका तात्पर्य यह है कि तुम जैसी महिषीका मानभंग करना दुष्कर नहीं है, अपितु अत्यन्त सुगम होनेके कारण मुरलीका कोई प्रयोजन नहीं है। भगवानकी प्रीतिके प्रतिकूल मानमें महिषियोंका आग्रह भी नहीं है, अतएव वैसे मानभञ्जनमें मुरलीकी कोई आवश्यकता ही नहीं है तथा यह मान भी उतना प्रगाढ़ नहीं है।

विशेषतः यहाँ पर श्रीकृष्ण राजराजेश्वर हैं और मुरली गोप-क्रीड़ाके लिए है, अतएव राजराजेश्वरके लिए मुरलीवादन द्वारा महिषियोंका मान-भञ्जन करना लोक लज्जाकर है, इसलिए मुरली त्याग करना ही उचित है। किन्तु वास्तवमें यहाँ पर श्रीकृष्णने व्रज जैसी

मुरलीवादन–वैदग्धी–महिमाको प्रकाश करना अनावश्यक समझकर उसे गुप्त रखा है। अथवा यहाँ पर वैसी मुरली बजानेमें असमर्थ होनेके कारण लज्जापूर्वक मुरलीको त्याग दिया है। भावार्थ यह है कि स्थानके अनुरूप ही श्रीकृष्णकी महिमा आविर्भूत होती है॥११५॥

अहो वत मया तत्र कृतं यादृक् स्थितं यथा।
तदस्तु किल दूरेऽत्र निर्वक्तुं च न शक्यते॥११६॥

श्लोकानुवाद—अहो! कैसे दुःखकी बात है! मैं व्रजमें जिस प्रकारकी लीलाएँ करता था और जिस प्रकार आनन्दसे वास करता था, यहाँ पर वैसी लीलाएँ करना तो दूर रहे, उनका वर्णन करनेमें भी असमर्थ हूँ॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सदा सर्वशक्तिमान् भवान्, तथापि तथैव कर्त्तुं स्थातुं इच्छेति चेत्, तदा सर्वमत्रापि तादृशमेव सिध्यति? सत्यम्। तादृशीच्छा च मम स्थानविशेष एव जायते; अतो न किल तादृशमन्यत्र सम्पद्यत इत्याह—अहो वतेति परमखेदे। यादृक् बाल्यलीलाकौतुकादिकं कृतम्, यथा येन प्रकारेण गोपीरमणादिसुखेन स्थितञ्च, तत् तादृक्करणं तथावस्थानं चात्र दूरे अस्तु; निर्वक्तुं सम्यङ्निरूपयितुमपि तदत्र न शक्यते। तथा सति तच्छ्रवणात्तादृशीनामपि तादृक्प्रेममूर्च्छा जाता स्यादिति भावः॥११६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि आप सदा सर्वशक्तिमान हैं, अतएव इच्छा करनेमात्रसे ही वैसी लीला और वैसा सुख आपको सर्वत्र ही प्राप्त हो सकता है? हाँ, यह सत्य है, किन्तु मेरी वैसी इच्छा किसी विशेष स्थानमें ही उदित होती है, सर्वत्र नहीं। अतएव वैसी लीला और सुख किसी अन्य स्थान पर प्राप्त नहीं होता इसे बतानेके लिए 'अहो' इत्यादि पद कह रहे हैं। अहो! कैसे दुःखकी बात है! मैंने व्रजमें जिस प्रकार बाल्यलीला कौतुक आदि किया था और जिस प्रकार सुखसे रहता था, यहाँ पर वैसा करना और रहना तो दूर रहे, उसको सम्पूर्णरूपसे वर्णन या निरूपण भी नहीं कर सकता हूँ। यदि ऐसा होता अर्थात् श्रीकृष्ण यदि उसको वर्णन कर पाते, तो उन लीलाकथाओंका श्रवण करके महिषियोंको भी वैसी ही प्रेममूर्च्छा उत्पन्न हो जाती॥११६॥

एकः स मे तद्व्रजलोकवत् प्रिय–, स्तादृग् महाप्रेमभरप्रभावतः।
वक्ष्यत्यदः किञ्चन बादरायणि–,र्मज्जीविते शिष्यवरे स्वसन्निभे॥११७॥

श्लोकानुवाद—एक श्रीशुकदेव ही मुझे उन व्रजवासियों जैसे प्रिय हैं, क्योंकि उनमें व्रजवासियों जैसा महाप्रेम है जिसके प्रभावसे वे मेरे द्वारा रक्षित अपने समान श्रेष्ठ तथा प्रिय शिष्य श्रीपरीक्षितको यह व्रजलीला किञ्चित्मात्र श्रवण करायेंगे॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु निर्वचनं विना तच्छ्रवणाद्यभावेन प्रेमरसविस्तारणरूपं त्वदवतारमुख्यप्रयोजनं कलौ कथं सम्पद्यताम्? तत्राह—एक इति। स सुप्रसिद्धः; ते उक्तमाहात्म्या ये व्रजलोका गोपगोपिकाद्यास्तद्वन्मे मम प्रियः। अतएव तादृक् तद्व्रजलोकसदृशो या महाप्रेमभरस्तस्य प्रभावतः शक्तेर्हेतोः अदः मद्बाल्यलीलादिकं किञ्चन स्वल्पं बादरायणिः श्रीव्यासनन्दनः शिष्यवरे श्रीपरीक्षिति वक्ष्यति। कथम्भूते? मज्जीविते मया जीविते, मातृगर्भेऽश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्रतेजोनिवारणात्। यद्वा, भारतोक्तानुसारेण मृत एव जाते मया पुनर्जीवित इत्यर्थः; यद्वा, मयि जीवितं जीवनं यस्य; यस्य जीवनकालो मद्भक्तिं विना कोऽपि न गतः; यः क्षणमपि मां विना न जीवतीति वा तस्मिन्नित्यर्थः। एवं स्वेन बादरायणिना सन्निभे सदृशे, यद्वा, निरुपम इत्यर्थः। अतः परमगुह्यमपि तस्मिन् प्रकाशयिष्यति इति ज्ञेयम्। एवं तादृशवक्तृश्रोतृप्रभावतस्तद्रसः कुत्र कुत्रापि कलिकालेऽपि सञ्चरिष्यतीति भावः॥११७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि उस व्रजलीलाका वर्णन किये बिना उसके श्रवण आदिके अभावमें कलिकालके महान अवतारका प्रेमरस–विस्ताररूप मुख्य प्रयोजन किस प्रकार पूर्ण होगा? इसके उत्तरमें 'एकः' इत्यादि पद कह रहे हैं। यद्यपि व्रजलीलाका माहात्म्य सुप्रसिद्ध है, तथापि उन गोप–गोपियों जैसे व्रजवासियोंके समान मेरे प्रिय केवल एक श्रीबादरायणि (श्रीशुकदेव) हैं, अतएव वे ही व्रज–वासियोंके समान महाप्रेमके प्रभावसे मेरी बाल्यलीला आदिको अपने समान श्रेष्ठ शिष्य श्रीमान् परीक्षितको किञ्चित् श्रवण करायेंगे। वे परीक्षित कैसे हैं? मेरे द्वारा जीवित किये गये अथवा मेरे द्वारा रक्षित अर्थात् मातृगर्भमें अश्वथामाके ब्रह्मास्त्रके तेजको दूर करके मैंने जिनकी रक्षाकी थी। अथवा महाभारतकी उक्तिके अनुसार अश्वथामाके ब्रह्मास्त्रसे निहत होने पर भी जिसने मेरे द्वारा पुनर्जीवन प्राप्त किया था। अथवा मैं ही जिनका जीवन हूँ और अपने जीवनमें जो

क्षणकाल भी मेरी भक्तिके बिना जीवन धारण नहीं कर पाये, वही परीक्षित हैं; अथवा इस प्रकार श्रीशुकदेवके समान जो अनुपम शिष्य हैं। अतएव परमगुह्य होने पर भी श्रीशुकदेव यह व्रजलीला उनको किञ्चिन्मात्र श्रवण करायेंगे। वास्तवमें ऐसे व्रजरसके रसिक वक्ता और श्रोताके प्रभावसे ही व्रजलीलारस कलिकालमें भी कहीं–कहीं सञ्चारित होगा॥११७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एतादृशं तद्व्रजभाग्यवैभवं, संरम्भतः कीर्त्तयतो महाप्रभोः।
पुनस्तथाभावनिवेशशङ्कया, ताः प्रेरिता मन्त्रिवरेण संज्ञया॥११८॥
सर्वा महिष्यः सह सत्यभामया, भैष्म्यादयो द्रागभिसृत्य मूर्द्धभिः।
पादौ गृहीत्वा रुदितार्द्रकाकुभिः, संस्तुत्य भर्त्तारमशीशमच्छनैः॥११९॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा, श्रीकृष्ण द्वारा रोषपूर्वक ऐसे व्रजके वैभवका कीर्त्तन करने पर कहीं वे फिरसे भावाविष्ट न हो जायें, इस आशंकासे उनको उस प्रसङ्गसे निवृत्त करानेके लिए मन्त्रीवर श्रीउद्धवने महिषियोंको संकेत द्वारा प्रभुके सम्मुख भेज दिया॥११८–११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—संरम्भतः क्रोधादावेशाद्वा। पुनस्तथाभावः तथात्वं पूर्वोक्तं महार्तरोदनादि तस्य निवेशः प्रवेशस्तस्य शङ्कया, मन्त्रिवरेणोद्धवेन ताः सर्वा महिष्यः संज्ञया सङ्केतेन प्रेरिताः सत्यः सत्यभामया सह द्राक् शीघ्रमभिसृत्य अग्रतो भूय भर्त्तारं श्रीकृष्णदेवमशीशमन् शमयामासुः, संरम्भोपशमं कारयामासुरित्यर्थः। शनैरिति शीघ्रं तत्संरम्भत्यजनाशक्यत्वात्। किं कृत्वा? पादौ स्वभर्त्तुश्चरणारविन्दद्वन्द्वं मूर्धभिर्गृहीत्वा रुदितैरार्द्राभिः सरसाभिः काकुभिः संस्तूय॥११८–११९॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधित होकर व्रजके वैभवका वर्णन करना आरम्भ किया। प्रभुको ऐसा करते देख श्रीउद्धवको आशंका हुई कि प्रभु फिरसे भावाविष्ट हो सकते हैं अर्थात् वे पहलेकी भाँति अत्यन्त आर्त्त होकर क्रन्दन आदि कर सकते हैं। अतः प्रभुको उस प्रसङ्गसे निवृत्त करनेके लिए मन्त्रीवर श्रीउद्धवने महिषियोंको संकेत किया। उसी संकेतके अनुसार श्रीरुक्मिणी आदि महिषियोंने श्रीसत्यभामा सहित प्रभुके सम्मुख जाकर अपने–अपने

मस्तकको उनके श्रीचरणकमलों पर रख दिया तथा क्रन्दन करते हुए विनयपूर्वक वचनोंके द्वारा उन्हें धीरे-धीरे शान्त किया। अर्थात् उनके क्रोधको शान्त करनेका प्रयत्न करने लगीं। किन्तु 'शनैः' शब्दके अर्थसे ऐसा बोध होता है कि श्रीकृष्ण शीघ्र ही उस क्रोधको त्याग करनेमें असमर्थ थे, अतः धीरे-धीरे त्याग किया॥११८-११९॥

भोजनार्थञ्च तेनैव देवकी रोहिणी तथा।
अन्नपानादिसहिते तत्र शीघ्रं प्रवेशिते॥१२०॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीकृष्णको भोजन करानेके लिए श्रीउद्धवने माता श्रीदेवकी और श्रीरोहिणीदेवीको अन्न-पान आदि सामग्रियोंके साथ वहाँ प्रवेश करवाया॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तत्प्रसङ्गत्यागः कथं घटताम्? परमभक्तवरस्य तस्यैव चातुर्यादित्याह—भोजनार्थमिति द्वाभ्याम्। तेन मन्त्रिवरेणैव; एवमधुनैव रोहिण्याः प्रवेशाख्यानात्। सा चतुरवरा भगवत्पार्श्वमनागत्य पूर्वमेव भोग्यसाधनाय रसवतीं गतेत्यूह्यम्। एवं श्रीबलरामोऽप्यभिज्ञवरः स्नानव्याजेन स्वगृहं ययाविति ज्ञेयम्॥१२०॥

भावानुवाद—तथापि श्रीकृष्ण द्वारा व्रजके उस प्रसंगका त्याग किस प्रकार सम्भव हुआ? परमभक्तवर श्रीउद्धवकी चतुरतासे, इसीको 'भोजनार्थं' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं। तब मन्त्रीवर श्रीउद्धवने श्रीकृष्णको भोजन करानेके लिए श्रीदेवकी और श्रीरोहिणीदेवीको अन्न-पान आदि सामग्रियों सहित प्रवेश करवाया। यद्यपि अभी श्रीरोहिणीदेवीने सामग्रियों सहित आगमन तो किया, किन्तु इस व्याख्यामें यह अव्यक्त रह गया था कि सुचतुरा श्रीरोहिणीदेवी पहले ही श्रीकृष्णको वहीं छोड़कर पाकशालामें चली गयी थीं। उसी प्रकार चतुर शिरोमणि श्रीबलराम भी स्नानके छलसे पहले ही अपने भवनमें चले गए थे—ऐसा जानना होगा॥१२०॥

बलदेवं कृतस्नानं प्रवेश्य कृतिना तदा।
द्वारान्ते नारदस्तिष्ठेदिति विज्ञापितो विभुः॥१२१॥

श्लोकानुवाद—उसके बाद परमचतुर मन्त्री श्रीउद्धवने स्नान कर चुके श्रीबलदेवको वहाँ प्रवेश करवाया तथा उनके द्वारा श्रीकृष्णको द्वार पर आये हुए श्रीनारदके आगमनकी वार्ता सुनवायी॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृतिना परमचतुरेण तेनैव मन्त्रिवरेण; विभुः श्रीकृष्णदेवः॥१२१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२१॥

सर्वान्तरात्मदृक् प्राह सस्मितं नन्दनन्दनः।
अद्य केन निरुद्धोऽसौ यन्नायात्यत्र पूर्ववत्॥१२२॥

श्लोकानुवाद—यह सुनकर सबके अन्तर्यामी श्रीनन्दनन्दन मुस्कराते हुए कहने लगे—आज श्रीनारद पहलेकी तरह क्यों नहीं आ रहे हैं? आज उनको किसने यहाँ आनेसे रोक दिया है?॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—सर्वेषामन्तरात्मानं चित्तं तद्वृत्तमन्तर्यामितया पश्यति जानातीति तथा सः, अतएव नारदव्यवहारज्ञानात् स्मितेन सहितं यथा स्यात्तथा प्राह। ननु परमानर्थोत्पादकनारदचेष्टितेन न कथं चुक्रोध? तत्राह—नन्दनन्दन इति। नन्दव्रजजनानां महिमातिशयप्रकटनार्थमेव तस्य तत्र प्रवृत्तिरिति भावः। यद्वा, सर्वचित्तदर्श्यप्यजानन्निवाह—अद्य केनेति। यतोऽयं नन्दनन्दनः रसिकवर्गशिरोमणिरित्यर्थः। असौ नारदः, यद्यस्मान्निरोधात्, अत्र मत्पार्श्वे; पूर्ववदिति—यथा सर्वकालं केनाप्यनिवार्यमाणः स स्वयमेवात्रायाति, तथा कुतोऽद्य नायातीत्यर्थः॥१२२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि व्रजका स्मरण दिलाकर महान दुःख उत्पन्न करनेवाली वैसी चेष्टाके कारण प्रभुने श्रीनारद पर क्रोध क्यों नहीं किया? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण सबके अन्तर्यामी हैं अर्थात् सबकी चित्तवृत्तिको जानते हैं, अतएव श्रीनारदकी चितवृत्तिको भी जानते हैं। व्रजवासियोंकी अत्यधिक महिमाको प्रकाशित करनेके लिए श्रीनारदकी इस कार्यमें प्रवृत्ति हुई है। अथवा श्रीनन्दनन्दनने रसिक-शिरोमणि होनेके कारण मुस्कराते हुए कहा कि आज श्रीनारद पहलेकी भाँति यहाँ पर क्यों नहीं आ रहे हैं? आज उनको किसने यहाँ आनेसे रोक दिया है? अर्थात् आजसे पहले किसीने उनको आनेसे नहीं रोका, वे स्वयं ही आ जाते हैं, आज उसी प्रकार क्यों नहीं आ रहे हैं?॥१२२॥

प्रत्युवाचोद्धवः स्मित्वा प्रभो भीत्यापि लज्जया।
ततो ब्रह्मण्यदेवेन स्वयमुक्तः प्रवेश्य सः॥१२३॥

श्लोकानुवाद—इसके उत्तरमें श्रीउद्धवने हास्यपूर्वक कहा, "प्रभो! उनकी अपनी लज्जा और भयने ही उनको रोक दिया है।" तब बह्मण्यदेव श्रीकृष्ण स्वयं उठकर श्रीनारदको घरमें लाकर कहने लगे॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—उद्धवोऽपि स्मित्वा नारदचेष्टास्मरणेन ईषद्धसित्वा प्रत्युवाच—किं भीत्या स्वकीयापराधभयेन निरुद्ध इति। मयि तस्य तद्भयं कदापि नास्त्येवेति चेत्तत्राह—लज्जयापीति; निजनिविड़प्रेमभराविर्भाव-विकारेण महतां स्वत एव लज्जोत्पत्तेः, जगदुपद्रवविशेषकारणोत्थापनाद्वा। ततस्तस्मादेवोक्ताद्धेतोः; ब्रह्मण्यदेवेन भगवता स्वयमेवोत्थायाग्रे अभिगम्य सादरं प्रणम्य हस्ते धृत्वा स नारदः स्वकीयप्रासादवरं प्रवेश्य पूजयित्वा तेनैवोक्त इत्यर्थो द्रष्टव्यः, ब्रह्मण्यदेवेनेत्युक्तेः॥१२३॥

भावानुवाद—श्रीनारदकी चेष्टाको स्मरण करके श्रीउद्धवने भी हास्यपूर्वक उत्तर दिया कि उनके भयने ही उनको यहाँ आनेसे रोक दिया है। जब श्रीकृष्णने पूछा कि उनको किसका भय है, श्रीउद्धवने कहा कि उनको अपने द्वारा किये गये अपराधका भय। भगवान्ने जब कहा कि श्रीनारदको मुझसे कभी कोई भय नहीं है, इसके उत्तरमें श्रीउद्धवने कहा कि तब तो लज्जा ही उनको आनेसे रोक रही होगी। वास्तवमें अपने प्रगाढ़ प्रेममें विकार उत्पन्न होनेके कारण महाजनगण स्वतः ही लज्जित हुआ करते हैं। अथवा जगतके लिए उपद्रव-जनक कारण उपस्थित करनेके लिए वे स्वयं ही लज्जित हो गये हैं। तब भगवान् ब्रह्मण्यदेव (श्रीकृष्ण) स्वयं ही उठकर श्रीनारदकी ओर अग्रसर हुए तथा उनको सादर प्रणाम कर उनका हाथ पकड़कर अपने राजभवनमें ले आये और उनकी पूजा की। यहाँ पर 'ब्रह्मण्यदेव' कहनेका तात्पर्य भगवान्के उक्त आचरणसे ही समझना चाहिए॥१२३॥

श्रीभगवानुवाच—

मत्प्रीत्युत्पादनव्यग्र श्रीनारद सुहृत्तम।
हितमेवाकृतात्यन्तं भवान्मे रसिकोत्तम॥१२४॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे सुहृद्वर श्रीनारद! आप मुझे प्रसन्न करनेके लिए ही सदा व्यग्र रहते हैं। अतएव हे रसिकजनोंमें उत्तम! आपने मेरा अत्यन्त हित ही किया है॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे मत्प्रीतेरुत्पादने व्यग्र! अतएव हे सुहृत्तम परमहितकारिन्! यद्वा, हे निरुपाध्युपकारिश्रेष्ठ! भवान्मे मम अत्यन्तं हितमुपकारमेवाकृत चकार, न त्वपराधं कमपीत्यर्थः। हे रसिकेषु मच्चरणारविन्दमकरन्दलम्पटेषु उत्तम श्रेष्ठेति मद्भक्तिरसिकानामयमेव स्वभाव इति लज्जा च कापि न कार्येति भावः॥१२४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—"हे सुहृद्वर श्रीनारद! आप मुझे प्रसन्न करनेके लिए सदैव व्यग्र रहते हैं, अतएव आप मेरे परम हितकारी हैं।" अथवा "हे निरुपाधिक उपकार करनेवालोंमें श्रेष्ठ! आपने मेरा अत्यधिक उपकार किया है, अपराध नहीं। हे रसिकोत्तम! आप मेरे चरणकमलोंकी मकरन्दके लोभी भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं। मेरी भक्ति करनेवाले रसिक भक्तोंका स्वभाव ही ऐसा है, अतएव आपको लज्जा नहीं करनी चाहिए"॥१२४॥

प्राग्यद्यपि प्रेमकृतात् प्रियाणां, विच्छेददावानलवेगतोऽन्तः।
सन्तापजातेन दुरन्तशोकावेशेन, गाढ़ं भवतीव दुःखम्॥१२५॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि प्रथमतः अपने प्रियजनोंके विरहरूपी दावानलके वेगसे अन्तःकरणमें तीव्र सन्ताप उत्पन्न होता है, उससे असीम शोक प्रकटित होता है तथा उस शोकके कारण हृदय अत्यन्त दुःखी होता है॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भवद्भक्तितरलितेन मया लज्जा न कर्त्तव्यास्तु नाम। मोहोत्पादनेन भवतोऽत्यन्तदुःखं कृतं, कुतो हितम्? तत्राह—प्रागिति द्वाभ्याम्। प्रियजनानां विच्छेदो विरह एव दावानलः अन्तर्बहिः परमसन्तापकत्वात्, तस्य वेगाद् योऽन्तःसन्तापस्तस्माज्जातेन दुरन्तस्य निःसीमस्य शोकस्यावेशेन प्रवेशेन तदभिभवेन वा यद्यपि प्राक् प्रथमं गाढ़ं दुःखं भवति। किम्भूतात्? प्रेम्णा कृतात्, एवं यादृशं प्रेम तादृशमेव विच्छेददुःखमपि स्यात् इति ज्ञेयम्। इवेति परिणामे सुखोत्पत्त्यपेक्षयाभवन् एव पर्यवसानात्। यद्वा, दुःखमित्यनेन सम्बन्धनीयम्। ततश्च तेनापि वस्तुतोऽन्तःसुखमेव। बहिर्दीनवद्वैकल्यादिदर्शनाच्च दुःखभानात्, दुःखमिव भवतीत्यर्थः। अथवा लोकोक्तिरीत्यानधिकार्थमेव॥१२५॥

भावानुवाद—यद्यपि भगवद्भक्तिके द्वारा चित्तके द्रवित होनेसे प्रकट हुए लक्षणोंके लिए मुझे लज्जा नहीं करनी चाहिए, तथापि मैंने मोह उत्पन्न करके आपको अत्यन्त दुःख ही प्रदान किया है, आपका हित किस प्रकार किया है? श्रीनारदके इस प्रश्नकी आशंका करके ही श्रीभगवान् 'प्राग्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। प्रिय व्यक्तियोंका विरह ही दावानल है तथा वह भीतर और बाहर अत्यधिक सन्ताप देनेवाला है। अर्थात् प्रियजनोंके विरहानलके वेगसे भीतरमें जो अत्यधिक सन्ताप उत्पन्न होता है और उस असीम सन्ताप अथवा शोकके आवेशसे या उससे पीड़ित होने पर सर्वप्रथम हृदयमें प्रगाढ़ दुःख होता है। वह दुःख कैसा होता है? प्रेमकृत अर्थात् प्रेमसे उत्पन्न। इस प्रकार प्रिय व्यक्तियों द्वारा किया गया प्रेम जितना गम्भीर होता है, उनका वियोग दुःख भी उतना ही गम्भीर होता है, यही जानने योग्य तथ्य है। यहाँ पर 'इव' कारका तात्पर्य यह है कि वह दुःख परिणाममें सम्भोग-सुखसे (मिलन-सुखसे) भी अधिक प्रशंसनीय होता है। अर्थात् वह दुःख परिणाममें सुख उत्पन्न करनेके कारण दुःख न होकर सुखमें ही पर्यवसित हो जाता है। अथवा 'दुःख' नामक वस्तुके साथ कुछ भी सम्बन्ध न होनेके कारण वास्तवमें उस दुःख द्वारा अन्तरमें परमसुखकी ही अनुभूति होती है। तथापि बाहरसे दैन्य और व्याकुलता आदिको देखकर दुःखका भानमात्र होता है, किन्तु वास्तवमें वह दुःख नहीं है, इसलिए 'दुःखमिव' कहा गया है। अथवा यह लौकिक उक्ति या रीतिके अनुसार कहा गया है॥१२५॥

तथापि सम्भोगसुखादपि स्तुतः, स कोऽप्यनिर्वाच्यतमो मनोरमः।
प्रमोदराशिः परिणामतो ध्रुवं, तत्र स्फुरेत्तद्रसिकैकवेद्यः॥१२६॥

श्लोकानुवाद—तथापि, उस दुःखका परिणाम सम्भोग-सुखसे भी अधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि वह निश्चय ही किसी एक अनिर्वचनीय और मनोरम आनन्दकी स्फूर्ति करवा देता है, जो केवल रसिकों द्वारा ही अनुभव होती है॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तादृशदुःखे सत्यपि तत्र तस्मिन् दुःखे परिणामतः पश्चात् तत्परिपाकाद्वा प्रमोदराशिर्ध्रुवं निश्चितं स्फुरेत्। कथम्भूतम्? सम्भोगे

योगसमये यत् सुखं, तस्मादपि स्तुतः श्लाघ्यः इत्यर्थः, ततोऽप्यधिकत्वात्। कीदृश इत्यपेक्षायामाह—स कोऽपीति। ब्रह्मानन्दोऽनिर्वाच्यस्तस्मादप्याधिक्येन भजनानन्दोऽनिर्वाच्यतरः, तत्र च प्रेमानन्दोऽनिर्वाच्यतमः, तत्रापि विरहार्त्तिद्वारा जातः सन् परमान्त्यकाष्ठाविशेष-प्राप्त्या परममहानिर्वाच्यतम इत्यर्थः। न च दुःखहेतुकत्वादहृद्य इत्याह—मनो रमयतीति मनोरम इति। ननु दुःखे कथं सुखानुभवः सम्भवेत्तत्राह—तद्रसिकेन तादृशप्रेमलम्पटेनैवैकेन वेद्यः ज्ञातुं शक्यः॥१२६॥

भावानुवाद—तथापि वैसा विरह-दुःख होने पर भी उस दुःखके परिणाममें अथवा उसकी परिपक्व अवस्थामें निश्चय ही प्रचुर आनन्दकी स्फूर्ति होती है। वह कैसे? क्योंकि उस दुखका परिणाम सम्भोग-सुखसे भी अधिक प्रशंसनीय होता है। अर्थात् सम्भोगमें जो सुख होता है, उस सुखसे भी अधिक सुख उस दुःखके परिणाममें होता है। यदि प्रश्न हो कि वह सुख सम्भोगसुखसे किस प्रकार अधिक है? इस प्रश्नकी आशंकासे 'स कोऽपि' पद कह रहें हैं, वह सुख अनिर्वचनीयतम है। अर्थात् ब्रह्मानन्द अनिर्वचनीय है, उससे अधिक होनेके कारण भजनानन्द अनिर्वचनीयतर है और प्रेमानन्द उससे भी अधिक होनेके कारण अनिर्वचनीयतम है। तथापि, उस प्रेमसे उत्पन्न प्रियजनके विरहानलका वेग और उस विरहानलके वेगसे उदित जो दुःख-शोक है, वह परम सीमाको प्राप्त होनेसे परम अनिर्वचनीयतम है। अर्थात् उस विरह-दुःखकी परिपक्व अवस्थामें जिस परम महान सुखका उदय होता है, वह परम अनिर्वचनीयतम है और वह महान सुख विरह-दुःखसे उत्पन्न होने पर भी असहनीय नहीं है, बल्कि मनोरम है। यदि प्रश्न हो कि विरह-दुःखमें सुखका अनुभव कैसे सम्भव है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि उस विरह-दुःखमें केवल रसिकोंको ही महा आनन्दकी स्फूर्ति होती है। अर्थात् उस आनन्दको केवल प्रेमरसके लोभी महाजन ही अनुभव करनेमें समर्थ हैं, अन्य कोई भी उसको जान नहीं सकता है॥१२६॥

तच्छोकदुःखोपरमस्य पश्चाच्-,चित्तं यतः पूर्णतया प्रसन्नम्।
सम्प्राप्तसम्भोगमहासुखेन, सम्पन्नवत्तिष्ठति सर्वदैव॥१२७॥

श्लोकानुवाद—इसका कारण है कि विरहसे उत्पन्न शोक-दुःखके

शान्त होने पर चित्त सदैव सम्पूर्णरूपसे प्रसन्न होकर सम्भोग-सुख प्राप्त होनेकी भाँति महासुखी हो जाता है॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु गाढ़दुःखपरिपाकतः परमदुःखविशेषमयो मोहो मृत्युर्वा सम्भवेत्, कथं तस्मात् प्रमोदराशिः स्फुरतीति। तत्रापि तदनुरूपकारणादेव *'सुखानन्तरं दुःखं, दुःखानन्तरं सुखम्'* इति न्यायेनैवास्तु। कथं दुःखपरिणामतः एव स्फुरतीति च प्रत्येतव्यम्? सत्यम्, स्वानुभवप्रामाण्यात् तथा तदानींसुखस्फुर्त्तेः। कारण-आन्तराभावाच्चेत्याह—तच्छोकेति। तयोर्विरहजशोकदुःखयोः; यद्वा, शोकेन दुःखं शोकदुःखं तस्य शोकदुःखस्य उपरमः प्रशान्तिस्तस्य पश्चादनन्तरम्; यतः कारणाच्चित्तं तेषामेव विरहशोकदुःखवतां मनः सर्वदैव प्रसन्नं सत् पूर्णतया न्यूनतावैपरीत्येन विशिष्टं तिष्ठति। कीदृशम्? सम्यक् प्राप्तं यत् सम्भोगमहासुखं, तेन सम्पन्नवत्। वतिप्रयोगश्च वस्तुतो विरहदुःखजत्वेन सम्भोगजत्वाभावात्। अतः कारणात्तत्र प्रमोदराशि-स्फूर्त्तिः प्रत्येतव्येत्यर्थः। अयं भावः—प्रियतमजनेन सह क्रीड़ाविशेषे वृत्ते सति, यथा महासुखेन सम्पन्नं मनः स्यात्तथैव विरहशोकार्त्युपरमेऽपीति चित्तप्रसन्नतादिना कार्येण कारणानुमानात् प्रमोदराशिस्फूर्त्तिरवश्यमन्तव्यैव, सुखविशेषोदयं विना चित्तप्रसन्नताद्यसम्भवात्। तत्स्फुर्त्तेश्च तदानीं कारणान्तरदर्शनात् विरहदुःखादेवासावस्फुरदिति च मन्तव्यमेवेति॥१२७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि प्रगाढ़ दुःख (अत्यधिक दुःख)के परिपक्व होने पर परम दुःखमय मोह या मृत्युकी ही सम्भावना है, अतः ऐसी दशामें आनन्दकी स्फूर्ति कैसे संभव है? विशेषतः 'सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख' इस न्यायके अनुसार वियोगके कारण हुए शोक-दुःखकी निवृत्ति होने पर मिलन सुखका उदय होना सम्भव है, किन्तु दुःखके परिणाममें अथवा उसकी परिपक्व अवस्थामें आनन्दकी स्फूर्ति किस प्रकार विश्वास करने योग्य है? यह सत्य है, किन्तु इस विषयमें अपना अनुभव ही प्रमाण है, अर्थात् प्रिय व्यक्तिके विरहमें भी चित्तमें सुखकी स्फूर्ति होना तथा उस सुखकी स्फूर्तिका कारण ज्ञात न होने पर भी अपनी अनुभूति ही इस विषयमें प्रमाण है। यहाँ पर अपने अनुभव द्वारा प्राप्त प्रमाणका प्रदर्शन करनेके लिए 'तच्छोक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। विरहसे उत्पन्न शोकके द्वारा जो दुःख होता है, उस दुःखके निवृत्त होने पर विरही मन सर्वदा प्रसन्न होकर पूर्णरूपसे न्यूनताके विपरीतभावसे युक्त अर्थात् अभाव रहित हो जाता है। वह सुख कैसा होता है? अपनी अभीष्ट वस्तुको सम्पूर्ण

रूपमें प्राप्त करनेवाले सम्भोग-सुखके समान महासुखमय होता है। अर्थात् विरह द्वारा चित्तमें जो एक न्यूनता या अपूर्णताका भाव उदित होता है, वह अब नहीं रहता, बल्कि चित्त और भी अधिक प्रसन्न हो जाता है। 'सम्पन्नवत्तिष्ठति' पदमें 'वत्'के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया गया है कि वास्तवमें वह पूर्णता विरहरूपी दुःखसे उत्पन्न होती है सम्भोग-सुखसे नहीं, इसीलिए उस अवस्थामें आनन्दकी स्फूर्ति होती है, अतएव यह विश्वासके योग्य है।

भावार्थ यह है कि प्रियतम व्यक्तिके साथ मिलन आदि होने पर जिस सुखकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार विरहसे उत्पन्न शोक आदिके शान्त होने पर चित्तकी प्रसन्नता आदि लक्षणोंके द्वारा उस प्रसन्नताके कारणका अनुमान करना चाहिए, अर्थात् चित्तकी प्रसन्नतारूप लक्षणों द्वारा ही आनन्दकी स्फूर्तिका होना अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसका कारण है कि अत्यधिक सुखकी प्राप्ति नहीं होनेसे चित्तका प्रसन्न होना असम्भव है और विरहकी अवस्थामें वैसे सुखकी स्फूर्तिका अन्य कोई कारण भी विद्यमान नहीं है। अतएव उस सुखकी स्फूर्ति विरह-दुःखसे हुई है, इसको अवश्य ही स्वीकार करना होगा॥१२७॥

इच्छेत् पुनस्तादृशमेव भावं, क्लिष्टं कथञ्चित् तदभावतः स्यात्।
येषां न भातीति मतेऽपि तेषां, गाढ़ोपकारी स्मृतिदः प्रियाणाम्॥१२८॥

श्लोकानुवाद—इसलिए अपने प्रियतमके विरहसे संतप्त चित्त पुनः उसी भावकी ही अभिलाषा करता है और उस विरहका किसी प्रकारसे अभाव होने पर अत्यन्त दुःखी भी होता है। जिनके मतानुसार विरहका यह विषय रुचिकर नहीं है, वे भी प्रिय व्यक्तिको स्मरण करानेवाला जानकर इसे परम उपकारक मानते हैं॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु *'सुखानन्तरं दुःखं, दुःखानन्तरं च सुखम्'* इति न्यायात् स्फुरतु नाम पश्चात् प्रमोदराशिः, शोककाले च तद्दुःखं तदवस्थमेव तच्चातीवायुक्तं। ब्रह्मानन्दाधिकभजनानन्दादप्यधिकस्य प्रेमानन्दस्य विरहशोकार्त्तिकालेऽन्यथा-त्वापत्तेः। न तद्दुःखस्यापि विचारेण सुखरूपत्वादित्याह—इच्छेदिति। विरहिणां चित्तमेव कर्त्तृ, तादृशमेव महाशोकार्त्तिरोदनादिरूपं भावं सत्तां स्थितिमिति यावत्

पुनरपीच्छेत्। कथञ्चिदिति प्रियतमविरहवतां कदाचिदपि तादृग्भावाभावो न स्यादेव। केनापि प्रकारेण यदि भवेत्तदा क्लिष्टं परमदुःखितं स्यादित्यर्थः। दुःखस्य वाञ्छनीयत्वाभावादभावे च क्लेशापत्त्या तद्दुःखं सुखमेव मन्तव्यमिति भावः। दुःखवत् प्रतीयमानस्यैव सुखस्य चरमकाष्ठाविशेषाप्तपरममहत्ताया अभिप्रेतत्वात्। यथाग्नि-प्रतियोगीघनहिमादिस्पर्शेन पादाद्यङ्गेषु जायमान-परम-महाजाड्यस्य ज्वलदङ्गारस्पर्शवदभिज्ञा स्यात्। तत्र हि यथाङ्गारस्पर्श-प्रतीतिर्मिथ्या परममहाजाड्यमेव सत्यम्, तथात्रापि दुःखस्य प्रतीतेर्मिथ्यात्वमेव सुखस्यैव सत्यत्वं विज्ञेयम्। किन्तु भगवतो भगवत्प्रियतमजनानाञ्च केषाञ्चित् विरहसम्बन्धिदुःख मेवैतादृशं भवति, न तु सार्वत्रिकमिति सर्वमनवद्यम्। यद्यप्यात्मानमधिकृत्यैव श्रीभगवतैवमुक्तं तथापि तदीयविरहार्त्तभक्तजनविषयकमेव ज्ञेयम्; तेष्वेव सर्वथा तदुपपत्तेः। तत्र च श्रीगोपीव्यतिरिक्त-भक्तजनविषयकमेव मन्तव्यम्। यतस्तासां कदाचिदपि विरहार्त्तेः शान्तिर्न भवेदेव, सङ्गमेऽपि विरहशङ्कया दुःखस्यैवापत्तेः। एतच्च प्रागुक्तमेव। न च तासां भगवद्विरहतापे कदापीच्छा स्यात्, कोटिदावानलाधिकदाहकत्वेन तस्यानुभूयमानत्वात्। यथोक्तं श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४७/४९-५०) ताभिरेवोद्धवं प्रति—*'सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे। सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिता प्रभो॥ पुनःपुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं वत। श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्त्तुं नैव शक्नुमः॥'* इति। अनयोरर्थः—आचरिताः सेविताः; कृष्णविस्मृतौ न तावद्दुःखं स्यात्, सापि नास्माकं भवतीति भाव इति। एवं कृष्णस्मरणेन विरहार्त्तिविवर्धनात् तद्विस्मरणमपीच्छन्ति, कुतस्तु तास्तद-विरहाग्निमिच्छन्तु नाम। अतएव तासां सर्वदैव महावेगेन विरहदुःखविशेषोदयात् सर्वाधिकतरसुखविशेषानुभवः स्यादिति सिध्यति। तादृशसुखस्य हि तेनैव प्रकारेण सम्पद्यमानत्वात् तादृशरूपत्वाच्च। एवमेवाशेषेभ्यो भक्तवृन्देभ्यः प्रियतमजनेभ्यश्च तासां माहात्म्यं सिध्यतीति दिक्। इति एतन्मयोक्तं, येषां न भाति न प्रकाशते तेषां मतेऽपि प्रियजनानां स्मृतेर्दाता परमोपकारी भवत्येव। एवं हि तैरवश्यमेव मन्तव्यमित्यर्थः॥१२८॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि 'सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख' इस न्यायके अनुसार विरहसे उत्पन्न शोक-दुःखके शान्त होनेपर प्रचुर आनन्दकी स्फूर्ति होती है तो हो, किन्तु शोकके समय तो केवल दुःख ही होता है, अतएव उस अवस्थामें आनन्दकी स्फूर्ति होना युक्तिपूर्ण नहीं है। ब्रह्मानन्दसे भजनानन्द अधिक है तथा भजनानन्दकी तुलनामें प्रेमानन्द अधिक है, किन्तु विरहसे उदित शोक-आर्त्तिके समय वह प्रेमानन्द मिथ्या प्रतीत होता है। इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि नहीं, वह मिथ्या नहीं होता, क्योंकि विचार

करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि वह दुःख भी सुख है, इसके समाधानके लिए 'इच्छेत्' इत्यादि पद कह रहे हैं।

'इच्छेत्'—इस क्रियामें कर्त्ता विरहीका चित्त है। अतएव प्रियतमके विरहमें व्याकुल चित्त उस प्रकारके महाशोक, आर्त्ति-रोदन आदि भावोंके स्थायी होनेकी फिरसे इच्छा करता है तथा उन भावोंका अभाव होने पर अत्यन्त दुःखी भी हो जाता है। व्यवहारिकरूपमें भी देखा जाता है कि प्रियतमके विरहसे व्याकुल चित्तमें कभी भी वैसे भावोंका अभाव नहीं होता। अतएव वह दुःख नहीं है, अपितु सुख-स्वरूप है, ऐसा मेरा मन्तव्य है, क्योंकि कोई भी दुःखकी इच्छा नहीं करता। अतएव वह भाव दुःखके समान प्रतीत होने पर भी सुखकी चरम अवस्थाको प्राप्त होनेके कारण अत्यधिक महिमायुक्त है, यही अभिप्राय है। इसके लिए दृष्टान्त है—यद्यपि अग्निका ताप हिमकी ठण्डकके विपरीत है, तथापि पैर आदि अंगों द्वारा उस हिम खण्डके स्पर्शसे अत्यधिक ठंडा लगने पर वह जलते हुए अंगारेके स्पर्श जैसा प्रतीत होता है, किन्तु यहाँ पर जलते हुए अंगारेके स्पर्शकी प्रतीति मिथ्या है, अत्यधिक ठंडा ही सत्य है। उसी प्रकार विरहमें भी दुःखकी प्रतीति मिथ्या है, सुखको ही सत्य जानना चाहिए। किन्तु भगवान्‌के प्रियतम किन्हीं विरहीजनोंके विरह सम्बन्धीय दुःखमें ही ऐसा सुख अनुभव होता है, सर्वत्र नहीं। इस प्रकारसे उक्त प्रश्नका समाधान हुआ।

यद्यपि भगवान् अपने अधिकार अनुसार अथवा अपनी अनुभूतिसे विरह-दुखके सम्बन्धमें कह रहें हैं, तथापि उनके द्वारा विरह-आर्त्तिका वर्णन भक्तोंसे सम्बन्धित ही समझना चाहिए, क्योंकि भक्तोंमें ही सदैव विरह आदि उदित होता है। तथापि यह मन्तव्य गोपियोंके अलावा अन्य भक्तोंसे सम्बन्धित ही जानना चाहिए, क्योंकि गोपियोंकी विरह-आर्त्ति तो कभी भी शान्त नहीं होती, यहाँ तक कि संग होने पर भी भावी विरहकी आशंकासे उनमें दुःख उपस्थित होता है। यदि प्रश्न हो कि गोपियाँ तो कभी भी भगवान्‌के विरह-तापकी इच्छा नहीं करतीं, क्योंकि विरह-तापकी दशामें वे करोड़ों दावानलोंकी तुलनामें अधिक तापका अनुभव करती हैं। यथा, दशम-स्कन्धमें श्रीउद्धवके प्रति गोपियोंकी उक्ति है—"हे प्रभो! इन सब नदियों, पर्वतों, वन प्रदेशों

तथा गायों और वेणुध्वनिने श्रीबलदेव सहित श्रीकृष्णकी सेवाकी है। अहो! श्रीनन्दनन्दनके श्रीनिकेतन-पदचिह्नों द्वारा यह सब नदियाँ, पर्वत और वन आदि बार-बार हमें उनका स्मरण करा देते हैं, इसलिए हम उनको भूलनेमें समर्थ नहीं हो पा रही हैं।" तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके स्मरणसे ही गोपियोंकी विरह-आर्त्ति वर्द्धित होती है, इसलिए वे श्रीकृष्णको भूलनेकी इच्छा करतीं हैं। यद्यपि श्रीकृष्णकी विस्मृतिसे उन्हें दुःख नहीं होता, परन्तु वे कदापि श्रीकृष्णको विस्मरण भी नहीं कर पाती हैं।

पुनः यदि कहो कि वे विरह-तापकी इच्छा ही क्यों करती हैं? इसके उत्तरमें कह रहें हैं कि उनमें सदैव अत्यधिक वेगसे विरह-दुःख उदित होता है, जिसके कारण उन्हें सर्वाधिक सुखकी अनुभूति होती है—ऐसा सिद्ध है। अतएव विरहानल भी उनके लिए उक्त व्याख्याके अनुसार सुख स्वरूप है। इस प्रकार अनन्त भक्तों अथवा श्रीकृष्णके प्रियतमजनोंमें गोपियोंका ही अधिक माहात्म्य प्रमाणित होता है। हमने पहले यह भी कहा है कि जिनके मतसे यह विरह-दुःख रुचिकर नहीं होता, वे भी प्रिय व्यक्तिका स्मरण करानेके कारण इस विषयको परम उपकारी ही समझते हैं। अतएव उनके सम्बन्धमें भी ऐसा ही मन्तव्य करना होगा॥१२८॥

कथञ्चन स्मारणमेव तेषा,-मवेहि तज्जीवनदानमेव।
तेषां यतो विस्मरणं कदाचित्, प्राणाधिकानां मरणाच्च निन्द्यम्॥१२९॥

श्लोकानुवाद—किसी भी प्रकारसे प्रियतमके स्मरणको प्रेमी भक्तोंके लिए जीवन-दान समझना चाहिए, क्योंकि प्राणसे भी अधिक प्रिय व्यक्तिका यदि कभी विस्मरण हो जाये, तो वह मरनेसे भी अधिक निन्दनीय है॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां बोधयति—कथमिति। तेषां प्रियजनानां केनापि प्रकारेण स्मारणमेव यत्, तज्जीवनस्य दानमेवेत्यवेहि जानीहि। यतो यस्माद्धेतोः प्राणेभोऽप्यधिकानां तेषां प्रियजनानां कदाचिदपि विस्मरणं मरणादपि निन्द्यं धिक्कारास्पदम्, मरणाधिकतरदुःखदोषावहत्वात्। यद्वा, मरणमेव वरं, न तु तेषां विस्मरणं परमनिन्दा-स्पदत्वादित्यर्थः॥१२९॥

भावानुवाद—प्रियजनोंका स्मरण परम उपकारक है, इसे अन्वय और व्यतिरेकरूपसे समझानेके लिए 'कथम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। किसी भी प्रकारसे प्रिय व्यक्तिके स्मरणको जीवन-दान समझना चाहिए, क्योंकि प्राणोंसे भी अधिक प्रिय व्यक्तिका कभी भी विस्मरण होना मरनेसे भी अधिक निन्दनीय और धिक्कार योग्य है। अतएव प्रिय व्यक्तिका विस्मरण मरनेसे भी अधिक दोषपूर्ण है। अथवा प्रिय व्यक्तिका विस्मरण होनेसे तो मर जाना ही अच्छा है, क्योंकि प्रिय व्यक्तियोंका विस्मरण अत्यधिक निन्दनीय है॥१२९॥

न सम्भवेदस्मरणं कदापि, स्वजीवनानां यदपि प्रियाणाम्।
तथापि केनापि विशेषणेन, स्मृतिः प्रहर्षाय यथा सुजीवितम्॥१३०॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि अपने प्राणोंके समान प्रिय व्यक्तिका कभी भी विस्मरण सम्भव नहीं होता, तथापि किसी प्रकारसे यदि उनका विशेष स्मरण हो, तो वह जीवनदानके समान अत्यधिक आनन्दप्रद होता है॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु एवं तेषां क्षणमात्रमपि विस्मरणासम्भवात् सदैव स्मर्यमाणानां तेषां स्मरणेन क इवोपकारः स्यात्? सत्यम्, परममनोहरप्रकारविशेषेण-स्मारणात् तादृगेवोपकारः स्यादित्याह—नेति। स्वजीवनानां स्वकीयजीवनरूपाणामिति; यथा निजजीवनस्य कदापि विस्मृतिर्न घटते, तथा प्रियजनानामपीत्यर्थः। अतो यदपि यद्यपि कदाचिदपि अस्मरणं स्मरणाभावो न सम्भवेत्। विशेषेण वैशिष्ट्येन कृत्वा स्मृतिः प्रकृष्टहर्षाय परमसुखाय भवति। तत्र दृष्टान्तः—सुजीवितं नित्यविचित्रमहोत्सवेन जीवनं यथा प्रहर्षाय भवति, तथेति। तत्र यथा महोत्सवादिसुखरहितं केवलं जीवनमात्रं प्रहर्षाय न भवति, प्रत्युत दारिद्र्यादिदुःखेन परमशोकायैव, तथा प्रेम्णा विना प्रियजनस्मरणमपीति दृष्टान्तेनानेन ध्वनितम्॥१३०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकार यदि प्रिय व्यक्तिका क्षणमात्रके लिए भी विस्मरण असम्भव होता है, तो फिर जो स्वयं ही सदैव स्मरणीय है, उनके स्मरण द्वारा और अधिक क्या उपकार होगा? यह सत्य है कि केवल स्मरणमात्रसे उपकार नहीं होता, किन्तु परम मनोहर रूपमें जो स्मरण होता है, उससे ही वैसा उपकार होता है, इसे 'न सम्भवेत' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। अपने

जीवनस्वरूप प्रिय व्यक्तिका विस्मरण कदापि सम्भव नहीं है, अर्थात् अपने प्राणोंका विस्मरण जैसे कभी सम्भव नहीं है, उसी प्रकार प्रिय व्यक्तिका भी विस्मरण सम्भव नहीं है। यद्यपि प्रिय व्यक्तिके स्मरणका अभाव कभी भी नहीं होता, स्मृति सदैव वर्त्तमान रहती है, तथापि उनकी विशेष स्मृति ही उत्कृष्ट जीवनके समान परमसुख प्रदान करती है। इस विषयमें दृष्टान्त इस प्रकार है—संजीवित अर्थात् नित्यप्रति विचित्र महोत्सवमय जीवन ही वास्तवमें आनन्दका कारण होता है, किन्तु महोत्सवरूपी सुखोंसे रहित केवल जीवनधारण करने मात्रसे ही सम्पूर्णरूपमें आनन्द प्राप्त नहीं होता, बल्कि दरिद्रता आदि दुःखों द्वारा जीवन परम शोकका कारण ही बन जाता है। उसी प्रकार प्रेमके बिना प्रिय व्यक्तिके स्मरणसे भी सुख प्राप्त नहीं होता। अर्थात् प्रेमकी विचित्र परिपक्व अवस्थामें जो स्मरण होता है, वही उत्कृष्ट जीवनके समान आनन्द प्रदान करता है॥१३०॥

इत्येवमुपकारोऽद्य भवताकारि मे महान्।
तत्तेऽस्मि परमप्रीतो निजाभीष्टान् वरान् शृणु॥१३१॥

श्लोकानुवाद—हे देवर्षि! इस प्रकार आपने मेरा बहुत उपकार किया है, मैं आपके प्रति अत्यधिक प्रसन्न हूँ, अतः आप अपने अभीष्ट वरको मांग लीजिए॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—भवता चाद्य परमोत्तमप्रकारेण श्रीगोपिकानां स्मरणं मे कारितमिति परमहितमेव कृतमित्युपसंहरन्नाह—इतीति। अनेनोक्तप्रकारेण; तत् तस्मात्ते त्वां प्रति अहं परमप्रीतोऽस्मि॥१३१॥

भावानुवाद—हे श्रीनारद! आपने अति उत्तम रूपसे गोपियोंका स्मरण कराकर मेरा परम उपकार किया है। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि मैं आपके प्रति अत्यधिक प्रसन्न हूँ, आप अपना अभीष्ट वर माँगें॥१३१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

मुनिर्जय जयोद्घोषैः सवीणागीतमैड़त।
व्रजक्रीड़ोत्थनामाढ्यैः कीर्त्तनैश्च वरप्रदम्॥१३२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित महाराजने कहा, ऐसा सुनकर श्रीनारदमुनि 'जय जय' ध्वनि करने लगे तथा वीणा वादन करते हुए वर प्रदान करनेवाले श्रीकृष्णके व्रजलीलासे प्रकटित नामोंका कीर्त्तन करते हुए उनकी स्तुति करने लगे॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च दुर्लभतराणामात्महृद्यानां परमवराणां संप्राप्तये प्रथममस्तौदित्याह—मुनिरिति। जय जयेतिरूपैरुद्घोषैरुच्चतरशब्दैः कृत्वा; वीणागीतेन सहितं यथा स्यात्, कीर्त्तनैश्च कृत्वा ऐड़त अस्तौत्। कथम्भूतैः? व्रजे या भगवतः क्रीड़ास्ताभ्य उत्थानि प्रादुर्भूतानि यानि नामानि श्रीगोकुलमहोत्सव-श्रीयशोदानन्दन-श्रीनन्दकुमारगोप गोपीजनप्रिय-श्रीगोपीगणमनोहर-पूतनामोचनेत्यादीनि तैराढ्यैः समृद्धैः, वरान् प्रकर्षेण ददातीति तथा तं श्रीभगवन्तम्॥१३२॥

भावानुवाद—तब श्रीनारद परम दुर्लभ और अपने अभिलषित श्रेष्ठ वरोंकी प्राप्तिके लिए सर्वप्रथम भगवान्का स्तव करने लगे। किस प्रकार स्तव किया? उच्च स्वरसे 'जय जय' ध्वनिपूर्वक वीणा बजाते हुए भगवान्की व्रज-सम्बन्धी लीलाओंसे प्रकटित नामोंका पुनः-पुनः कीर्त्तन करने लगे। जैसे, हे गोकुलके महोत्सव! हे श्रीयशोदानन्दन! हे श्रीनन्दनन्दन! हे गोप-गोपीजन प्रिय! हे श्रीगोपीजन-मनोहर! हे पूतनामोचन! इत्यादि नामोंके कीर्त्तन द्वारा वर प्रदाता श्रीभगवान्का स्तव करने लगे॥१३२॥

स्वयं प्रयागस्य दशाश्वमेध, तीर्थादिके द्वारवतीपरान्ते।
सम्भाषितानां विषये भ्रमित्वा, पूर्णार्थतां श्रीमदनुग्रहेण॥१३३॥
विप्रादीनां श्रोतुकामो मुनीन्द्रो, हर्षात् कृष्णस्याननादेव साक्षात्।
एवं मातः प्रार्थयामास हृद्यं, तस्मिन् रम्योदारसिंहे वरं प्राक्॥१३४॥

श्लोकानुवाद—हे माता! मुनिश्रेष्ठने प्रयागके दशाश्वमेध तीर्थसे द्वारकापुरी तक स्वयं भ्रमण करके विप्र आदि जिन-जिन भक्तोंसे वार्त्तालाप किया था, उन सभीने भगवान्की कृपासे अपने-अपने अभीष्टको प्राप्त किया है। ऐसा जानते हुए भी श्रीनारद हर्षपूर्वक साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे श्रवण करनेके लिए उदारोंमें सर्वश्रेष्ठ उन भगवान्से अपने प्रथम अभीष्ट वरकी प्रार्थना करने लगे॥१३३-१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्राग्रे भगवदनुग्रहादौ तृप्त्यभावस्य प्रार्थ्यत्वे प्रथममेव हेतुमाह—स्वयमिति द्वाभ्याम्। प्रयागस्य दशाश्वमेधनाम तीर्थं तदादिर्यस्य। द्वारावती च परान्तः पर्यन्तो यस्य तस्मिन् विषये स्थाने स्वयं नारदेन भ्रमित्वा सम्भाषितानां विप्रादीनां दशाश्वमेधे विप्रभोजनार्थमागतस्तद्देशाधिकारी भगवत्पूजारतो यो विप्रः प्रथमं नारदेन दृष्ट्वा सम्भाषितस्तदादीनाम्; आदिशब्देन दाक्षिणात्यमहाराजमारभ्य श्रीमदुद्धवान्तास्तेन सम्भाषिताः सर्वे ग्राह्याः। श्रीमतो भगवतः, यद्वा, श्रीकृष्णस्येत्यग्रे वर्त्तत एव प्रकरणबलादपि प्राप्तं स्यादेव। ततश्च श्रीमान् परमोज्ज्वलो योऽनुग्रहस्तेन हेतुना या पूर्णार्थता पूर्णा समस्ता अर्था धर्मार्थकाममोक्षभजनादयो येषां तद्भावस्तत्ता तां, यद्यपि स्वयं जानात्येव तथापि हर्षाद्धेतोः श्रीकृष्णस्य श्रीमुखादेव साक्षाच्छ्रोतुकामः प्राक् आदौ एवं वक्ष्यमाणं वरं, हे मातस्तस्मिन् श्रीकृष्णे प्रार्थयामासेत्यन्वयः। हृद्यं प्रियं चिरं हृदि वर्त्तमानमिति वा; रम्येषु परमोत्तमेषु उदारेषु वदान्येषु मध्ये सिंहे श्रेष्ठतमे; अतएव तथा प्रार्थनं तत्फलसुसिद्धिश्चेति भावः॥१३३–१३४॥

भावानुवाद—'भगवान्‌की कृपासे कभी भी किसीकी तृप्ति न हो', श्रीनारद द्वारा यह प्रथम वर माँगनेके कारणको 'स्वयं' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतलाया जा रहा है। प्रयागमें दशाश्वमेध नामक तीर्थसे द्वारकापुरी तक श्रीनारदने स्वयं भ्रमण करके विप्र आदि जिन-जिन भक्तोंके साथ वार्त्तालाप किया था, वास्तवमें उन सभीने श्रीकृष्णकी परमोज्ज्वल कृपासे अपने अभीष्टको परिपूर्णरूपसे प्राप्त किया था। अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भजनानन्द आदि समस्त अर्थोंको प्राप्त किया था, अर्थात् उनको किसी प्रकारका अभाव नहीं था। यहाँपर जिन-जिन भक्तों कहनेसे दशाश्वमेध तीर्थमें ब्राह्मणोंको भोजन करानेके लिए उपस्थित हुए उस देशके अधिकारी तथा भगवान्‌की पूजामें रत जिस विप्रका श्रीनारदने सर्वप्रथम दर्शन किया था, उन्हीं विप्र आदि भक्तोंको समझना होगा। यहाँ पर 'आदि' शब्दसे दक्षिणके महाराजसे प्रारम्भ करके द्वारकामें श्रीउद्धव तक सभी भक्तोंको ही ग्रहण करना होगा, क्योंकि वे सभी श्रीमद्भगवान्‌के भक्त हैं। अथवा 'श्रीमद्' पद द्वारा प्रसङ्गवशतः भगवान् श्रीकृष्णको ही समझना चाहिए।

यद्यपि श्रीनारद स्वयं उन सब भक्तों पर हुई भगवानकी कृपाके विषयमें जानते थे, तथापि हर्षपूर्वक साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे श्रवण करनेके लिए उन्होंने श्रीकृष्णसे सर्वप्रथम अपने प्रिय वरकी प्रार्थना

की। हे माता! इस प्रकार श्रीनारदने महावदान्य (उदारोंमें श्रेष्ठ) श्रीभगवान्से आगे कहे जानेवाले तथा चिरकालसे हृदयमें वर्त्तमान अपने अभीष्ट उस परमोत्कृष्ट वरकी प्रार्थना की। भगवान् महावदान्य हैं, उनसेकी गयी प्रार्थना कभी भी विफल नहीं होती अर्थात् प्रार्थनाका फल निश्चय ही प्राप्त होता है॥१३३-१३४॥

श्रीकृष्णचन्द्र कस्यापि तृप्तिरस्तु कदापि न।
भवतोऽनुग्रहे भक्तौ प्रेम्णि चानन्दभाजने॥१३५॥

श्लोकानुवाद—हे श्रीकृष्णचन्द्र! मैं यह वर माँगता हूँ कि आनन्दस्वरूप आपके अनुग्रह (कृपा), भक्ति और प्रेमसे कभी भी किसीकी तृप्ति न हो॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—भवदनुग्रहादौ कस्यापि जनस्य कदाचिदपि तृप्तिरलंबुद्धिर्मास्तु मा भवत्विति प्रार्थनम्। यावान् तावान् परमकाष्ठाप्राप्तोऽपि भवदनुग्रहादिर्भवतु, तथाप्येतावतैव परिपूर्त्तिर्जातेति मतिर्माभूदित्यर्थः। तत्र च यद्यप्यनुग्रहाद् भक्तिः, ततः प्रेमा स्यादित्यतः समुच्चयो न घटते, तथापि कञ्चित् प्रति कश्चिदनुग्रहः स्यात्; कस्यापि च काचिद्भक्तिर्जायत इत्यभिप्रायेण तथोक्तम्। कुतः? आनन्दस्य भाजने आस्पदे; एतच्चानुग्रहादीनां त्रयाणामेव विशेषणं ज्ञेयम्। अतः केवलज्ञाननिष्ठानाम्–आत्मारामाणां स्वरूपानुभवतुच्छसुखे तृप्तिरिव भवदनुग्रहादावपि भक्तानां कथञ्चिदपि तृप्तिर्नैव युक्तेति भावः; अन्यथा तत्तदानन्दविशेषानुभवस्यैवासिद्धेरिति दिक्॥१३५॥

भावानुवाद—आपके अनुग्रहसे, आपकी भक्तिसे और आपके प्रति प्रेमसे कभी भी किसीकी तृप्ति न हो, यही मेरा प्रार्थित वर है। अर्थात् आपका अनुग्रह आदि जहाँ तक अपनी चरमसीमाको प्राप्तकर सके, वहाँ तक उन्हें प्राप्त करने पर भी, 'मैंने सम्पूर्णरूपसे भगवान्की कृपा, भक्ति आदिको प्राप्तकर लिया है' ऐसी बुद्धि कभी भी किसीकी न हो। यद्यपि भगवान्के अनुग्रहसे भक्ति और भक्तिसे ही प्रेमका उदय होता है तथा यही क्रम है; तीनों एक साथ उदित नहीं होते हैं, तथापि कभी किसी भक्तके प्रति कुछ अनुग्रहका और कभी किसी भक्तके प्रति कुछ भक्तिका विकास देखा जाता है। इसी अभिप्रायसे अनुग्रह, भक्ति और प्रेमको पृथक्-पृथक् कहा गया है। यदि प्रश्न हो कि इन तीनोंका आधार या स्वरूप क्या है? इसके उत्तरमें कह रहे

हैं कि आनन्दरूप आधार होनेके कारण अनुग्रह, भक्ति और प्रेम ये तीनों आनन्दस्वरूप भगवान्‌के ही विशेषण हैं। अतएव केवल ज्ञान-निष्ठ आत्माराम व्यक्तियोंकी स्वरूपानुभूतिके तुच्छ सुखकी तृप्ति तो हो सकती है, परन्तु भगवान्‌के अनुग्रह आदिको प्राप्त करनेवाले भक्तोंको उन अनुग्रह आदिसे तनिक भी तृप्ति नहीं होती। अन्यथा भगवान्‌के अनुग्रह, भक्ति और प्रेमानन्दके अनुभवका वैशिष्ट्य स्थापित नहीं होता॥१३५॥

श्रीभगवानुवाच—

विदग्धनिकराचार्य को नामायं वरो मतः।
स्वभावो मत्कृपाभक्तिप्रेम्णां व्यक्तौऽयमेव यत्॥१३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे विदग्धचूड़ामणि श्रीनारद! आपने यह क्या वर माँगा? मेरी कृपा, भक्ति और प्रेमका तो ऐसा स्वभाव ही है और इसे सभी जानते हैं॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे विदग्धनिकराणामाचार्य गुरो! इत्युपहासः, स्वभावसिद्धत्वेन वरस्य वैयर्थ्यापत्तेः। यद्वा, सर्वं स्वयं जानतापि, तथा साक्षात् सम्प्रत्येव तत्तत्त्वमनुभवतापि तादृशवरप्रार्थनं केवलं वैदग्धीविशेषात् केनाप्यभिप्रायेणेति तत्त्वत एव तथा सम्बोधनम्। स च पूर्वमेवोद्दिष्टः साक्षात् श्रीकृष्णाननादेव श्रोतुकाम इत्यनेन। यद्‌यस्मात् तत् कृपादीनामयमेव व्यक्तः स्फुटः प्रसिद्धो वा स्वभावः प्रकृतिः॥१३६॥

भावानुवाद—हे विदग्धजनोंके आचार्य! (यह सम्बोधन उपहासपूर्वक किया गया है) भक्तिमें कभी भी किसीको तृप्ति नहीं होती, यह भक्तिका स्वाभाविक धर्म है, अतः आपके द्वारा उक्त वरकी प्रार्थना व्यर्थ है। अथवा श्रीनारद स्वयं सब कुछ जानने पर भी तथा अब साक्षात्‌रूपसे उसका तत्त्व अनुभव करके भी ऐसे वरकी प्रार्थना केवल विदग्धताके कारण किसी निगूढ़ अभिप्रायकी सिद्धिके लिए कर रहे हैं, इसलिए यथार्थतः श्रीकृष्णने उन्हें इस प्रकारसे सम्बोधन किया है। वह अभिप्राय पहलेसे ही उद्दिष्ट होने पर भी अर्थात् भगवान्‌की कृपा आदिका ऐसा स्वभाव पहलेसे ही प्रसिद्ध होने पर भी, अब साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे श्रवण करनेके लिए ही श्रीनारदने ऐसी चतुरता की है॥१३६॥

प्रयागतीर्थमारभ्य भ्रामं भ्राममितस्ततः।
अत्रागत्य च ये दृष्टाः श्रुताश्च भवता मुने॥१३७॥
सर्वे समस्तसर्वार्था जगन्निस्तारकाश्च ते।
मत्कृपाविषयाः किञ्चित् तारतम्यं श्रिताः परम्॥१३८॥

श्लोकानुवाद—हे मुनिवर! आपने प्रयागतीर्थसे लेकर यहाँ तक भ्रमण करते-करते जिन-जिन भक्तोंके विषयमें श्रवण किया और जिनका दर्शन किया, वे सभी मेरे कृपापात्र होनेके कारण कृत-कृतार्थ हैं तथा वे जगतका निस्तार करनेवाले बन गये हैं। फिर भी उन सबमें कुछ तारतम्य (न्यूनाधिकता) है॥१३७-१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतच्च सम्प्रति त्वयैवानुभूतमस्तीत्याह—प्रयागेति सार्धद्वयेन। इतस्ततः ब्रह्माण्डमध्ये तद्बहिश्च। अत्र द्वारकायाम्; ये च श्रुताः श्रीवैकुण्ठवासिनः श्रीनन्दव्रजजनाश्च॥१३७॥

ते सर्वे जगन्निस्तारकाश्चेति परानपि परिपूर्णसर्वार्थान् कर्त्तुं समर्था इत्यर्थः। यतो मम कृपाया विषया आश्रयाः। नन्वेवं चेत्तर्हि तेषां सर्वेषामप्येकरूपता अभविष्यत्। यया च बहुधा भेदो दृष्टः। सत्यं भक्तिस्वभावादित्याह—परं केवलं किञ्चित् स्वल्पं तारतम्यं न्यूनाधिकभावं श्रिताः प्राप्ताः; पूर्वपूर्वेभ्य उत्तरोत्तराः श्रेष्ठा इत्यर्थः। एवं सर्वतः श्रैष्ठ्यं परमभगवतीषु श्रीराधादिषु पर्यवसितं ज्ञेयम्। तारतम्ये सत्यपि स्वस्वरसजातीयसुखपरमकाष्ठासम्पत्त्या सर्वेषामेव तेषां परिपूर्णार्थता सिध्यत्येवेत्यग्रे श्रीगोलोकमाहात्म्ये विस्तारेण व्यक्तं भावि॥१३८॥

भावानुवाद—अभी आपने स्वयं ही मेरी कृपा, भक्ति और प्रेमके स्वभावका साक्षात् अनुभव किया है, इसे 'प्रयाग' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें कह रहे हैं। आपने प्रयाग तीर्थसे लेकर ब्रह्माण्डके भीतर और बाहर अनेक स्थानों पर भ्रमण करते-करते तथा अन्तमें इस द्वारकामें आकर जिन-जिन भक्तोंका दर्शन किया है तथा जिन वैकुण्ठवासी और व्रजवासियोंकी कथा श्रवण की है, उन सबको परिपूर्णमात्रामें अपने-अपने अभीष्टकी प्राप्ति हुई है, इसलिए वे जगतका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। इसका कारण है कि वे सभी मेरी कृपाके पात्र हैं।

यदि प्रश्न हो कि तब तो वे सभी एक समान होने चाहिए, किन्तु मैंने तो उनमें अनेक प्रकारके भेद देखें हैं। इसके उत्तरमें भगवान्‌ने

कहा कि, यह सत्य है, किन्तु भक्तिके स्वभावमें भेदके कारण उनमें भी केवल किञ्चित् तारतम्य है। अर्थात् वे सभी मेरे कृपापात्र हैं, तथापि उनमें किञ्चित् न्यूनाधिक भाव दिखाई देता है और यह भाव भी पूर्व-पूर्वके क्रमसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। अर्थात् आपने प्रयाग तीर्थसे आरम्भ करके द्वारका तक भ्रमण करके जिन-जिन भक्तोंसे वार्त्तालाप किया है, उनमें क्रमानुसार पहले भक्तकी तुलनामें बादवाला भक्त अधिक श्रेष्ठ है। अतएव इस विचारके अनुसार परम भगवती श्रीराधिका आदि गोपियाँ भक्ति-तत्त्वकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हैं, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकारका तारतम्य होने पर भी अपने-अपने रससे उत्पन्न सुखकी चरमसीमारूप सम्पत्तिमें उन सभीकी परिपूर्ण अभीष्ट प्राप्ति प्रमाणित हो रही है। इस विषयकी विस्तारपूर्वक व्याख्या श्रीगोलोक-माहात्म्यमें होगी॥१३७-१३८॥

तथापि तेषामेकोऽपि न तृप्यति कथञ्चन।
तद्गृहाण वरानन्यान्मत्तोऽभीष्टतरान् वरान्॥१३९॥

श्लोकानुवाद—तथापि उनमेंसे कोई एक भक्त भी किसी भी प्रकारसे तृप्त नहीं हुआ, अतएव आप मुझसे अन्य कोई अभीष्ट वर माँग लीजिए॥१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एकोऽपि कश्चिदपि कथञ्चनेति सपरिकरमदीय-परमानुग्रहादिप्राप्त्यापीत्यर्थः। न तृप्यतीति सर्वैरेव तैरात्मनोऽसौभाग्यादिवर्णनेन न्यूनतास्थापनात्। तत्तस्मात् वरान् श्रेष्ठान् वरान् वरणीयार्थान् तत्राप्यभीष्टतरान् निजप्रियतमान् मत्तो गृहाण॥१३९॥

भावानुवाद—इस प्रकारका तारतम्य होने पर भी उनमेंसे कोई एक भक्त भी किसी प्रकारसे तृप्त नहीं हुआ। अर्थात् परिकररूपमें मेरे परम अनुग्रह आदिको प्राप्त करने पर भी कोई किसी प्रकारसे तृप्त नहीं हुआ। इसलिए उन सबने अपने-अपने दुर्भाग्य आदिके वर्णन द्वारा अपनी न्यूनताको स्थापित किया है तथा अपनेसे श्रेष्ठ भक्तोंके सौभाग्यका वर्णन किया है। अतएव आप मुझसे अपने किसी अभीष्टतर वरकी प्रार्थना करें॥१३९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

नर्तित्वा नारदो हर्षाद्भैक्ष्यवत् सद्वरद्वयम्।
याचमानो जगादेदं तं वदान्यशिरोमणिम्॥१४०॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा—तब श्रीनारदने प्रसन्नता-पूर्वक नृत्य करते-करते महावदान्य (अर्थात् उदार दाताओंमें सर्वश्रेष्ठ) श्रीकृष्णसे भिक्षाकी भाँति दो उत्कृष्ट वरोंके लिए प्रार्थना की॥१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—हर्षश्च विप्रादीनां तेषां सर्वेषामपि परिपूर्णार्थतायाः भगवदनुग्रहादिषु स्वभावतो भक्तानामतृप्तेर्वा साक्षाच्छ्रीभगवन्मुखेन श्रवणात्। तस्माद्धेतोर्नर्तित्वा क्षणं नृत्यं कृत्वा। भैक्ष्यवदिति यथा वस्त्रादिकं प्रसार्याञ्जलिं बद्ध्वा वा भिक्षान्नादिकं प्रार्थ्यते तथैत्यर्थः। यद्वा, यथा निजजीवनरक्षार्थं भिक्षुभिः परमाग्रहेण तद्याच्यते तद्वदिति। सत् उत्कृष्टं वरद्वयं याचमानः याचिष्यमाणः इदं वक्ष्यमाणं स्वदानातृप्तेत्यादि सार्धपद्यं तं भगवन्तं प्रति प्राग् जगादेत्यर्थः। तच्च तादृशवरद्वयप्राप्तये भगवतः परमस्तुत्यर्थमिति ज्ञेयम्॥१४०॥

भावानुवाद—देवर्षि श्रीनारद साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे विप्र आदि भक्तोंके समस्त अभीष्टोंकी परिपूर्णता और उनके (भगवान्के) अनुग्रहसे स्वाभाविकरूपमें कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती, ऐसा श्रवणकर आनन्दसे नृत्य करने लगे। जिस प्रकार भिक्षुक वस्त्र आदि पसारकर भिक्षाकी प्रार्थना करता है, अथवा अपने जीवनकी रक्षाके लिए परम आग्रह सहित अन्न आदिकी प्रार्थना करता है, उसी प्रकार श्रीनारदने भी श्रीकृष्णसे दो उत्कृष्ट वरोंकी प्रार्थना करनेसे पहले आगे कहे जानेवाले 'स्वदानातृप्त' इत्यादि आधे श्लोकको कहा है। अतएव इसे उन दो वरोंकी प्राप्तिके लिए भगवान्की स्तुति समझना चाहिए॥१४०॥

श्रीनारद उवाच—

स्वदानातृप्त वृत्तोऽहमिदानीं सफलश्रमः।
त्वन्महाकरुणापात्रजनविज्ञानमाप्तवान्॥१४१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा, हे अपने-आपको दान देकर भी अतृप्त रहनेवाले भगवान्! आज मेरा सारा परिश्रम सफल हो गया

है, क्योंकि मैंने आपकी असीम करुणाके पात्रोंको विशेषरूपसे जान लिया है॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे स्वस्य दानेऽप्यतृप्त! सफलः साफल्यं प्राप्तः श्रमः अध्ययनादिप्रयासः प्रयागादितस्ततो भ्रमणायासो वा यस्य तथाभूतोऽहमिदानीमेव वृत्तः। यतः त्वदीयमहाकरुणायाः पात्राणां जनानां विज्ञानमहं प्राप्तवान्। ता भगवत्यो गोप्य एव त्वत्करुणासारचरमकाष्ठापात्रमिति सम्प्रत्येव साक्षाद-हमन्वभवमित्यर्थः॥१४१॥

भावानुवाद—हे अपनेको भी दान देकर अतृप्त रहनेवाले भगवान्! आज मेरे सारे मनोरथ सफल हुए हैं। अर्थात् आज मुझे अध्ययन आदिके प्रयासका अथवा प्रयाग आदि स्थानों पर भ्रमण करनेका फल प्राप्त हुआ है, क्योंकि मैंने आपकी महाकरुणाके पात्रोंको विशेषरूपसे जान लिया है। विशेषतः परम भगवती गोपियाँ ही आपकी करुणाके सारकी पात्री हैं अथवा चरमसीमामें आपकी कृपापात्र हैं, आज मैंने स्वयं ही साक्षात्‌रूपमें इसका अनुभव किया है॥१४१॥

अयमेव वरः प्राप्तोऽनुग्रहश्चोत्तमो मतः।
याचे तथाप्युदारेन्द्र हार्दं किञ्चिच्चिरन्तनम्॥१४२॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि यह अनुभव ही मेरे लिए श्रेष्ठ वरकी प्राप्ति है तथा यही मेरे प्रति आपका सर्वोत्तम अनुग्रह प्रतीत होता है, तथापि हे उदारश्रेष्ठ! बहुत समयसे मेरे हृदयमें कुछ और भी प्रार्थना करनेकी इच्छा है॥१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अयं तद्विज्ञानप्राप्तिरूप एव वरः प्राप्तो मया। अयमेव भवतोऽनुग्रहश्च उत्तमः श्रेष्ठो मतः। यद्यप्येवं तथापि याचेऽहम्। तत्र हेतुः—भो उदाराणां वदान्यानामिन्द्रेति, अन्यथा भवतः सन्तोषो न स्यादिति भावः। यद्वा, तथापि चिरन्तनं हार्दं चिरकालप्रार्थणीयत्वेन यन्मम हृदि वर्त्तते तदित्यर्थः। ननु तत् परमदुर्लभतरमिति चेत्तत्राह—उदारेन्द्रेति। तव किञ्चिदप्यदेयं नास्तीति भावः॥१४२॥

भावानुवाद—यही मेरी वर-प्राप्ति है, अर्थात् आपकी असीम करुणा-सारकी पात्री गोपियोंके विशेष ज्ञानको मैंने प्राप्त कर लिया है, अतएव यही मेरे लिए आपका उत्कृष्ट अनुग्रह है। यद्यपि इस

प्रकार मुझे वरकी प्राप्ति हो गयी है, तथापि मैं आपसे कुछ माँग रहा हूँ। इसका कारण है कि आप उदार शिरोमणि हैं, इसलिए आपसे वर नहीं माँगने पर आप प्रसन्न नहीं होंगे। अथवा मेरे हृदयमें चिरकालसे कुछ और वर प्राप्त करनेकी अभिलाषा है, आज मैं वही प्रार्थना कर रहा हूँ। यदि भगवान्‌को श्रीनारद द्वारा की गयी प्रार्थनाके अति दुर्लभ होनेकी शंका हो, तो इसके लिए श्रीनारद कह रहे हैं—आप उदारोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव आपके लिए ऐसा कुछ भी नहीं है जो आप नहीं दे सकते॥१४२॥

पायं पायं व्रजजनगणप्रेमवापीमराल,
श्रीमन्नामामृतमविरतं गोकुलाब्ध्युत्थितं ते।
तत्तद्वेशाचरितनिकरोज्जृम्भितं मिष्टमिष्टं,
सर्वाल्लोंकान् जगति रमयन् मत्तचेष्टो भ्रमाणि॥१४३॥

श्लोकानुवाद—हे व्रजवासियोंके प्रेमरूप सरोवरमें विचरण करनेवाले राजहंस! मैं गोकुलरूपी क्षीरसागरसे उत्पन्न परम अनिर्वचनीय गोपवेश और लीला आदि द्वारा प्रकाशित आपके मधुरसे भी सुमधुर नाम-अमृतका निरन्तर पान करते-करते उन्मत्त होकर सम्पूर्ण जगतको आनन्दित करते हुए सर्वत्र विचरण करूँ। (यही मेरा प्रथम वर है।)॥१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्तुत्वा तथैव प्रार्थयति—पायं पायमिति द्वाभ्याम्। भो व्रजजनगणस्य प्रेमवापीषु मराल! राजहंसतुल्य! सदा सुखविहारिन्नित्यर्थः। अतएव गोकुलरूपादब्धेः क्षीरसमुद्रादुत्थितमाविर्भूतं तव श्रीमत् सर्वशोभायुक्तं नामामृतम् अविरतं पायं पायं पीत्वा पीत्वा सर्वान् लोकान् रमयन्, त्वत्कीर्त्तनादिरससञ्चारणेन हर्षयन् मत्तानामिव चेष्टा सततप्रेमभराविर्भावेन युगपद्धासरोदनार्त्तनादनर्त्तनादिरूपा यस्य तथाभूतः। यद्वा, मत्तचेष्टो विस्मृतदेहदैहिकः सन्नित्यर्थः। जगति भ्रमाणि सर्वत्र सञ्चराणि, प्रार्थनायां पञ्चमी, इत्येको वरः। कीदृशं तत्? मिष्टेभ्यः श्रीविष्णु-श्रीनारायण-नरसिंह-रामचन्द्रमथुरानाथयादवेन्द्रेत्यादिभ्योऽपि मिष्टम्। कुतः? तेषां तेषां परमानिर्वचनीयानां वेशानां भूषणानाम आचरितानाञ्च कर्मणां निकरैर्देव-स्थानीयैरुज्जृम्भितं प्रकाशितम्। तत्र वेशोज्जृम्भितं शिखिपिञ्छमौलिगुञ्जावतंस-कदम्बभूषणेत्यादि, आचरितोज्जृम्भितञ्च पूतनाप्राणपानशकटभञ्जनेत्यादि; तथा श्रीनन्दनन्दनयशोदावत्सल-श्रीगोपिकामनोहर-व्रजजनानन्देत्यादि च तत् समवेतत्वात् ग्राह्यम्॥१४३॥

भावानुवाद—श्रीनारद इस प्रकार स्तुतिपूर्वक दो वरोंके लिए प्रार्थना कर रहे हैं, जिसे 'पायं पायं' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। हे व्रजवासियोंके प्रेम-स्वरूप सरोवरमें विचरण करनेवाले राजहंस! अर्थात् राजहंस जैसे सरोवरमें सुखपूर्वक वास करता है, उसी प्रकार आप भी व्रजवासियोंके प्रेमरूप सरोवरमें सुखपूर्वक वास करते हैं। मैं गोकुलरूपी क्षीरसागरसे उत्पन्न समस्त प्रकारकी शोभासे युक्त आपके नामामृतका निरन्तर पान करते-करते, मदमत्त व्यक्तिकी भाँति चेष्टाशील होकर अर्थात् सर्वदा प्रेमानन्दके आविर्भावसे युगपत् हास्य-रोदन-आर्त्तनाद-नर्त्तन आदि चेष्टाओं द्वारा आपके नामोंके कीर्त्तनादिरूप रसको सञ्चारकर समस्त जगतको आनन्दित करते हुए सर्वत्र विचरण करूँ। अथवा मत्त व्यक्तिके समान चेष्टा कहनेका तात्पर्य यह है कि मत्त व्यक्ति जैसे देह-दैहिक चेष्टाओंको भूलकर जगतमें सर्वत्र भ्रमण करता है, मैं भी उसी प्रकार देह-दैहिक चेष्टाओंको भूलकर आपके नामामृतका निरन्तर पान करूँ। (यही मेरा पहला वर है।)

यदि कहो कि उन्मत्त करनेवाला भगवानका वह नामामृत कैसा है? आपके वह नाम मधुरसे भी सुमधुर हैं, जैसे श्रीविष्णु, श्रीनारायण, श्रीनरसिंह, श्रीरामचन्द्र, श्रीमथुरानाथ, श्रीयादवेन्द्र इत्यादि मधुर नाम हैं। यदि कहो कि इन सब नामोंसे भी श्रीगोकुलरूपी समुद्रसे उत्पन्न नाम सुमधुर क्यों हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि गोकुलमें परम अनिर्वचनीय वेश, भूषा और लीलाओं आदिके द्वारा प्रकाशित होने-वाले नाम स्वतः ही सुमधुर हैं। उनमेंसे वेशसम्बन्धित शिखिपिञ्छमौलि, गुञ्जावतंस, कदम्बभूषण आदि नाम हैं; चेष्टा द्वारा प्रकाशित पूतनाप्राणपान, शकटभञ्जन इत्यादि नाम हैं; तथा श्रीनन्दनन्दन, श्रीयशोदावत्सल, श्रीगोपिकामनोहर, श्रीव्रजजनानन्द इत्यादि नामोंको वेश, भूषा और लीला आदिसे युक्त नामोंके रूपमें ग्रहण करना चाहिए॥१४३॥

त्वदीयास्ताः क्रीड़ाः सकृदपि भुवो वापि वचसा,
हृदा श्रुत्याङ्गैर्वा स्पृशति कृतधीः कश्चिदपि यः।

स नित्यं श्रीगोपीकुचकलसकाश्मीरविलस-
त्त्वदीयाङ्घ्रिद्वन्द्वे कलयतुतरां प्रेमभजनम् ॥१४४॥

श्लोकानुवाद—जो कोई व्यक्ति विश्वासके साथ आपकी व्रजलीलाका अपने मुख द्वारा वर्णन करे, कान द्वारा श्रवण करे, हृदयमें धारण करे अथवा अन्य किसी भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग द्वारा एकबार भी आपकी उन लीलाओंको तथा आपकी लीला-स्थलियोंका स्पर्श करे, वह गोपियोंके कुचकुंकुम द्वारा सुशोभित आपके श्रीचरणकमलोंमें नित्य-प्रेमभक्तिको प्राप्त करे। (इस दूसरे वरके लिए मेरी प्रार्थना है)॥१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, ता व्रजभूमिसम्बन्धिनीः क्रीड़ाः, ता भुवः, श्रीवृन्दावनादिव्रजभूमीरपि वा। तत्स्पर्शनेनापि स्वत एव तत्तत्क्रीड़ाकीर्त्तनादिसुसिद्धेः, सर्वथा तासां श्रीकृष्णस्मारकस्वभावकत्वात्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा॰ १०/४७/४९)—*'सरिच्छैलवनोद्देशा'* इत्यादि। श्रुत्या श्रवणेन कर्णेनैकेनापीति वा। कृतधीर्निश्चितमतिः तत्र तत्र विश्वस्तः सन्नित्यर्थः। यः सकृदपि स्पृशति, कश्चिदपीति जात्याद्यपेक्षां निरस्यति। तत्र चाङ्गैः क्रीड़ास्पर्शनं नाम तत्तत्क्रीड़ाविज्ञापक श्रीभागवतमहापुराणादि स्पर्शनं ज्ञेयम्। वच आदिना भूस्पर्शनञ्च तत्कीर्त्तनादि; अङ्गैस्तत्स्पर्शनञ्च तत्रत्य रजःसम्पर्क इति दिक्। स जनः प्रेमभजनं सप्रेमभक्तिं नित्यं प्रत्यहं निश्चलं वा कलयतुतरां नितरां लभतामिति द्वितीयवरप्रार्थनम्। कस्मिन्? श्रीगोपीनां श्रीराधादीनां कुचा एव कलसा मङ्गलघटास्तेषां काश्मीरैः कुंकुमैर्विलसत् शोभमानं यत्त्वदीयमङ्घ्रिद्वन्द्वं तस्मिन्॥१४४॥

भावानुवाद—श्रीनारद कुछ और भी कह रहे हैं आपकी व्रज-सम्बन्धी क्रीड़ा तथा श्रीवृन्दावन आदि व्रजभूमिके स्पर्शसे स्वतः ही वहाँ हुई लीलाके कीर्त्तन आदिका साधन सफल हो जाता है, क्योंकि सर्वदा श्रीकृष्णका स्मरण कराना ही इस व्रजभूमिका स्वभाव है। यथा दशम-स्कन्धमें प्रमाण है—"ये नदियाँ, पर्वत, वन प्रदेश आदि बार-बार श्रीकृष्णका स्मरण करा देते हैं।" अतएव यदि कोई भी व्यक्ति दृढ़ निश्चय करके अर्थात् उन समस्त लीलाओं और लीला-स्थलियोंके माहात्म्यमें दृढ़ विश्वास करके वचनसे, नेत्रसे, कानसे अथवा अन्य किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग द्वारा एक बार भी आपकी उन-उन लीलाओं और लीला-स्थलियोंका स्पर्श करे, तो उसे निश्चय ही श्रीराधिका आदि गोपियोंके कुच-कलशरूप मङ्गलघटके कुंकुम द्वारा शोभायमान आपके श्रीचरणकमलोंमें नित्य प्रेमभक्ति प्राप्त हो—यह मेरा दूसरा वर

है। मूल श्लोकमें श्रीनारद द्वारा कथित 'कश्चिदपि' (कोई भी) पदका अर्थ है कि उक्त कृपाको प्राप्त करनेके लिए किसी जाति, आश्रम आदिसे सम्बन्धित होनेकी आवश्यकता नहीं है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग द्वारा लीलाको स्पर्श करनेका तात्पर्य है कि उन-उन लीलाओंके विज्ञापक श्रीमद्भागवत-महापुराण आदिका स्पर्श। वाक्य द्वारा स्पर्श करनेका तात्पर्य है व्रजभूमिसे सम्बन्धित महिमाका कीर्त्तन करना। अङ्ग द्वारा लीलास्थलियोंको स्पर्श करनेका अर्थ है व्रजरजके सम्पर्कमें आना, अर्थात् व्रजकी रजसे अपने अङ्गोंको स्पर्श करना॥१४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

ततः श्रीहस्तकमलं प्रसार्य परमादरात्।
एवमस्त्विति सानन्दं गोपीनाथेन भाषितम्॥१४५॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षितने कहा, तदुपरान्त श्रीगोपीनाथने परम आदर सहित अपने श्रीहस्तकमलको वर देनेकी मुद्रामें पसारकर आनन्द सहित कहा 'वैसा ही हो'॥१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीहस्तकमलं दक्षिणं प्रसार्येति ज्ञेयम्, तस्मै वरदरूपत्वात्। तत् प्रसारणञ्च नारदप्रार्थनाप्रकाराणुसारेण साक्षादिव तद्वरद्वयसमर्पणबोधनार्थम्। गोपीनाथेनेति तस्यैव तद्वरद्वयं परमहृद्यमिति सूचयति। अतएव आनन्देन सहितं यथा स्यात्तथा, भाषितमुक्तम्॥१४५॥

भावानुवाद—यहाँ पर श्रीहस्तकमलको पसारकर कहनेसे दक्षिण हाथको पसारना ही समझना चाहिए, क्योंकि दक्षिण हस्तकमल द्वारा ही वर प्रदान किया जाता है। अतएव श्रीनारदकी प्रार्थनाके अनुसार साक्षात्‌रूपसे दोनों वर प्रदान करनेके लिए श्रीगोपीनाथने अपने दक्षिण हस्तकमलको वर देनेकी मुद्रामें पसार दिया। उक्त दोनों वर परमहृद्य हैं अर्थात् श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुरूप हैं। अथवा गोपियाँ अपने प्रेमाधिक्य द्वारा जिस प्रकार श्रीकृष्णका भजन करती हैं, उनके उन्हीं भावोंके अनुसार श्रीकृष्णको प्राप्त करना। श्रीकृष्णको गोपियोंका वैसा प्रेमपूर्वक भजन अत्यन्त प्रीतिकर है, इसे सूचित करनेके लिए उन्हें 'गोपीनाथ' (गोपियोंके नाथ) नामसे सम्बोधित किया गया है। अतएव आनन्दपूर्वक 'वैसा ही हो' कहकर श्रीगोपीनाथने वर प्रदान किया॥१४५॥

ततो महापरानन्दार्णवे मग्नो मुनिर्भृशम्।
गायन्नृत्यन् बहुविधं कृष्णं चक्रे सुनिर्वृतम्॥१४६॥

श्लोकानुवाद—यह सुनकर श्रीनारदमुनि परमानन्दरूपी समुद्रमें निमग्न हो गये तथा बार-बार नृत्य और गान करते हुए श्रीकृष्णको अत्यधिक आनन्द प्रदान करने लगे॥१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तादृशभाषणात्, कृष्णं सदा घनानन्दपूर्णमपि सुनिर्वृतं परमसुखिनं चक्रे। अनेन तदीयकीर्त्तनादिभक्तिमहिमा दर्शितः॥१४६॥

भावानुवाद—श्रीनारद भगवान्‌के ऐसे वचनोंको सुनकर परमानन्दरूपी सागरमें निमग्न हो गये तथा अनेक प्रकारसे नृत्य-गीत आदि द्वारा उन्होंने सदा घनानन्दमें पूर्ण श्रीकृष्णको भी अत्यधिक प्रसन्न किया। इसके द्वारा कीर्त्तनादि रूप उनकी भक्ति-महिमाको दिखलाया गया है॥१४६॥

बुभुजे भगवद्भ्यां स परमान्नं सपानकम्।
देवकी-रोहिणीदृष्टं रुक्मिण्या परिवेषितम्॥१४७॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर श्रीनारदने श्रीकृष्ण और श्रीबलरामके सहित अनेक प्रकारके पेय और खीर आदिका भोजन किया। भोजनके समय श्रीरुक्मिणीदेवी उन समस्त द्रव्योंको माता श्रीदेवकी और श्रीरोहिणीको दिखा-दिखाकर परोसने लगीं॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगवद्भ्यां श्रीरामकृष्णाभ्यां सह; सः नारदः; पानकानि विविधपेयद्रव्याणि तत्सहितम्; परममुत्कृष्टमन्नं पायसादि; तदैव विशिनष्टि—देवकीति सार्धेन। देवकीरोहिणीभ्यां मातृभ्यां दृष्टं दृष्टं परीक्षितं सत् ततो रुक्मिण्या महिषीगणश्रेष्ठया परिवेषितं यथाक्रममल्पशो भोजनपात्रे समर्पितम्॥१४७॥

भावानुवाद—फिर श्रीकृष्ण और श्रीबलरामके साथ श्रीनारदने अनेक प्रकारके पेय द्रव्य तथा परम उत्कृष्ट अन्न अर्थात् खीर आदिका भोजन किया। इसे 'देवकी' इत्यादि डेढ़ श्लोकमें विशेषरूपसे कह रहे हैं। महिषियोंमें श्रेष्ठ श्रीरुक्मिणीदेवी माता श्रीदेवकी और श्रीरोहिणीको दिखा-दिखाकर उन द्रव्योंको परोस रही थीं और क्रमशः थोड़ा-थोड़ा करके भोजनपात्रमें डाल रही थीं॥१४७॥

उद्धवेन स्मार्यमाणं वीजितं सत्यभामया।
अन्याभिर्महिषीभिश्च रञ्जितं तत्तदीहया॥१४८॥

श्लोकानुवाद—उस समय श्रीउद्धव भोजनके एक-एक द्रव्यका स्मरण कराने लगे, श्रीसत्यभामादेवी पंखा झलने लगीं, श्रीजाम्बवती आदि महिषियाँ समयके अनुकूल चेष्टाओंके द्वारा उनको आनन्दित करने लगीं॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—'इदं न भूक्तमस्ति, इदन्तु तव प्रियं, तदिदं भुङ्क्ष्व, इदं भुङ्क्ष्व' इति स्मार्यमाणम्। सत्यभामया च परमप्रियतमया अत्युष्णतादि-शान्तये वीजितं प्रापितव्यजनवातं सत्। अन्याभिर्जाम्बवती-प्रभृतिभिः तया तया भोजने कर्त्तव्यया ईहया शीतलजलपूर्णभृङ्गार-समर्पण-भोग्यद्रव्यादिप्रशंसन-सर्वगात्रवीजनागुरु-धूपनादिचेष्टया रञ्जितं रागविषयीकृतम्॥१४८॥

भावानुवाद—"आपने यह नहीं पाया, यह आपका प्रिय है, इसे पाओ, इसे पाओ"—इस प्रकार श्रीउद्धव भोजनके सभी द्रव्योंका स्मरण कराने लगे। श्रीकृष्ण-प्रियतमा श्रीसत्यभामादेवी भोजनके द्रव्योंकी अत्यधिक उष्णताको दूर करनेके लिए पंखा झलने लगीं। श्रीजाम्बवती आदि महिषियाँ अपने-अपने कर्त्तव्यके अनुसार कोई शीतल जलसे भरे हुए भृङ्गार (झारी) समर्पण कर, कोई भोजनकी प्रशंसा कर, कोई सम्पूर्ण अङ्गोंमें बीजन कर, कोई अगरूके धुएँसे उस स्थानको सुगन्धित कर तथा अन्य-अन्य चेष्टाओं द्वारा भोजनमें उनके अनुरागकी वृद्धि करने लगीं॥१४८॥

आचान्तो लेपितो गन्धैर्मालाभिर्मण्डितो मुनिः।
अलङ्कारैर्बहुविधैरर्चितश्च मुरारिणा॥१४९॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार भोजनके उपरान्त आचमन करने पर श्रीकृष्णने स्वयं श्रीनारदके अंगोंमें चन्दनका लेप किया तथा माला आदि अनेक प्रकारके अलङ्कारों द्वारा विभूषित कर उनकी पूजा की॥१४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—आचान्तः कृताचमनः सन् अर्चितः सम्मानितः॥१४९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१४९॥

अथ प्रयागे गत्वा तान् मदपेक्षाविलम्बितान्।
मुनीन् कृतार्थयानीति समनुज्ञाप्य माधवम्॥१५०॥
स्वयं यद्भक्तिमाहात्म्यमनुभूतमितस्ततः।
सानन्दं वीणया गायन् स ययौ भक्तिलम्पटः॥१५१॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त भक्तिलम्पट श्रीनारदने प्रयागमें उनकी प्रतिक्षा कर रहे मुनियोंको कृतार्थ करनेके लिए श्रीमाधवकी आज्ञा प्राप्त की तथा इधर-उधर भ्रमण करते हुए जिस भक्तिके माहात्म्यको उन्होंने स्वयं अनुभव किया था, वीणाके साथ उसीका आनन्दपूर्वक गान करते-करते वहाँसे प्रस्थान किया॥१५०-१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथानन्तरं माधवं श्रीमधुवंश-समुद्रचन्द्रं भगवन्तं समनुज्ञाप्य सम्यक् तदीयाज्ञामादाय स मुनिर्ययौ; अर्थात् प्रयागमेवेति द्वाभ्यामन्वयः। किमर्थम्? प्रयागे मदपेक्षया विलम्बितान् कृतविलम्बान् तान् माघे कृतप्रातर्वेणीस्नानान् मुनीन् गत्वा कृतार्थयानि परिपूर्णार्थान् करवाणीत्येतदर्थं समनुज्ञाप्य, विना भगवदाज्ञया तेषां तत्तद्रहस्यप्रकाशनेन तादृक्त्वापादनस्यायोग्यत्वात्। माधवमित्यनेन श्रीमाधवाधिष्ठित-प्रयागसेविनोऽपि ते तस्यैवाश्रिता इति सूच्यते। किं कुर्वन्? इतस्ततः प्रयागादौ द्वारकान्ते स्थाने स्वयं नारदेन यदनुभूतं तत् सानन्दं गायन्, यतो भगवद्भक्ति-रसिकः॥१५०-१५१॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीमाधवसे अर्थात् मधुवंशरूपी समुद्रके चन्द्रस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर मुनिवर श्रीनारद प्रयागकी ओर चल दिए। यही 'अथ प्रयागे' इत्यादि दो श्लोकोंमें अन्वय हुआ है। देवर्षि किसलिए प्रयाग गये? प्रयागमें बहुत देरसे उनकी प्रतीक्षा करते हुए अर्थात् माघमासमें त्रिवेणी सङ्गम पर प्रातःस्नान करके जो सब मुनि बैठे थे, उनको भक्तिके इन रहस्योंको बतलाकर कृतार्थ करनेके लिए श्रीमाधवकी आज्ञा लेकर श्रीनारदने वहाँसे प्रस्थान किया। इसका कारण है कि भगवान्की आज्ञाके बिना मुनियोंके समाजमें भक्तिके उन रहस्योंको प्रकाश करना सम्भव नहीं है। यहाँ पर 'माधव' कहनेका तात्पर्य यह है कि उन मुनियोंने श्रीमाधव द्वारा अधिष्ठित प्रयागतीर्थका आश्रय किया था, अतएव वे सब भी भगवान् श्रीमाधवके ही आश्रित हैं—ऐसा सूचित हुआ है। श्रीनारद भगवद्भक्तिके रसिक हैं, अतः प्रयागसे आरम्भ करके द्वारका तक सभी स्थानोंमें

भ्रमण करते-करते उन्होंने स्वयं जिन सब भक्तिरहस्योंका अनुभव किया था, आनन्दपूर्वक वीणा बजाते-बजाते उन्हींका गान करते हुए वहाँसे चल दिए॥१५०॥

तेऽपि तन्मुखतः सर्वं श्रुत्वा तत्तन्महाद्भुतम्।
सारसंग्राहिणोऽशेषमन्यत् सर्वं जहुर्दृढम्॥१५२॥

श्लोकानुवाद—उन सारग्राही मुनियोंने भी श्रीनारदके मुखसे उस परम अद्भुत भक्तिके माहात्म्यको श्रवण करके तत्क्षणात् (उसी समय) कर्म-ज्ञान आदि साधनोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर दिया॥१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते मुनयोऽपि, तस्य नारदस्य मुखतः, तत्तत् नारदानुभूतं सर्वं श्रुत्वा अन्यत् ज्ञानकर्मादिकं सर्वं सद्यस्तत्क्षण एव जहुः। कुतः? सारं तत्त्वम् उपादेयांशं वा सम्यग्ग्रहीतुं शीलमेषामिति तथा ते॥१५२॥

भावानुवाद—उन मुनियोंने श्रीनारदके मुखसे उनके द्वारा अनुभव किए गये समस्त भक्ति रहस्यको श्रवणकर उसी समय ज्ञान-कर्मादि समस्त साधनोंको त्याग दिया। इसका कारण था कि वे सार तत्त्व अर्थात् उपादेय अंशको सम्पूर्णरूपमें ग्रहण करनेके लिए चेष्टाशील थे॥१५२॥

केवलं परमं दैन्यमवलम्ब्यास्य शिक्षया।
श्रीमन्मदनगोपालचरणाब्जमुपासत॥१५३॥

श्लोकानुवाद—मुनियोंने श्रीनारदकी शिक्षानुसार केवलमात्र परम दैन्यपूर्वक श्रीमन्मदनगोपालके चरणोंकमलोंकी उपासना करना आरम्भ कर दिया॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्ववस्तुत्यागेन का नाम सारसंग्राहितेत्याशङ्क्याह—केवलमिति। दैन्यं निजाकृतार्थत्वादिज्ञानेन भगवत्पादपद्मभक्त्यभावादिना वा यार्त्तिस्तत् केवलमाश्रित्य, तेनैव भगवदनुग्रहभरसिद्धेः। अस्य नारदस्य शिक्षया तत् कृतोपदेशेन॥१५३॥

भावानुवाद—वस्तुका त्याग करना ही क्या सार-ग्रहीता है? ऐसे प्रश्नकी आशङ्कासे 'केवल' इत्यादि पद कह रहे हैं। नहीं, उन्होंने कर्म-ज्ञान आदि साधनोंका पूर्णरूपसे त्यागकर केवल परम दैन्यपूर्वक श्रीमन्मदनगोपालदेवके चरणकमलोंका भजन करना आरम्भ कर दिया। उनका दैन्य कैसा था? अपनेको अकृतार्थ जानकर अर्थात् हम

अकृतार्थ हैं—हमारा भगवान्के श्रीचरणोंमें तनिक भी भक्तिभाव नहीं है। इस प्रकारकी आर्त्तिको ही दैन्य कहते हैं तथा इस प्रकारके दैन्यसे ही भगवान्की कृपा सिद्ध होती है। अतएव वे सभी श्रीनारदकी शिक्षानुसार दैन्यमूलक भगवद्भजनमें तत्पर हो गये॥१५३॥

मातर्गोपकिशोरं तं त्वञ्च रासरसाम्बुधिम्।
तत्–प्रेममोहिताभिः श्रीगोपीभिरभितो वृतम्॥१५४॥
अमूषां दास्यमिच्छन्ती तादृशप्रेमभङ्गिभिः।
नित्यं भजस्व तन्नाम–संकीर्त्तनपरायणा॥१५५॥

श्लोकानुवाद—हे माता! आप भी गोपियोंके दास्यकी कामना करके उस प्रेम (गोपी–प्रेम)से मोहित तथा गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित रास–रससागररूप गोपकिशोरका वैसी अर्थात् गोपियों जैसी प्रेमभक्तिके साथ नामसंकीर्त्तनमें रत होकर नित्य भजन करें॥१५४–१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुपाख्यानं समाप्य स्वमातरं प्रति फलितमुपदिशति—मातरिति। हे मातस्तमुक्तमाहात्म्यं गोपकिशोरं श्रीकृष्णं त्वमपि तादृशानां गोपीप्रेमसदृशानां प्रेम्णां भङ्गिभिः परस्पराभिः परिपाटीभिर्वा भजस्वेति द्वाभ्यामन्वयः। कथम्भूतम्? रास एव रसः क्रीड़ा; यद्वा, रासे रासक्रीड़ायां रसो रागः; यद्वा, तद्रूपो रसः परमानन्दविशेषः तस्याब्धिम् अनवच्छिन्नस्थिराश्रयम्; अतस्तस्मिन् गोपकिशोरे यत् प्रेमा तेनैव मोहिताभिः, अतएव अभितः रासे मण्डलीभावेन सर्वतः स्थितत्वादावृतम्; ननु तदीय–भागिनेयवध्वा मम गोपीसदृशभावेन भजनं लोके विरुद्धमिति चेत्तत्राह—अमूषां गोपीनां दास्यं दासीत्वमिच्छन्ती सती। तस्य किं मुख्यं लक्षणमित्यपेक्षायामाह—तस्य गोपकिशोरस्य यानि नामानि तेषाम्। यद्वा, तत् प्रसिद्धं यत् कृष्णेति नाम, तस्य संकीर्त्तनम् उच्चैः सुस्वरमधुरगाथया कीर्त्तनं तत्परायणा सती। तदेव तादृशप्रेमभजन–प्रकारलक्षणं तादृशप्रेमसम्पत्तिलक्षणं चेति भावः॥१५४–१५५॥

भावानुवाद—इस प्रकार उपाख्यानको समाप्त करके श्रीपरीक्षित अपनी माताको सम्पूर्ण उपाख्यानका सारार्थ उपदेश 'मातरिति' पदों द्वारा कर रहे हैं। हे माता! आप भी गोपियोंके दास्यकी अभिलाषासे भजन कीजिए। अर्थात् उक्त माहात्म्यसे मण्डित गोपकिशोर श्रीकृष्णका गोपीप्रेम जैसी प्रेमकी धारा द्वारा अथवा प्रेम–परिपाटीके साथ नित्य भजन कीजिए। वे गोपकिशोर कैसे हैं? वे रासरूप रसक्रीड़ाके सागर–स्वरूप हैं अथवा रासक्रीड़ामें जो रस या राग है, उसके

सागर-स्वरूप हैं। अथवा रासरूप रसके या परमानन्दके स्थिर आश्रय-स्वरूप हैं, अतः गोपकिशोरके प्रति गोपियोंका जो प्रेम है, वे उस प्रेम द्वारा मोहित हैं। अतएव रासमें मण्डली-बद्ध गोपियोंसे परिवृत (घिरे हुए) गोपकिशोरका आप भजन कीजिए।

यदि आपत्ति करें कि मैं तो उनके भानजेकी विधवा पत्नी हूँ, अतएव मेरे द्वारा गोपियों जैसे भावसे उनका भजन करना लोक-विरुद्ध होगा; इसके लिए कह रहे हैं कि आप गोपियोंकी दासी होनेकी इच्छा करके भजन कीजिए। उस भजनका मुख्य लक्षण क्या है? ऐसे प्रश्नकी आशंकासे कह रहे हैं कि आप गोपकिशोरके नामसंकीर्त्तनमें रत होकर अर्थात् गोपकिशोर श्रीकृष्णके जो-जो नाम हैं, उन-उन नामोंका अथवा उनमेंसे प्रसिद्ध जो श्रीकृष्ण नाम है, उस श्रीकृष्णनामका संकीर्त्तन करें। यहाँ 'संकीर्त्तन' कहनेसे उच्चः स्वरसे और सुस्वरसे (मधुर भावसे) नामगाथा कीर्त्तन समझना चाहिए। इस प्रकारका नामकीर्त्तन ही वैसे प्रेमपूर्वक भजनका लक्षण है और वैसी प्रेम-सम्पत्तिका भी लक्षण है॥१५४-१५५॥

गोपीनां महिमा कश्चित्तासामेकोऽपि शक्यते।
न मया स्वमुखे कर्त्तुं मेरुर्मक्षिकया यथा॥१५६॥

श्लोकानुवाद—मक्खियाँ जिस प्रकार अपने सिर पर सुमेरु पर्वतको धारण नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार मैं भी उन गोपियोंमें से किसी एक गोपीकी महिमाका भी वर्णन इस मुखसे नहीं कर सकता हूँ॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि तासामेव माहात्म्यं विस्तार्य कथ्यताम्, तत्राह—गोपीनामिति। तासामुक्तमाहात्म्यानां गोपीनाम्; कश्चित् स्वल्पोऽपि एको महिमा स्वमुखे कर्त्तुं कथञ्चिदप्युच्चारयितुं मया न शक्यते, अयोग्यत्वेनाशक्तेः। तत्र दृष्टान्तः—सुमेरुः पर्वतश्रेष्ठो मक्षिकया स्वमुखे कर्त्तुं ग्रसितुं यथा न शक्यते तथेति॥१५६॥

भावानुवाद—यदि श्रीउत्तरादेवी कहें कि मेरे द्वारा गोपियोंके दास्यकी इच्छासे भजन करनेके लिए मुझे गोपियोंके माहात्म्यको भलीभाँति जानना होगा, अतः आप उन गोपियोंके माहात्म्यको विस्तारपूर्वक सुनाइये। इसकी आशंकासे श्रीपरीक्षित कह रहे हैं कि

मैं उन गोपियोंमें से किसी एक गोपीकी भी थोड़ीसी महिमा इस मुखसे उच्चारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ। इस विषयमें दृष्टान्त है—मक्खियाँ जिस प्रकार अपने सिर पर सर्वश्रेष्ठ पर्वत सुमेरुको धारण नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार मैं भी अयोग्य होनेके कारण ही उनकी महिमाका वर्णन करनेमें अक्षम हूँ॥१५६॥

अहो कृष्णरसाविष्टः सदा नामानि कीर्त्तयेत्।
कृष्णस्य तत्प्रियाणाञ्च भैष्म्यादीनां गुरुर्मम॥१५७॥
गोपीनां विततात्भुतस्फुटतर-प्रेमानलार्चिश्छटा-
दग्धानां किल नामकीर्त्तनकृतात्तासां विशेषात् स्मृतेः।
तत्तीक्ष्णज्वलनोच्छिखाग्रकणिकास्पर्शेन सद्यो महा-
वैकल्यं स भजन् कदापि न मुखे नामानि कर्त्तुं प्रभुः॥१५८॥

श्लोकानुवाद—अहो! मेरे श्रीगुरुदेव कृष्णरसमें आविष्ट होकर श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया श्रीरुक्मिणी आदिके नामोंका सदा कीर्त्तन करते हैं, किन्तु वे कभी भी व्रजगोपियोंके नामको मुखसे उच्चारण नहीं कर पाते। इसका कारण है कि गोपियाँ अत्यधिक विस्तृत सर्वविलक्षण तथा चरमसीमाको प्राप्त प्रेम-रूपी अग्निकी शिखाके तापसे निरन्तर दग्ध रहती हैं, अतः गोपियोंके नामोंका संकीर्त्तन करनेसे उनका विशेष स्मरण होता है, जिसके फलस्वरूप उन गोपियोंके हृदयमें स्थित तीक्ष्ण प्रेमाग्निसे उठी हुई शिखाकी एक चिनगारीके स्पर्शमात्रसे भी वे (गुरुदेव) उसी क्षण व्याकुल हो जाते हैं, इसलिए वे गोपियोंका नामकीर्त्तन करनेमें समर्थ नहीं हो पाते हैं॥१५७-१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्तु तावत्तासां माहात्म्यं कीर्त्तनीयमिति, नामापि विशेषेण ग्रहीतुमशक्यम्। निजजीवनैककारण-श्रीभगवत्कीर्त्तनादि-विच्छेदकप्रेमवैवश्य-विशेष-शङ्कयेत्याशयेनाह—अहो इति द्वाभ्याम्। कृष्णस्य नामानि, तस्य प्रियाणां रुक्मिण्यादीनामपि नामानि मम गुरुः श्रीबादरायणिः सदा कीर्त्तयेत्। तत्र हेतुः—कृष्णे रसः अनुरागः, कृष्णरूपो वा यो रसः परमानन्दविशेषस्तेनाविष्टोऽभिभूतः॥१५७॥

गोपीनान्तु नामानि श्रीराधाचन्द्रावलीत्यादीनि कदापि मुखे कर्त्तुमुच्चारयितुमपि न प्रभुः न समर्थो भवति। तत्र हेतुः—विततो विस्तृतः परममहत्ताचरमकाष्ठाप्राप्त

इत्यर्थः। योऽद्भुतः सर्वविलक्षणः स्फुटतरपरमप्रकटः प्रेमा, स एवानलः परमप्रकाशत्व-दाहकत्वादिस्वभावात्, तस्यार्चिः छटा ज्वालाप्रसारस्तया दग्धानां तासां गोपीनां नाम-संकीर्त्तनेन संज्ञाविशेषनिर्देशेन कृतात्, तासामेव स्मृतेः स्मरणस्य विशेषाधिक्यात् विशिष्टरूपेण स्मरणाद्वा हेतोर्यस्तासां सम्बन्धिन्यास्तीक्षणज्वलनोच्चशिखाग्रकणिकायाः स्पर्शस्तेन सद्यस्तन्नाम-कीर्त्तनसमये तत्स्मरणसमय एव वा महावैकल्यं परमविह्वलतां भजन प्राप्नुवन्निति। अतएव दशमस्कन्धे सामान्येनैव उक्तिर्न तु विशेषेण नामग्रहणादिना। तथाच तत्र—*'दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः। पयोऽधिश्रित्य संयाव-मनुद्वास्यापरा ययुः॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/५) इत्यादि, तथा *'कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिवत् स्तनम्। तोकायित्वा रुदन्त्यन्या पदाहन शकटायतीम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/१५) इत्यादि, तथा *'तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्तोऽग्रतोऽबलाः। वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२६) इति, तथा *'यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने। सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/३५-३६) इति, तथा *'ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत।'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/३८) इति, तथा *'काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा। काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरुषितम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/४) इत्यादि, तथा *'काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः। उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/९) इत्यादि, तथा *'काश्चित्तत्कृतहृत्ताप-श्वासम्लानमुखश्रियः। स्रंसद्दुकूल-वलय-केशग्रन्थ्यश्च काश्चन॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/३९/१४) इत्यादि, तथा *'काचिन्मधुकरं वीक्ष्य ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्। प्रिय-प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/११) इति। तन्नामाग्रहणञ्च परमगौरवेणेत्यपि न मन्तव्यम्, कृष्णरसाविष्ट इत्यनेनैव तन्निराकरणात्। तद्युक्तमुक्तम्—वैकल्यप्राप्त्यैवेति॥१५८॥

भावानुवाद—गोपियोंके माहात्म्यका कीर्त्तन करनेकी बात तो दूर रहे, मेरे गुरुदेव श्रीशुकदेव गोस्वामी उनके नामोंको ग्रहण करनेमें भी असमर्थ रहते थे। गोपियोंका नामकीर्त्तन करनेसे श्रीशुकदेवको उनका स्मरण होता, जिसके फलस्वरूप उनमें परम प्रेमविवशताके उदय होनेसे मेरे एकमात्र जीवनस्वरूप श्रीभगवद्-कीर्त्तन (भागवत कथा) आदिमें विघ्न उत्पन्न होनेकी आशंका थी। अतएव 'अहो' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं कि मेरे गुरुदेव श्रीबादरायणि (श्रीशुकदेव) श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया श्रीरुक्मिणी आदिके नामोंका ही सदैव कीर्त्तन करते थे। इसका कारण यह है कि वे श्रीकृष्णके प्रति अनुराग अथवा श्रीकृष्ण-स्वरूप परमानन्द-रसमें निरन्तर आविष्ट रहते थे।

मेरे प्रभु श्रीराधा–चन्द्रावली आदि गोपियोंके नामको कभी भी मुखसे उच्चारण करनेमें समर्थ नहीं होते थे। इसका कारण है—उन गोपियोंका चरमसीमा प्राप्त परममहत्त्व। विशेषतः सर्वविलक्षण अतिविस्तृत परम प्रकटित प्रेमरूपी अग्निकी शिखाके तापसे दग्ध गोपियोंका नामसंकीर्त्तन करनेसे उनका स्मरण होता तथा उस विशेष स्मृति द्वारा उनके प्रेमसे सम्बन्धित तीक्ष्ण अग्निकी शिखाके अग्रभागकी कणिकाके स्पर्शमात्रसे विकलता उदित होनेके कारण मेरे श्रीगुरुदेव तत्क्षणात् (अर्थात् वैसे नामकीर्त्तनको आरम्भ करते ही) परम विह्वल हो पड़ते, इसलिए वे कभी भी उनका नाम अपने मुखसे ग्रहण नहीं कर पाते। अतएव दशम–स्कन्धमें उन्होंने सामान्यरूपसे ही गोपियोंका नाम लिया है, किन्तु स्पष्टरूपसे नहीं लिया है। यथा, "कोई–कोई गायका दूध दूह रही थी, दोहन समाप्त न करके ही चल पड़ी। कोई–कोई गोपी दूधको उबाल रही थी, दूध लगभग उबल चुका था, परन्तु उसको उतारे बिना ही चली गयी। कोई–कोई चूल्हे पर दलिया पका रही थी तथा वह लगभग तैयार भी हो गया था, उसको बिना उतारे ही चली गयी। कोई–कोई खीर बना रही थी" इत्यादि। तथा "श्रीकृष्णकी भाँति आचरण करनेवाली कोई गोपी पूतनाकी भाँति आचरण करने–वाली अन्य गोपीका स्तनपान करनेका आचरण करने लगी, कोई शकटभञ्जनका अनुकरण करने लगी अर्थात् किसी गोपी द्वारा हाथ–पैरको भूमि पर रखकर (टिकाकर) नीचेकी ओर मुखकर धड़को ऊपर उठाकर शकटका अनुकरण करने पर, अन्य गोपीने भूमि पर लेटकर बालकृष्ण जैसे रोते–रोते उस पर अपने पैरोंसे प्रहार किया" इत्यादि।

तथा "यद्यपि वे सब अबला गोपियाँ विरहसे तथा उनको ढूढ़नेसे दुर्बल हो गयी थी; तथापि श्रीकृष्णके जानेवाले मार्ग पर उन–उन (ध्वज, मकर, पद्म, वज्र, अंकुश इत्यादि श्रीकृष्णके उन्नीस चिह्न) पदचिह्नोंका अनुसरण करके ढूँढ़ते–ढूँढ़ते अग्रभागमें श्रीकृष्णकी एकान्त वल्लभाके पदचिह्न द्वारा श्रीकृष्णके पदचिह्नका मिश्रण देखकर आर्त्तिपूर्वक एक स्वरसे कहने लगी। श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके प्रथम दर्शनसे लेकर अब तक वे परम सौभाग्यवती श्रीराधाके पदचिह्नको देख नहीं पायीं

थीं, क्योंकि श्रीकृष्ण उनको अपने गोदमें धारणकर ले आये थे। अब अग्रभागमें श्रीराधापदकी सुधाका दर्शन किया और उन्होंने उस ध्वजा आदि द्वारा शोभायमान पदचिह्नोंका अनुसरण किया, किन्तु वे बीच-बीचमें घासयुक्त भूमि पर लुप्त हो गये थे। फिर किसी दूसरे स्थान पर अन्वेषण करते-करते उन्होंने युगलपदचिह्नोंको देखा।" तथा "इस प्रकार सभी गोपियाँ सभी पदचिह्नोंको एक-दूसरेको दिखाकर प्रमत्तसी होकर विचरण करने लगीं। श्रीकृष्ण अन्यान्य गोपियोंको वनके भीतर त्याग करके जिस एक गोपीको निर्जन स्थान पर ले आये थे, उस रमणी द्वारा उस समय अपने-आपको सभी रमणियोंकी तुलनामें श्रेष्ठ समझने पर उनका मन शान्त हो गया, किन्तु अन्य गोपियोंकी भाँति वह भी सौभाग्य-गर्वसे युक्त हो गयी। अर्थात् उसने सोचा कि अनिर्वचनीय महिमासे युक्त प्रियतम श्रीकृष्ण काम-भोगके लिए वनमें आयीं सभी गोपियोंको त्यागकर केवल मुझको अकेली अपने साथ इस निर्जन स्थानमें लाकर मेरे साथ विलास कर रहे हैं। ऐसा सोचनेके बाद श्रीकृष्णके साथ कुछ दूरी तक वनमें जाने पर ही गर्वितभावसे उसने श्रीकेशवसे कहा कि मैं अब और चल नहीं पा रही हूँ, जहाँ अन्य कोई प्रवेश न कर सके उस कुञ्जमें अथवा मुझे फूलोंसे सजानेके लिए कुसुम काननमें अथवा फिर तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ, मुझे पहलेकी भाँति कन्धे पर उठाकर ले चलो।" श्रीकृष्णने अपनी प्रियाके इस वचनको सुनकर कहा "तो फिर मेरे कन्धे पर चढ़ो", उस रमणी द्वारा कन्धेपर चढ़नेके लिए चेष्टा करने पर तत्क्षणात् श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। तब श्रीकृष्णके दर्शनके लिए वह रमणी व्याकुल होकर पुनः-पुनः विलाप करने लगी।

इसके बाद मिलनकी बात कह रहे हैं, "मिलनके समय किसी गोपीने श्रीकृष्णकी बायीं ओर जाकर उनकी चन्दन-चर्चित वाम बाहुको अपने कन्धे पर रख लिया। किसी व्रजसुन्दरीने अपनी अञ्जलिको पसारकर श्रीकृष्णके मुखके चर्बित-ताम्बूलको ग्रहण किया। किसीने कामसे सन्तप्त होकर श्रीकृष्णके दक्षिण पदको अपने हृदयपर स्थापित कर लिया।" तथा "किसी गोपीने मुकुन्दके साथ शुद्ध स्वरजातिका आलाप किया, अथवा श्रीमुकुन्दके साथ एक साथ

स्वरालाप करने पर भी उनका आलाप श्रीकृष्णसे अमिश्रित ही रहा। श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर 'साधु साधु' कहकर उसका सम्मान किया।" इत्यादि। तथा "जब सभी गोपियोंने रासलीलामें वलय, नुपूर और किङ्किणी-वाद्य सहित भगवान्‌के समक्ष नृत्य-करना प्रारम्भ किया, तब कर्णोत्पल, अलकाशोभित उनका कपोल तथा स्वेदबिन्दु (पसीनेकी बूँदों) द्वारा उनका मुख-मण्डल अपूर्व शोभाको प्राप्त हो गया तथा उनकी कवरीसे माला आदि खिसकने लगी" इत्यादि। तथा कोई गोपी (किसी भ्रमरको देखकर उसे अपने प्रियतमके द्वारा मान-भञ्जन करनेके लिए मानो भेजा गया दूत है—ऐसी कल्पना कर) कहने लगी—"हे धूर्तके बन्धु मधुकर! हमारे चरणोंका स्पर्श मत करना, मैं देख रही हूँ कि तुम्हारी मूँछ पर सपत्नीके कुचमण्डलसे विमर्दित मालाका कुंकुम लगा हुआ है।" इस प्रकार श्रीशुकदेवने अनेक श्लोकोंमें गोपियोंके उद्देश्यसे केवल 'काश्चित्' 'कस्यचित्' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करके ही उनकी महिमाके वर्णनको समाप्त कर दिया है, किन्तु वे स्पष्टरूपसे उनका नाम उच्चारण नहीं कर पाये।

यदि प्रश्न हो कि क्या गौरववशतः उन्होंने गोपियोंके नामोंका उच्चारण नहीं किया। इसके उत्तरमें कहतें हैं—ऐसा मन्तव्य प्रकाश करना सङ्गत नहीं है, क्योंकि मेरे गुरुदेव श्रीकृष्ण रसमें परमाविष्ट होनेके कारण ही उनका नाम ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुए। इसीलिए 'कृष्ण रसाविष्ट' पदका प्रयोग करके गौरवकी आशंकाको दूर कर दिया है। अर्थात् वे कृष्ण रसमें परमाविष्ट होकर कभी भी उनके नामोंका मुखसे उच्चारण नहीं कर पाये॥१५७-१५८॥

तासां नाथं बल्लवीनां समेतं,
ताभिः प्रेम्णा संश्रयन्ती यथोक्तम्।
मातः सत्यं तत्प्रसादान्महत्त्वं,
तासां ज्ञातुं शक्ष्यसि त्वञ्च किञ्चित्॥१५९॥

श्लोकानुवाद—हे माता! यदि आप उन गोपियोंके साथ रासक्रीड़ा आदिमें मिलित श्रीगोपीनाथका प्रेमपूर्वक भजन करें, तब उनकी कृपासे सचमुच आप भी गोपियोंकी कुछ महिमाको समझ पायेंगी॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु माहात्म्यविशेषज्ञानं विना तासां दासीत्वकामनया तादृशप्रेमभजनं कथं स्येत्स्यति? तत्राह—तासामिति। यथोक्तं तदुपासनाशास्त्रोक्तमनतिक्रम्य; यद्वा, मातरित्यादिश्लोकाभ्यां मया यदुक्तं तदनतिक्रम्य। ताभिर्बल्लवीभिः समेतं रासक्रीड़ादिना सङ्गतं बल्लवीनां नाथं श्रीकृष्णं प्रेम्णा कृत्वा संश्रयन्ती सम्यक् सेवमाना सती। तस्य बल्लवीनाथस्य तासाञ्च वल्लवीनां प्रसादात् तासां बल्लवीनां महत्त्वं किञ्चित् स्वल्पतरमनिर्वचनीयं वा त्वमपि ज्ञातुं शक्ष्यसि। अयमर्थः—मुखेन सर्वथा तत् सर्वं वर्णयितुमशक्यमेव; कथञ्चिद् वर्णितमपि त्वया निःशेषं धारयितुमशक्यम्; अतो यथोक्तभजनप्रवृत्यैव त्वया तत्किञ्चित् स्वमनस्येव ज्ञातव्यम्। ततः सम्यग्भजनं सम्पत्स्यते; ततः पुनस्तद्विशेषो ज्ञातव्यः; ततः पुनः सम्यक् प्रेमभजनं सेत्स्यतीति। एवं भगवद्भजनगोपीमहिमज्ञानयोरन्योऽन्यं क्रमेण कार्य-कारणत्वं दर्शितम् यद्यपि भगवतस्तद्भक्तेश्च माहात्म्यविशेषज्ञानादेव तत्प्रेमभक्तिः सम्पद्यत इति सर्वत्रोच्यते, तथापि निखिलभक्तगणमुख्यतमानां श्रीगोपीनां माहात्म्यज्ञाने सति स्वत एव भक्तेर्भगवतोऽपि महिमविशेषो नितरां ज्ञातः स्यादिति दिक्॥१५९॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि गोपियोंके माहात्म्य-सूचक ज्ञानके बिना उनकी दासी होनेकी कामनासे युक्त प्रेमपूर्वक भजन किस प्रकार सम्भव होगा? इस आशंकाके समाधानके लिए 'तासां' इत्यादि पद कह रहे हैं। हे माता! आप गोपियोंके साथ रासक्रीड़ादिमें मिलित उन्हीं श्रीगोपीनाथका प्रेमपूर्वक भजन कीजिए। अर्थात् मेरे द्वारा पहले आपको जिस प्रकारसे उपासनाकी विधि बतलायी गयी है, उस विधिका उल्लंघन न करके सम्यक्‌रूपसे भजन कीजिए। यहाँ पर सम्यक्‌रूपसे भजन करनेका अर्थ है कि उक्त उपासनाके विषयमें शास्त्रोक्त नियमोंका अर्थात् मेरे द्वारा कह गये नियमोंका उल्लंघन न करके सम्पूर्णरूपसे सेवा करने पर आप उन्हीं श्रीवल्लभीनाथ और गोपियोंकी कृपासे उनकी अनिर्वचनीय महिमाको कुछ समझ पायेंगी। तात्पर्य यह है कि मैं उन गोपियोंकी महिमा अपने मुखसे वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ और कुछ वर्णन करने पर भी आप उसको सम्पूर्णरूपसे धारण करनेमें समर्थ नहीं होंगी। अतएव रीतिपूर्वक भजन द्वारा उनके माहात्म्यसे कुछ स्वयं ही अवगत होंगी, तभी सम्पूर्णरूपसे प्रेमपूर्वक भजन करनेमें सक्षम हो पायेंगी। इस प्रकार भगवद्भजन तथा गोपियोंकी महिमाका ज्ञान, इन दोनोंमें क्रमानुसार कार्य और कारण होना दिखाया गया है। यद्यपि भगवान् और भक्तोंके माहात्म्यका ज्ञान

होनेसे ही प्रेमभक्ति होती है—यह सर्वत्र कहा जाता है, तथापि निखिल भक्तोंसे भी श्रेष्ठ श्रीगोपियोंके माहात्म्यका ज्ञान होनेसे स्वतः ही अन्य समस्त भक्तों और भगवान्‌की विशेष महिमा सम्पूर्णरूपसे जानी जा सकती है॥१५९॥

एतन्महाख्यानवरं महाहरेः, कारुण्यसारालयनिश्चयार्थकम्।
यः श्रद्धया संश्रयते कथञ्चन, प्राप्नोति तत्प्रेम तथैव सोऽप्यरम्॥१६०॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते भगवत्कृपासार निर्द्धारखण्डे
पूर्णो नाम सप्तमोऽध्यायः।

समाप्तञ्चेदं प्रथमखण्डम्।

श्लोकानुवाद—जो इस परमश्रेष्ठ उपाख्यान (जिसमें श्रीकृष्णकी करुणाके सार-स्वरूप पात्रोंका निर्धारण किया गया है)को श्रद्धापूर्वक श्रवण, कीर्त्तन अथवा जिस किसी भी प्रकारसे भलीभाँति आश्रय करते हैं, वे भी शीघ्र ही श्रीकृष्णके प्रति वैसा (गोपी) प्रेम प्राप्त कर लेते हैं॥१६०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके सप्तम अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—अहो यथोक्ताश्रयणेन महिमविशेषज्ञानतो भजनविशेषसम्पत्त्या भगवत्प्रेम सेत्स्यतीति किं वक्तव्यम्? तत्तत्-प्रतिपादकैतद्ग्रन्थस्य श्रद्धा-श्रवणादपि सम्पद्यत इत्याह—एतदिति। महाहरेः श्रीकृष्णचन्द्रस्य यत् कारुण्यं तस्य सारः श्रैष्ठ्यं तस्यालयः भाजनं तस्य निश्चयो निर्धारणं स एवार्थः प्रयोजनं यस्य तत्; बहुव्रीहौ कः। श्रद्धया विश्वासेन कथञ्चित् केनापि श्रवण-कीर्त्तनादिप्रकारेण संश्रयते, सम्यक् सेवते, सोऽपि, किमुत तथा भजमानः। अरं द्रुतं तत् तस्मिन् महाहरौ प्रेम, तथैव तादृशमेव प्राप्नोति॥१६०॥

प्रीयतां कृष्णभक्तिर्मे पाषाणसदृशस्य च।
स्वयं तरलितस्यैतैः कर्परीनर्त्तनादिभिः॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां प्रथमखण्डे सप्तमोऽध्यायः।

भावानुवाद—अहो! उक्त प्रकारसे शास्त्रके आश्रयमें गोपियोंकी विशेष महिमाको जानने पर जो भजन-सम्पत्तिरूप भगवत्प्रेम प्राप्त होता है, उसके विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है? गोपियोंकी महिमाके प्रतिपादक इस ग्रन्थका अर्थात् श्रीकृष्णके कृपापात्रोंके निर्धारणरूप इस श्रेष्ठ उपाख्यानका श्रवण-कीर्त्तन आदि जिस किसी भी प्रकारसे आश्रय करनेसे श्रीकृष्णके प्रति वैसा ही प्रेम प्राप्त होगा, यही 'एतन्' आदि इस प्रस्तुत श्लोकमें कह रहे हैं। महाहरि श्रीकृष्णचन्द्रकी जो करुणा तथा उस करुणाका सार अथवा करुणालय जो गोपियाँ हैं, उन गोपियोंके साथ श्रीगोपीनाथकी जो प्रेमपूर्वक भजन-रीति है उसका, अर्थात् प्रयोजन-निर्धारणरूप इस श्रेष्ठ (श्रीबृहद्भागवतामृत नामक) उपाख्यानका, जो श्रद्धापूर्वक विश्वास सहित सम्पूर्णरूपसे आश्रय ग्रहण करते हैं, अर्थात् श्रवण-कीर्त्तन आदि जिस किसी भी तरहसे सम्पूर्णरूपसे सेवा करते हैं, (उनके विषयमें और अधिक क्या कहूँ?) वे भी शीघ्र ही महाहरि श्रीकृष्णके प्रति वैसा गोपी-प्रेम प्राप्त कर लेते हैं॥१६०॥

जो भक्ति पाषाण सदृश हृदयको स्वयं तरल बनाकर सिर पर नृत्य आदि करती हैं, ऐसी कृष्ण-भक्ति मेरे प्रति प्रसन्न हों।

श्रीबृहद्भागवतामृतके प्रथमखण्डके सप्तम अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

प्रथमखण्ड समाप्त

मूल–श्लोकानुक्रमणिका

अ

आ

ग

प

म

य

ह

उद्धृत—श्लोकानुक्रमणिका

सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

ख.—खण्ड	म.भ.—महाभारत	श्रीना.पं.—श्रीनारद पञ्चरात्र
प.—पर्व	व.पु.—वराह पुराण	श्रीमद्भा.—श्रीमद्भागवतम्
प.पु.—पद्म पुराण	वि.पु.—विष्णु पुराण	श्रीहरि.वं.—श्रीहरिवंश
प्र.ख.—प्रभास खण्ड	वै.ख.—वैष्णव खण्ड	स्क.पु.—स्कन्ध पुराण
ब्र.पु.—ब्रह्माण्ड पुराण	श्रीगी.—श्रीभगवद्गीता	ह.भ.सु.—हरिभक्तिसुधोदय

पूर्वार्द्ध (श्लोकका प्रथम चरण)

ए

ऐ

क

ग

च

ज

त

न

प

व

श

स

ह

उत्तरार्द्ध (श्लोकका द्वितीय चरण)

शब्दकोश

अ

अंतर्भुक्त—जो स्वतन्त्र रूप छोड़कर किसी अन्यमें मिलजुल गया हो

अकृतज्ञ—जो किये हुए उपकारको न माने

अगम्य—जहाँ कोई पहुँच न सके, जिसे कोई जान न सके, कठिन

अग्रज—पहले जन्मा हुआ, श्रेष्ठ

अग्रभाग—प्रथम या श्रेष्ठ भाग

अज्ञ—ज्ञान रहित, नासमझ

अतिक्रमण—उल्लंघन, सीमाके बाहर जाना

अतिरिक्त—भिन्न, अलावा

अतिशय—बहुत ज्यादा, अधिकता

अनभिज्ञ—अनजान

अनशन व्रत—किसी विशेष संकल्पके साथ भोजन त्याग

अनावृत—जो ढका न हो, खुला

अनिर्वचनीय—जिसका वर्णन न हो सके

अनुगमन—पीछे चलना

अनुग्रह—कृपा, प्रसाद

अनुग्रहीत—कृपाको प्राप्त करनेवाला

अनुसन्धान—अन्वेषण, खोज, ढूँढ़ना

अन्तःपुर—महलके भीतरका कमरा जहाँ स्त्रियाँ वास करती हैं

अन्वय—सम्बन्ध, सङ्गति, अनुगमन

अन्वेषण—खोज करना, गवेषणा, शोध

अपकर्ष—छोटा करनेवाला, नीचे खींचनेवाला, कमी

अपरिच्छिन्न—निरन्तर, असीम

अपरोक्ष—प्रत्यक्ष, इंद्रियगोचर

अप्रत्यक्ष—जो दिखाई न दे, परोक्ष

अभिज्ञ—जाननेवाला, कुशल

अभिधेय—साध्यको प्राप्त करनेका साधन

अभिनिवेश—दृढ़ निश्चय, मनोयोग

अभिभूत—विवेक रहित, आक्रान्त, पीड़ित

अभिसार—प्रियसे मिलनेके लिये जाना

अभीष्ट—प्रिय, मनोरथ

अरुण वर्ण—लाल रंग, उगते हुए सूर्यका रंग

अर्घ्य—किसी देवता या प्रतिष्ठित व्यक्तिको सम्मान प्रदर्शक भेंट

अलका—बालोंकी लटें, केशपाश

अलभ्य—दुर्लभ, अनमोल

अलाप—आलाप; कथन, संगीतके सातों स्वर, शास्त्रीय ढंगसे गाना

अवगाहन—स्नान, निमज्जन, पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेकी क्रिया

अविच्छिन्न—जो टूटा या विभक्त न हुआ हो

अविहत्था—भावको छिपाना
अव्यभिचारिणी—अनुकूल, स्थायी, सदाचारी
अव्यय—नित्य, अविकारी
अव्याहत—व्याघातरहित, अटूट
असम्यक्—असम्पूर्णरूपसे

आ

आकुल—उद्विग्न, परेशान
आक्षेप—लांछन, कटु उक्ति
आग्रह—जोर देना, दृढ़तासे पकड़ना
आचमन—पूजन आदिके पहले शुद्धिके लिये हथेली पर जल लेकर पीना
आजानुलम्बित—घुटने तक लंबी
आतुर—अधीर, उत्सुक
आनुषङ्गिक—गौणरूपसे, साथ चलने-वाला
आपामर—सज्जन
आभीर—अहीर, जनपद/जाति
आर्ति—क्लेश, पीड़ा, दुःख
आविष्ट—आवेशयुक्त
आशय—आधार, अभिप्राय, हृदय, मन

इ

इहलोक—भू लोक

उ

उत्कर्ष—श्रेष्ठता
उत्तरीय वस्त्र—दुपट्टा, ओढ़नी
उत्थापन—उठाना
उत्पल—कमल, नील कमल
उत्प्रेक्षा—अनुमान, कल्पना, उदासीनता
उद्दीपन—उत्तेजित करना, जगाना
उद्यत—तैयार, उठाया हुआ
उपनीत—पास लाया हुआ, प्राप्त किया हुआ
उपलक्ष्य—उद्देश्य, निमित्तसे
उपवेशन—एक साथ बैठना, सभा, बैठक
उपादान कारण—वह द्रव्य जिससे कोई वस्तु बने
उपेक्षा—अवहेलना, तिरस्कार

ए

एकदेशीय—एक दृष्टिकोणसे
एकीभूत—जो मिलकर एक हो गया हो

ऐ

ऐक्य—एकता
ऐहिक—सांसारिक

औ

औपपत्य-भाव—उपपतिका भाव

क

कटाक्ष—तिरछी निगाह
कदंबभूषण—कदंब फूलसे भूषित
कपोल—गाल
करकमल—कमलसा कोमल और सुंदर हाथ
कर्णोत्पल—कर्णफूल नामक (कानोंका) आभूषण

कलरव—कोमल मधुर ध्वनि
कलिन्द—सूर्य, वह पर्वत जिससे यमुना निकलती है
कलेवर—देह, आकार
कवरी—चोटी
कातर—कष्टसे आकुल
कुच-मण्डल—स्तन
कुष्माण्ड—काशीफल, जरायु
कृतज्ञ—उपकार माननेवाला
केलि-क्रीड़ा—कामक्रीड़ा
कैमुतिक न्याय—जब यह बात दृष्टान्त द्वारा समझानेकी जरूरत होती है कि जिसने बड़े-बड़े काम कर डाले उसके लिए छोटा काम करना कुछ भी नहीं है तब इस उक्तिका प्रयोग किया जाता है
कैवल्य-निर्वाण—आत्माका अलिप्त भाव, मोक्ष
कौतुक—कुतूहल, उत्सुकता
क्षत—घायल
क्षुब्ध—क्षोभयुक्त, उत्तेजित
क्षोभित—रोषयुक्त

ग

गद्य—वह रचना जो छंदोबद्ध न हो
गुंजावतंस—गुंजा फूलकी बाली या आभूषण
गुल्म—झाड़ी
गोष्ठी—सभा, मंडली

च

चक्रवाक—चकवा पक्षी
च्युत—स्थानभ्रष्ट, गिरा हुआ

ज

जङ्गम—चलनेवाला, चल
जड़ता—अचेतनता, मूर्खता
जल्पना—पुनः-पुनः कहना, बकवास करना
जुगुप्सा—निंदा, घृणा
ज्ञाति—पितृवंशमें उत्पन्न व्यक्ति
ज्ञापक—सूचक, बोधक

ट

टेर—पुकार, दूरसे पुकारनेका शब्द

ड

डाहुक—नीलकंठ, चातक पक्षी

त

तात्कालिक—उस समयका
तारतम्य—न्यूनाधिक्यके अनुसार क्रम
तारुण्य—यौवन कालमें तरुण अवस्था
तितिर—तीतर पक्षी
तिर्यक्—तिरछा, वक्र
तिर्यग्-योनि—पशु-पक्षीकी योनि

द

दावानल—वनकी आग जो बाँस आदिके रगड़नेसे स्वतः लग जाती है
दिगम्बर—नग्न, शिव, जिनके लिए दिशाएँ ही वस्त्ररूप हों
दिग्दर्शन-न्याय—किसी एक विशेष

दिशाकी ओर इंगित कर गन्तव्य स्थलकी प्राप्तिका निर्देश
दुर्जयत्व—जिस पर विजय पाना कठिन हो
दुर्दैव—दुर्भाग्य
दुर्बोध—गूढ़, जो शीघ्र समझमें न आये
दुर्भेद्य—अति दृढ़
दुर्वितर्क्य—तर्कसे अतीत
दुश्छेद्य—जिसको भेदना या काटना सम्भव न हो
दुष्प्राप्य—जो कठिनतासे प्राप्त हो
दौरात्म्य—दुरात्मा होनेका भाव
द्रष्टव्य—विचारणीय, दर्शनीय
द्विज—दूसरा जन्म प्राप्त किया हुआ, संस्कार युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ हो

ध

धात्री—पालन करनेवाली माता
ध्येय—ध्यान करने योग्य, लक्ष्य

न

नर्म-क्रीड़ा—हँसी, परिहास और विनोद-युक्त क्रीड़ा
नाद—शब्द, ध्वनि
निःसृत—निकला हुआ
निक्षेप—फेंकना, त्यागना
निग्रह—रोक, अवरोध, दंड देना
नितम्ब—स्त्रियोंके शरीरका कमरसे नीचेका उभरा हुआ भाग
नित्यकर्म—प्रतिदिन किया जानेवाला कार्य
नियन्ता—शासनकर्त्ता, संचालक
निरपेक्ष—किसीसे कोई आशा उम्मीद न रखनेवाला, उदासीन
निराकरण—दूर हटाना, निवारण
निरुपाधिक—उपाधि रहित, बाधा रहित
निर्निमेष—बिना पलक गिराये
निर्विकल्प—विकल्पसे रहित
निवृत्ति/निवृत्त—छुटकारा, विरत होना, समाप्ति
निहत—मारा हुआ, नष्ट किया हुआ
नैमित्तिक कर्म—विशेष कारणसे उत्पन्न कर्म

प

पक्षान्तर—दूसरा पक्ष
पद्य—काव्य, छंदोबद्ध रचना
परमेष्ठी—ब्रह्मा
परमोत्कृष्ट—सर्वोत्तम
परवर्त्ती—अगला, आगेका
परायण—अति आसक्त, रत
परिचर्या—सेवा
परिचालित—जिसका परिचालन किया गया हो
परिच्छद—वस्त्र, आच्छादन
परिणत—रूपान्तरित, बदला हुआ, समाप्त
परिपक्व—अच्छी तरह पका हुआ, पूर्णरूपसे तैयार
परिपाटी—रीति, ढंग, प्रथा
परिवृत—घिरा हुआ

परिवेषण—भोजन परोसना
परिवेष्टित—चारों ओरसे घिरा हुआ या ढका हुआ
परिस्फुट—सुस्पष्ट
परोक्ष—जो आँखोंके सामने न हो, अप्रत्यक्ष
पर्यवसित—समाप्त, निश्चित
पाणिग्रहण—विवाह
पाद-सम्वाहन—पैरकी सेवा (दबाना)
पाद्य—पैर धोनेका पानी
पानीय—पीने योग्य
पारत्रिक—परलोक संबंधी
पारावत—कबूतर
पुरश्चरण—गुरुसे प्राप्त किये हुए मंत्रकी सिद्धिके लिए किया जानेवाला विधिपूर्वक जप
पुलिन—नदीका किनारा
पूर्ववर्त्ती—पहलेका
पौगण्ड—पाँचसे दस वर्ष तककी अवस्था
प्रकोष्ठ—महल या भवनके द्वारके पासका कमरा, आँगन
प्रक्षालन—धोना, साफ करना
प्रचुर—बहुत अधिक
प्रच्छन्न—गुप्त, छिपा हुआ
प्रजल्प—गप, इधर-उधरकी बात करना
प्रणत—झुका हुआ, दीन
प्रणय—प्रेम, प्रीति
प्रतिपादित—प्रमाणित
प्रतिभात—प्रकाशवान, अवगत
प्रत्यक्ष—जो आँखोंसे दिखाई दे, स्पष्ट
प्रत्युत्तर—उत्तरका उत्तर
प्रत्युपकार—किसी उपकारके बदलेमें किया हुआ उपकार
प्रभा—प्रकाश, चमक
प्रयोजन—कार्य, आवश्यकता, उद्देश्य
प्रलाप—निरर्थक बात
प्रवर्तित—आरम्भ किया हुआ
प्रवह—बहाव
प्रवृत्ति—लगन, झुकाव
प्रस्तुत—उद्यत, तैयार
प्रादुर्भूत—प्रकट, उदित
प्रायः—अधिकतर, लगभग
प्रेयसी—प्रियतमा

ब

बड़वानल—समुद्रके बीच लगी आग
बहुविध—अनेक प्रकारका
बाधित—रुकावट, बाधा-ग्रस्त, आभारी
बृहद्—विशाल, बड़ा

भ

भगवत्ता—ऐश्वर्यादि भगवान् होनेके गुण या लक्षणसे युक्त
भञ्जन—भंग करना, तोड़ना
भाजन—पात्र, योग्य अधिकारी
भूरि—बहुत ज्यादा, प्रचुर
भ्रूनर्तन—भौंका नर्तन

म

मर्म—हृदय
महावदान्य—अत्यन्त दानशील, उदार
महिषी—रानी, पटरानी
मातामही—नानी

मातृगति—माताके समान गति
मुखरित—ध्वनित, शब्दायमान
मुमुक्षु—मोक्षका अभिलाषी
मृतप्राय—मरने जैसा
मेधा—धारणाशक्ति, बुद्धि

य

यथाश्रुत—जैसा सुना या कहा गया हो, वेद शास्त्रके अनुसार
युगपत्—एक समय, साथ-साथ
यूथ—एक ही जाति या भाववालोंका समूह

र

रञ्जन—मन प्रसन्न करना
राशि—समूह

ल

लय—मानसिक निष्क्रियता (निद्रा)
लावण्य—सुंदरता, सुशीलता

व

वदन—मुख
वन्दी—स्तुति करनेवाला
वलय—कंकण
वाचालता—बातचीतकी निपुणता
वाच्य—कहने योग्य
वापी—तालाब
विकल—व्याकुल
विक्षेप—चित्तकी अस्थिरता
विचक्षण—चतुर, दक्ष, विद्वान
वितान—विस्तार, समूह, यज्ञ
विदग्ध—चतुर, रसिक
विदग्धा—चतुरतासे परपुरुषको अपनेमें अनुरक्त करनेवाली नायिका
विदीर्ण—टूटा हुआ, निहत
विपुल—प्रचुर, विस्तृत
विरहानल—विरहकी अग्नि
विलास-श्रेणी—प्रणय क्रीड़ाकी शृंखला
विषाद—उदासी, निराशा
विहंग—पक्षी
विहित—किया हुआ, कृत
विह्वल—व्याकुल, अशांत
वृत्ति—चित्त, मन आदिकी अवस्था
वेत्र—बेंत, डंडा
वैशिष्ट्य—विशेषता, अंतर
व्यजन/वीजन—पंखा झलना
व्यतिरेक—अंतर, भिन्नता, असादृश्य
व्यापी—आच्छादक, सर्वत्र फैलनेवाला

श

शिखिपिच्छमौलि—मोर पंखका मुकुट पहननेवाले (श्रीकृष्ण)
शिरोमणि—सर्वश्रेष्ठ
शुद्धसात्त्विक—त्रिगुणातीत सत्त्वसे संबंधित
श्लेषार्थ—एक शब्दालंकार जिसमें एक शब्दके कई अर्थों द्वारा साहित्यमें चमत्कार उत्पन्न होता है

स

संदर्शन—टकटकी लगाकर देखना, अवलोकन
संभाषण—बातचीत
संभोग—शृंगार रसका एक भेद; मैथुन

संभ्रान्त—घबड़ाया हुआ, उत्तेजित
समाहित—एकत्र किया हुआ, शांत, व्यवस्थित, पूर्ण
समुद्धृत—उठाया हुआ, उद्धार किया हुआ
सम्पन्न—पूर्ण किया हुआ, भाग्यवान्
सम्वाहन—ढोना, बदन दबाना
सर्वज्ञ—सब कुछ जाननेवाला
सर्वतोभावेन—सब प्रकारसे, पूर्णतः
सर्वोत्कर्ष—समस्त प्रकारसे श्रेष्ठ
सविलास-कटाक्ष—विलासयुक्त तिरछी निगाह
सांकेतिक—इंगित रूपमें होनेवाला
सात्विक विकार—एक प्रकारका भाव जिसमें स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ प्रकारके अंगविकार होते हैं
सामंजस्य—संगति, मेल, विषमता न होना
सारूप्य—एक रूपता, एक प्रकारकी मुक्ति
सुधा—अमृत, रस
सुरत—संभोग, कामक्रीड़ा
सुरम्य—अति रमणीय, मनोहर
सुवासित—सुगंधित
सुष्ठु—सुंदर रीतिसे
सुहृद(त्), सौहृद — मित्र, संबंधी
सौष्ठव—दक्षता, चातुर्य
स्खलन—पतन, गलती
स्थावर—अचल, स्थायी
स्मित—मंद हास, मुसकान
स्वच्छन्द—अपनी इच्छा या पसंद, अनुसार
स्वयंभू—ब्रह्मा
स्वारसिक—स्वाभाविक रस (राग)

ह

हेला—तिरस्कार, अवज्ञा
ह्रद—गहरी झील